महाभाव-दिनमणि श्री राधाबाबा

(प्रथम खण्ड)

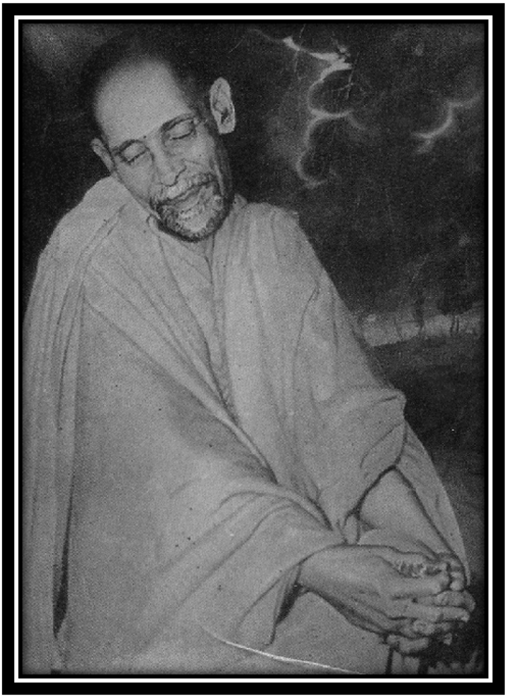

साधु कृष्णप्रेम

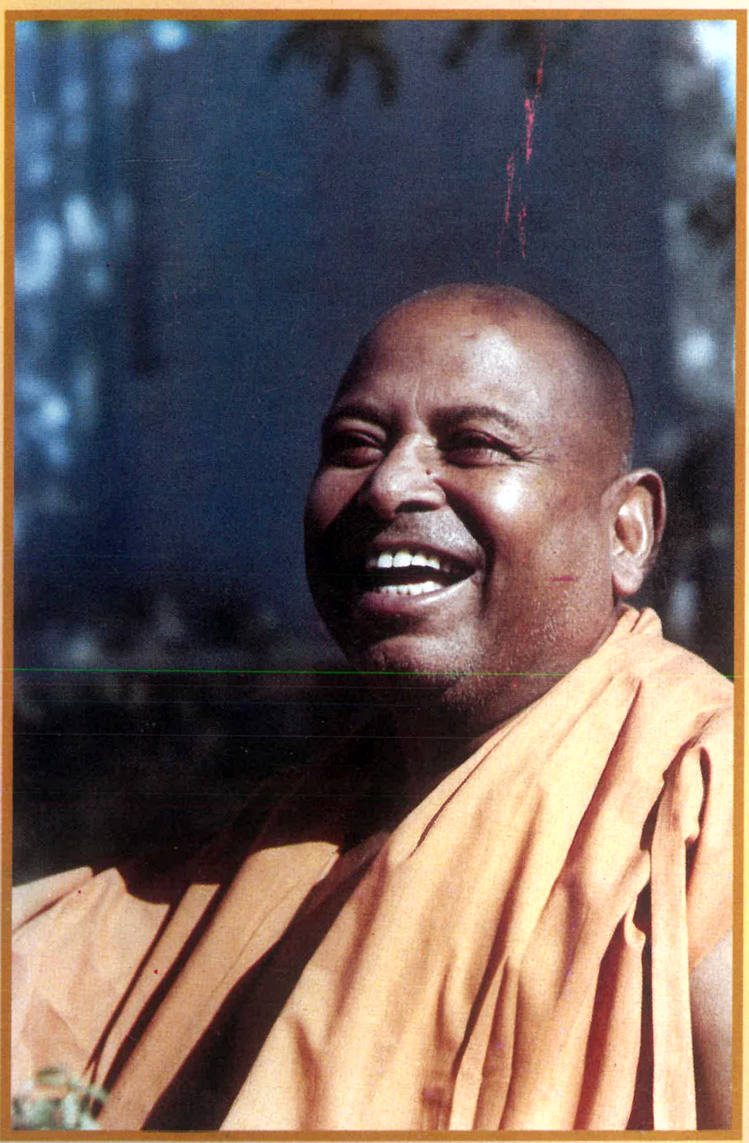

स्वामी कृष्ण प्रेम महाराज

॥ श्री गुरुदेव ॥

निवेदन

बाबा प्रेमस्वरूप थे, प्रेमस्वरूप है, इसीलिये उनके गुरुदेव ने उनको कृष्णप्रेम नाम दिया। बहुत वर्षों से बाबा ने उनके पौत्र और बहु को देखा न था, उनका अत्यन्त आग्रह था कि मैं उन्हें लेकर बाबा के पास पहुंचू। तदनुसार 6 नवम्बर 99, को वानप्रस्थ आश्रम जयपुर में मैं सपरिवार व अपने अन्य मित्रों के साथ बाबा के पास पहूँचा।

बाबा ने बहुत प्रेम किया। चिकित्सकीय सलाह के विपरीत बाबा ने हमसे खूब बातें की। बहू को विशेष प्रेम दिया। मेरे एक मित्र के पुत्र को जन्म दिन पर ईश्वर भक्त बनने का आशीर्वाद दिया। श्री गुरुगीता सुनी।

बाबा ने कहा बेटा मुझे कोई उपयुक्त पात्र नहीं मिला जिसे मैं अपनी आध्यात्मिक निधि हस्तान्तरित कर (सौंप) सकता। बाद में बोले कि इस शरीर का प्रयोजन समाप्त हो गया है, अब यह जायेगा। फिर मुझसे पूछा, "क्या तूने मेरी पुस्तकें पढ़ी हैं ?" मैंने नकारात्मक उत्तर दिया क्योंकि मुझे तो यह ज्ञात भी नहीं था कि बाबा ने कोई पुस्तक लिखी हैं। उसके बाद बाबा ने अपने गुरु पूज्य राधा बाबा के जीवन एवं उनके रस दर्शन पर लिखित चारों पुस्तकें मुझे दी। अत्यन्त प्रेम एवं आग्रह से कहा, बेटा मैंने अपना सब कुछ इसमें उडेल दिया है, तू इसे जरुर पढ़ना।

बाद में बाबा ने राधा बाबा की जीवनी के प्रथम खंड के बारे में कहा कि बेटा यह प्रथम भाग पूरी तरह समाप्त हो गया है। मैं जानता हूँ कि तू भी मेरी तरह फकीर है लेकिन यदि कोई उपयुक्त व्यक्ति मिले तो इस प्रथम खंड का पुनर्मुद्रण कराना है।

जैसा कि बाबा ने कहा था तीन सप्ताह बाद 1 दिसंबर 99 को प्रातः काल ब्रह्म मुहूर्त में उन्होंने अपने को स्थूल देह से विलग कर लिया। सिद्ध पुरुष का हर कार्य सिद्ध होता है। तदनुसार उनका यह संकल्प भी पुस्तक में पुर्नमुद्रण के रूप में परिणीत हो रहा है।

इस पुनर्मुद्रण में एक ईश्वर भक्त का आभार प्रगट करना जरुरी है जो निस्वार्थ रुप से इस शुभ संकल्प के क्रियान्वयन में माध्यम बने। जिनके सहयोग से यह कार्य अतिशीघ्र पूर्ण हो गया। उन्हें एवं इसके प्रकाशन में जुड़े सभी लोगों को पूज्य बाबा का आर्शीवाद प्राप्त होगा, यह मेरा विश्वास है।

श्री गुरुदेव का ही

श्री राधे

पूज्य कृष्णप्रेम बाबा का दास के प्रति स्नेह-भाव सदा से है। इसी भाव से उत्साहित हो, मैंने कृष्णप्रेम बाबा से निवेदन किया था कि हम सभी के हृदयधन पूज्य श्रीराधाबाबा के चिरभिलषित चरित्र को लिखकर भक्त-जगत् को प्रदान करने की कृपा करें। पूज्य कृष्णप्रेम बाबा ने अपने स्वल्प साधनों में रहते हुए भी पू० श्री राधाबाबा का अतिशय रसमय चरित्र लिखा, अथवा यों कहें कि साक्षात् रसराज प्रियतम श्यामसुन्दर ने अपनी प्रिया का चरित्र कृष्णप्रेम बाबा को यंत्र बनाकर लिखाया। परन्तु जो भी चरित्र बना है, वह सिद्ध भक्त-समाज, साधन-परायण जन एवं साहित्यानुरागी सभी प्राणियों के लिये परमोपयोगी बना है।

श्रीमद्भागवत में आया है कि परीक्षित् ने श्री शुकदेवजी महाराज से कहा "प्रभु, मुझे भूख, प्यास, मृत्यु, भय कुछ नहीं है। मुझे तो आप भक्तों के चरित्र सुनाते जाइये। भक्तजनों के हृदय में छिपी इस अभिलाषा की पूर्ति भगवान् करते रहते हैं।

उसी कृपा का प्रतिफल यह श्री राधाबाबा का रसमय चरित्र है। जो हमारे जैसे अल्पज्ञ, अल्पशक्ति के साधनहीन जनों को भी भाव-मार्ग में चलने की प्रेरणा एवं शक्ति देगा। यह मेरा हृदय कहता है।

भक्तजन इस भावग्रन्थ को शिरोधार्य ही नहीं हृदय में धारण करेंगे। यही पू० कृष्णप्रेम बाबा के सद् प्रयास का वास्तविक मूल्य है। अधिक क्या लिखूँ ....

दास
काशीप्रसाद श्रीवास्तव

महाभाव-दिनमणि श्रीराधाबाबा

(प्रथम खण्ड)

प्रथम भाग

(जन्म, शिक्षा, क्रान्तिकारी जीवन, जेल-यात्रायें
आध्यात्मिक-जीवन का श्रीगणेश, सन्यास-ग्रहण)

(सन् १९१३ से १९३५ ई. तक)

अनुक्रमणिका

क्रम	विषय सूची	पृष्ठ संख्या
१.	पू० पोद्दार महाराज की पुत्री अ. सौ. सावित्रीबाई के आशीर्वचन	
२.	आत्मकथ्य	
३.	समर्पण	
४.	प्रकाशकीय वक्तव्य	
५.	कुल परिचय	१
६.	वात्सल्यमूर्त्ति--जननी	४
७.	नामकरण-संस्कार एवं बालजीवन	५
८.	सदाशिव का रक्तार्चन	५
९.	रामानन्दी सन्त का दृष्टिपात	
१०.	शिवकृपा से मेड़ल (Medal) पुरस्कार	८
११.	रमल विद्याविद् साधु की भविष्योक्ति	१०
१२.	शिक्षक खालिकसाहब	११
१३.	महासिद्ध सन्त से मिलन	१२
१४.	विप्लववादियों के मध्य	१४
१५.	महात्मा कुम्हार से रक्षा-कवच	१८
१६.	प्रेत से सहयोग	२१
१७.	जेल में दारुण यंत्रणा एवं भगवत्कृपा का प्रकाश	२३
१८.	गायिका दुर्गेशनन्दिनी	३०

अनुक्रमणिका

क्रम	विषय सूची	पृष्ठ संख्या
१९.	सेवाभाव	३२
२०.	विचार मंथन	३३
२१.	गृहस्थ जीवनगत अशान्ति	३७
२२.	सन्यास की पूर्व-भूमिका	३९
२३.	सन्यास-ग्रहण	४३
२४.	माता-पिता को सन्यासी पुत्र के दर्शन	४५
२५.	सन्यासोपरान्त स्कूली शिक्षा	५१
२६.	श्रीमद्भगवद्गीता निष्ठा	५४
२७.	कान्तिकारी परिवारों के लिये गीता-प्रवचन	५७
२८.	बस में पुलिस दरोगा का दुर्व्यवहार	६०
२९.	हिंस्र व्याघ्र से भेंट	६१
३०.	हठयोग से शरीर कष्ट एवं प्राकृतिक चिकित्सा लाभ	६२
३१.	पुलिस सन्यासी वेष में	६४
३२.	स्वामी रामसुखदास जी महाराज से परिचय एवं बाँकुड़ा-प्रस्थान	६५
३३.	श्री सेठजी जयदयाल गोयन्दका के चमत्कार	७१
३४.	गोरखपुर आगमन एवं पू.भाईजी हनुमान प्रसादजी पोद्दार से प्रथम भेंट	७३

* * * *

महाभाव-दिनमणि श्रीराधाबाबा

प्रथम खण्ड

दूसरा भाग

(सन् १९३६ से १९४० ई. तक)

अनुक्रमणिका

क्रम	विषय सूची	पृष्ठ संख्या
१.	श्रीकृष्ण-दर्शन एवं गोपीभाव	७८
२.	स्वरचित चौपदों में जीवन का रहस्य	९५
३.	हनुमानगढ़ी का निवास काल--(आन्तरिक दशा)	९८
४.	वेणुनाद-श्रवण एवं पोद्दार महाराज के स्वरूप-महत्व का बखान	१०३
५.	भागवती संकेतों की होली	१११
६.	पू. पोद्दार महाराज की महिमा का वर्णन	११६
७.	महिमा की और गंभीर बातें	१२३
८.	श्री गोयन्दकाजी का गोरखपुर आगमन	१३०
९.	चूरू प्रस्थान	१३४
१०.	लेखक का प्रथम परिचय	१३८
११.	लेखक का बाल-हठ	१४१
१२.	गीता-तत्व विवेचनी का कार्य	
	(अ) चौपदे	१४४
	(आ) चौपदों का भावार्थ	१४६
	(ई) अन्तर्हितभाव	१४७
१३.	अप्राकृत मन	
	(अ) श्री द्वारकादासजी की कथा	१५२
	(आ) पू० गुरुदेव के अप्राकृत मन का लेखक द्वारा स्वयं अनुभव	१५४

अनुक्रमणिका

क्रम	विषय सूची	पृष्ठ संख्या
१४.	अन्तर्दशा का चित्र	१५५
१५.	गीताकार्य एवं रस-भावना जन्य विक्षेप	१५७
१६.	गीताप्रेस के कमरे में विलक्षण दर्शन	१६२
१७.	भगवन्नाम-जप का प्रारंभ	१६५
१८.	तीन पदों की लीलाओं का साक्षात्कार	१६७
१९.	“ग्वालिनि प्रकट्यौ पूरण नेह” पद की लीला	१७१
२०.	पद-व्याख्या में पू० गुरुदेव का भाव-जीवन	१८१
२१.	‘कबकी मह्यौ लियें सिर डोलै’,(अनुभूति)	१८४
२२.	अटपटे प्रश्नों का साधन-रहस्य	१८९
२३.	उपरोक्त पद-व्याख्या में पू० गुरुदेव की जीवन-कथा का निहित रहस्य	१९७
२४.	“नाहिन रह्यौ हिय माँहि ठौर”पद की व्याख्या	१९९
२५.	गठिया और पेचिश का भयंकर प्रकोप	२०६
२६.	सत्संग प्रवचन से विरति	२११
२७.	गीता के ‘य इमं परमं गुह्यं’ श्लोक का नवीन अर्थ	२१४
२८.	पुन: भगवत्प्राकट्य और आदेश	२१६
२९.	पू० पोद्दार महाराज के जीवन-व्यापी संग का व्रत एवं जन्मदात्री माँ से अन्तिम मिलन	२२०
३०.	पू० गुरुदेव के पिताश्री	२२९
३१.	प्रवचन का त्याग एवं अखण्ड मौनव्रत	२३४
३२.	सेठजी का पुन: साथ रखने का हठ	२३७

अनुक्रमणिका

क्रम	विषय सूची	पृष्ठ संख्या
३३.	जीवनव्यापी संग में बाधायें एवं सालासर से चिन्मय पुष्प की प्राप्ति	२३९
३४.	शीतसहन की स्पर्धा	२४३
३५.	दौड़ लगानी पड़ी	२४५
३६.	चूरू में एक पंजाबी सन्त	२४८
३७.	गुरु-शिष्य का अभूतपूर्व वात्सल्य	२५२

⌘⌘⌘⌘

महाभाव दिनमणि श्रीराधाबाबा

द्वितीय खण्ड

तीसरा भाग

(सन् १९४० से १९४३ ई. तक)

अनुक्रमणिका

क्रम	विषय सूची	पृष्ठ संख्या
१	व्रजभाव की गम्भीर साधना का प्रारंभ	२५८
२	ब्रजभाव की पाँच सौ शब्दावली	२५९
३.	गुरु प्राप्ति की चिन्ता	२७८
४.	विलक्षण दिव्य स्वप्न	२८४
५.	गुरुदीक्षा	२८६
६.	अगणित अनुभूतियों का प्रकाश	२८९
७.	शास्त्रीय आधार	३००
८.	भावजगत -- अहीरनी रसमयी	३०८
९.	मुझे भूत लग गया था और अब तो भूतनी भी आ गयी है	३१४
१०.	आवनी लीला	३१८
११.	वे कैसे रसमय दिन थे	३२७
१२.	दोनों दोनों से बढकर	३३०
१३.	'देखरी देख अनिमेष या वेष कौं'	३३२
१४.	राधाष्टमी उत्सव	३४०
१५.	भगवती श्रीराधारानी का दर्शन, मिलन एवं नित्य संग	३५०
१६.	मजुलीला भाव (वनमाला गुम्फन लीला)	३९३

अनुक्रमणिका

क्रमांक	विषय सूची	पृष्ठ संख्या
१७.	मंजुलीला भाव - अष्टयाम लीला	४०१
१८.	वृन्दावन वर्णन	४०२
१९.	निद्रा भाव	४०३
२०.	निभृत निकुञ्ज में प्रिया प्रियतम	४०५
२१.	शुक सारी संवाद	४०९
२२.	मंगलगान	४१५
२३.	वीणा-वादन एवं जागरण	४२०
२४.	यमुना संतरण	४२८
२५.	वृषभानुभवन गमन, शयन एवं स्नान	४३१
२६.	श्रृंगार एवं नन्दभवन गमन	४४०
२७.	नन्दभवन में प्रवेश	४४७
२८.	पाक रचना, भोजन, एवं वृषभानुभवन लौटना	४४९
२९.	वंशीध्वनि एवं वनगमन	४५९
३०.	श्रीकृष्ण का राधाकुण्ड आगमन	४६७
३१.	अवशिष्ट अष्टयाम लीला	४७१
३२.	मंजुलीला भाव में वंशी द्वारा आवाहन एवं श्रृंगार	४७८
३३.	मंजुलीला भाव में - प्रिया द्वारा श्रृंगार	४८६

* * * *

महाभाव दिनमणि श्रीराधाबाबा

द्वितीय खण्ड

चतुर्थ भाग

अनुक्रमणिका

क्रमांक. *विषयसूची* *पृष्ठ संख्या*

१. मंजुलीला भाव : —
"राधा राधा" नामोच्चारण के पीछे
की लीला की अनुभूति ४९५

२. मंजुलीला भाव : मालिन, नापित, गृहरजक एवं हड्डिप कन्याओं की गाथाएँ

(अ) मंजिष्ठा की कथा ५०५
(आ) रंगरागा की कथा ५११
(इ) भाग्यवती एवं पुण्यपुंजा की कथा ५११
(ई) माणिकी की कथा ५१७
(उ) प्रेमवती एवं नर्मदा की कथा ५२३
(ऊ) नलिनी की कथा ५३५
(ए) सुगन्धा की कथा ५४४

३. सारिका प्रसंग

४. सारिका प्रसंग : प्रथम लीला

(अ) सारिका का प्रादुर्भाव ५५९
(आ) सखी चन्द्रावली के कुञ्ज में ५६५
(इ) प्रिया राधा की स्मृति में तल्लीनता
एवं विरह क्रन्दन ५६९
(ई) चित्रपट दर्शन से विरह शान्ति ५७२
(उ) आश्वासन दान ५७३

अनुक्रमणिका

क्रमांक *विषय सूची* *पृष्ठ संख्या*

(ऊ) रानी की विरह-दशा एवं शैब्या दासी होकर रहने का संकल्प ५७६
(ए) रानी का चन्द्रावली, शैब्या एवं प्रियतम से मिलाप ५८२

५. सारिका प्रसंग : दूसरी लीला

(अ) नन्दभवन दर्शन ५८५
(आ) गोदोहन एवं यश-गायन ५९१
(इ) निभृत निकुंज : लीला दर्शन ५९४

६. सारिका प्रसंग : तीसरी लीला

(अ) रूप दर्शन ५९९
(आ) यमुना दर्शन एवं स्तुति ६००
(इ) रूप-शील गर्विता गोपी ६०३

७. सारिका प्रसंग : चौथी लीला

(अ) लीला लोक : नाव लीला के दर्शन ६०७
(आ) वेणुनाद एवं नृत्य ६०९
(इ) श्रान्ति एवं शयन ६१२
(ई) विहार : तत्व रहस्य ६१४
(उ) रानी के स्वप्नदेश में सारिका ६१५

८. सारिका प्रसंग : पाँचवीं लीला

(अ) गह्वर वन वर्णन ६१७
(आ) व्रजजगत का तत्व रहस्य ६१९
(इ) प्रियतम एवं रानी के स्नेह की जय ६२०
(ई) गोपराज के ग्राम में ६२२
(उ) गोपी-हृदय में प्रेम दीप ६२२
(ऊ) परस्पर रस चर्चा ६२४
(ए) प्रियतम से मिलन ६२९

अनुक्रमणिका

क्रमांक *विषयसूची* *पृष्ठ संख्या*

९. सारिका प्रसंग : छठी लीला

(अ) सारिका की प्रेम दशा ६३०
(आ) गोपी में राधा-भाव संचरण ६३२
(इ) सारिका की प्रेम दशा ६३४
(ई) वन में प्रिया-प्रियतम का आगमन ६३६
(उ) रानी की अलकावलि में विलय ६३८
(ऊ) होली लीला ६३९

१०. तृण भाव

(अ) मैं एक तृण हूँ ६५०
(आ) मेरा परिचय ६५१
(इ) विरह एवं प्रतीक्षा ६५५
(ई) प्रियदर्शन एवं व्रजरज-कृपा ६५६
(उ) महारस दर्शन ६५८
(ऊ) अन्तर्धान हो जाना ६६२
(ए) कृष्ण जन्म लीलानुकृति ६७३
(ऐ) पूतना लीलानुकृति ६७५
(ओ) शकटभंजन लीलानुकृति ६७८
(औ) मल्ल-लीलानुकृति ६७९
(अं) माखन चोरी लीलानुकृति ६८०
(अः) दामोदर लीलानुकृति ६८२
(क) कालिय-निग्रह लीलानुकृति ६९१
(ख) फूँक से दावानल मुक्ति - लीलानुकृति ७००
(ग) सर्वत्र लीलाओं की अनुकृति ७०१

* * *

"यह राधाबाबा की जीवनी नहीं,

आध्यात्म शास्त्र का विश्वकोश है।

इसके पढ़ने मात्र से

श्रीकृष्ण-कृपा अवश्य प्राप्त होगी।"

(नाम-प्रचार-विमुख
एक गुप्त रसिक-भगवत्प्राप्त सन्त)

❖ ❖ ❖

राधा

"मैंने भगवान् श्रीकृष्ण से प्रार्थना की थी, कोई बाबा का इस प्रकार का जीवन चरित्र लिख दे, आज मैं इसे देखकर कृत-संकल्प हो गया हूँ।"

रामस्नेही

(श्री रामस्नेहीजी आत्म प्रचार से दूर रहना चाहते हैं।
उपरोक्त शब्द उन्होंने गोरखपुर यात्रा में लेखक के सम्मुख व्यक्त किये थे।
लेखक ने उन पर अपना प्रेमाधिकार समझते हुए इन्हें प्रकाशित कर दिया है)

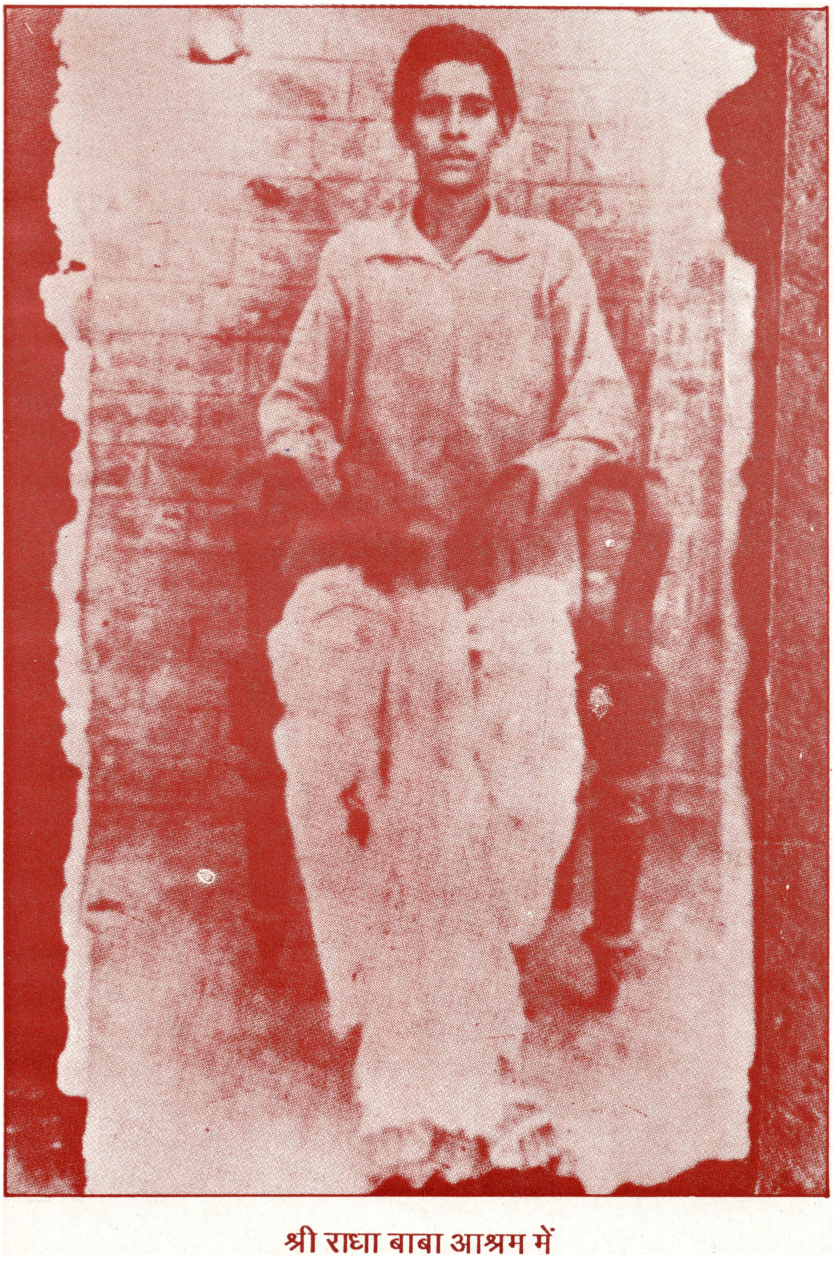

श्री राधा बाबा आश्रम में

महाभाव दिनमणि
श्री राधाबाबा

प्रथम भाग

(जीवन प्रसंग)

जन्म, शिक्षा, जेल यात्राएँ,
आध्यात्मिक जीवन का श्रीगणेश, सन्यास ग्रहण
(ई. सन् १९१३ से १९३५ तक)

राधा

भैया साधु कृष्ण प्रेम !

कोई भी हो कैसी भी हो,
जो जुड़ी तनिक-सी है, प्रियतम !
आशा उसकी मैं क्यों तोड़ूँ,
साँवर तो हैं मेरे प्रियतम !
दूँगी, कह जो कर ही लेगें,
फिर यह तो पद थामे प्रियतम !

--- ----

यह नित्य-सत्य स्वभाव है मेरे आराध्य नील-दम्पति का। और उसी संविन्मय नील-पीत द्युति से अनुप्राणित हैं --

"मेरे बाबूजी - मेरे बाबा"।

तुम्हारा "निज गिरा पावन करन कारन" प्रयास और परिश्रम सराहनीय तो है ही, साथ ही यह समर्पित भी है -

कृष्णप्रिया के श्री चरणों में ।

राधिका रमण अपनी प्राणप्रिया सहित इसे अवश्य स्वीकार करें। यह मेरी शुभेच्छा है।

अपने बाबूजी की -

सावित्री

आत्मकथ्य

"महाभाव-दिनमणि श्रीराधाबाबा" पुस्तक पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करते सचमुच हर्ष ही नहीं जीवन की चरम कृतकृत्यता का अनुभव हो रहा है।

वि. सं. २०५० में पौष शुक्ला नवमी के दिन पू० गुरुदेव श्रीराधाबाबा का जन्मोत्सव जयपुर के सभी वैष्णवों ने उत्साह पूर्वक मनाया था। परम गौड़ीय वैष्णव श्रीकाशीप्रसादजी के घर से इस उत्सव का प्रारंभ हुआ था, एवं तत्पश्चात् राधावल्लभीय भक्तप्रवर श्रीहरिजी, सरस सम्प्रदाय के वैष्णव श्री नारायणलालजी आदि सभी महानुभावों ने इस उत्सव को परम समुल्लास से सम्पादित किया।

इसी अवसर पर महात्मा श्रीकाशीप्रसादजी ने मुझ से सदाग्रह किया कि मैं पू० गुरुदेव श्री राधाबाबा का जीवन-चरित्र लिपिबद्ध कर दूँ। सच्चे वैष्णव की भावना का आदर करते हुए यह लेखन प्रारंभ हुआ और जो कुछ उर-प्रेरक श्रीकृष्ण ने लिखाया पाठकों के सम्मुख है।

मैं न पढ़ा-लिखा विद्वान हूँ , न ही लेखन का अभ्यास ही है। जीवन तो पू० गुरुदेव के शरणापन्न रहकर पला। पू० गुरुदेव व्यक्तित्व को विकसित करने के पक्षधर नहीं थे। स्वयं वे अति उच्चकोटि के लेखक, कवि, मनीषी, चिन्तक एवं विद्वान थे, परन्तु उन्होंने अपनी योग्यताओं को सदा अप्रकाशित ही रखा। इसी प्रकार उन्होंने अपने शरणागतजनों की योग्यताओं को भी विकसित करने में अरुचि ही प्रकट की। श्री राधाबाबा गुरुड़म वाद पर विश्वास नहीं करते थे। अत: वे ख्यात रूप में किसी के भी गुरु नहीं बने। इसी को लेकर कतिपय मित्रों को मेरे उन्हें पू० गुरुदेव लिखने पर असहमति रही।

मैं बालकपन से ही स्वभाववश दुर्निवार हठी हूँ। अत: सभी मित्रों की सलाह एवं संभव है स्वयं श्रीराधाबाबा की रुचि के विपरीत भी उनकी यह

जीवनी पू० गुरुदेव के नाम से उद्घोषित कर रहा हूँ। उनकी रुचि के विपरीत जब यावज्जीवन ही चलता रहा और वे सहते रहे, तो मेरे इस अन्तिम नटखटपन को भी उन्होंने सह ही लिया है।

पू० गुरुदेव श्रीराधाबाबा से मेरा परिचय वि.स. १९९४ से है, जब वे प्रथम बार श्रीसेठ जयदयालजी गोयनका के साथ चूरू, ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम के वार्षिकोत्सव में आये थे। कोई पूर्व जन्म का दुर्निवार आकर्षण था जो एक परम विरक्त सन्यासी ने मुझसे अपने नैकट्य के सम्बन्ध विकसित कर लिये। उस निरी, शिशु अवस्था में रतनगढ़ में तीन वर्ष पश्चात् उन्होंने मुझे 'राधा' नाम की दीक्षा दी। इस दीक्षा की पद्धति कान फुँकवा गुरु बनकर नहीं, अपितु यह रस-दीक्षा अति विलक्षण बाल-चापल्य के साथ हुई। उन्होंने मेरे साथ प्रतिदिन खेलने का यह नियम बना लिया था कि एक घण्टा, चार से पाँच बजे तक वे मुझे 'राधा''राधा' कहकर पीटा करेंगे और मैं उन्हें पीटा करूँगा। यह पीटने का नियम पद-गायन सुनाने में परिणत हो गया और तब मैं उन्हें प्रतिदिन एक घण्टा दुपहरी में तीन बजे से चार बजे तक ब्रजभाव के पद गा-गाकर सुनाया करता था।

वि. स. २००६ में उन्होंने मुझे मंत्र दीक्षा दी और अष्ट दशाक्षर मंत्र-दान, इस प्रतिश्रुति के साथ दिया कि यदि एक माला भी प्रतिदिन जपता रहा तो मृत्यु के समय मुझे अवश्य श्रीकृष्ण-दर्शन हो जायेंगे। इस मंत्र-दान के साथ उन्होंने मुझे अपनी तुलसी माला प्रदान की। उन्होंने लीला-जगत में मेरा स्वरूप किसी महाभागा मंजरी के रूप में स्थापित किया और उस मंजरी की सेवा निर्धारित करके मुझे चौबीसों घण्टे प्रति तीन मिनट में वह सेवा करने का आदेश दिया।

उन्होंने मुझे अष्टयाम लीला लिखाई और अपनी अनुभूत सैकड़ों लीलायें बोल-बोल कर सुनायीं मैंने सन्यास भी उन्हें ही मानसिक रूप में गुरु मानते हुए भगवान् दक्षिणामूर्ति के साक्ष्य में लिया।

सन्यास लेने के तुरन्त पश्चात् वि.स. २०३१ के हरिद्वार के अर्ध कुम्भ में ज्योतिष्पीठाधीश्वर शंकराचार्य श्रीशान्तानन्दजी ने मुझसे मेरा योग पट्ट पूछा। मैंने उनसे जब अपने विविक्त सन्यास का उल्लेख किया तो उन्होंने हँस कर कहा - "आप द्राविड़ दाक्षिणात्य भट्ट-वंशीय ब्राह्मण हैं, आप मुझसे विधिवत् सन्यास दीक्षा ले लें। आप भले ही सद्गुरुरूप में राधाबाबा को गुरु मानें।" परन्तु मुझे तो एकछत्र उनके परमाश्रय के सिवाय किसी से कोई दूर

का संबंध भी रुचिकर नहीं था। मैंने पू० गुरुदेव से रोकर अपनी स्थिति निवेदन की। "बाबा ! आप मुझे अपना योगपट्ट तो दीजिये, अन्यथा सन्यासी समाज मुझे नाजायज संतान मान रहा है। पूर्ण विरक्त दुर्धर्ष तेजस्वी सच्चे सन्यासी गुरु के होते मैं अनाथवत् अपने पिता का गोत्र भी उच्चारण नहीं कर सकूँ ऐसा मेरा क्या अपराध है ! आपने मुझे अपनी आध्यात्मिक सम्पति से वंचित अनधिकारी समझ कर दिया, परन्तु क्या अपने पिता का गोत्र भी मुझे नहीं मिलेगा ? इस पर पू० गुरुदेव ने अति वात्सल्यपूर्वक मुझे कहा -"मधुसूदनानन्द सरस्वती तेरे गुरु हैं और सरस्वती नामा तू सन्यासी है।" उन्होंने मेरा सन्यासी नाम भी उच्चारित किया, जिसे उल्लिखित नहीं कर रहा हूँ।

अब भी यदि मैं उन्हें पू० गुरुदेव नहीं लिखूँ तो उनके मेरे सम्बन्धों के साथ न्याय तो कदापि नहीं होगा। कौन सा सम्बोधन है जो मेरे एवं उनके अति विषद एवं व्यापक सम्बन्ध को समेट सके। वे सन्यासी विरक्त पुरुष थे, अतः उन्हें अपनी माँ कह नहीं सकता। वे इतने असंग एवं विरक्त थे कि जैसे पोद्दार महाराज को अनेक मित्रों ने 'बाबूजी' मान लिया, उन्हें मैं अपना पिता भी सम्बोधित नहीं कर सकता। वे मुझसे इतने उच्च एवं महान् थे कि उन्हें अपने मित्रों की श्रेणी में रखूँ - संभव ही नहीं है। मात्र 'गुरु' शब्द ही इतना व्यापक है, जिसमें प्रामाणिकता से माता का समग्र वात्सल्य भरा है, पिता का संरक्षण भी इस शब्द में निहित है, एवं मित्र का हितभाव भी इसमें समाहित हो जाता है। उन्होंने मुझे हिन्दी सिखाई, संगीत सिखाया मेरी सम्पूर्ण नटखटताओं को सहा, वे मेरे गुरु नहीं हैं तो क्या हैं ? मात्र 'राधा बाबा' कहकर उन्हें सम्बोधित करूँ - मेरी सम्पूर्ण आत्मा धिक्कार उठती है। "निर्भय सन्यासी होकर क्यों डर रहा है ? किस लिये यह संगोपन है ? छाती ठोककर क्यों नही अपने सच्चे सम्बन्ध को उजागर करता ?" मेरी आत्मा की पुकार पर सब स्वजनों को अनसुना करके मैं इस पुस्तक में उन्हें निर्भय 'गुरु' सम्बोधित कर रहा हूँ।

इस जीवनी में मेरा अपना कुछ भी नहीं है। उनके सन्यास पूर्व की बाल्य जीवन की बातें उनके श्रीमुख से सभी ने अनेकों बार सुनी हैं। प्रियवर श्री राधेश्यामजी बंका ने एक उत्कृष्ट रिपोर्टर की तरह अपने 'पत्र-पुष्प' नामक ग्रन्थों में उन्हें इतस्ततः असम्बद्ध प्रकाशित कर ही दिया है । मैने उन्हें मात्र सुसंबद्ध क्रम रूप में ही किया है। वैष्णवों की मान्यता है कि सन्त

की जीवनी भी चिन्मय ही होती है, अतः उसमें उनका यथा-संभव समग्र आना चाहिये, अतः यथाश्रुत यथास्मृत सभी घटनायें दी गयी हैं। और इन्हीं सब कारणों से कलेवर विस्तृत होता गया है।

जहाँ तक लीलापक्ष का सम्बन्ध है, सभी लीलाएँ पू० गुरुदेव द्वारा वर्णित हैं, ये लीलाएँ वि. सं. २००८-२००९ में उनसे सुनी थीं। तबसे प्रतिदिवस उन्हें स्मरण कर-करके सँजो कर रखी हैं। ऐसी पचासों और भी लीलायें हैं, जिन्हें मञ्जुश्यामा-भाव नामक ग्रन्थ में देने का मन है। इन लीलाओं को भाषा के वस्त्रालंकार पहनाते समय भी यही भावना रही कि यथासंभव पू० गुरुदेव की भाषा में ही इनका विस्तार हो। अतः "श्रीकृष्ण-लीला चिन्तन" "चलोरी आज ब्रजराज मुख निरखिये" आदि ग्रन्थों के, वाक्य-विन्यास ही इन लीलाओं में पाठकों को विजड़ित मिलेंगे। विशुद्ध नीयत, यही है कि पू० गुरुदेव की कथित लीलायें यथासंभव उन की चिन्मयी रसमय-शब्दावली में पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत हो। इसी कारण एक ही प्रकार के वाक्य विन्यासों का पुनरावर्तन सुपठित विद्वानों को भाषा-दोष के रूप में दृष्टिगोचर हो सकता है। परन्तु मेरी नीयत देखकर सुधिजन मुझे क्षमा करेंगे।

अनेक स्थलों में लीला का विस्तार करने में श्रीपोद्दार महाराज के पदों में वर्णित लीलाओं के अंश भी गुम्फित हैं । ये अंश अ. सौ. बेटी राधा के द्वारा पू० गुरुदेव के संरक्षण में लिखी 'रस तरंगिणी' नामक पुस्तक से लिये गये हैं इसके पीछे भी यही भाव रहा है कि अपना व्यक्तित्व एवं अपनी कल्पना कहीं भी प्रकाश में नहीं आये। कहीं भी कोई भी अंश अपनी रचना-कौशल न होकर महापुरुषों द्वारा लिखे मंत्र ही इन लीलाओं में वैष्णवों के सम्मुख प्रकाश में आवें। वैष्णवों के सम्मुख यही मेरी दीनोक्ति है कि मेरा अंहकार, लेखन, मेरे विचार इसमें कहीं कुछ भी नहीं है, सब कुछ महापुरुषों एवं उनके कृपा पात्रों का प्रसाद है। इतना जागरूक प्रयत्न करने पर भी यह पवित्रतम परम मंगलमय गुरु-चरित्र यदि लेखक की दुर्निवार प्रसुप्त अहंकारमयी वासना से मलिन होगया हो, तो हेतुरहित कृपालु श्रीकृष्ण इसे अपनी पावन दृष्टि डालकर परम कल्याणमय सुन्दरतम सर्वमंगलकारी स्वरूप दे दें, यही प्रार्थना है।

अ. सौ. पू. सावित्री बाई फोगला (पू० पोद्दार महाराज की भगवत्प्राप्ति के पश्चात् की संतान) ने इस ग्रन्थ को 'कनुप्रिया' के रूप में आशीर्वाद दिया, इसके लिये मैं उनका परम आभारी हूँ। यह एक विरल संयोग

ही है कि श्रीकेलि मंजरी रूपा काशीप्रसादजी की प्रेरणा इसे लिखाने में हेतु रही और श्रीकनुप्रिया इसको आशीर्वाद दान दे गयीं।

श्रीरामस्नेही जी जो पू० गुरुदेव की सेवा एवं परिचर्या में रहे एवं जल-सेवा करते-करते जिनकी अँगुलियाँ तक गल जाया करती थीं - उन्होंने अपने अनमोल साधनरत जीवन में से कुछ क्षण देकर इसे पढ़ा और अति स्नेह विह्वल ये उद्गार प्रकट किये कि "मैने प्रभु से प्रार्थना की थी कि पू० राधा बाबा की जीवनी इस प्रकार से कोई लिख पावे, आज इसे देखकर मैं सफल संकल्प हो गया।" मैं उन परम सेवादर्श त्यागमूर्त्ति श्री रामस्नेही महात्मा का परम आभारी हूँ।

भाई श्री राधेश्यामजी भगत ने भी अपनी कृपा दृष्टि इस ग्रन्थ पर डाली और इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि अति कृपाकर पू० राधाबाबा की समाधि मूर्त्ति के चरणों में रख दी, इसे पुष्पों से सुपूजित किया, मैं हृदय से उनका कृतज्ञ हूँ।

अभी तो इस विस्तृत ग्रन्थ का प्रथम खण्ड ही पाठकों के सम्मुख आ रहा है। दूसरे खण्ड का अर्धांश "पू० गुरुदेव की मातृसाधना" प्राय: सम्पूर्ण है और कम्प्यूटर प्रिंटिंग के लिये दे दिया गया है। शेष अर्धांश योग पक्ष है जिसमें उन अनेकों परलोकवासी आत्माओं का वर्णन है जिन्हें पू० गुरुदेव एवं श्री पोद्दार महाराज की कृपा से उच्च लोकों की प्राप्ति हुई है। परलोक में आत्माओं को किन-किन कर्मराशियों से बहुत बाधायें आती हैं, इनके अति प्रामाणिक प्रसंग इस दूसरे खण्ड के अर्धांश में दिये जाने हैं। किन्हीं सज्जनों के पास यदि ऐसे और अनुभव हों तो लेखक को भेजने की अवश्य कृपा करें।

तीसरे खण्ड में पू० गुरुदेव द्वारा श्री तारादत्तजी मिश्र, श्री देवदत्तजी मिश्रादि अपने अग्रज भ्राताओं को लिखे पत्रों का संकलन है। यह पत्राचार वि. सं. १९९४ से वि. सं. १९९७ तक का है, कुछ पत्र लेखक को भी पू० गुरुदेव ने सम्बोधित किये हैं, अथवा लेखक के पूर्वाश्रम के पिता को सम्बोधित कर लिखवाये गये हैं, उन सभी को देने का विचार है। इसके अतिरिक्त पू० गुरुदेव के उपदेश भी जो लेखक के पास संकलित हैं, उन सभी को इस तीसरे खण्ड में प्रकाशित कर देने की योजना हे।

चौथे खण्ड में श्री मंजुश्यामा भाव एवं श्री राधामहाभाव पर यथोचित सामग्री देने का पूरा प्रयास है। इस प्रयास में अ. सौ. बाई सावित्री के पास जो भी संकलन है, उसने देने का आश्वासन दिया है।

अभी हमारी वर्तमान पीढ़ी तो पू० गुरुदेव के साथ अपना कुछ जीवन बिता चुकी है, उन्हें यह प्रतीत हो सकता है कि स्वामीजी इतनी विस्तृत जीवनी प्रकाशित कर पिष्ट-पेषण ही कर रहे हैं। परन्तु हमारे सम्मुख वास्तव में जीवनी लिखते समय लक्ष्य भविष्य के वे लोग होने चाहियें जो मात्र इस पुस्तक से ही पू० गुरुदेव श्री राधाबाबा का परिचय प्राप्त कर सकेंगे। भविष्य में अब तो युगों-युगों तक ऐसे महासिद्ध सन्त का परिचय मात्र पुस्तकें ही तो करा पावेंगीं। अतः यदि इस महा विभूति को, उसके व्यक्तित्व और उपलब्धियों को शब्द परिचय दिया जा सका तो भविष्य का युग निश्चय ही इस प्रयास से कृतकृत्य होगा।

मैं तो पुनः पुनः महारसनिधि राधाबाबा के प्राणवल्लभ भगवान श्रीकृष्ण के नयनों की ओर ही ताक रहा हूँ और अनन्त कृतज्ञता व्यक्त करते हुए उन्हीं से अति विनीत प्रार्थना कर रहा हूँ - क्योंकि उनकी कृपा कोर पाये बिना मुझ जैसा परम अधम तुच्छ देह-लोलुप जीव इस महारस ग्रन्थ को लिख पावे, यह असंभव, असंभव, सर्वथा असंभव है। अन्त में यही निवेदन है

मूकं करोति वाचालं पंगुल्लंघयते गिरि
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्द माधवम्।

जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै, अँधरे कौं सब कछु दरसाई
बहरो सुनै, मूक पुनि बोलै, रंक चलै सिर छत्र धराई।।

पू० राधाबाबा और उनके प्राणवल्लभ की जय हो।

साधु कृष्णप्रेम

(समर्पण के दो फूल)

प्रियतम !

असीम अनुग्रह है तेरा जो अपनी प्राण-प्रिया का परोक्ष दर्शन तो कराया। मैं तो कहीं कुछ भी लायक नहीं था। कूड़े-करकट को घूरे से उठाकर चन्दन-पंक-कुण्ड में डाल देना भी तेरा ही कृपा विधान रहा। तेरी प्रिया को अपरोक्ष कर सकूँ - अपने वश का तो कुछ भी नहीं है, और तू तो सर्वभवन समर्थ है। जिसने कूड़े-करकट होने का दुर्भाग्य दान किया है, वह सौभाग्य के सुमेरु शिखर पर भी आसीन कर सकता है। अभी तो यही क्या कम सौभाग्य है कि कूड़े-कचरे के नेत्रों में तेरी प्रिया का परोक्ष दर्शन अनवरत अधिकांश काल हो रहा है।

यह सत्य है, साक्षात् सरस्वती भी प्राणप्रण से चेष्टा करे तो तेरी प्रिया का सही चित्र, यथार्थ चित्रण नहीं कर सकती। जब सरस्वती ही असमर्थ है तो मुझ पर तुम खीझ ही नहीं सकते।

पुनः इतनी ही प्रार्थना है कि मेरे द्वारा बिगाड़े को अपनी प्रीति सुधामयी दृष्टि डालकर अपने ही कर कमलों से सुधार लेना।

तेरी वस्तु तुझे ही समर्पित है।

मोहन तेरी प्राणप्रिया को वरणौं कहा सिँगार
जो तुम मेरो आदि अंत लौं मानो यह उपकार

तुम्हारा अपना
कृष्णप्रेम

प्रकाशकीय वक्तव्य

श्रीराधामाधव प्रकाशन की यह तीसरी पुस्तक -- "महाभाव दिनमणि श्री राधाबाबा" वैष्णवों को सौंपते हुए मैं परम हर्ष का अनुभव कर रहा हूँ। हमारी प्रथम पुस्तक "श्रीराधामाधव रस सुधा" सन् १९६७ ई. में प्रकाशित हुई थी। यह पुस्तक इतनी गरिमामयी थी कि सुना है -- 'माँ आनन्दमयी' इस पुस्तक को अपनी पूजा की पुस्तकों में रखतीं थीं। इसमें पू० श्रीहनुमान प्रसादजी पोद्दार द्वारा रचित षोड़शगीतों का उन्हीं के द्वारा किया हिन्दी में अनुवाद और इन्हीं गीतों पर उनकी ही प्रगल्भ दार्शनिक भूमिका थी। साथ ही पू० राधाबाबा द्वारा लिखित 'जगज्जननी श्री राधा' नामक परम सरस लेख भी था।

हमारी दूसरी पुस्तक 'रसाद्वैत मञ्जरी' श्रीभागीरथप्रसाद मरदा ने चूरू से प्रकाशित करायी थी। यह पुस्तक श्रीमरदाजी ने जब परमश्रद्धेय करपात्रीजी महाराज को समर्पित की तो उनके द्वारा इसकी अत्यन्त प्रशंसा की गयी।
ये दोनों पुस्तकें आज अलभ्य हैं।

'रसाद्वैत मंजरी' भी षोड़श गीतों के प्रथम आठ पदों की दार्शनिक अद्वैतपरक टीका थी, जो पू० स्वामी कृष्णप्रेमजी ने पू० गुरुदेव श्री राधाबाबा के सान्निध्य में रहकर लिखी थी। इस पुस्तक को पू० श्रीराधाबाबा ने अक्षरश: अनुमोदित की थी।

यह हमारा परम सौभाग्य है कि हमारा यह तीसरा प्रयास भी वैष्णव जगत द्वारा बहुत ही महत्व को प्राप्त कर रहा है।

पू० श्री राधाबाबा की इस जीवनी के सम्बन्ध में एक परम रसिक सन्त की उक्ति है कि यह आध्यात्मशास्त्र का विश्वकोश है।
मेरी दृष्टि में महापुरुषों के अनेक जीवन प्रसंग आये हैं, परन्तु किसी भी लेखक द्वारा सन्त का अन्तर्भाव-जीवन चित्रित हुआ देखने में नहीं आया। सभी ग्रन्थों में सन्तों की बाह्य साधना एवं लोक-व्यवहार की बातें ही देखने को मिलती हैं। पू० गुरुदेव श्री राधाबाबा के अन्तर्भाव-जीवन का इतना विस्तृत प्रकाश करके स्वामी कृष्णप्रेमजी ने वैष्णव जगत् को एक अनमोल सिद्ध वस्तु

दी है। इन श्रुतिरूप बीज-मंत्र-लीलाओं को मात्र पढ़कर ही एक साधक साध्य वस्तु को प्राप्त कर सकता है।

ये लीलाएँ वेद-ऋचाओं से भी अधिक गरिमामयी हैं, क्योंकि ये परम रसमयी हैं। श्रीमद्भागवत दशम स्कंध के प्रारंभ में ही एक अति अद्भुत श्लोक आया है-

निवृत्ततर्षैरुपगीयमानात् भवौषधात् श्रोत्रमनोभिरामात्।
क उत्तमश्लोक गुणानुवादात् पुमान् विरज्येत बिना पशुघ्नात्।।

श्री शुकदेवजी महाराज कहते हैं - "भगवान् उत्तमश्लोक श्रीकृष्ण के गुणानुवाद इतने पवित्र एवं रसमय हैं कि नारद, व्यासादि विगत-तृष्णा ऋषि उनका गान अनवरत करते रहते हैं। ये भगवान् के परम मंगलकारी चरित्र मन को, कानों को परम अभिराम, रसमय लगने के कारण विषयी जीवों को भी आकर्षित कर लेते हैं। ये संसार के त्रिविध रोग की अमोघ ओषधि हैं। इन परम पवित्र लीला चरित्रों के श्रवण से तो मात्र आत्मघाती जीव ही भले वंचित रहे।"

ठीक इसी प्रकार मेरे इस कथन में कहीं भी अतिशयोक्ति नहीं है कि श्रीराधाबाबा जैसे महासिद्ध सन्त का यह परम रसमय महामंगलमय जीवन चरित्र भी जो आध्यात्मिक अनमोल रत्नों से भरा है,जिसमें कहीं किंचिन्मात्र भी खारापन नहीं, सभी सिद्धों, साधकों और साहित्य रुचि रखने वाले विषयी प्राणियों को भी समान रूप से आकर्षित करेगा। यह निश्चय ही विश्व के लिये परम मंगलकारी है।

पू० गुरुदेव श्री राधाबाबा के पवित्रतम गोपी भाव-जीवन की इसमें ऐसी सरस कथायें हैं कि यदि एक बार भी कोई पढ़ने में लग जायगा तो इन्हें छोड़ने का मन ही नहीं करेगा।

पू० श्रीस्वामीजी ने इसकी भाषा भी पू० गुरुदेव श्रीराधाबाबा के स्वरचित श्रीकृष्ण-लीला-चिन्तन आदि ग्रन्थों से भ्रमर की तरह संचयित की है, अतः भाषा भी पू० गुरुदेव की परम चिन्मयी ही है। लीलाएँ पू० गुरुदेव द्वारा अनुभूत अप्राकृत, भाषा सच्चिन्मयी, एवं भाव भी पू० गुरुदेव अथवा श्रीपोद्दार महाराज के होने से यह ग्रन्थ सर्वओर से रसमय है। इसमें गुठली, छिलका कुछ भी त्याज्य वस्तु नहीं है।

श्री स्वामीजी ने इस अपनी रुग्ण, विषम-स्वास्थ्य की परिस्थितियों में कितना श्रम करके यह सब संकलित किया है, उनका उत्साह और प्रयास सचमुच ही स्तुत्य है। सचमुच ही उन्होंने अपनी यह श्रद्धाञ्जलि अपने पू० गुरुदेव को देकर अपना जीवन परम सफल किया है।

पाठक इस अनमोल निधि का आकलन स्वयं पढ़कर ही करेंगे।

विनीत

प्रद्युम्न गोस्वामी
श्रीराधामाधव प्रकाशन
षोड़श गीत मन्दिर,अनाथालय के पीछे,
बीकानेर-३३४००१

कुल परिचय

जैसे प्रेम का प्रादुर्भाव होता ही है, व्रजभूमि में और इसीलिये भगवान् श्रीकृष्ण को अपने प्राकट्यस्थल का चयन भी इस विशुद्ध प्रेम की पृष्ठभूमि व्रजमंडल में ही करना पड़ता है, वैसे ही सच्चे संत भी ऐसे ही जन्मस्थल का चयन करते हैं जहाँ विशुद्धसत्त्व की प्रधानता हो।

शास्त्र कहते हैं, भगवान् जिस देश में जन्म लेते हैं, उस देश में उनकी तीन पीढ़ी पूर्व से ही संधिनीशक्ति का प्रकाश हो जाता है। इस चिन्मय सन्धिनीशक्ति का पवित्रतम प्रकाश अवतार के स्वधामगमन तक बना रहता है एवं अवतार के स्वधाम-गमन करने पर यह चिन्मय सन्धिनीशक्ति का प्रकाश भी अवतार के साथ ही उनके स्वधाम में चला जाता है ।

परम पू० गुरुदेव श्रीराधाबाबा पू० भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार की महिमा में स्वयं अपनी वाणी में कहते हैं -

पिंजर काला प्रतीक यह है व्रजधरा अरण्य तथा, प्रियतम !
सब मातृपितृकुल के परिकर, वे श्वसुरालय के भी प्रियतम !
गोवंश, वसन, उपकरण, सभी जन के तनधारण के प्रियतम !
सन्धिनीशक्ति की परिणति ही जो हैं, इन सबका ही, प्रियतम ।।

यह श्रीपोद्दारमहाराज का कालापिंजर शरीर ब्रजभूमि एवं अरण्य (वृंदावन) का प्रतीक है तथा उनके मातृ-पितृकुल के तथा श्वसुरालय के भी सारे परिकर, उनके यहाँ पालित गोवंश, उनके वसन-उपकरण, जो उनके तथा उनके जनों के तन-धारण में निमित्त हैं, सभी सन्धिनी शक्ति की ही परिणति हैं ।

ये पंक्तियाँ जो ऊपर अंकित हैं, पू० गुरुदेव ने पू० पोद्दार महाराज को अपने महाभावावेश में कही थीं। श्रीपोद्दार महाराज ने इन्हें अपने स्वयं के हस्ताक्षरों में अंकित कर ली थीं। वे पंक्तियाँ ही यहाँ उद्धृत हैं।

कहने का इतना ही तात्पर्य है कि पूज्यचरण पोद्दार महाराज एवं पू० गुरुदेव जैसे सन्तों का- जिनमें स्वसुख की वासना का सम्पूर्ण त्याग सहज ही होता है, जिनमें भोग तो क्या मोक्षसुख तक के प्रति घोर विरक्ति होती है, जिनमें अपने प्राणवल्लभ नीलसुन्दर से निरन्तर प्रीतिदान की होड़ लगी रहती

है -- सबकुछ सन्धिनीशक्ति का चिन्मय विलास ही होता है । पू० राधाबाबा जैसे अथाह महिमामय प्रेमीसंत को अपनी कोख में धारण करने वाली जननी, बीजस्थापन करने वाले पिता, उनके पितामह, प्रपितामह एवं उनका सब कुल भगवान् की संधिनीशक्ति की ही परिणति होने के कारण कितना कल्याणपुंज, पवित्र, शुद्ध एवं सात्विक था, इसकी थाह मेरे जैसे तुच्छ लेखक की जड़बुद्धि भला कैसे कर पावे। आओ, भक्त सम्राट तुलसीदासजी की वाणी में अपनी वाणी मिलावें एवं कहें -

सो कुल धन्य उमा सुनु जगत पूज्य सुपुनीत ।
श्रीरघुवीर-परायन जेहिं नर उपज विनीत ।।

परम पू० गुरुदेव के पितामह का नाम था श्रीअम्बिकादत्तजी मिश्र। ये संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित थे, साथ ही भगवती दुर्गा के अनन्य भक्त थे। इनके पाँच पुत्र थे । सबसे बड़े पुत्र का नाम श्रीभूपालमिश्र था। इनके सभी पुत्रों को आनुवंशिकी के रूप में अपने पिता से सुख-दुख में सहनशीलता, करुणापूर्ण हृदय, सबका अकारण हित करने की प्रवृत्ति, शान्त स्वभाव, साधु महात्माओं के प्रति अगाध श्रद्धाभाव, अपने इष्ट में अनन्य भावयुक्त सुदृढ भक्ति,ब्राह्मणोचित तितिक्षा, तप-परायणता, कर्त्तव्यनिष्ठा, धर्मभीरुता, विद्वत्ता,सत्य के प्रति प्रेम, उज्ज्वल चरित्र आदि अलौकिक गुण प्राप्त हुए थे।

श्रीअम्बिकादत्तजी ने अपने बड़े पुत्र श्रीभूपाल मिश्र को अति लगन से विद्वान् बनाया था, परन्तु उनकी सर्पदंश से असामयिक युवावस्था में ही मृत्यु हो गयी । इससे इनके मन में उत्कट वैराग्य भाव उदय हो गया । ये समझने लगे कि विद्या-पठन-पाठन जब मृत्यु से रक्षा ही नहीं कर सकती, तो वह व्यर्थ है ।

प्राप्ते सन्निहिते काले नहि नहि रक्षति डुंकृीकरणे
भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढमते ।

उन्होंने निर्णय कर लिया कि भविष्य में किसी भी बच्चे को पठन-पाठन के श्रम में नहीं डालेंगे । इधर तो पिता का ऐसा निश्चय था और उधर श्रीमहीपालजी मिश्र की विद्यार्जन में आत्यंतिक रुचि थी । जब इन्हें अपने पिता से अपने उद्देश्य की पूर्ति में कुछ भी प्रोत्साहन नहीं मिला तो एक दिन वे अपने घर से भाग गये ।

वे घर से ऐसे स्थान को चले गये जहाँ पठन-पाठन की समुचित व्यवस्था हो सकी । वहाँ पहुँचकर इन्होंने अपने पिता को अपना पता सूचित कर दिया अध्ययन के प्रति इनकी उत्कट रुचि देखकर पिताजी ने भी इनका विरोध करना उचित नहीं समझा ।

श्रीमहीपालजी मिश्र में गृहस्थ-जीवन स्वीकार करने की सर्वथा रुचि नहीं थी । वे परम सत्यनिष्ठ, सबसे द्वेष-भावरहित, स्वार्थरहित, सबके प्रेमी एवं हेतुरहित दयालु स्वभाव के थे । उनका मन ममता से रहित, अहंकार-शून्य, सुख-दुखों की प्राप्ति में सम एवं क्षमावान् था । वे अपने प्रति अपराध करने वाले को भी अभय देनेवाले थे। वे सदा सन्तुष्ट रहते, मन-इन्द्रियों सहित शरीर को वश में रखते तथा अपने इष्ट के प्रति दृढ आस्था रखते थे ।

उन्हें एक दिवस दिव्य स्वप्न हुआ । स्वप्न में भगवती दुर्गा, उनकी इष्ट देवता उनके सम्मुख प्रत्यक्ष थीं । उन्होंने इन्हें आज्ञा दी कि तेरे कुल में मैं अपने अंश से अवतरित होऊँगी अतः तू गृहस्थ जीवन ग्रहण कर ले । श्रीमहीपालजी मिश्र ने भगवती का आदेश पाकर अपनी इच्छा के सर्वथा प्रतिकूल गृहस्थ जीवन स्वीकार कर लिया ।

श्रीमहीपालजी मिश्र का विवाह पाठक-वंश में परम पुण्यवती सौ० श्रीमती अधिकारिणीदेवी से हुआ । वे जीविका-उपार्जन हेतु गया जिले के मिसिरटोला नामक ग्राम से फखरपुर ग्राम चले आये और यहाँ इन्होंनें राजवंशी कायस्थ जमीदारों का पौरोहित्य स्वीकार कर लिया । उन दिनों सभी राजाओं, जमीदारों और समाज के अन्य वर्गों में भी ब्राह्मणों के प्रति अगाध श्रद्धा थी। यह फखरपुर ग्राम, बिहार के जहानाबाद जिले में सोनभद्र तट के समीप अरवल ग्राम से तीन मील पूर्व की ओर स्थित है ।

श्रीमहीपालमिश्र का जीवन अतित्यागी, निस्पृह एवं चरित्र अतिशीलवान था। वे स्त्री वर्ग में भी अपने अतिशय शीलवश श्रद्धाभाजन थे और उस काल में जब विशेषकर जमींदारों में स्त्रियों पर पर्दा आदि के विकट प्रतिबंध थे, संभ्रांत कुल की कुलवधुओं को भी उन्हें अपना दुख-दर्द निवेदन करने में कोई संकोच नहीं होता था । श्रीपंडितजी का प्रभाव आसपास के दूर-दूर गाँवों तक में वचनसिद्ध ब्राह्मण के रूप में था और जिस दुखी प्राणी को वे आशीर्वाद देते थे, वह फलीभूत हो जाता था ।

श्रीमहीपाल मिश्र के प्रथम पुत्र का नाम था श्रीतपस्वीनाथ मिश्र, दूसरे पुत्र का नाम था श्रीवासुदेव मिश्र, तीसरे पुत्र थे श्रीतारादत्त मिश्र और सबसे छोटे पुत्र थे परम पू० श्रीगुरुदेव श्रीचक्रधर मिश्र । पू० गुरुदेव की दो बड़ी सहोदरा बहनें भी थीं ।

श्रीमहीपालजी मिश्र ऊर्ध्वपुण्ड तिलक लगाते थे, अतः ऐसा अनुमान होता है कि वे रामानुज सम्प्रदाय के अनुयायी थे एवं वहीं से दीक्षित भी थे । श्रीमिश्रजी को सन्तदर्शन एवं सत्संग-सच्चर्चा का अतिशय उत्साह था । अतः इस परिवार में सन्तमहात्माओं का प्रायः जमघट मचा रहता था । ऐसे सद्-गृहस्थ ब्राह्मण परिवार के मध्य अतिगरीब ग्रामीण परिवेश में पू० गुरुदेव श्रीराधाबाबा का जन्म हुआ था ।

वात्सल्यमूर्त्ति जननी

श्रीमहीपालजी मिश्र की पत्नी अ०सौ० अधिकारीणीदेवी विदुषी नहीं थीं। उन्हें अक्षर ज्ञान भी नहीं था। इसके उपरांत भी सत्यनारायण कथा, एकादशी माहात्म्य, रुक्मिणीमंगल, सीतास्वयंवर एवं रामचरितमानस के प्रसंग और श्रीजयदेवकृत गीतगोविन्द आदि ग्रन्थ उन्हें कण्ठस्थ याद थे । वे प्रतिदिवस नियमानुसार गीतगोविन्द का संपूर्ण पाठ किया करती थीं ।

गीतगोविन्द के सम्बन्ध में यह प्रतिश्रुति है कि जो भी भक्त इसका जहाँ भी पाठ करता है भगवान् स्वयं उस पाठ को सुनने उसके पीछे-पीछे वहाँ चले आते हैं । पू० माताजी के गीतगोविन्द के प्रतिदिन के पाठ में उनकी अतिशय श्रद्धा ही हेतु थी । वे न तो शुद्ध उच्चारण ही कर सकती थीं एवं संस्कृत के श्लोकों का अर्थ भी उन्हें ज्ञात नही था ।

पू० माताजी प्रत्येक पूर्णिमा को सत्यनारायण-व्रत अवश्य रखती थीं। अतिशय श्रद्धा से श्रीसत्यनारायण भगवान् का सविधि पूजन करके स्वजनों में प्रसाद-वितरण में उनका उत्साह देखते ही बनता था ।

पू० गुरुदेव के जन्म के समय माताजी को बहुत ही कम प्रसव-कष्ट हुआ था। शेष पाँच पुत्रों एवं पुत्रियों के जन्म के समय माताजी को जितना उग्र कष्ट भोगना पड़ा था वैसा कष्ट इस पुत्र के जन्म के समय न होने से माताजी आश्चर्यचकित थीं और अपने इस पुत्र को अतिमंगलकारी संतान मानती थीं । उनका अपने इस सबसे छोटे पुत्र पर अतिशय स्नेह था । ऐसा लगता है पू० राधाबाबा के जीवन में श्रीकृष्ण की उत्कट भक्ति एवं रसमयी

गोपी भाव की साधना का बीजारोपण पू० माताजी के गीतगोविन्द के नियमित पाठ ने ही कर दिया था।

नामकरण संस्कार एवं बाल जीवन

पू० राधाबाबा का जन्म मेषराशि में हुआ था । जन्म-लग्न के अनुसार इनका नामकरण पंडितों ने लालमणि किया । बालकपन में बच्चों की रुचि स्वभावत: गुड्डे गुड्डियों से खेलने की होती ही है । इनकी माताजी इतनी भक्तिमती थीं कि उन्होंने इन्हें खेलने के लिये एक खण्डित गोपी की प्रतिमा दे रखी थी । निरे-बालकपन में श्रीराधाबाबा इसी खण्डित गोपीमूर्त्ति को सजाया करते थे । वे इसे स्नान कराते एवं घर में जो भी पुराने कपडों की कतरनें मिलतीं उससे ही इस गोपीका श्रृंगार किया करते थे । पू० गुरुदेव का मातृप्रेम भी अतिविलक्षण था । वे नौ वर्ष की किशोरावस्था तक अपनी बुढिया माँ का स्तनपान किया करते थे । तब-तक वे पाठशाला में पढने लगे थे । पाठशाला से लौटते ही उनका पहला कार्य मातृस्तन का पान ही होता था । पूज्या माताजी तबतक इतनी वयोवृद्ध हो चुकी थीं कि उनके स्तन लटक गये थे । उनमें दूध आता ही नहीं था । परन्तु पू० गुरुदेव को इसकी कहाँ चिन्ता थी। वे दूध न आने पर हँसते हुए अपनी माता का स्तन दाँत लगाकर काट लेते थे तब माँ उनको 'हट कोढिया' कह कर गाली देकर अपना स्तन छुड़ाती थी। बहुत ही कठिनाईपूर्वक वे उसकी गोद से हटते एवं अलग होते थे। वे अपनी माँ के अत्यधिक प्यारे बेटे थे ।

पू० गुरुदेव में सर्वाधिक श्रद्धा यदि किसी के प्रति थी तो वह उनकी माता थी। वे अतिशय मन-मौजी स्वतंत्र स्वभाव के थे, परन्तु यदि कहीं वे किसी की भी आज्ञा के बंधन में होते थे तो वह उनकी पूज्या माताजी ही थीं ।

भगवान सदाशिव का रक्तार्चन

सोनभद्र के किनारे के सभी गाँवों में आज भी यह सार्वजनिक प्रथा है कि प्रत्येक संपन्न घर के आगे एक कूप एवं शिव-मंदिर अवश्य हुआ करता है । पू० गुरुदेव श्रीराधाबाबा के गृह के सम्मुख भी शिवमंदिर था । परम पू०गुरुदेव जब पाँच-सात वर्ष के निरे बालक थे, तभी उनके ग्राम में एक

रामचरितमानस के कथावाचक आये थे। ये कथावाचक प्रतिदिन बहुत ही सुरीले कण्ठ से गायनपूर्वक कथा कहा करते थे। बालक श्रीराधाबाबा भी अपनी माता के साथ कथा सुनने जाया करते थे।

रावण की शिवोपासना का विस्तारपूर्वक वर्णन करते हुए एक दिवस कथावाचकजी ने निम्न चौपायी की बड़े ही भावपूर्वक व्याख्या की । यह चौपाई थी -

सादर शिव कहुँ शीश चढाये । एक-एक के कोटिन्ह पाये ।

निरे पाँच-छह वर्ष के बालक पू० गुरुदेव में यह शिवकथा सुनते-सुनते ही शिवोपासना करने की उत्कट प्रवृत्ति जाग उठी । मन ही मन में उन्होंने शिवपूजन का निश्चय कर लिया ।

शिवोपासना में उन्होंने रावण को अपना आदर्श बनाया। शीश काटकर अर्पण करने का तो इतने छोटे बालक में साहस था नहीं अतः अपने घर के सम्मुख ही जो शिवमंदिर था, उसके लिंग पर अपनी अँगुली को नये ब्लेड से चीरकर एक दो बूँद रक्त प्रतिदिन अर्पण करने का इन्होंनें मन बना लिया । वे राजासाहब के घर से माँगकर एक नया ब्लेड ले आये और प्रतिदिन अपनी अँगुली चीरकर एक दो बूँद रक्त अपने घर के आगे जो शिवलिंग स्थापित था, उस पर चढाने लगे ।

पू० गुरुदेव के सबसे बड़े भाई श्रीतपस्वीनाथजी मिश्र नित्य नियमानुसार विधि-विधानपूर्वक श्रीशिवजी की पूजा किया करते थे । एक दिवस वे जब पूजा कर रहे थे तो उन्होंने भगवान् के विग्रह में रक्त-बिन्दु देखा। उन्होंनें इसे दैवीप्रकोप की पूर्व-सूचना मानी । वे अशुभ की आशंका से काँप उठे। उन्होंने उस दिन भगवानकी अति दैन्यभरी विनय की और उस रक्त बिन्दु को स्वच्छ कर सविधि पूजा की। अगले दिन भी जब बाबा के अग्रज पूजा करने गये तो पुनः ताजे रक्त बिन्दु के चिन्ह उन्हें दिखाई पड़े। वे कल्पना भी नहीं कर पाये कि यह सब किया उनका अनुज चक्रधर (सबसे छोटा भाई) कर रहा है।

प. पू. गुरुदेव तो नित्य ही रक्त चढाते थे। जब प्रत्येक दिन बड़े भाई पूजा के समय रक्त चढा देखने लगे तो अमंगल की आशंका से घर के सभी लोगों का मन आक्रान्त हो गया। अन्ततः खोज हुई और राधाबाबा पकड़े गये। उनकी अँगुलियों में चीरे जाने का चिन्ह स्पष्ट परिलक्षित हो गया। बड़े भाई ने जब उन्हें डाँट लगायी तो ये अपनी माँ के आँचल में दुबक गये।

प. पू. गुरुदेव की शिवभक्ति की पेंग फिर भी कम नहीं हुई। एक दिन जब इनकी पाठशाला की छुट्टी होने वाली थी कुछ लोग इनके स्कूल के पास से ही एक मुर्दा शव की अर्थी ले जा रहे थे। पू. गुरुदेव श्मशान का पता लगाने इनके पीछे हो लिये। उस दिन तो उन्हें श्मशान का पता ही लग पाया। दूसरे दिन यद्यपि इन्हें भूत का अत्यधिक भय लगा - परन्तु फिर भी शिव-शिव नाम जपते हुए इन्होंने किसी प्रकार मुट्ठी भर चिता उठायी और तीव्र गति से भागकर घर में पहुँच कर साँस ली। दूसरे दिन इन्होंने प्रात:काल ही शिवलिंग पर चिता भस्म चढा दी। श्रीतपस्वीनाथजी जब पुनः पूजा करने लगे तो चिता भस्म देखकर समझ गये कि फिर यह उपद्रव चक्रधर ने ही किया है। इस बार इन्होंने पू. गुरुदेव को प्यार से समझाया तथा भगवान शिव की किस प्रकार सात्विक रीति से पूजा करनी चाहिये- इसका सब विधान सिखाया। अब पू. गुरुदेव जलाभिषेक, पुष्पार्पण, एवं स्तुति वंदनादि से पूजा करने लगे।

पू० गुरुदेव को बचपन में स्कूल जाना अच्छा नहीं लगता था । वे स्कूल जाने से बचना चाहते थे, परन्तु बच नहीं पाते थे । घरवाले ज्यों-त्यों करके उन्हें स्कूल भेज ही देते । एक दिवस उन्हें एक उपाय सूझा । वे सोचने लगे कि भूतग्रस्त होने का स्वाँग रचा जाये तो शायद स्कूल जाने से बचाव हो जाय। स्कूल में प्रतिदिन ही प्रार्थना होती थी। एक दिन ज्योंही प्रार्थना समाप्त हुई, वे भूतग्रस्त व्यक्ति जैसी चेष्टा करने लगे । स्वाँग सही उतरा और लड़के उन्हें घर पहुँचा आये । उन्होंनें अपने मुख से फेन निकालना प्रारंभ कर दिया । माँ घबड़ा गयी । कुछ उपचार किया गया तथा माँ ने स्कूल जाने की मनाही कर दी । इस प्रकार कुछ दिन के लिये स्कूल जाना बंद हो गया । थोड़े दिन तो ऐसे ही चला पुन: स्कूल जाना प्रारंभ करना पड़ा ।

एक दिन पू० गुरुदेव अपने घर के आँगन में खेल रहे थे । इतने में एक रामानन्दी साधु इनके द्वार पर आये । उनके ललाट पर भव्य तिलक विराजित था । वे द्वार पर खड़े हो कुछ देर तक तो एकटक पू० गुरुदेव की ओर देखते रहे, फिर चले गये । उनके चले जाने के पश्चात् पू० गुरुदेव का मंन इतना शान्त हो गया कि क्या कहें। अपने घर के बाहर आकर पू० गुरुदेव सिद्धासन लगाकर बैठ गये । उनकी आँखों से निरन्तर अश्रुधारा

प्रवाहित हो रही थी । थोड़ी देर पश्चात् जब घरवाले आये और विक्षेप हुआ तो इनका वह भाव प्रशमित हुआ।

शिव कृपा से मेडल पुरस्कार

पू. गुरुदेव को पाठशाला में पहले 'सी' कक्षा में भरती किया गया था। पहली कक्षा में जाने के पहले ए.बी.सी. इन तीन कक्षाओं में पढना उन दिनों परमावश्यक होता था। पू. गुरुदेव इतने मेघावी थे कि सभी विषयों में इन्हें सर्वोच्च अंक प्राप्त होते थे। परन्तु अंकगणित में ये सदा असफल हो जाते थे। अध्यापकगण इन्हें अन्य विषयों में अति मेघावी समझ अंकगणित में नम्बर नहीं होने पर भी प्रोन्नत कर देते थे। यह सन् १९२० की बात है। तब पू. गुरुदेव की वय मात्र सात वर्ष की थी। उन दिनों स्कूलों में प्रतियोगिताएँ होती थीं, और सफल शिक्षार्थी को पुरस्कार 'मेडल' दिया जाता था। प. पू. गुरुदेव का मन भी चमकते तमगे को देखकर बहुत प्रलुब्ध था। परन्तु मात्र इच्छा करने से तो मेडल मिलता नहीं था। ऊँची कूद, लम्बी कूद, दौड़, सभी प्रतियोगिताओं में यद्यपि पू. गुरुदेव ने अपना नाम लिखाया, परन्तु स्कूल के लम्बे-तगड़े विद्यार्थी इन सभी प्रतियोगिताओं में सफल हो गये। उनके सम्मुख पू. गुरुदेव स्पर्द्धा में टिक नहीं पाये। असहाय और पूर्ण असफल होने पर इन्होंने भगवान् शंकर का आश्रय लिया और माथा टेककर कातर स्वर में उनके सम्मुख पुरस्कार मेडल दिलाने की प्रार्थना कर दी। उनका सहज विश्वास था कि भगवान अवश्य विनती सुनेंगे। विनती करते-करते उनके मन में एक अन्तर्ध्वनि उठी -"तुम गीत सुनाओ, तुम गीत सुनाओ।" बस पू. गुरुदेव अपनी भाभी से दो गीत सीखकर याद करके आये एवं इन गीतों को प्रतियोगिता में उन्होंने सुना दिया। प्राकृत धरातल पर जो संभव नहीं था, वह भगवत्कृपा से संभव हो गया। पू. गुरुदेव इतनी छोटी कद के थे कि उन्हें टेबुल पर खड़ा किया गया। उनके साथ कोई साजिन्दा भी नहीं था। परन्तु इस समय पू. गुरुदेव नहीं भगवान् शिव प्रतियोगिता में गीत गा रहे थे। सभा का सारा वातावरण पू. गुरुदेव की कोकिल कंठी अति सुरीली ध्वनि से मुखरित हो उठा। गीत सुनते समय प्रधानाचार्यजी ही नहीं, सारे अध्यापक एवं विद्यार्थी भरे हृदय से स्तब्ध थे। श्रीप्रधानाचार्यजी का हृदय तो इतना भरा था कि उन्होंने तत्काल पारितोषिक कार्यक्रम प्रारंभ होने के पहले ही पू. गुरुदेव को

संगीत पुरस्कार दे दिया। गायन के बोल थे - **"सुधि लीजै प्रभो ! क्यों बिसारा हमें !"** पुरस्कार का तमगा ज्यों ही पू. गुरुदेव की कमीज पर लगाया गया उनके मन में प्रसन्नता की सीमा ही नहीं रही। यह पुरस्कार जब पू. गुरुदेव ने अपनी माँ को दिखाया तो वे भी प्रसन्नता से फूल उठीं।

इन घटनाओं से पू० गुरुदेव इतने भगवद्विश्वासी हो गये थे कि वे अपनी छोटी सी भी माँग प्राय: भगवान् के सम्मुख ही रखते थे । एकबार उन्हें पेंसिल का लिखा मिटाने के लिये रबर की आवश्यकता हुई, उन्होंनें इसे अन्य किसी को भी न कहकर मात्र भगवान् को कहा । उसी दिवस अथवा दूसरे दिवस पू० गुरुदेव की माताजी उन्हें मेला दिखाने के लिये ले गयीं, और एक दुकान से बिना कहे-सुने रबर दिला आयीं । इसी प्रकार एक बार उनके मन में कोई विशेष मिठाई खाने की इच्छा हुई, उन्होंने मन ही मन भगवान् से कहा थोडी देर बाद उनका एक सहपाठी वही मिठाई उन्हें खिलाने अपने कमरे में ले गया । उस साथी को तो गुरुदेव ने आभास भी नहीं दिया था कि उनकी इच्छा अमुक मिठाई खाने की है । दयामय भगवान् उनकी हर इच्छा पूरी करते रहते थे ।

फखरपुर ग्राम में जो स्कूल था, वह मात्र मिडिल कक्षा तक था । प्राइमरी स्कूल की सभी परीक्षायें पू० गुरुदेव ने सर्वोच्च अंकों से पास की थीं इसी प्रकार मिडिल तक भी अन्य विषयों में सर्वोच्च अंक प्राप्त कर लेने के कारण गुरुदेव को अंकगणित में असफल होने पर भी प्रोन्नत कर दिया जाता था । मिडिल कक्षा की परीक्षा के पश्चात् अब उन्हें राजकीय छात्रवृत्ति प्राप्त हो जाये इसकी चेष्टा की जा रही थी । राजकीय छात्रवृत्ति उसी छात्र को मिलती थी, जिसकी योग्यता सभी विषयों में सर्वोच्च अंक प्राप्त करने वाले की होती थी । अन्य विषयों में तो पू० गुरूदेव के निर्विवाद सर्वोच्च अंक होते ही थे, मात्र अंकगणित में ही ये असफल हो जाते थे । अत: इस बार इन्होंने अंकगणित में भी पूर्ण सफल होने के लिए भगवान् शिव से प्रार्थना की ।

इस बार भगवान् शिव की ऐसी प्रेरणा हुई कि तुम अंकगणित के बारह प्रश्न अपने बड़े भाई से हल करवा कर रट लो । भगवत् प्रेरणा के अनुसार इन्होंने ऐसा ही किया । संयोगवश इन्ही बारह प्रश्नों में से परीक्षा में प्रश्न पूछे गये और पू० गुरुदेव इस प्रकार सभी विषयों में सर्वोच्च अंक प्राप्त कर उत्तीर्ण हो गये ।

विवाह एवं रमल विद्याविद् साधु की भविष्योक्ति

जैसे ही पू० गुरुदेव ने मिडिल (आठवीं) कक्षा उत्तीर्ण की अरई ग्राम के एक अति सात्विक पाठक-कुल की ब्राह्मण कन्या से इनका विवाह कर दिया गया । कन्या का नाम जगाधरी देवी था । विवाह के समय गुरुदेव की वय मात्र चौदह वर्ष की थी और गुरुपत्नी अ० सौ० जगाधरी देवी मात्र नौ वर्ष की अबोध बालिका थीं । उन दिनों कन्या के रजस्वला होने के पूर्व ही विवाह आवश्यक माना जाता था ।

पू० गुरुदेव के श्वसुर भी दुर्गा के सिद्धभक्त एवं ज्योतिषी थे । जब उनके गृह में कन्या जगाधरी का जन्म हुआ तो उन्होंने इसकी भी जन्मपत्री बनायी । जन्मपत्री देखते ही पिताजी ने तत्क्षण जान लिया कि इस बालिका का पति सन्यासी एवं भगवान् का सिद्धभक्त होगा । बालिका के विवाह के पूर्व ही यह बात बालिका जगाधरी को भी बता दी गयी । इस बात का पूर्व से पता होने के कारण बालिका को पतिव्रता धर्म एवं पतिभक्ति का पाठ तो पढाया गया परन्तु साथ ही साथ उसे यही बताया गया था कि तेरे भाग्य में घोर त्याग ही त्याग है । अत: निरी बाल्यावस्था में ही पू० माताजी, जगाधरी देवी को गृहस्थियों के भोगों से उपरति की ही उनके पीहर में शिक्षा दी गई ।

पू० गुरुदेव जब आठवीं कक्षा के छात्र थे, एक दिवस वे स्कूल के मुख्य लोहे के द्वार के पास खड़े थे । उसी समय उनके पास एक साधु आये । उस साधु ने कहा मुझे भूख लगी है, कुछ पैसे हों तो दे दो । पू० गुरुदेव ने उससे विनोद में कहा कि यदि तुम यह बता दो कि मेरी जेब में कुल कितने पैसे हैं, और तुम्हारा उत्तर सही निकला तो जितने पैसे मेरी जेब में हैं, सब तुम्हें दे दूँगा । वह साधु रमलविद्या का ज्ञाता था, उसने जेब से पासे निकाले और उनसे गिनती करके सही-सही जितने पैसे पू० गुरुदेव की जेब में थे, बता दिये । उसके पश्चात् उसने यह भी बताया कि तुम्हारे आत्यन्तिक सुख के दिन इस तिथि से प्रारंभ होंगें । पू० गुरुदेव कहते थे कि उन्होंने जब सन्यास ग्रहण किया तो वह तिथि ठीक वही थी जो उस साधु ने रमल विद्या से बतायी थी और वही तिथि मेरे जीवन से सदा के लिये दुखों का अंत कर गयी थी ।

शिक्षक खालिक साहब

सन् १९२७ ई० में पू० गुरुदेव ने मिडिल परीक्षा उत्तीर्ण की । फखरपुर ग्राम में उन दिनों मिडिल स्कूल ही था । अत: आगे की पढाई के लिये उन्हें राजकीय छा़त्रवृत्ति के साथ जिला हाई स्कूल, गया में भर्ती किया गया ।

इस जिला स्कूल में जनाब खालिकसाहब नामके एक मुसलमान मास्टर थे । वे कक्षा में पढाते समय अधिकांशत: हिन्दूधर्म की निन्दा किया करते थे। हिन्दू विद्यार्थियों को उनकी बातें चुभना स्वाभाविक ही था । पू० गुरुदेव अपनी प्रतिभा एवं नेतृत्व के गुणों के कारण कक्षा में विद्यार्थियों के अग्रगण्य नेता थे।

इन्होंने मास्टर साहब से सभी विद्यार्थियों का प्रतिनिधित्व करते हुए हिन्दूधर्म की भविष्य में निंदा न करने की विनय की । परन्तु इससे वे महोदय निवृत्त होने के स्थान पर और उग्र हो गये और अधिक से अधिक निन्दा करने लगे ।

पू० गुरुदेव ने एक बार उन्हें और समझाने की चेष्टा की परन्तु फल उलटा हीं निकला । उन शिक्षक महोदय की हिन्दूधर्म-निन्दा की प्रवृत्ति दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही जा रही थी ।

अब पू० गुरुदेव ने उनको ईंट का उत्तर पत्थर से देने का उपाय सोचा। उन्होंनें आर्यसमाज की सत्यार्थप्रकाश नामक पुस्तक के चौदहवें समुल्लास का गहन अध्ययन किया । उन्होंनें अनेक आर्यसमाजियों से जो अरबी एवं फारसी के भी विद्वान् थे, वे सभी स्थल एवं प्रसंग कंठस्थ याद किये जिनके आधार पर इस्लाम धर्म की धज्जियाँ उड़ायी जा सके । इस प्रकार इन्होंने इतनी सामग्री संकलित कर ली जिससे वे इन शिक्षक महोदय को पर्याप्त उत्तर दे सकें और उनका मुख बंद कर सकें ।

एक दिन खालिकसाहब जैसे ही इनकी कक्षा में पढाने आये और अपनी पूर्व प्रवृत्ति के अनुसार हिन्दूधर्म की निंदा करने लगे, पू० गुरुदेव ने उनसे स्वयं कुछ निवेदन करने की अनुमति माँगी । अनुमति मिलते ही पू० गुरुदेव ने मुसलमान धर्म के विरोध में ऐसा तार्किक प्रवचन किया कि जनाब खालिक साहब निरुत्तर तो हुए ही साथ ही सारी कक्षा के सम्मुख बहुत ही लज्जित हुए। उन्हें पता ही नहीं था कि इन अल्पज्ञ शिशुओं में कोई ऐसा मेधावी

प्रवक्ता भी हो सकता है, जिसे कुरान और हदीस जैसे फारसी-अरबी ग्रंथों का भी इतना विशद और सूक्ष्म ज्ञान हो । अब तो उनकी क्रोधाग्नि में घी पड़ गया । श्री खालिक साहब अपना संतुलन खो बैठे और उन्होंने मन ही मन गुरुदेव से बैर निकालने का संकल्प ठान लिया ।

महासिद्ध संत से मिलन

जब पू० गुरुदेव मात्र पन्द्रह वर्ष के थे, उनका परिचय एक महासिद्ध संत से हुआ । उस समय वे गया जिला स्कूल में नवीं कक्षा के छात्र थे ।

वैष्णवकवि श्रीकृष्णदास कविराज ऐसे महासिद्ध संतों के आंतरिक जीवन का परिचय देते हुए कहते हैं :-

महाभागवत देखे स्थावर जंगम । ताँहाँ ताँर हय नित्य
श्रीकृष्ण- स्फुरण ।
स्थावर जंगम देखे ना, देखे तार मूर्त्ति। सर्वत्र हय निज
इष्टदेव स्फूर्ति ।।

महाभागवत संतस्थावर-जंगम जो कुछ देखते हैं, उसमें उनको परमात्मा का स्फुरण होता है । वे स्थावर-जंगम नहीं देखते, उनमें परमात्मा को ही देखते हैं और तब उन्हें सर्वत्र निज इष्ट की स्फूर्ति होने लगती है ।

यह परम सत्य है कि एक परमात्मा विश्व के प्रत्येक अणु-परमाणु में व्याप्त है । विश्व के सब रूप उसी के रूप हैं । उसका प्रकाश यद्यपि अनन्त सूर्यों की किरणों से भी अधिक तेजस्वी है, फिर भी माया के आवरण से आवृत रहने के कारण वह जीवों के द्वारा दृश्य नहीं है । सहस्रांशु होते हुए भी वह अंधकार में आवृत जैसा ही रहता है । अत: मायाबद्धजीव उसे देखते हुए भी नहीं देख पाते। ज्ञात होते हुए भी वह उनके निकट चिरकाल के लिए अज्ञात ही रह जाता है । जिन संतों की, भगवत्कृपाप्राप्त जीवों की आवृत दृष्टि जब उन्मुक्त हो जाती है, तब अनन्त प्रकार के प्रमेय, प्रमाण तथा प्रमातारूप यह जगत् विलुप्त होकर एक नित्य सदोदित दृष्टि का उदय होता है; उस समय उस परमसिद्ध भक्त के निकट जो कुछ भी प्रतिभात होता है, वह परमेश्वर के प्रकाशमान रूप के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं होता ।

परम भागवतों को तब यह जगत एक सविशेष रूप में दृष्टिगोचर होता है।

भोक्तैव भोग्यभावेन सदा सर्वत्र संस्थित:

भोक्ता भोग्य सभी कुछ तुम हो, तुम ही स्वयं बने हो भोग- एकमात्र भोक्ता परमेश्वर ही भोग्य रूप में एवं भोग होकर निरंतर सर्वत्र उनके सम्मुख विद्यमान रहता है ।

उस समय ऐसे विलक्षण संतों को सर्वभूत में भगवद्रूप और भगवान् में सर्वभूत देखकर उनका हृदय एक अपूर्व प्रेम रस में आप्लुत रहता है ।

बाह्य रूप में इन परम भागवतों की रहनी चाहे लोक-व्यवहार विरुद्ध ही होती हो, उनकी भाषा, उनका व्यवहार चाहे घोर तमोगुणी पागलों की तरह असंबद्ध प्रलाप करने वाला ही हो, परन्तु वे अपने शरीर के अणु-अणु से सदा सर्वत्र महामंगल ही महामंगल एवं प्रेमरस ही बहाते रहते हैं । वे अपने अंतरंग जीवन के सत्य को ऊपर की विषम रहनी दिखाकर अत्यंत संगोपित रखते हैं परन्तु भीतर वे प्रियतम-प्रेम-भावित-मति हुए रहते हैं । वे बाह्य गाली-गलौज भी करते हैं, अथवा पागलों की तरह पत्थर भी फैंकते हैं तो भी अपने प्रियतम के प्रेमरस में निरंतर छलकते ही रहकर उनकी यह सब क्रिया होती रहती है ।

पू० गुरुदेव को जिन महासिद्ध संत के दर्शन हुए, उनका वेष अर्धनग्न असामान्य था । वे गया की कलक्टरी कचहरी के मुख्य प्रवेशद्वार की दीवार का सहारा लगाकर पड़े रहते थे । एक फटी गुदड़ी और चीनी मिट्टी का एक बर्तन ही इनका सब संग्रह था । पहनने के वस्त्र फटे-चिथड़े ही थे । इनके निम्नांग भी वस्त्रों से गोपनीय नहीं रह पाते थे ।

छात्र स्वभावत: चंचल स्वभाव के तो होते ही हैं, वे अवकाश के समय इनके वस्त्र खींचकर इनको अधिक नग्न करने की चंचल बाल-चेष्टा करते, कोई इनकी पीठ में गुदगुदी करता । इनको ये गाली दिया करते अथवा इन पर पत्थर फैंकते थे ।

हां, जिला का अंग्रेज कलक्टर उधर से जब भी गुजरता, तब वह अपने घोड़े से उतर कर जूता खोलकर अपना हैट (सिर पर पहनने की अंग्रेजी टोपी) उतार कर सम्मानपूर्वक दो-तीन मिनट इनके सम्मुख खड़ा हो जाया करता था । ये कुछ दिन तो उसकी उपेक्षा करते रहे । फिर उसकी ओर अतिस्नेह से देखा करते थे । एक दिन जब वह ऐसे ही खड़ा था, इन्होंने

कहा "जा, रोज आता है, तेरा मनोरथ पूर्ण हो जायेगा, तेरी पदोन्नति हो जायेगी।" कहते हैं कि कुछ ही काल में उसकी पदोन्नति होकर वह कमिश्नर हो गया ।

पू० गुरुदेव कहते थे, एक दिन बच्चों की देखादेखी इन्होंने भी उन सिद्धमहात्मा को छेड़ना प्रारंभ कर दिया । वे निर्भय रूप से उन महात्माजी के पास चले गये और उनकी बगल में, पेट में, पीठ में, गुदगुदी करने लगे । महात्माजी ने इन्हें कभी गाली नहीं दी। अपितु इनके अधिक छेड़खानी करने पर वे एक गीत गाया करते। गीत के बोल थे -

लडकैया की बान तैंने ना छोडी कन्हैया ।

वे पू० गुरुदेव के दोनों हाथ पकड़ लेते, और उनको अतिशय प्यार की दृष्टि से देखते हुए यह गीत गाया करते । पू० गुरुदेव कहते थे कि-ये महासिद्ध संत थे । इन्होंने मुझमें साक्षात् श्रीकृष्ण को देखकर श्रीकृष्णभक्ति का बीजारोपण कर दिया था। पू० गुरुदेव के जीवन में आठ महासिद्ध संत आये, जिनमें ये महात्मा जो उन्हें गया जिला कलक्टरी में निरे बालकपन में मिले, पहले थे ।

विप्लववादियों के मध्य

ज्वलुक ज्वलुक विप्लववह्नि नगरे नगरे
भस्म होक् राक्षसेर स्वर्ण लंकापुरी ।

विप्लवाग्नि नगर नगर में प्रज्वलित हो ।

राक्षसराज रावण अर्थात् अंग्रेजी सरकार की स्वर्णपुरी लंका भस्म हो। यह नारा उन दिनों बिहार के नगर-नगर में विप्लववादियों द्वारा प्रचारित किया जा रहा था। पू० गुरुदेव का रुझान भी विप्लववादियों की गतिविधि की तरफ अधिक था । कांग्रेस में तो पद-लोलुपता की प्रवृत्ति अधिक थी। भले ही कार्यक्षेत्र में उनकी सक्रियता कुछ भी नहीं हो, परन्तु कांग्रेस के कार्यकर्त्ता समाचार पत्रों में येन-केन-प्रकारेण अपना नाम छपाने में अधिक रुचि रखते थे ।

क्रांतिकारी लोग गीता हाथ में लेकर प्रतिज्ञा करते थे और निस्वार्थ भाव से देश के लिए प्राण- त्याग का व्रत लेते थे । उनको देश की सेवा के द्वारा ईश्वर-सेवा का पाठ पढाया जाता था । गीतोक्त निष्काम कर्मयोग की शिक्षा

दी जाती थी । क्रांतिकारी लोगों में मूक आत्म-बलिदानी ही अधिक थे; क्योंकि सुगुप्तता ही उनका रक्षा कवच होती थी । इनमें सर्वोच्च स्तर के कतिपय कार्यकर्त्ता तो बहुत ही उत्तमकोटि के चरित्रवान् त्यागी थे । क्रांतिकारी मशाल जलाये रखने के लिये पैसे की जरूरत होती थी । विप्लववादियों को चंदा देने में पुलिस का कोप-भाजन बनने का भय था । इससे सामान्यत: लोग चंदा नहीं देते थे । जो सहानुभूति रखते थे वे भी छिपकर सहायता करते थे । हथियारों को खरीदने और कार्यकर्त्ताओं की जीवनरक्षा के लिए धनसंग्रह अनिवार्य था । इसलिये अनेक बार धनसंग्रह के लिए उन्हें साहसिक कार्य भी करने पड़ते थे ।

क्रांतिकारी दृष्टि से पू० गुरुदेव का कार्यक्षेत्र संपूर्ण बिहार प्रांत था । वेष बदलने में पू० गुरुदेव बहुत ही कुशल थे । कभी लाठी लेकर कूब निकालकर चलते, कभी मियाँजी मुसलमान बन जाते ; कभी वृद्ध बन जाते और कभी रोगी। परिवर्तित वेष में अनेक स्थानों में अनेक नामों से ये काम करते थे अत: पुलिस जिस नाम एवं वेष को पकड़ती, ये उस वेष को छोड़कर गायब हो जाते। ये अब तक अन्यान्य प्रकार की सुगुप्तता तथा सतर्कता के कारण पुलिस की दृष्टि में नहीं चढे थे । पू० गुरुदेव की सतर्क कार्यवाही से उनका क्रांतिकारियों को सहयोग निर्विध्न चलता रहता यदि मध्य में एक गंभीर बाधा नहीं आयी होती ।

इस बार पुलिस को अपने प्रयास में कुछ सफलता मिल गयी । पुलिस ने बिहार प्रांत के क्रांतिकारी दल के अनेक गिरफ्तार सदस्यों के गृहस्थानों की तलाशी ली थी एवं इस तलाशी में पू० गुरुदेव का एक पत्र पुलिस के हाथ में लग गया था ।

इस पत्र में गुरुदेव ने अपने मित्र को लिखा था, “मैं बंदा परसों आऊंगा।” पत्र में जो बंदा शब्द लिखा गया था उस शब्द की बाँदा से बेतुकी तुक बैठाकर पुलिस पू० गुरुदेव को अंग्रेजी शासन के विरुद्ध षडयंत्र के अपराध में फँसाना चाहती थी। संयोग ऐसा था कि उन्हीं दिनों बाँदा नगर में क्रांतिकारियों ने तीन पुलिस इंस्पैक्टरों की हत्या कर दी थी । इस हत्याकाण्ड के पश्चात् संदेह के नाम पर अनेक लोग गिरफ्तार कर लिये गये थे ।

जब उन गिरफ्तार लोगों को यह पता लगा कि पू० गुरुदेव का पत्र उनके घर से पुलिस के हाथ पड़ गया है तो इस बात की सूचना देने के लिए उन्होंने एक व्यक्ति को पू० गुरुदेव के घर फखरपुर भेजा । वह व्यक्ति

अड़तालीस मील पैदल चलकर लोगों की दृष्टि से स्वयं को बचाता हुआ पू० गुरुदेव के पास आया था । उस व्यक्ति ने आकर संदेश दिया कि पू० गुरुदेव को तुरंत फरार हो जाना चाहिए । क्योंकि उस पत्र के आधार पर पुलिस उन्हें गिरफ्तार करने सक्रिय हो चुकी है । पुलिस के द्वारा गिरफ्तार होने का अर्थ ही था काल-मुख में अपने आपको झौंकना ।

उस व्यक्ति से संदेश मिलते ही पू० गुरुदेव को परिस्थिति की गंभीरता का अनुमान हो गया । उन्होंने उस व्यक्ति को अपनी माँ से कहकर तुरंत यात्रा खर्चा दिलाया और कुछ रुपये अपनी जेब में डालकर वे गया के लिए प्रस्थान कर गये । रास्ते में अरहर के खेतों में छुपते हुए एवं वेश बदलते वे रात को सीधे राजा साहब श्रीअविमुक्तेश्वरबहादुरसिंह के घर पर गया नगर पहुंच गये। असमय में और बदले वेष में रात्रि में पू० गुरुदेव को देखकर एकबार तो राजा साहब चौंके । परन्तु फिर चिंतित हुए कहने लगे कि तुम्हारे नाम वारण्ट है और तुम्हें पुलिस गिरफ्तार करने को आतुर है । राजा साहब ने पहले तुरंत भोजन बनवाया और थके-माँदे पू० गुरुदेव को भोजन कराया। रातभर पू० गुरुदेव ने उनके ही यहाँ विश्राम किया ।

पू० गुरुदेव चाहते थे कि उन्हें कहीं से चिकित्सा प्रमाणपत्र मिल जाय जिससे वे सिद्ध कर सकें कि उन दिनों जब बाँदा में हत्याकाण्ड हुआ था, वे डाक्टर की चिकित्सा में राजासाहब के घर पर ही थे । इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता कि इस काण्ड से उनका कोई संबंध नहीं था ।

दूसरे दिवस राजा साहब के एक पारिवारिक डाक्टर के पास पू० गुरुदेव गये और उनसे अपने रजिस्टर में पुरानी अवधि में नाम चढ़वाकर तथा दवा लेकर उन्होंने चिकित्सा प्रमाणपत्र प्राप्त कर लिया । इसके पश्चात् वे निर्भय निश्चिंत रूप से राजा साहब के घर रहने लगे ।

पू० गुरुदेव ने एहतियात के तौर पर यह सब तो किया परन्तु उनका असली विश्वास तो भगवत्प्रार्थना और उनकी अमोघ कृपाशक्ति पर ही था ।

पू० गुरुदेव को दृढ एवं अटूट विश्वास था कि यदि वे निर्दोष हैं एवं बाँदा में मारे गये पुलिस इंस्पैक्टरों की हत्या-योजना में उनका किसी भी स्तर पर तनिक भी हाथ नहीं है तो सत्यस्वरूप भगवान् उनकी अवश्य रक्षा करेंगे। यदि उन्हें इस षडयंत्र का कुछ भी ज्ञान नहीं है तो पुलिस के कोटि-कोटि प्रयत्न निष्फल होंगे और भगवान् अवश्यमेव उनकी रक्षा करेंगें। गुरुदेव इसी

विश्वास के बल पर पूर्णतया निर्भय थे । वे समझते थे कि वे ज्यों ही कातर स्वर से उन्हें पुकारेंगे, वे उसी क्षण उनकी विपत्ति हरने दौड़े आवेंगे ।

पू गुरुदेव के उस पत्र पर विचार करने के लिए पुलिस के एक अंग्रेज डी०आई०जी० के अलावा दो हिन्दुस्थानी अधिकारी नियुक्त किए गये थे । एक सहयोगी अधिकारी राजासाहब के यहाँ अक्सर आते जाते थे । साथ ही ये पू० गुरुदेव से भी अनेक अवसरों में मिल चुके थे । बाहर से कुछ भी अभिव्यक्त न करके वे ध्यानपूर्वक यह पत्र दो-तीन बार पढ गये । साथ ही साथ वे यह भी विचार कर रहे थे कि पू० गुरुदेव को किस प्रकार बचाया जाय ।

उन्होंने डी०आई०जी० महोदय से कहा कि बंदा शब्द के आधार पर चक्रधर मिश्र को षडयंत्रकारी मानना सर्वथा उचित है परन्तु मुझे संदेह है कि इस पत्र को लिखने वाला वस्तुत: चक्रधर मिश्र यही व्यक्ति है। उपाधिकारी महोदय का इसी बात पर जोर था कि यदि यह लिखावट इस बालक की नहीं हुई तो उसके विरुद्ध कार्यवाही करने में परेशानी और जलालत तो होगी ही हमारे सभी प्रमाण कोर्ट में उलटे पड़ सकते हैं । तीसरे अधिकारी तो गुप्तचर विभाग के ही थे, वे अपने विभाग द्वारा लगाया गया आरोप पूर्णत: स्थापित करने के ही पक्ष में थे, परन्तु सर्वोच्च डी०आई०जी० महोदय ने यही निश्चय किया कि यह पत्र पहले लिखावट-विशेषज्ञ के पास भेजा जाय और उसकी रिपोर्ट के आधार पर ही आगे की कार्यवाही की जाय । अब पुलिस विभाग को आवश्यकता थी पू० गुरुदेव की लिखावट की जिससे लिखावट विशेषज्ञ पत्र लेखन की लिपि से तुलना करके अपना निर्णय दे सके ।

पुलिस ने दौड-धूप कर पता लगा लिया था कि पू० गुरुदेव इन दिनों रुग्णावस्था में राजासाहब के मकान पर चिकित्सा करवा रहे हैं । अत: अपने दल-बल सहित पुलिस अधिकारी राजासाहब के घर पहुँचे । पुलिस अधिकारी ने कभी तेज गति से, कभी मंद गति से, कभी मध्यम एवं कभी मिश्रित अनेक प्रकार से वही पत्र तथा और भी गद्यांश पू० गुरुदेव से लिखाये । पू० गुरुदेव ने अपनी लिखावट में कोई बनावट नहीं की । क्योंकि उनका दृढ निश्चय था कि किसी भी अन्य होशियारी से उनकी रक्षा संभव नहीं है, मात्र सत्य का तथा प्रभु की करुणा का ही उन्हें आश्रय ग्रहण करना चाहिये । वे अपने प्रभु पर विश्वस्त और पूर्णतया निर्भर थे । महान् आश्चर्य यह हुआ कि लगातार तीन बार तीन-तीन विशेषज्ञों के पास पू० गुरुदेव की लिखावट भेजी गयी और सभी विशेषज्ञों की सब समय एक ही रिपोर्ट आयी कि यह असली पत्र चक्रधर

मिश्र के हाथ का लिख हुआ नहीं है । इस प्रसंग से उनका दृढ विश्वास हो गया कि भगवान् जैसा सच्चा स्नेही कोई दूसरा संभव ही नहीं है । वे ही जीवमात्र के आत्यंतिक सुहृद हैं अत: अपनी रुचि के अनुमोदन की मात्र उन्हीं से आशा की जा सकती है । भगवान् ही आत्यन्तिक कल्याण करने में समर्थ भी हैं । वे सर्वसमर्थ हैं और एकांतिक हितू भी हैं ।

महात्मा कुम्हार से रक्षाकवच

स्वदेशी आंदोलन के रूप में अंग्रेजी शासन की कुटिल एवं शोषक नीतियों के विरुद्ध सरकार और जनता के मध्य अघोषित युद्ध प्रारंभ हो चुका था । घर-घर विदेशी वस्तुओं की होली जलायी जा रही थी । राजतंत्र ने कूटनीतिक चालों और पशुशक्ति से इसे दबाने का कोई भी मार्ग शेष नहीं छोड़ा था । किन्तु जनता में भी अदम्य उत्साह था । राष्ट्रीयता और देशभक्ति का उद्रेक आबाल-वृद्ध सभी में था । जन-जन के हृदय में दासता से मुक्ति की अग्नि प्रज्वलित हो गयी थी । शनै: शनै: वह प्रचण्ड-प्रचण्डतर दावानल का रूप धारण कर ले रही थी । सरफरोश परवाने उस दावानल के चतुर्दिक अपना सर्वस्व भस्म करने को मँडरा रहे थे ।

इस राष्ट्रीय आंदोलन के कर्णधार महात्मा गाँधी थे । कांग्रेस ने आंदोलन छेड़ रखा था । स्कूलों में, कालेजों में, सार्वजनिक स्थानों में फहराते यूनियन जैक, विदेशी सरकार के ध्वज को लोग उतार कर फाड़कर टुकड़े-टुकड़े कर देते थे और उसके स्थान पर तिरंगा झण्डा, राष्ट्रीय कांग्रेस का ध्वज फहरा देते थे ।

एक दिन पू० गुरुदेव के विद्यालय में भी कुछ छात्रों ने साहस करके फहराता विदेशी सरकार का ध्वज यूनियन-जैक उतार कर फाड़कर फैंक दिया और उसके स्थान पर तिरंगा झण्डा फहरा दिया ।

यद्यपि इस विषय में पू० गुरुदेव सर्वथा अनभिज्ञ थे, परन्तु जनाब खालिक साहब को चुगुल करने का मौका मिल गया और उन्होंने अंग्रेज कलक्टर के कान पू० गुरुदेव के विरुद्ध भर दिये । श्री खालिक साहब यह कहने से भी नहीं चूके कि यह उद्दण्ड छात्र चक्रधर मिश्र राजकीय छात्रवृत्ति भी प्राप्त करता है । अब तो कलक्टर साहब को अत्यधिक रोष हुआ और उन्होंने पू० गुरुदेव का नाम काली सूची में लिख लिया ।

पू० गुरुदेव के घर के पड़ोस में ही एक कुम्हार का घर था । वह प्रतिदिन रात्रि में लगभग एक बजे ही उठ जाया करता । प्रातःकृत्य एवं स्नानादि करके वह चाक की मिट्टी तैयार करके उसे रौंदा करता एवं साथ ही अति सुरीले मधुर स्वर में ब्रह्मानन्द भजनमाला से अनेक सुंदर पद आलापता था । महात्मा कुम्हार की यह भजन निष्ठा प्रातः दो बजे से प्रारंभ होकर सूर्योदय तक चला करती थी ।

पू गुरुदेव उन दिनों गया कांग्रेस कमेटी के सहायक मंत्री थे । उनके पूर्ववर्ती मंत्री एवं सहायक मंत्री दोनों गिरफतार कर लिये गये थे । पू० गुरुदेव इन दिनों स्कूल छोडकर कांग्रेस के आंदोलन में खुलकर भाग ले रहे थे । उन दिनों गाँवों-गाँवों में घूमने एवं आने-जाने के लिये परिवहन साधन तो थे नहीं, सड़कें भी नहीं थी, अरहर के, गन्ने के, धान के खेतों में से पगडंडियों से पैदल ही यातायात था, या बैलगाडियाँ थीं । अतः गुरुदेव दूर-दूर गाँवों में मीटिंग करके प्रायः देर रात में ही घर लौटते थे । मध्यरात्रि में इधर तो पू० गुरुदेव के सोने का समय होता और उधर यह कुम्हार महात्मा के भजन गायन का काल हो जाता । वह अति उच्च स्वर से आलापता -

'तेरे मालिक हैं दीनानाथ सोच मन काहे को करै'

महात्मा कुम्हार का कण्ठ यद्यपि अति मधुर था, परन्तु गुरुदेव की निद्रा तो टूट ही जाती थी ।

पू० गुरुदेव उसे बुलाकर मध्यरात्रि में चिल्लाकर गायन करने से मना करते, राजा साहब से शिकायत की धमकी देते, परन्तु वह भी पूरा हठी था, उनकी सर्वथा परवाह नहीं करता एवं हँसकर अवधी भाषा में उत्तर देता-

"बचुआ ! जब तोहार जीवन में ऐसन संकट आवै क कहीं कोउ सहारा देहिलन वाला न बचै तब तू हमार कुम्हरिया की बात नीक लगे तो याद कर लैहै । साँची बात भैया ! इहै है क निर्बल क, दीनन क, मात्र सहारा भगवान् ही देत हँई और औहू घोर संकट से तोके उबारिहैं ।"

उस समय तो पू० गुरुदेव ने उस कुम्हार को महत्व नहीं दिया परन्तु आगे जाकर उनके जीवन मैं इस कुम्हार की बात बहुत ही चमत्कारिक प्रभाव वाली सिद्ध हुई ।

खुले रूप में कांग्रेस आंदोलन में कार्य करने का फल तो प्रकट होना ही था, पू० गुरुदेव को जब वे मात्र पन्द्रह वर्ष के किशोर थे, छह मास का कठोर कारावास हो गया । उन्हें गया सेन्ट्रल जेल में डाल दिया गया । सेन्ट्रल जेल

का जेलर एक लँगड़ा अंग्रेज था । वह महाक्रूर था । वह लँगड़ा जब जेल का निरीक्षण करने आता तो प्रत्येक कैदी से सलाम कराया करता था । पू० गुरुदेव के सम्मुख भी बह आया, परन्तु पू० गुरुदेव ने इसकी ओर ताका तक नही । तीन बार सलाम करने का हुक्म देने पर भी जब गुरुदेव द्वारा उसकी उपेक्षा हुई तो उसने क्रोध से तिलमिलाकर इतना जोर का घूँसा पू० गुरुदेव की नाक और आँख पर मारा कि गुरुदेव को एक बार तो ऐसा लगा कि उनकी आँख सदा के लिये ही गयी और नाक से खून की धार बह चली। उसी समय वे बेहोश होकर जमीन में चक्कर खाकर गिर पड़े ।

पू० गुरुदेव को इतनी सांघातिक चोट लगी थी कि उन्हें १५-२० दिन अस्पताल में भर्ती कराया गया । अस्पताल में श्री गुरुदेव को यही चिन्ता थी कि पुन: जेल मैं प्रवेश करने पर उनका उसी क्रूर दानव से पाला पड़ेगा और पुन: वैसी ही निर्मम सांघातिक मार खानी पड़ेगी । उस दानव से उन्हें छुटकारे का कोई भी उपाय समझ में नहीं आ रहा था ।

ऐसे विषम संकट के समय जहाँ से उन्हें बचाने वाला कोई भी सूत्र नहीं था, उन्हें उस महात्मा कुम्हार की बात याद आयी । कुम्हार महात्मा की दी शिक्षा से संभव है उनका त्राण हो जाय, इस आशा से वे मन ही मन "हे गोविन्द! हे गोपाल !! मुझे इस संकट से बचाइये, मेरा आत्म-सम्मान भी बना रहे और इस क्रूर दानवी यंत्रणा का कष्ट भी मुझे नहीं झेलना पड़े, मेरी रक्षा करें"- इस प्रकार वे आर्त्त प्रार्थना करने लगे ।

पू० गुरुदेव स्वास्थ्य लाभ करके अस्पताल से जेल में आ गये । वह लँगड़ा जेलर यद्यपि अनेक बार जेल का निरीक्षण करने आया और उसका व्यवहार अन्य कैदियों के साथ वैसा ही क्रूर रहा, परन्तु गुरुदेव के सम्मुख आते ही वह अतिशिष्ट हो जाता था । एक बार तो पंक्ति में खड़ा कर जब वह कैदियों से सलाम ले रहा था एवं गुरुदेव ने उसे सलाम नहीं किया तो पास में खडे एक कैदी ने गुरुदेव को लक्षित कर उसके सम्मुख शिकायत भी की कि "महानुभाव ! यह कैदी सलाम नहीं कर रहा है ।" किन्तु उसने उसी कैदी की पिटाई कर दी एवं गुरुदेव की उपेक्षा कर दी।

उन दिनों गुरुदेव निरन्तर **हे गोविन्द, हे गोपाल, हे शिव, हे शंकर'** जो भी भगवान् के नाम उनके ध्यानपथ में आते नामोच्चारण एवं प्रार्थना करते रहते एवं उस जेलर में भगवान् ही भगवान् भरे हैं ऐसी भावना प्रगाढ रूप में करते रहते ।

उन दिनों राजनीतिक कैदियों से भी कारावास में सभी प्रकार के श्रम कराये जाते थे । बैल के स्थान पर उन्हें कोल्हू में जुतकर तेल पेरना पड़ता था,चक्की में आटा पीसना पडता था, खेतों में पानी देना पडता, रस्सी बंटने का काम करना पड़ता । चाहे बीमारी हो, निर्धारित काम तो करना ही पड़ता था । जिस दिवस जिस कैदी का निर्धारित कार्य पूरा नहीं होता, उसे भोजन नहीं दिया जाता और दूसरे दिन फिर उस निर्धारित कार्य को पूरा करने पर ही उसे भोजन मिलता था । श्रम में रियायत होना तो बहुत ही कठिन बीमारी में, डाक्टर की सिफारिश से ही संभव होता था ।

परम पू० गुरुदेव गया में छह मास जेल में रहे । जेल से छूटकर आने पर घरवालों द्वारा उन्हें राजनीति से दूर करने की बहुत चेष्टा की गयी । परन्तु अपने निश्चय में अडिग रहकर वे अधिक मनोयोग पूर्वक क्रांतिकारी दल का कार्य करने लगे ।

प्रेत से सहयोग

राष्ट्रीय भावना को उद्दीप्त करने में पत्र-पत्रिकाओं ने घृताहुति का काम किया था । इन साइक्लोस्टाइल मशीनों द्वारा छापे गये हजारों पत्रों को क्रांतिकारी दल के युवक गाँव-गाँव में पुलिस की आँखों में धूल झौंक कर प्रचारित कर देते थे । इन पत्रों में शासन द्वारा अपनायी गयी दमन-नीति की खुलकर आलोचना होती थी । इन पत्रों की आग्नेय भाषा नवयुवकों में विदेशी शासन को, उसके कर्णधारों को समाप्त करने के लिए आत्माहुति देने की तीव्र प्रेरणा जगाती थी । कोई प्रेस अथवा रजिस्टर्ड प्रकाशन होता तो सरकार उसे बंद करने की कार्यवाही भी करती । कुछ लोगों को गिरफ्तार भी सरकार कर लेती तो भी इन बलिदानी युवकों का बोया बीज कहीं न कहीं से फूट पडता । वह प्रचण्डतर स्वर में क्रांति का बिगुल बजाता, आग उगलता और मातृभूमि की लज्जा-रक्षा के लिये उसकी वेदी पर अपनी प्यारी संतानों को सर्वस्व बलिदान की प्रेरणा देता रहता ।

पू० गुरुदेव का बिहार के विप्लववादियों से संपर्क तो था ही, यह संपर्क अंततोगत्वा क्रांति की धधकती ज्वाला में उनको खींच ही ले गया । क्रांतिकारी दल के लोग पाँच-सात बड़े विशाल मकान किराये में ले लेते थे । ये विशाल भवन जो बहुत काल से निर्जन पड़े रहते थे वे ही इनकी कार्यशाला होते थे। इन विशाल भवनों में भी ये गुपचुप पीछे की छोटी बारियों से ही मात्र घोर

रात्रि में प्रवेश करते थे । रात्रि को भी ये टिमटिमाती मोमबत्तियों के प्रकाश में ही काम करते या गुप्त,मंद प्रकाश वाली टोर्च काम में लेते थे । आसपास में रहने वालों को भी यदि इनकी कुछ भी भनक पड़ जाती तो ये दूसरे ही दिन उस मकान को छोड़ कर गायब हो जाते थे । फिर दूसरी बार उस मकान में कदम भी नहीं रखते थे । इस प्रकार इनका कार्य बहुत ही गोपनीय होता था ।

एक बार इन्होंने राजा साहब के प्रसिद्ध भुतहे मकान में ऊपरी तल्ले में एक कमरे में डेरा जमाया हुआ था । यह मकान भुतहे के रूप में सर्वत्र कुख्यात था । अत: उसके पास से भी प्राय: लोग गुजरते नहीं थे । पू० गुरुदेव की लेखनी तो ओजस्वी थी ही, वे अपने साथियों सहित रात्रिभर में साइक्लोस्टाइल मशीन से पन्द्रह बीस हजार पर्चे प्रतिदिन छाप लिया करते थे। नवयुवकों का गुप्त-दल रात्रि में ही इन पर्चों को सारे प्रांत में मुख्य-मुख्य शहरों के प्रमुख बाजारों और चौराहों में चिपका देता था ।

सरकार इन पर्चों के विप्लवी स्वर से संत्रस्त हो उठी । परन्तु वह इनका रहस्य कि ये कहां छापे जाते हैं, कौन इनका प्रांतव्यापी प्रचार करते हैं, कुछ भी पता नहीं लगा सकी ।

जिस भुतहे मकान में पू० गुरुदेव का प्रेस था, उसमें एक दिवस जब रात्रि में पर्चे छापने का कार्य चल रहा था, इनका एक साथी लघुशंका करने के लिये नीचे आँगन में गया था। अचानक उसे एक बहुत ही दीर्घकाय ताड़ की तरह लम्बा व्यक्ति दिखाई पड़ा । वह व्यक्ति भयग्रस्त हुआ ऊपर लौट आया और उसने सारी गाथा गुरुदेव को सुनायी ।

पू० गुरुदेव तुरंत एक गुप्त टार्च लेकर अपने साथियों के साथ उस स्थान पर पहुँचे, जहां उस साथी को वह दृश्य दिखाई पड़ा था । वहां और तो कुछ नहीं था मात्र उस मृतात्मा के नाम की चौतरी थी जिसे 'प्रेत का नाडा' कहा जाता था ।

पू० गुरुदेव ने अपने एक साथी को कहकर ऊपर के कमरे में इनके नाश्ते के लिए जो गुड़, भुनी लाई तथा चने रखे थे, वे मंगाये । वह सब प्रसाद के रूप में उस नाडे की चौतरी में रख दिया गया । अब पू० गुरुदेव ने उस प्रेत से प्रार्थना कर दी कि "भाई ! हम तो ऐसे ही मृत्यु को अपनी हथेली में रखकर चलते हैं, हमारे पास मात्र ये चने और गुड़ ही धन संपत्ति है। सो मित्रतावश तेरे सम्मुख भी हमने यह तुच्छ भेंट रख दी है, शेष तो हमारा

सब कुछ देश को अर्पित है। यहां पुलिस की नज़र नहीं पड़े इसलिये तेरी शरण में अपना देशसेवा का कार्य कर रहे हैं । अब भविष्य में यदि तूने हममें से किसी को भी भयग्रस्त किया तो इसे निश्चय मान लेना कि हम तेरा यह नाडा चौतरी तोड़-फोड़ कर धूलि कर देंगें । मृत्यू से बड़ा दण्ड तो तू हमें दे ही नहीं सकता । अन्यथा हम तो तेरी शरण हैं, दयाकर हमें भयभीत मत कर, हमारा सहयोगी बन ।"

इसके पश्चात् उस प्रेत ने पू० गुरुदेव के साथियों को कभी भयभीत नहीं किया । हाँ, एक बार किसी सूत्र से पुलिस को भनक पड़ गयी । ये लोग दिन में वहां रहते ही नहीं थे । साइक्लोस्टाइल मशीन, स्टेशनरी की कागज की रीमें, टाट के बोरों में डालकर किसी अंधेरी कोटड़ी में अवश्य डाल देते थे, जिससे यदि पुलिस दिन में आ भी जाय तो उसे वह सामग्री नहीं मिल पावे । उस दिवस पुलिस का एक इंस्पैक्टर कुछ सिपाहियों सहित आ पहुँचा । उसने उस भवन की तलाशी लेनी चाही । ज्योंही पुलिस ऊपरी तल्ले में चढ़ने के लिए सीढ़ियों के मध्य पहुंची, उसे वह लम्बा ताड़ जैसा प्रेत भयावह मुद्रा में झपटता दृष्टिगोचर हुआ। पुलिस वाले वहाँ से उलटे पैरों ऐसे भागे कि फिर कभी उस मकान की ओर उन्होंन मुख ही नहीं किया ।

पू० गुरुदेव एवं उनके दल ने दूसरे ही दिन उस मकान को खाली करके अन्य दूसरे भवन में स्थानान्तरण कर लिया ।

जेल में दारुण यंत्रणा एवं भगवत्कृपा प्रकाश

इस देश का पुरातनकाल से यह दुर्भाग्य ही रहा है कि यहाँ जयचंदों का प्रवेश किसी भी देशभक्तिजन्य कार्य में हो ही जाता है । पू० गुरुदेव के साथियों में भी एक जयचंद का समावेश हो गया एवं उसने पुलिस का informer मुखबिर बनकर पूज्य गुरुदेव की कार्यशैली की राई-रत्ती सूचना सरकार को दे दी । एक रात जब इनका दल कई हजार पर्चे छापकर शयन करने के मूड में था, पू० गुरुदेव को ऊपरी छत से एक व्यक्ति मकान की चारदीवारी के पास छुपा हुआ दृष्टिगोचर हुआ । पू० गुरुदेव ने उसकी खाकी कमीज भी देख ली । ये तुरंत ही समझ गये कि वह व्यक्ति पुलिस का सूचना देने वाला इंफॉर्मर है । वह थोड़ी-थोड़ी देर में उठ-उठ कर भवन की ओर देखता था तथा फिर छुप जाता था ।

पू० गुरुदेव समझ गये कि पुलिस से वे घिर गये हैं और कतिपय क्षणों में पुलिस आ धमकने ही वाली है । प्रत्युत्पन्नमति पू० गुरुदेव ने तत्क्षण ही सारे पर्चे, साइक्लोस्टाइल मशीन और कागज की रीमें एक बड़े जूट के बोरे में भर दीं और उसे एक रस्सी के सहारे नीचे खेत में उतार दीं । उस समय पू० गुरुदेव के साथ एक तो उनका सहयोगी और एक बूढा रसोईया, मात्र दो ही व्यक्ति थे । उन्होंने एक मजबूत रस्सी के सहारे उस रसोइये को भी नीचे उतार दिया । रसोइये को उन्होंनें निर्देश दिया कि बोरे को नीचे गढ्ढे में अच्छी प्रकार से गाड़ दे और तब स्वयं ही अपने पैरों के निशान मिटाता हुआ दूसरे गाँव में भाग जाये ।

यह रसोइया जैसे ही बोरे को गाड़कर अपने पदचिन्ह मिटाता हुआ गाँव की ओर भागने को उद्यत हुआ कि पुलिस आ धमकी । पुलिस ने दरवाजा खटखटाना प्रारंभ कर दिया था । पुलिस दरवाजा खुलवाने की त्वरा दिखा रही थी और गुरुदेव रसोइये को थोड़ी दूर चले जाने का अवकाश देने के लिये पुलिस को बातों में उलझाये रखना चाहते थे । अत: उन्होंने छत से ही कड़कती आवाज में कहा- "आप कौन हैं ? आधी रात के समय सोते हुए व्यक्तियों को क्यों तंग कर रहे हैं ?"

छत से पू० गुरुदेव पिछवाड़े से अरहर के खेतों से उस रसोइये को जाता देख रहे थे अत: वे पुलिस वालों से तब तक वार्ता करते रहे, जब तक उस बुढ्ढे का उनकी आँखें अनुसंधान करती रहीं ।

अंत में द्वार तो खोलना ही था । पू० गुरुदेव के साथी के पास धन की सहायता करने वाले दानदाताओं की सूची अवश्य रह गयी थी । गुरुदेव ने उसे संकेत से समझा दिया कि इसे टुकड़े-टुकड़े कर इतना बारीक चूर्ण बना दे जिससे कहीं से भी जोड़कर पुलिस वाले सहायता देने वालों का कोई भी सुराग नहीं पा सके। यदि वह सूची पुलिस के हाथ पड़ जाती तो आर्थिक सहायता देने वाले व्यक्तियों को पुलिस अकारण तंग करती ।

मकान की तलाशी में पुलिस को कुछ भी नहीं मिला, परन्तु उस देशद्रोही जयचंद की गवाही और इकबालिया बयान के आधार पर पुलिस ने पूज्य गुरुदेव पर मुकदमा चला दिया । गया-षडयंत्र काण्ड नामक इस मुकदमें में अंग्रेज जज ने गुरुदेव को पुन: छह मास का कठोर कारावास दे दिया ।

पू० गुरुदेव गया जेल में सूर्यास्त के समय पहुँचे । जिस गया जेल में गुरुदेव लाये गये थे वहां के प्रधान जेलर का नाम मेजर बर्क था । वह आयर्लेण्ड का रहने वाला था । स्वभाव से ही वह अत्यंत क्रूर था । जो भी राजनैतिक बंदी अंग्रेजी शासन के विरुद्ध अधिक सक्रिय होता था, उसके बंदी विवरण पत्र पर वह कुख्यात लिख दिया करता था । इन विशेष कैदियों को वह भीषण यातना दिया करता था । अधिकांश ऐसे कैदियों को तो वह मौत के घाट ही उतार दिया करता था । वह नरपिशाच अपने भारी भरकम शरीर से मिल्ट्री-बूट पहनकर कैदी की छाती पर चढ जाता था और इतनी जोर से हुमचता था कि छाती की हड्डियां तड़-तड़ टूट जातीं । प्राय: कैदी अपने मुख से बल-बल खून उगलता हुआ वहीं अपनी जीवन-लीला समाप्त कर देता था। जेल के रजिस्टर में लिख दिया जाता कि बीमारी से मर गया । इस गलत रिपोर्ट पर विरोध करने का भी उन दिनों किसी में साहस नहीं होता था । परिणाम यह था कि कैदी इसके नाम से ही थर-थर कांपते थे ।

जिस प्रकार क्रूर-कर्मा मेजर बर्क अपनी दानवी पीड़ादायिनी यंत्रणाओं के कारण कुख्यात था, उसी प्रकार पू० गुरुदेव की भी जेल में सर्वत्र अपनी देशभक्ति, आत्मिक तेजस्विता, विलक्षण धैर्यनिष्ठा आदि गुणों के कारण प्रख्याति थी ।

पू० गुरुदेव ने सायंकाल सभी राजनैतिक कैदियों को रामायण सुनाना प्रारंभ कर दिया था । उनका कण्ठ तो अति सुरीला और मधुर था ही । किशोर बालक चक्रधर जब तक रामायण गायन करता, उसकी कोकिलकण्ठी, मधुर स्वरलहरी से सभा भक्तिमय भावों में परम मुग्ध हुई सर्वथा एकाग्रचित्त और शांत हो जाती थी ।

उनके रामायण गायन की ख्याति ज्यों-ज्यों जेल में बढती गयी, जेल के दूसरे वार्डों से भी कैदी एवं वार्डर, सभी लोग रामायण सुनने एकत्रित हो जाते थे । पू० गुरुदेव की लोकप्रियता की बात मेजर वर्क के कानों में भी पड़ी । उसे भला यह कैसे सहन होता कि एक राजनैतिक कैदी इस छोटीसी उम्र में जेल के वार्डरों और सभी कैदियों के मध्य इतना अधिक लोकप्रिय हो जाए तथा धर्मचर्चा के नाम पर लोगों को संगठित करने लगे ।

एक दिवस जैसे ही पू० गुरुदेव ने रामायण सुनाना प्रारंभ किया ही था कि वह महादानव अपनी शक्तिशाली वार्डरों की टोली के साथ वहाँ आ धमका । पू० गुरुदेव लम्बी शिखा तो रखते ही थे । उसने आते ही पू०

गुरुदेव की शिखा पकड़कर बुरी तरह से झकझोर दी । वह इनको शिखा पकड़ कर घसीटता हुआ, जूतों की ठोकर मारता बहुत दूर तक खींचकर ले गया । पू० गुरुदेव ने तनिक भी प्रतिक्रिया नहीं की और एक सच्चे अहिंसक सत्याग्रही की तरह निर्विरोध पिटते रहे । उसने पू० गुरुदेव के हाथों में पकड़ी हुई रामायण की प्रति छीनने की बहुत ही चेष्टा की परन्तु पू० गुरुदेव की रामायण पर पकड़ इतनी मजबूत थी कि वह उसे उनके हाथों से छीन नहीं सका । इस पर क्रोधित हो उसने गुरुदेव को- जो दुबले-पतले हलके शरीर के थे, अपने दोनों हाथों में ऊपर उठा लिया और सभी कैदियों के देखते-देखते उन्हें निर्जीव काष्ठ-पटरी की तरह पटक दिया । उस दानव में इतनी सी संवेदना भी नहीं थी कि गुरुदेव हाड-मांस की सुकोमल देह हैं । इस घटना से श्रीचक्रधर मिश्र की ख्याति सारे जेल में फैल गयी एवं एकमत से सबकी सहानुभूति इनके ऊपर उमड पड़ी । उसी दिवस से उसने पू० गुरुदेव को फाँसी के कैदियों को रखने की सैल में डाल दिया ।

मेजर ने जेल के कैदियों पर अपनी मर्जी का एक नियम लाद दिया था। वह नियम यह था कि जब भी वह निरीक्षण करने आवे, कैदी अपने हाथ उठाकर दाहिने हाथ की हथेली दाहिने कंधे पर रख लें एवं बायें हाथ की हथेली बांयें कंधे पर रख लें । भयाक्रांत हुए सभी कैदी उसके सामने होने पर ऐसा कर ही लेते थे । जो ऐसा नहीं करते उसे वह जेल के वार्डरों से बुरी तरह पिटवाता था । वह इतना दुष्ट था कि दवा के नाम पर कैदी के शरीर पर चेचक का संक्रामक टीका लगवा देता था जिससे उसके सारे शरीर में चेचक के बड़े-बड़े फफोले हो जाते थे । वह इन फफोलों की परवाह किये बिना उस कैदी को पेड़ से बँधवा देता और जेल के शौचालयों में पड़ी विष्ठा भंगियों से कहकर उस पर डलवा देता । कैदी को मक्खियाँ काटतीं और दारुण यंत्रणा से कैदी चीखता हुआ बेहोश हो जाता ।

पू० गुरुदेव को इन सब यातनादायक परिस्थितियों की सूचना जेल के एक बंगाली डाक्टर ने अग्रिम ही दे दी थी । जेल के बंगाली डाक्टर ने उन्हें पूर्व-चेतावनी भी दे दी कि जेलर के आने पर वे अन्य कैदियों की तरह सामान्यतया हाथ ऊपर कर दें, यदि कहीं जिद अथवा अकड से उन्होंने ऐसा नहीं किया तो निश्चय ही वह क्रूर दानव उनकी जान का ग्राहक हो जायेगा और भीषण शारीरिक यंत्रणाऐं मिलेंगी सो अलग । पू० गुरुदेव ने उस डाक्टर को इतना ही संक्षिप्त उत्तर दिया कि मृत्यु तुम्हारे लिये भयावह हो सकती है,

मेरे लिये तो यह मात्र एक तुच्छ खेल है । यह विकट एवं विषम परिस्थिति आखिर पू० गुरुदेव के सम्मुख आ ही गयी । पू० गुरुदेव स्वतंत्र-मति के थे और ऐसे समझौते करना उनकी नैतिकता के विरुद्ध था ।

अब गुरुदेव के पास तो एक ही निर्बल का बल था । वे भगवान् से प्रार्थना करने लगे- "हे प्रभो ! हे दयालु ! हे स्वामी ! आप सर्वसमर्थ हैं । मेरी प्रतिष्ठा की रक्षा आपके सिवा दूसरा कौन कर सकेगा ? हे प्रभो इस असंभव बात को संभव कर दीजिये । नाथ, मेरी इस घोर यंत्रणा से भी रक्षा हो और मेरा आत्मसम्मान भी बना रह जाय।" मेजर बर्क जैसे ही निरीक्षण करने आया तो सभी कैदियों को एक पंक्ति में खड़ा कर दिया गया । मेजर के साथ पाँच-सात बार्डर भी रहते थे । वह दुष्ट इन्हीं वार्डरों से क्रूरतापूर्वक डण्डे चलवाया करता था । जिस तन्हाई की कोटड़ी में पू० गुरुदेव रखे गये थे, उससे अगली दो तन्हाई की कोटड़ियों में रहने वाले कैदियों को यह जेलर कुछ ही दिन पहले मौत के घाट उतार चुका था ।

पू० गुरुदेव के द्वारा हाथ नहीं उठाये जाने के कारण हरक्षण अतिशय काली भयावनी आशंका गहरी होती चली जा रही थी । मेजर बर्क पू० गुरुदेव के सम्मुख लगभग पाँच मिनट तक खड़ा रहा । उनके सामने खड़ा हुआ वह अपने मुख से सीटी बजाये जा रहा था । पू० गुरुदेव पीठ की ओर हाथ पर हाथ दिये खड़े थे । उनके मुख से नाम ध्वनि का तार अनवरत चल रहा था। थोड़ी देर खड़ा रहकर न जाने क्या सोचकर वह आगे बढ गया ।

ज्योंही वह शैतान मेजर आगे बढ़ा, पू० गुरुदेव के मन में भगवान् के प्रति भावनाओं का वेग इतना प्रबल गति से बह चला कि उसे वाणी कह ही नहीं सकती । भगवान हैं, वे प्रार्थना सुनते हैं, वे आर्त्त की रक्षा करते हैं, वे असंभव को संभव बना देते हैं, उनकी दया असीम है- इस प्रकार के भावों के उच्छलन से पू० गुरुदेव का हृदय कृतज्ञता से भर आया था । परन्तु अभी तो आगे आने वाली घटनाऐं बहुत ही गंभीर होने वाली थीं ।

मेजर बर्क पुन: कैदियों के निरीक्षणार्थ आया । सभी कैदी पुन: पंक्तिबद्ध खड़े कर दिये गये । पू० गुरुदेव ने तो इस बार भी उसकी उपेक्षा की और अपने हाथ ऊपर नहीं उठाये ।

इस बार मेजर की क्रूर आँखों में क्रोध की विकराल वक्रता छा गयी । क्रोध की उत्तेजना से उसका चेहरा लाल हो गया । उसने पाँचों वार्डरों को हुक्म दिया, पीटो इस लड़के को । इधर दशा ये थी पाँचों वार्डर इस छोटे से

ब्राह्मण बालक के प्रति भक्ति करने लगे थे । ये इनकी रामायण-कथा में भी सम्मिलित हो चुके थे । इनके तेजस्वी एवं निर्मल अहिंसापूर्ण-सत्याग्रही-स्वभाव ने कुछ सीमा तक इनकी क्रूरता में सात्विक दया के भाव भर दिये थे । जब इन्होंने इस बालक के कुल का, माता-पिता का एवं जन्म स्थान का पता करना चाहा तो इन्हें यह भी पता लग गया था कि यह उनके पार्श्ववर्ती ग्राम फखरपुर का ही निवासी है और इस बालक के पिता इनके भी पुरोहित-गुरु हैं।

अत: जब मेजर द्वारा इन पाँचो को पू० गुरुदेव को पीटने का हुक्म दिया गया तो ये इसे मारने के स्थान पर इसकी बाँह मात्र मेजर के सम्मुख उठ जाय, ऐसी चेष्टा करने लगे । गुरुदेव भी तो अति हठी थे । वार्डरों के प्रयास के बावजूद भी जब गुरुदेव ने अपनी बाँह नहीं ही उठायी तो मेजर बर्क क्रोध में तिलमिला गया । वह स्वयं क्रोध में भरा इन्हें घूँसों से मारने लगा । पू० गुरुदेव तो तत्क्षण ही चक्कर खा कर मूर्च्छित हुए जमीन पर गिर गये ।

परम पूज्य गुरुदेव के कार्ड पर मेजर वर्क ने पहले से ही नोटोरियस (कुख्यात) तो लिखा हुआ ही था, अब एक शब्द 'पनिसमेंट'- 'दंडित किया जाय' और लिख दिया । उसने आदेश जारी कर दिया कि इसे पहनने को टाट दिया जाय । उन दिनों जेल में तीन प्रकार का टाट पहनने को दिया जाता था । प्रथमत: कपास के धागे से बना मोटा कपड़ा, दूसरे पटसन से बना टाट, तीसरे नारियल के रेशे से बना टाट । पू० गुरुदेव को मेजर ने जानकर यह तीसरे किस्म का टाट पहनने को दिया । यह शरीर में एकदम चुभता था । शरीर में बहुत जोर की मार पड़ी थी, अत: शरीर सूज गया था, बड़ी तीव्र वेदना हो रही थी । साथ ही बहुत तेज बुखार हो आया था । केवल ज्वर ही नहीं, चेचक भी निकल आयी थी । गुरुदेव प्राय: नग्न ही रहते । मात्र निम्नांग ढ़कने के लिये ही टाट प्रयोग करते थे, परन्तु चेचक के व्रण तो शरीर में सर्वत्र थे, उसमें यह टाट बहुत ही गड़ता था । कष्ट की सीमा नहीं थी।

एक दिन सहायक जेलर से जो एक मुसलमान था, गुरुदेव ने अपना कष्ट सुनाकर दूसरा कपडा देने की प्रार्थना की तो उसने उन्हें सांत्वना देना तो दूर रहा अपने पान की पीक उनके मुख पर थूक दी । उस तन्हाई की कोटड़ी में नग्न शरीर, ज्वर-पीड़ित, चेचक-ग्रस्त, नारियल की टाट में, पू० गुरुदेव किस प्रकार रात-दिवस काटते थे, यह तो कोई भुक्तभोगी ही जान

सकता है । जेल में पू० गुरुदेव को तीव्र विष दिया गया । यह विष प्रतिदिन ही उनके भोजन में मिला दिया जाता था । विष की प्रतिक्रिया-स्वरूप उनके मुख के भीतर घाव हो गये । उस विष का प्रभाव पू० गुरुदेव यावज्जीवन ढ़ोते गये ।

इस तन्हाई की कोटड़ी में पू० गुरुदेव को रह-रहकर उस महात्मा कुम्हार की याद आ रही थी । वे मन ही मन शंकर, श्याम, राधेश्याम, सीताराम- जो भी भगवान् का नाम जिह्वा में आता, जपते । आर्तस्वर में भगवान् का नाम पुकारना ही उनकी प्रार्थना थी और वही मंत्र-जाप था । उनका हृदय आकुल हुआ, एक ही पुकार कर रहा था कि किसी भी प्रकार मेरे प्राण भी बचें और प्रतिष्ठा भी बच जाय । उसी दिवस पू० गुरुदेव को एक दिव्यानुभव हुआ । उनको अपनी तन्हाई की कोटड़ी से गया का दूरस्थ ब्रह्मयोनि पर्वत दिखाई पड़ता था । उन्हें दिखाई पड़ा कि इस बह्मयोनि पर्वत के शिखर पर लताओं में आच्छादित एक विशाल वृक्ष के नीचे भगवान् शंकर खड़े हुए हैं । उनका हाथ अभय-मुद्रा में उठा हुआ है। वे पूज्य गुरुदेव को स्पष्ट आश्वासन दे रहे हैं- “तुम निश्चिंत रहो, तुम्हारा कुछ नहीं बिगड़ेगा । मैं तुम्हारी रक्षा कर रहा हूँ ।” इससे पू० गुरुदेव को बहुत ही सांत्वना मिली। उसी समय उनके मन में प्रेरणा हुई कि किसी भी प्रकार से मेरा तबादला दूसरी जेल में हो जाय तभी मेरे प्राणों की रक्षा हो सकती है ।

उस गया जेल में एक और सहायक जेलर थे श्रीहरिपद बाबू । वे पू० गुरुदेव के प्रति थोड़ी सहानुभूति रखते थे । श्रीहरिपद बाबू ने ही चेष्टा करके किसी बड़े अधिकारी से कहकर इनका नारियल का टाट बदलवाया और चेचक के मरीज के नाते इन्हें और भी सुविधायें दिलवायीं । और तब भगवत्कृपा के बल से इनका तबादला ही कैम्प जेल में करवा दिया ।

कैम्प जेल में उन दिनों चार-पाँच हजार राजनैतिक कैदी थे । ये सभी श्रीमहात्मा गांधी के नमक-सत्याग्रह में गिरफ्तार हुए थे । इस जेल में भी पू. गुरुदेव पर अनेक विपदायें आयीं । भयंकर लाठीचार्ज हुआ और सैकड़ों सत्याग्रहियों के सिर तरबूजों की तरह फटे । इसके पश्चात् गोलीकाण्ड तक की नौबत आ गयी । विस्तार-भय से इन सबका वर्णन नहीं कर रहा हूँ । संक्षेप में मात्र इतना ही कहना है कि इन घोर विपत्तियों में पद-पद पर पू० गुरुदेव को भगवत्कृपा के प्रत्यक्ष अनुभव हुए; उससे उनको दृढ़ निश्चय हो गया कि जीवन के एक मात्र सुहृद भगवान् हैं और भविष्य में वे अब अपना

संपूर्ण जीवन भगवद्प्राप्ति एवं उनके भजन में ही समर्पित कर देंगे । उन्होंने अपने जीवन का एकान्तिक लक्ष्य-सर्वसमर्थ भगवान् की आराधना ही बना लिया । उनके विश्वास में यह बात सुदृढ़ता से जम गयी थी कि अकारण-कृपालु, असीम-दयालु एवं असंभव को संभव बना देने वाले भगवान् के समान जीव का सुहृद अन्य कोई नहीं हैं ।

इधर ५ मई, १९३१ को वायसराय इरविन से महात्मा गांधी का समझौता हो गया । गांधीजी ने अपना आंदोलन स्थगित कर दिया और उधर इरविन सरकार ने भी सत्याग्रही नेताओं सहित सभी राजनैतिक बंदियों को बिना शर्त रिहा कर दिया। इस दूसरी बार की जेल यात्रा में पू० गुरुदेव को छः मास के स्थान पर मात्र पाँच मास का ही बंदीजीवन भोगना पड़ा ।

गायिका दुर्गेशनन्दिनी

यद्यपि पू. गुरुदेव कैशोर्य लाँघकर यौवन में प्रवेश कर चुके थे, राजपरिवार से मैत्री के कारण उनका जागतिक भोगविलास की बातों से शाब्दिक परिचय भी हो चुका था, परन्तु उनका मन सर्वत्र, सब स्त्रियों में सदा मातृभाव से ही भक्तियुक्त रहता था । घोर मलिनता के वातावरण में और अतिशय मलिन व्यक्तियों के संग में भी वे अपने चित्त में कैसी निर्मलता संजोये रहते थे, इसका यहाँ एक अनुपम उदाहरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

प्रसंग है फखरपुर के राजासाहब के छोटे भाई के विवाह का । ये छोटे भाईसाहब पू. गुरुदेव के बाल गोठिया साथी थे । राजासाहब का भी आग्रह था कि श्रीमिश्रजी (पू० गुरूदेव) उनकी बारात में सम्मिलित हों । दोनों मित्रों का परस्पर इतना स्नेह था कि इस आग्रह को टालना भी संभव नहीं था । बारात दरभंगा की ओर गयी थी । उन दिनों विहार में यह बुरी प्रथा ही थी कि बारात में वेश्यायें नाच-गान के लिये अवश्य बुलायी जाती थीं । सम्पन्न घरों की बारात में नामी गायिकायें तथा नर्तकियाँ आती थीं। राजासाहब की बारात की मजलिस फिर भला कैसे सूनी रहती ? अतः वाराणसी से दुर्गेशनन्दिनी नामक नामी गायिका को बुलाया गया था । उसे लोग संज्ञा तो वेश्या की देते थे, परन्तु वह मात्र उत्तम गायिका ही थी । पू. गुरुदेव का वेश्याओं के नाच-गान में सम्मिलित होने का तो प्रश्न ही नहीं था । वे इस प्रकार विवाहोत्सवों में व्यर्थ के व्यय के सर्वथा विरोधी थे । देशभक्त

क्रांतिकारियों के हजारों परिवार जहाँ दो जून रोटी भी नहीं जुटा पाते थे, वहाँ इस प्रकार की विलासिता में हजारों रुपयों का अपव्यय हो, उन्हें यह सर्वथा अरुचिकर था, परन्तु वे मात्र मौखिक विरोध ही तो कर सकते थे, इस प्रथा को समूलतः रोकना अथवा अपने मित्र के विवाहोत्सव में यह नहीं होने देना उनके वश की बात नहीं थी । सामाजिक-प्रतिष्ठा अच्छे-भले व्यक्तियों को ऐसा करने में विवश कर देती थी । पू० गुरुदेव ने अपना विरोध प्रकट करने का यही उपाय सोचा कि स्वयं उस मजलिस में सम्मिलित नहीं होंवें। परन्तु दूल्हा भी पूरा हठी था । वह राजपरिवार का अंग था । उसने हुक्म दे दिया कि यदि मिश्रजी न आवें तो चार व्यक्ति उन्हें हाथ पैर बाँधकर ले आवें। उसके इस आग्रह में भी मित्रता-जन्य प्रेम ही प्रधान था। दूल्हे के व्यक्ति पू. गुरुदेव के पास पहुँचे और उन्होने दूल्हेराजा का प्रेमाग्रह मुसकाते हुए प्रकट कर दिया । अब समझदारी इसी में थी कि मजलिस में स्वतः ही सम्मिलित हो जाया जाये । पू. गुरुदेव मजलिस में गये और दुल्हे राजा ने स्वयं खड़े होकर उनका स्वागत किया तथा उन्हें ठीक अपने बगल में बैठाया ।

जब दूल्हेराजा ने इतनी आवभगत की तो गायकों ने स्वाभाविक ही पू० गुरुदेव को अति महत्वपूर्ण व्यक्ति मान लिया । दुर्गेशनन्दिनी गायिका जब मंच पर आयी तो सबसे पहले उसने दुल्हेराजा को अभिवादन किया एवं तत्पश्चात् पू० गुरुदेव को भी सलाम किया, एवं सबसे पहले उन्हीं से पूछा कि खिदमत में कौनसा राग पेश करूँ। उस गायिका के यह पूछते समय पू० गुरुदेव का ध्यान उसके नाम पर चला गया । "ये तो दुर्गेश भगवान् शंकर को नन्दित करने वाली माँ पार्वती हैं ।" वे अब तो इस नामजनित निर्मल-भाव में डूब गये । वे क्या उत्तर देते, उनसे यही कहते बन पड़ा - "माँ ! मैं तो रागरागिनी का कुछ भी ज्ञाता नहीं, जो इन सबको रुचे वही गाओ।" ये शब्द निकलते-निकलते तो पूज्य गुरुदेव का मन और अधिक निर्मलता में डूब गया।

पू. गुरुदेव के निर्मल-भाव ने उस गायिका को भी मातृभाव में सराबोर कर दिया । वह अति विस्मित हो उठी। जिसे सदा हेय नेत्रों से ही सभी ने देखा हो, जिसे भरी सभा में सभी मात्र विलासयंत्र समझ, हेय एवं तुच्छ संबोधनों से ही पुकारा करते हों, उसे कोई दैवीभाव से, भक्तिपूर्ण नेत्रों से 'माँ' कहकर पुकारने वाला भी है ? इस मलिन संसार में उस जैसी सार्वजनिक मनोरंजन कर, माया बटोरने वाली को कोई इतनी विशुद्ध

सात्विक भक्तिभावभरी दृष्टि से देखने वाला भी है ? - इस भाव ने उसके मनको झकझोर कर रख दिया। जब तक वह सभा में रही वह पू० गुरुदेव की ओर विस्मय, पवित्रता एवं वात्सल्य भरे भाव से ही निहारती रही । उसने लगभग चालीस मिनट तक विलास-तोड़ी राग गाया । ऐसा लगता था मानो राग-रागिनी तो उसके कण्ठ में क्रीडा ही करती रहती हैं ।

वास्तव में भावमयी भक्ति-साधना में संगीत का स्थान बहुत ही महत्वपूर्ण है । पू० गुरुदेव ने तो भगवान् शंकर से गायन-कला में नैपुण्य माँगा था । वे कहते थे - सितार का मुझ पर बहुत ही प्रभाव होता था । सितार से करुणा के भाव उनके हृदय में बहुत अधिक संचरित होते थे । पू० गुरुदेव को उस दिवस माता दुर्गेशनन्दिनी के गायन ने भक्तिभाव की गहरी अनुभूति में प्रवेश करा दिया था ।

सेवा-भाव

पूज्य गुरुदेव ने नवीं कक्षा में ही पढ़ाई छोड़कर राजनीतिक कार्यों में रुचि लेनी प्रारंभ कर दी थी । फिर लगभग ग्यारह-बारह माह की दो जेल यात्राएँ हो गयीं, अत: वे अब आगे की पढ़ाई में दत्तचित्त हो गये ।

राजकीय जिला हाइस्कूल, गया के प्रधानाध्यापक श्री विजयकृष्ण सेन एक बंगाली सज्जन थे । पू० गुरुदेव की प्रतिभा से ये इतने प्रभावित थे कि पू० गुरुदेव को अपने घर में ही बच्चे की तरह रखते थे । इस बंगाली परिवार के मध्य रहने से पू० गुरुदेव बहुत भली प्रकार से बँगला भाषा बोल लेते थे। संस्कृत पठन-पाठन तो घर में आनुवंशिकी-परम्परा से था ही। अंग्रेजी भाषा में पू० गुरुदेव का बहुत ही विशेष अध्ययन था । उस पर तो उनका ऐसा असाधारण अधिकार हो गया था कि उनके अंग्रेजी भाषण को सुनकर अंग्रेज कलेक्टर भी आश्चर्य करता था । एक बार इनके गया स्कूल के अध्यापक की धर्मपत्नी का देहान्त हो गया । वे राजयक्ष्मा से ग्रस्त थीं एवं उसी से उनकी मृत्यु हुई थी । गाँव का कोई भी व्यक्ति शव उठाने को तैयार नहीं था। उन दिनों राजयक्ष्मा छूत की असाधारण बीमारी मानी जाती थी । राजयक्ष्मा के रोगी को, अथवा शव को स्पर्श करने मात्र से यक्ष्मा से प्रभावित हो जाने की आशंका तो थी ही । और यह सत्य भी था कि जिसके परिवार में यदि एक भी सदस्य को यक्ष्मा हो जाता तो परिवार का परिवार ही इस रोग से आक्रान्त हो उठता था और मृत्यु के मुख में चला जाता था। परिस्थिति ऐसी विषम थी

कि बहुत विनय करने पर भी कोई शव को स्नान कराने एवं अर्थी बाँधने को तत्पर नहीं था ।

स्कूल के प्रधानाचार्य जी ने अन्ततः युवा बालक चक्रधर को बुलाया । यह पाठशाला के सभी युवा छात्रों का नेता था । उस समय छात्रावास में लगभग तीस-बत्तीस छात्र थे। प्रधानाचार्य जी ने सेवा परायण चक्रधर से सहयोग चाहा । पू० गुरुदेव तुरन्त तत्पर हो गये और उनके तत्पर होते ही अनेक छात्रों में उत्साह जाग गया । फिर तो स्कूल के चपरासी भी सहयोगी हो गये । अर्थी तैयार हो गयी और श्मशान-घाट में भी पहुँच गयी । जब शव को चिता में रखकर आग लगा दी गयी तो एक साधु आया । उसने कहा- "यहाँ शव जलाया जा रहा है अतः मुझे पाँच रुपया दो ।"

पू० गुरुदेव ने कहा - 'भाई ! हम लोग विद्यार्थी हैं, हमारे पास धनमाया नहीं है जो तुम्हें दें, परन्तु वह साधु माना नहीं । पू० गुरुदेव के मित्र बद्रीप्रसाद ने भी उसे समझाने की अति चेष्टा की परन्तु वह तो अपनी जिद पर अड़ा ही रहा । कहते हैं 'बालक बन्दर एक समाना' - सो जब वह माना ही नहीं तो चंचल विद्यार्थी अपनी बालचेष्टाओं पर उतर आये । कोई उसे नंगा ही कर देने पर उतारू हो गया, कोई उसे चिता की ओर ही धकियाने लगा । अब वह साधु गाली देता हुआ चला गया ।

पू० गुरुदेव कहते थे कि किशोरावस्था में सभी युवक ऐसी चंचलता किया करते हैं, वैसी ही चेष्टा श्मशानघाट पर हम लोगों के द्वारा हुई । परन्तु घाट से वापस आने पर मेरे चिन्तन में बहुत ही परिवर्तन आया । इस अभद्रता के लिये मेरी सात्विकता मुझे धिक्कारने लगी । मैं स्वयं ही, स्वयं से प्रश्न करने लगा -"क्या यह उचित हुआ ? क्या मेरा सच्चा जीवन ऐसा होना चाहिये ? क्या उस साधु में भगवत्सत्ता नहीं थी ? चंचलता की पराकाष्ठा पर किसी को तंग करना क्या मेरे जैसे भगवत्साधनापरायण व्यक्ति के लिये शोभनीय है ?" इस क्रिया के पश्चात्तापस्वरूप पू० गुरुदेव के जीवन में एक ऐसी सत्वमयी धारणा बह चली कि भविष्य में फिर ऐसी वृत्ति उदय ही नहीं हुई ।

विचार मन्थन

पू० गुरुदेव स्कूली-विद्याध्ययन कर रहे थे परन्तु उनके भीतर विचारों में अथाह क्रान्ति चल रही थी । दसवीं, ग्यारहवीं और बारहवीं कक्षाओं में पढ़ते

समय पू० गुरुदेव निरन्तर अन्तर्द्वन्द्व की ही अवस्था में रहे । इस विचार-मंथन को वे प्रतिदिन पत्र रूप में भगवान् को लिख-लिखकर व्यक्त किया करते थे । उन्होंने प्रतिदिन जो पत्र भगवान् को लिखे उनमें से कुछ पत्र वे सन्यास लेते समय अपने अग्रज श्रीतारादत्तजी मिश्र को एक पेटी में बन्दकर दे गये थे एवं निर्देश दे गये, कि इसे उनकी मृत्यु के पश्चात् ही खोला जाय । जैसा उन्होंने निर्देश किया था उनके लीलाप्रवेश के पश्चात् वह पेटी खोली गयी और उन पत्रों को यथामति सम्पादित कर श्रीचन्द्रकान्तजी फोगला, पू० पोद्दारमहाराज के दौहित्र ने गीतावाटिका से 'अन्तर्वेदना' नाम देकर पुस्तकाकार प्रकाशित कर दिया है। जो जिज्ञासुभक्त उसे प्राप्त करना चाहें, वहाँ से प्राप्त कर सकते हैं।

यहाँ उनके एक पत्र को उद्धृत किया जा रहा है।

४ ।१ ।३४

करुणामय,

किन भावों को लेकर तुम्हारी अर्चना करूँ। अशांत हृदय में भाव कहाँ ? बहा दो शांति की धारा मेरे हृदय में। दुःख से कातर हृदय में शांति का संचार कर दो।

करुणानिधि,

डूब रहा हूँ। किनारा नहीं देख पड़ता। भगवन् ! तृष्णा के अगम अगाध अर्णव में पड़कर लहरों के थपेड़ों का सामना कर रहा हूँ। कितनी देर कर सकूँगा ? भगवन् ! दया करो मेरी हीनावस्था पर। प्रणतपाल ! अपनी करुणा की कोर को ही नाव बना दो। और विभो, खेदो किनारे तक। तुम्हारे सिवा मेरा और कोई नहीं है।

अज्ञान के अंधकर में पड़ा हूँ। तुम्हारी ज्योति का संचय मैंने आज तक किया नहीं, पर अधम उधारण, अंत में कातर होकर आया हूँ, तुम्हारी शरण में। ले लो मुझे चरणों में।

चक्रधर

पू० गुरुदेव के उन दिनों के भाव जिस प्रकार उन्होने यदा-क़दा हम लोगों के सम्मुख व्यक्त किये, उन्हें यथास्मृति प्रामाणिकतापूर्वक देने का प्रयास किया जा रहा है। ये भाव प्रथमपुरुष के रूप में ही दिये जा रहे हैं :-

"मेरी जीवन-समस्या की तो एक ही मीमांसा है - वह है ईश्वर-प्राप्ति । यदि इस जीवन में मैं ईश्वर की प्रत्यक्ष प्राप्ति कर सकूँगा तभी मेरा जीवन अमृत होगा अन्यथा तो वह मात्र एक बोझा है, भार है । किसी भी बात की सत्यता उसकी प्रत्यक्ष उपलब्धि पर ही प्रतिष्ठित है । बिना ईश्वर का प्रत्यक्ष अनुभव किये उसे सत्य कैसे माना जा सकता है । जब तक मेरे स्वयं का वैसा अनुभव नहीं हो, ईश्वर के संबंध में मेरा विश्वास पर्वत के समान दृढ़ कैसे हो पावेगा ।"

"क्या ईश्वर को मैं देख सकता हूँ ? जो भी परम सत्य है, उसका स्वरूप कुछ भी हो, मुझे उसकी प्रत्यक्ष उपलब्धि इसी जीवन में अवश्यमेव करनी है । संसार जितना प्रत्यक्ष प्रतीत होता है, उससे कहीं अधिक प्रत्यक्ष मुझें परमात्मा को करना है । जो-जो विकार मुझे इस सत्य से दूर हटाते हैं, वे मेरे चित्त से आज ही इसी क्षण हट जाने चाहियें। यह कौन शैतान है जो मुझे बार-बार पशु के समान अज्ञानी बनाता है ।"

"यह शरीर मेरा जीवन हो ही नहीं सकता । जीवन तो नित्य है और शरीर, अनित्य । इस शरीर से सनकादि की विद्या भी मुझे मिल जाय फिर भी इसकी मृत्यु तो एक बरसाती फतिंगे की तरह होगी ही । राजाओं का राजा-सम्राट भी एक महानिर्धन की तरह ही मृत्यु को प्राप्त होता है । दुर्बल से दुर्बल जीव एवं स्वस्थ एवं बलबान पहलवान दोनों समान रूप से मृत्यु के ग्रास होंगे ही ।"

प०पू० गुरुदेव ने अपनी संपूर्ण जीवन-शक्ति इसी एक भगवत्प्राप्ति की भावना पर केन्द्रित कर दी । जब कभी भी उन्हें एकान्त मिलता, वे भगवान् से प्रार्थना करने लगते - "हे भगवन् ! जब तुमने कठिनतम परिस्थितियों सें मुझे उबारकर अपना अहैतुकी अपार सौहार्द प्रकट कर दिया तो तुम मुझे दीखते क्यों नहीं ? क्या इस विश्व में तुम्हारे स्वयं के अतिरिक्त कोई भी दूसरा हो सकता है जो मुझे प्रकाश दिखा सके ? हे परमात्मा ! तुम मेरे जीवन में अपने को प्रकट कर दो न ! हे जीवनाधार ! तुम बोलते क्यों नहीं?

तुम इस प्रकार अप्राप्य क्यों हो ? अन्य किसी से मुझे कुछ भी नहीं सीखना, तुम स्वयं ही आकर मुझे जो भी सिखाओगे, वही मुझे सीखना है ।"

"मुझे तो तुम स्वयं ही आकर कुछ सिखाओगे । क्या तुममें जीवत्व नहीं है ? तुम जीवनहीन हो ? तुम बोल नहीं सकते ? इस कलह-क्लेश एवं पक्ष-विपक्ष के संसार में मैं किसका अनुसरण एवं विश्वास करूँ ? यदि तुम दयालु हो, तो तुम तुम्हारे अबोध बच्चे से बोलते क्यो नहीं ? मैं तुम्हारे दर्शन करने को छटपटाता हुआ उत्सुकतापूर्वक तैयार हूँ ।" इस व्यथा में पू० गुरुदेव के रात-दिवस व्यतीत होने लगे । जब एक पूरा दिवस बीत जाता तो वे बिलखने लगते । "हे भगवान् ! आज का भी दिवस व्यर्थ हो गया; फिर भी मुझे आपका ज्ञान नहीं हुआ । इस क्षण-भंगुर छोटे से जीवन का एक अनमोल दिवस व्यतीत हो गया ।" इस वेदना के कारण वे अपना सिर जमीन पर रगड़ डालते । वे बार-बार प्रार्थना करते- "हे प्रभो ! आप शीघ्र प्रकट हो जाओ। मैं आपके लिये किस प्रकार कितना अधिक तड़प रहा हूँ । मुझे आपके सिवा और कुछ नहीं चाहिये ।" उन्हें यह भली प्रकार विदित था कि जब तक भगवान् के लिये जीव का सर्वस्व न्यौछावर नहीं होता, तब तक उनका दर्शन उसे नहीं हो पाता । जिस समय भी समग्र प्राणशक्ति से वे छटपटायेंगे बस उसी समय भगवान् अवश्य प्रकट हो जावेंगे ।

यहाँ उनकी अन्तर्वेदना का जो विवरण है, यह छपी हुई पुस्तक में उल्लिखित नहीं है । यह तो उन्होंने व्यक्तिगतरूप से, जो अपनी उन दिनों की मनोदशा का चित्र खींचा था, बह ही बहुत संक्षिप्त रूप में दिया गया है ।

उनकी पुस्तक जो छपी है उसके पाँच-सात प्रमुख अंश नीचे उद्धृत किये जा रहे हैं ।

यह पत्र दिनांक ११-१-१९३४ का है।

जीवनधन ! पुकार रहा हूँ ! कल भी पुकारूँगा । जब तक प्राण हैं, तब तक पुकारता रहूँगा । सर्वव्यापिन् तुम सुन रहे हो, तुम सुनोगे और मुझे कृतार्थ करोगे । प्राणहीन को सताने से तुम्हें कुछ नहीं मिलेगा । मंगलमय ! तुम्हारा विधान मंगलमय है, मैं तुम्हें किस तरह दोषी कह सकता हूँ । भूलना न प्यारे ।

तुम्हारा ही - चक्रधर

प्राणाधिक ! बहुत दूर नहीं हो । तुम सचमुच निकट हो, परन्तु मैं अधम अभी भी तुम्हें पा नहीं सकता । शरणागतपाल ! शरणागत की रक्षा करो । मंगलमय ! तुम्हारा विधान मंगलमय है, भूलना मत प्रियतम !

तुम्हारा ही - चक्रधर

इस प्रकार .उन दिनों पू० गुरुदेव का जीवन पूर्ण प्रार्थनामय हो रहा था।

गृहस्थ जीवन गत अशान्ति

पू० गुरुदेव अपने परिवार में सबसे छोटे भाई थे । उधर ऐसा प्रचलन था कि सबसे छोटी बहू पर ही सारे घर के कार्य भार का दायित्व हो । अत: अ० सौ माताजी रात्रि-दिवस गृहसेवा में निरत रहतीं । वे लगभग रात्रि के द्वितीय प्रहर में ही शयनगृह में आतीं। इधर पू० गुरुदेव भगवद्विरह में विषादग्रस्त रहते । पू० गुरुदेव उन दिनों अपनी चिन्ता के कारण बहुत कम सोते थे। संसारिकभोगों से सर्वथा उपरत तथा अपने पति को पागलवत् देखकर वे व्याकुल हो जाती थीं । पू० गुरुदेव के गार्हस्थभोगों से सर्वथा उपरत रहने का कारण जेठानियाँ उसकी सेवा एवं प्रेम में कमी ही मानतीं । वे ईर्ष्यावश उसे ताना मारती रहतीं । गृहस्थीकार्य के कोल्हू में दिनभर अविराम पिसती धर्मपत्नी जब अपने पति से दो मीठे बोल सुनने को भी तरस जाती, तो वह और भी दुखी हो जाती ।

पू० गुरुदेव अपनी धर्मपत्नी में जगन्माता का ही रूप देखते, उनके विकारग्रस्त होने का तो प्रश्न ही नहीं था । उनका मन दैवीविचारों में इतना तन्मय रहता था कि उसे मलिन निम्नांगों में रमण की रुचि ही भला कहाँ हो पाती ?

जेठानियों और पड़ोस की गाँव की स्त्रियाँ बिचारी भोली बालिका को जादू-टोना करने की क्रियायें बतातीं । वे व्रत रखतीं, उपवास करतीं, देवी देवताओं की मनौतियां करतीं । यदि किसी भी दिन गुरुदेव में थोड़ा सा भी प्रेम-भाव अथवा अनुकूलता देख लेतीं तो अपने अनुष्ठान व्रत को सफल मानकर प्रसन्न हो जातीं । जेठानियों के बहुत प्रयास के उपरांत तो कभी-कदास गुरुदेव भीतर शयनगृह में शयन करने जाते, अन्यथा तो वे प्राय: बाहर

बरामदे में ही सबके मध्य शयन करते थे । पू० गुरुदेव मात्र गिनती के दिन ही एकान्त में अपनी पत्नी के संग शयन किये होंगे । वह भी मात्र उसके प्रति अपना कर्तव्य समझ कर । इस गृहस्थसंग के फलस्वरूप माताजी का एक गर्भ तो श्रवित ही हो गया और एक मृत बालक हुआ । इससे भी पू० माताजी का मानसिक संतुलन बिगड़ गया।

बिचारी माता-पिता के लाड-प्यार में पली चौदह-पन्द्रह वर्ष की अबोध किशोरी-बालिका अपना दुःख-सुख भी किसके साथ बँटाती । यदि कभी पू० गुरुदेव उस बालिका से वार्ता भी करते तो ऊँचे-ऊँचे ज्ञान की ही बात करते। ऐसी बातें वह सुन तो लेती परन्तु इन बातों से उसका मन धैर्य तो रख नहीं पाता । उसे तो यही समझ में आता कि मेरा सांसारिक जीवन पूर्ण अंधकार भरा ही है ।

पू० गुरुदेव अपनी पत्नी को अपनी स्थिति समझाते - "जब मेरी यह धारणा दृढ़ और संशयहीन है कि इस माया-प्रसार के पीछे एक अविनाशी, अखण्ड, आनन्दमय परमात्मा है, वह इतना घनआनन्द है कि उसके सामने इन्द्रियसुख कुछ भी नहीं, तब उस परमात्मा को किनारे कर मैं गृहस्थकार्यों में कैसे उलझूँ ? जब परमात्मा अपार वैभवमय है तो उसको पाने का प्रयत्न करूँ अथवा खेत खलिहान में चित्त उलझा दूँ ? क्या मैं परमात्मा को प्राप्त करने का अपना प्रयत्न क्षणभर के लिये भी किसी मोह से, भय से, हानि की अपेक्षा से स्थगित कर सकता हूँ ? कदापि नहीं । मुझे तो क्षण भर भी उस दयामय आनन्दनिधि परमात्मा से दूर रहना असह्य है । उसको न पाने की असह्य छटपटाहटवश मैं पागल भले ही हो जाऊँ, परन्तु परमात्मा को पाये बिना मुझे विश्राम कहाँ ?" अब भला उनकी धर्मपत्नी की समस्याओं का इन बातों को सुनने से निदान कहाँ ? वह तो परिवार में होने वाली घटनाओं की अपने पति से निन्दा-स्तुतिपूर्ण व्याख्या करना चाहती थी, वह तो अन्तर से चाहती थी कि पति उसे आश्वस्त करे कि पढ़ाई समाप्त करते ही वह अग्रजों की तरह कहीं सरकारी नौकरी करेगा, अर्थोपार्जन करेगा और उसे अपने साथ रखेगा । वह सांसारिक स्वप्न देखती थी और गुरुदेव अखण्ड परमात्मगत शांति-आनन्द में डूब जाने के स्वप्न। अब भला दोनो में सामंजस्य कैसे संभव हो पाता ? जब उन्हें मात्र कठोर शासन, गृहकार्य का अथक श्रम, और परिवार के दूसरे सदस्यों से मात्र कटूक्तियों भरे ताने ही मिलते एवं पति की उपेक्षा और पूर्ण विरक्ति, तो वे कलहप्रिय हो गयीं । वे अपनी सास,

जेठानियों एवं अन्य गुरुजनों को- जो भी उस पर आक्षेप करता सेर का एँ ेरी उत्तर देतीं । इससे घर में कलह होने लगी । इस गृहकलह से पू० गुरुदेव और विरक्त हो गये । एक दिवस उन्होने सभी से स्पष्ट कर दिया कि कलह का यदि अंत नहीं हुआ तो वे सन्यासी हो जावेंगे । परन्तु संसार के लोग अपना स्वभाव ऐसी घुड़कियों से तो बदलते हैं नहीं । अभिमान का प्रदर्शन ही उनका मुख्य सुख होता है; अत: घर में कलह बढ़ती ही गयी । पू० गुरुदेव के चित्त में दृढ़मूल धारणा हो गयी कि इस दृश्य में उन्हें कहीं कभी भी न तो शांति मिलेगी, न ही कल्याण ।

सन्यास की पूर्व भूमिका

सन् १९३१ ई० में जब दूसरी बार पू० गुरुदेव जेल से बाहर आये तो उनके अग्रज भ्राता उन्हें कलकत्ता ले गये । वहाँ उनका नाम सोहरावर्दी बेगम मेमोरियल स्कूल की नवीं कक्षा में लिखा दिया गया । सन् १९३४ ई० में पू० गुरुदेव ने मेट्रिक परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की । इसके पश्चात् उन्हें रिपन कॉलेज (सुरेन्द्र नाथ महाविद्यालय) की इन्टरमीडियेट (कला) में भरती कराया गया ।

कलकत्ता आने के पूर्व राजनैतिक एवं सामाजिक कार्य करते समय कार्यकर्ताओं के मध्य स्पर्धा,वैमनस्य,आपाधापी,स्वार्थसिद्धि एवं आत्मश्लाघा आदि देखकर पू० गुरुदेव को घोर निराशा मिली थी । कलकत्ता आने के पश्चात् आत्मीय कहलाने वाले स्वजनों के मध्य भी वही सब बातें मिलीं । स्वजन-वर्ग से उन्हें प्रवंचना और प्रतिकूलता अधिक मिली । उन्होने जिन-जिन व्यक्तियों को अपना निकट से निकट माना उन अभिन्नहृदय व्यक्तियों ने भी उनके विश्वास को आघात ही पहुँचाया । पू० गुरुदेव केवल अपने अग्रज बन्धु श्रीदेवीदत्तजी एवं श्रीतारादत्तजी मिश्र तथा दो अन्य जनों के अतिरिक्त सभी से बहुत ही निराश थे । लोगों से मिलने वाली प्रवंचना एवं प्रतिकूलता ने उनके मन को विरक्ति के भावों से भर दिया । यह विरक्ति भावना दिन-प्रतिदिन अधिकाधिक बढ़ती ही चली गयी ।

इधर एक घटना और हुई जिससे उनका हृदय काँप उठा । हाय ! इतना घोर अध:पतन ! ऐसा कठिन कलिकाल ! अपने चारों ओर स्वार्थ परायणता और अनैतिकता की घोर आँधी देखकर पू० गुरुदेव का मन सर्वथा

विरक्त हो गया । एक विधवा स्त्री ने पर-पुरुष की इच्छा को पूर्ण करने के लिये अपने वयस्क पुत्र को विष दे दिया । वह पर पुरुष पहले तो उस विधवा स्त्री से विष दिलाने का आग्रह कर बैठा, फिर उसकी अन्तरात्मा जब उसे बहुत धिक्कारने लगी तो वह यह रहस्य उस बच्चे के सम्मुख खोल बैठा । परन्तु बच्चे ने उसे यही उत्तर दिया कि यदि मेरी जन्मदात्री माता ही मुझे अपने मार्ग में कंटक समझ कर मारना चाहती है, तो फिर मेरे जीवन से ही क्या लाभ ? उसने सहर्ष माँ का दिया विष स्वीकार कर लिया । पू० गुरुदेव को इस घटना से अत्यधिक दु:ख हुआ । वे विचार करने लगे "हाय ! इतना घोर अध:पतन, ऐसा कठिन कलिकाल ! अपने चारों ओर स्वार्थपरायणता और अनैतिकता की प्रबलता को देखकर पू० गुरुदेव का मन जगत् से उचट गया ।

जगत् के इन कटु-प्रसंगों ने ऐसी पृष्ठभूमिका निर्माण कर दिया, जहाँ पू० गुरुदेव के पूर्वजन्म की संचित साधना स्वत: प्रस्फुटित हो उठी । भीतर तो अंगारे की अग्नि धधक रही ही थी मात्र ऊपर ही थोड़ी सी राख आ गयी थी, उस राख को इस प्रतिकूलता की वायु ने उड़ा दिया, अंगार चमक उठा। पू० गुरुदेव अपने हृदय के भावों को लिखकर प्रतिदिन रात्रि को भगवान् को अर्पण किया करते थे । इसके पीछे उनका यही भाव रहता था कि -

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ।।
।। गीता ९/१/२७ ।।

पू० गुरुदेव का पत्रलेखन का कार्य लगभग अढ़ाई वर्ष तक निरन्तर चलता रहा। एक बार ध्यान करके जब पू० गुरुदेव ने पत्र अर्पित किया तो बहुत ही मधुर स्वर में उन्हें अन्तर में गूँजती ध्वनि सुनाई पडी - "तुम सन्यास ले लो । तुम्हारे संपूर्ण दु:खों एवं अशांति का सदा के लिये नितान्त अभाव हो जायेगा ।" यह वाणी लौकिक नहीं थी । उन्होने सन्यास लेने का निश्चय कर लिया ।

पू० गुरुदेव के ताऊ के पुत्र, बड़े भाई थे श्रीदेवदत्तजी मिश्र । ये बहुत ही उदारमना, साधु-पुरुष तथा संस्कृत के उद्भट विद्वान थे । इनके संरक्षण में पू० गुरुदेव ने छहों दर्शन का अध्ययन किया । उपनिषदों के शांकरभाष्य तथा ब्रह्मसूत्र भी इन्हीं के सान्निघ्य में पू० गुरुदेव ने पढ़े थे । पू० गुरुदेव

प्राय: गीतोपनिषद् भाष्य का स्वाध्याय करते रहते थे । वे सदा अपने विचारों में ही निमग्न रहते । उनकी मननशीलता बढ़ गयी थी । उनके आचार-विचार, व्यवहार में परिवर्तन आ गया । कभी-कभी श्रीतारादत्तजी मिश्र उनसे इस प्रकार गंभीर रहने का कारण भी पूछते, तो पू० गुरुदेव मात्र मुसका देते , वे अपने मन की असली उथल-पुथल किसी के भी सामने व्यक्त नहीं करते थे ।

श्रीदेवदत्तजी घर में सभी की सुख-सुविधा का ध्यान रखते थे । वे पू० गुरुदेव पर अतिशय वात्सल्य भी रखते थे । वे ही सम्मिलित घर के सभी बालकों की शिक्षा-दीक्षा का प्रबंध करते, आय के साधनों को जुटाते, परिवार में उत्पन्न किसी भी गतिरोध, कलह को सुलझाते एवं विवाह-शादी सभी व्यवहारों का निर्वाह करते थे। पू० गुरुदेव ने सर्वप्रथम सूचना इन्हीं को दी - "भैया ! प्रभु की इच्छा से मैं गृहस्थ जीवन का, संसार का परित्याग करके सन्यास लेने का विचार कर रहा हूँ।"

श्रीदेवीदत्तजी से यह सूचना सहोदर बड़े भाई श्रीतारादत्तजी ने भी सुनी। सन्यास की सूचना भाइयों के लिये वज्रपात ही थी ! दोनों भाई अवाक् हो गये। कुछ देर तक तीनों परस्पर एक दूसरे को देखते हुए चुप थे । अन्तत: श्रीदेवीदत्तजी ने मौन तोड़ा ।

वे कहने लगे - "चक्रधर ! यह तुम क्या पागल की तरह प्रलाप कर रहे हो ? क्या ऐसा सोचना और कहना उचित है ? चित्त को शान्त और स्थिर करो । अभी तुम निरे अबोध बालक हो । तुम्हारी अवस्था सन्यास-धर्म के योग्य नहीं है ।" परन्तु दोनो भाई यह भी अच्छी तरह जानते थे कि चक्रधर यदि एक बार निर्णय कर लेता है तो वह लोहे की लकीर ही होती है । पू० गुरुदेव ने यही उत्तर दिया कि उनका यह अन्तिम निर्णय है ।

पू० गुरुदेव की बात सुनकर भाइयों के हृदय आशंका से भर गये । उन लोगों को ज्ञात था कि चक्रधर कभी अनर्गल बात अपने मुँह से नहीं निकालता है और जो वह कहता है, उसे करके ही रहता है । छोटे भाई चक्रधर के निर्णय की जानकारी होते ही बड़े भाई सोचने लगे कि इस समय इसकी आयु मात्र २२ वर्ष है । ऐसी कच्ची आयु में इसका सन्यास-व्रत कैसे निभ पायेगा ? इसको कैसे समझाया जाये कि मन की वासनाओं का वेग कितना विकट हुआ करता है ? गाँव में घर पर इसकी पत्नी है, माताजी हैं, पिताजी हैं । इस समाचार से उन सभी पर क्या बीतेगी ? अभी तो इसने

अपनी पढाई भी पूरी नहीं की है । सन्यास का निर्णय लेकर चक्रधर ने तो बड़ा ही अविवेकपूर्ण कार्य किया है ।

चचेरे बड़े भाई श्रीदेवदत्तजी ने पुनः बड़े प्यार से समझाते हुए पू० गुरुदेव से कहा - "तुम्हारे लिये सन्यास-धर्म कठिन पड़ेगा । संसार के भोगों की क्षणभंगुरता एवं निरर्थकता का सच्चा अनुभव एक भुक्त भोगी को ही हो पाता है । जिसे ऐसा अनुभव नहीं हो पाता, उसका वैराग्य क्षणिक हुआ करता है । जिसने आवेश में आकर सन्यास ले लिया है, वह भविष्य में काम-क्रोधादि विकारों के वशीभूत होकर यदि अपने पथ से च्युत होता है तो ऐसे पथभ्रष्ट सन्यासी के धर्म और परमार्थ तो सिद्ध होते ही नहीं, उसका लोक भी बिगड़ जाता है। इसीलिये ऋषियों ने यह मर्यादा निर्धारित की है कि मनुष्य को तीन आश्रमों के सोपानों को पार करने के पश्चात् ही सन्यास स्वीकार करना चाहिए । इतना ही नहीं, महज्जनों का यह भी कथन है कि घर पर माता-पिता के जीवित रहते युवक पुत्रको सन्यास नहीं लेना चाहिए।"

सभी ने बहुत प्रयास किये कि पू० गुरुदेव सन्यास के विचार का परित्याग कर दें, किन्तु सभी के सारे प्रयास व्यर्थ गये । पू० गुरुदेव का निश्चय अडिग था । स्वजन, स्नेहियों अथवा मित्रों की ओर से जब-जब ममत्व, भय, प्रलोभन, दबाव अथवा सुझाव के रूप में जो-जो भावलहरियाँ आती थीं, पू० गुरुदेव के लोहे के लट्ठ जैसे निर्णय से टकराकर बिखर जाती थीं ।

बड़े भाई तारादत्त जी ने देखा कि पू० गुरुदेव अपने निश्चय पर अटल हैं तो उन्होने घर पर पू० माताजी-पिताजी को उनके सन्यास लेने की सूचना भेज दी । गांव के लोग इस समाचार से व्यथित होने स्वाभाविक ही थे । सूचना मिलने पर माता-पिता कलकत्ता आने को तैयार हो गये । माता-पिता कलकत्ता आने वाले हैं, यह जानकारी होते ही पू० गुरुदेव ने उन्हे आने से मना करवा दिया ।

पू० गुरुदेव का इतना ही कहना था कि यदि आप लोग बाधा देंगे तो फिर मैं बिना सूचना दिये लापता हो जाऊँगा, अन्यथा मुझसे सम्बन्धित सभी जानकारियाँ आप लोगों को समय-समय पर मिलती रहेंगीं ।

श्रीतारादत्तजी ने 'आध तजहिं बुध सरबस जाता' की नीति का अनुसरण करते हुए माता-पिता को कलकत्ते न आने के लिये गाँव पर लिख दिया । पत्र मिलने पर माता-पिता को अपना हृदय वज्र की तरह कठोर बनाना पड़ा।

उनके हृदय की सारी कोमलता कराह रही थी, परन्तु वे निरुपाय थे । विवश होकर उन्होने कलकत्ते जाने का विचार स्थगित कर दिया ।

सन्यास ग्रहण

वैराग्य में कितना आनन्द है, इसे वही पुरुष जान सकता है, जिसके हृदय में प्रभु के पादपद्मों में प्रीति की सच्ची इच्छा उत्पन्न हो गयी हो । जिसे संसारी विषयभोग काटने के लिये दौड़ते हों, वही वैराग्य में महान् सुख का अनुभव कर सकता है । जिसकी इन्द्रियां सदा विषय-भोगों की ही इच्छा करती रहतीं हो, जिसका मन सदा संसारी पदार्थो का ही चिन्तन करता रहता हो, वह भला वैराग्य के सुख को समझ ही कैसे सकता है ?

श्री मद्भागवत में कहा गया है -

देहेऽस्थिमांसरुधिरेऽभिमति त्यजत्वं
जायात्सुतादिषु सदा ममतां विमुंच ।
पश्यानिशं जगदिदं क्षणभंगनिष्ठं
वैराग्यरागरसिको भव भक्तिनिष्ठः ।।

"अस्थि, मांस और रुधिर आदि पदार्थों से बने हुए इस शरीर के प्रति अहंता त्याग दें, स्त्री-पुत्र तथा कुटुम्ब-परिवारवालों में ममता नहीं रखें, इस क्षण-भंगुर संसार की वास्तविक स्थिति को समझते हुए वैराग्य से प्रेम करने वाले बनकर सदा भक्ति-निष्ठ हुए जीवन बितावें ।"

उस दिवस शारदीय पूर्णिमा थी । यह ही वह भाग्यवान् दिवस था जब पू० गुरुदेव ने सन्यास दीक्षा ली थी ।

सन्यास का अर्थ है - अग्निस्वरूप जीवन । पिछले जीवन का सब कुछ ज्ञानाग्नि में जलाकर स्वयं अग्निस्वरूप हो जाना - यही इस महान् व्रत का आदर्श है । संसार की सर्वथा उपेक्षा करके जीवमात्र में मैत्रीभाव रखे । संपूर्ण संसारी सम्बन्धों एवं परिग्रहों का परित्याग करके भगवन्निष्ठ हुआ वैराग्य-राग-रसिक होवे । सत्वगुणस्वरूप स्वच्छ वस्त्रों को भी परित्याग कर तीनों गुणों से ऊपर उठ त्रिगुणातीत हुआ एक मात्र परमात्मा में सदा स्थिर

रहे । 'नारायण' के अतिरिक्त किसी अन्य को देखे ही नहीं । सन्यासी का कौन सा नाम ? वह तो नाम-रूप से रहित हो जाता है ।

पू० गुरुदेव ने सन्यास दीक्षा लेने के लिये अपने अग्रज भ्राताओं को राजी कर ही लिया था । जिस प्रकार नवागत वधू से मिलने के लिये अनुरागी युवक बेचैनी के साथ रात्रि होने की प्रतीक्षा करता है, उसी प्रकार पू० गुरुदेव सन्यासधर्म में दीक्षित होने के लिये चतुर्दशी-तिथि की रात्रि के अन्त होने की प्रतीक्षा करते रहे ।

उस रात्रि में पू० गुरुदेव को निद्रा सर्वथा नहीं आयी । ध्यान एवं ब्रह्मविचार में ही उन्होने रात्रि गुजार दी ! इतने में ही पक्षियों ने अपने कोमल कण्ठों से भांति-भांति के स्वरों में गायन आरम्भ कर दिया । अरुणोदय से पूर्व ही नित्यकर्म से निवृत्त हो पू० गुरुदेव भगवती गंगा के तट पर सन्यास ग्रहण करने की प्रक्रिया को सम्पन्न करने के लिये चले गये । पू० गुरुदेव ने जो सन्यास दीक्षा ली, उसके साक्षी भगवान् शंकर थे । प्रातः सूर्योदय के पश्चात् पू० गुरुदेव अपने अग्रजों के पास उनके वास-स्थान में लौट आये । केश-मुंडन के लिये वहीं नापित को बुलाया गया । उससे केश-मुंडन को कहा गया । पहले तो उस नापित ने आना-कानी की परन्तु जब उसे दृढ स्वरूप में कहा गया तो उसे केश-मुंडन करना ही पडा । दोनों अग्रज वहीं खड़े-खड़े अपने पुत्र-समान अनुज का शीश-मुंडन देख रहे थे । वे बलपूर्वक अपने अश्रुओं को रोके थे । उनके अन्तर में व्यथा की सीमा नहीं थी । केशों का मुंडन होते ही पू० गुरुदेव ध्यानस्थ हो गये । अभी स्नान शेष था, परन्तु बाह्यसुधि होने पर ही तो वह संभव हो पाता । बड़े भाइयों के मन की दशा विचित्र थी । छोटा भाई अब सन्यासी बनने जा रहा है, यह सोचकर विकलता कम नहीं थी, परन्तु ध्यान की गहरी स्थिति देखकर विस्मयान्विति एवं सुखानुभूति भी कम नहीं थी । सुखानुभूति चाहे जितनी हो, विकलता का वेग बड़ा प्रबल था ।

थोड़ी देर बाद पू० गुरुदेव को बाह्यज्ञान हुआ । यज्ञोपवीत सूत्र का परित्याग तो सन्यास की प्रक्रिया के समय ही हो गया था, शीश-मुंडन के समय शिखा-सूत्र से रहित देखकर बड़े भाइयों के अनुराग भरे नेत्र बार-बार आर्द्र हो रहे थे । इसके बाद पू० गुरुदेव ने स्नान किया । बड़े भाई ने अपने हाथ से गैरिक वस्त्र दिये । पू० गुरुदेव के कहने पर बड़े भाई ही दो-तीन दिन पहले बाजार से वस्त्र ले आये थे । इन वस्त्रों को एक दिन पहले स्वयं पू०

गुरूदेव ने अपने हाथों से गैरिक रंग में रँगे थे । जब बड़े भाई द्वारा प्रदत्त गैरिक वस्त्र पू० गुरुदेव धारण कर रहे थे, उस समय बड़े भाई, चचेरे भाई तथा अन्य उपस्थित जनों का हृदय फटा जा रहा था । उनके नेत्र विकल हो रहे थे और स्वर रुद्ध था, सभी विवश थे और इस करुण दृश्य के मूक दर्शक बने हुए थे। सन्यास लेने के बाद पू० गुरुदेव का नाम हुआ 'मधुसूदनानन्द', किन्तु यह नाम प्रचलित नहीं हो पाया । लोग उन्हें स्वामी श्रीचक्रधर महाराज ही कहते रहे और भविष्य में वे श्रीराधाबाबा के नाम से विख्यात हुए ।

सन्यास लेते ही पू० गुरुदेव ने एक बड़ा ही कठोर व्रत यह ले लिया कि अब जीवन में स्त्री-स्पर्श व द्रव्य-स्पर्श होगा ही नहीं । अवश्य, जन्म-दात्री माँ इसका अपवाद रहीं ।

सन्यासधर्म के अनुसार सन्यासी को एक बार अपने माता-पिता के पास जाना चाहिए अतः सन्यास लेने के बाद वे अपने गाँव गये ।

माता-पिता को सन्यासी पुत्र के दर्शन

यस्यास्ति वैष्णवः पुत्रः पुत्रिणी साभिधीयते ।
अवैष्णवपुत्रशता जननी शूकरीसमा ।।

"जिसका पुत्र भगवद्भक्त है, असल में वही माता पुत्रिणी कहलाने योग्य है । अवैष्णव विषयी सैकडों पुत्रों को जनने वाली माता क्यों न हों, वह तो शूकरी के समान है ।"

उन श्रीमिश्र-दंपत्ति के सौभाग्य की सराहना करने की सामर्थ्य भला किस पुरुष में हो सकती है, जिसके गर्भ से संसार-त्यागी, विरागी, सन्यासी महापुरुष उत्पन्न हुआ । जगन्माता अधिकारीदेवी की कोख ही मातृ-कोख कही जा सकती है । माताओं की इस संसार में कुछ कमी नहीं है, उनका गाँव से गाँव में भी कोई नाम नहीं जानता परन्तु पू० गुरुदेव को जन्म देकर श्रीमती अधिकारीदेवी जगज्जननी बन गयीं एवं श्रीमहीपाल मिश्र जगत्पिता ।

जिसकी वृद्धावस्था का सहारा, प्राणों से भी अधिक प्यारा, सबसे छोटा पुत्र घर में सन्तानहीन युवती स्त्री को सदा के लिये छोड़कर सन्यासी हो गया हो, उस माता का हृदय फटे बिना कैसे रह सकता है ?

मातृस्नेह बहुत ही अद्भुत होता है । मदालसा आदि तो अपवाद हैं । देवकी, यशोदा, कौशल्या, देवहूति आदि सभी अवतार-जननी माताओं को भी पुत्र-वियोग से बिलखना पड़ा है । इन सभी ने अपने करुण क्रन्दन से स्वाभाविक और सहज मातृस्नेह का परिचय देते हुए अपने सर्वसमर्थ अवतारी पुत्रों के लिये आँसू बहाये थे।

"घायल की गति घायल जाने, और न जाने कोय" पू० गुरुदेव के माता-पिता तो उसी समय फखरपुर ग्राम से कलकत्ता जाने को प्रस्तुत थे, जब उन्हें पुत्र के सन्यासी होने की सूचना मिली थी । माता अधिकारी ने न केवल नौ मास चक्रधर को गर्भ में ही रखा था, उसे नौ वर्षों तक अपने स्तनों का दूध भी पिलाया था । अपने पुत्र के सद्गुण देख-देखकर वह सदा गर्ववती होती थी । परिवार अथवा ग्राम के लोग जब उसके पुत्र की सराहना करते थे तो वह आनन्द सिन्धु में डूब जाया करती थी । परन्तु अब वही अपार सुख-सिन्धु, बन गया वेदना का अथाह सागर । माँ के चार पुत्र थे, परन्तु किसी के भी पुत्र सन्तान नहीं थी । माँ को नितान्त खिन्नता थी वंश-परम्परा की समाप्ति देखकर । वंश-वेलि के विस्तार की आशा माता-पिता ने चक्रधर पर ही टिका रखी थी, पर अब तो उस आशा का आधार ही समाप्त हो गया । इससे तो कुलोच्छेदन ही हो बैठा । हाय चक्रधर ! तू यह क्या कर बैठा रे । ऐसी ही महाव्यथापूर्ण दशा थी पिता की। माँ तो आँसू बहाकर अपना दुःख प्रकट कर लेती थी, पिता तो बाह्य आँसू भी नहीं टपका पाते थे ।

माता-पिता को सबसे अधिक कष्ट दे रही थी, पुत्रवधू की चिन्ता । वह तो अभी निरी अबोध ग्रामीण बालिका ही थी। यौवन की देहरी पर अभी उसके चरण पड़े ही नहीं थे और अब उसे असमय में ही विरक्ति एवं विवेक की, तप और त्याग की शिक्षा देनी पड़ेगी ? हाय विधाता ! तूने यह क्या कर दिया ? न जाने कैसे उस हटीले का सन्यास-धर्म निभ पायेगा और न जाने कैसे इस सरला की लम्बी आयु कट पायेगी ? माँ का हृदय व्यथा से इतना व्यथित था कि दुःख के तीव्रावेग में उसका पूजा-पाठ ही छूट गया ।

और सबसे अधिक करुण स्थिति थी फखरपुर ग्राम की उस तपस्विनी की, जिसे अनुराग के आरम्भ में ही वैराग्य अंगीकार करना पड़ा । पति ने जब सन्यास ले लिया तो अब श्रृंगार से, सुवास से, स्वाद से क्या प्रयोजन रह गया? यशोधरा और विष्णुप्रिया के दर्दभरे अश्रु एक बार फखरपुर ग्राम में अवतरित

हो उठे । रोने और रुलाने के लिये । उस तपस्विनी के जीवन में अब यशोधरा और विष्णुप्रिया की अश्रु-गाथा ही तो रह गयी थी। पहले वह मन-ही-मन अपने सुहाग के गीत गाया करती थी । जिसका पति सुन्दर हो, स्वस्थ हो, सुशील हो, सुकण्ठ हो, सुविज्ञ हो, वह अपने सिन्दूर के गीत क्यों नहीं गाये ? उसकी मान्यता थी कि न जाने कितने जन्मों के संचित पुण्यों की राशि एक साथ उदित हो उठी थी, जो ऐसे पति की जीवनसंगिनी बनने का सौभाग्य मिला । उसका सौभाग्य अवश्य ही अन्यों के लिये प्रशंसनीय बन गया था । पर अब ? उसकी स्थिति थी । 'जथा पंख बिनु खग अति दीना ।' अब वह पंख कटे पक्षी की भाँति स्वयं को अति असहाय अनुभव कर रही थी । जो कल तक उसके सौभाग्य की सराहना करती थीं, अब वे सहानुभूति प्रदर्शित कर रही थीं उसे सान्त्वना देने का प्रयास करती थीं । कोई कितना ही कहे और समझाये, अब आँसुओं की धारा ही उसके एकान्त की सहेली थी; ऐसा लगता था मानो नवद्वीप की उस विष्णुप्रिया का रुदन ही इस तपस्विनी के प्रकोष्ठ में उतर आया हो । रुदन का सागर केवल उतर ही नहीं आया था, वह रह-रह कर के उभर रहा था, उमड़ रहा था ।

क्या माँ, क्या पिता, क्या वह तपस्विनी और क्या अन्य जन, सभी लोग पू० गुरुदेव के दर्शन के लिय तरस रहे थे और पू० गुरुदेव अपने ग्राम आये। जिस समय वे अपने ग्राम फखरपुर पहुँचे, उस समय थोड़ी रात बीत चुकी थी। वे माता-पिता के दर्शनों के लिये मकान के भीतर गये और जाकर आँगन में खड़े हो गये । उनके आने का समाचार सुनते ही माँ दौड़ी हुई आई और अपने युवक सन्यासी पुत्र को हृदय से लगाकर रोने लगी । अपनी अजस्र अश्रुधारा से वह उनके गेरुवे कपड़ों को भिगो रही थी । सन्यासी पुत्र और विह्वला माता के भावार्द्र मिलन का वह दृश्य कैसा था, इसका वर्णन कौन कर सकता है ?

अति अनुराग अम्ब उर लाये । नयन स्नेह सलिलन अन्हवाए ।
तेहि अवसर कर हरष विषादू । किमि कवि कहे मूक जिमि स्वादू ।।

माँ का रुदन कम हो ही नहीं रहा था । पू० गुरुदेव ने अपने वचनामृत से माँ को शान्त करने की चेष्टा की, पर वह रुदन तो उत्तरोत्तर बढ़ता ही जा रहा था । बहुत सान्त्वना देने पर रुदन तो थोड़ा कम हो गया, परन्तु

हिचकियाँ एवं सिसकियाँ पूर्ववत् थीं । माँ कुछ बोलना चाह रही थी, पर बोल नहीं पा रही थी । रह-रह करके अपने सन्यासी-पुत्र के सिर पर हाथ फेर रही थी । हाथ कभी सिर पर और कभी पीठ पर फिरता ही रहा । माँ ने बोलने की चेष्टा की, पर फिर वाणी अवरुद्ध हो गयी । रुक-रुक करके माँ कहने लगी - "बेटा ! तुमने यह क्या किया ? तुम्हारा यह वेष ? क्या सचमुच तुमने मुझको छोड़ दिया ?"

इतना कहते-कहते फिर रुदन का प्रवाह बह पड़ा, नहीं-नहीं फट पड़ा। अपनी माँ के चरणों में सिर रखकर पू० गुरुदेव ने सान्त्वना दी और बोले - 'माँ तुम इतना अधीर, इतना विकल क्यों हो रही हो ? तुम घबड़ाओ नहीं । मैं तो तुम्हारा बेटा था, अभी भी ज्यों-का-त्यों हूँ। सन्यासी का बाना लेने से मैं तुम्हारे लिये बदल गया क्या ? सर्वथा नहीं । मैं तो सदा तुम्हारा ऋणी था, हूँ और रहूँगा । तुम्हारे ऋण से मुक्त होना मेरे लिये संभव नहीं । मैं तुम्हारे लिये वही हूँ, जो पहले था । तुम मेरे लिये तनिक भी चिन्ता मत करो। तुम विश्वास करो, मुझे किसी प्रकार का भी कष्ट नहीं होगा । मैं वचन देता हूँ कि मैं जहाँ भी रहूँगा, तुम्हें पता रहेगा और तुम्हारी मृत्यु के समय मैं तुम्हारे पास रहूँगा । तुम मुझे आशीर्वाद दो कि जिस महान् उद्देश्य के लिये मैंने यह वेष लिया है, वह सफल हो ।"

इस प्रकार पू० गुरुदेव बहुत देर तक माँ को सान्त्वना देते रहे, धीरज बँधाते रहे । पुत्र के आने का समाचार सुनकर पिताजी के धैर्य का बाँध भी टूट गया था और वे अपने कमरे में बैठे-बैठे अश्रु-मोचन कर रहे थे । उनका रुदन सुनकर पू० गुरुदेव तुरन्त पिताजी के पास गये और उनके चरणों में मस्तक रखकर प्रणाम किया । पिताजी के नेत्रों की दृष्टि क्षीण हो गई थी । उन्होंने अपने सन्यासी-पुत्र को उठाकर गले से लगा लिया और माँ की भाँति सिसकते हुए बोलने लगे - "बेटा ! तुमने यह क्या किया ? अपने बूढे पिता को क्यों छोड़ दिया ? प्रभु ने तुम-जैसा सुयोग्य पुत्र मुझको दिया । तुमको देख-देखकर मुझे विचित्र सुख का अनुभव हुआ करता था । तुम्हारे बारे में मैंने न जाने क्या-क्या सोच रखा था, पर आज वह सब सदा के लिये अंधेरे में छिप गया । तुमने सन्यास क्या लिया, मेरा सहारा छूट गया, टूट गया ।"

पू० गुरुदेव ने पिताजी को सान्त्वना दी - "आप इतने कातर क्यों हो रहे हैं, क्या मैं आपका पुत्र नहीं रहा ? मैं कहीं भी रहूँ, आपका पुत्र ही

कहलाऊँगा और मेरी सफलता आपके सुयश को ही बढ़ायेगी । आपके वात्सल्य ने ही मुझे पाल-पोसकर इतना बड़ा किया है और आपका आशीर्वाद ही सारे विघ्नों का निवारण करके मुझे सफलता प्रदान करेगा । आप आशीर्वाद दें, जिससे उस महान् उद्देश्य की सिद्धि हो ।"

पिताजी को सान्त्वना देकर पू० गुरुदेव पुन: मकान के आँगन में आ गये और आ गया ध्यान उन्हें उस तपस्विनी का भी । वह तो दूसरे कमरे में बैठी अपने अश्रुओं से आँचल को भिगो रही थी । वह दुखिया अब केवल अश्रुओं से ही अपने कपोलों को, अपने आँचल को भिगो सकती थी । व्यथा के अभिव्यक्त हो जाने का एक मात्र यही माध्यम रह गया था । अधरों से बोलकर कुछ व्यक्त करने का अधिकार अब उसके पास कहाँ रहा ? माता और पिता ने बोलकर अपने दुखोद्गार सन्यासी-पुत्र के सामने व्यक्त कर दिये, भले वह अभिव्यक्ति रुद्ध वाणी में हुई हो, परन्तु उन दुखाद्गारों की येनकेन-प्रकारेण अभिव्यक्ति तो हो ही गयी । माता-पिता को कुछ कहने का अवसर मिल गया था । परन्तु नियति की वक्रताने उससे तो भावों की अभिव्यक्ति का भी सारा अधिकार छीन लिया था ।

इस तपस्विनी के भाग्य की काली रेखायें बड़ी ही क्रूर थीं । पहले जो अपने जीवन धन के समक्ष मन का सबकुछ रख सकती थी, कह सकती थी, अब उसी के अधर सर्वथा विजड़ित हो चुके थे । वाम विधाता ने दृश्य ऐसा परिवर्तित कर दिया कि संभाषण तो दूर रहा, वह अब सामने भी नहीं आ सकती थी । आँगन में खड़े-खड़े पू० गुरुदेव ने उस तपस्विनी के लिये सन्देश कहलाया - "अब उनके साथ भाई-बहिन का ही संबंध रहेगा । पूर्वाश्रम की बात बदल गयी । रात बीत गयी; अरुणोदय की नवीन बेला में संबंध के नवीन स्वरूप को सहर्ष स्वीकार कर लेना चाहिए । यदि उन्हें वांछित हो तो उनके पढ़ने-लिखने की व्यवस्था किसी के द्वारा करवायी जा सकती है, जिससे भविष्य में जीवन भारस्वरूप न अपने लिये रहे और न दूसरों को लगे ।"

उस तपस्विनी ने सन्देश सुन लिया । जब सन्यास का समाचार मिला था, तब भी वह मौन थी, सन्यासी-वेष में देखकर भी वह मौन ही रही और सन्देश को सुन लेने के पश्चात् भी उसे मौन ही रहना था । उसके दोनों अधर ऐसे मूक हुए कि फिर खुले ही नहीं । श्रीमैथिलिशरण गुप्त के शब्दों में -

हा ! स्वामी !! कहना था कितना, कह न सकी, कर्मों का दोष ।
पर जिसमें सन्तोष तुम्हें है, मुझे उसी में है सन्तोष ।।

उस तपस्विनी के मन में बार-बार ये ही भाव उठ रहे थे - "आपके पावन चरणों की सतत स्मृति ही मेरे जीवन का आधार है । और उन युगलचरणों पर सतत अश्रु-अर्पण ही मेरे अर्चन का स्वरूप है ।"

पू० गुरुदेव थोड़ी देर बाद आँगन से घर के बाहर आ गये । वे ग्राम में दो तीन दिवस रहे, परन्तु गृह में नहीं ठहरे । गृह के बाहर ही उनका निवास रहा । पू० गुरुदेव जितने दिवस ग्राम में रहे उनकी पू० माता अपने सन्यासी-पुत्र के पास ही रहीं । बस, शौच-स्नान के लिये ही उसे विलग होना पड़ता था । अपने पुत्र के स्नान के लिये जल भी वे स्वयं ही रखती थीं । प्रातःकाल शौच से निवृत्त होकर पू० गुरुदेव स्नान करने वाले थे, उसी समय पू० माताजी ने पू० गुरुदेव के शरीर पर ढ़ेरसारा सरसों का (कडुआ तेल)तेल लगा दिया । बचपन में पू० गुरुदेव स्नान के पूर्व अपने सिर पर कडुआ तेल लगाया करते थे । सन्यासी के लिये तेल लगाना उचित नहीं, परन्तु पू० गुरुदेव उस समय कुछ भी बोले नहीं । माताजी ने बस एक बार ही तेल लगाया । पू० गुरुदेव के मौन से वह समझ गयी कि जिस प्रकार सन्यासी के लिये घर में प्रवेश उचित नहीं, उसी प्रकार तेल का प्रयोग भी उचित नहीं । माँ ने वह तेल तो वात्सल्यवशात् लगाया था ।

माँ अपने हाथ से पू० गुरुदेव को भोजन कराती थी । एक बार पास बैठी हुई माँ से पू० गुरुदेव ने पूछा - "मैने ऐसा सुना है कि तूने पूजा-पाठ ही छोड़ दिया है ।"

भोली तथा वत्सला माँ ने सहज रीति से कहा - "वह भगवान् भी भला कैसा है, जो मेरे होनहार बेटे को मुझसे पृथक् कर दे । मेरा तो उस भगवान् पर से विश्वास ही उठ गया है । पू० गुरुदेव ने फिर पूछा - "तुम तो पहले बहुत पूजा-पाठ करती थी । पूजा-पाठ किये बिना कुछ खाती भी नहीं थी, तेरे नियम बड़े कठोर थे । क्या सचमुच ही तुमने वे सभी नियम छोड़ दिये ?" माँ ने बताया - "बस केवल दो माला जप करती हूँ ।"

तब पू० गुरुदेव ने पूछा - "जब तेरा विश्वास उस भगवान पर रहा ही नहीं, तब तू फिर इन दो मालाओं का भी जप क्यों करती है ?" माँ ने उसी सरल रीति से उत्तर दिया - "एक माला तो इसलिये कि संभव है भगवान् हों,

एवं यदि भगवान् हों तो एक माला उनके लिये जपती हूँ और दूसरी माला तेरे लिये । तुमने बड़ी कच्ची आयु में सन्यास ले लिया । भगवान् से प्रार्थना करती हूँ कि मेरे बेटे का धर्म निभा देना । कहीं मेरी कोख में कलंक नहीं लग जावे ।

माँ के मुख से इतना सुनना था कि पू० गुरुदेव के नेत्रों से अश्रु की धारा बह चली । पू० गुरुदेव ने तुरन्त अपनी माँ से कहा - "तू विश्वास रख, तेरी कोख को कभी कलंक नहीं लगेगा । यह मैं किसी ऐसी अचिन्त्य शक्ति के बल पर कह रहा हूँ जो मेरे जीवन का संचालन कर रही है। इसके अतिरिक्त तेरा वात्सल्य भी तो मेरे लिये रक्षाकवच का कार्य करेगा । तू सच मान तेरी कोख कलंकित नहीं, अपितु उसकी कीर्ति अधिकाधिक उज्ज्वल ही होगी । अत्यधिक छलछलाते प्यार में भरकर माँ अपने सन्यासी-बेटे के सिर पर हाथ फेरने लगी । दो-तीन दिन पश्चात् पू० गुरुदेव ने अपने ग्राम से विदाई ली । घरवालों की तो बात ही क्या, आसपास के गाँव के लोग भी जुट आये । सबका मन व्यथा के भार से बोझिल था । सबकी आँखों में आँसू थे। अनेक तो सिसक रहे थे । चलते-चलते भरी भीड़ में पू० माँ ने अपने पुत्र को खिलाया । ग्राम से विदा होकर पू० गुरुदेव कलकत्ते आ गये ।

सन्यासोपरान्त स्कूली शिक्षा

पू० गुरुदेव ने सं० १९९२ वि० की आश्विन मासवाली शारदीय रासपूर्णिमा (शनिवार, १२ अक्टूबर, १९३५) के दिन सन्यास लिया था । तब पू० गुरुदेव कलकत्ते में इंटरमीडियेट के द्वितीय वर्ष में पढ़ते थे । काषाय वस्त्र धारण करने के उपरान्त पू० गुरुदेव ने अपने बड़े भाइयों से कहा था - "इंटरमीडियेट की शिक्षा में डेढ़ वर्ष तक आपने मुझ पर बहुत व्यय किया है। इस व्यय को निरर्थक करना उचित नहीं लगता, अत: मैं इंटरमीडियेट की पढ़ाई को पूरा करके परीक्षा दूँगा, जिससे आप लोगों के मन की संतुष्टि हो सके । इस छ:-सात मास की पढ़ाई के बाद जागतिक विषयों से सम्बन्धित मेरा अध्ययन समाप्त हो जायेगा । आप सभी लोग मुझे आशीर्वाद दीजिए कि जिस आध्यात्मिक-विद्यार्जन के लिये इस सन्यासी वेष को धारण किया है, वह मुझे प्राप्त हो।"

गाँव से वापस कलकत्ता आने के बाद पू० गुरुदेव अपनी साधना और स्वाध्याय में तल्लीन हो गये । आध्यात्मिक ग्रन्थों के स्वाध्याय में ही उनकी रुचि रहा करती थी । पू० गुरुदेव पाठ्यक्रम की पुस्तकें बहुत कम पढ़ा करते थे। परीक्षा के जब एक-दो मास रह गये, तब उन्होंने परीक्षा देने की दृष्टि से उन पुस्तकों को पढ़ना आरम्भ किया था । इस थोड़े से पठन-पाठन के द्वारा ही उन्हें पूर्ण सफलता मिली । उन्होंने इंटरमीडियेट की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की । यह पठन-पाठन तो पू० गुरुदेव ने किया था, केवल अपने बड़े भाइयों की प्रसन्नता के लिये । इस पठन-पाठन की अवधि में समय-समय पर बड़े भाइयों ने कई बार पू० गुरुदेव से कहा कि तुम आगे भी पढ़ो और अधिक योग्यता का सम्पादन करो, किन्तु इसके लिये पू० गुरुदेव कभी भी राजी नहीं हुए। पू० गुरुदेव की प्रतिभा से महाविद्यालय के अध्यापकगण भी बहुत प्रभावित थे। उनमें से कई अध्यापकों ने ऊँची पढ़ाई करने के लिये सुझाव दिया और व्ययभार वहन का आश्वासन दिया, पर ये सभी सुझाव पू० गुरुदेव को स्वीकार नहीं थे। जब-जब ऐसा सुझाव आता, पू० गुरुदेव यही कहते- 'अब तो दूसरी ही पढ़ाई पढ़नी है।' इंटरमीडियेट की परीक्षा देने तक पू० गुरुदेव अपने बड़े भाइयों के साथ रहे । वे कक्षा में पढ़ने के लिये उस सन्यासी-वेष में ही जाते । उनके सन्यासी-वेष को देखकर सहपाठी चुटकी लेते, किन्तु अब तो वेष-परिवर्तन के साथ-साथ पू० गुरुदेव के बोलने-मिलने-रहने-चलने का सारा ढंग ही बदल चुका था । पू० गुरुदेत सबको संयमित वाणी में उत्तर देते हुए सबका समाधान करते अथवा मौन रहते।

पू० गुरुदेव का सन्यास लोगों के लिये आश्चर्य और चर्चा का विषय बना हुआ था। एक बार पू० गुरुदेव कलकत्ते शहर में सड़क से जा रहे थे। पू० गुरुदेव को पता नहीं कि उनके पीछे-पीछे कलकत्ता विश्वविद्यालय के एक प्राध्यापक चले आ रहे हैं। उन प्राध्यापक-महोदय ने गैरिक वस्त्रों में भी अनुमान लगा लिया कि यह संभवत: वही चक्रधर मिश्र नाम का छात्र है, जिसकी छाप कालेज के विद्यार्थियों पर है। वे चाह रहे थे कि इससे बात करूँ। पू० गुरुदेव कालेज-स्क्वायर नामक स्थान पर आकर एक बैंच पर बैठ गये। पू० गुरुदेव बैठे ही थे कि वे प्राध्यापक-महोदय सामने आकर खड़े हो गये। पू० गुरुदेव ने पहचान लिया कि ये अर्थशास्त्र-विभाग के अध्यक्ष हैं।

उन्हें सामने देखकर पू० गुरुदेव तुरन्त खड़े हो गये तथा उनसे बैंच पर बैठने के लिये अनुरोध करने लगे। प्राध्यापक-महोदय ने कहा- 'आप ही बैठें।'

पू० गुरुदेव ने कहा - 'यह कैसे हो सकता है कि मैं बैठा रहूँ और आप खड़े रहें ?'

प्राध्यापक-महोदय ने कहा- 'आपने गैरिक-वस्त्र धारण कर लिया है, अत: धर्म-मर्यादा के अनुसार मेरा खड़ा रहना ही उचित है।'

इतना कहकर उन्होंने फिर पूछा - 'मेरा अनुमान सही है कि आप ही चक्रधर मिश्र नामक विद्यार्थी हैं।

पू० गुरुदेव ने उनके कथन का अनुमोदन किया । वात्सल्य की अधिकता में उनके नेत्र सजल हो उठे । फिर स्नेह भरी वाणी में उन्होंने कहा - "मैं लगभग एक मील से आपके पीछे-पीछे चला आ रहा हूँ। आपको सन्यासी-वेष में देखकर मेरे मन में एक जिज्ञासा उत्पन्न हो गयी । इतनी छोटी उम्र में आपने सन्यास क्यों ले लिया ?" उनके प्रश्न का उत्तर देना पू० गुरुदेव के लिये कठिन हो गया । यह संभव नहीं था कि जीवन के समस्त उतार-चढ़ाव का वर्णन संक्षेप रूप में कुछ क्षणों के भीतर प्रस्तुत कर दिया जाता । उस असमंजस की स्थिति में पू० गुरुदेव ने इतना ही कहा - "जगत् में कुछ सार दिखायी नहीं दिया, अत: जगत् से अतीत परमतत्व की प्राप्ति के लिये सन्यास ले लिया।" यह उत्तर सुनकर वत्सलतापूर्ण विभोर वाणी में वे पू० गुरुदेव को आशीर्वाद देने लगे - "मेरे वत्स ! तेरा मंगल हो और तेरे उद्देश्य की सिद्धि हो।"

इस प्रकार का हार्दिक सद्भाव एवं सहज आशीर्वाद पू० गुरुदेव को समय-समय पर सभी महज्जनों से मिलता रहा ।

एक दिवस पू० गुरुदेव के बड़े भाई तारादत्तजी ने पूछा - "भविष्य में तुम्हारे भोजन की क्या व्यवस्था होगी ?" पू० गुरुदेव ने कहा - "भिक्षा द्वारा जो मिल जायेगा, उसी से शरीर का निर्वाह होगा। यदि कभी भिक्षा नहीं मिली तो श्रीमल्लिकजी के यहाँ कंगालों को भात दिया जाता है, उसी भात से भूख का निवारण करूँगा।" यह सुनकर बड़े भाई की आँखें भर आयीं । वे कहने लगे - "घर पर खेत है, जमीन है । यदि तुम स्वीकार करो तो तुम्हारे नाम कर दें, इससे शरीर-निर्वाह की समस्या ही नहीं रहेगी।" पू० गुरुदेव ने कहा- "यदि यही करना होता तो फिर यह काषाय वस्त्र क्यों धारण करता ?"

इन्टरमीडियट की परीक्षा देने तक पू० गुरुदेव अपने बड़े भाइयों के पास रहे। परीक्षाफल क्या होगा, इससे उनका कोई लगाव नहीं था, परीक्षा देनी थी सो दे दी।

श्रीमद्भगवद्गीता पर निष्ठा

पू० गुरुदेव ने संस्कृत का अध्ययन कलकत्ते में रहते समय अपने बड़े भाई से किया । ब्राह्मण-कुल एवं पुरोहिती-वृत्ति के कारण परिवार में संस्कृत का वातावरण था ही, फिर एक ओर बड़े भाई का कुशल-अध्यापन और दूसरी ओर पू० गुरुदेव की प्रखर-ग्राहकता, इससे पू० गुरुदेव शीघ्र ही संस्कृत में निष्णात हो गये।

पू० गुरुदेव ने श्रीमद्भगवद्गीता की अनेक टीकाओं का व्याख्याओं सहित पठन-मनन-चिन्तन किया, किन्तु उनकी ज्ञान-सम्पन्न-बौद्धिकता तथा प्रतिभा-सम्पन्न-तार्किकता को प्रभावित एवं आकर्षित कर सका- शांकरभाष्य ही। श्रीमद्भगवद्गीता के शांकरभाष्य का अध्ययन करते-करते पू० गुरुदेव शंकरमतावलम्बी हो गये। भगवान् श्रीआदिशंकराचार्यजी ने अपने अद्वैत तत्व का प्रतिपादन करने के लिये श्रीमद्भगवद्गीता के अतिरिक्त ब्रह्मसूत्र तथा मुख्य उपनिषदों का भी भाष्य लिखा है । इन भाष्यों के अध्ययन का परिणाम यह हुआ कि पू० गुरुदेव की निष्ठा वेदान्त-दर्शन के प्रति दृढ़ हो गयी । भारत के छः आस्तिक-दर्शनों में से एक वेदान्त-दर्शन भी है । वेदान्त-दर्शन के मर्म तक पहुँचने के लिये पू० गुरुदेव ने छः आस्तिक-दर्शनों का विस्तृत रूप से अध्ययन किया । वस्तुतः सन्यासोपरान्त छः मास का विद्यार्थी-जीवन उनका विशेष अध्ययन का काल ही रहा और इस अवधि में श्रीमद्भगवद्गीता तथा उपनिषदों के अतिरिक्त शांकरसाहित्य, आध्यात्मिक ग्रन्थ तथा हिन्दू दर्शनों का पू० गुरुदेव ने विशद अध्ययन किया । अध्ययन जितना गहन होता गया, पू० गुरुदेव की अद्वैत-तत्व के प्रति निष्ठा उतनी ही अधिक गहरी होती चली गयी।

इसी निष्ठा को लेकर पू० गुरुदेव ने अद्वैत-तत्व की साधना के लिये नितान्त ऐकान्तिक जीवन अंगीकार किया। ऐसा लगता है कि पूर्वजन्म में उनकी साधना लगभग पूर्ण हो चुकी थी । एक झीना-सा आवरण रह गया था। साधना के आसन पर बैठते ही वह आवरण दूर हो गया । वेदान्त-दर्शन

का मूलाधार सिद्धान्त है- **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म, नेह नानास्ति किंचन'** और इस तत्व के दिव्य, सच्चिदानन्दमय प्रकाश से पू० गुरुदेव के भीतर-बाहर का सारा जीवन आलोकित हो उठा।

शांकरमत के अनुसार परब्रह्म एक, अद्वैत, निर्विशेष और निर्गुण है। ब्रह्म सत्य है एवं जगत् मिथ्या । जीव ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। साधन चतुष्टय के द्वारा जब चित्त की शुद्धि होती है, तब ब्रह्मज्ञान होता है। ब्रह्मात्म-बोध ही मुक्ति है । मुक्तात्मा ही व्यावहारिक क्षेत्र में सभी प्राणियों के प्रति ब्रह्मदृष्टि रख पाता है । इस ब्रह्मदृष्टि की सिद्धि के लिये पू० गुरुदेव को साधना के आसन पर लम्बी अवधि के लिये बैठना नहीं पड़ा । साधना में संलग्न होने के कुछ दिन बाद ही पू० गुरुदेव ब्रह्मभाव में प्रतिष्ठित हो गये । अखण्ड-ब्रह्मानुभूति में निमग्न पू० गुरुदेव के लिये जगत् का अस्तित्व समाप्त हो गया । पू० गुरुदेव के व्यक्तित्व में अब रह गयी थी 'अहं ब्रह्मास्मि' की परमानन्दमयी अनुभूति । अद्वैत-तत्व की साधना पू० गुरुदेव ने बहुत थोड़े समय के लिये की । एक ओर साधना की अत्यल्प अवधि और दूसरी ओर साधना में सफलता, ये तथ्य ही संकेत करते हैं कि पूर्वजन्म की साधना की पूर्णता में कहने भर के लिये किञ्चित् न्यूनता रह गयी थी और उसे पूर्णता प्रदान करने के लिये वर्तमान साधना एक निमित्त-मात्र थी । इतना ही नहीं, इस छोटी आयु में इतना विशद अध्ययन और ऐसी महान् सिद्धि, इससे भी एक संकेत मिलता था कि पू० गुरुदेव के जीवन में कोई विशेष महान् कार्य होने वाला था।

इन दिनों पू० गुरुदेव के परमानन्द की सीमा नहीं थी । श्रीमद्भगवद्गीता में आया है -

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ।। श्रीगीता-१३/१७

वह परब्रह्म ज्योतियों की भी ज्योति एवं माया से अत्यन्त परे कहा जाता है । वह बोधस्वरूप, जानने के योग्य एवं तत्वज्ञान से प्राप्त करने योग्य है और सबके हृदय में विशेषरूप से स्थित है ।

योऽन्तः सुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्म भूतोऽधिगच्छति ।। श्रीगीता - ५/२४

जो पुरुष आत्मा में ही सुखी है, आत्मा में ही रमण करता है तथा जो आत्मा में ही ज्ञानवान् है, वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा के साथ एकीभाव को प्राप्त, 'मैं ही ब्रह्म हूँ' इस प्रकार अनुभव करने वाला ज्ञानयोगी शान्तबह्म को प्राप्त होता है।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ।। श्रीगीता - ५/२१

बाहर के विषयों में आसक्तिरहित अन्तःकरणवाला साधक आत्मा में स्थित- जो ध्यानजनित सात्विक-आनन्द है, उसको प्राप्त होता है, तदनन्तर वह सच्चिदानन्दघन परबह्म के ध्यानरूप योग में अभिन्न भाव से स्थित पुरुष अक्षय आनन्द का अनुभव करता है ।

शास्त्रों की मर्यादा के अनुसार, 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार के अनुभव से सच्चिदानन्दघनब्रह्म में एकीभाव से स्थित प्रसन्न चित्त सन्त सम्पूर्ण जागतिक द्वन्द्वों से अतीत हो जाता है । उसे जगत् स्वप्नवत् प्रतीत होता है । उसके अन्तःकरण में अहंता-ममता, राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि विकार नहीं रह जाते। पू० गुरुदेव के जीवन को देखकर यही कहना चाहिए कि ये शास्त्रीय मान्यतायें पूर्णतः यथार्थ ही हैं ।

जिस प्रकार अनुकूल परिस्थिति में न्यूनता का बोध नहीं हो पाता, उसी प्रकार प्रतिकूल परिस्थिति में भी न्यूनता का बोध नहीं हो, तभी उस सिद्धस्थिति को ब्रह्मीस्थिति कहना चाहिए अतः वास्तविकता का परिज्ञान प्राप्त करने के लिये पू० गुरुदेव ने प्रतिकूल परिस्थिति को स्वेच्छा से वरण किया । पू० गुरुदेव के मन में आया कि कुष्ठरोग से ग्रस्त कोढ़ी, समाज में अत्यधिक उपेक्षणीय होते हैं । इनमें भी जिन्हें गलित कुष्ठ होता है, उनसे तो कोई संपर्क ही रखना नहीं चाहता । एक प्रकार से वे घृणा के पात्र बन जाते हैं । लोगों द्वारा तिरस्कृत इन उपेक्षणीय , अस्पृश्य कोढ़ियों के बीच रहने पर भी हृदयस्थ परमानन्द में न्यूनता न आये और जगत् में सभी प्राणियों के प्रति

दृष्टि सम रहे, तब साधना में प्राप्त सफलता को विश्वसनीय कहा जा सकता है।

समाज की दया पर निर्भर रहने वाले न जाने कितने कोढ़ी कलकत्ते में गंगाजी को जाने वाले मार्ग पर पड़े रहते थे। गंगास्नान के लिये जाने वाले धर्मात्मा एक दो पैसा फुटपाथ पर पड़े हुए कोढ़ियों के सामने डाल देते थे, वही उनके ज़ीवन का आधार होता था। पू० गुरुदेव इन्हीं कोढ़ियों के बीच बैठने लगे । पू० गुरुदेव प्रातःकाल आकर उनके पास बैठ जाते और संध्या के समय उठते । धर्मात्मा लोग जैसे अन्य कोढ़ियों के सामने पैसा डालते, वैसे ही पू० गुरुदेव के सामने भी डाल देते। गुरुदेव को द्रव्य स्पर्श करना नहीं था, पू० गुरुदेव जब संध्याकाल में उठते तो पासवाले कोढ़ी को पैसा उठाने को कह देते । इससे वह कोढ़ी बड़ा प्रसन्न होता। प्रत्येक दिन पू० गुरुदेव ऐसा ही करते। इससे अब हर कोढ़ी यही चाहता कि पू० गुरुदेव मेरे पास बैठें, जिससे इनको मिला हुआ सारा पैसा मुझे मिल जाये, पर पू० गुरुदेव बैठते उस गलित कोढ़ी के पास, जिसकी शारीरिक दशा बड़ी शोचनीय होती ।

कोढ़ियों के मध्य पू० गुरुदेव एक-दो सप्ताह बैठे होंगे और बैठने का प्रयोजन था- परीक्षण करना कि मेरे अन्दर विषमता का अभाव हुआ अथवा नहीं । सुख-दुःख , मम-पर, प्रिय-अप्रिय, लाभ-हानि- यही तो द्वन्द्वात्मक जगत् का स्वरूप है और यथार्थ ब्रह्म-वेत्ता सन्यासी वही है, जिसकी दृष्टि दोनों सीमाओं के प्रति सम है और जिसका मन सभी परिस्थितियों में शांत एवं प्रसन्न है । कोढ़ियों के बीच रहने पर भी पू० गुरुदेव के हृदय में ब्रह्मानन्द का सागर हिलोरें लेता रहता था ।

क्रान्तिकारी परिवारों के लिये गीता प्रवचन

पू० गुरुदेव के एक स्वजन थे, श्रीभवानीशंकरजी । इनमें देश-सेवा का भाव बहुत ही प्रबल था। देश के गण्यमान्य क्रांतिसेवियों से इनका अति निकट का संपर्क था । अनेक क्रान्तिकारी फाँसी के फन्दों को चूमचूमकर मृत्यु के ग्रास हो चुके थे । अनेक पुलिस एवं फौज द्वारा गोलियों से भून दिये गये थे, अनेक जेल की चार-दीवारों के भीतर घोर यातनाएँ भोग रहे थे । बहुत से गिरफ्तारी के वारन्ट के कारण फरार थे, बहुत से सरकारी कोप के भाजन होने के कारण कुछ भी अर्थोपार्जन नहीं कर पा रहे थे। बहुत से देश-सेवा

के उत्साह में घर-गृहस्थी से सम्बन्ध विच्छिन्न करके अपनी योजनाओं की पूर्ति में रत थे। इन सभी देशभक्तों के परिवारों की बहुत ही शोचनीय दशा थी ।

समाज के अन्य लोगों की तो बात ही नहीं, इनसे सगे सम्बन्धी भी मुँह फेर चुके होते थे । यदि किसी को पुलिस पकड़ ले जाती तो लोग यही कहते- "अच्छा हुआ, समाज का कलंक चला गया।" ऐसी अवस्था में इनके परिवारों के भरण-पोषण के लिये अर्थ-दान करने की तो सोचना ही मूर्खता थी। ये रोटी-कपड़े के लिए तरसते थे- इनकी विपन्नता का नग्नचित्र श्रीभवानीशंकरजी ने पू० गुरुदेव के सम्मुख रखा । कुछ तो उन्होंने बतलाया और कुछ की जानकारी पू० गुरुदेव को स्वयं थी । पू० गुरुदेव का करुणार्द्र-हृदय सुन-सुन करके द्रवित हो उठा ।

अब प्रश्न यह था कि इन संत्रस्त परिवारों की सहायता किस प्रकार की जाये ? इनकी सहायता के लिये धन कहाँ से प्राप्त हो ? श्रीभवानीशंकरजी का सुझाव था कि पू० गुरुदेव में शास्त्र-ज्ञान, प्रवचन करने की सुन्दर शैली, विषय-प्रतिपादन की रोचक कला, एवं मधुर कण्ठ आदि सभी श्लाघ्य गुण हैं । वे ग्राम-ग्राम भ्रमण कर कथा कहें और चढावे से विपत्तिग्रस्त-परिवारों की सेवा करें, तो बात बन सकती है ।

अध्यात्मचर्चा को बेचना और कथा द्वारा द्रव्य संग्रह करना यह तो कल्पना भी पू० गुरुदेव के लिये असह्य थी। परन्तु श्रीभवानीशंकर भी पूरे पीछे पड़ गये और पू० गुरुदेव द्वारा स्वयं पैसे का सर्वथा स्पर्श न करने की शर्त के साथ उन्होंनें उन्हें मना ही लिया।

श्रीभवानीशंकरजी के साथ ग्राम-ग्राम यात्रा करते हुए पू० श्री गुरुदेव ने श्रीमद्भगवद्गीता पर कथा कहनी आरम्भ कर दी । कई ग्रामों में पू० गुरुदेव का श्रीमद्भगवद्गीता पर प्रवचन हुआ । पू० गुरुदेव तो ग्राम के बाहर किसी मन्दिर अथवा एकान्त-शान्त स्थान पर ठहरा करते थे, केवल कथा कहने के लिये ग्राम के भीतर जाया करते थे । पू० गुरुदेव की भिक्षा के लिये श्रीभवानीशंकरजी ग्राम से कच्चा अन्न माँगकर ले आते और जहाँ ठहरे होते, वहीं रन्धन करते । पू० गुरुदेव को भिक्षा कराके ही वे स्वयं भोजन करते ।

सबसे पहली कथा हुई पहाड़पुर ग्राम में, जो कलकत्ता जाने वाले मार्ग में बंगाल-बिहार की सीमा पर था । पू० गुरुदेव की वक्तृत्व-शक्ति अद्भुत थी। कथा में लोगों की बड़ी भीड़ एकत्रित हो गयी श्रोताओं के विशाल समूह को

देखकर श्रीभवानीशंकरजी बड़े प्रसन्न हुए कि चढ़ावे के रूप में पुष्कल धन प्राप्त होगा । पू० गुरुदेव के प्रवचन से प्रभावित होकर ग्रामवाले चढ़ावे की बात सोचने भी लगे थे, पर पू० गुरुदेव ने अपने प्रवचन में कहा - "मैं न तो पैसे को स्पर्श करता हूँ और न इस चढ़ावे से मेरा कोई संबंध है । कथा के अन्त में जो चढ़ावा आयेगा, उसे मेरे साथ रहने वाले पंडित श्रीभवानीशंकरजी ले लेंगे । मैं इतना अवश्य कह सकता हूँ कि चढ़ावे से इकट्ठे होने वाले धन का उपयोग ये निश्चय ही श्रेष्ठ सेवाकार्य में करेंगे।"

कथा से प्रभावित श्रोतागणों में चढ़ावा देने का उत्साह तो बहुत था, परन्तु पू० गुरुदेव की स्पष्टवादिता से वह उत्साह मन्द पड़ गया। इस प्रकार चढ़ावा बहुत कम रूप में हुआ। चढ़ावा देखकर श्रीभवानीशंकरजी को बड़ी निराशा हुई। एक ग्राम में कथा केवल कुछ दिन होती । फिर पू० गुरुदेव और श्रीभवानीशंकरजी किसी अन्य अनिश्चित ग्राम की ओर बढ़ जाते । इस प्रकार कथा का क्रम चलता रहा । यह कथा मुख्यत: उन ग्रामों में हुई, जो पटना से कलकत्ते तक श्रीगंगाजी के तटवर्ती थे । श्रीमद्भगवद्गीता पर जो प्रवचन स्थान-स्थान पर पू० गुरुदेव द्वारा हुए, उससे श्रीभवानीशंकरजी के उद्देश्य की सिद्धि नहीं हो पायी, परन्तु एक लाभ उन्हें हुआ । श्रीगीताजी की सुन्दर कथा और पू० गुरुदेव की आदर्श जीवनचर्या से श्रीभवानीशंकरजी की जीवन धारा में परिवर्तन अवश्य आया।

पू० गुरुदेव ग्राम-ग्राम भ्रमण करते हुए प्रवचन दिया करते थे। एक घटना से उनकी ख्याति बहुत बढ़ गई । एक बार पू० गुरुदेव ग्राम के बाहर एक मन्दिर में ठहरे हुए थे । रात के समय एक स्त्री ने उनके पैर पकड़ लिये । वह बहुत ही दयनीय कण्ठ से रो रही थी । उसके भाई को हैजा हो गया था । वह उसका जीवन-दान माँग रही थी ।

सन्यास-ग्रहण के पश्चात् पू० गुरुदेव का कठोर नियम था- किसी भी नारी का किसी भी अवस्था में स्पर्श नहीं करना । मन्दिर के कुछ व्यक्तियों ने उसे समझाने की चेष्टा की कि सन्यासी के पैर नहीं पकड़े, दूर रहकर उनसे प्रार्थना करे। परन्तु वह सुनती ही नहीं थी । वह पू० गुरुदेव के पैर कठोरतापूर्वक पकड़कर रोये ही जा रही थी ।

जब उसने पैर छोड़े ही नहीं तो पू० गुरुदेव ने सोचा- रौद्र रूप धारण करने से ही बात बनेगी । अत: उन्होने बहुत ही तेज स्वर बनाकर कहा -

"आज अपने भाई के लिये इतना रो रही है, कल तेरा ही प्राणान्त हो जाय तो ?"

पू० गुरुदेव की क्षुब्धता देखकर वह स्त्री पीछे हट गयी । संयोगवश दूसरे ही दिन उस स्त्री की भी हैजे से मृत्यु हो गयी । इससे लोगों पर यह प्रभाव पड़ा कि स्वामीजी भविष्य के गर्भ की बात जानते हैं । पू० गुरुदेव को उस स्त्री के भविष्य का सर्वथा ज्ञान नहीं था। वे तो एक सामान्य दार्शनिक-संभावना का ही दिग्दर्शन करा रहे थे, इसे लोगों ने उनकी भविष्यवाणी मानली और सर्वत्र उनकी प्रसिद्धि फैला दी ।

बस में पुलिस दारोगा का दुर्व्यवहार

जब पू० गुरुदेव स्थान-स्थान पर श्रीमद्भगवद्गीता पर प्रवचन दिया करते थे - तबकी बात है । एक बार वे बस में बैठकर जा रहे थे । उन्हें १८ मील की यात्रा तय करनी थी । ड्राइवर अच्छे स्वभाव का व्यक्ति था, अतः उसने सन्यासी पर आदर-श्रद्धा करते हुए उन्हें आगे वाली सीट पर बैठा लिया था । बस जब चलने को हुई तो एक पुलिस अधिकारी आया और अगली सीट पर पू० गुरुदेव के बगल में बैठ गया । उन दिनों पुलिस अफसर का रौब इतना अधिक होता था कि उनके सामने किसी को कुछ भी बोलने का साहस नहीं होता था ।

अब जब बस चल पड़ी तो वह अधिकारी पू० गुरुदेव को कुहनी मारने लगा । जहाँ तक संभव था पू० गुरुदेव ड्राइवर की तरफ सरक गये, पुलिस अधिकारी के पास बैठने को पर्याप्त स्थान भी था, परन्तु सुविधापूर्वक स्थान बैठने के लिये मिल जाने पर भी वह रह-रहकर कुहनी मारता ही जाता था । पिछली सीट पर बैठे लोगों को उसकी यह क्रिया सर्वथा अनुचित लग रही थी, परन्तु वे उसके विरोध में बोलने का साहस नहीं जुटा पा रहे थे । पुलिस अधिकारी का अत्याचार इतना बढ़ गया कि पू० गुरुदेव यात्रा की पूर्णता के लिए अधीर हो उठे

आगे चलकर एक स्थान बस पर रुकी । वह पुलिस अधिकारी जलपान करने के लिये बस से नीचे उतरा । संयोग की बात, बस में पुनः चढ़कर ज्यों ही उस दुष्ट पुलिस अधिकारी ने बस का फाटक बन्द किया तो फाटक में उसकी अँगुली चिथ गयी । उस पुलिस अधिकारी की चीख निकल गयी ।

पू० गुरुदेव ने तुरन्त फाटक खोलकर उसकी अँगुली बाहर निकाली । अँगुली का बुरा हाल था। पू० गुरुदेव ने तत्काल अपने गेरुए वस्त्र का छोर फाड़कर, उसको कमंडलु के जल से भिगोकर उसकी अँगुली पर पट्टी की एवं कहा - कि अगले ग्राम में जिला बोर्ड डिस्पेंसरी है, वहाँ आप डाक्टर को दिखाकर ठीक से पट्टी करवालें।

पू० गुरुदेव का साधु-व्यवहार देखकर उस पुलिस अधिकारी में भी परिवर्तन हो आया।

हिंसक व्याघ्र से भेंट

एकान्त प्रियता के कारण पू० गुरुदेव सदा ग्राम के बाहर ही निर्जन स्थान में निवास किया करते थे । वे प्रातः अकेले ही घने जंगल में शौच के लिये जाया करते थे । ग्रामवासियों ने सावधान करते हुए यद्यपि अनेक बार कहा - "जंगल में भालू-तेंदुए-बाघ आदि हिंसक पशु रहते हैं, अतः अकेले नहीं जाना चाहिए । हम लोग भी जाते हैं तो समुदाय में ढोल पीटते हुए जाया करते हैं।"

लोगों के द्वारा अनुरोध किये जाने के बाद भी पू० गुरूदेव अकेले ही वन में जाया करते थे । जनसंपर्क एवं जगच्चर्चा पू० बाबा को रुचिकर नहीं थी। एक बार की बात है, जिस ग्राम में पू० गुरुदेव गये थे, उसके समीप के जंगल में एक झरना था । वन की निर्जनता और जल का प्रवाह, दौनो ही पू० गुरुदेव को स्वभावतः प्रिय थे । अपने प्रातःकालीन शौचादि कार्य से निवृत्त होने के लिये पू० गुरुदेव वहीं जाया करते थे । पू० गुरुदेव शौच के लिये बैठे ही होंगे कि बाघ के शरीर की तीव्र दुर्गन्ध आने लगी । पू० गुरुदेव को उस समय अनुमान हो गया कि आस-पास कोई बाघ है । पू० गुरूदेव के मन में तुरन्त यही आया, बाघ इस शरीर को अपना भोजन बनाना चाहता है तो बना ले । मै शरीर तो हूँ नहीं । जो भवितव्य है, मैं उसमें व्यवधान क्यों डालूँ । शरीर को रहना हो तो रहे और जाना हो तो जाये । दोनो के प्रति मेरी दृष्टि सम है ।

उस विकट परिस्थिति में भी **'ब्रह्म सत्य है, जगत मिथ्या है और जीव ब्रह्म है'**, इस शांकर-सिद्धान्त से पूज्य गुरुदेव का मन एकाकार हो रहा था । यह अद्वैत-तत्व पू० गुरुदेव के चित्तरूपी स्वच्छ दर्पण में पूर्णतः प्रतिबिम्बित

था । इधर पू० गुरुदेव अपने तत्व चिन्तन में तल्लीन हो गये और उधर वह तीव्र दुर्गन्ध क्रमशः कम होने लग गयी । क्रमशः क्षीण होती हुई दुर्गन्ध से पू० गुरुदेव ने अनुमान लगा लिया कि बाघ चला जा चुका है । बाघ से पू० गुरुदेव का आमना-सामना नहीं हुआ, किन्तु शरीर के अस्तित्व की दृष्टि से एक बार भयावह स्थिति पू० गुरुदेव के सामने उपस्थित हो ही गयी थी । वास्तविक आत्म-निरीक्षण एवं कसौटी के सच्चे अवसर होते हैं, जीवन के विषम क्षण ही। वस्तुतः प्रतिकूलता के मध्य ही सही-सही परिज्ञान हो पाता है कि जीवन के संस्कार और उसकी संरचना स्वीकृत सिद्धान्तों के अनुसार हो रही है अथवा नहीं।

हठयोग से शरीर कष्ट एवं प्राकृति चिकित्सा से लाभ

ग्राम-ग्राम भ्रमण करते समय पू० गुरुदेव निरन्तर अपनी स्वरूपावस्था में तो रहते ही थे साथ-ही-साथ उनका शास्त्रग्रन्थावलोकन भी चलता रहता था। एक दिन उन्हें एक अधकचरे योगी मिल गये । वे अपने को नेती-धोती आदि हठयोग की क्रियाओं में निष्णात मानते थे, और उन्होने पू० गुरुदेव से कहा कि गुदामार्ग से जल को अपानवायु द्वारा ऊर्ध्व करके ऊपर चढ़ाने की क्रिया करने से वीर्य स्वतः ऊर्ध्व हो जाता है और चित्तवृत्ति बालवृत्ति को सहज ही प्राप्त हो जाती है ।

ये योगी गुरु बाद में पू० गुरुदेव के पास १९५१ ई० में गोरखपुर भी आये थे । पू० गुरुदेव ने तो उनको बहुत ही आदर दिया था । इन्हीं के संरक्षण में पू० गुरुदेव ने कुछ काल योगाभ्यास किया । हठयोग की यह साधना जटिल थी, इससे अपानवायु गलत नाड़ी में प्रवेश कर गयी । वे अधकचरे योगी पूरी क्रिया जानते तो थे नहीं, अतः इसके निवारण का कोई उपाय बता नहीं सके। पू० गुरुदेव के प्राणों पर बन आयी । स्थिति ऐसी गंभीर हो गयी कि मानो कुछ ही क्षणों में शरीरान्त हो जायेगा । किसी को कुछ भी सूझ नहीं रहा था कि क्या उपचार किया जाय । यह कष्ट किसी भी व्याधि का परिणाम तो था नहीं । थोड़ी देर पश्चात् वायु प्रकोप स्वतः कुछ कम हुआ तो कष्ट कम हो गया, परन्तु वह मात्र कुछ कम ही हुआ था, सर्वथा समाप्त नहीं ।

पू० गुरुदेव के साथ श्रीभवानीशंकरजी तो रहते ही थे । उन्होने पू० गुरुदेव से बिना पूछे ही चुपचाप पू० गुरुदेव के बड़े भाई श्रीतारादत्तजी को

पत्र द्वारा सूचना दे दी । घर से श्रीतारादत्तजी पू० गुरुदेव के पास पहुंच गये और उन्होने अपने गाँव चलने के लिये आग्रह किया । गाँव पर जाने के लिये पू० गुरुदेव तनिक भी राजी नहीं हुए । पू० गुरुदेव ने कहा - "यदि जाना ही है तो मैं कलकत्ते जाना चाहूँगा ।"

श्रीतारादत्तजी ने रेल से यात्रा करने के लिये कलकत्ते की टिकट कटा दी । पू० गुरुदेव पैसेंजर ट्रेन से कलकत्ता गये । श्रीतारादत्तजी ने कलकत्ते सूचना तार द्वारा करवा दी थी, अत: कई स्वजन स्टेशन पर आ गये थे ।

उन दिनों कलकत्ता में सुप्रसिद्ध प्राकृतिक-चिकित्सक थे, श्रीब्रह्मस्वरूपजी श्रोत्रिय। श्रीगुरुदेव उनके चिकित्सा-केन्द्र पर गये। भवन के द्वार पर दरबान ने पू० गुरुदेव का बड़ा अपमान किया। वह समझ रहा था कि यह भिखारी सन्यासी, मालिक को व्यर्थ ही तंग करने के लिये आया है । जब उससे यह कहा गया कि एक रोगी के रूप में चिकित्सा करवाने के लिये आये हैं, तब उसने प्रवेश करने दिया । पू० गुरुदेव भवन के अन्दर गये । एक सन्यासी को आया हुआ देखकर श्रीब्रह्मस्वरूपजी तुरन्त अपनी कुर्सी पर से उठ खड़े हुए और हाथ जोड़कर विनम्र भाव से उन्होंने पू० गुरुदेव को प्रणाम किया । पू० गुरुदेव ने उनको बतलाया कि एक हठयोग की क्रिया में किञ्चित् चूक हो जाने से पीठ की एक नाड़ी में वात प्रवेश हो गया है । यदि इसका उपचार संभव हो तो आप उचित परामर्श दें ।

श्रीब्रह्मस्वरूपजी ने पूर्ण आश्वासन दिया तथा उन्होंने प्राकृतिक-चिकित्सा-विधि से उपचार आरम्भ कर दिया। उन्होने न तो चिकित्सा-शुल्क लिया और न ही उपचार-व्यय । उन्होने बड़े सम्मानपूर्वक पू० गुरुदेव की चिकित्सा की । जितने विनम्र और उदार श्रीब्रह्मस्वरूपजी थे, वैसी ही सेवा-परायण और साधु-हृदया उनकी धर्मपत्नी भी थी । उसने करबद्ध होकर पू० गुरुदेव से प्रार्थना की "स्वामीजी ! घर पर भिक्षा किये बिना जाने नहीं दूंगी ।"

पू० गुरुदेव की प्राकृतिक-चिकित्सा लगभग १५, १६ दिन चली । इससे उन्हें बहुत ही लाभ हुआ । चिकित्सा का क्रम पूर्ण हो जाने के बाद भी पू० गुरुदेव उनके पास जाते रहे । पू० गुरुदेव प्रतिदिन जाते तथा प्राकृतिक चिकित्सा की प्रक्रिया का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करते रहते । पू० गुरुदेव के अद्भुत पाण्डित्य एवं सत्य-आचरण से श्रीब्रह्मस्वरूपजी भी कम प्रभावित नहीं थे । परस्पर का यह स्नेह संबंध भविष्य में भी बना रहा ।

पुलिस सन्यासी वेष में

सन्यास ले चुकने के बाद भी पुलिस ने पू० गुरुदेव का पीछा नहीं छोड़ा। कलकत्ते के पुलिस विभाग ने पहचान लिया तथा पता लगा लिया कि सन्यासी वेष में यह युवक क्रान्तिकारी चक्रधर मिश्र ही है। उनको सन्देह था कि सन्यासी जीवन स्वीकार करना भी इसके षडयन्त्र का एक अंग हो सकता है । फिर पुलिस का एक गुप्तचर भी सन्यासी वेष में पू० गुरुदेव के पीछे लगा रहा । उन दिनों पू० गुरुदेव प्रायः संस्कृत भाषा में ही बोला करते थे । पू० गुरुदेव को क्या पता कि वह एक गुप्तचर है । वह सन्यासी वेषधारी गुप्तचर पू० गुरुदेव के ही साथ रहता । वे उस सन्यासी गुप्तचर को अपने साथ-साथ भिक्षा कराने लगे । वह कई दिनों तक उनके साथ रहा । उसकी आध्यात्मिक उन्नति नहीं देखकर उनको बहुत ही विस्मय होता था, अतः उन्होने उससे कहा - "महाराज ! मेरे साथ रहने से आपकी भिक्षा की व्यवस्था तो हो जाती है, परन्तु आपकी पारमार्थिक उन्नति के लक्षण दिखाई नहीं देते । मेरे जैसे अति साधारण व्यक्ति के साथ रहकर आप अपना समय क्यों नष्ट करते हैं ? आपको किसी श्रेष्ठसंत का आश्रय ग्रहण करना चाहिए।"

उस सन्यासी गुप्तचर ने कुछ उत्तर नहीं दिया । एक दिन पू० गुरुदेव ने उसको किसी दूसरे स्थान पर सादे नागरिक-वेष में देखा । पू० गुरुदेव ने उसको पहचान लिया और बंगला भाषा में पूछा - "महाशय आज यह नागरिक वेष कैसे धारण कर लिया ?"

वह सन्यासी गुप्तचर पू० गुरुदेव द्वारा प्रश्न किये जाने पर झेंप गया । उसने जान लिया कि आज मेरी पोल खुल गयी और इन्होने भी जान लिया कि यह तो सन्यासी-वेष में गुप्तचर था ।

फिर वह पू० गुरुदेव के पास कभी नहीं आया । इसके पश्चात् पुलिस ने भी इनका पीछा करना छोड़ दिया । इनकी बातचीत को, उनसे मिलने वालों को और उनके कार्य को लगातार देखते रहने के बाद पुलिस विभाग को आशंका करने के लिये कोई छिद्र नहीं मिला । सतत निरीक्षण करते-करते पुलिस को यह विश्वास हो गया कि इनका सन्यासी-जीवन किसी षडयन्त्र का अंग नहीं अपितु विशुद्ध आध्यात्मिक जीवन है ।

स्वामी रामसुखदासजी से परिचय एवं बाँकुड़ा प्रस्थान

पू० गुरुदेव नियमतः प्रतिदिन गंगा स्नान के लिये जाया करते थे । साधक, संत अथवा सिद्ध, सभी के लिये गंगा नित्य वन्दनीय हैं । भगवती गंगा के पावन शान्त प्रवाह का दर्शन, निर्मल नीर का सभक्ति सेवन एवं एकान्त कूल पर स्थिर-आसन साधकों, संतो-सिद्धों के लिये सदैव ही उपयोगी रहा है। गंगातीर के पुनीत वातावरण में ब्रह्मचिन्तन, भगवदर्चन, साधन- भजन आदि सहज संभव बन जाते हैं । जब पू० गुरुदेव गंगा स्नान के लिये जाते थे, तो किसी अचिन्त्य विधान से सदा ही उन्हें ऐसे श्रेष्ठ संत अथवा साधु विचारक-पंडित अथवा विरक्त सन्यासी मिलते थे और इनसे पर्याप्त समय तक सच्चर्चा हुआ करती थी । चर्चा के विषय मुख्यतः रहते थे, श्रीमद्भगवद्गीता के प्रधान प्रतिपाद्य सिद्धान्त, त्रिगुणातीत संतो के जीवन प्रसंग, सिद्ध महापुरुषों की जीवनचर्या एवं श्रीशंकराचार्यजी का अद्वैत तत्व ।

इसी अवधि में पू० गुरुदेव को गोविन्द भवन का परिचय मिला, जिसके द्वारा कल्याण पत्रिका का संचालन होता था । इसी के अन्तर्गत गोरखपुर में गीता-प्रेस था जिससे प्रकाशित होने वाली अनेक सुन्दर धार्मिक पुस्तकें होती थीं । कलकत्ते में गोविन्दभवन सदा से अध्यात्म चर्चा का एक प्रमुख केन्द्र था। वहाँ सत्संग की व्यवस्था सदा ही रहती थी, पर रविवार को विशेष सत्संग हुआ करता था । इसी दिन पूज्य स्वामीरामसुखदासजी के प्रवचन को सुनने के लिये न जाने कहाँ-कहाँ से श्रोतागण गोविन्दभवन आया करते थे । श्रीस्वामीजी महाराज का प्रवचन मुख्यतः श्रीमद्भगवद्गीता पर होता था । गीताजी पूज्य गुरुदेव का भी सबसे अधिक प्रिय ग्रन्थ रहा है। अतः गीताजी पर श्रीस्वामीजी के विचारों को सुनने के लिये वे भी गोविन्दभवन में श्रोताओं के मध्य बैठ जाते थे ।

पू० गुरुदेव वेष से अत्यधिक विरक्त रहते थे । उनके पास पहनने के लिये मात्र एक कोपीन तथा एक घुटनों से भी ऊँचा अधोवस्त्र रहता था । एक बार अधिक भीड़ के कारण वे मुख्य द्वार के पास खड़े हुए शान्तचित्त से प्रवचन सुन रहे थे । इतने में किसी बड़े सेठ की मोटर गाड़ी आयी । उसमें कोई मारवाड़ी सेठानी प्रवचन सुनने आयी होगी । भवन के दरबान ने उस सेठानी को भीड़ से रास्ता दिलाने की चेष्टा की । उसने पू० गुरुदेव को इस विरक्त वेष में एक भीख माँगने वाला मात्र भिखारी माना । अतः इन्हें हटाने

के लिये उसने इन्हें जोर से धक्का दे दिया । पू० गुरुदेव भाषण सुनने में इतने एकाग्र थे कि उन्हें दरबान की इस क्रिया का कोई पूर्वाभास ही नहीं हुआ । अन्यथा वे पूर्व संकेत मिल जाने पर स्वयं ही द्वार से हटकर रास्ता दे देते । श्रीरामसुखदासजी स्वामीजी मंच पर से दरबान द्वारा होती इस क्रिया को देख रहे थे । उन्होने पू० गुरुदेव की एकाग्रतापूर्वक भाषण सुनने की मुद्रा भी पूर्वत: देखली थी । अत: उन्होने तुरन्त भाषण स्थगित कर मंच से बाहर आकर पू० गुरुदेव को सड़क से उठाया । पू० गुरुदेव को दरबान का धक्का इतने जोर से लगा था कि वे अपने को सम्हाल नहीं पाये तथा सड़क पर गिर गये थे । श्रीस्वामीजी के मंच से उठकर आने पर तो दरबान को भी अपनी प्रमादजनित भूल समझ में आ गयी थी । वह भी बहुत ही लज्जित था । पू० गुरुदेव को स्वामीजी मंच पर ले आये और अपने पास बैठाकर प्रवचन करने लगे । यही श्रीस्वामीजी से पू० गुरुदेव का प्रथम परिचय था । यह परिचय आगे चलकर शीघ्र ही घनिष्ट रूप में परिणत हो गया ।

पू० गुरुदेव कट्टर वेदान्ती थे । भगवान के सगुण साकार रूप को वे मायावाद के क्षेत्र की वस्तु मानते थे । तर्क के द्वारा उन्हें सगुण-साकार स्वरूप को स्वीकृत करवा देना कठिन था । कलकत्ते के गोविन्दभवन में स्वामी रामसुखदासजी से विचार-विनिमय हुआ । इसे एक प्रकार से शास्त्रार्थ भी कह सकते हैं । परस्पर के विचारों का आदान-प्रदान संस्कृत भाषा में हुआ । वे सगुण रूप का प्रतिपादन कर रहे थे, परन्तु पू० गुरुदेव के तर्क भी अतिप्रखर थे । पू० गुरुदेव की तार्किकता का समाधान नहीं हो सकने पर श्रीरामसुखदासजी महाराज ने कहा कि मैं तो ऐसा ही मानता हूँ । इस पर पू० गुरुदेव का उत्तर था कि किसी की व्यक्तिगत मान्यता से सत्य थोड़े ही बदल जायेगा । सत्य तो सत्य ही रहेगा । किसी भी मत के पीछे शास्त्र एवं विचारों की तार्किकता तो होनी ही चाहिए ।

स्वामी रामसुखदासजी ने तत्व-चिन्तामणि नामक श्रीसेठजी जयदयालजी गोयन्दका की पुस्तक के कुछ भाग पू० गुरुदेव को पढ़ने को दिये । उन्हें पू० गुरुदेव ने दो-तीन दिन में पढ़कर वापस कर दिये । परन्तु वे सगुण साकार स्वरूप को स्वीकार नहीं कर सके । इसी समय श्रीसेठजी का एक पत्र उन्हें सुनने को मिला । उस पत्र से पू० गुरुदेव बहुत प्रभावित हुए । उस पत्र में जो बातें लिखी थीं, वे सारी बातें वही व्यक्ति लिख सकता था जो ज्ञान की चौथी भूमिका में प्रतिष्ठित हो । यह सेठजी का पत्र श्रीस्वामीजी,

श्रीचम्पालालजी बिन्नानी को सुना रहे थे । पू० गुरुदेव गंभीरता से विचार करने लगे कि- ऐसा पत्र वही लिख सकता है, जिसे स्वरूपानुभव हो गया हो। पू० गुरुदेव ने श्रीरामसुखदासजी महाराज से पूछा- "यह पत्र किसने लिखा है ?" श्रीस्वामीजी ने कहा - "यह पत्र श्रीसेठजी जयदयालजी गोयन्दका का है ।

पू० गुरुदेव ने पूछा - "श्री सेठजी कहाँ रहते हैं ?"

स्वामी रामसुखदासजी बोले - "वे तो बाँकुड़ा रहते हैं ।"

पू० गुरुदेव ने पुनः पूछा "यह बाँकुड़ा कहाँ है ?"

स्वामीजी ने उत्तर दिया - "बाँकुड़ा बंगाल का ही एक नगर है । श्रीसेठजी का वहीं पर संपूर्ण व्यापार है।"

पू० गुरुदेव ने जिज्ञासा की - "मैं उनसे मिलना चाहता हूँ ।"

स्वामीजी ने स्वीकृति में कहा - "आपके बाँकुड़ा जाने की सारी व्यवस्था करवा दी जायेगी । आप वहाँ कब जाना चाहेंगे ।"

पू० गुरुदेव ने त्वरा दिखाई- "मैं तो आज ही वहाँ जाना चाहता हूँ। जब किसी से मिलने की इच्छा जग ही गयी, तब फिर विलम्ब क्यों किया जाय ?"

स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज श्रीसेठजी के परम निजजन थे, स्वामीजी को यह देखकर बहुत ही प्रसन्नता हो रही थी कि पू० गुरुदेव जैसे प्रतिभा सम्पन्न सन्यासी के मन में श्रीसेठजी के प्रति आदर का भाव जाग उठा है । श्रीस्वामीजी महाराज ने रेल की टिकट कटवा कर पू० गुरुदेव को दे दी। साथ ही बाँकुड़ा तार भी करवा दिया गया कि एक युवक सन्यासी आपके दर्शनार्थ आ रहे हैं, जो बड़े ही योग्य हैं । तार यथासमय बाँकुड़ा पहुँच गया।

श्रीसेठजी के आदेशानुसार श्रीघनश्यामदासजी जालान, जो आजीवन गीताप्रेस के मुद्रक तथा प्रकाशक रहे, साथ ही श्रीसेठजी के अत्यन्त निकट सहयोगी रहे, पू० गुरुदेव को लेने प्रतीक्षारत थे । पू० गुरुदेव ने श्री सेठजी के घर ही भिक्षा की एवं तब सेठजी से उनकी एकान्त चर्चा हुई ।

श्रीसेठजी कभी भी अपने बारे में अधिक नहीं बताया करते थे । बहुत ही अन्तरंग लोगों के सम्मुख गूढ़ सत्संग में उनके मुख से अपने बारे में भले ही कुछ निकला हो । वे स्वयं को बहुत ही सुगुप्त रखते थे । ऐसे संगोपन-प्रिय सेठजी ने मिलते ही पू० गुरुदेव के सम्मुख अपनी स्वरूप-स्थिति की बात खोलकर बता दी । किसी अज्ञात प्रेरणा से सेठजी ने पू० गुरुदेव की उस

जिज्ञासा का स्वत: समाधान कर दिया । पू० गुरुदेव तो यही चाहते थे कि वस्तुत: उस पत्र के लेखक को स्वरूपानुभूति हो गयी है,यह बात उन्हें निश्चय हो जाय । अपने अनुमान को सही पाकर पू० गुरुदेव को बड़ी ही प्रसन्नता हुई ? श्रीगोयनकाजी के सम्मुख गुरुदेव नतमस्तक थे ।

अब भगवत्तत्व पर परस्पर में विचार विनिमय होने लगा । पू० गुरुदेव शांकर मतानुयायी थे और अद्वैत साधना के अनुसार जो पूर्णता की स्थिति होती है, उसमें ही उनकी प्रतिष्ठा थी । अनन्त-सत्य-ज्ञान-आनन्दमय ब्रह्म से सदा एकात्मता की अनुभूति के फलस्वरूप पू० गुरुदेव को यह अनुभव होता रहता था कि जगत् न था, न है और न ही होगा । यह जगत् तो स्वप्नवत् पूर्णत: मिथ्या ही है । ऐसी ब्राह्मी स्थिति में प्रतिष्ठित रहने के कारण पू० गुरुदेव श्रीसेठजी गोयनकाजी से विचार-विनिमय करते समय अपनी अद्वैत निष्ठा का ही प्रतिपादन करते थे ।

"ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नाऽपर" महावाक्य के अनुसार पू० गुरुदेव की स्थापना यही थी कि एक मात्र अद्वैत ब्रह्म ही सत्य है । ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी की सत्ता है ही नहीं । जीव ब्रह्म ही है और सम्पूर्ण जगत् स्वप्नवत् मिथ्या है । जीवन की मुक्ति का एकमात्र उपाय आत्म-ज्ञान है । ईश्वर का सगुण साकार स्वरूप और उनकी भक्ति सर्वथा मायाराज्य की वस्तु है । परमतत्त्व के साक्षात्कार का एक मात्र साधन ज्ञानयोग है । श्रीसेठजी की मान्यता इससे भिन्न थी । श्रीसेठजी की आत्यन्तिकी निष्ठा तो ईश्वर के निर्गुण-निराकार ब्रह्म-स्वरूप में ही थी । वे मानते थे कि जिस प्रकार बिन्दु सिन्धु में मिलकर सिन्धु से अभेद रूप में एकाकार हो जाता है, उसी प्रकार जीवका परम प्राप्तव्य निर्गुण निराकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्म में अभेद रूप से मिलकर एक हो जाना ही है । परन्तु इसके साथ ही श्रीसेठजी की आस्था ईश्वर के सगुण साकार रूप में भी थी । श्री सेठजी की मान्यता के अनुसार जीव सगुण-साकार ईश्वर की भक्ति के द्वारा भगवत्साक्षात्कार करके भी परम पद को प्राप्त कर सकता था। श्रीसेठजी की मान्यता का आधार था श्रीमद्भगवद्गीता के तीसरे अध्याय का तीसरा श्लोक।

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ।।

गीतावक्ता श्रीभगवान् के इस कथन के आधार पर श्रीसेठजी का सतत प्रतिपाद्य तथ्य यही था कि जिस प्रकार ईश्वर का निर्गुण-निराकार-स्वरूप सत्य है. उसी प्रकार सगुण-साकार स्वरूप भी सत्य है । निर्गुण-निराकार साध्य की प्राप्ति के लिये साधन पथ है ज्ञानयोग और सगुण साकार साध्य की प्राप्ति के लिये साधनपथ है भक्तिप्रधान कर्मयोग। ये दोनो साधनपथ स्वयं में पूर्ण हैं तथा एक दूसरे से सर्वथा स्वतन्त्र हैं । किसी एक साधन पथ के आश्रय से भी साधक अपने जीवन के चरम लक्ष्य तक पहुँच सकता है ।

श्रीसेठजी का भक्ति-सम्बन्धी सिद्धान्त पू० गुरुदेव को मान्य नहीं था । श्रीसेठजी अपनी मान्यता समझाना चाहते थे, पर वैसी प्रतिपादन-क्षमता नहीं होने के कारण पू० गुरुदेव को समझा नहीं पाये । पू० गुरुदेव विद्वान् थे और विद्वानों की गोष्ठी में जिस शैली से विचारों का आलोचन-प्रतिपादन, खण्डन-मण्डन हुआ करता है, उसी शैली के पू० गुरुदेव अभ्यस्त थे । श्रीसेठजी अपनी बात को सीधे-सीधे शब्दों में सरल रीति से रखना जानते थे, पर पू गुरुदेव की शास्त्रीय शैली के समक्ष उनकी वह सरल पद्धति टिक नहीं पाती थी । शब्द-प्रमाण, पारिभाषिक शब्दावली आदि का प्रयोग करते हुए, जिस शास्त्रीय शैली से विद्वान् लोग अपने मत का प्रतिपादन किया करते हैं, इसका श्रीसेठजी के पास अभाव था । परिणाम यह निकला कि श्रीसेठजी को अपने प्रयास में सफलता नहीं मिली । वे चाहकर भी पू० गुरुदेव को समझा नहीं पाये ।

इस विचार-विनिमय का स्वरूप कुछ-कुछ शास्त्रार्थ जैसा ही था । दोनों पक्षों की ओर से स्वानुभूत सत्य का उद्घाटन और प्रतिपादन ही इस शास्त्रार्थ में आदि से अन्त तक रहा । प्रतिपक्ष को परास्त करके विजय गर्व से प्रफुल्ल होने की भावना किसी के भी मन में नहीं थी । शास्त्रार्थ में विजयी कहलाकर अहं-भाव को परितोषित करने की वृत्ति का कहीं अस्तित्व ही नहीं था । किसी भी प्रकार की क्षुद्रता से पूर्णतः विरहित था यह शास्त्रार्थ । दोनो पक्षों की ओर से एक मात्र हो रहा था अपने-अपने अनुभूत सत्य का निवेदन । इसी का परिणाम था कि इस विचार विनिमय में कटुता के लेशका उद्भव कहीं भी हुआ ही नहीं, प्रत्युत् इस संपूर्ण विचार-विवेचन में आत्यन्तिक सौहार्द परिव्याप्त रहा । इतना होकर भी स्वानुभूत सत्य का आग्रह और उस अनुभवगत सत्य को भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रस्तुत करने का पूर्ण प्रयास दोनों

पक्षों में था ही । यही हेतु था कि पू० गुरुदेव इस विचार विनिमय को कभी-कभी शास्त्रार्थ कहा करते थे ।

जब पू० गुरुदेव सेठजी के पास बाँकुड़ा गये थे, उसके तीन-चार दिन बाद ही श्रीसेठजी को सत्संग के लिये राँची जाना था । श्रीसेठजी के अनुरोध पर पू० गुरुदेव भी उनके साथ-साथ राँची गये । बाँकुड़ा तथा राँची, इन दोनो स्थानों पर लगभग चौदह-पन्द्रह दिनों तक पू० गुरुदेव का तथा सेठजी का परस्पर में विचार-विनिमय होता रहा । भले ही यह विचार-विनिमय एक पक्ष तक चला, फिर भी इस अवधि में पू० गुरुदेव के प्रखर तर्कों के सामने श्रीसेठजी की बात उभर नहीं पायी । जहाँ तक निर्गुण निराकार ब्रह्म के (क) साध्य-तत्व तथा (ख) साधन-पद्धति की बात थी, वहाँ तक इन दोनों विभूतियों की मान्यताएँ समान थीं । निर्गुण निराकार ब्रह्म के साध्य-साधन की दृष्टि से दोनों एक दूसरे से सहमत थे, परन्तु सगुण-साकार ईश्वर के (क) साध्य-तत्व और (ख) साधन-पद्धति, अर्थात (क) ईश्वर के अस्तित्व और (ख) ईश्वर की उपासना के विषय में पू० गुरुदेव श्रीसेठजी से सर्वथा असहमत थे । ईश्वर एवं ईश्वर की भक्ति सम्बन्धी प्रत्येक बात को पू० गुरुदेव मिथ्या राज्य की वस्तु मानते थे । यह ठीक है कि ईश्वर की साकारोपासना से सम्बन्धित बातें श्री सेठजी पू० गुरुदेव के हृदय में स्थापित नहीं कर पाये, परन्तु सत्य तो सत्य ही है और जो सिद्धान्त उनके अपने अनुभव से पूर्णरूपेण स्वतः सिद्ध था, उसे वे कैसे झुठला देते ? वह सत्य तो उनका स्वानुभूत था । जब श्रीसेठजी किसी भी प्रकार से पू० गुरुदेव को नहीं समझा पाये तो उन्होंने पू० गुरुदेव से कहा - "आप एक बार भाई श्रीहनुमान प्रसाद जी पोद्दार से गोरखपुर में मिल लें।"

पू० गुरुदेव ने तटस्थ भाव से उत्तर दिया - "श्रीपोद्दारजी से मिलने के लिये मेरे मन में उत्साह नहीं ।"

पू० गुरुदेव का अध्ययन विशाल था । उस अध्ययन के आधार पर पू० गुरुदेव को लगा कि श्रीमद्भगवद्गीता सम्बन्धी सेठजी के जो भाव हैं, वैसे अन्यत्र देखने में नही आते । और यह गहन चिन्तन यदि लिपिबद्ध नहीं हुआ तो जगत् एक दिव्य और दुर्लभ निधि से वंचित रह जायेगा । पू० गुरुदेव ने सेठजी से कहा - "आप गीता सम्बन्धी अपने विचारों को लिपिबद्ध करा दें ।"

अपनी विवशता व्यक्त करते हुए श्री सेठजी ने उत्तर दिया - "कौन करे, और कैसे होगा ? मैं तो शुद्ध हिन्दी भी ठीक प्रकार से बोल नहीं पाता।"

पू० गुरुदेव ने कहा आप अपने विचार मुझे बतलायें । उनको लिखकर के मैं आपको दिखला दूँ । यदि आपको ऐसा प्रतीत हो कि मेरे द्वारा ठीक लिखा गया है तो फिर लेखन कार्य हो ।

श्री सेठजी मारवाडी -मिश्रित हिन्दी का प्रयोग अपने गीता-प्रवचनों में किया करते थे । पू० गुरुदेव ने श्री सेठजी के एक प्रवचन को शुद्ध हिन्दी भाषा में लिपिबद्ध करके श्री सेठजी के सम्मुख प्रस्तुत किया । पू० गुरुदेव की अभिव्यक्ति- कुशलता, भाषा-अधिकार और विषय-प्रवेश को देखकर सेठजी अति विस्मित हुए । बस, उसी दिन यह निर्णय हुआ कि श्रीमद्भगवद्गीता की टीका लिखी जाय और इस कार्य का आरम्भ गोरखपुर में हो । श्री सेठजी को कहीं अन्यत्र कार्यवश जाना था अत: यह निर्णय हुआ कि वे स्वतन्त्र रूप से अन्यत्र होते हुए गोरखपुर पहुंचेंगे और पू.गुरुदेव को गोरखपुर पहुँचने के लिये रेल टिकिट कटा कर दे दी गयी ।

श्री सेठजी जयदयालजी गोयन्दका के चमत्कार

श्री सेठजी जयदयालजी गोयन्दका पू० गुरुदेव की दृष्टि में ज्ञान की चौथी भूमिका में प्रतिष्ठित संत थे । उनमें अनेक चमत्कार भी थे । पू० गुरुदेव के सम्मुख उनके जो चमत्कार प्रकाश में आये, यहाँ मात्र उनका ही उल्लेख किया जा रहा है । वैसे उनके अनेक चमत्कारों की बातें दूसरे सत्संगियों ने भी बतलायी हैं ।

वास्तव में विषयों का उपभोग न करने वाले के विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, परन्तु जो आसक्ति है वह निवृत्त नहीं होती । रस की इस आसक्ति की सर्वथा निवृत्ति तभी होती है, जब परतत्व का ठीक अनुभव हो जाय अथवा साक्षात् भगवद्दर्शन हो जाय । अद्वैत साधना के अनुसार पूर्णता की जो स्थिति होती है, उसमें पू० गुरुदेव की प्रतिष्ठा थी । ऐसी ब्राह्मी स्थिति में प्रतिष्ठित रहने के उपरान्त भी वे अपने में एक दोष पाते थे । वे जब भी भिक्षा करते थे, यदि कोई वस्तु मिष्ठान्न(मीठी) होती थी तो वे अधिक खा जाते थे । पू० गुरुदेव जब भी अपनी आत्मस्थिति पर विचार करते तो उन्हें कहीं भी न्यूनता

नहीं दिखती थी, परन्तु मीठी वस्तु अधिक खा लिये जाने के आधार पर वे यही मान लेते थे कि उन्हें अभी परतत्व का साक्षात्कार नहीं हुआ है । उन्होने मन ही मन यह सोच रखा था कि जो मेरी इस गुत्थी को सुलझा देगा, उसका मैं महापुरुषत्व स्वीकार कर लूँगा । उन्होने यह प्रश्न श्रीसेठजी के सम्मुख भी रखा ।

श्री सेठजी ने पू० गुरुदेव से बहुत ही सरल ढंग से कहा कि मीठी वस्तु अधिक खा लेने का अर्थ ब्राह्मी स्थिति में कोई त्रुटि नहीं है । मीठी वस्तु के खाने की स्पृहा तो रक्त की अल्पता की द्योतक है । रक्ताल्पता के समाप्त होते ही वह स्पृहा और स्पृहाजनित क्रिया स्वत: ही समाप्त हो जायगी । इस उत्तर से पू० गुरुदेव की सारी उलझन समाप्त हो गयी । पू० गुरुदेव सन्देहरहित रूप से विभुतत्व में प्रतिष्ठित हो गये ।

इसी प्रकार बांकुड़ा से राँची आते समय पू० गुरुदेव से श्रीसेठजी का विचार-विमर्श रेलगाड़ी में भी चल रहा था । श्रीसेठजी बहुत प्रयत्न करने पर भी पू० गुरुदेव को सगुण-साकार तत्व पर विश्वास नहीं करा पा रहे थे। उनका कथन अनुभव के आधार पर था, जिसे पू० गुरुदेव किसी भी प्रकार मानने को उद्यत नहीं थे । अन्त में थककर उन्होने अपनी सिद्धि का प्रयोग करने की ठानी । पू० गुरुदेव से उनका विचार तो चल ही रहा था, इसी बीच उन्होने अपना वस्त्र पू० गुरुदेव के शरीर से संस्पर्शित करा दिया । वस्त्र के संस्पर्श होते ही पू० गुरुदेव के सम्मुख भगवान् नारायण की ध्यान-मूर्त्ति प्रकाशित हो गयी । पू० गुरुदेव चकित थे कि बिना किसी ध्यान, चेष्टा एवं साधना के यह मूर्ति मेरे सम्मुख कैसे व्यक्त हो रही है । भगवान् नारायण की वह प्रतिमा अलौकिक सुन्दर,अतिशय तेजस्वी थी । उसके आलोक से एक बार तो पू० गुरुदेव का समग्र अन्त:करण आलोकित हो उठा। सहसा पू० गुरुदेव के मन में एक सन्देह हो गया कि हो-न-हो यह श्रीसेठजी का कोई सिद्धि प्रयोग ही है । उन्होने ज्योंही नीचे की ओर दृष्टि डाली, उन्हें इस तथ्य का ज्ञान भी हो गया कि उनके शरीर से श्रीगोयन्दकाजी का वस्त्र का छोर संस्पर्शित हो रहा है । उन्होने हँसकर वह वस्त्र हटा दिया एवं श्री सेठजी को यह उत्तर दिया कि विचारों को विचारों से काटिये, इस प्रकार जादू का प्रयोग क्यों करते हैं ?

वस्त्र का छोर हटने से वह मूर्ति भी स्वत: ही लुप्त हो गयी ।

गोरखपुर आगमन एवं पू० भाईजी हनुमानप्रसादजी पोद्दार से प्रथम भेंट

श्रीसेठजी जयदयालजी गोयन्दका से निर्धारित कार्यक्रमानुसार पू० गुरुदेव दो रात और एक दिन की रेल यात्रा करके गोरखपुर रेल्वे स्टेशन पर उतरे। यात्रा में भिक्षा का तो प्रश्न ही नहीं था । अत: वे निराहार ही थे । वे भिक्षा की याचना तो करते नहीं थे, प्रारब्धानुसार स्वत: ही कोई आग्रह करता तो भिक्षा किया करते थे । आहार के अभाव में उनके शरीर में पर्याप्त शिथिलता थी । स्टेशन से बाहर आकर पू० गुरुदेव ने गीताप्रेस का मार्ग पूछा और स्टेशन से दूरी भी पूछी । लगभग तीन मील की दूरी की बात सुनकर पू० गुरुदेव एक बार तो स्तब्ध रह गये । वे अर्थ का स्पर्श नहीं करते थे और न ही किसी जानदार सवारी पर चढ़ते ही थे। अशक्तता की अनुभूति पर्याप्त थी, परन्तु दूसरा कोई उपाय भी नहीं था । वे थोड़ी दूर चलते फिर थककर बैठ जाते । इस प्रकार नौ-दस बार ठहरते, बैठते-उठते हुए तीन मील की दूरी उन्होने अढ़ाई-तीन घंटे में तय की । पं० श्रीलादूरामजी उन्हें गीताप्रेस के द्वार पर मिले । उनसे श्रीसेठजी गोयन्दकाजी के बारे में पूछने पर पता चला कि वे अभी तक आये हैं नहीं, संभव है एक दो दिवस में आवें । उन्होने शर्माजी से हनुमानप्रसादजी पोद्दार के बारे में पूछ लिया । उनकी स्मृति उन्हें सहसा ही हो आयी थी । श्रीशर्माजी ने कहा -"वे हैं तो सही, परन्तु वे रहते हैं गीतावाटिका में, जो यहाँ से लगभग तीन मील दूर है ।

अभी तक तो पू० गुरुदेव खड़े-खड़े बात कर रहे थे, परन्तु पुन: तीन मील की बात सुनते ही वे हताश होकर वहीं भूमि पर बैठ गये । शरीर की दुर्बलता एवं उपवास जनित अशक्तता के कारण तीन मील पुन: चलना उन्हें असंभव लग रहा था । परन्तु भगवदिच्छा से श्रीलादूरामजी के मन में सद्भाव का उदय हो गया । उन्होने गुरुदेव से कहा कि मैं आपको इक्का कर देता हूँ, उस पर चढकर आप गीतावाटिका चले जाइये । नियमत: जानदार सवारी पर पू० गुरुदेव बैठते नहीं थे, परन्तु यहाँ तो सर्वथा ही विवशता की स्थिति थी । इक्के का भाड़ा श्रीशर्माजी ने दे दिया था । इक्का गीताप्रेस से गीतावाटिका आया । प्रवेश द्वार पर पू० गुरुदेव उतर पड़े ।

उस समय गीता वाटिका लघु वनस्थल ही था । बिजली का प्रकाश था नहीं । रात के समय मात्र लालटेन के प्रकाश से काम चलाया जाता था ।

चारों ओर आम और अमरूद के बड़े-बड़े बाग एवं खेत थे । क्षेत्र इतना निर्जन था कि लोग दिन में आते ही डरते थे । गीतावाटिका अपने आप में एक ऋषि उपवन था । हरी-भरी लताओं और ऊंचे-ऊंचे वृक्षों के कारण उपवन बहुत ही सघन था । फूल चतुर्दिक असंख्य थे । फल भी मौसम के अनुसार सभी होते थे । इस ऋषि-उपवन में इने-गिने कतिपय सहयोगियों के साथ श्रीपोद्दारजी 'कल्याण' पत्रिका का सम्पादन कार्य किया करते थे ।

गीतावाटिका के प्रवेशद्वार पर ही पू० गुरुदेव को श्रीदुलीचन्दजी दुजारी मिले । वाटिका के अग्रभाग में एक भवन था, उसी में श्रीपोद्दारजी सपरिवार रहते थे । इसी भवन में सम्पादकीय विभाग के लोग भी रहा करते थे । यही उनका कार्यालय भी था । उस भवन के बरामदे की सीढ़ियों में पू० गुरुदेव बैठ गये ।

इन दिनों यहां एक वर्ष का अखण्ड साधक-सत्र चल रहा था । देशभर से सैकड़ों साधक साधना एवं सत्संग करने यहाँ आये थे । वहाँ अखण्ड भगवन्नाम संकीर्त्तन भी चल रहा था, साथ ही श्री शान्तनुबिहारी द्विवेदी (श्री अखण्डानन्द सरस्वती) द्वारा श्रीमद्भागवत कथा भी चल रही थी ।

जिस समय पू० गुरुदेव वहाँ पहुँचे संकीर्तन पण्डाल में श्रीपोद्दारजी स्वयं एक अण्डी (कटिया रेशम का वस्त्र) ओढे हुए हाथ से ताली बजा-बजाकर कीर्त्तन कर रहे थे । श्रीदुलीचन्दजी ने श्रीपोद्दारजी को सूचना दी कि एक दुबले-पतले युवक सन्यासी बाहर से आये हैं और आपको पूछ रहे हैं । श्रीदुलीचन्दजी से सूचना पाते ही श्रीपोद्दार महाराज संकीर्तन पण्डाल से चलकर पू० गुरुदेव के पास आये और दोनों हाथों से पू० गुरुदेव के दोनों चरणों को छूकरके प्रणाम किया । ये पू० गुरुदेव के स्वयं के शब्द हैं कि "पहली ही भेंट में उन्होने मुझमें रसराज श्रीकृष्ण को प्रतिष्ठित कर दिया । रसस्वरूप श्रीकृष्ण और महाभाव स्वरूपा श्रीवृषभानुनन्दिनी वैसे तो एक ही हैं, परन्तु उन रसस्वरूप संत ने पहली ही भेंट में मुझे महाभाव का दान कर दिया । इस दान की प्रक्रिया भी अति विचित्र थी ।"

"जगत् में दाता का हाथ और दाता का मस्तक सदा ऊँचा रहता है । पर इन रसस्वरूप श्रीपोद्दार महाराज ने स्वयं झुककर दान दिया । मेरे चरणों को छूकर दान दिया और अपने मस्तक को झुकाकर दान दिया । इसीलिये मैनें एक सोरठा बनाया है- विभु-तत्व में मेरी प्रतिष्ठा तो श्री सेठजी ने की, परन्तु मुझमें श्रीराधाकृष्ण के रसतत्व की प्रतिष्ठा श्रीपोद्दार महाराज ने की।"

"ब्रह्मरूप स्वस्थान जयदयाल विभु ने दिया ।
महाभाव रसदान कृष्णरूप हनुमान ने ।"

"जो कार्य श्रीसेठजी से चौदह-पन्द्रह दिन तक शास्त्रार्थ करने से नहीं हुआ, वह एक क्षण के इस स्पर्श ने कर दिया । साकारोपासना की तो बात ही क्या । वस्तुतः ऐसी बात तो अति साधारण स्तर की ही होती । साकारोपासना की अन्तरंगतम हृदयवस्तु उस स्पर्श के द्वारा श्री पोद्दारजी महाराज ने मुझे प्रदान कर दी । न जाने कितनी-कितनी उपासना-साधना के उपरान्त भी जो वस्तु प्राप्त नहीं होती, वह लव मात्र में मुझे कैसे प्राप्त हो गयी, यह रहस्य बुद्धिगम्य है ही नहीं । यह सब अनुमान से अति अतीत है। बस, इतना ही कह सकता हूँ कि साकारोपासना की हृदय वस्तु जो व्रजभाव है, वह श्रीपोद्दार महाराज के उस अद्भुत स्पर्श से लव मात्र में मेरे अन्तर में सुस्थापित हो गया ।"

"ब्राह्मी स्थिति की मस्ती में मैं चतुर्थाश्रमी सन्यासी न तो झुका और न ही मैने हाथ पसारे, जब वस्तु के महत्व से भी अपरिचित था तो याचना होती भी कैसे, अतः मन में भी याचना का भाव नहीं था, परन्तु ज्ञानोत्तर भावराज्य की रसमयता में सतत निमग्न श्रीपोद्दार महाराज को वस्तु का दान करते समय झुकने के लिये सोचना भी नहीं पड़ा । सहज भाव से वे झुके और अति विनम्र होकर उन्होने अपने जीवन की निधि मुझे सौंप दी । वस्तुतः रसामृत के दान की यह प्रक्रिया ही अति अद्भुत है । गागर आयी अवश्य सागर के पास, परन्तु गागर झुकी नहीं, सागर पूर्णतः झुक गया । रसामृत का पान कराने के लिये झुक पड़ा सागर । सागर बह पड़ा और रस से सिक्त हो उठा पात्र ।"

पू० गुरुदेव की दृष्टि पोद्दार महाराज पर तभी से लग गयी थी जब वे प्रणाम कर रहे थे । प्रणाम करके ज्यों ही उन्होने अपना मस्तक उठाया उनकी दृष्टि पू० गुरुदेव की दृष्टि से एक हो गयी । पू० गुरुदेव को श्रीपोद्दार महाराज एकटक देखने लगे । तीन-चार मिनट का समय कम नहीं होता । इस अवधि में निश्शब्द दोनों एक-दूसरे को अपलक देखत रहे । यह परस्पर निहारना ऐसा उत्कंठायुक्त था मानो कितने युगों से यह सम्मिलन हुआ हो ।

चार-पाँच मिनट पश्चात् जब पोद्दार महाराज कुछ प्रकृतिस्थ हुए तो उन्होने पू० गुरुदेव से भिक्षा के बारे में पूछा । पूछने पर पू० गुरुदेव मन्द-मन्द मुसका दिये । श्रीपोद्दार महाराज ने अनुमान लगा लिया कि पू०

गुरुदेव को निराहार रहना पड़ा है । उन्होने तत्काल उनके विश्राम और भिक्षा की व्यवस्था की ।

उस दिन एकादशी थी अतः पोद्दार महाराज थाल में व्रतोचित फलाहारी वस्तुएँ लेकर पू० गुरुदेव के सम्मुख आये । पू० गुरुदेव ने कहा - "मैं पहले स्नान करना चाहता हूँ ।"

तत्काल स्नान की व्यवस्था हुई । भिक्षा के समय पत्तल परोसने का कार्य स्वयं पोद्दारमहाराज ने ही किया । इसी प्रकार कुटिया में पू० गुरुदेव के लिये पुआल का गद्दा भी श्रीपोद्दारजी ने स्वयं ही बिछाया । पू० गुरुदेव स्वयं देख रहे थे कि श्रीपोद्दार महाराज में संत-सेवा का कैसा भाव और चाव है । अतिथि-सत्कार की इस क्रिया ने उन्हें विस्मय से भर दिया था । वे सोच रहे थे कि क्या ऐसे सेवा-भावी शीलसम्पन्न मानव इस भूतल में आज भी हैं ?

सब आवश्यक कार्यों से जब गुरुदेव निवृत्त हो गये तो उनकी सुस्थिरता से पू० श्रीपोद्दार महाराज से वार्ता हुई । पू० गुरुदेव ने संक्षेप में बतलाया किस प्रकार राँची में श्रीसेठजी से श्रीमद्भगवद्गीता की टीका लिखने की बात उठी और फिर गोरखपुर आने का कार्यक्रम बना । सारे विवरण को सुनकर पू० श्रीपोद्दारमहाराज ने कहा - "स्वामीजी । मुझे तो आज ही वाराणसी जाना पड़ रहा है। वहाँ एक स्वजन मरणासन्न स्थिति में हैं । वाराणसी जाना आवश्यक है । तीन-चार दिन में मैं अवश्य लौट आऊँगा । तबतक आप यहीं विराजित रहें । आपको कुछ भी कष्ट नहीं होगा । मेरे व्यक्ति आपकी भली प्रकार सँभाल कर लेंगे ।

पू० गुरुदेव ने उत्तर दिया - "आप मेरी ओर से निश्चिंत हो जायें । आप चिन्ता-रहित होकर वाराणसी यात्रा करें । मैं यहीं पर रहूँगा।"

श्रीपोद्दार महाराज उसी रात्रि में वाराणसी चले गये । पू० गुरुदेव ने रात्रि में गहरी निद्रा ली । ट्रेन की लम्बी यात्रा में वे ठीक प्रकार से सो नहीं पाये थे ।श्री पोद्दार महाराज दो-तीन दिवस में ही लौटकर आने वाले थे, परन्तु वे संयोगवश लौटकर आये प्रतिपदा-तिथि के दिन ।

पू० गुरुदेव गोरखपुर आने के पश्चात् आमूल परिवर्तित हो गये । पू० गुरुदेव की स्थिति के सम्बंध में पू० श्री पोद्दार महाराज के ही शब्दों में यहाँ उनकी स्वयं की वाणी उद्धृत की जा रही है :-

"बदलते-बदलते वे रस-तत्त्व में प्रवेश करके व्रज रस के उपासक बन गये । दो भिन्न अवस्थाएँ होती हैं । रसतत्व वाले अद्वैत के विरोधी होते हैं

और अद्वैत-तत्ववाले रसतत्व को अज्ञान की भूमिका में मानते हैं । अद्वैत मतावलम्बी सम्प्रदाय में कुछ ऐसे भी हैं, जो भगवान् को भी माया की वस्तु मानते हैं और कहते हैं कि ईश्वर मायोपाधिक है । वे जीवको अविद्योपाधिक कहतें हैं और ईश्वर को मायोपाधिक बताते हैं। अविद्या और माया का निरसन हुआ कि न जीव है और न ही ईश्वर है । वे ईश्वर की सत्ता को तत्वतः स्वीकार नहीं करते । बस, साधनकाल में ईश्वर का उपयोग करना चाहिए, इतनी ही उनकी ईश्वर संबंधी महत्वबुद्धि होती है । ईश्वर का स्तवन, पूजन मात्र अन्तःकरण की शुद्धि के ही लिये प्रयोजनीय है - यही उनकी धारणा होती है । परन्तु उपास्य ईश्वर कोई तत्व की वस्तु है, यह वे नहीं मानते । ईश्वर मात्र साधन की ही वस्तु है, तत्वतः सत्य नहीं है ।"

"इसी तरह से रसतत्व के लोग भी अद्वैत तत्व का मखौल उडाया करते हैं और इसे जड़, आकाश की भाँति शून्य कहकर उपहास करते हैं । यह उपहास कुछ तो उनका विनोद, कुछ शास्त्रार्थ के लिये हठ, एवं कुछ दुराग्रह होता है और कुछ तो अज्ञान ही होता है, जिसका निरसन आवश्यक है । ये कुछ सिद्धान्त की बातें हैं। अद्वैत तत्व में स्वामीजी की निष्ठा होते हुए भी रसतत्व में इनका प्रवेश हुआ और वह प्रवेश उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया । जो इनके अन्तरंग जीवन के सम्पर्क में आये हैं, उनको मालूम है कि महाभाव की जो अगले स्तर की चीज है, जिसकी रूपरेखा शायद गोस्वामी प्रभृति-रस मर्मज्ञों तक ने भी नहीं खींची, वैसी चीज इनमें व्यक्त हुई, इनके अनुभव में आयी है । इनका जीवन रस-समुद्र में निमज्जन है । रस-सागर में जो भाव तरंगें उठा करती हैं संभव है, वे इनके जीवन में उठें । कैसे उठें, क्या उठें, तंरगों का कुछ पता नहीं चलता । इनकी यह वस्तु आज की नहीं, पुरानी वस्तु है। साधना के क्षेत्र में यह एक बड़ी विलक्षण वस्तु है कि जहाँ रसतत्व और ब्रह्म तत्व एक दूसरे के अ-प्रतिद्वन्द्वी होकर एक साथ एक रूप में रहते हों । ऐसा नारदादि ऋषियों में था । भगवान शंकराचार्य में भी ऐसा माना जाता है । ये उदाहरण है विरल बहुत ही कम । इससे लोगों को शिक्षा लेनी चाहिए ।"

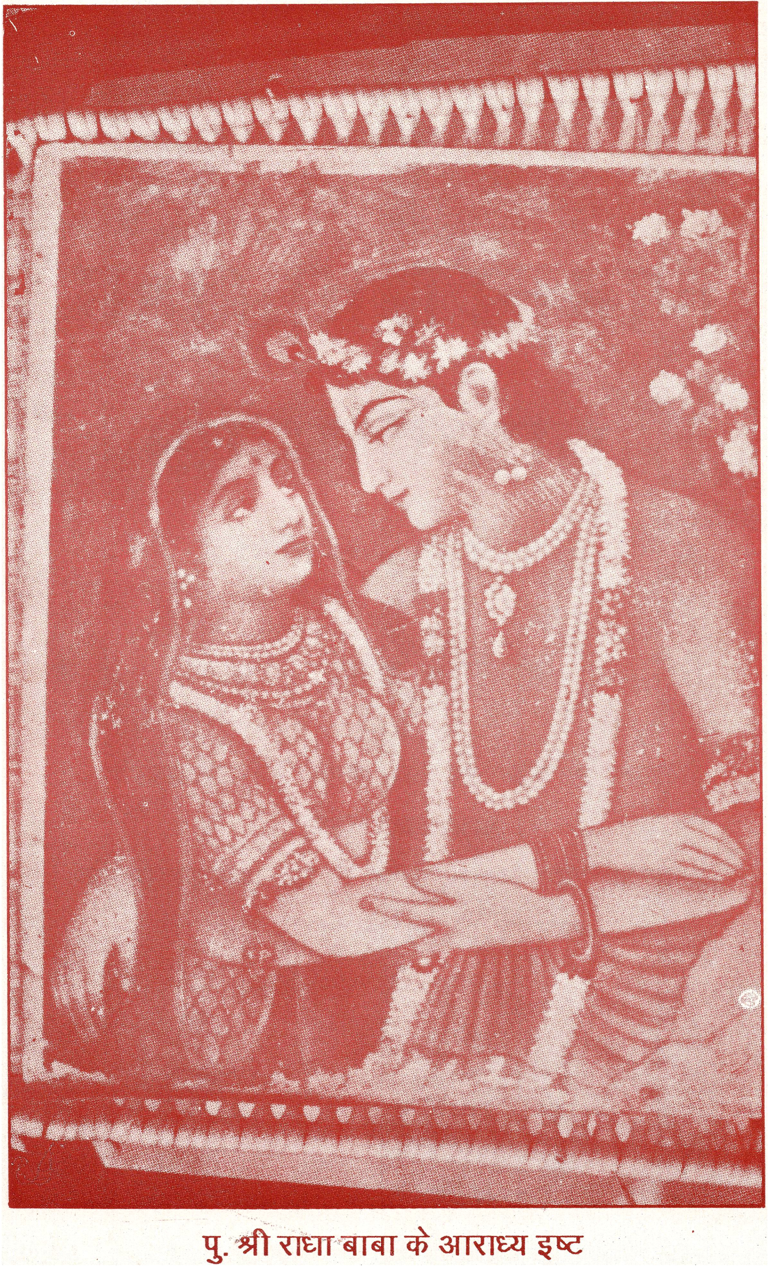

पु. श्री राधा बाबा के आराध्य इष्ट

महाभाव दिनमणि
श्री राधाबाबा

दूसरा भाग

श्रीकृष्ण-दर्शन, गीता तत्व विवेचनी का कार्य,
रसोदय का प्रभात
श्री पोद्दार महाराज के साथ जीवनव्यापी एकात्मता
सन् १९३६ से १९४० ई. तक

श्रीकृष्ण दर्शन एवं गोपी भाव-स्वरचित चौपदे

क्षण एक हुआ था आई ही पिञ्जर परिसर में थी प्रियतम !
उसके काले घेरे का था छू गया अंश मुझ से प्रियतम !
ऐसी प्रतीति उस समय हुई मानो चिर परिचित था प्रियतम !
सुन्दर वह नित्य भवन मेरा, भूला-सा हुआ अभी प्रियतम ! ।।१३।।

एक क्षण ही हुआ था, मैं विहगी पिंजर-परिसर (गीतावाटिका) में आयी ही थी, कि पिंजर (श्रीपोद्दार महाराज) के शरीर के काले घेरे का एक अंश मुझ से छू-भर गया । अर्थात् आते ही उन्होने मुझ सन्यासी की मर्यादानुसार चरणस्पर्श करके मुझे छू-भर लिया, उस समय ऐसी प्रतीति हुई - यह पिंजरा (पोद्दारजी का देह) तो मेरा चिरपरिचित सुन्दर भवन है, यह तो मेरा नित्य का घर है, परन्तु अबतक तो यह मेरे द्वारा भूला हुआ ही था ।। १३।।

द्वादशी प्रदोष समय आश्विन शुक्ला की यह घटना प्रियतम !
तेइस वर्षो से पहले की वैसी ही दीख रही प्रियतम !
पर जो फुलेल का ही करके आचमन कहे मीठा प्रियतम !
देना फिर उसको पुष्पसार केवल गँवारपन है प्रियतम ! ।।१४।।

आश्विन शुक्ला द्वादशी, प्रदोष समय की यह घटना थी, तेईस वर्ष पहले की - मुझे ज्यों-की-त्यों वैसी ही दिखाई दे रही है। परन्तु जो फुलेल (चमेली के तेल) का आचमन करके उसे ही मीठा कहकर सराहे, हे प्रियतम ! उसे फिर पुष्पसार-इत्र देना तो केवल गँवारपना ही है ।। १४।।

दोहा प्राचीन एक कविका है भाव लिये ऐसा प्रियतम !
जो है घट चुका सत्य बनकर कुछ वर्ष अभी पहले प्रियतम !
जीवन में इस विहंगिनी के कर करके व्यथित इसे प्रियतम !
कम-से-कम नौ-दस बार, अतः रुक रही गिरा अब है प्रियतम ।१५।

यह प्राचीन कवि का दोहा है परन्तु कुछ वर्ष पहले इस विहंगिनी के जीवन में सत्य बनकर घट चुका है। कम-से-कम नौ-दस बार इसे व्यथित कर-करके ऐसी घटनाएँ घटी हैं, अब वाणी कुछ कहने के पूर्व रुक रही है। ।।१५।।

जो समझ सके, समझे इसको आगे चलती मैं हूँ प्रियतम !
छब्बीस पहर की सरस विरस अनुभूति न कहकर ही प्रियतम !
समला प्रवाहिनी क्षुद्र एक जो थी उसके तट की प्रियतम !
बातों को छूती हुई तनिक दाँयें बाँयें मुड़ती प्रियतम !।।१६।।

जो इसे समझ सके, समझे । मैं अब जो एक क्षुद्र समला (मैली) नदी थी, (राप्ती) उसके तट की बातों को छूती हुई, तनिक दाँयें-बाँयें मुड़ती हुई, छब्बीस प्रहर की सरस-विरस अनुभूतियाँ न कहकर, आगे चलती हूँ । ।।१६।।

क्या से क्या कुछ दिन में ही था जीवन का हाल हुआ प्रियतम !
कैसे बह गयी ज्ञान-गरिमा इस नीली धारा में प्रियतम !
कैसे क्रमशः पिञ्जर में थी आसक्ति बढ़ी मेरी प्रियतम !
सुनने वाला न मिला इसको, सुनने वाली न मिली प्रियतम !।।१७।।

कुछ दिनों में ही मेरे जीवन का हाल क्या से क्या हुआ ? कैसे मेरी ज्ञान-गरिमा इस नीली धारा में सर्वथा बह गयी, कैसे क्रमशः मेरी इस पिंजर (पोद्दारमहाराज की देह) में आसक्ति बढ़ी, हे प्रियतम ! यह वार्त्ता न कोई श्रद्धापूर्वक मुझसे सुनने वाला ही मिला, न सुनने वाली ही मिली ।

उन दिनों गीतावाटिका अध्यात्म का जीवन्त स्थान थी । चारों ओर दूर-दूर तक आम, अमरूद, नासपाती और नारंगी के बगीचे थे । कोई अमरूद के वृक्ष के नीचे चटाई डालकर ध्यान कर रहा है और कोई आम्र वृक्ष के नीचे नाम-जप । प्रातः चार बजे से रात के ग्यारह-बारह बजे तक कथा, कीर्तन, सत्संग, प्रवचन और अखण्ड भगवन्नाम-संकीर्तन तो चौबीसों

घन्टों ही। इसी सबके मध्य सम्पादकीय-कार्य भी होता रहता था । समस्त वातावरण पूर्णतया प्राकृतिक, उन्मुक्त, सहज और भक्तिरस से ओतप्रोत था।

श्रीपोद्दारजी का शीलस्वभाव किसी को भी सहज ही आकृष्ट कर लेता था। उनकी वाणी इतनी मधुर, स्वभाव इतना स्नेहिल और व्यवहार इतना साधु था कि लगता था यह व्यक्ति इस पृथ्वी का नहीं है, गोलोक से उतर कर विश्व को प्रेम का पाठ पढ़ाने के लिये, अथवा रागद्वेष की महावह्नि में जलती हुई मानवता पर अमृत की वर्षा करने के लिये ही मनुष्य का शरीर धारण कर आया है।

उन दिनों वर्षभर का साधन-सत्र चल रहा था । लगभग सौ, डेढ सौ साधक व्रत लेकर साधन-भजन कर रहे थे । भारतवर्ष के सभी प्रान्तों के लोग थे । बिहार, बंगाल, पंजाब, गुजरात, महाराष्ट्र, मद्रास और राजस्थान के साधकों का अपूर्व संगम वहाँ देखने को मिलता था । एक किनारे भोजन-गृह था, सामूहिक भोजन की व्यवस्था थी, कुछ लोग बारह मास के लिये मात्र शाकाहार पर ही थे । उनके लिये शाकाहार की व्यवस्था थी; कुछ लोग अपनी स्वतंत्र पाक-व्यवस्था रखे हुए थे, उन्हें आटा, दाल, घी, सब्जी - सब सूखे सामान देने की भी व्यवस्था थी ।

भिन्न-भिन्न प्रकृति और रुचि के लोगों के मध्य ऐसी आत्मीयतापूर्ण पारिवारिक व्यवस्था थी कि सर्वत्र आत्मीयता और माधुर्य ही परिव्याप्त रहता था । ऐसा पवित्र और निराला वातावरण था कि इसके दिव्य-सौन्दर्य के सामने स्वर्ग भी तुच्छ था। लोगों को ऐसा ही अनुभव होता था। झाँझ, मृदंग, ढोल, करताल, पखावज, खोल के साथ चौबीसों घंटे खड़े हो-होकर नृत्य करते हुए उद्दाम कीर्तन होता था । वातावरण इतना सात्विक था कि इस पवित्र सत्संग में श्रीनारदजी एवं अंगिरा ऋषि भी पधारे थे।

बात यह हुई थी कि अपने पूर्व क्रान्तिकारी जीवन के कारण हुई नजरबन्दी के एक वर्ष के काल में, शिमलापाल में पू० श्रीपोद्दारमहाराज ने 'नारद-भक्तिसूत्रों' पर एक विस्तृत टीका लिखी थी । इधर सत्संग-सत्र में श्रीमद्भागवत की कथा श्रीशान्तनुबिहारी द्विवेदी कर रहे थे। यह कथा भी बडी गंभीर एवं सारगर्भित होती थी और उसमें नारदजी का उल्लेख एवं प्रसंग भी आ रहा था । इन सब बातों से पू० पोद्दारमहाराज के मन में नारदजी का सत्संग प्राप्त करने की बहुत ही तीव्र भावना हुई । रात्रि में श्रीपोद्दार महाराज को स्वप्न में दो तेजोमय ब्राह्मण-मूर्तियाँ दृष्टिगोचर हुईं । वे उन्हें

पहचान नहीं सके । परिचय पूछने पर उन्होनें बतलाया - वे नारद और अंगिरा ऋषि हैं । पीछे उन्होंने कहा - "हम कल दिन में तीन बजे तुमसे मिलने के लिये प्रत्यक्षरूप से आवेंगे ।" यह स्वप्न प्रायः जाग्रत् अवस्था के समय का था और इतना स्वाभाविक था कि श्रीपोद्दारजी को कोई भी सन्देह नहीं रहा । श्रीपोद्दारमहाराज ने पीछे बगीचे में इमली के पेड़ के नीचे एक कुटिया साफ करवाकर उसके सामने एक बैंच लगवा दी और उस पर दो आसन बिछवा दिये। उन्होंने अन्य किसी से इसकी चर्चा भी नहीं की । वे स्वयं अपने निवास के बाहर बरामदे में बैठ गये एवं उनकी प्रतीक्षा करने लगे।

ठीक तीन बजे दो ब्राह्मण आये और उन्होंने श्रीपोद्दारजी से मिलना चाहा। वे उन्हें पहचान गये । ठीक वही आकृति, वही स्वरूप, जैसा स्वप्न में उन्होंने देखा था । वे पीछे बगीचे में बढ़ने लगे और उनके पीछे-पीछे दोनों ब्राह्मण चलने लगे । सभी लोग उस एकान्त कुटिया में पहुँचे । श्रीपोद्दारजी उन दोनों को बैंच पर लगे हुए आसनों पर बैठाकर स्वयं नीचे बैठ गये । दोनों ब्राह्मण श्वेत वस्त्र पहने हुऐ थे । परन्तु आसन पर बैठते ही दोनों का वास्तविक रूप प्रकट हो गया । बहुत ही भव्य दर्शनीय रूप था। वे कुछ देर बैठे रहे और उनसे तात्विक वार्त्ताएँ हुईं ।

बात यह थी कि पू० श्रीपोद्दारमहाराज को वि० सं० १९७९ तदनुसार १९२३ ई० में बम्बई में भगवान् श्रीराम के दर्शन हो गये थे । भगवान् श्रीराम के दर्शनों के पश्चात् उनमें प्रगाढ़ ब्रह्मभाव का उदय हुआ एवं तत्पश्चात् आश्विन कृष्ण ६ वि०सं० १९८४ को जैसीडीह तदनुसार २ अक्टूबर १९२७ ई०, में भगवान् विष्णु के दर्शन हुए । श्रीसेठजी जयदयालजी गोयन्दका की यह मान्यता थी कि भगवान् विष्णु -- जिन्होंने पोद्दारजी को दर्शन दिये थे, वे मात्र इस एक ब्रह्माण्ड के पालनकर्ता अधिदेव थे । परात्पर परब्रह्म परमात्मा का यह दर्शन उन्हें नहीं हुआ था । इसके अनेक वर्षों पश्चात् लगभग १९३० ई० में उन्हें श्रीराधाकृष्ण के दर्शन हुए । इन श्रीराधाकृष्ण के दर्शन के पश्चात् वे निकुंजभाव की अति उत्कृष्ट महाभावमयी लीलाओं में प्रवेश पा गये थे । ये लीलाएँ इतनी दिव्य और रसमयी होतीं थीं कि चित्त इनमें रमकर प्रपंच को सर्वथा विस्मृत कर जाता था ।

परन्तु अद्वैतनिष्ठ महात्माओं के प्रवचन सुनने से उसमें उनका पैदा सन्देह झाँक जाता था कि भगवान् विष्णु, राम, कृष्ण, राधा एवं गोपियों का स्वरूप कहीं मायिक तो नहीं है ?

अद्वैतवादी लोग एकमात्र ब्रह्मतत्व को ही सत्य बताते थे । इसी से उन्हें यह सन्देह उत्पन्न होता था । गोरखपुर आने के पश्चात् यह सन्देह बहुत कुछ नष्ट हो चुका था, पर फिर भी कभी-कभी लेशात्मक सन्देह की वृत्ति आ जाती थी ।

श्रीनारदजी से इनका जो भी विचार-विनिमय हुआ उसमें नारदजी ने इनके इस विश्वास को अमोघ और पूर्ण सुदृढ़ कर दिया कि सत्य एक है, तत्व एक है, वही सत्य - वही तत्व इन भगवत्स्वरूपों में नित्य प्रकट है । ये स्वरूप कभी प्रकट होते हैं और नष्ट हो जाते हैं या महाप्रलय में ये विनष्ट हो जाते हैं - ऐसी बात नहीं है।

महाप्रलय त्रिगुणात्मक प्रकृति में होता है । त्रिगुणात्मक प्रकृति जब साम्यावस्था में आती है, तब महाप्रलय होता है और सभी प्राकृत लोक एवं प्राकृत देवजगत् उसमें लय हो जाते हैं । प्रकृति के सम्बन्ध को लेकर जो भी जीव-जगत् है, वह सब उस समय उस प्रलय में लय हो जाता है। फिर भगवान् के संकल्प से सृष्टि आरम्भ होती है । तब वह जीवजगत् अपने पूर्व के अवशेष कर्मों को लेकर प्रकृति में फिर प्रकट होता है और जगत् का व्यापार फिर से प्रारम्भ हो जाता है ।

चिन्मय जगत् के जो भगवत्स्वरूप हैं, उनको किसी प्राकृत स्थान की आवश्यकता नहीं है । इसी प्रकार जो चिन्मय धाम हैं, वहाँ जो भगवत्स्वरूप हैं, उनको किसी मायिक आधार की आवश्यकता नहीं है । वे नित्य हैं, सत्य हैं उन लोकों में समस्त पदार्थ और प्राणी चिन्मय भगवत्स्वरूप ही हैं । वे महाप्रलय में नष्ट नहीं होते ।

वे अपरिसीम हैं - अनन्त हैं । श्रीव्यासदेव ने ऐसा ही माना है और भगवान् आदिशंकराचार्य ने भी ऐसा ही माना है । इनके पूर्व के ऋषि तो ऐसा मानते ही थे ।

भगवान् नारदजी से साक्षात् उपदेश प्राप्त करने के पश्चात् श्रीपोद्दारमहाराज का इस सत्य पर दृढ़ निश्चय हो गया कि उन्हें जो भगवल्लीलाओं की अनुभूति होती है और नारदभक्तिसूत्र में जिन गोपियों के अति उत्कृष्ट भगवत्प्रेम का वर्णन है वे गोपियाँ, वह भगवान् का लीलालोक,

वहाँ के पशु-पक्षी और तृणगुल्म, वृक्ष, कुंज-निकुंजादि, सब पदार्थ नित्य हैं, सत्य हैं, और सभी भूमि, भवन, सूर्य, चन्द्र, नभ, वायु - सब भगवत्स्वरूप ही हैं । वे प्रलय में नष्ट नहीं होते । ये चिन्मय हैं, इनमें कोई भेद नहीं; माया का इनके साथ कोई सम्बन्ध नहीं ।

जितने भी भगवत्स्वरूप हैं, उनमें जो परस्पर द्वन्द दिखायी पड़ता है - पुराणों में कहीं शिव की महिमा, कहीं विष्णु की महिमा, कहीं देवी की महिमा, कहीं श्रीकृष्ण की महिमा का वर्णन है, वह वहाँ वहाँ पर उस स्वरूप के महत्व को बतलाने के लिये है, न कि भगवत्स्वरूपों में परस्पर ऊँचा-नीचा भाव दिखाने के लिये है । बहुत स्थलों में ऐसी बात कही जाती है कि "जो विष्णु हैं, वे ही शिव हैं, देवी हैं और जो देवी हैं, वे ही शिव, विष्णु हैं, आदि-आदि। इसका यही तात्पर्य है कि सभी भगवत्स्वरूप चिन्मय हैं, एक ही भगवत्स्वरूप के अनेक नित्यस्वरूप हैं । अनेक स्वरूप बनते हों, सो बात नहीं है । श्रीकृष्ण बनते हैं, दुर्गा बनती हैं और राम बनते हैं, बिगड़ते हैं - सो बात नहीं है । वे सब नित्य एक ही भगवान् के स्वरूप हैं । एक ही तत्व विभिन्न रूपों में लीलायमान है ।

अतएव किसी को भी छोटा-बड़ा नहीं मानना चाहिए । जो जिस भगवत्स्वरूप की उपासना करता है उसे उस उपासना को छोड़ना नहीं चाहिए। उसे यही मानना चाहिए कि सब स्वरूप हमारे उपास्यदेव के ही हैं । इस मान्यता में अपने स्वरूप के प्रति पूर्णश्रद्धा भी हो गयी और अन्य स्वरूपों के प्रति विरोध भी नहीं हुआ ।

श्रीनारदजी ने पू० श्रीपोद्दारमहाराज की आस्था में यह बात कूट-कूटकर पूरी सुदृढ़ता से भर दी कि निर्गुण ब्रह्म और सगुण ब्रह्म दो नहीं है । निर्गुणब्रह्म शक्तिरहित नहीं है । शक्ति और शक्तिमान् दो पृथक् तत्व नहीं हैं । शक्ति शक्तिमान् में अभेद है । जहाँ शक्तिमान् है वहाँ शक्ति है ही और जहाँ भी शक्ति है वहाँ शक्तिमान् भी है। शक्ति एवं शक्तिमान् दो वस्तु नहीं, एक ही वस्तु है । साकार रूप में प्रकट होने पर शक्ति जहाँ क्रियारूप में लीला करती है वहाँ शक्ति के दर्शन होते हैं, निर्गुण तत्व में ऐसी क्रिया नहीं दिखायी देती । निर्गुण-निराकार ब्रह्म में शक्ति अन्तर्निहित है - शक्ति का अभाव नहीं है । अन्तर्निहित शक्ति होने से उसे निर्विशेष कहते हैं - निर्विशेष का अर्थ शक्ति राहित्य सर्वथा-सर्वथा नहीं है ।

संवत् १९९० वि०, तदनुसार ई० सन् १९३४ में श्रीपोद्दार महाराज रतनगढ़ में थे, उस समय शिवांक का सम्पादन हो रहा था । एक दिन इनके मन में प्रश्न उठा कि शिवतत्व ब्रह्मतत्व से और विष्णुतत्व से पृथक् है या एक है ? शास्त्रों में कहीं एकता की बात आयी है और जहाँ-तहाँ पार्थक्य की बातें भी मिलती है। कहीं विष्णु की महिमा आती है और कहीं शिव की महिमा आती है । मन में ऐसी जिज्ञासा उत्पन्न हुई और उसी दिन पू० पोद्दार महाराज को भगवान् शंकर के दर्शन हुए और वे देखते-ही-देखते विष्णु हो गये । विष्णु से पुन: शिव हो गये तथा दोनो ही रूपों में हँसते रहे । इसके पश्चात् दोनों ही विलीन हो गये और श्रीपोद्दारजी एक अनिर्वचनीय अचिन्त्य अवस्था में बहुत काल तक रहे । इस अनुभूति के आधार पर इनकी मान्यता सुदृढ़ हो गयी कि शंकर, विष्णु एवं ब्रह्मतत्व एक ही है ।

श्रीरामचरितमानस में श्रीतुलसीदासजी महाराज की भी यही अनुभूति और मान्यता थी - "सेवक स्वामि सखा सिय पीके ।" पद्म पुराण में भी यह उल्लेख है कि भगवान् राम शिव की उपासना करते हैं और शिव, राम की । शिव पुराण में तो भगवान् शिव का कथन है कि "मैं ही विष्णु बन जाता हूँ और मैं ही शिव बन जाता हूँ । दोनों एक ही हैं।" श्रीमद्भागवत में तो भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा भगवान् शिव की सकाम उपासना की गयी है, ऐसा उल्लेख है ।

इसी प्रकार शक्तिअंक की जब तैयारी हो रही थी उस समय श्रीपोद्दारजी को शक्ति-तत्व भगवती आद्याशक्ति की कृपा प्राप्त हुई और उन्होने भी उन्हें यही बताया कि वे ही निर्गुण-निराकार-निर्विशेष ब्रह्म शक्ति भी हैं ।

गीतावाटिका और श्रीपोद्दार महाराज का यहाँ यत्किंचित् जो वर्णन किया है, वह इसीलिये कि इसी गीतावाटिका में और इन्हीं पोद्दारमहाराज द्वारा पू० गुरुदेव को मात्र चरणस्पर्श करने के बहाने से उनके चरण नखों का स्पर्श करके महाभावगत-दिव्य-चिद्विलास का दान दिया गया । श्रीपोद्दारमहाराज ने स्वयं को ही पूज्य गुरुदेव के अन्त:करण में मात्र चरणस्पर्श के बहाने स्थापित कर दिया । अत: उनके संबंध में इतनी बातें उल्लेख करनी परमावश्यक ही थीं ।

पू० पोद्दारमहाराज ने पू० गुरुदेव को चरणस्पर्श करके वह व्रजभाव का ककहरा पढ़ाया, फिर जो उनको अनुभूति करायी, उसकी कहीं कोई भाषा नहीं है । वह केवल अनुभवगम्य है। पू० गुरुदेव तो अब तक मात्र सोऽहं,

शिवोऽहं,आनन्दोऽहं ही पढ़े थे । इस शिवोऽहं, सोऽहं से श्रीपोद्दारमहाराज ले गये उन्हें- श्रीवृषभानुनन्दिनी के भावराज्य में - जहाँ अश्रुधारा की निरन्तरता में कभी विराम होता ही नहीं । श्रीपोद्दारमहाराज ने पू० गुरुदेव को घन-आनन्द, अखण्ड-आनन्द, मात्र-आनन्द, केवल-आनन्द, आनन्द ही आनन्द के राज्य से अनादि और अन्त-रहित क्रन्दन के राज्य में प्रवेश करा दिया । श्रीवृषभानुनन्दिनी कहती हैं, अविरल-अनवरत क्रन्दन ही मेरा जीवन है ।

"कोई बिरला होता है जो लेता है समझ इसे, प्रियतम !
हैं सुख अचिन्त्य हम दोनों के हँसने, उस रोने का, प्रियतम !"

श्रीपोद्दारमहाराज के पास पहले रघुजी नामके एक विरही संत रहते थे । वे बाईस-बाईस घंटों तक अनवरत रोया करते थे । श्रीचैतन्य महाप्रभु की अश्रुधारा तो बारह वर्ष तक सूखी ही नहीं । उनके जीवन का अन्त आ गया पर अश्रुधारा का अन्त नहीं । तो श्री पोद्दार महाराज ने मात्र अतिथिसत्कारोचित चरणस्पर्श करके पू० गुरुदेव को महाभावगत क्रन्दन दान कर दिया, धन्य है !

पू० गुरुदेव गोरखपुर पहुँचे थे आश्विन शुक्ल एकादशी के दिन । यह प्रसंग है शारदीय पूर्णिमा का, श्रीपोद्दारमहाराज जिस दिन वाराणसी से लौटकर आये, उसके पहले वाली रात्रि का । ब्रह्मनिष्ठ पू० गुरुदेव को 'रासपूर्णिमा से लेना-देना ही क्या था। कट्टर वेदान्ती गुरुदेव अपनी कुटिया में पुआल के गद्दे में बैठे हुए ब्रह्मतत्व के चिन्तन में लीन थे । जब ठीक मध्य रात्रि की बेला उपस्थित हुई, तभी उनके कानों में सुनायी पड़ने लगा -

हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे
हरे कृष्ण हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे ।।

पू० गुरुदेव जब ब्रह्मचिन्तन में एकाग्र होते थे तो बाहर चाहे कितना ही कोई कोलाहल हो, शब्द-विक्षेप उन्हें प्रायः नहीं होता था । अचिन्त्य की ही स्थिति में वे अधिकांश रहा करते थे । गलितकुष्ठ के रोगियों के मध्य कलकत्ते में जब वे गंगा के किनारे पड़े रहते थे, तो कोढी लोग परस्पर गाली-गलौज करते, परन्तु उन्हें शब्द-विक्षेप नहीं होता ।

परन्तु महामंत्र की इस मनोरम, मधुर सुरीली ध्वनि ने उन्हें ब्रह्मचिन्तन से हटाकर अपनी ओर आकृष्ट कर लिया । यह स्वर-लहरी किस दिशा से आ रही है और कौन इसे गा रहा है, यह जानने को उनका मन चंचल हो उठा । इतना ही नहीं इस मधुर ध्वनि के साथ पू० गुरुदेव स्वयं भी गाने लगे। पू० गुरुदेव का स्वयं का कण्ठ तो बहुत मधुर था ही । उस गायन के साथ-साथ ज्यों ही गुरुदेव ने गाना प्रारम्भ किया, उनके नेत्रों से अश्रुबिन्दु भी टपकने लगे और इतना ही नहीं, इन टपकते बिन्दुओं ने कपोलों पर प्रवाह का रूप धारण कर लिया । पू० गुरुदेव की यह भावपूर्ण स्थिति लगभग पन्द्रह मिनट तक रही एवं इस स्थिति का प्रभाव घन्टों ही बना रहा, यहाँ तक दूसरे दिन भी वे परम भावुक ही बने रहे ।

पू० गुरुदेव सोचने लगे, यह मुझे कैसा विक्षेप हो गया, मेरी तो हर समय समष्टि-आनन्द, समष्टि-चेतन में ही स्थिति बनी रहती थी । सन्यास लेने के पश्चात् पिता-माता के विकल रुदन से भी मेरी शुष्क उपराम वृत्ति में कोई कोमलता नहीं आयी । जब जगत् है ही नहीं तो कौन पिता और कौन माँ ? उनका सुबक-सुबक सिसकियाँ भरकर रोना भी मुझे मिथ्या, स्वप्नवत्, असत् ही भासता रहा, फिर यह आज मुझे क्या हो गया है ?

पू० गुरुदेव के लिये यह विचित्र, एवं नवीन अनुभव था । अगले दिवस भी वे इसी प्रकार से मसृण-चित्त ही थे, जब पोद्दारमहाराज उनसे वाराणसी से लौटकर मिलने आये । आते ही श्रीपोद्दारमहाराज ने पू० गुरुदेव से यह पूछा कि उनको कोई असुविधा, कष्ट तो नहीं हुआ ।

पू० गुरुदेव ने उन्हें अपने विक्षेप की बात ज्यों-की-त्यों निवेदन कर दी। श्रीपोद्दारमहाराज ने कोई सुन्दर प्रबन्ध कर देने का उन्हें तुरन्त आश्वासन दे दिया । उन्होने अनेक बातों को विचारने तथा कुछ स्थानों को देखने के बाद पू० गुरुदेव के निवास के लिये राप्ती नदी के किनारे श्रीहनुमानगढ़ी वाला स्थान निश्चय किया ।

गोरखपुर राप्ती नदी के तट पर ही बसा हुआ है । नदी के किनारे श्रीहनुमानगढ़ी एक निर्जन एवं नीरव स्थान है । गीतावाटिका गोरखपुर के उत्तरी छोर पर है तो श्रीहनुमानगढ़ी दक्षिणी छोर पर । यहाँ श्रीहनुमानजी का साधारण-सा मन्दिर है । गढ़ी के एक कमरे में पू० गुरुदेव के आवास की व्यवस्था कर दी गयी । नदी के तट पर यह एकान्त स्थान पू० गुरुदेव को अतिशय रुचिकर लगा ।

पू० गुरुदेव गीतावाटिका से श्रीहनुमानगढ़ी चले आये । श्रीसेठजी का आगमन अनेक कारणों से टलता गया । श्रीमद्भगवद्गीता की टीका के लेखन का कार्य लगभग एक-डेढ़ माह बाद आरम्भ हो पाया । इन दिनों गुरुदेव सोऽहम्, शिवोऽहम्, आनन्दोऽहम्, ॐ - इन्हीं मंत्रों का जप करते थे । वे जप के समय ब्रह्मभाव में इतने तल्लीन हो जाते थे कि उनकी भिक्षा शहर से कौन लाता है, कब लाता है, उन्हें ध्यान ही नहीं रहता था । जो भी भिक्षा लाता चुपचाप कमरे में थाली सरका देता और पू० गुरुदेव जितना एवं जैसा भी भोजन आता पेट में डालकर थाली धोकर पी लेते और थाली मलकर चुपचाप बाहर रख देते । जल के लिये उनके पास कमंडलु था, जिसे स्नान के पश्चात् धोकर, राप्ती के जल को छानकर वे भर लाते थे । ज्ञान में उनकी स्थिति लगभग चतुर्थ भूमिका की थी । प्रत्येक काल समष्टि-आनन्द, समष्टि-चेतन में ही उनकी स्थिति बनी रहती । स्नान करते, शौच जाते आदि कार्यकाल में भी क्रियासहित उन्हें जो कुछ भी भान होता था वह भी स्वप्न की तरह ही होता था । स्वप्नवत् भी मात्र आनन्द ही है, समष्टि-चेतन ही है । ऐसी स्थिति में भी कभी-कभी किसी समय सर्वथा अचिन्त्य अवस्था हो जाती थी । तब पू० गुरुदेव की कोई भी कार्य कर सकने की स्थिति भी नहीं रहती थी । श्रीहनुमानगढ़ी के महंतजी देखा करते कि तेज धूप एवं जलती रेत में भी पू० गुरुदेव जब राप्ती के मैदान में शौच के लिये जाते थे, तो घण्टों अचिन्त्य अवस्था में निष्क्रिय खड़े रह जाते थे । पू० गुरुदेव को जेल में विष दिये जाने के कारण पेट में जीवन-व्यापी आँव हो गयी थी, अतः उन्हें दिन में लगभग चार-पाँच बार शौच के लिये अवश्य जाना पड़ता था । जितनी बार वे शौच जाते, उतनी ही बार स्नान भी किया करते । उनको अचिन्त्य अवस्था में बाह्यज्ञानरहित, तेज धूप में राप्ती की रेत में घण्टों खड़े देखकर महन्तजी को बहुत कष्ट होता था । परन्तु पू० गुरुदेव भी निरुपाय थे और महन्तजी भी मात्र सहानुभूतिजन्य दुःख प्रकट करने के और कर ही क्या सकते थे ? अचिन्त्य अवस्था में कोई भी कार्य कर सकने की उनकी स्थिति नहीं रहती थी। सारे आकारों का भी खुली आँखों वृत्ति अभाव कर देती थी । फिर वह वृत्ति भी अचिन्त्य अस्तित्व में लीन हो जाती और केवल बोधस्वरूप आनन्दघन ही रह जाता था । उन दिनों पू० गुरुदेव की शरीर को सत्य मानकर तो शरीर में स्थिति कभी होती ही नहीं थी ।

एक दिन राप्ती-स्नान करके जल से पूर्ण कमण्डलु हाथ में लिये हुए भीगे वस्त्रों में ही वे श्रीहनुमानगढ़ी वापस आ रहे थे । अपने अभ्यास के अनुसार 'सोऽहम्' का जप तो उनका छूट गया और शारदीयपूर्णिमा की मध्यरात्रि में जो जप पन्द्रह मिनट के लिये हुआ था, वही जप स्वत: होने लग गया । सोऽहम् के स्थान पर महामंत्र का अखण्ड जप अपने आप निरन्तर होने लगा।

श्रीहनुमानगढ़ी आकर पू० गुरुदेव ने भीगे वस्त्रों को बदला और दूसरे गैरिक वस्त्र धारण किये । वस्त्र परिवर्तन के पश्चात् पू० गुरुदेव ब्रह्म चिन्तन में पूर्णतया डूब जाने के लिये आसन पर विराजित हुए । श्रीहनुमानगढ़ी में बड़े-बड़े केले के वृक्ष लगे हुए थे । दो कदली-वृक्षों के मध्य उन्होंने अपना आसन स्थापित किया । पू० गुरुदेव पूर्वाभिमुख बैठे हुए थे और अपने स्वरूप-चिन्तन में तल्लीन होने की चेष्टा कर ही रहे थे, तभी अकस्मात् भगवान् श्रीकृष्ण हाथ में वंशी धारण किये आकाश में खड़े हुए उन्हें दिखलायी दिये ।

ज्योंही भगवान् श्रीकृष्ण की दिव्याकृति उनके सम्मुख प्रकट हुई उनके मन में तत्क्षण यह भाव आया कि यह मायाजनित है । यह तो मात्र उनका मन ही मिथ्या कल्पना-मूर्ति सृजन कर रहा है । अतिशय मिथ्या माया-राज्य की यह वस्तु मेरे समक्ष कहाँ से आ गयी ? अद्वैत-तत्ववादी पू० गुरुदेव ने बहुत ही चेष्टा की कि वह श्रीकृष्ण का मनोजनित रूप उनके सामने से हट जाय और वे अपने अचिन्त्य-पद में स्थित हो जावें, परन्तु वह गगनस्थ मूर्ति पू० गुरुदेव के सामने से न तो हटती थी, न ही वे ब्रह्मचिन्तन में ही लीन हो पाते थे । न ही पू० गुरुदेव हार मानने को प्रस्तुत थे, न ही वह गगनस्थ मूर्त्ति भी हटने को प्रस्तुत थी । पू० गुरुदेव लगभग दो-ढ़ाई घंटे प्रयास करते रहे । उनके प्रयासको ऐसी करारी हार कभी नहीं मिली थी । हार-थककर उन्होंने प्रयास ही छोड़ दिया । यह सगुण, साकार भगवद्स्वरूप द्विभुज-नवनीरदवर्ण नवकिशोर वंशीवादनरत था । वंशी का एक छोर इस किशोर के मुख में अधरों से सटा था और दूसरा उसका छोर सीधा खड़ा नाभि तक उसके उदर में लगा था । कदम्ब वृक्ष भी उसके साथ ही था । वह मूर्ति आकाश से धीरे-धीरे कदम्ब-वृक्षसहित उनके समीप आती गयी और तब उनके हृदय-देश में प्रवेश कर गयी । पू० गुरुदेव के हृदय में प्रवेश करते समय इसकी पीठ और कदम्ब वृक्ष उनसे सट गया । मूर्ति का मुख बाहर की

ओर रहा । उस श्रीविग्रह की कान्ति, छवि और शोभा इतनी अभूतपूर्व-अलौकिक थी कि वैसी शोभा न तो जीवन में उन्हें किसी भी तीर्थमूर्ति में मिली, न ही किसी चित्र में । जगत् का समस्त सौन्दर्य इकट्ठा कर लेने पर भी वह इसके समक्ष तुच्छ था ।

पू० गुरुदेव प्राय: यह कहा करते थे कि निसर्ग के कालमान में एक लवमात्र के लिये भी यह मूर्ति फिर उनके हृदय से कभी नहीं हटी । पू० गुरुदेव के जीवन में फिर एक महान् आश्चर्य और घटित हुआ कि जिस ब्रह्मसुख, ब्रह्मानन्द ने उनके जीवन को अब तक पूर्णरूपेण आत्मसात् कर रखा था, इस अलौकिक दर्शनजन्य सुख में वह ब्रह्मसुख पू० गुरुदेव पूर्णतया विस्मृत ही कर गये । वह इस सुख के सम्मुख उन्हें परम तुच्छ लगने लगा। उनका अन्तर्हृदय अनवरत यही पुकार कर रहा था कि उस पूर्ण-ब्रह्मानन्द को इस अपूर्ण दर्शनानन्द पर न्यौछावर कर दें । वास्तव में सत्य यह है - भगवान् श्रीकृष्ण का रूप, उनका वेणुवादन अथवा उनकी वाणी-शब्द, उनका संस्पर्श, उनके अंगों की चिन्मय दिव्य गंध - ये सब अप्राकृत मायातीत राज्य की वस्तुएँ हैं । अब तक पू० गुरुदेव आनन्दोऽहं जप करते हुए प्राकृत मन की अचंचल शान्तावस्था को ही प्राप्त कर पाये थे । यह घन-अचंचल शान्त मन:स्थिति ही तो उनका सोऽहं ब्रह्मभाव था । उनका प्राकृत अहं इसी शान्त चित् समुद्र में डूब गया था । परन्तु पोद्दारमहाराज जैसे रससिद्ध संत के संस्पर्श और संकल्प से भगवत्कृपाशक्ति ने उनकी गति मायातीत अप्राकृत राज्य में कर दी थी। जन्म-मरणधर्मा मानव का मन प्राकृत है एवं नरलीलारत भगवान् का सबकुछ अप्राकृत है । भगवदीय दिव्य रूप एवं दिव्य लीला के लिये अप्राकृत मन की ही आवश्यकता होती है । मानव के लिये उस अप्राकृत मन की प्राप्ति या तो भगवत्कृपा से संभव है अथवा अप्राकृत-दिव्यलीला में प्रविष्ट किसी संत की कृपा से ही यह असंभव संभव हो सकता है ।

श्रीपोद्दारमहाराज ऐसे ही अप्राकृत-लीलाराज्य में प्रविष्ट सिद्धसन्त थे और उनकी कृपा से पू० गुरुदेव को अप्राकृत मन की प्राप्ति हुई एवं तभी उन्हें भगवान् श्री कृष्ण का विशुद्ध सत्वमय अप्राकृतरूप-दर्शन संभव हुआ ।

पू० गुरुदेव के जीवन में एक और आश्चर्य घटित हुआ । उन्हें जब सर्वेश्वर, सर्वलोक-महेश्वर, योगेश्वरेश्वर भगवान् के दर्शन हुए - जो सब कुछ थे, सब कुछ से परे भी थे, सृष्टि-स्थिति-प्रलय जिनके हास्यछटा की

रेखायें भर थीं, और वे भगवान् जब उनके हृदय में प्रविष्ट हो गये और उनकी अहंता तथा बोधसत्ता को जब उन्होंने अपने में लीन कर लिया तो वे पू० गुरुदेव के "मैं" हो जाने चाहिए थे । हृदय में प्रवेश हो जाने का अर्थ तो यह था कि अब तक जो ब्रह्मधाम रहा, सच्चिदानन्दाकाश रहा, अथवा जो निर्गुण, निराकार, निर्लेप, निर्विशेष, निर्विकल्प एवं निर्मल सत्यधाम रहा, उसे 'सच्चिदानन्दकन्द-श्रीकृष्णचन्द्र' हो जाना चाहिए था । परन्तु ऐसा नहीं हुआ। वे श्रीकृष्ण गुरुदेव के 'मैं' न होकर 'मेरे' हो गये । श्रीकृष्ण पू० गुरुदेव के 'मैं' के अणु-अणु से एक होकर भी, उसमें पूर्णतया व्याप्त होकर भी उससे पृथक् उस 'मैं' के दृश्य ही बने रहे । श्रीकृष्ण द्रष्टा होकर भी दृश्य हो गये । परन्तु वह दृश्य इतना सर्वहारी था कि द्रष्टा उस दृश्य का बिना मोल का दास था ।

उन अप्राकृत लीला-वपुधारी श्रीकृष्ण के हृदय में प्रवेश करते ही पू० गुरुदेव की अहंता, उनका मन, चित्त, बुद्धि, सबकुछ अप्राकृत भगवल्लीलाराज्य की गोपी हो गया । 'गोपी' का अर्थ ही है - जो अपनी संपूर्ण अप्राकृत इन्द्रियों से अपने प्राणसारसर्वस्व नीलसुन्दर की सुख-सामग्री बन जाय । जिसकी नेत्रेन्द्रियाँ प्रियतम-प्राणवल्लभ श्यामसुन्दर के रूप की पूर्णतया चेरी हों, जिसकी श्रवणेन्द्रियाँ प्रियतम के शब्द-श्रवण में अति अधीर रहें, रोम-रोम उनके आलिंगन में गुँथे जाने को व्याकुल रहे । इतना सब होते हुए भी जिनमें लेशमात्र भी सुख-अनुसंधान की वृत्ति नहीं रहे, जिसका सब इन्द्रिय-व्यापार, मात्र प्रियतम सुखार्थ ही हो, स्वसुखार्थ नहीं । जिसका अहंकार नित्य, अखण्ड अपने प्रेमास्पद से मिला होने पर भी अमिलन की अग्नि में धू-धू धधकता रहे । विरहाग्नि जिसके चित्त को सदा ही नये-नये वेग से जलाती रहे । अपने प्रियतम का अखण्ड-मिलन भी जिसे अमिलन की नितनूतन व्यथा देता रहे । जो अखण्ड देखती हुई भी कभी न देखा हुआ अनुभव करे, पल-पल, निमेष-निमेष देखना ही चाहती रहे, नित्य मिली हुई अमिलन की अग्नि में धधकती रहे, जो नित्य सुनती हुई सुनना ही चाहती रहे । यही तो गोपी का पूर्णतया अनोखा पागलपन है ।

तजि जैहैं दुख-ध्यान मिलत, गये ज्वाला अमित
मिलन वियोग समान, राधा नहिं सुखिनी कबहुँ ।।

(पू० गुरुदेव की स्व-रचना)

किसी कविने गुरुदेवके उस समयकी चित्तदशा का सही चित्र खींचा है :-

निसि के जागत मिटि गयो उन सँग सुपन मिलाप ।
चित्र दरसहू कौं लग्यौ आँखिन आँसू पाप।
इन दुखिया अँखियान को सुख सिरज्यौ हू नाँहि ।
देखत बनै न देखते बिनु देखे अकुलाहिं ।।

वाह रे व्रजभाव, तेरी महाभावगत निर्मलतम दैन्य-पराकाष्ठा की बलिहारी है । जो आज तक पूर्णता के अखण्ड, अपरिच्छिन्न, अपार, असीम राज्य का एकछत्र अधिपति था, जिसकी पूर्णता अव्यय थी; पूर्णता में से पूर्णता को निकाल देने पर भी जिसकी गणित पूर्णता को ज्यों-की-त्यों सुरक्षित बची हुई पाता था, जो आज के कुछ ही दिन पूर्व तक अनन्त ब्रह्माण्डों को, उनके असीम माया-वैभव को अपनी दृष्टि के तिरमिरों की तरह तुच्छ, नगण्य, उपेक्षणीय मानता था - उसकी तूने क्या दशा की है ? संपूर्ण माया-वैभव से पूर्णतया विरक्त सन्यासी को किसी सिद्ध रसिक के संस्पर्श ने गोपवधुओं के लम्पट-शठ की दासी बना दिया, इससे बड़ा क्या आश्चर्य संभव है ? अपने हृदयहार नीलमणि की बिना मोल की दासी बने पू० गुरुदेव की क्या दशा है ? वे स्वयं ही अपने प्रियतम काव्य में कहते हैं :-

वह रात नहीं थी चार पहरवाली, जो मिट जाती, प्रियतम !
हैं सब कहते अनादि उसको जो पण्डित सच्चे हैं, प्रियतम !
होता है अन्त उसी के जीवन में उसका बस, हे प्रियतम !
जो रूप अनिर्वचनीय तथा अद्भुत अचिन्त्य देखे, प्रियतम ।।

पू० गुरुदेव कहते हैं यह अविद्यामूलक रात्रि चार पहरवाली रात नहीं है जिसका निश्चित समय में अन्त हो ही जाता है, यह तो ऐसी महारात्रि है जिसका तभी ठीक-ठीक अन्त माना जाता है, जब भगवान् का अचिन्त्य, अति अद्भुत (अप्राकृत, मायातीत), अनिर्वचनीय (अलौकिक) रूप उसे दृष्टिगोचर होता है ।

पू० गुरुदेव को उस सच्चिन्मय नीलमणि के अद्भुत, अनिर्वचनीय एवं अचिन्त्य रूप के दर्शन हो चुके थे । मात्र दर्शन ही नहीं, वह उनके

रोम-रोम में व्याप्त हो गया था। उनसे एकात्म हो, वह उनके प्राणों का, मन का, बुद्धि का, इन्द्रियों का - सबका एकछत्र स्वामी बन गया था। उसने उनके समग्र वायुमंडल को ही कृष्णरूप बना दिया था । फिर भी उसे तृप्ति कहाँ थी ? सबमें उसको देखना तो सबको बनाये रखना है । वे तो एकमात्र उसी में तन-मन रमा उसी के हुए, सबको और अपने आपको भी उसी में भूल गये थे। अत: माया-महारात्रि तो उनकी पूर्णतया विगत हो ही गयी थी । उनका देहाध्यास सर्वथा विगलित होकर उनमें भाव-देह व्यक्त हो गयी थी । पू० गुरुदेव का आत्मस्वरूप कैसा था उन्होंने अपना आत्म-परिचय अपने 'प्रियतम काव्य' में प्रथम शतक के प्रारम्भिक बारह छन्दों में किया है । वे छन्द यहाँ उद्धृत किये जा रहे हैं :-

इसलिये विहंगम सोये थे, पर थी जगती बाला, प्रियतम !
थी नींद नहीं आयी क्षणभर भी जीवन में उसके, प्रियतम !
झरती रहती आँखें, ज्वाला हृत्तल में थी जलती, प्रियतम !
था पास नहीं कोई उसके जो अश्रु पौंछ दे, हे प्रियतम ।।
रहते कुंचित काले हरदम थे केश खुले उसके, प्रियतम !
भीगा रहता परिधान नील नयनों की धारा से, प्रियतम !
उन जीर्ण हुए वातायन के रंध्रों से लगकर, हे प्रियतम !
देखा करती थी निर्निमेष लोचन से अम्बर को, प्रियतम ।।

घोर मायामयी अविद्या के प्रभाव से विहंगम सोये थे, किन्तु वह बाला तो ऐसी थी कि जिसे प्रपंच छू ही नहीं सकता था । उसके जीवन में उसके प्राणवल्लभ, जीवनसर्वस्व-प्रियतम, जबसे आ विराजे थे, तबसे क्षणार्द्ध-परिमित निसर्ग का कालमान भी उन्हें वहाँ से अपसारित नहीं कर सका था, फिर जहाँ नीलसुन्दर की इन्द्रनीलमणि द्युति से जिसका हृद्देश उद्भासित रहता है; अहर्निश, आठोंपहर दृगपुतलियाँ आलोकित रहती हैं - उनकी चरणनख-चन्द्रिका के आलोक से ही, उसे क्षणभर भी माया कैसे स्पर्श कर सकती है ? नींद तो उनको आती है, जो निसर्ग के दर्शन में रचे-पचे हैं, जिनके कण-कण में संसार धँसा है, परन्तु जिनके जीवन में जगत् का अस्तित्व सर्वथा, सर्वांश में मिट चुका है और जिनके हृत्-प्राण के आस्तरण पर उनका प्राणपति-प्राणाधार-प्राणसर्वस्व नीलम, मुनि-मन-हारी अप्राकृत छटा

बिखेरता हुआ शयित है, विराजित है, वहाँ जगत् एवं जगत् की नानी मायारूप निद्रा प्रविष्ट हो भी तो कैसे, उसे कहीं किसी भी ओर से द्वार मिले, तब न प्रवेश हो पावे उसका !

जब तक जागतिक प्रतिकूलता से मन अप्रभावित होता है, जब तक स्वप्न में भी काम के लेश की छाया है, जब तक जगत् की वस्तुओं में आसक्ति है, तभी तक किसी को यह मायारूप नींद आ सकती है परन्तु जब महदाश्रय और भगवत्कृपा के फलस्वरूप निशावसान होकर भगवदीय प्रकाश फैल जाता है, तब तत्व-साधनापूर्ण जीवन में पात्रता का कुछ-कुछ उन्मेष होता है, फिर भावमय जीवन का प्रारम्भ होता है, मायानिद्रा सदा-सदा के लिये विगत हो जाती है और व्रजभाव-भावित नित्य जागरण प्रारम्भ होता है । वह विलक्षण लोक है।

यहाँ अनन्त जाग्रत अवस्था है । यहाँ उस बाला की मनोदशा विचित्र है। उसकी अश्रुधारा की अनन्तता में कभी विराम होता ही नहीं । अविरल अनवरत क्रन्दन ही उसका जीवन है । वह क्रन्दन अनादि है और अन्त-रहित है । इस अश्रुप्रवाह में क्या सुख है, इसे तो वह बाला ही जानती है अथवा वे जानते हैं जिन्हें इस अवगाहन का, रस सागर में निमज्जन का सौभाग्य प्राप्त हुआ है ।

कोई विरला होता है जो लेता है समझ इसे, प्रियतम !
है सुख अचिन्त्य हम दोनों के हँसने, उस रोने का, प्रियतम !

तो बाला की आँखें अश्रुधारा की निरन्तरता में विराम करती ही नहीं । अहा ! कैसी विलक्षणता है, नेत्र हृद्देश को अश्रुधारा से सिक्त कर रहे हैं, फिर भी हृद्देश की ज्वाला शान्त नहीं होती । इस अश्रुधारा से शीतल होने के स्थान पर हृद्देश की ज्वाला और तीव्रगति से धू-धू जल उठती है । उसके अश्रु पौंछने वाला दूसरा हो ही कौन सकता है ? उसके प्रियतम नीलमयंक ही कहीं उसके पास हों, तो उसके अश्रु पौछें । उस नीलम-प्रियतम के समान कोई दूसरा सच्चा स्नेही तो न हुआ था और न ही होगा । उस नवनीरदवर्ण प्रियतम के सिवा उसको स्पर्श करने का साहस भी कौन कर सकता है ? उस प्रियतम से बंधन कराने के लिये ही उसके काले कुंचित-केश सदा उन्मुक्त और खुले रहते हैं । और इन काले केशों की उसे स्मृति ही कहाँ होती है, उसे तो इन काले केशों के रूप में भी उसके प्रियतम ही उसके कपोलों पर,

ललाट पर, आनन पर मँडराते अनुभव में आते हैं । यदि कोई सखी उसके इन घने काले सुन्दर केशों को बाँधने की चेष्टा भी करे तो वह उसे वर्जित कर देती है, अपने प्रियतम को किसी भी मर्यादा में, बंधन में बाँधना उसे कैसे रुचिकर हो । हाँ ! प्रियतम नीलसुन्दर ही स्वयं उसकी सरस प्रीति में बँध जाना चाहें तो वे इन्हें भले ही बाँधें, दूसरा इन्हें कैसे बाँध सकता है।

अपनी प्रीति के प्रासाद में वह बैठी है, जिसके वातायन जीर्ण हो चुके हैं, उसके रन्ध्रों से, छिद्रों से दृष्टि लगाकर वह निर्निमेष लोचनों से अम्बर को देखा करती है । वह अम्बर को मात्र इसीलिये ताकती है क्योंकि इसी अम्बर के नीचे कहीं-न-कहीं, किसी प्रणम्य देश में, उसके प्रियतम सुखमयी क्रीड़ा, केलि कर रहे होंगे । यह अम्बर अवश्य ही उन्हें देख रहा होगा । उसके प्रियतम कहीं भी हों, इस भाग्यवान अम्बर के नेत्रों से दूर तो वे हो ही नहीं सकते । तो वह अपनी दृष्टि का तादात्म्य इस अम्बर की दृष्टि से कर लेना चाहती है, जिससे उसके नेत्र भी अपने प्रियतम नीलम को सब समय निहार सकें । अहा ! इस महा-आकाश के एक कोने के नीचे, कहीं वन के किसी भाग में उसके नीलमयंक अवश्य ही त्रिभंगी मुद्रा में खड़े होंगे । उनके नवनीरदवर्ण श्रीअंगो पर पिंगल दुकूल झलमलाता होगा । गुञ्जा की माला उनके कण्ठदेश में शोभा पा रही होगी । मस्तक पर कुञ्चित केशराशि के साथ मयूरपिच्छ होगा ।

हाय ! उसके नेत्रों में अपने प्रियतम की छवि आते ही, अश्रुकण छलछला आये । आर्त्तचित वह रो पडी । उसका रुदन तो विराम पा ही नहीं सकता ।

रोती क्यों हूँ फिर मैं, इसका कुछ मर्म बताती हूँ, प्रियतम !
संकोच नहीं है तनिक मुझे इसके कह देने में, प्रियतम !
क्रन्दन अनादि यह है मेरा, होगा न अन्त इसका, प्रियतम !
तुम समझ सको तो लो समझो, जीवन यह है मेरा, प्रियतम ।।

भाई ! रुदन ही तो उसके प्राणनाथ को उसके पास खींचकर लाता है । यह व्यथा क्षण-प्रतिक्षण बढ़ती ही जाती है । हाय ! मेरे जीवन को ही धिक्कार है, जब मेरे प्रियतम मुझे दर्शन ही नहीं देते तो मैं उनके सुख-संवर्धन की हेतु कभी, किसी भी प्रकार हो ही नहीं पाऊँगी । फिर मेरे अस्तित्व का अर्थ ही क्या है ? यह निरर्थक भू का भाररूप जीवन तो अतिशय

धिक्कार का ही पात्र है । इन भावों से इस बाला की व्यथा, उसका क्रन्दन एवं हाहाकार अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है ।

तभी उसके प्राणरमण उसके नेत्रों के सम्मुख आ जाते हैं । अहा ! अपने अरुण कर सरोरूहों से जब वे उसके आँसू पौंछ रहे होते हैं, उस समय उनके नील-मुखमंडल का लावण्य, मधुरिमा, सरसता, कोमलता, कान्ति कैसी होती है, कौन बताये ? उनके प्राणों में भी अत्यधिक पीड़ा प्रसरित हो उठती है "हाय ! मैं अपनी प्राणेश्वरी प्रियतमा को सुख नहीं दे सका।" उनके नेत्र भी झर-झर आँसू की धाराएँ बहाने लगते हैं । अहा ! ये ही क्षण तो उसके मिलन के अथाह सुख को बढ़ाते हैं । और तब पुनः यह भाव उदय हो ही जाता है कि कुछ काल पश्चात् फिर प्रियतम से वियोग हो जायेगा । इस वियोग-संभावना की दारुण व्यथा से उसके और उसके प्रियतम दोनों के नेत्र पुनः बरसने लगते हैं । इस प्रकार यह क्रन्दन तो कभी विरमित न हुआ है, न होगा । यह उसके जीवन के साथ एकरस, एकभाव है । ऐसी है यह गोपी और ऐसा है उसकी प्रेम पाठशाला का ताना-बाना एवं ककहरा ।

स्वरचित चौपदों में जीवन का रहस्य

(यह एक सौ आठ चौपदों का काव्य पू० गुरुदेव ने पू० श्रीपोद्दारमहाराज को लिखाया था जिनमें से पाँच चौपाये यहाँ उद्धृत हैं ।)

वंदन है शत-सहस्त्रशः उस धरणी के रज कण को प्रियतम !
पिञ्जर वह इन्द्र नीलमय है शोभित हो रहा जहाँ प्रियतम !
आकर्षण अभिनव वह उसमें है अब तक भरा हुआ प्रियतम !
मोहित हो जिससे थी उतरी नभ से विहंगिनी मैं प्रियतम !।।१।।

पू० गुरुदेव कहते हैं - "उस धरणी के रजकण की शत-सहस्त्रशः वन्दना है जहाँ हे प्रियतम ! वह इन्द्र-नीलमय पिंजर शोभित हो रहा है । उस पिंजर में अब तक भी एक अभिनव, नित्य नवनवायमान आकर्षण भरा हुआ है, जिस आकर्षण से मुग्ध हुई मैं विहगी, हे प्रियतम ! आकाश से नीचे उतर आयी ।

पा सकी न अहो ! गन्ध भी यह उस समय तनिक ऐसी प्रियतम !
निर्माण किया है तुमने ही इसको, अपने कर से प्रियतम !
किञ्चित् सा उपादान लेकर अपने ही उस तन से प्रियतम !
नीलिमा अनिर्वचनीय नित्य वह है अचिन्त्य जिसमें प्रियतम !।।२।।

उस समय, अहो प्रियतम ! मैं ऐसी तनिक भी गन्ध नहीं पा सकी कि इस पिंजर को तुमने ही अपने स्वयं के करों से निर्माण किया है । हे प्रियतम ! इस पिंजर का उपादान तुमने अपने ही उस तन से लिया है जिस तुम्हारे तन में नित्य अनिर्वचनीय एवं अचिन्त्य वह नीलिमा है ।

थी श्रमित हुई उड़ती उड़ती निस्सीम गगन तल में प्रियतम !
मेरे ही साथ सदा तुम थे हँस हँसकर खेल रहे प्रियतम !
समझाते पुनः पुनः तुम थे 'प्रियतमे ! चलो बैठें' प्रियतम !
छूटी न किंतु हठ उड़ने की जो है स्वभाव में ही प्रियतम !।।३।।

अहा ! उस समय निस्सीम गगन तक उडती-उडती मैं श्रमित हो गयी थी और तुम तो नित्य मेरे सखा मेरे साथ सदा ही रहते हो- हँस-हँस कर उस समय भी खेल रहे थे । तुम मुझे बार-बार समझाते थे प्रियतमे ! चलो बैठें। परन्तु मेरे स्वभाव में ही उड़ने की जो हठ है वह तुम्हारे कहने के उपरान्त भी छूटी नहीं ।

फिर, हुए अधीर मुझे अतिशय देखा जब थकी हुई प्रियतम !
कौशल अपना कर, जाल नया फैलाया क्षण में ही प्रियतम !
सहसा अवनी की ओर दृष्टि मेरी गड़ गयी तथा प्रियतम !
दीखा श्यामल सुन्दर पिञ्जर अब तो गति रुद्ध हुई प्रियतम !।।४।।

फिर मुझे अतिशय थकी हुई तुमने देखा तो कौशल अपनाकर एक क्षण में ही नया जाल फैलाया । मेरी दृष्टि नीचे अवनी की ओर गड़ गयी और ज्यों ही श्यामलसुन्दर पिंजर दिखा अब तो मेरी गति रुद्ध हो गयी ।।४।।

ढ़ल पड़ी निकट आकर, फेरी दो-चार बार उसकी, प्रियतम !
दी, और अचानक यन्त्रित सी घुस पड़ी भला उसमें प्रियतम !
हो गया द्वार बस, रुद्ध और फँस गयी चंचला मैं प्रियतम !
विश्राम सदन में मुझको तुम लाकर इस भाँति हँसे प्रियतम !।।५।।

मैंने उस पिंजरे की दो-चार बार फेरी दी और उसके निकट आकर उस पर ढ़ल पड़ी, फिर अचानक यंत्रित-सी भला उसमें घुस पड़ी और मेरे घुसते ही उसका द्वार बस रुद्ध हो गया और मैं चंचला पक्षी फँस गयी । इस प्रकार मुझको विश्राम-सदन में लाकर तुम हँस उठे ।

अहा ! लाखों प्रणाम हैं इस गीतावाटिका के धूलि-कणों को जहाँ इन्द्रनीलमय नवनीरदवर्ण पिंजरा (श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार महाराज का देह) शोभित हो रहा है । अहा ! इस नवनीरदवर्णवपु श्रीपोद्दारमहाराज रसराज में कैसा नित्य नवनवायमान आकर्षण भरा हुआ है, जिस आकर्षण से पू० गुरुदेव-रूप विहगी परात्पर- परब्रह्माकाश में उड़ती हुई नीचे उतर आयी। जब वह इस पोद्दारमहाराजरूप पिंजरे के समीप आयी थी तब उसे इस बात की गन्ध भी नहीं थी कि इस देहरूप पिंजरे का निर्माण अप्राकृत तत्व रसराज श्रीकृष्ण के तन की सच्चिन्मयी, अचिन्त्य, अनिर्वचनीय नीलिमा के उपादान से हुआ है तथा इसकी रचना स्वयं श्रीकृष्ण ने अपने हाथो से की है । यह किसी प्राकृत जगत् के अविद्यामय उपादान पंचभूतों से प्राकृत सृष्टा ब्रह्मा द्वारा पूर्वकर्म-प्रारब्धानुसार नहीं बनाया गया है । उस समय पू० गुरुदेव सच्चिदानन्दाकाश, ब्रह्मभावरूप सीमाहीन नभ में उड़ रहे थे । यद्यपि वह उडान अखण्ड आनन्द भरी ही थी, फिर भी उड़ना तो उड़ना ही है, उसमें साधनजन्य श्रम तो होता ही है, अतः उड़ती-उड़ती वह विहगी श्रमित हो गयी थी । उस समय प्रियतम श्रीकृष्ण जो पू० गुरुदेव के नित्य सखा हैं, साथ ही जो उनकी अहंता के अनादि-अनन्तकाल के साक्षीरूप साथी बने उनके संग ही हँस-हँस कर खेल रहे थे एवं बार-बार पू० गुरुदेव को समझा रहे थे- "प्रियतमे, बैठें, आओ, भक्तिरूप धरती पर उतर कर विश्राम करलें ।" परन्तु अपने नित्यसखा के कहने के उपरान्त भी पू० गुरुदेव की अद्वैत-ज्ञान की हठ छूटी नहीं क्योंकि उनका जन्मगत स्वभाव ही महा-हठी था ।

तब हेतुरहित, अकारण करुणावरुणालय, नित्यसखा भगवान् श्रीकृष्ण ने उन्हें अतिशय थकी समझ एक चतुराई, कुशलता का खेल किया और एक क्षण

में ही उन्हें फँसाने के लिये एक नया जाल श्रीसेठजी जयदयालजी गोयन्दका के विचारों की श्रीमद्भगवद्गीता की टीका लिखाने का फेंक दिया । पू० गुरुदेव की दृष्टि सहसा गोरखपुर आने की ओर हो गयी और गोरखपुर-रूप अवनी पर आते ही वह श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दारमहाराज-रूप श्यामल, सुन्दर, रसमय पिंजरा दिख गया । पू० गुरुदेव को श्रीकृष्ण के दर्शन हो गये । श्रीपोद्दार महाराज ने चरणस्पर्श करके ज्यों ही पू० गुरुदेव को अपने आत्मस्वरूप रसराज श्रीकृष्ण का दान दिया कि उनकी गति रुद्ध हो गयी । उन्होंने तो गीता की टीका लिखने का संकल्प ही कर लिया था, अत: श्रीसेठजी जयदयालजी गोयन्दका के संग ढाई-तीन वर्ष व्यतीत करने पड़े और इस बीच श्रीपोद्दारजी से भी यदाकदा मिलन होता रहा, इस प्रकार इस पिंजरे की कुछ परिक्रमायें हुई और उस विहगी (पू० गुरुदेव) की रुचि रसराज श्रीपोद्दारजी पर ढ़ल पड़ी । फिर यंत्रित-सी उसे इस पिंजरे में घुसना ही पड़ा । बस ज्यों ही पू० गुरुदेव पू० पोद्दारमहाराज के सचल-वृन्दावनरूप इस पिंजरे में उनके साथ शेष जीवन बिताने का संकल्प लेकर घुसे कि निकलने का द्वार ही रुद्ध हो गया और पू० गुरुदेवरूप चंचला विहगी (विहंगम) इस श्रीकृष्णप्रेमरूप पिंजरे में फँस गयी और इस विश्राम-सदन में पू० गुरुदेव को लाकर श्रीकृष्ण हँसने लगे ।

हनुमान गढ़ी का निवासकाल

(आन्तरिक दशा)

गोरखपुर में हनुमानगढ़ी नामक स्थान में पू० गुरुदेव को श्रीसेठजी जयदयालजी गोयन्दका की प्रतीक्षा में लगभग तीन-चार माह निवास करना पड़ गया। श्रीसेठजी अन्य आवश्यक कार्यों में उलझे रहे और उनका गोरखपुर-आगमन लगातार स्थगित होता ही गया । पू० गुरुदेव की आन्तरिक दशा इस काल में परम विलक्षण थी । उन्हें अपने में स्त्रीत्व की ही अनुभूति होती। उन दिनों पू० गुरुदेव अति विरक्तावस्था में मात्र दो कोपीन ओर दो ही अधोवस्त्र रखते थे । उनके अधोवस्त्र घुटनों के ऊपर-ऊपर ही आ पाते थे। उनकी चौड़ाई यथावश्यक कम ही होती थी । इसी प्रकार उनकी लम्बाई भी बस आवश्यकताभर ही होती थी । जब तक वे पुरुष भाव में थे, उन्हें इन

वस्त्रों में कहीं भी आने-जाने में कुछ भी संकोच नहीं होता था । परन्तु अब उन्हें इन लघु-वस्त्रों में लज्जा का अनुभव होने लगता । वे बार-बार अपने आपको समझाते कि उनका भावदेह मात्र नारी का है, प्रकटदेह तो पुरुष का ही है, परन्तु नारीभाव का उद्दीपन उनके इस तर्क का खण्डन कर देता था ।

उन दिनों जब प० पू० गुरुदेव हनुमानगढ़ी में रहते थे, उन्हें भिक्षा कराने श्रीघनश्यामदासजी जालान अथवा उनके परिवार का कोई व्यक्ति आया करता था । पू० गुरुदेव को भावतिरेक में जिस दिन भी श्रीजालानजी अथवा उनका कोई व्यक्ति श्रीकृष्णरूप में दिखता तब तो वे उनके सम्मुख बैठकर भिक्षा ले लेते थे, किन्तु जिस दिन भी उन्हें ऐसा अनुभव होता कि घनश्यामदास जालान भिक्षा लेकर आया है, उस दिन उन्हें उनके सम्मुख आने में भी संकोच होता तथा वे अपने कमरे का दरवाजा थोड़ा सा खोलकर मात्र थाली ही ले लिया करते एवं भोजन करके थाली खिसका देते थे ।

श्री कृष्ण के प्रथम दर्शन के पश्चात् उनका श्रीविग्रह जाग्रत एवं स्वप्न किसी भी अवस्था में उनके दृष्टिपथ से हटता नहीं था ।

पू० गुरुदेव के चित्त में जो डेरा जमाये हुए वैराग्य था, वह न जाने कहाँ चला गया ? उसकी उन्हें स्मृति ही मानो नहीं रही । अब तो उनके रुण्ड-मुण्ड मस्तक को छाये रहती जंघाओं तक लम्बी काली घुँघराली घनी केशराशि। उन्हें जो ब्रह्मानन्द स्वरूपता की अखण्ड स्मृति रहती थी वह भी विलुप्त हो गयी । शान्ति के स्थान पर चित्त में निरन्तर लहराती रहती थी प्रियतम मिलन की नयी नयी उमंग। वे कभी संयोग जन्य आनन्द से नाचते होते अथवा कभी विरह जन्य भीषण हाहाकार भरे रुदन से कलपते रहते । कहाँ तो ध्याननिष्ठा जन्य नेत्रों में एक प्रकार की स्थिरता थी, किन्तु अब उसके स्थान पर नेत्रों में अपने प्रियतम का पथ निरन्तर जोहने की आकुलता और विकलता भर गयी थी । नेत्रों से प्रेमाश्रु झरते ही रहते थे । उनके चित्त में नेह सुधा का सागर हिलोरें लेने लगता था । अहा ! भोग-राग के लेश से भी मुक्त रसतत्व से सर्वथा अबोध एवं बालवत् अनभिज्ञ, कठोर तरुण तापस की जो अपार ज्ञान की मञ्जूषा बना हुआ था, कैसी दशा हो गयी थी ।

दिवस रात आठों याम वे अपने प्रियतम को मन ही मन सम्बोधित करते रहते - "हे मेरे प्राणवल्लभ ! हे मेरे अप्रतिम सौन्दर्य-माधुर्य-सुधा-सिन्धु ! हे मेरे जीवन सर्वस्व !!! हे मेरे प्राणों के प्राण !! हे मेरे निरुपम प्रेम पयोधि !!!!

हे प्राणरमण !!!!! इस दासी के हृदय में सदा विराजित रहना । इसे त्यागना मत ।

वे इस बँगला गीत के रूप में अपने प्रियतम को अपने हृदय की बात सुनाते रहते ।

बंधु कि आर बलिब आमि ।
जीवने-मरणे जनमे-जनमे प्राणनाथ हैओ तुमि ।
तोमार चरणे आमार पराणे बाँधिल प्रेमेर फाँसी ।
सब समर्पिया एक मन ठैया निश्चय हैलाम दासी ।
भावि देखिलाम ए तीन भुवने आर के आमार आछे ।
राधा बलि केइ सुधाइते नाइ, दाँडाब काहार काछे ।
ए कुले ओ कुले, दुकुले गोकुले अपना बलिब काय ।
शीतल बलिया शरण लइनु, ओ दुटी कमल पाय ।
ना ठेलियो मोरे अबला बलिये ये हय उचित तोर ।
भाविया देखिनु प्राणनाथ बिने गति ये नाहिक मोर ।।
आँखिर निमिषे यदि नाहि देखि तबे से पराण मरि ।
चण्डीदास कय परश रतन गलाय गाँथिया परि ।

'मेरे प्रियतम ! और मैं तुम्हें क्या कहूँ बस इतना ही चाहती हूँ - जीवन में, मृत्यु में, जन्म-जन्म में तुम्ही मेरे प्राणनाथ रहना । तुम्हारे चरण एवं मेरे प्राणों में प्रेम की गाँठ लग गयी है । मैं सब कुछ तुम्हें समर्पित कर एकान्त मन से तुम्हारी दासी हो चुकी हूँ । मेरे प्राणेश्वर ! मैं सोचकर देखती हूँ -- इस त्रिभुवन में तुम्हारे अतिरिक्त मेरा कौन है, मैं किसके समीप खड़ी होऊँ ? 'राधा' बोलकर मुझे पुकारने वाला तुम्हारे सिवाय और कोई भी तो नहीं है ! इसकुल, उसकुल, दोंनों कुलों में एवं इस समस्त गोकुल में भी किसे मैं अपना कहँ ? सर्वत्र मात्र ज्वाला है, एकमात्र तुम्हारे युगल चरण कमल ही शीतल हैं । ऐसा जानकर ही मैं तुम्हारी शरण आयी हूँ ।

हे मेरे प्रियतम ! तुम्हारे लिये भी अब यही उचित है कि मुझ अबला को चरणों में स्थान दे दो । मुझे अपने शीतल चरणों से दूर मत फेंक देना । नाथ ! सोचकर देखती हूँ, तुम्हारे बिना अब मेरी अन्य गति ही कहाँ है ? तुम यदि दूर फेंक दोगे तो मैं अबला कहाँ जाऊँगी ? मेरे प्रियतम ! एक निमेष के

लिये भी जब तुम्हें नहीं देख पाती तो मेरे प्राण निकलने लगते हैं । मेरे स्पर्शमणि ! तुम्हें ही तो मैं अपने अंगो का भूषण बनाकर गले में धारण करती हूँ ।

पू० गुरुदेव के उरस्थल में प्रेम की पाठशाला प्रारम्भ हो गयी थी, उस पाठशाला में प्रेम पढ़ाने वाले शिक्षक थे श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारमहाराज और पढ़ने वाला सुयोग्य विद्यार्थी था पू० गुरुदेव का अप्राकृत महाभावरूप मन । इस पाठशाला का नाम क्या हो ? पू० गुरुदेव ने अपने मन से ही पूछा परन्तु जब उनका मन कुछ भी उत्तर नहीं दे पाया तो यही प्रश्न उन्होंने अपने प्राणवल्लभ नील सुन्दर से पूछ लिया । उत्तर में वे बोले नहीं, परन्तु उनके नयन सरोजों से अश्रु की बूँदें ऐसी ढ़लक पड़ीं कि उस पाठशाला का नाम “प्रेम-पाठशाला” अपने आप प्रकट हो गया ।

पू० गुरुदेव उसी प्रेमपाठशाला में पढ़ने लगे। उस पाठशाला में जो भी वर्णमाला पढ़ाई जाती है उसे उच्चारण कर लिखना होता है । उस वर्णमाला में पहला वर्ण था “कृष्ण” । इस वर्ण का उच्चारण करते-करते शेष संपूर्ण वर्णमाला का अपने आप ज्ञान हो जाता है । फिर पूज्य गुरुदेव उस वर्णमाला की आकृतियों को, उनके रंगो को अपने हृत्तल में अंकित करते गये।

प्रेम पाठशाला‘ में किसी सन्त की यह उक्ति पू० गुरुदेव यावज्जीवन गाते रहे । यह पद उनके सर्वाधिक प्रिय पदों में से एक था । वे उन दिनों भी इस पद को प्रायः गुन-गुनाया करते थे । यह पद उन्हें सर्वप्रथम लेखक के पूर्वाश्रम के पू० मामाजी श्री चिम्मनलालजी गोस्वामी ने सुनाया था :-

कृष्णनाम जबते श्रवणन सुन्यो री आली,
भूली री भवन हौं तो बावरी भई री।
भरि-भरि आवैं नयन, चितहू न परै चैन, मुखहू न आवै बैन
तन की दसा कछु और हू भई री ।।
जेतेक नेम धर्म कीने री मैं बहुत विधि,
अंग-अंग भई हौं तो श्रवन मई री ।।
नंददास जाके श्रवणन सुनत यह गति भई
माधुरी मूरति कैधौं कैसी दई री ।।

पू० गुरुदेव का उन दिनों शरीर बहुत ही कृश हो गया था । वे राप्ती स्नान को जाते तो उनके पैर लड़खड़ाते हुए चलते । हनुमानगढ़ी के महन्तजी उनको रुग्ण जानकर बारबार उनके शरीर की दशा पूछते, परन्तु उन्हें तो शरीर का भान ही नहीं था । पू० गुरुदेव यद्यपि प्रतिदिन भिक्षा करते थे, परन्तु उनके शरीर में इतनी थकावट एवं कृशता होती, मानो वे एक पक्ष से निराहार ही रहे हों । वे मुख ढँपे पड़े रहते, किसी से भी बात नहीं करते । उनके नेत्र सदा सजल रहते, वे अरुण रहते एवं कुछ कुछ सूजे हुए रहते। यह स्पष्ट संकेत था कि वे रातों जगते थे सो नहीं पाते। हनुमानगढ़ी के महन्तजी के बार-बार पूछने पर वे किञ्चित् मुसका देते। उनकी वाणी रुद्ध होने के कारण वे कुछ भी बोल नहीं पाते। श्रीमहन्तजी गुरुदेव को समझाने की चेष्टा करते कि जीवन इतना उपेक्षणीय नहीं है । उन्हें शरीर का ध्यान रखना चाहिए ।

परन्तु महन्तजी के समझाने के शब्द उनके कानों में भी नहीं प्रवेश कर पाते । उनके नेत्र तो कदम्ब की शीतल छाया में त्रिभंग सुन्दर नन्दनन्दन पर सुस्थिर रहते । पू० गुरुदेव की हृदय-वेदना एवं अन्तःसुख की संगमित अचिन्त्य धारा की अनुभूति उन समझाने वालों को कहाँ थी ? यह अनुभूति उनके लिये संभव नहीं थी । महंतजी, श्रीघनश्यामजी जालान को उनकी रुग्णावस्था की सूचना देते । वे पू० गुरुदेव को दवा करने का आग्रह कर देते। पू० गुरुदेव मौन रहते । वे समझते कि अति विरक्तावस्थावश दवा लेना नहीं चाहते । उन्हें भी पू० गुरुदेव के भीतरी भावों का तो ज्ञान हो ही नहीं सकता था ।

जिसके हृदय में श्रीकृष्णचन्द्र का दिव्य प्रेम जाग्रत होता है, केवल मात्र उसी को प्रेम के वक्र एवं मधुर पराक्रम का भान होता है, दूसरों को नहीं ।

वे प्रायः आकाश की ओर देखते रहते, उन्हें लगता - "यह नभस्वान् परम बड़भागी है । यह नभ, चाहे श्री कृष्ण कहीं भी हों, उनके बाह्य और अन्तर् दोनों कलेवर के भागों को संस्पर्शित करता रहता है। मेरे प्राणवल्लभ की अन्तस्तल की क्या रुचि है, वह इस नभ से कभी भी संगुप्त नहीं रह सकती। कहीं मुझमें भी ऐसी इस नभस्वान् जैसी योग्यता उदित हो जाती तो मैं नन्दनन्दन के भीतरी चित्त की वासना जानकर तदनुरूप उनको सुख दे पाती, उनकी रुचि में अपने को ढ़ाल पाती, उनकी सेवा कर पाती ।"

इस प्रकार पू० गुरुदेव के तीन माह का काल हनुमानगढ़ी में व्यतीत हुआ। उनकी वृत्ति कृष्णप्रेम में ऐसी लीन हो गयी कि एक पल भी फिर वहाँ से हटी नहीं ।

वेणुनाद श्रवण एवं पू० पोद्दार महाराज के स्वरूप, महत्व का बखान

उसके पश्चात् अहर्निश जो घटनाएँ वहाँ घटी प्रियतम
विवरण उनको अब कौन करे संचित् है हत्तल में प्रियतम
द्रुम पत्रावलि उन छिद्रों के पथ से आती, उससे प्रियतम
छू जाता चञ्चु, और उस पर अंकित कुछ हो जाती प्रियतम

(पद का अर्थ)

पू० गुरुदेव रूप विहंगम को श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार रूप पिंजरे में कैद करने के पश्चात् जो अहर्निश वहाँ घटनाएँ घटीं, उनका विवरण अब कौन करे वे पूज्य गुरुदेव के हृद्देश में ही संचित् हैं । उस पिंजरे के छिद्रों के पथ से जो द्रुम पत्रावलियाँ आतीं उनसे उस विहंगम के चंचु छू जाते और उन पत्रावलियों में कुछ घटनायें अंकित हो जाती थीं । अर्थात् श्री पोद्दार महाराज के संगी साथी ही पू० गुरुदेव से कभी पूछ लेते तो वे उन घटनाओं के संबंध में कुछ बतला देते थे ।

भगवत्कृपा के परम कल्याणपूर्ण विधान ने, अब पू० गुरुदेव के जीवन में एक नया द्वार खोला । हनुमान गढ़ी के उस कदली वन में रस की तरंगिणी बह चली । एक दिवस संध्या के समय मन ही मन कृष्ण-कृष्ण की आवृत्ति करते हुए पू० गुरुदेव उन्हीं कदली वृक्षों के उपवन में बैठे थे, जहाँ उन्हें प्रथम श्रीकृष्ण के दर्शन हुए थे । सहसा इसीसमय श्रीकृष्ण की वंशी बज उठती है । वंशीरव पू० गुरुदेव के कानों में प्रवेश करता है । ओह ! यह अमृत निर्झर ! यह सुधा प्रवाह !! कहाँ से ? किस ओर से ? उनका संपूर्ण शरीर थर-थर काँपने लगता है । जैसे शीतकाल में उन पर हिम की वर्षा हो रही हो, साथ ही अंगों से प्रस्वेद की धारा बह चलती है । यह प्रस्वेद की धारा इतनी अधिक मात्रा में तड़-तड़ बहती है मानो ग्रीष्मताप उनके अंगों के

अणु अणुको उत्तप्त कर रहा हो । कानों पर हाथ रखकर वे विस्फारित नेत्रों से इधर-उधर देखने लगते हैं । थोडी ही देर में उन्हें ऐसा अनुभव होता है कि उस उपवन के वृक्ष, राप्ती का प्रसरित बालुका पूर्ण तट, वहाँ का आकाश, वायु, जल, पृथ्वी और सूर्य की रश्मियाँ सभी उस नाद से प्रतिनादित हो रहे हैं। पू० गुरुदेव की संपूर्ण चेतना विलय बिन्दु की ओर बढ़ने लगी और वे अचिन्त्यावस्था में गहरे समाहित हो जाते हैं ।

कुछ काल पश्चात् जब उन्हें पुन: होश आता है तो वे सोचने लगते हैं, ये कदली वृक्ष कैसे चमत्कारी हैं ! इनके अन्तराल से न जाने कैसी वह मधुरातिमधुर दिव्य वेणु-ध्वनि आयी और मेरे कानों में प्रविष्ट हो गयी ।

आह ! कदाचित् उस अमृत निर्झर के उद्‌गम को मैं देख पाता ! हाय ! वह कैसा वंशी निनाद था ? इस प्रकार विचार करते-करते वे पुन: अचिन्त्यावस्था में प्रविष्ट हो जाते हैं ।

श्रीकृष्ण के प्रथम दर्शन के पश्चात् उनका श्रीविग्रह स्वप्न अथवा जाग्रत किसी भी अवस्था में उनकी दृष्टिपथ से हटता नहीं था । पहले वह बोलता नहीं था । पीछे उसने बोलना प्रारम्भ कर दिया । उनकी वाणी इतनी मधुरातिमधुर होती कि गुरुदेव के अंग अवश हो जाते । उनका बाह्यज्ञान विलुप्त हो जाता, सर्वांग अवश हो जाते । उनका रोम रोम पुकार उठता - "आओ, प्रियतम ! प्राणेश्वर !! आओ ! स्वामिन् ! नाथ ! एक बार ही नहीं, अनन्त काल तक इस दासी से आपके हृदय की जो भी रहस्यमयी वार्ता हो वह अनवरत करते रहो ।"

वह मूर्ति पू० गुरुदेव से जो भी बात करती, वह श्रीपोद्दार महाराज की महिमा का ही बखान होता ।

पू० गुरुदेव कहा करते थे कि पू० श्री पोद्दार महाराज की जो उच्च से उच्च भाव-भूमि और स्थिति है इसके संबंध में जो कुछ मेरी श्रद्धा है वह सब श्रीकृष्ण के द्वारा बतायी हुई उनकी महिमा के आधार पर ही है । श्रीपोद्दार महाराज तो प्राय: ऐसा आचरण करते थे कि जिससे उनके प्रति मैं अश्रद्धा करलूँ । श्री पोद्दार महाराज पहले तो वैसा आचरण करते, फिर अतिशय प्यार से मुझे अपना सुगुप्त रहस्य भी खोलकर बता देते ।

श्री पोद्दार महाराज इसे स्वीकार कर लेते कि भगवान की जो मुझ पर सीमा विहीन कृपा है, उस कृपा का रहस्य कहीं अनावृत नहीं हो जाय - वह कृपा मेरा सदा सुगुप्त धन बना रहे, इसी कारण मेरे द्वारा वैसा आचरण हो

जाता है जिसे अनुचित कहा जाता है । श्री पोद्दार महाराज अपने को इसी प्रकार ऐसे अटपटे आचरणों से संगुप्त रखते थे । वे अनेकों बार ऐसा आचरण कर जाते किन्तु जब श्रीकृष्ण मेरे सम्मुख उस आचरण का रहस्य खोलते तो वह आचरण जगत के लिये इतना कल्याणकारी सिद्ध होता कि उस पर करोड़ों सदाचार बलिहार कर दिये जावें । कहने का इतना ही अर्थ है कि संगोपनप्रिय पोद्दार महाराज के रहस्य-गर्भित आचरण इसी प्रकार अटपटे होते थे । परन्तु उसी समय श्रीकृष्ण प्रकट होकर मुझे सचेत कर देते थे और वे उनकी उस क्रिया का इतना विलक्षण महाकल्याणकारी प्रभाव बताते कि मैं मुग्ध और चकित हो जाता था । श्री पोद्दार महाराज के प्रति मेरी श्रद्धा स्वयं श्रीकृष्ण ने उनका हृदय रहस्य खोल-खोल कर ही बढ़ायी है । अन्यथा उनके बाह्य-आचरणों से उन पर श्रद्धा करना मेरे लिये सर्वथा असंभव था ।

हनुमानगढ़ी में जब तक पू० गुरुदेव रहे भाव-समुद्र का अनिर्वचनीय अभिनव उच्छलन उनके हृदय-स्थल में होता रहा । उस रसप्लावन ने गुरुदेव को निमग्न कर दिया । उनके मन-प्राण सबकी दिशा ही बदलगयी । उत्तरोत्तर रसानुभूति के गंभीर-गंभीरतर आवर्तों में वे नाचने लगे । उनकी आँखों से गोरखपुर नगरी एवं राप्ती नदी का दृष्य ही बदल जाता और वे क्षण-प्रतिक्षण अनुभव करते - "परम रमणीय वृन्दावन ही चतुर्दिक है । कैसी अद्भुत बात है, मैं जिधर देखता हूँ उधर ही अप्रतिम अनुराग के निर्झर झर रहे हैं । सर्वत्र अप्राकृत भावोच्छ्वास की उन्मत्त पयस्विनी ही प्रसरित हो रही है । उनका रोम-रोम अति आकुल हुआ पुकारता रहता-"हे व्रज के चन्द्रमा ! हे मेरे जीवन सर्वस्व !! सुखी रहो तुम । तुम्हारे सुख-संवर्धन की भूमिका का निर्माण ही सदैव मेरे द्वारा होता रहे । कभी स्वप्न में भी तुम्हारी रुचि के विपरीत न तो मैं कुछ सोचूँ'-विचारूँ, न ही मेरा मन ही वैसा हो, फिर आचरण का तो प्रश्न ही नहीं ।"

पू० गुरुदेव ज्यों ही ब्रह्म मुहूर्त में जगते - उनकी पलकें खुलते ही उनका पहला दृश्य होता व्रजेन्द्रनन्दन का मुसकाता मुखचन्द्र । उनके हृदय में अपने प्रियतम के मुखचन्द्र को देखते ही परमानन्द-सिन्धु उच्छलित हो उठता । परन्तु वह परमानन्द-सिन्धु उनके लिये स्व-सुख-वासना को बढ़ाने वाला, अथवा स्वसुख-भोग की स्पृहा जगानेवाला सर्वथा-सर्वथा नहीं होता । वह परमानन्द-सिन्धु उनके हृदय से निस्सरित हुआ उनके प्रियतम को सुख देने उमड़ चलता । इस रसप्रवाह में निमज्जित उनके प्राणवल्लभ

नवनीरदवर्ण मुरलीमनोहर की मधुरिमा और सौन्दर्य क्षण-क्षण बढ़ता रहता । इस सौन्दर्य और मधुरिमा का दर्शन उनके अन्तःकरण में और अधिक आनन्दोच्छलन करता और वह उच्छलन पुनः उनके प्रियतम के अनन्त संविन्मय कल्याणमय गुण-गणों को बढ़ा देता । इस प्रकार पू० गुरुदेव के हृदय-देश में अंकित उनके प्रियतम की छवि प्रतिक्षण अतिशय नव-नव लीला-विलास की अप्रतिम सुन्दर भंगिमाओं से विभूषित होती रहती । उनकी गुणगरिमा ज्यों-ज्यों परिवर्धित होती त्यों-ही-त्यों फिर पू० गुरुदेव के हृदय में आनन्द उच्छलित होता । इस प्रकार इस आह्लाद का उत्तरोत्तर अभिवर्धन ज्यों-ज्यों होता त्यों-ही-त्यों उनके प्रियतम की गुण-गरिमा, मनोहरता, रूपमाधुरी भी बढ़ती जाती ।

पू० गुरुदेव की दृष्टि अपने प्रियतम के बिम्ब-विडम्बी अधरों की अप्रतिम शोभा निहारने लगती । वे देखते कि उनके मृदु मुसकान की मधुरता प्रतिपल नवीन-नवीनतर हो रही है । और उनकी वाणी तो इतनी रसमयी है कि मानो सुधा की सरिता ही बह चली हो । उन्हें अनुभव होता मानो नन्दनन्दन उन्हें कुछ कहना चाह रहे हैं । उनकी मन-इन्द्रियाँ मानो सब सिमट कर केवल कर्णेन्द्रियों में ही समाहित हो जातीं। वे सुनने लगते और पाते कि श्रीकृष्ण श्रीपोद्दार महाराज का यश-कीर्तन करने में ही उत्सुक और लालायित हो रहे हैं ।

यहाँ यह बात निरन्तर ध्यान में रखनी है कि पू० गुरुदेव का मन उन दिनों अप्राकृताविष्ट था । बात यह है कि प्राकृत राज्य के प्राणी में जिसका मन प्राकृत है भगवान का अप्राकृत स्वरूप प्रकट हो नहीं सकता । अतः जब किसी भाग्यवान् को भगवान् परात्पर श्रीकृष्ण के दर्शन होते हैं, उस समय महज्जन कृपा अथवा भगवत्कृपा उसके मन पर अप्राकृत आवरण अवतीर्ण कर देती है । तभी वह पात्र होता है कि उस अप्राकृत राज्य के रूप का दर्शन कर सके, उस अप्राकृत राज्य के शब्द, वेणुनिनाद अथवा श्रीकृष्ण की परम चिन्मयी भगवद्वाणी को सुन सके, श्रीकृष्ण का परम चिन्मय संस्पर्श पा सके, उनके अंगों की गंध सूँघ सके, उनका अधरामृत प्रसाद ग्रहण कर सके । साधारण मानव मन के लिये उस अप्राकृत राज्य के रूप की, वस्तु की, कार्य-व्यापार की कल्पना करना भी सर्वथा असंभव है । वह पूर्णतया कल्पनातीत है ।

अत: हम सभी विषयी जीवों का मन श्रीकृष्ण की बोली में कितनी मधुरता, सत्यता, पवित्रता एवं सुन्दरता थी - इसका अनुमान ही नहीं कर सकता, फिर कोई उसका शब्दों द्वारा आकलन करे यह तो सर्वथा-सर्वथा असंभव है ।

पू० गुरुदेव अनेक बार यह बता चुके हैं कि प्राकृत मन से अप्राकृत वस्तु की प्राप्ति कैसे हो ? वे कहते थे - यह मन भी प्राकृत है और बुद्धि भी प्राकृत है । इस मायाजगत की किसी भी वस्तु की गति उस मायातीत राज्य में है ही नहीं । माया जगत के शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध से मायातीत जगत के शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध सर्वथा भिन्न हैं । माया जगत की इन्द्रियों से ये सर्वथा अग्राह्य हैं । माया जगत की इन्द्रियों की वहाँ गति ही नहीं है । पर ये इन्द्रियाँ स्वयं को समाप्त कर सकती हैं । जहाँ इस प्राकृत मन की समाप्ति हुई, वहीं वह अप्राकृत राज्य स्वत: अवतरित हो जाता है । और इसका साधन है एक मात्र महत्कृपा अथवा भगवत्कृपा । यह पुरुषार्थ द्वारा साध्य नहीं । भगवान् और रससिद्ध सन्त दोनों ही बहुत उदार होते हैं । यदि कोई अपने को सर्वथा भगवान पर अथवा किसी भी महत् सन्त पर न्यौछावर कर दे तो भगवान् उसकी कामना अवश्य पूरी कर देते हैं। भगवान किसी की आशा खंडित नहीं करते । अप्राकृत राज्य में प्रवेश की एक मात्र यही साधना है, एवं यही उस अप्राकृत राज्य के अवतरण का एक मात्र उपाय है।

भगवान जब नर-वपु धारण करके नरलीला करते हैं, अथवा भगवान् के लीला राज्य में प्रविष्ट श्रीपोद्दार महाराज जैसे सन्त जब तक इस शरीर में है, वे देखते, विचारते, छूते, एवं संकल्प भी उसी प्रकार करते हैं जैसे साधारण जीव करता है, परन्तु उस सन्त अथवा भगवान् का वह कार्य-व्यापार मानवीय कार्य-व्यापार से सर्वथा-सर्वथा भिन्न होता है । सन्त एवं भगवान की विरुद्ध धर्माश्रियता ही उनकी परम विशेषता होती है ।

क्या कोई कल्पना कर सकता है कि अनन्त प्रकाश और अनन्त अन्धकार एक साथ एक देश में रह सकते हैं ? कोई भी व्यक्ति कैसे कल्पना करेगा कि विपरीत लोक-व्यवहार का आचरण करता हुआ वह व्यक्ति नित्य-अखंड परम विशुद्ध सत्व परायण है । उपनिषदों में यह कथा आती है कि दुर्वासा ऋषि गोपियों के द्वारा षड्रस व्यंजन भोजन कराने पर भोजन करने के उपरान्त भी कहते हैं कि मैं दूर्वा ही खाता हूँ एवं वे श्रीकृष्ण के

संबंध में भी गोपियों से कहते हैं कि श्रीकृष्ण बाल-ब्रह्मचारी हैं जबकि गोपियाँ उनसे अंग-संग एवं विहार करके लौटती हुई दुर्वासाजी के पास बढ़ी हुई यमुना से निस्तरण का उपाय पूछने आती हैं । दुर्वासा गोपियों से यही कहते हैं कि यमुनाजी से कहना दुर्वासा दूर्वाभक्षी है और श्रीकृष्ण अखण्ड़ ब्रह्मचारी हैं, इस सत्य के प्रभाव से हमें रास्ता दे दो । बढ़ी हुई यमुना तत्क्षण घट जाती है और गोपियाँ यमुना पारकर दूसरे तट पर पहुँच जाती हैं ।

अत: पू० गुरुदेव कहा करते थे कि अप्राकृत मन की प्राप्ति के पश्चात् ही मानव संत-जीवन की विलक्षणता एवं भगवत्लीला को, लीला के तत्व को, उसके रहस्यों को समझ पाता है एवं उनका रस ले पाता है ।

अब इस प्रसंग पर आगे विचार करते हैं कि साक्षात् रसराज परब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्ण अपनी मधुस्यन्दी वाणी में पू० गुरुदेव से श्रीपोद्दार महाराज की क्या स्तुति करते थे ?

यह प्रसंग लेखक के पूर्वाश्रम के मामाजी श्री चिम्मनलालजी गोस्वामी की डायरी में लिखा था । बात यह थी कि जब-जब श्रीकृष्ण पोद्दार महाराज की स्तुति करते पू० गुरुदेव उसे एक कागज में लिपिबद्ध कर लेते थे और उसे माला की तरह अपने गले में धारण किये रखते थे। कभी-कभी ये प्रसंग वे मेरे मामाजी आदि अनेक महाभाग्यवान् कृपा-पात्रों को सुनाते थे। पू० मामाजी ने उसे अपनी डायरी में उद्धृत कर लिया था । एक दिवस वह डायरी लेखक को पढ़ने को प्राप्त हो गयी । उसी में से ये प्रसंग लेखक ने उतारकर अपने पास रख लिये थे । श्री चिम्मनलालजी गोस्वामी की मृत्यु के पूर्व ही लेखक सन्यासी हो गया था, अत: उसे अब ज्ञात नहीं है कि वह डायरी फिर किसके हाथ लगी । यहाँ नीचे भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा पोद्दार महाराज की महिमा में कही वाणी उद्धृत है :-

"यह कोई भी ठीक-ठीक नहीं बता सकता पोद्दार महाराज रूप जीव क्या है ? यदि इसके सम्बन्ध में कुछ भी निर्वचन किया जा सकता है तो मात्र इतना ही कि यह है मात्र मेरा सुख, पूर्णतया शतप्रतिशत मात्र मेरी रुचि में ढली मूर्ति । यह मूर्तिमान मेरी रुचि-पूर्ति का विरल यंत्र है। जीव होते हुए भी यह इतना विशुद्ध हो गया है कि मलिन कामोपभोग की कल्पना का लेश भी इसके चित्त में प्रवेश नहीं पा सकता । यह खाता-पीता है, देखता-सुनता है परन्तु इसके सभी इन्द्रिय-व्यापार मुझसे एकमेव घुले-मिले होकर ही होते हैं। अत: यह कदापि नहीं कहा जा सकता कि इसके शरीर और इन्द्रियों का

सचालन इसके द्वारा हो रहा है, यह मुझमें इतना घुला मिला है कि इसके शरीर मन-बुद्धि और इन्द्रियों एवं प्राणों का भी यथायोग्य संचालन मैं स्वयं ही करता हूँ ।"

"यह ऐसी परम सुन्दर महा कल्याण-वर्षिणी नदी है, जो अनवरत प्रवाहित हो रही है मेरी शुभच्छा पूर्ति के लिये । इसके इन्द्रिय समूह, इसका शरीर, इसका मन, इसकी बुद्धि, इसके प्राण, इसका अहं ये सभी यंत्र-चालित से मुझ यंत्री द्वारा ही संचालित होते हैं क्योंकि यह सदा-सर्वदा स्वरूप से मुझसे एकमेक है ।"

"इसका जीवन परम एवं चरम त्यागमय है और सर्वसमर्पणमय है । परम एवं चरम त्याग का क्या वास्तविक स्वरूप होता है ? सर्व समर्पणमय उज्ज्वलतम प्रेम का क्या आदर्श है ? स्वसुखवाञ्छाविरहित प्रियतम-सुखेच्छामय स्वभाव किसे कहते हैं ? अहं की चिन्ता और मंगलकामना की तो बात ही छोडें, अहं की स्मृति से भी शून्य प्रियतम स्मृतिमय जीवन कैसा होता है ? पोद्दार महाराज ने अपने प्रत्यक्ष जीवन से इसका एक नित्य चेतन, क्रियाशील, मूर्तिमान उदाहरण प्रस्तुत करके जगत के इतिहास में एक अभूतपूर्व दान किया है। ऐसा दान भूतकाल में भी विरला ही हुआ है और इस कलिकाल में तो असंभव है ।"

"ठीक समझ लो, पोद्दार महाराज मेरा ही स्वरूप हैं, मेरी दूसरी प्रतिमूर्ति हैं। मेरी ही भाँति इनमें मेरे समस्त भगवदीय गुणों का भी प्राकट्य है। परन्तु इसके स्वभाव की यही विलक्षणता है कि यह अपने में इन सर्वोच्च गुणों का अभाव देखता है । यह अपने को सर्वथा सब विधि कुरूप, कुत्सित, शील-गुणरहित एवं दोषों से भरा ही अनुभव करता है, परन्तु यथार्थमें है मुझे रिझाने वाले समस्त गुण-गणों का अगाध, अपरिसीम, अनन्त भण्डार । यह अपने को कभी मेरे योग्य नहीं समझता, सदा सकुचाता रहता है, यह अपने को दोषागार मानकर सदा मेरे सम्मुख अतिशय लज्जा और धिक्कार का भाजन अनुभव करता है । परन्तु न तो इसका यह दैन्य और अपने को हीन देखना केवल अभिनय एवं दम्भाचरण है और न ही इससे इसके गुणों की महानता में कहीं कोई न्यूनता ही आती है । यह कुछ भी समझे, कुछ भी बोले, है यह मुझे रिझाने वाले समस्त गुण-गणों का अगाध, अनन्त असीम भण्डार । इसका वास्तविक स्वरूप शिव, ब्रह्मादि देव-गणों के समान स्तुत्य, नारद, सनत्कुमारादि के समान भक्तिमान् एवं श्लाघ्य, वशिष्ठ, व्यासादि

महापुरुषों के समान वन्दनीय, याज्ञवल्क्य, शुकदेवादि ज्ञानियों जैसा सेवनीय, निर्मल परम गौरवमय और महामहिमामय है । फिर भी इसमें अपने गुणों का सर्वथा अभिमान नहीं है, इसका यह वास्तविक दैन्य मुझे सर्वाधिक प्रिय है।"

कभी कहते - "तुझे विश्वास करना चाहिए इस पोद्दार महाराज जीव के हृदय से मैं एक क्षण के लिये भी नहीं हटता । मेरी ध्यानमूर्ति नहीं, मैं स्वयं इसके हृदय में परम विश्राम पाता हूँ । इसका अन्तःकरण मेरा साक्षात् धाम है। जब भी यह नेत्र मूँदता है, उस समय इसकी पलकों के भीतर मुझे निज मुस्कान बिखेरनी ही पड़ती है । यह स्वप्न देखता है, तब भी मैं इसके स्वप्नों में भी रहता हूँ । इसके जीव-शरीर के ढाँचे के भीतर अहंता, ममता, देहाध्यास, जगत का अध्यास, लोक-वेद की भावना, भोग-मोक्ष की स्पृहा कुछ भी तो नहीं है । मेरे विरह की अग्नि में सब जलकर खाक हो गयीं । फिर मेरे मिलनानन्द की अजस्र-धारा में उसकी राख भी बह गयी । तत्पश्चात् मेरे प्रेम की प्रबल रसधारा ने उसकी गंध का लेश भी नहीं छोड़ा । अब वहाँ मात्र मेरा प्रेम ही लहरा रहा है । तरंगों पर तरंगें उठ रही हैं । वे तंरगें भी मेरा ही रूप धारण किये मुझे ही नहला रही हैं।"

"मेरे जिस सगुण-साकार स्वरूप के जो तुझे दर्शन हुए हैं, वे किसी भी साधना का सर्वथा फल नहीं हैं । अद्वैत-तत्व-निष्ठा से करोड़ों कल्पोंपर्यन्त साधना करने पर भी तुझे मेरे इस स्वरूप के दर्शन कदापि कदापि नहीं होते। परन्तु तेरे जीवन में व्रजभाव का वपन किया पोद्दार महाराज ने । यह व्रजभाव सम्पन्न इतने उच्च कोटि का सिद्ध-भक्त है कि इसके कृपा-प्रसाद से ही तुझ निराकारवादी अद्वैत-तत्वनिष्ठ के जीवन में मधुरभावापन्न रसोपासना की सुधामयी धारा प्रवाहित हुई ।"

"पोद्दार महाराज के देह को मैने पूरा अपना यंत्र बना रखा है । अतः कभी तो इस देह का नियन्ता मैं गोपीवल्लभ श्रीकृष्ण हो जाता हूँ । कभी गीतातत्वोपदेशक चतुर्भुज नारायण के रूप में इस देह से अपनी संकल्प-पूर्ति कराता हूँ । इस प्रकार इसमें से भिन्न स्वर बजते हैं । कभी इस देह-यंत्र से असीम कृपा-माधुर्य, परम सुकोमल दयाभरे स्वर बजते हैं, कभी कठोर गरजते स्वर भी बज उठते हैं, इसमें इसका स्वभाव-वैचित्र्य सर्वथा नहीं है । यह स्वयं तो कुछ है ही नहीं । जिस समय जैसे पात्र से जो भी लीला मुझे करनी होती है, उस समय इस पोद्दार महाराजरूप यंत्र के अन्तराल से मैं वैसी लीला मुखरित कर बैठता हूँ । इसमें इसका स्वयं का स्वभाव-वैचित्र्य सर्वथा नहीं

है। यह तो कुछ है ही नहीं । जो कुछ भी कभी था, पूरा मुझसे अभिन्न हो गया। अतः यह कभी महामोही गृहस्थसा आचरण करता दृष्टिगोचर होता है, कहीं महात्यागी तपस्वी विरक्त दिखता है, कहीं रागी, कहीं भोगी, कहीं महाज्ञानी, समझ में आता है । वास्तव में यह स्वयं में कुछ भी नहीं है । यह तो मात्र यंत्र है, और मैं यंत्री इसमें से जैसे स्वर बजाता हूँ वे ही स्वर इसमें से निकलते हैं । इसकी यही विलक्षण चरित्र शोभा है । इसमें स्वयं का कहीं कोई आग्रह ही नहीं है कि यंत्र को अमुक एक प्रकार से ही बजाया जाय । यह तो मेरे सुख एवं मेरी रुचिका संकेत पाते ही जैसा मैं चाहता हूँ , सांगोपांग वैसा ही नाटक कर जाता है । और मैं 'वाह' कर बैठता हूँ। और मेरा सुख ही इसकी कृतकृत्यता है ।

इस प्रकार चार पाँच माह जब तक पू० गुरुदेव हनुमानगढ़ी नामक स्थान पर रहे श्री कृष्ण प्रत्यक्ष प्रकट होकर उन्हें सन्त रहस्य, लीलारहस्य एवं सगुण साकार स्वरूप के तत्व रहस्य की बातें बतलाते रहे । श्री पोद्दार महाराज के माहात्म्य की बातें इतनी महत्वपूर्ण होती थीं कि पश्चात् पू० गुरुदेव उनको कागजों में लिखकर उसकी माला बनाकर पहने रहते ।

भागवती संकेतों की होली

(यह प्रसंग लगभग सात वर्ष आगे का है, सन् १९४३ ई० का रतनगढ़ का जब पू० गुरुदेव श्री पोद्दार महाराज के साथ यावज्जीवन रहने का व्रत लेकर जुड़ गये थे)

प० पू० पोद्दार महाराज में आत्म संगोपन की प्रवृत्ति अत्यधिक प्रबल थी। उनकी हर संभव चेष्टा यही रहती थी कि संसार उनको मात्र एक साधारण गृहस्थ ही समझे और अधिक से अधिक कोई श्रद्धा करे भी तो उसकी इतनी ही श्रद्धा परिपुष्ट हो कि ये एक साधक गृहस्थ हैं और श्रीजयदयालजी गोयन्दका की छत्रछाया में अन्य साधकों के समान मात्र साधना ही करते हैं । उनकी दिव्य भागवती स्थिति को कोई भी जान नहीं पावे । वे तो पू० गुरुदेव को भी अपने किसी महत्व की गंध नहीं देते, परन्तु वू० गुरुदेव तो भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा उनका सब अप्रकट गुप्त रहस्य जान लेते थे ।

एक सज्जन थे श्रीशिवकुमारजी केडिया । आप श्रीवृन्दावन-धाम में वास करते थे । श्री केड़ियाजी अच्छे साहित्यिक विद्वान् थे । पू० गुरुदेव और श्रीपोद्दार महाराज के प्रति उनके मन में बहुत ही आदर का भाव था । सत्संग की दृष्टि से वे पू० श्रीपोद्दार महाराज के पास आया करते थे । उन्होंने 'वृन्दावन शतकम्' नामक संस्कृत में एक काव्य भी लिखा था ।

एक बार वे वृन्दावन से रतनगढ़ सत्संग लाभ के लिये आये थे। अवसर पाकर उन्होने पू० गुरुदेव से प्रार्थना की कि वे श्रीपोद्दारजी की आध्यात्मिक स्थिति के बारे में कुछ बतलावें ।

रतनगढ़ में सत्संगी जनों में प्रायः ऐसी चर्चा होती ही रहती थी कि श्री पोद्दार महाराज की आध्यात्मिक स्थिति के सम्बन्ध में जितना पू० गुरुदेव जानते हैं उतना अन्य कोई नहीं । श्रीपोद्दार महाराज से परमार्थ सम्बन्धी पू० गुरुदेव की कोई गुप्त सत्संग वार्त्ता होती थी सो बात सर्वथा नहीं थी। पू० गुरुदेव तो प्रायः एकान्त में अपने कक्ष में ही रहते थे एवं श्री पोद्दार महाराज अपने सम्पादन कार्य में निरत रहते थे । पू० गुरुदेव को जो कुछ भी मिलता था, वह उनसे स्वतः मिलता रहता था, बिना कहे अपने आप मिलता रहता था। श्री पोद्दार महाराज द्वारा पू० गुरुदेव को जो भी परमार्थ दान अथवा रस-भाव दान होता था वह स्वतः बिना किसी प्रयास के ही होता था । श्री पोद्दार महाराज ने उन्हें अपना सर्वस्व दान ही कर दिया था, परन्तु वह किया था, स्वतः सर्वथा ही दाता का भाव न रखकर, इसे उनकी अहंकार-शून्यता का परम निर्मल प्रकाश ही मानना चाहिये।

जब श्री केडियाजी ने पू० पोद्दार महाराज की आध्यात्मिक स्थिति के बारे में जिज्ञासा की तो पू० गुरुदेव दुविधा में पड़ गये। उनके मन में एक ओर तो इस निधि को अत्यधिक सुगुप्त रखे रहने का भाव कार्य कर रहा था, दूसरी ओर यह भाव भी था कि कहीं किसी सच्चे जिज्ञासु की भावना का अनादर नहीं हो जाये । अतः पू० गुरुदेव ने श्री केडियाजी की परीक्षा लेनी चाही । उनकी चाह की उत्कटता की परीक्षा लेने के लिये पू० गुरुदेव ने उनसे एक लाख नाम-जप एक माह तक प्रतिदिन करने को कहा । श्री केडियाजी ने पू० गुरुदेव की आज्ञा शिरोधार्य करली ।

वे एक मास तक निष्ठापूर्वक 'हरे राम' षोड़श महामंत्र की चौसठ माला प्रतिदिन फेरने लगे । अभ्यास नहीं होने से उनका मन ऊबता भी था, परन्तु किसी दिव्य वस्तु की प्राप्ति के लोभ में वे इस कार्य में निरत रहे ।

पू० गुरुदेव उनकी लगन और निष्ठा देखकर बहुत ही प्रसन्न हुए एवं उन्होंने श्री केडियाजी को अनेक दिव्य बातें लिखकर दे दीं । यह लेखन फुलस्केप साइज के कागजों में लगभग चालीस पृष्ठ था ।

श्री केडियाजी ने इसे अपना परम सौभाग्य माना । इन दिव्य बातों को पढकर उन्हें बहुत ही आश्चर्य हो रहा था । आखिर श्री केडियाजी थे तो इस कलिकाल में जन्मे प्राणी ही । उनका मन इतनी बड़ी बातों को पचा नहीं पाया । पू० गुरुदेव की इन उक्तियों की सत्यता को जाँचने का उनका भाव प्रबल हो उठा । उनके पास उन्हें जाँचने की और दूसरी कोई कसौटी तो थी नहीं । उन्होंने सोचा क्यों न इन चालीस पृष्ठों में जो बातें पू० गुरुदेव ने लिखी हैं उन पर श्री पोद्दार महाराज की मोहर लगवा ली जाय ।

इस थोड़ी सी अश्रद्धाजनित भावहीनता ने श्रीकेडिया के द्वारा एक बड़ी भूल करवा दी । उन्होंने वे चालीसों पृष्ठ पू० पोद्दार महाराज को दे दिये और यह भी बता दिया कि इस (पू० गुरुदेव द्वारा लिखित) सामग्री को उन्होंने किस प्रकार प्राप्त किया है । उन पृष्ठों को पढकर पू० श्री पोद्दार महाराज ने इस प्रकार से उन्हें उपेक्षापूर्वक वापस कर दिया जैसे वे सर्वथा महत्वहीन हों, साथ ही यह भी कह दिया कि "बाबा (पू० गुरुदेव) तो सन्यासी एवं भावुक हैं । व्यावहारिक जगत से उनका कोई सम्बन्ध अथवा संपर्क रहता नहीं है । रात-दिन जगत से परे की बातें सोचते रहते हैं । ये बातें सर्वथा सारहीन हैं। सच्ची बात तो यह है कि यह सब मात्र थोथी भावुकता है । मैं तो मात्र एक साधारण गृहस्थ साधक हूँ । साधना करता हूँ और शास्त्रों की बात प्रवचन सत्संग में कहता हूँ ।"

श्रीकेडियाजी का पेट तो पहले ही छोटा था । इतनी कल्पनातीत उच्च-अवस्था की बातों को हृदयंगम करना उनके लिये संभव था ही नहीं और अब जब श्रीपोद्दार महाराज ने स्वयं ही उन सब बातों का निषेध कर दिया तो केडियाजी ने उन्हें पू० गुरुदेव के थोथे भावुक मन की उड़ान ही मान लिया । श्री केडियाजी के मन में पू० गुरुदेव के प्रति जो उच्च श्रद्धा थी वह ही अब नहीं रही थी, वह भी डगमगा गयी थी । उन्होंने यही मान लिया कि ये मात्र भावुक उडानें भर कर लोगों को भ्रमित करते हैं, पू० पोद्दार महाराज की चाटुकारी भर करते हैं । श्रीपोद्दारजी यदि इनकी बातों में तनिक सा भी सत्य तथ्य पाते तो उन्हें मेरे सम्मुख स्वीकार कर लेने में आपत्ति ही

क्या थी । मेरे सम्मुख वे असत्य का आश्रय क्यों लेते । मैं तो उनका विश्वासी श्रद्धालुजन हूँ । वृन्दावन छोड़कर उनके पास आता हूँ ।

इधर तो श्री पोद्दार महाराज ने केडियाजी को उन बातों के संबंध में पू० गुरुदेव की थोथी भावुकता है - यह टिप्पणी की एवं उधर वे पू० गुरुदेव के पास जाकर एकान्त में उन्हें संकेत दे आये कि "केडियाजी -ऐसी बातें जानने के अधिकारी सर्वथा नहीं हैं एवं आपको लिखकर तो कभी भी ऐसी बातें किसी को भी नहीं देनी चाहिए ।"

श्रीपोद्दारजी का पू० गुरुदेव को इतना संकेत पर्याप्त था । उन्होंने श्री केडियाजी को तुरन्त बुलवाया और कहा कि "जो मैंने आपको लिखकर दिया है, उसमें कुछ संशोधन करना है । आप एक बार वह सब मुझे लौटा दीजिए।" श्री केडियाजी ने वह सामग्री सहर्ष पू० गुरुदेव को सौंप दी । उस सारी सामग्री के प्रति अब उनका आदर भाव ही नहीं रह गया था । श्रीकेडियाजी ने वह सामग्री निरर्थक तो मान ही ली थी अत: न तो उसे पुन: माँगी और न ही पू० गुरुदेव ने उन्हें फिर उसे लौटायी ।

बाहर समीर उस पथ से ही उसको फिर ले जाता प्रियतम !
सौरभ से सनी हुई उसकी मोहकता अब बढ़ती प्रियतम !
पर गन्धफली का वह वन था, भौंरा कैसे आवे प्रियतम !
फिर थी बिखरी पत्रावलि, ले उद्दाम पवन भागा प्रियतम ।।
पंकिल थल में कुछ नष्ट हुई, काँटों की झाड़ी में प्रियतम !
कुछ गिरी बचीं फिर भी कुछ थीं, पर था विधान ऐसा प्रियतम !
हो जायँ लुप्त अंकित बातें, लीला की तुमने ही प्रियतम !
दावा की एक लहर आयी स्वाहा हो गयी सभी प्रियतम।।

(भावार्थ)

उन बातों को उस पिंजर-पथ से ही बाहर समीर ले जाता, अर्थात् अपने कक्ष में (श्री पोद्दार महाराज के पिंजर में) पू० गुरुदेव बैठे थे, एवं श्री केडियाजी उन बातों को उनसे प्रार्थना करके ले गये । अब तक तो उन बातों की मोहकता जैसी सौरभ से सनी हुई थी, बढ़ी ही थी । परन्तु हाय, वह गन्धफली का वन था, वहाँ उस सौरभ का सच्चा ग्राहक भ्रमर भला कैसे

आता, फिर भी उन बिखरी पत्रावलियों को लेकर उद्दाम पवन भागा । परन्तु हाय, कुछ कीचड़ के प्रदेश में नष्ट हो गयीं, कुछ कण्टकाकीर्ण झाड़ियों में गिर गयीं, कुछ गिरीं फिर भी कुछ बची थीं, परन्तु हे प्रियतम ! ऐसा ही विधान था कि वे अंकित बातें सर्वथा लुप्त हो जावें, तुमने ऐसी लीला की कि दावा की एक लहर आयी और सब स्वाहा हो गयीं ।

श्रीकेडियाजी ने वह सामग्री पुनः प्राप्त करने का आग्रह भी नहीं किया और वे वृन्दावन वापस चले गये । वृन्दावन आने के कुछ दिनों पश्चात् उन्हें श्रीकृष्ण के स्वप्न में दर्शन हुए । उन्होंने ही केडियाजी के सम्मुख यह रहस्य खोला कि पू० गुरुदेव ने जो कुछ भी लिखा था, वह सर्वथा-सर्वांश में सत्य था। श्रीपोद्दार महाराज ने स्वयं को पूर्णतः संगुप्त रखने के लिये तुमसे वैसा कह दिया था ।

श्रीकेडियाजी को यह जानकर बहुत ही परिताप हुआ, परन्तु उस वस्तु की उत्कृष्टता पर सन्देह के कारण उनके हाथ में आयी श्रेष्ठतम सामग्री अब तो हाथ से निकल ही गयी थी । पश्चात् तो उसे पुनः प्राप्त करने का उन्होंने प्रयास भी किया कि वे पृष्ठ उन्हें पुनः मिल जावें परन्तु उड़ी हुई चिड़िया फिर कैसे हाथ आती ।

जिस प्रकार पू० गुरुदेव अपने कण्ठहार के रूप में श्रीपोद्दार महाराज के माहात्म्य की सत्तर-अस्सी अन्य भगवद् वाणियों को अपने कण्ठ में सदा धारण किये रहते थे, उन्हीं बातों के साथ ये चालीस पृष्ठ भी उन्होंने अपनी धरोहर बनाकर रख लिये । सभी तथ्य पू० गुरुदेव के हृदय हार तो बने हुए थे ही ।

शीत ऋतु की बात है । पू० गुरुदेव एकान्त में बैठे आग ताप रहे थे । अँगीठी में कोयले धधक रहे थे। उन एकान्त क्षणों में पू० गुरुदेव के पास पोद्दारमहाराज आये । पू० गुरुदेव ने उनका स्वागत किया । कुछ साधारण बातें करने के पश्चात् पू० पोद्दार महाराज ने पू० गुरुदेव से कहा - "मैं वह सब देखना चाहता हूँ जो कुछ आपने भगवान् श्रीकृष्ण के संकेत से मेरे बारे में लिखा है ।" पू० गुरुदेव ने तुरन्त अपने गले से निकालकर वह लिखित सामग्री पू० पोद्दार महाराज को दे दी । वे उस सामग्री को वहीं पू० गुरुदेव के सम्मुख ही पढ़ गये ।

पढ़ चुकने के पश्चात् उन सभी पृष्ठों को पू० पोद्दार महाराज ने मोड़कर समेटा और पू० गुरुदेव के सम्मुख ही देखते-देखते उसे अँगीठी में

डाल दिया । उस दिव्य सामग्री को आग में डालकर श्रीपोद्दार महाराज ने पू० गुरुदेव से कहा - आप पर भगवान् श्रीकृष्ण की बड़ी ही कृपा है जो आपको यह सब बता देते हैं ।

पू० गुरुदेव अपनी आँखों से यह सब देख रहे थे । वे निश्चेष्ट-निष्पन्द बैठे रहे, और मुस्कराते रहे । उन्होंने श्री पोद्दार महाराज के प्रति कोई विरोध भी प्रकट नहीं किया कि आपने यह सब क्या कर दिया, न ही किसी भी प्रकार का क्षोभ ।

उन्हें तो पू० पोद्दार महाराज की रुचि के साँचे में ही अपने को ढालना था । ऐसा नहीं कि इसके पश्चात् उन्हें कोई भगवत्संकेत मिलने स्थगित हो गये हों, भगवान् श्रीकृष्ण तो यावज्जीवन उनसे पद-पद पर वार्ता करते थे, परन्तु ऐसे प्राप्त भगवदीय संकेतों को उन्होंने लिखना बन्द कर दिया । जब श्रीपोद्दार महाराज की रुचि ही नहीं तो क्यों लिखा जावे । अतः कागज पर मसिबिन्दुओं से लिखना स्थगित हो गया ।

(पू० पोद्दार महाराज की महिमा का वर्णन)

परम गोप्य अतिशय अमल सुचि रस यह अनमोल।
कबहुँ न परगट कीजियै, कितहूँ वाचा खोल ।।१।।
अति विचित्र अति ही मधुर प्रेमी कौ संसार ।
सदा सकल दिसि प्रेमघन करत प्रेम विस्तार ।।२।।
सदा परस्पर मधुमिलन सदा सरस रति रंग ।
सदा जगत् विस्मृति, सदा प्रियतम प्रेमी संग ।।३।।
पच्यौ करै नरकाग्नि पै, पल-पल बाढै प्रेम ।
प्रीतम के सुख सौं सुखी, यहै प्रेम को नेम ।।४।।
रस-अगाध सर रहिय नित मगन, उछरियै नाँय।
जानि न पावै पै न कोउ, कोउ न आवै जाय ।।५।।

(दोहों का अर्थ)

यह महापुरुषों का लीला-माहात्म्य रस अतिशय निर्मल, पवित्र और परम अनमोल है । बडे-से-बडा मूल्य देकर भी यह प्राप्त नहीं किया जा सकता,

परन्तु भगवत्कृपा से सहज ही प्राप्त हो जाता है । इसे कभी भी वाणी से खोलकर (अनधिकारी के सम्मुख) प्रकट नहीं करो ।।१।।

यह प्रेमी महात्माजनों का संसार अति ही मधुर एवं विचित्र है, वे सदा सब दिशाओं में प्रेम तथा प्रेम-वैभव का ही विस्तार करते रहते हैं ।।२।।

प्रेमी की बहुत ही विलक्षण स्थिति है, उसका अपने प्रियतम के साथ सदा परस्पर मधु मिलन, एवं सरलतम रति-रंग होता रहता है । उसे जगत की सदा विस्मृति ही रहती है ।।३।।

प्रेमी का शरीर चाहे घोर नरकाग्नि में पड़ा पचता रहे, परन्तु उसका अपने प्रियतम के साथ प्रेम पल-पल बढ़ता ही रहता है । वह अपने दुखों की ओर तो देखता ही नहीं उसकी दृष्टि तो अपने प्रियतम के सुख में ही अटकी रहती है और उसके सुख से वह निरन्तर सुखी रहता है । यही प्रीति का नियम है । ।।४।।

यह प्रेमरस का सरोवर अगाध है, इसका तल ढूँढने से भी नहीं मिलता। इसमें वह प्रेमी नित्य मग्न, डूबा रहता है; वह कभी उछलकर ऊपर नहीं आता। न तो उसे प्रिय में मग्न रहने के कारण कोई बाहर से कुछ जान पाता है, और न ही कोई उसके पास आ-जा ही पाता है क्योंकि उसका प्रेम और प्रियतम दोनों ही बाहर के सभी लोगों के लिये अगम्य और अगोचर होते हैं ।

धन्य हैं वे जीव जो जगत् में लोक-कल्याणार्थ आते हैं, धन्य है वह काल, जब वे प्रकट होते हैं, धन्य है वह देश जहाँ वे विचरते हैं एवं धन्य है वे लोग जो उनके सम्पर्क में आकर उनकी सेवा में निरत रहते हैं । ऐसे महापुरुष मुक्त होने पर भी मुक्त न होकर जगत में जीवों के साथ उनके कल्याणार्थ विराजते हैं । इनका मंगलमय जीवन जगत् के महान मंगल के लिये ही होता है । अविद्या, अहंकार, ममत्व, आसक्ति आदि से रहित ये महापुरुष यंत्री भगवान के हाथों में यन्त्रवत् कार्य करते रहते हैं । इनके सारे कार्य भगवान् के ही कार्य होते हैं । ये भक्तिमार्ग के आचार्य, परम भक्त शिरोमणि, सर्वभूतहित में रत, जीवों के कल्याणार्थ ही जीते हैं ।

पू० पोद्दारजी के माहात्म्य के सम्बन्ध में जैसे श्री केडियाजी ने पू० गुरुदेव से जिज्ञासा की वैसे ही अन्य लोग जिज्ञासा करते थे । इन जिज्ञासा

करने वालों में श्री गंभीरचन्द जी दुजारी की प्रेरणा प्रमुख होती थी । पू० गुरुदेव के कथनानुसार उन्होंने भी एक माह तक एक लाख नामजप प्रतिदिन किया था । इन निम्नलिखित सभी बातों को बहुत कठोर नियम एवं भजन निष्ठा का पू० गुरुदेव के सम्मुख प्रदर्शन कर लोगों ने उनसे उगलवायी थीं । पू० गुरुदेव पू० पोद्दार महाराज की रुचि का ध्यान रखते हुए यद्यपि इन्हें गोपनीय भी रखना चाहते थे, साथ ही वे सच्चे श्रद्धालुओं एवं जिज्ञासुओं को वास्तविक लाभ से वंचित भी नहीं करना चाहते थे। अत: उनके मुख से ये महत्वपूर्ण बातें प्रगट हुईं । श्रीदुजारीजी, लेखक के पू० मामाजी श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी, श्रीमोतीलालजी पारीक, श्रीगोवर्धनजी शर्मा, आदि सभी को उकसा-उकसा कर पू० गुरुदेव के पास भेजते और पू० गुरुदेव से अधिक-से-अधिक महत्वपूर्ण बातें दोहन करने की चेष्टा करवाते । जो दिव्य तथ्य उन दिनों रतनगढ़ प्रवास में सन् १९४१-४२-४३ ई० में प्रकट हुए उन्हें यहाँ सार भाव से दिया जा रहा है । वैष्णव जिज्ञासु जगत् इससे अवश्य लाभान्वित होगा । श्री राधेश्यामजी बंका ने अपनी रस-पल्लव नामक पुस्तक वाटिका के पत्र-पुष्प चतुर्थ भाग में भी ये तथ्य प्रकाशित कर दिये हैं ।

वर्तमान में इस जीवनी में पू० गुरुदेव का चरित्र सन् १९३६ के काल में ही चल रहा है, परन्तु प्रसंगानुसार पूर्व अध्याय में भी सात वर्ष आगे का घटनाचक्र जब उल्लिखित किया जा चुका है तो इस अध्याय में भी सात वर्ष अग्रिम के तथ्य दिये जा रहे हैं ।

श्रीगंभीरचन्दजी दुजारी की पत्नी इधर बहुत ही रुग्ण रहीं । उनको देखने के लिये पू० पोद्दार महाराज बीकानेर भी पधारे थे । श्रीपोद्दार महाराज के आने के पश्चात् से वे ठीक होने लगीं । श्रीपोद्दार महाराज जानते थे कि मेरे आगमन को श्रीदुजारीजी चमत्कार के रूप में सर्वत्र प्रचारित करेंगे, अत: बहुत काल तक तो वे उनके आमन्त्रण की उपेक्षा ही करते रहे । पीछे आये एवं कुछ ऐसा ही योग भी बना कि उनके आगमन के पश्चात् वे मरणासन्न अवस्था से उत्तरोत्तर स्वस्थ होने लगीं । अत: श्रीगंभीरचन्दजी दुजारी का ही पू० गुरुदेव के सम्मुख प्रमुख प्रश्न था कि क्या श्रीपोद्दार महाराज भगवान् की तरह सर्वशक्तिमान् हैं जो वे निज जनों के दु:ख-दर्द भी दूर कर सकते हैं ? क्योंकि ऐसा अनुमान होता है कि उनकी कृपा से ही मेरी रुग्ण धर्मपत्नी ठीक हो गयी । क्या वे सर्वज्ञ हैं और सबके मन की बात भी जान ले सकते हैं ?

ये बातें मेरे पूर्वाश्रम के पू० मामाजी श्रीचिम्मनलालजी की डायरी में भी लिखी थीं ।

मैंने उन्हें उद्धृत कर लिया था । वे भी यहाँ दी जा रही हैं । पू० गुरुदेव के शब्द थे :-

"श्रीपोद्दार महाराज (भाईजी) से केवल पारमार्थिक सम्बन्ध रखना चाहिये। मेरी स्त्री अच्छी हो गयी, मेरा अमुक कार्य हो गया आदि बातों में यदि मन फँस गया, तो बहुत संभव है भविष्य में श्रद्धा घट जाय । यह तो संयोग था, अथवा भगवद्विधान था कि आपकी स्त्री स्वस्थ हो गयी, यदि अच्छी नहीं होती तो पू० पोद्दार महाराज (भाईजी) क्या महात्मा नहीं होते ।

यों तो किसी प्रकार से भी पू० पोद्दार महाराज (भाईजी) से जुड़ना, उन्हें स्मरण करना परम मंगलकारी है परन्तु समस्त जगत के शहंशाह बादशाह का अनुग्रह प्राप्त कर उस खजाने से मात्र पाँच रुपये का नोट माँगना, और उसे प्राप्त कर खुश होना जैसे बुद्धिमानी नहीं कही जा सकती, वैसे ही पू० पोद्दार महाराज (श्री भाईजी) के विषय में इन तुच्छ चमत्कारों की कल्पना करके खुश होना है । लौकिक बातों को आपका मन यदि तनिक भी पकड़ता है और महत्व देता है तो मेरी समझ में पू० श्रीपोद्दार महाराज (श्रीभाईजी) से असली लाभ उठाने में बहुत ही विलम्ब हो जायेगा ।

यथार्थतः तो सभी को लौकिक बातों को भूलकर केवल पारमार्थिक लाभ की बात ही सोचनी चाहिए । लौकिक बातें तो इतनी साधारण, नगण्य एवं निम्नस्तर की हैं कि आगे चलकर इनसे श्रद्धा घट भी सकती है । जहाँ तक श्रीपोद्दार महाराज (भाईजी) की सर्वज्ञता का प्रश्न है, वे तो आपकी मान्यतानुसार ही आपके सम्मुख अपना रूप प्रकट कर देंगे । यदि आपकी मान्यता होगी कि मैं जो इन्हें बात जनाऊँगा इतनी ही ये बात जानते हैं, तो ये सर्वथा जनाने पर ही जानने की लीला कर देंगे और यदि सचमुच अन्तर्हृदय से आपका विश्वास है कि पू० पोद्दारमहाराज सर्वज्ञ हैं और मेरे घट-घट की सब बात जानते हैं, तो पूरा-पूरा सम्पूर्णरूप से विश्वास होने पर वे मन की सब बात निश्चय ही जान लेंगे ।

परन्तु तुच्छ सांसारिक संस्कारों को मन से निकाल ही देना चाहिए । सांसारिक चमत्कार सच्चे महात्मा की महिमा को घटाते ही हैं । आपका हृदय सरल है अतः आपने हृदय के भाव निस्संकोच साफ-साफ व्यक्त कर दिये, परन्तु महात्मा की महिमा और भगवान् की महिमा समान ही होती है । यदि

आन्तरिक सच्चे-हृदय से आपका पूरा-पूरा विश्वास हो जाय कि पू० श्रीपोद्दारमहाराज (श्रीभाईजी) महात्मा हैं तो उसी क्षण आप ऐसे विलक्षण पुरुष हो जायें कि लोग आपका दर्शन कर, परिचय प्राप्त कर चकित हो जावें । अभी तो यहाँ जितने भी लोग हैं, उनमें बातें सुनने से और उन सुनी हुई बातों के आधार पर, मात्र ऊपरी मन में भाव की एक लहर आती है कि पू० श्रीपोद्दारमहाराज (पू० भाईजी) महात्मा हैं । अभी इस भाव की ठोस नींव जैसी पड़नी चाहिए, सर्वथा नहीं पड़ी है । यह ऊपरी स्तर का एक लहर-जैसा अस्थिर भाव भी अनन्त जन्मों के पुण्य, महान् भगवत्कृपाजनित सौभाग्य से ही हुआ है । भाव परम पवित्र एवं सुन्दर है, परन्तु इसकी नींव तो दृढ़ हो । दृढ़ नींव के बिना तो आस्था का महल खड़ा ही नहीं हो सकता । अतः बहुत ही ठोस अड़िग, मजबूत नींव खड़ी करनी चाहिए ।

श्रीपोद्दारमहाराज (भाईजी) को कोई भी महात्मा मानने लग जाय, फिर उसे कुछ भी करने-कराने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। क्योंकि महात्मा मिलें तथा साक्षात् भगवान् मिलें इसमें कहीं कुछ तनिक-सा भी अन्तर नहीं है । ऐसी सत्य यथार्थ मान्यता, जब तक अन्तःकरण मलिन है तब तक हो भी नहीं सकती । हम लोग महात्मा की बात सुनकर भी यह सर्वथा नहीं जान पाते कि यथार्थतः महात्मा की महिमा कितनी है और महात्मा है क्या ? जब अन्तःकरण पवित्र होगा तभी समझेंगे कि ये महात्मा हैं और इनकी कैसी महिमा है। इसलिये यदि सचमुच ही पू० पोद्दारमहाराज (भाईजी) में श्रद्धा बढ़ाना चाहते हैं और उनसे पारमार्थिक लाभ लेना चाहते हैं तो कम-से-कम प्रतिदिन एक लाख नाम-जप कीजिए । इसके बिना श्रीपोद्दारमहाराज (श्रीभाईजी) जैसे सन्त की यथार्थ महिमा का ज्ञान होना सर्वांश में असंभव-सा है; श्रीभाईजी अथवा भगवान् बिना भजन किये ही किसी को इनकी महिमा का ज्ञान करा दें, वह बात दूसरी है।

एक बात आप सोचिये । आपके सामने श्रीभाईजी का जो पांचभौतिक ढ़ाँचा दीखता है, वहाँ क्या है ? जैसे हम लोग पैदा हुए थे, जीव जिस प्रकार जन्म लेता है, उसी प्रकार श्रीभाईजी भी पैदा हुए थे । दूसरे शब्दों में, एक जीवात्मा आज से लगभग पचास वर्ष पहले पैदा हुआ था, जिसका नाम हनुमानप्रसादपोद्दार रखा गया । परन्तु भगवान् की कृपा से साधना के द्वारा वह इतनी ऊँची स्थिति पर पहुँच गया, जिसकी कल्पना भी हम लोगों को नहीं है । आज से पाँच-सात वर्ष पहले मानो भगवान् आयें और किसी भी जीव को

सर्वोच्च पारमार्थिक स्थिति दान करके उसे अपने हृदय में छुपा, लें और स्वयं उसके स्थान पर काम करने लगें -- ठीक-ठीक यही हालत यहाँ हुई है । श्रीपोद्दारमहाराज के कलेवर के भीतर जो अहंता थी वह तो भगवान् की सच्चिदानन्दमयी लीला में सम्मिलित हो गयी, अब उनके स्थान पर इस कलेवर के नियन्ता स्वयं भगवान् हो रहे हैं । वे इस कलेवर का नियन्त्रण तब तक करेंगे जब तक यह पाँचभौतिक कलेवर विद्यमान है । अब (भाईजी) पू० श्रीपोद्दारमहाराज तो हैं ही नहीं, जो हैं, सो सर्वज्ञ हैं, सर्वत्र हैं, सर्वसुहृद हैं परन्तु वे अपने को सुगुप्त रखने में अति ही कुशल हैं । अतः वे श्रीपोद्दारमहाराज के स्वभाव, चेष्टा और क्रियाओं की सांगोपांग नकल करते हुए हमारे सम्मुख वैसा ही व्यवहार करेंगे जैसे वे पूर्वतः करते थे । वे आपसे उसी प्रकार बोलेंगे 'क्यों भाई ! राजी तो है ?' आपको तो पता ही नहीं कि यह कलेवर-मात्र ही पोद्दारजी का है, शेष तो सब कुछ और ही है । और वह इतना नाट्यकुशल है कि जगत् का स्रष्टा ब्रह्मा भी मोहित हो जाय ।

हम तो यही जानेंगे एवं मानेंगे भी कि श्रीभाईजी ने हमसे उदारता का व्यवहार किया, आत्मीयता, सौहार्द की नदी बहा दी, या हमारा तिरस्कार कर दिया, उन्हें ऐसा नहीं करना चाहिए था । परन्तु हम यह कदापि विचार ही नहीं कर सकते कि साक्षात् श्रीकृष्णभगवान इस कलेवर के भीतर से मेरी बात का प्रत्युत्तर दे रहे हैं, मेरी बातें मनोयोगपूर्वक सुन रहे हैं, मुझे राय दे रहे हैं, मुझे आर्थिक सहायता कर रहे हैं । आप तो यही समझेंगे कि यह सब मुझे भाईजी ने कहा है, बताया है । सुनी-सुनायी बातों के आधार पर हम अधिक-से-अधिक इतनी ही श्रद्धा कर सकते हैं कि पू० श्रीपोद्दारमहाराज (भाईजी) ऊँचे महात्मा, महापुरुष, महामानव, दयालु, सज्जन, भगवत्प्राप्त पुरुष हैं परन्तु हमारी यह आस्था हो ही नहीं सकती कि यहाँ इस कलेवर में साक्षात् भगवान् हमसे खेल कर रहे हैं ।

इसी तरह पूज्या माताजी के लिये वे बेटा ही बने रहेंगे, सावित्री की माँ के लिये वे पति बने रहेंगे, सावित्री के लिये वे पिताजी (बाबूजी) बने रहेंगे । किसी को उनके व्यवहार से रत्ती भर भी ऐसी गन्ध नहीं लग सकती कि भीतर का जीवात्मा है ही नहीं, कोई और ही सब यथायोग्य निर्वाह कर रहा है।

अब आप सहज में ही सोच सकते हैं कि इनके लिये आपके अन्तर की, घट-घट की जानना मात्र हँसी-खेल है, परन्तु यह सर्वज्ञता का प्रकाश उसी

के सम्मुख होगा जिसका इन पर संशयहीन विश्वास है कि यहाँ साक्षात् भगवान् ही इस कलेवर को यंत्र बनाकर क्रीड़ा कर रहे हैं । यह सत्य है कि शास्त्रों में भगवान् के विषय में हमने जो भी पढ़ा-सुना है, अथवा भविष्य में पढ़ें-सुनें अथवा जानेंगे वे सभी बातें, वे सभी माहात्म्य इस ढाँचे के भीतर प्रकट हैं ।

परन्तु हमारी ऐसी प्रत्यक्ष अनुभूति तो तभी होगी जब साधना करते-करते, भगवान् कृपा करके अपना पर्दा उठाकर अनुभव करावेंगे । हाँ, हम भगवान् से प्रार्थना करें कि श्रीपोद्दारमहाराज (भाईजी) की आत्मा इस समय हे प्रभो ! आपके सच्चिदानंदमय लीलालोक में कहाँ किस रूप में है ? आप हमें उसका दर्शन करावें अथवा उसका सान्निध्य दान करवावें, तो वे चाहें तभी हम पू० श्रीपोद्दारमहाराज (भाईजी) की सत्य स्थिति समझ सकेंगे । पहले हमें भगवत्प्राप्ति होगी और इसके पश्चात् उनकी कृपा होने से ही श्रीपोद्दार महाराज की सच्ची लीलागत भावदेह अथवा उनकी पारमार्थिक अवस्था का हमें पता चलेगा । इसके सिवाय तो अन्य कोई उपाय संभव नहीं है ।

अभी तो यही तथ्य है कि साक्षात् भगवान् इस कलेवर के भीतर से कन्यादान कर रहे हैं, कल्याण का सम्पादन कर रहे हैं । परन्तु सब अत्यन्त गोपनीयरूप से कलेवर के ठीक स्वभाव, वृत्ति, बोली-चाली का सांगोपांग यथायोग्य नाट्य करते हुए । हम ऐसे अज्ञानी हैं कि कोई उनसे अधिक व्यवहारकुशल होने का अभिमान करता हुआ उन्हें व्यवहार की सलाह देता है, कोई उनके कार्यों की आलोचना करता हुआ उन्हें बुरा भला भी कहता है, परन्तु वे मायावी सब की सुनते हैं और मन-ही-मन अपने लीलाकौशल पर हँसते हैं ।

जिन भगवान् को खोजने के लिये अनन्तकाल तक तपस्या करनी पड़ती, वे स्वयं इतने सुलभ हैं, परन्तु हमारा विश्वास नहीं, यही दुर्भाग्य है । भगवान् ने ऐसा माया का पर्दा डाला है कि कोई बिरला यह बात सुनेगा, और अति बिरला विश्वास करके निहाल होगा ।

यों तो जब साक्षात् भगवान आये हैं तो इसका अनन्त लाभ सबको मिलेगा । जिस पर भी इनकी एक बार भी दृष्टि ही पड़ेगी , वह भी बिना जाने पवित्र होकर कृतार्थ होगा ही, परन्तु यह सब तो अन्त में होगा। अन्त में हमारा कल्याण तो निश्चय ही हो जायेगा, क्योंकि किसी भी भाव से ही

सही, सम्बन्ध हुआ है साक्षात् भगवान् से । हमारा ही नहीं, जिस-जिस प्राणी को इनका दर्शन होगा, सभी तर जावेंगे । यह हो सकता है, जन्म और धारण करने पड़ें, जन्म किसी योनिका भी हो सकता है । परन्तु वे प्राणी अनन्त पुण्यशाली हैं जिन्हें एक बार भी इनका दर्शन प्राप्त हो गया है । वे इनके माहात्म्य के जानकार नहीं है, इतनी ही कमी है ।

इससे भी बहुत ऊँची बातें हैं परन्तु वर्तमान में मेरी बताने की इच्छा नहीं है । ये बातें भी अनेक कारणों से मैंने बहुत ढ़क कर लिखी हैं। पू० पोद्दारमहाराज (भाईजी) की बात सुनने वाला एक तो मुझे वैसे ही प्रिय लगता है, दूसरे आपने एक लाख नामजप का नियम लिया है । आप नामजप का यह नियम निभाते जाइये, फिर भगवान् की प्रेरणा से स्वयं कोई आपको यथावसर, यथायोग्य बातें बताता रहेगा।

महिमा की और गंभीरतम बातें

(ये गंभीरतम रहस्य की बातें भी पू० गुरुदेव ने सन् १९४३ ई० के आसपास ही अपने अन्तरंग सत्संग में कतिपय सज्जनों के सम्मुख प्रकट की थीं । अभी पू० गुरुदेव का जीवनक्रम तो सन् १९३६ ई० के अक्टूबर-नवम्बर माह के आसपास ही है । प्रसंगवश ही अग्रिम सात वर्ष की बातें इसलिये यहाँ दी जा रही हैं कि ये सब बातें पू० गुरुदेव को एक ही स्रोत भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा ही भिन्न-भिन्न कालक्रम में कही गयी हैं। ये एक साथ संचयित वैष्णवों के सम्मुख आ जायें - यही उद्देश्य है)

जो साधना में दृढ़ निश्चय करके लगता है, उसपर भगवत्कृपा प्रकाशित होती ही है और उसे प्रत्येक अनुकूल-प्रतिकूल घटनाओं में प्रत्यक्ष भगवान् का हाथ दिखने लगता है। ऐसे व्यक्ति का फिर महापुरुषों में आकर्षण हो जाता है । इसी प्रकार, किसी भी हेतु से सच्चे महापुरुष में आकर्षण होने मात्र से भी सर्वत्र भगवान् की सत्ता ही क्रियाशील हो रही है, यह अनुभव उनकी कृपा से होने लग जाता है । एक बात निर्विवाद है कि जो भी अधिक-से-अधिक भगवन्नाम नहीं लेगा, उसकी उन्नति बहुत ही मन्द गति से ही होगी । इसमें कोई भी बहाना, युक्ति अथवा कन्शेसन, अपवाद नहीं चल सकता । प्रत्येक जीव के अन्तःकरण में तीन दोष, मल, विक्षेप एवं आवरण रहते ही हैं। जब

तक मल नहीं धुलेगा, विक्षेप नहीं मिटेगा, आवरण भंग नहीं होगा महात्माओं की बात मनमें नहीं ही बैठेगी, न ही उतरेगी । जब मन में मल भरा है तो मन में जगह ही नहीं है कि महात्माओं की श्रद्धा की बात वहाँ रखी जा सके, घुसाई जा सके । इसीलिये बहुत ऊँची बातें सुनकर भी मन महापुरुषों में दोष देखने लगे जाता है ।

पू० श्रीपोद्दारमहाराज (भाईजी) की बातें आपने सुनी हैं, मैने कही हैं, पर केवल एक बार की उस चर्चा का जो फल होना चाहिए था कि हम लोगों को श्रीपोद्दारमहाराज के रूप में सदा-सदा के लिये साक्षात् भगबान् ही कियाशील दिखने लग जाने चाहिए थे - वह हम लोगों में से किसी को भी नहीं हुआ । इसका कारण यही है कि मन में इतनी विषयासक्ति भरी है, इतना अहंकार और लौकिक सांसारिक स्वार्थ है कि उसमें इन बातों को स्थायी संचित रखने का स्थान ही नहीं शेष है ।

किसी को भी विश्वास कराना तो मेरे वश की बात नहीं है परन्तु जितनी बातें कही गयी हैं, वे यदि किसी के भी चित्त में महत्व पातीं तो एक ही आत्मसमर्पण की शुद्ध लालसा ही सबके मन में बच रहती । और आत्मसमर्पण की इस शुद्ध लालसा के चतुर्थांश का भी यदि उदय हो जाता तो इस जगत् के अणु-अणु में अपने-अपने इष्टदेव के सबको दर्शन होने लग जाते।

हम श्रीपोद्दारमहाराज (श्रीभाईजी)का संग करते हैं, परन्तु संग का उद्देश्य लौकिक स्वार्थ ही होता है, संग का स्वरूप और उद्देश्य भगवत्प्राप्त महापुरुष के विशुद्ध संग का नहीं होता । यदि इस विशुद्ध उद्देश्य को लेकर कि पू० पोद्दारमहाराज सच्चे सन्त हैं और मुझे सच्चे भगवत्प्राप्त-सन्त का संग करना है, कोई अपनी ओर से भरपूर चेष्टा भी करे तो फिर निश्चित मानिये, उसे पू० पोद्दारमहाराज (श्रीभाईजी) वह अनुपम दान दे जायेंगे कि जिसकी कल्पना भी कोई कर नहीं सकता । यह सर्वोत्तम बात है जो मैं (भाईजी) श्रीपोद्दारमहाराज के सम्बन्ध में कह सकता हूँ । सच मानिये, यदि ऐसा कोई अपने को बना सके तो फिर उसे वे अवश्य श्रीकृष्णलीला में प्रवेश करायेंगे। सच मानिये, भजन नहीं होने के कारण माया-जगत् के नीचे के धरातल का ही रूप हमारे सम्मुख आ रहा है, भजन करके देखिये फिर सन्तकृपा आपको लपेट कर ऐसे दिव्य स्वरूप की झाँकी करायेगी कि जिसकी कल्पना भी अभी

आपके लिये असंभव है । इनकी कृपा के एक कण का करोड़वाँ अंश भी आप किसी प्रकार ग्रहण करलें, तो भी निहाल हो जावें ।

मुझे तो इनके पास इनकी कृपा ही रखे हुए है । यहाँ जितने व्यक्ति हैं उनमें श्रीगोस्वामी चिम्मनलालजी की ओर मेरी दृष्टि अधिक आकर्षित होती है। मैं सोचता हूँ, यदि ये चाहे तो ऐसा बन सकते हैं ।

जिस दिन श्री भाईजी को जयसिडीह में भगवत्प्राप्ति हुई थी, उस प्राप्ति में और आज की उनकी स्थिति में धरती-आसमान का अन्तर है । वह दर्शन तो त्रिदेवों में एक देव श्रीविष्णु भगवान् का दर्शन था । परन्तु पश्चात् इन्हें श्रीकृष्ण के दर्शन हुए। फिर और भी उच्च अवस्था हुई और युगल-सरकार के दर्शन हुए, फिर तो और भी अति उच्च अवस्था कि श्री राधारानी में सर्वथा इनका अहंकार सदा-सदा के लिये विलीन हो गया । यद्यपि यह अवस्था वाणी, मन, बुद्धि से परे की अति अनिर्वचनीय है, परन्तु जहाँ तक विवेचन किया जा सकता है शाखा-चन्द्र-न्याय से उतनी ही बात कही जा रही हैं। सचमुच ही श्रीपोद्दारमहाराज (भाईजी) की कृपा से जिस दिन भी कोई गोपीभाव की साधना करता हुआ गोपी बन जायेगा, उसी दिन वह ठीक-ठीक यथार्थतः समझ सकेगा कि राधारानी से एकात्म होना, उनमें लीन हो जाना, क्या बात होती है। उस समय वह भी गूँगे-का-गुड़-स्वाद की तरह अन्य को नहीं ही समझा सकेगा ।

मेरी यह धारणा है कि श्री राधारानी के साथ अभेदावस्था किसी-किसी विरले महापुरुष की ही होती है । जिसका उदाहरण एकमात्र अब तक केवल चैतन्य महाप्रभु ही हैं । इनके अतिरिक्त आधुनिक सन्तों में तो कोई नहीं है। श्रीराधारानी में अभेदावस्था की प्राप्ति तो अति दूर की बात है, इन श्रीराधारानी के इस रूप का दर्शन ही ब्रह्माजी एवं शंकरजी तक को दुर्लभ है। पद्मपुराण में यह कथा आती है कि श्रीनारदजी को इनके दर्शन होने पर श्रीगोपीजनों ने कहा है कि इस रूप का दर्शन जो तुम्हें हुआ है, त्रिदेवों को भी दुर्लभ है । ऐसी श्रीराधारानी का दर्शन पू० पोद्दारमहाराज (भाईजी) को हुआ और वे उसमें लीन हो गये । पू० पोद्दारमहाराज दासी का, मंजरी का, नर्म सखियों का, सबका उल्लंघन करते हुए सीधे श्रीराधारानी में सायुज्य लाभ करके कृतार्थ, कृतकृत्य हो गये । जो जीव हनुमानप्रसाद नाम एवं कलेवर का आश्रय करके पचास वर्ष पूर्व पैदा हुआ था, वह "मैं" हूँ इस अहंकार को "मैं राधा हूँ" इस भाव में सर्वथा-सर्वांश में लीन करके उन्हीं के भाव में तन्मय

हो गया । इसके पश्चात् जो अन्तःकरण इस पाञ्चभौतिक कलेवर के आश्रित है, वह तो अब उस सच्चिदानन्दमय राज्य की सर्वसमर्था शक्ति के द्वारा प्रकाशित हो रहा है ।

स्वयं भगवान् के अवतार में और यहाँ की स्थिति में अन्तर इतना ही है कि अवतार-काल में जो अवतरण होता है, वह पाञ्चभौतिक ढ़ाँचे का आधार लेकर नहीं होता । वह होता है, सर्वथा आत्म-मायाकृत, जहाँ पांच-भौतिकता का सम्बन्ध ही नहीं है । पांच-भौतिक पर्दा तो जड़ अविद्या का पर्दा है, यह योगमाया का पर्दा नहीं है । अतः पू० (भाईजी) श्रीपोद्दारमहाराज में साक्षात् परात्पर-परब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्ण अपनी आह्लादिनी शक्ति श्रीराधा के साथ आवेशावतार के रूप में अवतरित हुए हैं। ये आज से पाँच-सात वर्ष पूर्व (अर्थात् भगवान् श्रीनारदजी के दर्शन के पश्चात्) अवतरित हुए हैं और पांच-भौतिक ढ़ाँचें के प्रारब्ध रहने तक यह अवतार रहेगा । श्रीराधाकृष्ण के संबंध में जो-जो बातें शास्त्रों में कही गयी हैं, और भविष्य में भी कही जा सकती हैं, वे सभी यहाँ प्रकट हैं । यदि कोई सच्चा श्रद्धालु होने की चेष्टा अथवा चाह करे तो उसे थोड़ा-बहुत परिचय तो निश्चय ही मिल सकता है । क्योंकि छिपाना तो उसी के लिये है जो अश्रद्धालु है । श्रद्धालु के लिये छिपाना तो है नहीं । उसकी श्रद्धा संत-रहस्य को प्रकट हो जाने में बाध्य कर देगी । परन्तु यदि कोई श्रीपोद्दारमहाराज से ही पूछने चलेगा कि "आप ऐसे हैं क्या ?" तो मेरी समझ में पूछने पर यही उत्तर मिलेगा कि "यह तो भाव की बात है, मैं ऐसा सर्वथा नहीं हूँ।"

यह मैं स्वयं अनुभव करता हूँ मानो इनके अन्तराल से राधारानी सर्वथा एक हलका-सा आवरण डाले लीला कर रही हैं; सर्वथा एक विलक्षण-स्त्री अनुभूति होती है, अभूतपूर्व । इस तथ्य पर विश्वास कराना मेरे वश की बात नहीं है । यह तो भगवान् राधाकृष्ण के ही वश की बात है ।

इस सम्बन्ध में पू० श्रीपोद्दारमहाराज (भाईजी) स्वयं ऐसी-ऐसी बातें दो-तीन बार कुछ प्रच्छन्न शब्दों में मुझे कह गये, जिससे मेरा विश्वास पुष्ट हो गया कि जो स्थिति मैंने बतलायी वह स्थिति उन्हें प्राप्त है । दूसरे शब्दों में, मुझे तो स्वयं ही राधारानी ने दया करके यह बतला दिया कि जिसके चरणों की कृपा की तुम खोज कर रहे हो, वह मैं इसी ढ़ाँचें में आई हुई हूँ । हनुमानप्रसादपोद्दार रूप जीवगत अहंता तो मुझमें विलीन हो गयी है और उसके स्थान पर अपने प्रियतम श्रीकृष्ण के साथ मैं ही हूँ । तुम राधारानी

को प्राप्त करना चाहते हो, तो तुम तीन वर्षों से उसी के पास हो, केवल पांच-भौतिक देह का जो आवरण है, वह समय पर उठ जायेगा । जिस प्रकार अवतार-काल में श्रीकृष्ण का विग्रह एक स्थान पर दीखकर भी सर्वव्यापक था और यह दामोदर-बन्धन-लीला अथवा मुख में विश्वरूप दर्शन कराके भगवान् ने प्रकाशित भी कर दिया था, उसी प्रकार किसी भी प्रेमी को जब श्रीपोद्दारमहाराज (भाईजी) में सत्यांश में उसका दर्शन होगा उस समय एकदेशिकता का प्रश्न ही नहीं रहेगा । यहाँ का देश सर्वथा अनिर्वचनीय हो जायगा । श्रीपोद्दारमहाराज (भाईजी) ने मुझे स्पष्ट कहा था कि दर्शन होते समय यह देश, यह काल सर्वथा नहीं रहता, सब कुछ सर्वथा-सर्वांश में सच्चिदानन्दमय हो जाता है । यह पांच-भौतिकता तो तभी तक है जब तक किसी को लीला के अथवा साक्षात् भगवान् के दर्शन नहीं हो रहे हैं । वास्तव में भगवान् और उनकी लीला ही सर्वव्यापक सच्चिन्मय तत्व है ।

श्रीपोद्दारमहाराज (भाईजी) की दृष्टि इस जगत्, इस जगत् के किसी भी जीव अथवा (प्राणी) पर पड़कर कैसी कृपावर्षा करती है इसका उत्तर यही है कि स्वयं भगवान् राधाकृष्ण जिस कृपामयी दृष्टि से इस जगत् को, जगत् के प्राणियों को निहारते हैं, ठीक उसी दृष्टि से श्रीपोद्दारमहाराज (भाईजी) के नेत्र-गोलक भी देखते हैं । इसमें तनिक भी, कहीं कुछ भी न्यूनाधिकता सर्वथा-सर्वांश में नहीं है । अब यह दृष्टि कैसी अभूतपूर्व कृपावर्षी है, यह बुद्धि से परे की बात है ।

जिज्ञासा करने में संकोच सर्वथा नहीं करना चाहिए परन्तु बात आपकी खोपड़ी में स्थिर टिकी रह जाय यह मेरे वश में नहीं है । शास्त्रों में पढ़िये, भगवान् ने जिसको भी एक बार भी देखा वे सब तर गये । वृन्दावन के जड़ देश की प्रतीति भी लीला के लिये ही होती है । वह स्वयं सच्चिदानन्दमय तत्व है । स्वयं भगवान् के सच्चिदानन्दमय विग्रह से ही इसका निर्माण हुआ है । हुआ है - यह कहना भी बनता नहीं है, क्योंकि वह अनादि काल से है, और अनन्त काल तक रहेगा ।

यहाँ इसी कमरे में, आपमें, मुझमें, सभी में भगवत्तत्व है, वृन्दावन भी है परन्तु वह अप्रकट है, परन्तु जिस स्थान पर पू० श्रीपोद्दारमहाराज का कलेवर है, उस स्थान पर वह कलेवर का पर्दा देकर पूर्णतया प्रकट है । इसका मेरे पास प्रमाण नहीं है, परन्तु साध्य-साधन यही है - मैं इसी का विश्वास कराना चाहता हूँ ।

शास्त्रों के प्रमाण से एवं युक्तियों से इस बात का ज्ञान होता है कि श्रीवृन्दावनधाम, अयोध्याधाम, काशी, मथुरा, जगन्नाथ आदि धाम जितने दिन अवतार रहता है उतने दिनों तक ही नहीं, वह स्थान सदा के लिये चिन्मय हो जाता है । ब्रजवासी महात्माओं की हजारों वाणियाँ, हजारों पद ही नहीं, ऋषिप्रणीत ग्रन्थ भी प्रमाणित करते हैं कि भगवदवतार के तिरोभाव होने पर भी उस सच्चिन्मयी भूरेखा की चिदानन्दमयता अखण्ड ज्यों-की-त्यों बनी रहती है । अत: जब वह जमीन, जो जड़ है, अबुद्ध है, वह भी भगवदवतरण से चिन्मय हो गयी तो फिर यह भाईजी 'श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार महाराज' नाम वाला ढ़ाँचा भी तो चिन्मय होना ही चाहिए । क्योंकि पृथ्वी तत्व इस ढ़ाँचें में भी वही है जो वृन्दावनादि स्थानों में है । इतना शास्त्रीय प्रमाण तो मैं देख चुका हूँ कि भगवत्प्राप्त वैष्णवों का पांच-भौतिक शरीर साधारण शरीरों की तरह नहीं होता । जैसे यह वृन्दावन श्रीहरिदास स्वामी एवं प्रकाशानन्दजी को तो चिन्मय दिखता था, परन्तु शेष सर्वसाधारण तो उसे मात्र भूमिखण्ड ही देखते थे, इसी प्रकार श्रीभाईजी का पांच-भौतिक कलेवर हो तो गया है- परम दिव्य, परन्तु अनधिकारी को जड़ ही दिखेगा । इसे प्रमाणित करने की तो मेरी सामर्थ्य है नहीं, अब कोई विश्वास कर सके तो उत्तम ।

वास्तव में भगवत्प्रेम का मार्ग ही बड़ा विचित्र है । इसकी ऊँची अवस्था में पहुँचे महापुरुष की अवस्था इतनी विलक्षण, इतनी विचित्र हो जाती है कि उस अवस्था को जिन पर भगवान् श्रीकृष्ण की विशेष दया होती है वे बिरले प्राणी ही समझ पाते हैं । उस विशेष महापुरुष की स्थिति एवं अवस्था को लिखकर, पढ़कर, अथवा सुनकर कोई समझ ही नहीं सकता । वह एक अजीब पागलकी-सी अवस्था होती है । उस महापुरुष के द्वारा ऐश्वर्य मार्ग की भक्ति, भगवत्सेवा का आचरण हो ही नहीं सकता । वह महामधुरतम राज्य में जा पहुँचता है, जो अतुलनीय है । वैष्णव शास्त्रों को पढ़कर तथा अनुभवजन्य अनेक कारणों से मेरा यह विश्वास है कि भाईजी उस अतुलनीय अवस्था में पहुँचे हुए हैं ।

उनका जो पहले स्वभाव था, वह सर्वथा बदल गया है, उस पर रंग चढ़ते-चढ़ते इस जगत् की स्मृति ही उनके अन्त:करण में संभवतया नहीं ही होती होगी । आप श्री मद्भागवत देखलें । प्रेमी की बात तो दूर रही, यथार्थ ब्रह्मज्ञानी की भी ऐसी दशा हो जाती है । जैसे मदिरा पीकर मनुष्य अपने वस्त्रों की सुधि भुला देता है वैसे ही यथार्थ ब्रह्मज्ञानी को यह भी पता नहीं

चलता कि मेरा शरीर बैठा है, चल रहा है, खा रहा है, क्या कर रहा है । श्री मद्भागवत में इसका द्योतक स्पष्ट श्लोक है । फिर श्रीपोद्दारजी (भाईजी) को जो प्रेम की उच्च अवस्था प्राप्त है वह तो ब्रह्म प्राप्ति के पश्चात् की अवस्था है । ऐसी अवस्था में जो इनका शरीर ठीक-ठीक व्यवहार का काम करता है, उसे देखकर यही लगता है कि श्रीकृष्ण की विशेष इच्छा से जगत् का कोई अशेष मंगल कार्य करवाना ही उद्देश्य है जिससे उनके अन्तःकरण को यंत्र बनाकर वे स्वयं उसे प्रयुक्त कर रहे हैं ।

आजतक ऐसी पारमार्थिक स्थिति का वर्णन मैंने किसी भी शास्त्र में नहीं पढ़ा है । श्री श्रीचैतन्य महाप्रभु के सिवा किसी भी भक्त के जीवन में इस स्थिति का संकेत भी प्राप्त नहीं होता । मैं यह भी नहीं कह सकता कि अनादि जगत् के इतिहास में श्रीभाईजी (पोद्दारमहाराज)पहले उदाहरण हैं । ऋषियों ने जान-बूझकर, मालूम पड़ता है, शास्त्रों में इस स्थिति का उल्लेख नहीं किया, और कहीं हुआ भी होगा तो मेरी दृष्टि में नहीं आ पाया ।

पू० श्रीपोद्दारमहाराज (भाईजी) की कृपा की रस्सी में हम लोग एक बार के लिये बँध चुके हैं, अब शक्ति नहीं कि चाहने पर भी चले जायें । जायेंगे तो भी कुछ दिन घूम-फिरकर वापस आना पड़ेगा।

वे किसी से खेल करें तो दूसरी बात, वह कुछ दिन के लिये भले ही चला जाय, नहीं तो असंभव है, कोई जा नहीं सकता ।

बिना किसी संशय के इस बात को मान लीजिये श्रीभाईजी की कृपा प्रकाशित होकर एक क्षण में समस्त कलुषता मिटाकर सभी को अपने सच्चे संग का अधिकारी बना सकती है । पाँच-सात व्यक्ति तो मेरी दृष्टि में है जिन पर अपने आप श्रीपोद्दारमहाराज की कृपा प्रकाशित होगी । श्रीपोद्दार महाराज (भाईजी) यदि अपनी लीला पहले ही संवरण करलें तो भी उनके प्रारब्ध शेष रहने तक वे उनकी सँभाल करेंगे । यदि थोड़ा भी कोई उनमें से उन्मुख हुआ तो वे प्रत्यक्ष दर्शन देकर उसे सँभालेंगे । सारांश यही है कि कुछ व्यक्ति जो इस प्रकार पू० पोद्दारमहाराज के प्रति भाव रखने वाले हैं, वे चाहे कितने ही मलिन क्यों न हों, एक क्षण में पू० पोद्दारमहाराज (भाईजी) उन्हें अपनी अहेतु की कृपा से साथ ले जाने के लिये अधिकारी बना लेंगे । इनके लिये कुछ भी असंभव नहीं है । पद्मपुराण में यह कथा आती है 'एक भक्त के लिये एक गोपी से श्रीकृष्ण ने कहा - "प्रिय सखी ! इसे अपने समान बनालो । उसी क्षण उस गोपी ने उसे 'गोपी' बनाकर श्रीकृष्ण के चरणों में

बैठा दिया और एक वीणा देकर कहा - मेरे प्राणनाथ को भजन सुनाया कर। ठीक इसी प्रकार अथवा इससे भी विलक्षण ढंग से श्रीपोद्दारमहाराज उन पाँच-सात व्यक्तियों को अपने समान बनाकर श्रीकृष्ण की सेवा में अपने साथ रख लेंगे, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है ।

इनमें विषमता है नहीं जो एक को करें और दूसरे को छोड़ दें परन्तु शास्त्रों में जय-विजय पार्षदों की बात है । वैसी कोई बात हो तो आश्चर्य नहीं । परन्तु नहीं तो जहाँ तक मन-वाणी की सामर्थ्य है, मन की पहुँच है सर्वोत्तम पारमार्थिक स्थिति- श्रीकृष्ण की लीला में सेवाधिकार प्राप्त कर लेंगे।

यद्यपि कृपा के प्रवाह को विषयासक्ति रोकती है, परन्तु वस्तु-गुण इतना अधिक है कि विजय उसकी ही होगी । वे सब उस कृपा के प्रवाह में बह जायेंगे ।

श्रीपोद्दारमहाराज (भाईजी) भक्त वाञ्छाकल्पतरु हैं । उनका मन से बार-बार चिन्तन करना, श्रद्धालुओं के मध्य उसकी चर्चा करना, अपना सम्पूर्ण विवेक एवं धैर्य बटोरकर अधिक-से-अधिक इनके पास रहना, यही कायिक, वाचिक एवं मानसिक संग है । यह करते-करते श्रीपोद्दारमहाराज के प्रति ऐसा आकर्षण बढ़ेगा, लगेगा मानो जादू होता जा रहा है । हठात् विलक्षण ढ़ंग से ऐसी श्रीपोद्दारमहाराज प्रेममयी दृष्टि डालेंगे कि आप सभी प्रेम में विभोर हो जाओगे ।

श्रीभाईजी की चरणरज ब्रजरज से तनिक भी न्यून नहीं है । पू० भाईजी के पास रहना ब्रजवास ही है अपितु उससे भी कुछ अधिक महत्वपूर्ण है । ब्रज का महत्व जिन कारणों से है, उससे प्रबल कारण इस कलेवर में अभिव्यक्त हैं।

पू० श्रीपोद्दारमहाराज के चरणों में लेशमात्र भी प्रेम हो जाय, प्रेम न भी हो तो कम-से-कम इतना अवश्य ही बना रहे कि हम कहीं भी रहें, सदा भाईजी के चरणों में लौटते रहने की लालसा से चित्त तरसता रहे ।

श्री गोयन्दकाजी का गोरखपुर आगमन

श्रीसेठजी जयदयालजी गोयन्दका का गोरखपुर आगमन दो-तीन माह की लम्बी अवधि के पश्चात् ही संभव हो सका । श्री सेठजी से पू० गुरुदेव का मिलन हुआ । श्रीसेठजी को पू० गुरुदेव ने अपने मानस-परिवर्तन का कुछ भी

आभास नहीं होने दिया । श्रीसेठजी के जहाँ भी सत्संग होते- चाहे गीताप्रेस अथवा श्रीनश्यामदास जालान के घर पर, पू० गुरुदेव उसमें अवश्य सम्मिलित होते ।

हाँ, उनकी आन्तरिक अनुभूति में आमूल-चूल परिवर्तन हो गया था । पू० गुरुदेव बाँकुड़ा में जब श्रीसेठजी से मिले थे, उन्हें श्रीसेठजी के स्थान पर निर्गुण-निराकार आनन्द तत्व ही घनीभूत आकृति-विग्रह बना दृष्टिगोचर हुआ था। बाँकुड़ा में एक बार श्रीसेठजी कुछ मित्र-व्यवसाइयों के साथ घिरे मोटर में सवार होकर जा रहे थे । पू० गुरुदेव उनके साथ थे । पू० गुरुदेव ने उस समय उनकी आन्तरिक अनुभूति के संबंध में उनसे प्रश्न किया । श्री सेठजी ने मोटर में यात्रा करते-करते बताया कि सत्य मात्र आनन्द ही आनन्द है, यह मोटर, ये सेठ साहूकार, ये बाँकुड़ा शहर, आप, मैं, गाड़ी का ड्राइवर आनन्दाकाश में तिरमिरों की तरह असत्, प्रातीतिक ही अनुभव हो रहे हैं । ये आकृतियाँ स्वप्न से भी अधिक असत् हैं । पू० गुरुदेव की भी उन दिनों यही अनुभूति होती थी, अत: अनुभव-साम्य के कारण श्रीसेठजी का सहवास और सत्संग उन्हें बहुत ही रुचिकर लगता था ।

परन्तु इस बार श्रीसेठजी से प्रथम मिलन में ही जब उन्होंने श्रीसेठजी के स्थान पर अपने ही आराध्य भगवान् श्रीकृष्ण की चतुर्भुज मूर्ति देखी तो वे आश्चर्यचकित हो गये । यह वही मूर्ति थी जो उनके दर्शन-पथ में सदा-सर्वदा बनी रहती थी । उसमें परिवर्तन इतना ही था कि द्विभुज के स्थान पर यह चतुर्भुज थी, इसके पीछे कदम्ब-वृक्ष लुप्त हो गया था और चारों भुजाओं में शंख, चक्र, गदा एवं पद्म ऊर्ध्व आयुध थे । वंशी वहाँ नहीं थी । इस मूर्ति के नेत्रों में चंचलता के स्थान पर अतिशय गंभीर स्थिरता थी । अपने अन्तर्भूत घन-आनन्द से इस मूर्ति के नेत्र आधे मुँदे थे । इतना ही नहीं, श्रीसेठजी के सभी निकटस्थ जन श्रीघनश्यामदास जालान, श्रीमोतीलाल जालान, श्रीहरिकृष्णदास गोयनका, आदि उन्हें भगवान् चतुर्भुजनारायण के वैकुण्ठवासी पार्षद दृष्टिगोचर होते थे । वे सभी चतुर्भुज, सभी नवघन-मेघवर्ण, मस्तक पर मुकुट, कानों मे मकराकृत कुंडल, वक्षस्थल में कौस्तुभ एवं वनमाला धारण किये, सभी शंख-चक्रादि आयुधधारी होते थे । पू० गुरुदेव सभी को मन-ही-मन प्रणाम करते । उन्हें ऐसा प्रतीत होता था, मानो साक्षात् वैकुण्ठधाम ही पृथ्वी पर उतर आया है । श्रीसेठजी का विलक्षण भागवती वैभव देख पू० गुरुदेव चकित हो जाते थे ।

श्रीसेठजी जयदयालजी गोयन्दका का गोरखपुर-आगमन अल्पकालीन था। उन्हें शीघ्र ही ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम के वार्षिकोत्सव के लिये चूरू जाना था। वे गीताप्रेस की व्यवस्था-सम्बन्धी विचार-विमर्श में उलझ गये । श्रीसेठजी पू० गुरुदेव को भी अपने साथ ही चूरू ले जाना चाहते थे । श्री सेठजी लोकसंग्रही सन्त थे । लोक-कल्याण की भावना कूट-कूट कर भरी होने से वे भारतवर्ष के ग्राम-ग्राम में श्रीमद्भगवद् गीतोक्त निष्काम-कर्मयोग का प्रचार करना चाहते थे । अत: वे चाहते थे कि 'गीतातत्व विवेचनी' के कार्य के साथ पू० गुरुदेव जनसमुदाय में अपने प्रवचनों द्वारा गीता का प्रचार करें । प्रचार की आसक्ति उनमें अत्यधिक थी, कोई यदि सुनने उनके पास नहीं आवे, तो वे उसे सुनाने उसके घर पहुँच जाते थे । सेठजी की दैनन्दिनीचर्या भी एकान्तिक नहीं थी । वे मात्र त्रिकाल संध्या करते समय, गायत्रीजप के लिये तो एकान्त में रहते, शेष समय तो वे चारों ओर कार्यकर्ताओं अथवा जिज्ञासुओं से घिरे ही रहते थे । ब्राह्ममुहूर्त में वे उठ जाते थे, तब से मध्य-रात्रि तक वे अखण्ड एक पल भर भी विश्राम न करते हुए कर्म में लगे रहते थे । उनके सहयोगी भी ऐसे ही परिश्रमी थे । कर्म ही उनकी उपासना था । निष्काम-कर्म को ही वे चित्त-शुद्धि का सबसे अमोघ उपाय मानते थे । भगवान् की स्मृति, भगवान् की सन्निधि का अनुभव करते हुए दिन रात निष्काम-कर्म में लगे रहना, एक क्षण भी कठोर कर्म से हटकर चित्त प्रमाद न कर पावे, इस सावधानी की वे अपने अनुयायियों से पूरी आशा रखते थे । सत्संग-श्रवण एवं सत्संग-व्याख्यान को भी वे इतना प्रामुख्य देते थे कि उनका वश चलता तो वे चौईसों घण्टे सत्संग करवाते रहना चाहते थे ।

पू० गुरुदेव इधर दूसरी धारा में बह चले थे । इधर तीन-चार माह से तो हनुमानगढ़ी के निर्जन स्थान में वे एकान्त कमरे में ही बन्द रहते थे। लोगों से मिलने-जुलने की तो उनकी वृत्ति ही नहीं होती थी, अत: उनके पास कोई आता ही नहीं था ।

उनके पास तो उनके आराध्य वंशीविमोहन रूप में सम्मुख रहते और वे उनके अनिर्वचनीय एवं अचिन्त्य प्रेम में डूबे रहते । अपने आराध्य-भगवान् की परम दिव्य कृपा-सुधावर्षा में उनका अहं, मन, चित्त सब डूबा रहता । उनकी मन की आन्तरिक रुचि यही होती थी कि सम्पूर्ण बाह्य संसार विस्मृत हो जाय और वह साँवरा-सलोना मुरलीमनोहर उनसे अपनी मधुरातिमधुर प्रीतिभरी वाणी में बोलता रहे । वह जो इच्छा हो, सो बोले, चाहे

पोद्दारमहाराज की स्तुति करे, चाहे कुछ भी कहे-सुने, परन्तु वह सर्वेन्द्रिय-मनोहारी उनके सम्मुख बना रहे ।

इधर श्रीसेठजी उन्हें प्रवचन एवं कर्म में लगाकर लोक-कल्याण में प्रवृत्त करना चाह रहे थे । लोक-कल्याण के लिये लोक होना परमावश्यक है । जब लोक होगा, तब न लोक-कल्याण होगा । उनकी वृत्ति तो लोक के रूप में वृन्दावनविहारी को देखना चाह रही थी । वे तो गोपीभाव की इस भूमि को वरण करना चाह रहे थे कि

ऊधो मन न भये दसबीस ।
एक हुतो सो गयो श्याम सँग, को अवराधै ईस ।।

ईश्वर होय तो ईश्वर की आराधना हो, ब्रह्म हो तो ब्रह्म ज्ञान का प्रयास हो, जब मन ही प्रियतम श्यामसुन्दर के संग चला गया, और मन एक ही था, अनेक भी होते तो दूसरे मन से ब्रह्मज्ञान एवं ईश्वराराधना हो जाती, अब कौन, कैसे उद्धव के उपदेश को अपने में उतारे ?

इसी प्रकार पू० गुरुदेव का तो मन ही लोक को छोड़कर अपने प्रियतम श्यामसुन्दर में ही लय होना चाह रहा था, अब लोकोद्धार भला हो तो कैसे हो ? वे निरन्तर वैचारिक द्वन्द्व में हो गये थे । उनके इस मन-मस्तिष्क की परिवर्तित दशा में तो वे गीतातत्वांक का कार्य भी कर पावेंगे, कर सकेंगे, यही निश्चित नहीं कहा जा सकता था ।

फिर श्री गोयन्दकाजी के रूप में भी तो उनके आराध्य ही हैं । वही मनोहारी मुखछवि, वही सर्वांग-सुन्दर रूप, मात्र दो भुजा के स्थान पर चार भुजायें और आयुध । वंशी त्याग देने मात्र से वे बदल गये हों, सो तो है नहीं। तब उनके आदेश की सर्वथा अवहेलना भी कैसे करें ? भगवान् नारायण सर्वपूज्य तो हैं ही । फिर उन्होंने ही गीता कार्य का स्वयं ही श्रीसेठजी के सम्मुख प्रस्ताव रखा था। वे वचन देकर उसकी रक्षा न करें - यह भी शोभनीय कैसे होगा ? उन्होंने यह वचन भी एक महासिद्ध सन्त को दिया है । इस वचन का पालन तो उन्हें पूरी प्राणशक्ति लगाकर करना ही चाहिये ।

इस द्वन्द्वात्मक, अवश स्थिति में ~~ही~~ पू० गुरुदेव को चूरू जाना पड़ा।

चूरू-प्रस्थान

(ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम का वार्षिकोत्सव)

जयति देव, जयति देव जयदयालु देवा ।
परमगुरु परम पूज्य परम देव, देवा ।।
सब विधि तव चरन-सरन आइ पर्‌यौ दासा ।
दीनहीन अति मलीन, तदपि सरन आसा ।।

पातक अपार किन्तु दया को भिखारी ।
दुखित जान राखु सरन पापपुंजहारी ।।
अबलौं के सकल दोष छमा करहु स्वामी ।
ऐसो करु जाते पुनि हौं न कुपथगामी ।।

पात्र हौं, कुपात्र हौं, भले अनधिकारी ।
तदपि हौं तुम्हारो अब, लेहु मोहि उबारी ।।
लोग कहत तुम्हरो सब, मनहु कहत सोई ।
करिय सत्य सोइ, नाथ ! भव-भ्रम सब खोई ।।

मोरि ओर जनि निहारि, देखिय निज तनही ।
हठ करि मोहि राखिअ हरि ! संतत तल पनही ।
कहौं कहा बार-बार जानहु सब भेवा ।
जयति, जयति-जयदयालु, जय दयालु देवा ।।

(पू० श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार-रचित गुरु-महिमा का पद)

(भावार्थ)

हे जयदयालु (गोयन्दका) नामधारी देव, नारायण भगवान् ! आपकी जय हो । हे देव, महानारायण ! आपकी सदा ही जय हो । आप परम गुरु हो, परम पूज्य हो, सब देवों के परमदेव हो । मैं दास आपकी चरण-शरण में सब प्रकार से आकर पड़ गया हूँ । मैं महादीन हूँ, सब प्रकार से हीन हूँ, अति मलीन हूँ, फिर भी आपकी चरणों की कृपा की आशा लेकर आया हूँ । मेरे

अपार पातक हैं, फिर भी मैं आपकी दया का भिखारी हूँ । हे पाप-पुंज-हारी मुझे दुखी जानकर अपनी शरण रख लीजिये । अब तक के जितने दोष-अपराध हों, वे हे स्वामी ! क्षमा कर दीजिए एवं ऐसी कृपा कीजिए जिससे भविष्य में मैं कुपथगामी नहीं बन सकूँ । मैं पात्र हूँ, कुपात्र हूँ, भले अनधिकारी हूँ, परन्तु फिर भी तुम्हारा हूँ, अब तो मुझे उबार लीजिये । सब लोग मुझे तुम्हारा कहते हैं, मेरा मन भी ऐसा ही कहता है । अब तो मेरा संसार एवं सांसारिक-जनों के प्रति जो अपनत्व का भ्रम है, वह मिटा दीजिए और इसे ही सत्य कर दीजिए कि मैं तुम्हारा हूँ । प्रभो ! मेरी ओर मत देखिये; अपनी ओर ही देखिये । मुझे हठपूर्वक, हे हरि ! अपने चरण-पादुका के तले में रखिये, जिससे मैं निरन्तर आपके चरणों का संस्पर्श प्राप्त कर सकूँ। हे प्रभो ! मैं बार-बार क्या कहूँ, आप सब भेदों के जानकार हैं ! हे जयदयालु गोयन्दका-रूप श्रीमन्नारायणप्रभु आपकी जय हो, जय हो, सदा जय हो ।

सेठजी श्रीजयदयालजी गोयनका का जन्म-स्थान चूरू था । आज भी चूरू मे उनकी पैतृक हवेली है । जिस कमरे में उनका जन्म हुआ एवं जहाँ उन्हें सर्वप्रथम भगवान् नारायण के दर्शन हुए, अभी तक तो ये सभी स्थान सुरक्षित हैं ।

गोरखपुर से चूरू पहुँचने में उन दिनों तीन दिन की रेल-यात्रा करनी पड़ती थी । गोरखपुर से सायंकाल अवध-तिरहुत रेलवे से चलते, वह प्रात: लखनऊ स्टेशन पहुँचाती । वहाँ से पूर्वी-रेल द्वारा दिल्ली पहुँचना होता था । यह गाड़ी भी दिनभर लखनऊ रुकने पर सायंकाल मिला करती थी । फिर बीकानेर-स्टेट-रेलवे भी दिल्ली से लगभग सायंकाल सात बजे छूटती थी सो मध्यरात्रि २ बजे चूरू पहुँचाती थी ।

श्रीसेठजी स्वयं तो फर्स्टक्लास में चलते थे, क्योंकि वे अर्थसम्पन्न गृहस्थ वैश्य थे। पू० गुरुदेव तो सन्यासी थे, उन्हें तो कम-से-कम आर्थिक भार किसी गृहस्थ पर पड़े - यह भावना रखकर निम्नतम श्रेणी में ही यात्रा करनी चाहिए, अथवा पैदल ही चलना चाहिए, ऐसी श्रीसेठजी की मान्यता थी । अत: वे पू० गुरुदेव का थर्डक्लास का ही टिकट कटाते थे । उन दिनों निम्न-श्रेणी में कोई रिजर्वेशन नहीं होता था, मात्र उच्च-श्रेणी में ही सीट अथवा

रिजर्वेशन की व्यवस्था थी । निम्न-श्रेणी में बेशुमार यात्री भेड़-बकरियों की तरह भरे चलते थे । अतः लोग भीड़ को रोकने के लिये थर्डक्लास कम्पार्टमेंट के दरवाजे बन्दकर भीतर से सिटकनी लगा लेते एवं बाहर से आने वाले यात्रियों को अन्दर घुसने से मना ही कर देते थे । सबल यात्री तो लड़-झगड़ कर खिड़कियों से भी घुस जाते थे, परन्तु निर्बल-बूढ़े, स्त्रियाँ, बच्चे अन्दर नहीं घुस पाते थे ।

पू० गुरुदेव की इन दिनों ऐसी मनःस्थिति थी कि उन्हें प्रत्येक जन-जन में उनके आराध्य भरे दिखते थे । उनके आराध्य-भगवान् बाहर स्टेशन प्लेटफार्मों में परेशान इधर-उधर दौड़ते फिरें - रेलगाड़ी के डिब्बों के बन्द दरवाजे खटखटावें और पू० गुरुदेव भीतर सुख-सुविधा से यात्रा करें - यह उन्हें भला कैसे रुचिकर होता । अतः वे यात्रियों के विरोध के उपरान्त भी कम्पार्टमेंट का दरवाजा खोल देते और द्वार पर खड़े होकर बाहर परेशान भीड़ को आह्वान करके अपनी बोगी में भर लेते । अतिशय भीड़ के आ जाने से उन्हें यद्यपि बहुत ही कष्टप्रद यात्रा करनी पड़ती थी, अन्य सहयात्री भी उन पर बहुत क्रोध करते परन्तु वे परेशान यात्रियों को अपना कम्पार्टमेंट खोलकर बुलाये बिना नहीं रहते । इस विचित्र स्वभाव के कारण गुरुदेव की संपूर्ण यात्रा ही अतिशय कष्टप्रद होती थी । यात्रा में न तो उनके शौच-स्नान की ही समुचित व्यवस्था हो पाती, न ही भिक्षा की । परन्तु पू० गुरुदेव को एक अभिनव सन्तोष यह समझकर अवश्य होता था कि मेरे तप एवं कष्टभोग के उपरान्त भी मेरे विश्वरूप में अभिव्यक्त आराध्य श्रीकृष्ण को किंचित् सुख हो गया ।

इस तरह बहुत ही कष्टदायक यात्रा करके पू० गुरुदेव प्रथम बार राजस्थान की स्वर्ण-सी रेतीली भूमि में अपने चरण रख सके । ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम, चूरू स्टेशन के पास ही था । इस पवित्र संस्था में बालकों को शैशवावस्था में ही भरती कर लिया जाता था । उन्हें भोजन,आवास की सब सुविधाएँ तथा पुस्तकें, कापियाँ आदि सभी शिक्षा-सहयोगी सामग्रियाँ मुफ्त में संस्था द्वारा प्रदान की जाती थीं । वर्षभर का खर्चा समर्थ ब्रह्मचारियों से भी बहुत ही सामान्य, मात्र कहने भर का ही लिया जाता था ।

शिक्षक अधिकांशतः सेवा-परायण, विद्वान, सेठजी के सिद्धान्तों के अनुयायी, निष्काम-कर्मयोगी होते थे । वे ब्राह्ममुहूर्त से कार्य में लगते थे, रात्रि को दस बजे तक बच्चों की सेवा पूर्ण भगवद्भाव रखते हुए करते थे ।

बच्चों को ब्राह्ममुहूर्त में ही शौच-स्नान से निवृत्त होकर प्रातः संध्या करनी पड़ती थी । सभी बालक यज्ञोपवीतधारी एवं ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य जाति के ही होते थे । ये खादी के ही पीत वस्त्र पहनते थे । सिले वस्त्र शीतकाल में ही पहने जाते थे । ग्रीष्म में तो इनके स्वस्थ शरीरों का कटि से ऊपर का भाग निर्वस्त्र ही होता था । ये पादुका नहीं पहनते थे, पहनते थे तो काठ की खड़ाऊ पहना करते । प्रातः एवं रात्रि में प्रत्येक बालक को आधा किलो दूध मिलता था । इन्हें प्रातःकाल व्यायाम एवं योगासन कराये जाते थे । आश्रम में वृक्षों का सिंचन, पुष्पों की लताओं को पानी देना, एवं संपूर्ण आश्रम की स्वच्छता में बच्चों का पूरा योगदान रहता था । इनका शयनकाल मात्र ६ घंटे होता था, शेष सभी समय ये या तो यज्ञ-यागादि धर्म-निष्ठ कार्यों में लगे रहते अथवा परिश्रमपूर्वक अध्ययन में । इन्हें व्यायाम, योगादि के साथ धार्मिक प्रवचन करना भी सिखाया जाता था । गीता कण्ठस्थ करना, उसका अन्वय, पदच्छेद एवं व्यापक अर्थसहित श्लोक-श्लोक का विश्लेषण करना, इनके अध्ययन का अंग था । इसके साथ ही शिक्षा-बोर्ड द्वारा स्वीकृत पाठ्यक्रम से इन्हें दसवीं कक्षा तक पढ़ाया जाता था । अंग्रेजी, हिन्दी, संस्कृत, व्याकरण, कर्मकाण्ड, अमरकोश, गणित आदि सभी विषयों में बालक पूर्ण मेधावी होते थे। साथ ही इन्हें परिश्रमी जीवन का ऐसा अभ्यास करा दिया जाता था कि जीवनभर ये प्रमाद, आलस्य से रहित अति ईमानदार, सच्चरित्र, कठोर परिश्रमी जीवन व्यतीत करने के अभ्यासी हो जावें।

वार्षिकोत्सव के दिन सुबह लगभग सात बजे प्रातःकाल से ही बच्चे पहले व्यायाम,कुश्ती,योगासन,तथा जिमनाष्टिक के खेलों का प्रदर्शन करते थे। इनमें जो सर्वप्रथम आते उन्हें पुरस्कार-स्वरूप गीताप्रेस की बालोपयोगी पुस्तकें दी जाती थी । इसके पश्चात् इनकी, गीता, रामायण संबंधी परीक्षा होती थी। सभी बालकों को प्रायः गीता कण्ठस्थ होती थी, परन्तु इनसे यह पूछा जाता कि अमुक अध्याय का अमुक श्लोक कौनसा है । पीछे किसी श्लोक का उच्चारण कर, उसका अध्याय तथा वह कौनसी संख्या का श्लोक है यह पूछा जाता था । फिर उसका अर्थ पूछा जाता । उसका पदच्छेद, अन्वय एवं व्यापक अर्थ बालक को बतलाना पड़ता। उच्च-कक्षा के विद्यार्थियों से शंका-समाधान भी की जाती थी। वार्षिकोत्सव के समय बालकों के अभिभावक भी बुलाये जाते थे। बालकों का कठोर अनुशासन युक्त परिश्रमी, स्वस्थ शरीर तथा अध्ययन देखकर अभिभावक प्रायः कृतार्थता का अनुभव किया करते थे।

वार्षिकोत्सव में बच्चों के प्रदर्शन के पश्चात् श्रीसेठजी एवं स्वामी रामसुखदासजी महाराज सार्वजनिक सत्संग कराया करते थे। उस दिवस सायंकाल सार्वजनिक सभा में पू० गुरुदेव का प्रवचन हुआ । उनके पश्चात् श्रीपोद्दार महाराज का भक्तिभावपूर्ण प्रवचन हुआ। इस उत्सव में मेरे पूर्वाश्रम (लेखक के) पिताजी भी आये थे । पू० श्रीपोद्दारमहाराज के प्रवचन के पूर्व उनके आग्रह से लेखक के पू० पिताजी ने एक पद-गायन किया था । पू० गुरुदेव श्रीसेठजी एवं भाईजी के सत्संग में अवश्य सुनने बैठा करते । इस प्रवचन के समय भी श्रीभाईजी के पास पू० गुरुदेव बैठे थे ।

लेखक का प्रथम परिचय

ईसवी सन् ! १९३६ में गोरखपुर में जो वर्षभर का सत्संग-सत्र हुआ था, उसमें लेखक के पूर्वाश्रम के मामा श्रीचिम्मनलाल गोस्वामी, अ०सौ० मामी, एवं मंगला मौसी भी साधक की तरह सम्मिलित हुई थीं । वे सत्र की समाप्ति हो जाने के कारण गोरखपुर से चूरू होते हुए बीकानेर जा रहे थे । मैं, मेरे पिताजी सहित, मेरे मामी-मामा एवं मौसी को लेने चूरू आया था । ईसवी सन् १९३७ के इस ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम के उत्सव में मेरी वय मात्र आठ वर्ष की थी । उत्सव देखने की जिज्ञासा भी बालमन में थी । पू० श्रीपोद्दार महाराज (भाईजी) के दर्शन तो मुझे १९३४ ई० में ही हो चुके थे, मैं पाँच वर्ष का लघु बालक अपनी माँ के साथ ही गोरखपुर आया था । उन दिनों मेरे पिताजी श्रीवल्लभलालजी गोस्वामी भी गीताप्रेस में काम करने आ गये थे। मेरे मामाजी ने उन्हें बुला लिया था । मुझे सेठजी जयदयालजी गोयन्दका के दर्शन नहीं हुए थे । अतः उनके दर्शन हो जायेंगे, चूरू आने का यह भी एक प्रयोजन था ।

श्री भाईजी का सत्संग सरस भक्तिभाव से युक्त होता था । इस सत्संग से पूर्व मेरे पू० मामा श्रीचिम्मनलाल गोस्वामी भगवन्नाम संकीर्त्तन कराया करते थे । मुझे सत्संग तो समझ में आता नहीं था, हाँ, मेरे मामा जब झाँझ, करताल, ढ़ोलक सहित नाम कीर्त्तन कराते तो बहुत ही आनन्द आता था । मैं कीर्त्तन का शौकीन भी बहुत था, स्वयं भी कीर्त्तन किया-कराया करता । अतः उनके कीर्त्तन में सम्मिलित होने अपने पिता एवं मामा के पास बैठा था। मेरे पू० मामा कीर्त्तन करा रहे थे ।

राधारमण जय कुंजाबेहारी, मुरलीधर गोवर्द्धनधारी ।

कीर्त्तन बहुत ही सुमधुर हो रहा था । मेरे मामा का स्वर बहुत मधुर था । मैंने मेरे पू० नाना से सुन रखा था कि मेरे मामा के कण्ठ में श्रुतियाँ लगती हैं । किस राग में किस स्वर को किस श्रुति से गाया जाता है, यह संगीतशास्त्र की गायकी उच्चतम कोटि के गायकों से ही संभव होती है । हारमोनियम नामक वाद्ययंत्र में तो मात्र कोमल, एवं तीव्र स्वर मिलाकर बारह स्वर ही होते हैं । श्रुतियुक्त गायन करने वाले की सारंगी नाम तंतुवाद्य द्वारा ही सांगोपांग संगत संभव होती है । हारमोनियम वहाँ तो बेसुरा हो जाता है।

मैं देख रहा था -- पू० श्रीपोद्दारमहाराज (भाईजी) के पास एक तरुण सन्यासी ध्यानस्थ बैठे थे । मेरे पू० मामाजी का संकीर्त्तन वे बहुत ही मनोयोगपूर्वक सुन रहे थे । मैं बार-बार उन्हें ही देखता जा रहा था । मुझे यह तरुण सन्यासी, जिसकी उस समय उम्र मात्र तेईस-चौईस वर्ष की थी, बहुत ही आकर्षक लग रहा था । प्रथम दर्शन में ही इसने मुझे मोह लिया ।

संकीर्त्तन में ही श्रीपोद्दारमहाराज (भाईजी) ध्यानस्थ हो गये । कीर्त्तन में सभी को इतना अधिक आनन्द आया कि सभी श्रोता भावुक हुए आँसुओं से नेत्र गीले कर चुके थे । थोड़ी देर पश्चात् पू० श्रीपोद्दारमहाराज (भाईजी) ने आँखें खोलीं । उन्होंने नवागन्तुक मेरे पिताजी की ओर अतिशय स्नेह से देखा, फिर उन्हें सिर झुकाकर ब्राह्मण एवं बहनोई होने के नाते प्रणाम किया और तब कोई पद गायन करने को कहा । मेरे पू० पिताजी भी अच्छे गायक थे । यद्यपि ये सभी बातें आज से साठ वर्ष पूर्व की हैं परन्तु बाल-जीवन कीं कुछ बातें ऐसी अमिट अंकित हो जाती हैं कि वे जीवनभर स्मरण होते रहने के कारण ज्यों-की-त्यों मृत्यु के समय तक स्मृति में रहती हैं ।

श्री (भाईजी) पोद्दारमहाराज के आग्रह पर मेरे पिताजी ने उस दिन जो अष्टछाप का पद सुनाया, वह भी मुझे अब तक याद है । पद के शब्द थे -

कृष्ण नाम जबतें श्रवणन सुन्यो री आलि
भूली री भवन हौं तो बावरी भई री
भरि, भरि आवैं नयन,
चित हू न परै चैन, मुखतैं न निकसैं बैन
तन की दसा कछु औरहू भई री

जेतेक मैं नेम-धरम कीने री बहुत विधि,
अंग-अंग भई हौं तो श्रवण मईरी
नन्ददास जाके श्रवणन यह गति भई री,
माधुरी मूरत कैधौं कैसी हो दईरी

इस गायन को सुनकर पू० श्रीपोद्दार महाराज (भाईजी) बहुत ही अन्तर्मुखी हो गये थे । उनको चेष्टा करने पर भी सत्संग प्रारम्भ करने की क्रिया हो ही नहीं रही थी । वे सत्संग के पूर्व कुछ मंगलाचरण के श्लोक बोला करते थे, वे भी बोल नहीं पा रहे थे । वे किसी प्रकार "मूकं करोति वाचालं" तो बोल गये फिर पंगुम् कह कर चुप हो गये । कुछ क्षण ध्यानस्थ हो गये, तब किसी प्रकार यह श्लोक पूरा किया -

मूंक करोति वाचालं पंगुल्लंघयते गिरिम् ।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्द माधवम् ।।

इसके पश्चात् दूसरे श्लोक में वे पुनः अटक गये

"वन्दे मुकुन्दमरविन्ददलायताक्षं" कहकर पुनः चुप हो गये । मेरे मामाजी ने इस श्लोक को पूरा किया।

वन्दे मुकुन्दमरविन्ददलायताक्षं कुन्देन्दुशंखदशनं शिशुगोपवेषम्
इन्द्रादिदेवगणवन्दितपादपीठं वृन्दावनालयमहं वसुदेवसूनुम् ।।

श्री भाईजी (पोद्दार महाराज) को पुनः ध्यानस्थ देख मेरे पू० मामाजी ने नाम संकीर्तन प्रारंभ कर दिया ।

जय हरि गोविन्द राधे गोविन्द

मेरी दृष्टि न तो पिताजी पर थी, न ही मामाजी पर । मैं तो या तो पू० भाईजी के बहते आँसुओं पर दृष्टिपात किए था, अथवा पू० गुरुदेव के आनन पर मेरी दृष्टि जमी थी । उनके नेत्रों से भी अश्रुधार बह रही थी । पू० गुरुदेव काष्ठवत् बैठे थे । उनके नेत्रों से झरते बिन्दु उनके कपोलों पर ठहरे थे। श्रीपोद्दार महाराज कुछ काल में प्रकृतिस्थ हो गये एवं तब उनका प्रवचन प्रारम्भ हो गया । यह मेरा पू० गुरुदेव से प्रथम साक्षात्कार था ।

लेखक का बालहठ

सत्संग के पश्चात् भोजनोपरान्त मैं अपनी मौसी से मिलने चला गया । मेरी मौसी मंगला देवी वर्षभर के सत्संग-सत्र में पूरे नियम निभाती हुई रही थी । मैनें उससे सरलतावश इतना ही पूछा - "मौसी ! तूने बारह माह तक इतना जप, कीर्त्तन, भजन, साधन किया, तुझे भगवान् के दर्शन हुए या नहीं।" उसने सर्वथा इनकार करते हुए कहा कि मुझे तो सर्वथा नहीं हुए । "पू० मामाजी (श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी) को भगवान् के दर्शन हुए या नहीं ?" यह मेरा उससे दूसरा प्रश्न था। उसने उत्तर दिया - "यह प्रश्न तो उनसे ही पूछ ?" फिर उसने मुझे बताया कि भगवान् सेठजी जयदयालजी गोयनका के पीछे-पीछे फिरते हैं । वे जिसे भी चाहें भगवान् के दर्शन करा सकते हैं । फिर मैने पूछा - "क्या सेठजी मुझे भी भगवान् के दर्शन करा देंगे ?" उन्होंने कहा - "तू उनसे प्रार्थना कर । उन्होने भाईजी हनुमानप्रसादजी पोद्दार को भगवान के दर्शन कराये हैं ।"

जो एक को दर्शन करा सकता है वह दूसरे को भी चाहे तो भगवान् के दर्शन करा देगा । भगवान् उनकी सब बातें मानते हैं । भाईजी से भगवान् ने दर्शन देते समय यह कहा था कि "सेठजी चाहें तो मैं यहाँ जितने लोग बैठे हैं, सभी को दर्शन दे सकता हूँ।" सेठजी ने अपनी भक्ति से भगवान् द्वारा यह अधिकार प्राप्त किया है । मैने मेरी मौसी से पूछा - "ये युवक सन्यासी कौन हैं ?" उसने उत्तर दिया "कोई बहुत बड़े ज्ञानी सन्यासी हैं, अभी नये ही आये हैं, मैं नाम नहीं जानती । सत्संग बहुत ही अच्छा कराते हैं । बहुत ही त्यागी हैं । सात घरों से भिक्षा लेकर खाते हैं । आसन सिद्ध महात्मा हैं। सदा ध्यानस्थ बैठे रहते हैं ।"

लगभग सायंकाल तीन-साढ़े तीन बजे मेरे पिताजी पू० गुरुदेव से मिलने उनकी कुटिया में गये । मैं भी उनके साथ था । मेरे पिताजी के साथ पू० गुरुदेव की यह वार्ता मेरे बालमन में इतना घर कर गयी थी कि मुझे अब तक इसकी शब्दावली स्मरण है । मेरे पिताजी का पहला प्रश्न था - "स्वामीजी आप बहुत ही छोटी उम्र में सन्यासी हो गये हैं क्या आपको अपने भविष्य जीवन की चिन्ता नहीं होती ?"

पू० गुरुदेव ने अति संक्षेप में उत्तर दिया - "मैंने अपनी चिन्ता भगवान् श्रीकृष्ण पर छोड़ दी है, मैं तो बस उनकी चिन्ता किया करता हूँ ।" इस

उत्तर पर मेरे पिताजी बहुत ही प्रभावित एवं मुग्ध हो गये । उन्होने कहा - "यह तो हमारे वल्लभ-सम्प्रदाय का सिद्धान्त है । मैंने तो सुना है आप ब्रह्मवादी सन्त हैं, सगुण-साकार भगवान् पर विश्वास नहीं करते ।" पू० गुरुदेव कहने लगे - "फिर तो मेरे पास चिन्ता होने का प्रश्न ही नहीं उठता। ज्ञानी में तो स्वप्न में भी काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, विषाद एवं चिन्ता आदि का लेश भी नहीं होना चाहिए ।"

पू० पिताजी ने कहा - "स्वामीजी ! मैं तो पूरा आस्तिक भी नहीं बन पा रहा हूँ । वैसे सम्प्रदाय में बालकपन से कीर्त्तन करता रहा । अत: अष्टछाप के पद गायन कर लेता हूँ । भीतर से भगवान् का विश्वास हट रहा है।"

पू० गुरुदेव ने कहा - "आप सच्चे निष्कपट, दंभहीन ब्राह्मण हैं, अत: मन के भीतर की बात सरलता से प्रकट कर देते हैं । आपको जब भी अवसर मिले श्रीभाईजी को कीर्त्तन सुनाया करिये । आप सच्चे आस्तिक अवश्य, अवश्य हो जावेंगे।"

पू० पिताजी ने कहा - "मैं तो स्वामीजी आपसे परिचय करने आया था, आपको देखकर ऐसा लगा जैसे मेरा कोई अति आत्मीयजन सन्यासी हो गया है। अत: आपके संबंध में जिज्ञासा थी ।" पू० गुरुदेव ने उत्तर दिया - "आप मेरा सम्पूर्ण परिचय श्रीकृष्ण से पूछिये । देखिये, इस मलिन नश्वर देह का क्या तो परिचय ? मैं तो इतना ही जान पाया हूँ, जीवत्व उनकी ही वस्तु है। मीठा या खारे का ज्ञान जैसे खानेवाले को होता है, इसी तरह ठीक-ठीक मैं कैसा हूँ यह श्रीकृष्ण ही बता सकते हैं । मेरे विचार, जन्म-कर्म-अभिमान का सारा लेखा-जोखा उनके ही पास है । भविष्य में भी मेरा दु:ख-दर्द, सारा भार उनको ही वहन करना है । यह तन-मन जो भी आपको दिखता है सब उनका है, वे इसे रोगी, अभावग्रस्त, सुरक्षित, असुरक्षित जैसे रखना चाहेंगे, रखेंगे । कोई उनके विधान के बीच में टाँग अड़ाना भी चाहे तो टाँग अड़ा नहीं सकता । जीवन तो उनके विधानानुसार ही व्यतीत होगा । अपने मन की कल्पना की उड़ान तो सर्वथा शेखचिल्लीवाली बात है अत: मैं उनको पूर्णतया समर्पित हो जाऊँ, आप यही आर्शीर्वाद दें । आप वैष्णव हैं, श्रीकृष्ण गुण-गानमय आपका जीवन है, अत: मेरी दृष्टी में आप श्रीकृष्ण स्वरूप हैं, मेरी आपके चरणों में यही विनय है ।"

(मेरे पिताजी ने अपनी डायरी में इस घटना को ज्यों-का-त्यों उतार लिया था । मेरे पू० पिताजी कहते थे पू० पोद्दार महाराज (भाईजी) को यह

"कृष्णनाम जबतें श्रवणन सुन्यौरी आली" पद जिस शुभ दिवस सुनाया था, उसके कुछ ही दिनों पश्चात् से उनके मन के नास्तिक भाव क्रमश: विलीन होते गये । इसके पश्चात् उनका जीवन निरन्तर कृष्ण-गुणगान मय, परम भगवद्विश्वासी, आचार्य वैष्णवों के प्रति परम श्रद्धा-सम्पन्न हो गया। आगे भविष्य में तो उन्होनें पू० गुरुदेव को अनवरत १०-१२ घंटों तक जब भी अवसर मिला अष्टछाप वैष्णवों के पद सुनाये । उनका संपूर्ण जीवन भगवत्सेवामय ही व्यतीत हुआ। आगे जाकर पू० गुरुदेव ने मेरे पिताजी से पता लेकर वल्लभ संप्रदाय में गाये जाने वाले कीर्त्तन संग्रह तीनों भाग बम्बई से श्री भगवानदास सिहानियाँ को पत्र लिखकर रतनगढ मँगाए थे)

मेरा एवं मेरे पिताजी का पू० गुरुदेव से यह प्रथम वार्तालाप था । दूसरे दिवस सन्ध्या समय लगभग चार ही बजे होंगे मैं पुन: पू० गुरुदेव के पास चला गया । मैं पू० गुरुदेव के पास अकेले ही बिना किसी को सूचना दिये चला आया था । गुरुदेव ध्यानस्थ बैठे थे । उन्होंने कुछ काल पश्चात् ध्यान से विरत हो आँखें खोलीं । मैंने उन्हें प्रणाम किया एवं कहा -"मैं चिम्मनलालजी गोस्वामी का भानजा हूँ । आपसे कुछ बातें पूछने आया हूँ। कल पू० पिताजी के साथ आया था । मेरी मौसी कहती है - "सेठजी के पीछे-पीछे भगवान् फिरते हैं । उन्होने अपने भक्ति-भाव से भगवान् को वशीभूत कर लिया है । उन्होने भाईजी (मेरे बड़े मामाजी) को भी भगवान् के दर्शन कराये हैं ।" मैं आज श्रीसेठजी गोयन्दकाजी को सत्संग के बाद हाथ पकड़कर उठने नहीं दूँगा । मैं हठ करूँगा, वे मुझे भगवान् के दर्शन करावें। जब तक वे हाँ नहीं करेंगे हठपूर्वक उन्हें छोड़ूँगा नहीं । मैं आपसे पूछने आया हूँ मुझे ऐसा करना चाहिए या नहीं ।"

पू० गुरुदेव मेरी सरल बाल-उक्ति पर बहुत ही प्रसन्न हुए । उन्होंने मुझसे कहा - "मै तो स्वयं मानता हूँ कि सेठजी एवं भाईजी दोनों ही सिद्ध महापुरुष हैं और यदि चाहें तो तुझे इसी क्षण भगवान् के दर्शन करा सकते हैं। वे तुझे करायेंगे या नहीं करायेंगे, यह तो वे जानें, परन्तु तेरा हठ करना मुझे अनुचित सर्वथा नहीं लगता ।"

पू० गुरुदेव की यह अप्रत्याशित बात सुनकर मुझे बहुत ही हर्ष हुआ । मैं तो सोचता था कि मेरे पू० मामाजी अथवा पिताजी को इस मेरे मनोरथ की पूर्व गंध ही मिल गई तो मुझे सत्संग में लाना ही स्थगित कर देंगे एवं सीधा

बीकानेर भेज देंगे । ये बाबा तो बहुत ही अच्छे हैं । मैं उनका अनुमोदन पाकर प्रणाम करके दौड़ गया ।

दूसरे दिवस प्रात:काल भरी सभा में मैने एक नाटक खड़ा कर दिया । मैंने सेठजी के घुटने पकड़ लिये। श्री पोद्दार महाराज भी पास ही बैठे थे । एक हाथ उनका भी पकड़ा । "मुझे अभी भगवान के दर्शन हों" - यह मेरा बाल आग्रह था। श्री पोद्दार महाराज तो सेठजी को मुझे पकड़ाकर चल दिये । सेठजी हँस-हँसकर मुझसे विनोद करते रहे, "भाया ! म्हारै घूँजिये में भगवान् थोड़े ही है ।" परन्तु मैंने उन्हें नहीं छोड़ा । मेरा यही तर्क था कि मेरी मंगला मौसी झूठ नहीं बोलती । वह बारह माह व्रत लेकर सत्संग करके गोरखपुर से आयी है । वह कहती है कि आपके पीछे-पीछे भगवान् फिरते हैं। आपने श्री पोद्दार महाराज को भगवान् के दर्शन कराये, मुझे भी कराइये। आप चाहें तो यह असंभव संभव हो सकता है । लगभग आधे घंटे तक यह मेरा बालहठ चलता रहा । श्रीसेठजी से आशीर्वाद पाकर मैं वहाँ से हटा था।

गीता विवेचनी का कार्य

(चौपदे)

जो ज्ञान शुद्ध रसमय तरु दो तोरण हैं बने हुए प्रियतम !
है एक सारथी रथ चिन्हित, मुनि कीर एक पर है प्रियतम !
सन्धिस्थल पर मिलती सी हैं दो सत्ता जहाँ अहो ! प्रियतम !
इस दृश्यविश्व का इधर,और उस ओर तूर्य रस का प्रियतम।।१९।।

दोनों द्रुम से लिपटी फूली वह भावमयी वल्ली प्रियतम !
जो है, उसकी टहनी पर ही पिंजरा था झूल रहा प्रियतम !
उसके भीतर पत्रों से सट बैठी थी मैं विहगी प्रियतम !
उन रागों से मन बहलाती उर में रखकर तुमको प्रियतम !।।२०।।

कोई क्षण भर के लिये विहग बाहर का सुन लेता प्रियतम !
मेरा स्वर, और मुग्ध होता, पर दाद न दे पाता प्रियतम !
केदारा, नट या मालकोश, पीलू ही गाती थी प्रियतम !
मेरे पर षड़ज ऋषभ सब वे थे भिन्न, न मिलते थे प्रियतम !।२१।

संचालित तुम कर देते थे पिंजड़े को, वह हिलता प्रियतम !
झौंटा खाकर डर जाती थीं, सुखमत्त कभी होती प्रियतम !
चिन्तित सी कभी क्षणिक होती, भावी है क्या मेरी प्रियतम !
पर हुआ न अहो विराम कभी मेरी स्वर-लहरी का प्रियतम !।२२।।

अब सुनो रसीली वह गाथा, तुमने सरकाया था प्रियतम !
पिंजड़े को उस टहनी पर ही, पूरब की ओर किया प्रियतम !
मैं लगी देखने दृश्य सुखद शुभ था विपाक आया प्रियतम !
भावुकतामय मेरे जो थे वे सत् प्रयास उनका प्रियतम !।।२३।।

बैकुण्ठ नाम की नगरी थी, ज्ञानी थे एक वहाँ प्रियतम !
राजा विदेह के सदृश भला प्रेमी रघुकुलमणि के प्रियतम !
आदर्श चरित्रों के वे थे, 'जय सीताराम' तथा प्रियतम !
'नारायण' नाम अधिक उनको प्रिय था ऐसा लगता प्रियतम !।२४।।

जीवन में उनके छाया थी उस तुलाधार की भी प्रियतम !
थे अतिशय सरल, दक्ष पर थे जग के व्यवहारों में प्रियतम !
देखा था उनको मैंने जब आकाशचारिणी थी प्रियतम !
होती थी सुनकर फुल्ल सदा प्रवचन पवित्र उनका प्रियतम !।।२५।।

पिंजड़े पर हाथ धरे रहते हरदम वे थे अपने प्रियतम !
थे खड़े उधर तुम भी छिपकर उस पर कर मृदुल रखे प्रियतम !
थी नहीं अहंता उनमें फिर, पिंजड़े में क्या रहती प्रियतम !
मुझ से विनोद करने की थी वह युक्ति अहा कैसी प्रियतम !।।२६।।

बातें सुर सरिता तट पर की रवितनय तपोवन की प्रियतम !
वे हैं इससे पहले की, पर कहने लग जाऊँ तो प्रियतम !
लंबी अत्यधिक कथा होगी, श्रोता भी हैं न यहाँ प्रियतम !
जिनके दृग बनें सजल सुनकर, इसलिये छोड़ दी हैं प्रियतम ।।२७।।

इच्छा थी केवल आठ गीत लेकर उन गीतों से प्रियतम !
गा जाऊँ, पर लीला जब है हो रही यहाँ ऐसी प्रियतम !
है उचित यही कुछ दिन देखूँ, कैसे क्या होता है प्रियतम !
तुम तो हँसते ही हो हरदम, मैं भी क्यों नहीं हँसूं प्रियतम ! ।।२८।।

(चौपदों का भावार्थ)

एक वन में दो वृक्ष दो तोरण बने हुए हैं । एक वृक्ष शुद्ध ज्ञान का है और दूसरा विशुद्ध रसमय है । एक वृक्ष पर जो शुद्ध ज्ञान का है, उस पर एक रथ का चिन्ह है जिसमें सारथी बने श्रीकृष्ण हैं, एवं दूसरे पर शुक-मुनि चिह्नित हैं। अहो प्रियतम ! संधिस्थल पर ये दोनों सत्ताएँ जहाँ मिलती सी हैं, इधर एक तरफ इस विश्व का दृश्य है, और दूसरी ओर तुरीय रस का। ।।१९।।

जो वह भावमयीवल्ली है, हे प्रियतम ! जो दोनों द्रुमों से लिपटी विकसित है, उसकी टहनी पर ही वह (पोद्दार महाराज रूप) पिंजरा झूल रहा था । मैं विहगी उस पिंजरे के भीतर पत्तों से सटकर बैठी थी । हे प्रियतम ! मैं तुमको अपने उर में रखकर रसमय रागों से अपना मन बहला रही थी ।।२०।।

मेरे स्वर एवं राग कोई भी बाहर का विहग यदि क्षण भर के लिये भी सुन लेता तो मुग्ध तो होता था, परन्तु मेरे गायन पर दाद नहीं दे पाता था। यद्यपिं हे प्रियतम ! मैं गाती थी केदारा राग, मालकोश, या पीलू ही परन्तु मेरे षडज, ऋषभ सभी भिन्न थे, वे दूसरों से मिल नहीं पाते थे ।।२१।।

हे प्रियतम ! तुम मेरे पिँजड़े को संचालित कर देते थे, झौटा खाकर वह हिलता था, और मैं डर जाती थी, कभी उस झौंटे से मैं सुख में मत्त भी हो जाती थी, कभी क्षणिक चिन्तित सी भी हो जाती कि मेरा भावी विधान क्या है ? परन्तु हे प्रियतम ! मेरी स्वर-लहरी का कभी भी विराम नहीं हुआ ।।२२।।

हे प्रियतम ! अब तुम्हें मैं वह रसीली गाथा सुनाती हूँ , तुमने पिंजडे को उस टहनी पर ही पूरब की ओर करके सरकाया था और मैं वह सुखद दृश्य

देखने लग गयी थी । मेरे जो भावुकता मय सत् प्रयास थे उन सबका फलोन्मुख होने का समय आया था । ।।२३।।

एक वैकुण्ठ नामकी नगरी थी, वहाँ एक महाज्ञानी रहते थे । वे विदेह जनक राजा के सदृश थे एवं रघुकुलमणि भगवान् राम के प्रेमी थे । उनके सभी चरित्र आदर्श थे । उनको हे प्रियतम ! 'जय सीताराम' तथा 'नारायण' नाम अधिक प्रिय है, ऐसा लगता था ।।२४।।

उनके जीवन में तुलाधार वैष्य की भी छाया थी । वे चित्त के बहुत ही सरल थे, परन्तु संसार के व्यवहारों में बहुत ही दक्ष एवं चतुर थे । जब मैं आकाशचारिणी थी,उन दिनों उनको मैंने देखा था । मैं उनका पवित्र प्रवचन सुनकर प्रफुल्लित हो जाती थी ।।२५।।

वे अपने हाथ हरदम पिंजड़े पर रखे रहते थे और उधर हे प्रियतम तुम भी छिपकर उसी पिंजड़े पर अपना मृदुल कर रखे थे । जब उनमें अहंता ही नहीं थी तो फिर पिंजड़े से भला क्या आसक्ति होती, परन्तु अहा ! मुझसे विनोद करने की वह युक्ति कैसी थी ! ।।२६।।

सुरसरिता (गंगा) तट की बातें अथवा रवितनय-तपोवन की बातें जो सब इससे पहले की हैं, वे यदि कहने लग जाऊँ तो कथा अत्यधिक लम्बी हो जायेगी, फिर यहाँ उस लम्बी कथा के श्रोता भी तो नहीं है, जिनके नेत्र उस कथा को सुनकर सजल होने लगें - अतः मैंने वह प्रसंग ही छोड़ दिया है ।।२७।।

मेरी मात्र आठ गीत लेकर उन गीतों से गा जाने की इच्छा थी, परन्तु अब यहाँ जब ऐसी ही लीला हो रही है तो उचित यही है कि कुछ दिवस प्रतीक्षा कर देखूँ कि कैसे क्या होता है । तुम तो हर स्थिति में हँसते ही हो तो मैं भी क्यों नहीं हँसूँ । ।।२८।।

चौपदों में अन्तर्हित भाव

परात्पर परमतत्व-स्वरूप परम सत्य तो एक है । श्री मद्भागवत ने इसी परम सत्य को तीन नामों से उच्चारित किया है।

ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते।। श्री मद्भागवत १/२/११।।

ये तीन नाम हैं :-(१)निर्गुण-निराकार-निर्विशेष ब्रह्म, (२) सगुण-निराकार-सविशेष परमात्मा, (३) सगुण साकार सविशेष भगवान् ।

वास्तव में उपरोक्त कथन तीन प्रकार के साधकों की अनुभूति की ही अभिव्यंजना है।

एकही परमतत्व को विशुद्ध ज्ञान-तट से देखनेवाले ज्ञानी निर्गुण-निराकार निर्विशेष, ब्रह्म कहकर अभिव्यञ्जित करते हैं, इसी सत्य को योगी लोग सगुण-सविशेष निराकार परमात्मा कहकर एवं भक्तलोग सगुण-सविशेष साकार भगवान् कहकर सम्बोधित करते हैं ।

पू० गुरुदेव का अपने सन्यास काल में दो तीर्थों से परिचय हुआ । तीर्थ शब्द तृ धातु से बना है । तृ' धातु का अर्थ है, तरण या उत्तरण-अर्थात् जिसकी सहायता से हम कोई दुर्गम मार्ग, कोई एक नदी, कोई आवरण, कोई संकट पार कर लें, उसका नाम है तीर्थ । नदी के तीर्थ घाट हैं । जिसकी सहायता से कोई दुर्गम या दुरतिक्रम व्यवधान पार किया जाता है, उसी को तीर्थ कहते हैं । गुरु भी तीर्थ होते हैं, क्योंकि उनकी सहायता से हम लोग भवसागर पार कर सकते हैं । इन दो तीर्थों का यहाँ इन चौपदों में दो तरुओं, -वृक्षों के तोरण के रूप में वर्णन है । एक तीर्थ थे, श्री जयदयालजी गोयनका जो शुद्ध ज्ञान के उपासक थे, परन्तु साथ ही पातञ्जल योग को भी संस्पर्शित करते थे, अतः निर्गुण, निराकार, निर्विशेष ब्रह्म तत्व और सगुण-निराकार सविशेष परमात्मतत्व दोनों के समन्वित व्याख्याकार थे । दूसरे तीर्थ थे, श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार इन्हें योगियों की परम उच्च-स्थिति निर्विकल्प समाधि की भी सहज उपलब्धि थी, साथ ही निर्गुण, निराकार निर्विशेष तत्व का भी अनुभव था एवं सगुण-साकार-सविशेष भगवान् श्रीकृष्ण के प्रेम-रस में भी वे पूर्णतया पगे हुए थे ही ।

इन श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार पर ऐसी विलक्षण भगवत्कृपा थी कि उन्हें उन भगवान् श्रीकृष्ण के मात्र दर्शन ही नहीं, उनकी सहज-सुलभ प्राप्ति थी, जो भगवान् सच्चिन्मय निर्गुण-निराकार-निर्विशेष ब्रह्म की, अविनाशी नित्य तत्व-ज्ञान रूप मुक्ति की, साथ ही भक्तिरूपी परम धर्म की और प्रेमरसमय परमानन्द रूप एकान्तिक सुख की प्रतिष्ठा, अपने को गीतोपनिषत् में कहते हैं।

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ।।
(गीता- १४/२७)

ये श्रीकृष्ण जो श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार के परम प्रेमास्पद प्रियतम एवं जीवन-सर्वस्व थे, वे श्रीमद्भागवत में वर्णित निर्विशेष अखण्ड चित्सत्तामात्र ब्रह्म को अपनी महिमा बताते हैं ।

मदीयं महिमानं च परं ब्रह्मेति शब्दितम् ।।

'मेरी महिमा ही परब्रह्म शब्द से कही जाती है ।'

ये त्रिगुणातीत वृन्दावनेश्वर जो भाईजी श्रीपोद्दार महाराज को प्राप्त थे, इतने महिमा समन्वित थे कि पद्मपुराण में उनकी नखचन्द्र की ज्योति को 'ब्रह्म' बताया गया है ।

ये दो वृक्ष जो तोरण बने हुए थे, इनमे एक तोरण द्वार पर तो सारथी युक्त रथ का चिह्न चिह्नित था, अर्थात् रथ पर बैठे अर्जुन नें अपने सारथी श्रीकृष्ण से जो गीता ज्ञान सुना है- वह वृक्ष उस ज्ञान को पूरा आत्मसात् किए हुआ था ।

श्री जयदयालजी गोयनका गीता के तत्व-रहस्य को पूर्णतया हृदयंगम करने वाले, साथ ही उस तत्व को अक्षरश: अपने जीवन में उतरा हुआ देखने वाले महात्मा थे ।

दूसरे तोरण बने वृक्ष पर शुक मुनि अंकित थे । अर्थात् ये श्रीहनुमान प्रसादजी पोद्दार श्रीशुकदेव मुनि द्वारा वार्षित श्रीमद्भागवत शास्त्र के हृदय रूप रस-रास को, परम प्रेमतत्व को अपना जीवन बनाये हुए थे ।

यद्यपि ये दोनों महान् विभूतियाँ भिन्न-भिन्न साधनाओं के प्रचारक थे, एक के हृदय में विश्व का दृश्य था और वे विश्व-कल्याण की अदम्य भावना से लोक-संग्रही थे और दूसरे तूर्य प्रेमरस में आपातत: पगे-डूबे थे । दूसरे के सम्मुख तो विश्व था ही नहीं, विश्व के स्थान पर हाथ में मुरली-विधृत नवनीरदवर्ण पीताम्बरधारी ललित-तृभंग श्रीकृष्ण साक्षात् मुसका रहे थे । जब विश्व दिखे तब न विश्व का कल्याण हो, जहाँ विश्व विलुप्त हो जाय, ऊँट के सींग की तरह और जिसके हृदय को परम प्रियतम अपनी मुनिमन-मोहनी, स्वमन-मोहिनी मुसकान से आठों प्रहर अखण्ड-अविराम उद्भासित कर रहे हों, वहाँ कौन लोक और किसका कल्याण हो । जिसको वृन्दावनचारी, गोपीजन- चितचोर के चरणारविन्दमकरन्द की सुगन्ध सूँघने को नहीं मिली, वही तो चमड़ी, मांस, रुधिर अथवा मन-बुद्धि-चित्त अहंकार से भरे विश्व को उसके कल्याण को सूँघता फिरेगा । जिसके नयनों में, मन में **"बर्हापीडं नटवर वपु: कर्णयो: कर्णिकारं"** बस गया है वहाँ जगत कहाँ घुस सकता है ।

यदि वहाँ जगत प्रपंच कभी क्षणांश के लिये घुसने का साहस भी कर बैठे तो बिना मारे मर जाता है । वहाँ लोक-संग्रह, लोकोद्धार भला कैसे संभव हो पावे । अत: दोनों भिन्न-भिन्न रुचियों के थे । फिर भी ऐसा भगवद्विधान था कि ये दोनो वृक्ष जो तोरण बने हुए थे, एक भावमय वल्ली से जो दोनों तरुओं से लिपटी थी, जुड़े हुए थे । अर्थात् 'कल्याण' पत्र एवं गीताप्रेस के कार्य से दोनों ही सन्त भगवत्प्रेरणा से जुड़े हुए थे । यह भावमय वल्ली (गीता एवं सद्ग्रन्थ प्रचार की भावना) की एक टहनी पर वह पोद्दार महाराज का शरीर रूप पिंजरा झूल रहा था । मैं विहँगी इस पोद्दार महाराज के शरीर रूप पिंजरे के भीतर पत्तों से सटकर बैठी थी । मैं तुम नीलसुन्दर, मेरे प्राणधन को अपने हृदय में धारण किये थी और विशुद्ध प्रीति के रसमय रागों में अपने मन को बहला रही थी ।।१९-२०।।

कोई बाहर का पंछी जो सेठजी (गोयनकाजी) एवं भाईजी (श्रीपोद्दार महाराज) की प्रख्याति से इस विहगी का गायन भी सुन लेता तो एक बार उसकी सरल सच्ची त्यागपूर्ण रहनी से मुग्ध तो अवश्य होता, परन्तु उसका सच्चा प्रशंसक, दाद देने वाला नहीं बन पाता था । क्योंकि सिंहनी का दूध स्वर्ण-पात्र में ही टिक पाता है । दूसरे जो फुलेल चमेली के तेल से ही संतुष्ट हो जाय, वह इत्र का पारखी, उसे दाद देने वाला नहीं बन सकता । यद्यपि मैं विहगी सर्वजन प्रचलित राग केदारा, नट, मालकोश अथवा पीलू ही प्राय: गाती थी, कठिन राग नहीं गाती थी परन्तु फिर भी मेरे स्वर षड़ज, रिषभ आदि सब दूसरों से मेल नहीं खाते थे, बेमेल थे, दूसरे सन्तों से मिलते नहीं थे ।

हे प्रियतम ! तुम कभी-कभी खेल कर बैठते थे, खेल करना तुम्हारा अनादि स्वभाव जो ठहरा, सो पिंजरे को संचालित कर देते थे, वह पिंजरा झौंटा खाकर हिल जाता था, अर्थात् श्रीपोद्दार महाराज का अति विचित्र स्वभाव था, वे अकारण पू० गुरुदेव पर कभी-कभी बहुत कोधित हो उठते थे, सामंजस्य न कर पाने योग्य माँगें कर बैठते थे, कभी-कभी तो मैं उनके इस आत्मसंगोपनयुक्त व्यवहार का रहस्य समझकर सुखमत्त होती थी और कभी-कभी डर जाती थी कि इस पिंजड़े को यदि मैंने छोड़ दिया तो फिर मेरा क्या कैसा भविष्य होगा । परन्तु उस समय भी मेरी इस विशुद्ध प्रीति-रस की स्वर-लहरी का विराम कभी नहीं होता था ।

अब हे प्रियतम ! मैं तुम्हें वह रसीली गाथा सुनाती हूँ, सर्वप्रथम तुमने उस टहनी पर ही इस पिंजडे को सरकाया था और पूरब की ओर किया था। मैं सुखद दृश्य देखने लगी थी क्योंकि मेरे जो भावुकतामय सत् प्रयास थे उनका शुभ फलदान का समय आगया था ।

एक वैकुण्ठ (बाँकुडा) नाम की नगरी थी । वहाँ श्रीगोयन्दकाजी रूप एक ज्ञानी संत रहते थे । वे विदेह राजा जनक के सदृश ज्ञान की चतुर्थ भूमिका में सदा रहते थे । वे मर्यादा पुरुषोत्तम रघुकुलमणि भगवान रामचन्द्रजी के प्रेमी थे एवं स्वयं भी मर्यादापुरुषोत्तम राम की ही तरह आदर्श चरित्रों के भी थे । हे प्रियतम, उनको 'जय सीताराम' अथवा 'नारायण' नाम अधिक प्रिय था ।

उनके जीवन में भक्त-प्रवर तुलाधार वैष्य की भी छाया थी । वे हृदय से बहुत ही सरल थे, परन्तु संसार के व्यवहार में अतिशय दक्ष थे । जब मैं आकाशचारिणी थी तभी मैंने उनको देखा था । उनका पवित्र प्रवचन सुनकर मैं सदा प्रफुल्लित होती थी ।

वे सदा अपने हाथ पिंजरे (श्रीपोद्दारजी के शरीर) पर रखे रहते थे । अर्थात् उन्हें भी यह पोद्दार महाराज का शरीर बहुत ही प्यारा था । और हे प्रियतम, उधर मेरे प्राणसर्वस्व नीलमणि तुम भी अपने मृदुल कर कमल इस श्रीपोद्दारमहाराज (भाईजी) के शरीर पर रखे थे, परन्तु तुम्हारी कर-छाया तो परमगुप्त थी और श्रीसेठजी गोयनकाजी का इस पिंजरे पर हाथ रखना प्रकट था ।

श्रीगोयन्दकाजी इतने बड़े सच्चे ज्ञानी थे कि उनकी अहंता अपने शरीर पर ही नहीं थी, उनकी अहंता तो सर्वथा-सर्वांश में परब्रह्म परमात्मा में एक हो गयी थी, इसीलिये वे 'अहं ब्रह्मास्मि' के एक निष्ठ अखंड अनुभवकर्त्ता थे, वे भला इस पिंजरे श्रीपोद्दार महाराज (भाईजी) पर भला क्या मोह करते, क्या अपना मानते परन्तु उनकी मुझ विहगी से विनोद करने की यह एक विलक्षण युक्ति भर थी ।२६।

इसके पश्चात् जो घटनाएँ सुरसरिता, गंगा तट पर हुईं अथवा रवितनय तपोवन में घटित हुई, वे सब इससे (श्रीपोद्दार महाराज (पिंजड़े) से) जुड़ने के पहले की हैं । परन्तु यदि मैं उन्हें कहना प्रारम्भ कर दूँ तो यह कथा बहुत ही लम्बी हो जायेगी और यहाँ इस कथा के ऐसे सुनने वाले भी नहीं हैं,

जिनमें इस कथा को सुनने का प्रेम हो और जो सुनकर सजल नेत्र हो उठें । इसलिये इस कथा को यहीं छोड़ दी है ।।२७।।

मेरी इच्छा इतनी ही थी कि सोलह गीतों में से श्री राधारानी के वचन रूप मात्र आठ गीत लेकर गा जाऊँ परन्तु जब यहाँ ऐसी ही लीला हो रही है तो यही उचित लगता है कि कुछ दिन और देखूँ कि कैसे क्या होता है । हे प्रियतम ! तुम तो सदा हँसते ही हो तो फिर मैं भी तुम्हारी रुचि में अपनी रुचि मिलाकर क्यों नहीं हँसूँ ।

अप्राकृतमन

(श्री द्वारकादास जी की कथा)(अ)

भगवान श्रीकृष्ण का रूप, उनकी आकृति, उनकी वाणी, उनके अंगों की गंध माया के कार्य पंचमहाभूतों से निर्मित सर्वथा नहीं हैं । वे सर्वथा अप्राकृत हैं । यदि वे प्राकृत होते तो मायातीत, गुणातीत, आत्माराम मुनिगण, भगवान् के सौन्दर्य, उनकी अंग गन्ध एवं उनकी चरणधूलि के लिये लालायित नहीं होते । प०पू० पोद्दार महाराज द्वारा चरण स्पर्श करके किये हुए शक्तिपात ने पू० गुरुदेव का मन, नेत्र, कर्ण एवं बुद्धि सब अप्राकृत कर दी थी । इसलिये पू० गुरुदेव अपने प्रियतम की रुचि के प्रतिबिम्ब ही बन गये थे । अप्राकृत तत्व की बात श्री पोद्दार महाराज “श्रीराधाजी कौन थी” नामक लेख में विस्तार से बता चुके हैं । पू० गुरुदेव तो स्पष्ट एक सन्त की कहानी ही सुनाया करते थे, जिनके शरीर में अप्राकृत मन उतर आया था । पू० गुरुदेव कहा करते थे कि भगवान् का अप्राकृत रूप अक्षय है । वह चिन्मय और सर्व प्रभावकारी है। उस अप्राकृत मन एवं वाणी का प्रभाव हिंस्र जीवों पर भी होता है । पू० गुरुदेव एक संत श्रीद्वारकादासजी की कथा सुनाया करते थे । उन दिनों हरिद्वार में घोर जंगल था और ये सन्त गंगा के किनारे पत्थरों पर पड़े रहा करते थे । वे सन्त गंगाजी में नहाते नहीं थे, फिर भी उनके पसीने में दुर्गन्ध नहीं होती थी । एक बार जंगल में जहाँ वे रहते थे एक बहेलिये ने पक्षियों को फँसाने के लिये जाल बिछाया । वह बहेलिया जंगल के पक्षियों को पकड़कर बेचा करता था । जाल बिछाकर उसने बहुत से पक्षी पकड़ लिये और उन्हें बेचने ले गया । ये सन्त बहुत दुखी हुए । अब उन्होने पक्षियों को

पढ़ाना-सिखाना प्रारम्भ किया । ये अपने अप्राकृत मन के प्रभाव से शुक, सारिका, वन-कपोत, वन-मयूरादि पक्षियों को बुला लेते।

सैकड़ों पक्षी सन्त द्वारकादासजी को घेर कर बैठ जाते थे। अब वे उन्हें बच्चों की तरह पाठशाला लगाकर पढ़ाते । वे सबको सिखाते । पहला पाठ था "बहेलिया आयेगा, बहेलिया आयेगा । दूसरा पाठ था - "जाल बिछायेगा - जाल बिछायेगा" उनका शिक्षण इतना सटीक था कि शुक, सारिकायें, मयूर अपनी वाणी में सर्वत्र जंगल में बोलने लग गये । उनका तीसरा पाठ था - "दाना डालेगा, दाना डालेगा ।"

चौथा पाठ था - "हम नहीं फँसेंगे, हम नहीं फँसेंगे ।"

जब दूसरी बार बहेलिया आया तो वह आश्चर्य-चकित हो गया । सभी पक्षी बहेलिया को देखते ही जोर से बोल उठे - बहेलिया आयेगा, बहेलिया आयेगा - फिर दूसरी बोली वे बोले - जाल बिछायेगा, जाल बिछायेगा - फिर तीसरा पाठ सभी पक्षियों न उच्चारित किया - दाना डालेगा, दाना डालेगा और तब वे सभी चौथा पाठ बोले - हम नहीं फँसेंगे । हम नहीं फँसेंगे ।

बहेलिया उन पक्षियों की बोली से इतना प्रभावित हो उठा कि सन्त महाराज को प्रणाम कर उस वन से बिना पक्षी पकड़े चला गया ।

पू० गुरुदेव इन्हीं सन्त की आगे की बात कहते थे । एक बार एक अंग्रेज ने वहाँ के जंगल में जहाँ ये सन्त द्वारकादासजी रहा करते थे, एक बाघ का शिकार कर दिया । शेरनी अपने नर के मारे जाने से बहुत दुखी हो गयी । वह इतनी प्रतिशोध से भर गयी कि किसी भी अंग्रेज गोरे को जंगल में देखते ही मारकर खा जाती । उन दिनों गोरे अंग्रेज जंगल में लकड़ी की ठेकेदारी का व्यापार करते थे ।

उनका आवागमन तो रहता ही था । शेरनी ने जब पाँच गोरी चमड़ी वालों का भक्षण कर लिया तो हाहाकार हो गया । एक अंग्रेज जो नामी शिकारी था, उस शेरनी को मारने को उद्यत हुआ । इधर तो वह अंग्रेज शेरनी को मारने को दाव-पेंच जोड़ रहा था, उधर शेरनी भी उसकी घात में थी । अंग्रेज उसे ढूँढने को ज्यों ही घोर जंगल में प्रवेश हुआ, पीछे से उस शेरनी ने झपट्टा मारा । परन्तु सन्त द्वारकादासजी दोनों के बीच में आ गये। द्वारकादासजी ने शेरनी का सीधे कान पकड़ा और उसे उपदेश देने लगे- "क्रोध थूक दे - सभी गोरी चमड़ीवाले हत्यारे नहीं होते । अब आगे से किसी भी अंग्रेज को मत मारना ।" वह अंग्रेज यह दृष्य देखकर चमत्कृत था।

उन्होने उस शिकारी को भी मना कर दिया कि आगे से यह शेरनी किसी भी अंग्रेज को नहीं मारेगी, तू भी इसका शिकार मत करना । वह शेरनी उस अंग्रेज के सामने ही महात्माजी की एक या दो परिक्रमा करके चली गयी ।

पू० गुरुदेव के अप्राकृत मन का लेखक द्वारा स्वयं अनुभव

पू० गुरुदेव का स्वयं का मन कैसा अप्राकृत था, इसका उदाहरण तो लेखक ने स्वयं देखा है । एक दिन पू० गुरुदेव जिस उपवन में दुपहरी में लेटते थे, उस उपवन में घोर किरायत (किंग कोबरा) सर्प निकला । उस सर्प के काटे जाने पर फिर प्राण बचाना असंभव होता है । अत: जैसे ही ग्रामीणों को, अथवा जनसमुदाय को इस सर्प की गंध भी मिलती है, इसे मारे बिना कोई नहीं छोड़ता । पू० गुरुदेव की दृष्टि इस सर्प पर ज्यों ही पड़ी, वह फन उठाकर खड़ा हो गया । पू० गुरुदेव इस महाविषैले सर्प की ओर थोड़ी देर प्यार भरी नजर से देखते रहे फिर उससे बोलने लगे - "हे प्रभो । आप अपने स्वरूप को भूले हुए हैं, परन्तु मैं तो आपको ठीक-ठीक सत्य पहचान रहा हूँ। प्रभो ! आप यह फूँ-फूँ करना छोड़ दीजिये । देखिये ! ज्योंही आपकी उपस्थिति की भनक यहाँ के मालियों को, नौकरों को मिली नहीं कि वे आपकी यह सारी अहंकार की फूँ-फूँ (हिकड़ी) डंडों की मार से शान्त कर देंगे। अत: मैं आपकी निर्मम मरणान्तक पीड़ा को बचाने के लिये प्रार्थना कर रहा हूँ। मैं आपको यह रेखा खींचकर राह दिखा रहा हूँ - आप इस राह पर यदि चले चलेंगे तो आपका जीवन पूर्णतया सुरक्षित रहेगा और आपका बाल भी अभी तो बाँका नहीं होगा ।

यह कहकर पू० गुरुदेव उस कुण्डली मारे फन उठाये काले नाग के सम्मुख निर्भय चले गये । उन्होने एक लकडी से रेखा खींचनी प्रारंभ की और साँप देवता सर्वथा जैसे पालतू हों, चुपचाप पू० गुरुदेव के द्वारा खैंची रेखा के ऊपर चलते-चलते घोर जंगल में विलीन हो गये । यह घोर किरायत सर्प जो पास आये व्यक्ति को प्राय: उछलकर काटता है, एवं जो फन पटक-पटक कर अपना क्रोध व्यक्त कर रहा था उसका इस प्रकार अनुगत होकर पू० गुरुदेव के पीछे खींची रेखा पर अनुसरण करना एक चमत्कारिक घटना थी । और हम सभी ने सामूहिक रूप से इसका दर्शन किया है ।

तो कहने का इतना ही प्रयोजन है कि पू० गुरुदेव में पू० पोद्दार महाराज के द्वारा अप्राकृत तत्वावतरण किया गया । मैने (लेखक) तो पू० गुरुदेव के पहने वस्त्रों को भी अनेक बार इस आशा से सूँघा है कि ग्रीष्म ऋतु में पू० गुरुदेव के पसीने, (स्वेद) से भीगे वस्त्रों में भी दुर्गन्ध आती है या नहीं ? मुझे आश्चर्य होता था कि उनके वस्त्रों में अति दिव्य सुगन्ध व्याप्त रहती थी ।

पू० गुरुदेव स्पष्ट-स्पष्ट कहा करते थे कि श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार महाराज के पांचभौतिक ढाँचे के भीतर अब कोई भी अन्य अहंकार का धर्मी नहीं है, वहाँ सर्वथा एक ओर से दूसरी ओर तक दिव्य वृन्दावन राज्य ही है और श्री राधाकृष्ण का नित्यविहार है ।

एक दिवस जब पू० गुरुदेव यह बात मेरे मामाजी की उपस्थिति में मुझसे एवं अन्य व्यक्तियों को कह रहे थे तब मैंने उनसे निस्संकोच पूछ लिया - "बाबा ! आपके भीतर भी तो साक्षात् राधारानी ही कियाशील हैं" तो उन्होने स्पष्टतया स्वीकार किया । अपने पिछले दिनों में तो वे निस्संकोच सबके सम्मुख ही अपने को 'राधा' ही कहा करते थे । यह तो सर्व विदित तथ्य है।

अन्तर्दशा का चित्र

नियम हुतौ गुनदेह में महाभाव नहिं हौन ।
मेरे हित पिय साँवरो सोऊ कीन्हौ गौन ।।

यह नियम है कि सत्व, रज, तम, मय त्रिगुणात्मक शरीर में महाभावात्मक चिन्मयस्थिति का अवतरण नहीं होता, परन्तु उन प्रियतम साँवर ने अपना नियम पू० गुरुदेव के लिये बदल दिया । प्रियतम श्यामसुन्दर ने वह कर दिखा दिया जिसे जगत् में असंभव माना जाता है । इतना ही नहीं प्रियतम प्राणवल्लभने पू० गुरुदेव के हाथों अपने स्वयं को सौंप दिया । यह पू० गुरुदेव के प्रति उनके प्यार की पराकाष्ठा थी । पू० गुरुदेव के हाथों में श्रीकृष्ण ने अपने को इतना अधिक सौंप दिया था कि वे भले उनका चाहे जैसे उपयोग करें, परन्तु पू० गुरुदेव ने अपने इस अधिकार का कभी भी दुरुपयोग नहीं किया ।

पू० गुरुदेव का वैचारिक दृष्टि से यह संक्रमण काल था । अद्वैत-सिद्धान्त की कट्टरता तो सर्वथा विदा ले ही चुकी थी । भगवान् की अहैतुकी कृपा पर

आस्था मन में हिलोरें ले रही थी । श्रीपोद्दार महाराज से प्रथम मिलन में ही पू० गुरुदेव को सगुण-साकार भगवान् मुरलीमनोहर के तो दर्शन हो ही चुके थे । परन्तु किसी के दर्शन हो जाने मात्र से उस पर पूर्णतया विश्वास नहीं जमता है । इन दिनों पू० गुरुदेव के हृदय में भगवान् के अकारण सौहार्द पर अनोखा विश्वास जगा । यह विश्वास पू० गुरुदेव के रोम-रोम में पूर्णतया समा गया । उनके मन में यह आस्था दृढ़ से दृढ़तर, दृढ़तम होती गयी कि भगवान् उनके लिये असंभव को भी संभव कर देंगे ।

यह विश्वास ही पू० गुरुदेव के चित्त में अगाध भगवत्प्रेम के रूप में परिणत हो गया । पू० गुरुदेव पुरुष थे, परन्तु उनका भावदेह स्त्री का हो गया था । पू० गुरुदेव अपने भावदेह से श्रीकृष्ण के निगूढ़ प्रेमपात्र बन गये थे। अपने प्राणवल्लभ श्रीकृष्ण के उन्हें निरन्तर दर्शन होते थे । उनके दर्शनों और प्रेम ने उनके जीवन का रूप ही बदल दिया था ।

वास्तव में कृपा का मार्ग सबसे सरल पथ है । कृपाश्रित का मार्ग इतनी शीघ्रतापूर्वक और इतनी सुगमता से तय होता है, मानो राकेट में बैठाकर उसे तुरन्त मंजिल पर पहुँचा दिया जावे । अपने पैरों से चलकर के उत्तुंग गिरिश्रृंगों को पार करना अति कठिन हैं, पर राकेट में बैठा हुआ व्यक्ति देखते ही देखते अत्यल्प समय में गिरिशिखर को पार कर जाता है । कृपाश्रित सर्वथा प्रभु पर निर्भर होता है । पू० गुरुदेव के जीवन के लक्ष्य थे, एक मात्र नीलसुन्दर । नीलसुन्दर के अतिरिक्त उनके जीवन में किसी अन्य को स्थान ही नहीं था । पू० गुरुदेव के श्रवणपुटों में उनके प्रियतम नीलसुन्दर ने अपनी मनोहारिणी गिरा भर दी थी, और उनके अधरों से निस्सृत स्वरों की भक्ति से उनका भावदेह बहुत ही कठिनाईपूर्वक अन्य कुछ सुन पाता था । वास्तव में जगत् के स्वरों के लिये उनके कान बहरे हो चुके थे ।

भगवान् श्रीकृष्ण कदम्ब-वृक्ष सहित अर्थात् चिन्मय वृन्दावन सहित उनके हृदय में नित्य विराजित थे । अत: उनके हृदय में प्रियतम नीलसुन्दर का संस्पर्श सतत समाया रहता था । उनके अंग-अंग में सदा एक अभिनव विलक्षण आनन्द छलकता रहता था ।

बात यह है कि एक स्थिति होती है महासत्व की, विशुद्ध सत्व की । इस स्थिति की मनीषियों ने केवल कल्पना ही नहीं की है, अपितु उस स्थिति का साक्षात्कार भी किया है । कितनी ही साधना की जाय और साधना के फलस्वरूप सतोगुण कितना ही प्रवृद्ध क्यों न हो जाये, परन्तु उस सतोगुण में

भी, भले किञ्चदंश में ही सही, रजोगुण-तमोगुण का सम्मिश्रण तो रहता ही है । तमोगुण-सतोगुण-रजोगुण तो प्रकृति के राज्य की वस्तु हैं किन्तु महासत्व तो त्रिगुण से परे, प्रकृति-राज्य से परे की स्थिति है । पू० गुरुदेव उन दिनों पू० पोद्दार महाराज की कृपा से महासत्व में, विशुद्ध सत्व में डूबे थे। वे अपने आन्तरिक भगवद् मिलनानन्द के सुख को व्यक्त नहीं कर सकते थे । वे अपने प्रियतम के परमसुखद मादक संस्पर्श का व्यवधान रहित अखण्ड अनुभव करते और मूकास्वादनवत् अस्वाद लेते रहते थे । महासत्व जिसे विशुद्ध सत्व भी कहा जाता है,. उसमें निमज्जित मन फिर प्राकृत मन नहीं रह जाता है। वह मन विलीन हो जाता है रसराज वृजेन्द्रनन्दन में ।

अत: वृजेन्द्रनन्दन की अनिन्द्य सुन्दर रूपराशि में उनके नेत्र सदा डूबे रहते थे । नयनों की काली पुतलियों में एक मात्र वे ही वे अहर्निश भरे रहते थे । उस त्रिभुवनमोहन रूप ने पू० गुरुदेव की बुद्धि का अध्यवसाय, भी निमज्जित कर दिया था । एक अभिनव महारस-समुद्र में सब कुछ डूब गया था ।

कहाँ गयी उनकी वह ब्रह्मज्ञानी अहंता । कहीं अनुसंधान ही नहीं था उसका । उसके स्थान पर सर्वत्र सतत् विराजित थे, मात्र विश्व-विमोहन, व्रजजन-जीवन श्रीकृष्ण ।

(गीता कार्य एवं रस भावना जन्य विक्षेप)

पू० गुरुदेव की महारसमयी अन्तर्दशा को बाहर से तो कोई जान नहीं पाता था । श्रीजयदयालजी गोयन्दका, धर्मोद्धारक, सत्संग-प्रचारक, गीता-वक्ता, औपनिषद् तत्व-रहस्य के ज्ञाता थे, निष्काम-कर्मयोग की जीवन्त सचल प्रतिमा थे, परन्तु वे पू० गुरुदेव की एकान्तिक निरीह-प्रीति के पारखी सर्वथा नहीं थे। उन दिनों पू० गुरुदेव को श्रीसेठजी के साथ श्रीगीता तत्व-विवेचनी, गीता की टीका के कार्य में लगा रहना पड़ता था । पू० गुरुदेव गीता के विख्यात टीकाकारों की टीकायें जो प्राय: सभी देवभाषा संस्कृत में ही थीं, उनका हिन्दी अनुवाद करके श्रीसेठजी गोयनकाजी एवं उनकी सलाहकार मंडली के सम्मुख रख देते थे। इसके पश्चात् वे लोग निर्णय करते थे कि किस टीकाकार का कौनसा पक्ष उनकी दृष्टि में सर्वोत्तम अर्थ को प्रकाशित कर रहा है । अन्तिम निर्णय श्रीगोयनकाजी के विचारों से ही होता था ।

जब यह मंडली गंभीर दर्शनशास्त्र के पक्ष-प्रतिपक्ष पर विचार कर रही होती और पूरी उलझी हुई होती, उस समय रसघन मूर्ति श्रीकृष्ण, पू० गुरुदेव के सम्मुख आ जाते । अपने प्राणसार सर्वस्व जीवनधन को सम्मुख खड़ा देखकर पू० गुरुदेव हर्ष स्तंभित हो जाते । प्रेमिल चातक नवघनश्याम जलधर को उमड़ा हुआ देखकर आनन्द से निमग्न हो जाता । उनके भाग में जो कार्य होता वह तो वे अग्रिम ही आगे के अनेक श्लोकों का कर चुके होते, अतः वे पूर्ण संलग्न-चित्त उस अनिंद्य रूपसुधा का पान करने लगते । उमड़े नवघन मेघ से चतुर्दिक घिरा चातक भला चुप, शान्त कैसे रह पाता । यह कोई अखण्ड-शान्त, केवल-शान्त, अनन्त-शान्त, विशुद्ध-शान्त, निर्विकल्प-शान्त, घन-शान्त, कूटस्थ-शान्त ब्रह्म तो था नहीं, जो उन्हें निश्चल, स्थिरासन कर देता । यह तो उच्छलित आनन्द था । निर्विकारता तो इसके पास से भी नहीं बहती थी । इसमें आठ सात्विक महाविकार पूरे छलछलाते थे। और विकार तो विकार ही होते हैं । जब विकार उत्पन्न होते हैं तो उनका परिणाम शरीर पर प्रकट होगा ही । उसे भला कैसे रोका जा सकता है ? अतः पू० गुरुदेव अपनी सुरीली तान में गा उठते । गीताप्रेस से ही सम्पादित सूरदास, नन्ददास, गोविन्दस्वामी, तुलसीदास, कबीर, मीरा आदि के पद छोटी पुस्तिकाओं के रूप में प्रकाशित हो चुके थे । इनमें से ही सुन्दर रसमय ये पद पू० गुरुदेव को कण्ठस्थ थे, अतः पू० गुरुदेव-रूप विहगी की सुरीली रसमय तान छिड़ जाती :-

मोहन मुखारविंद पर मन्मथ कोटि वारौं री माई ।
जहँ-जहँ अंगन दृष्टि परत तहँ-तहँ रहत लुभाई
अलक तिलक कुंडल कपोल छवि इक रसना मौपे बरनि न जाई
गोविन्द प्रभु की वानिक ऊपर बलि-बलि रसिक चूड़ामणि राई।

वृजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र की प्रेमार्चना सौन्दर्य की उपासना ही होती है। इसमें प्रधानता होती है आनन्द-रसतत्व की ।

अष्ट छाप के विख्यात कवि श्रीपरमानन्द स्वामी की उक्ति है कि श्रीराधा मुखरूपी पूर्ण चन्द्रमा को देखकर श्रीकृष्ण का आनन्द रूपी सिन्धु बढ़ने लगा तथा ब्रजवृन्दावन की ओर उमड़ चला । इस रसप्रवाह को एक ओर तो यमुनाजी ने आत्मसात् कर लिया, दूसरी ओर बृजांगनाएँ इसे आस्वादन कर

गयीं । इनसे जो कुछ थोड़ा बहुत छलक गया वह कुछ-कुछ त्रिभुवन में भी बिखर गया । यह रस-रसिकों के कण्ठ में अटक रहा है । रसिक जन रसानन्द की अधिकता के कारण उसे अपने अन्दर पचा नहीं पा रहे हैं और अधिकारी को नहीं पाकर उसे व्यक्त भी नहीं कर पा रहे हैं । हाँ, दो व्यक्ति तो इस रस से सर्वथा वंचित रह गये । एक तो वे जो साधना के अभिमानी कर्मकाण्डी थे, और दूसरे वे जिनको ज्ञानाभिमान था । कर्मी और ज्ञानी इस रस को (स्पर्श) छू भी नहीं सके।

तो उस रस का कणिकांश पू० गुरुदेव के हृदय में महारसिक श्रीपोद्दार महाराज ने बीजारोपित किया था । पू० गुरुदेव उस रसप्रवाह में क्षण-प्रतिक्षण उछल-उछलकर निमज्जित हो रहे थे । अब श्रीजयदयालजी गोयनका सेठजी की यह ज्ञानी मंडली उस रस को कैसे पहचाने ।

अपने भावदेह से मुकुन्द मधु-माधवी, कृष्णकान्ता शिरोमणि बने प० पू० गुरुदेव के नयनों की काली पुतरियों में निजभावद्युति-सुवलित-तनु श्रीकृष्ण रसराज का कैसा लोकातीत चिन्मयरूप प्रतिबिंबित हो रहा है और पू० गुरुदेव उसमें कैसे मस्त हो रहे हैं, यह प्रेम पाठशाला में प्रवेश ही नहीं पायी हुई मंडली भला कैसे जान पाती ।

हाँ, कहीं रसिकशेखर श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार महाराज इस मंडली में होते तो वे अवश्य अनुभव कर सकते थे कि कितनी गंभीर और सर्वथा-सर्वांश में स्वसंवेद्य विद्या है यह । साथ ही कितना अभिनव आकर्षण है इसमें ।

श्रीगोयन्दकाजी की "नहिं परस्यौ कर्मठ अरु ज्ञानी" मंडली प० पू० गुरुदेव के गायन पर झुंझला जाती । शास्त्रों एवं वेदान्त के गंभीर अर्थविचार में रत इन सभी को पू० गुरुदेव का गायन हलका-फुलका, चपल बालवत् स्वभाव प्रतीत होता । वे सभी मन ही मन अति क्षुब्ध हो जाते । पू० गुरुदेव उनकी झुंझलाहट का मन ही मन यही उत्तर देते - "भाईयों ! आप सभी अत्यंत बुद्धिमान हो सकते हो । ज्ञान-गरिमा के आलोक में आप लोगों ने व्रजकुल चन्द्रमा श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में क्या अवधारणायें कर रखी हैं, इसे आप लोग ही जानें । मैं सत्य-सत्य शपथपूर्वक कहता हूँ, एक बार मेरी बात मानकर सारे ज्ञानाग्रहों, तत्वों की उधेड़बुन को परे करके इस गीतावक्ता के नीलमणि एवं सरसिजवत् श्रीअंगों को देख तो लो । अहा ! इस रस-समुद्र के श्रीअंगों से विविध मनोहारी रंगों की कैसी दिव्यज्योति सर्वत्र विकसित हो रही है, कैसी चिन्मय अलौकिक रससुधा का सर्वत्र संचार कर रही है यह । इसे

निरवधि निहारते रहने पर भी क्या नयन तृप्त हो सकते हैं ? कदापि नहीं । बस, एक बार इन नयनों को इस रूप की एक हलकी सी भी झाँकी हो गयी तो नेत्र नित्य तरसते ही रहेंगे, पुन: पुन: दर्शन के लिये, क्षण-क्षण व्याकुल होकर तड़पते रहेंगे निरन्तर देखने के लिये।"

"हाय ! हत भाग्य !! आप सभी को उनकी छटा के दर्शन हुए नहीं, यदि तनिक सी भी झलक मिल जाती तो - फिर तो क्षण भर भी उस बंकिम छटा को देखे बिना आप सब नहीं रह पाते । फिर तो मेरी ही तरह गाते, प्रलाप करते फिरते ।"

पू० गुरुदेव उस मंडली का जानकर तो स्वाद बिगाड़ना चाहते नहीं थे । वे तो यही अनुभव करते थे कि अनादि अवतारी शेषशायी भगवान् नारायण ही श्रीजयदयाल गोयनका के पार्थिव देह को यंत्र बनाकर जगत् का अशेष हित, कल्याण करने के लिये इस भगवद्गीता की टीका का कार्य कर रहे हैं । उनकी मंडली भी शुद्धान्त:करणसम्पन्न, पूर्ण चरित्रवान् भगवद् पार्षदों की ही टोली है । ये सभी उच्च-कोटि के संयमी, तत्वनिष्ठ, साधु हृदय हैं । अत: वे उनके गंभीर विचार-मंथन में विक्षेप प्रस्तुत करना कदापि नहीं चाहते थे । वे अपने प्राणवल्लभ से प्रार्थना करते -

मुरहर रन्धन समये मा कुरु मुरली रव मधुरम् ।
नीर समेधो रसतां कृशानुरप्येति कृशतरताम् ।।

"हे मुरारे ! मेरे रसोई बनाते समय तो कृपा करके अपनी मुरली की मधुर तान मत छेड़ा करो, क्योंकि उस ध्वनि के आते ही मेरी सूखी लकड़ियाँ हरी हो जाती हैं, और मेरी रसोई ही नहीं बन पाती ।" पू० गुरुदेव का भाव यही होता कि दयाकर इस शास्त्रार्थ के समय तो अपनी मादक छटा मत दिखाया करो, जिससे मेरी मन-बुद्धि बहक जाय और मैं अवश इनके परम गंभीर शास्त्र-विवेचन के कार्य में विक्षेप करता हुआ गायन कर बैठूँ ।"

परन्तु श्रीकृष्ण तो "परम-स्वतंत्र न सिर पर कोऊ" उनकी बात मानें ही - ऐसा आवश्यक तो था नहीं ।

एक दिवस यह मंडली **"मत्त: परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनंजय"** श्लोक के गूढ़ विचार-मंथन में उलझी हुई थी । पू० गुरुदेव दत्तचित्त थे अपने नीलसुन्दर में । उनकी भावधारा बह रही थी अपने भाव राज्य में ।

बस, वे पीलू राग में गुन-गुना उठे । पीलू राग उन्हें वैसा ही अधिकतम प्रिय था जैसा नरसीभगत को केदारा राग । पू० गुरुदेव का कण्ठ अतिशय मधुर था । उनकी स्वरलहरी उन गंभीर विचारकों को विक्षेप कर ही बैठी ।

बिनु देखे मन मान न मेरो ।
श्याम बरन मन हरन लाड़िलो, रूप सुधानिधि जगत उजेरो ।
चाल मराल मनोहर बोलनि, नैकुचितै मोतन हँसि हेरो ।
नारायण सब जग को ठाकुर, श्रीवृषभानु किसोरी को चेरो ।

उस दिवस पू० गुरुदेव अपने भाव-संसार में देह-ज्ञान विस्मृत हुए इस प्रकार मस्त होकर गा रहे थे कि यह मंडली स्तब्ध होकर सुनने लगी । फिर श्रीहरिकृष्णदासजी गोयन्दका एकदम नाराज हो उठे । उन्होने श्रीसेठजी जयदयालजी से जो उनके बड़े भाई थे कहा - "काम बन्द कर दीजिए और बस, इन स्वामीजी का गायन ही सुना करिये ।"

इधर श्रीहरिकृष्णदासजी क्रुद्ध हो रहे थे और उधर पू० गुरुदेव के सम्मुख उनके श्रीकृष्ण की मानस-मूर्त्ति भी अपने नेत्रों में किञ्चित् रोष जनित लालिमा प्रकट कर रही थी । पू० गुरुदेव ने उसी क्षण अपनी आन देकर श्रीकृष्ण को शान्त किया । अन्यथा श्रीहरिकृष्णदासजी को उनके क्रोध का दंड मिल ही जाता और पू० गुरुदेव का भाव-गायन एक अप्रिय प्रसंग का हेतु बन जाता ।

इतने में ही पू० पोद्दार महाराज न जाने कैसे उस मंडली के मध्य आ गये । उन्होंने पू० गुरुदेव को समझाया कि वे टीका कार्य सम्पन्न करने के पश्चात् नाम-जप किया करें । और पू० गुरुदेव का नाम-जप प्रारम्भ हो गया।

पू० गुरुदेव ने अपने प्रियतम काव्य में कहा है -

"उनका था वह संसार अलग वे थे भूले उसमें प्रियतम ।
है कौन यहाँ बाला बसती वे क्या कैसे जानें प्रियतम ।।

श्रीपोद्दार महाराज (भाईजी) अवश्य ही पू० गुरुदेव के हृदयगत भावों के पारखी थे, परन्तु वे विवश थे । उन्होने ही पू० गुरुदेव के ब्रह्ममहल में आग लगायी थी और जब वह पूर्ण ध्वस्त हो चुका था और उसके ध्वंसावशेष में

जब प्रीतिबेलि लग रही थी तो वे उसके सुरभित पुष्पों की गन्ध सूँघने तथा मकरन्द का आस्वादन करने वाले भ्रमर के समान पू० गुरुदेव को कभी-कभी टटोलते थे परन्तु रहते थे, सर्वथा अनजाने, अनभिज्ञवत् सर्वथा तटस्थ ।

गीताप्रेस के कमरे में विलक्षण दर्शन

जो हो, फिर परिच्छेद मधुमय आया जिसमें तुमने प्रियतम !
माया भी रची चित्रपट के होंठों की ओर लिये प्रियतम !
'प्रगट्यो ग्वालिनी नेह पूरन' पद का अन्तस्तल में प्रियतम !
नयनों में और अहंता में था राग लगा छिड़ने प्रियतम !

(चौपाये का अर्थ)

जो हो फिर हे प्रियतम ! वह मधुमय परिच्छेद आया जिसमें तुमने चित्रपट के होठों की ओट लेकर मेरे नयनों में और अहंता में, साथ ही ग्वालिनी पूरण प्रकट्यो नेह पद की लीला का मेरे अन्तस्तल में राग छेड़ना प्रारम्भ कर दिया ।

सन् १९३७ ई० की घटना है । श्रीसेठजी जयदयालजी गोयन्दका के साथ पू० गुरुदेव गीताप्रेस में ठहरे थे । सेठजी ने पू० गुरुदेव को जिस कमरे में ठहराया था, वह वही कमरा था जिसमें श्रीपोद्दार महाराज की पुत्री सावित्रीबाई का जन्म हुआ था । आसन पर बैठे पू० गुरुदेव अपने उपास्य के चित्रपट का एकटक दर्शन कर रहे थे । यह चित्र यहाँ दिया गया है ।

चित्रपट का एकटक दर्शन करना पू० गुरुदेव का नित्य का नियम था। सहसा इस चित्रपट के होठों में चिन्मयता प्रकट होने लगी । होठों का अणु-अणु, कण-कण अलौकिक दिव्यता से परिपूर्ण हो गया । फिर यह चित्रपट ही जीवन्त हो गया इस चित्रपट के परिवर्तन के साथ ही दूसरा परिवर्तन पू० गुरुदेव के शरीर में हुआ ।

पू० गुरुदेव के अंगों-अंगों में विलक्षण कमनीयता का समावेश हो गया । वे चित्तहारी सुन्दर श्रृंगार से सुसज्जित हो उठे । उनका मुख पूर्ण विकसित अरविन्द के सदृश शोभा पा रहा था । सौरभ का पुञ्ज पू० गुरुदेव के अणु-अणु से स्फुटित हो रहा था । उनके प्रफुल्ल मुखसरोज में अभिनव अमृत

के सदृश मधुर-मधु परिपूरित था । उनके इस प्रफुल्लित मुख सरसिज का दर्शन कर रहे थे चिन्मय वपु वनमाली पू० गुरुदेव के प्राणांराम । प्रियतम के लोचन चंचरीक पू० गुरुदेव के आनन-सरोज पर मतवाले थे । न जाने कितने युगों-युगों से मानो वे चरम उत्कण्ठा लेकर इस मुख-सरोज के मधुपान में ही अविराम संलग्न रहे हों । फिर भी इनकी मधुपान लालसा प्रतिक्षण बढ़ती ही जा रही थी । ये मधु-लोलुप मानो क्षणभर के लिये भी तृप्त होना जानते ही नहीं थे । अपितु यह उनकी मधुपान की लालसा क्षण-प्रतिक्षण बढ़ती ही जा रही थी ।

उनके (पू० गुरुदेव के) आनन-सरोज पर मँडराते नेत्र मानो अति प्रीति भरी मूक वाणी बोल रहे थे :- "हे रस-रास-विलासिनि ! मुझ त्रिभुवनमोहन के मन में भी निर्मलतम अलौकिक मोह का सृजन करने वाली !! मेरी प्राणेश्वरी !!! अनाविल सुख की सार स्वरूपिणि परमानन्द उत्सरूपे !!!!! प्राणेश्वरी, तुम ही मेरी एक मात्र जीवन की जीवन अवलंबनरूपा हो ।

पू० गुरुदेव की मुग्ध दृष्टि अपने प्रियतम के मुख पर गड़ गयी थी । अहा ! उनके बिम्ब विडम्बी अधर कितने मधुमय एवं सुधारस से भरपूर थे । उनके अरुणिम गोल कपोल कैसी विलक्षण कमनीयता का प्रकाश कर रहे थे । विविध दिव्य-रत्नों की ज्योति उद्भासित कर रही थी, उनके सुन्दर कर्ण कुण्डलों को । प्राणप्रियतम के आकर्ण विलम्बी, अत्यन्त चित्ताकर्षक नयनों में एक अभिनव मनोरम कौटिल्य नाच रहा था । कृष्ण कज्जल से अनुरञ्जित रहने पर भी इनके अन्तराल से एक अनुपम रसमयता, रसिकता, बार-बार निखर उठती थी । फिर नयन-सरोजों पर राजित बंकिम भ्रूविलास कोटि-कोटि कन्दर्पों के शर-संधान को भी हेय तुच्छ बना दे रहा था । काम शर से विद्ध तो कोई योगी, महर्षि, कदाचित् त्राण भी पा जाय, परन्तु इस भ्रकुटि विलास की गरिमा, इसकी सम्मोहिनी शक्ति से प्रतिहत कोई इन चरणों का निरवधि दास नहीं हो जाय, असंभव, सर्वथा असंभव था । पू० गुरुदेव के परम चंचल नेत्र स्थिर थे, अपने प्रियतम का मुख सौन्दर्य निहारते हुए। पू० गुरुदेव पूर्णतया निमग्न हो चुके थे, इस रूप-लावण्य के महावेगशाली प्रवाह में।

पू० गुरुदेव की परिणति परम सुन्दर किशोरी के रूप में हो गयी थी । आयु लगभग चौदह वर्ष कुछ माह की थी । पू० गुरुदेव के सारे अंग संस्थान बदल चुके थे । उन्हें सर्वथा विस्मृत हो गया कि वे सन्यासी हैं, अथवा पुरुष

देह हैं । आज तक जितनी कलाएँ सृष्ट हुई हैं, हुई थीं और आगे भी जिनके होने की संभावना हो सकती है, वे सभी कलायें मूर्तिमती होकर पू० गुरुदेव के भावदेह की शोभा बढ़ा रही थीं । सर्वगुणगणों के वे निधान थे ।

पू० गुरुदेव की भावदेह की परम मनोहारिणी, सुचिक्कण, कृष्ण मिलिन्द सदृश आभावाली कुञ्चित केशराशि, इस केशकलाप से निर्मित वेणी, इस वेणी में अतीव रमणीय सुरभित सुमनों का गुम्फन, कैसी अप्रतिम सुषमा का विस्तार कर रहा था, कोई क्या कहे । मणिमय चन्द्रिका की द्युति, मुखारविन्द की नित्य नूतन परिवर्धमान रूप-गरिमा - क्या इसे साक्षात् सरस्वती भी निर्व्चन करना चाहे तो कर सकेगी ? सर्वथा असंभव है । उतुंग वक्ष कंचुकी परिशोभित था, श्याम चूनरी से मस्तक आवृत था । चारु चिबुक, शंख सदृश सुघड़ कण्ठदेश और उसमें झूलते सुरम्य सुमनों के, मुक्तावलियों के, मणिश्रेणियों के, एवं वज्रखचित स्वर्ण के विविध हार थे । त्रिवली राजित लघु उदर, गंभीर नाभि, मेखला मण्डित अतिशय सुन्दर कृश कटिदेश, प्राणों का मंथन कर रहा था । अरुण कर, पद-पल्लवों पर मेंहदी की रचना परम सुललित थी ।

ऐसी श्रीकृष्ण-सुखजीवना, श्रीकृष्ण-प्राणा, श्रीकृष्ण-परिनिष्ठित-मति अपनी भावदेह और अपने प्रियतम श्रीकृष्ण में उठती प्रीति तरंगों का अनुभव करते हुए गुरुदेव न जाने कितने कालतक सर्वथा वेसुध बाह्यज्ञान शून्य पड़े रहे ।

पू० गुरुदेव के सामने जो दिव्यातिदिव्य दृश्य प्रकट हुआ उसे देखने के पश्चात् बहुत काल तक पू० गुरुदेव की विचित्र स्थिति रही । ऐसा लगता था मानों किसी ने उन्हें चार-पाँच बोतल शराब पिला दी हो । पू० गुरुदेव कहा करते थे कि जिस दिन गीताप्रेस के कमरे में वह दिव्य दर्शन मुझे हुआ, उस दिवस के पश्चात् फिर कभी मैं अपनी काया में रहकर भी अपनी काया में नहीं रहा । एक दिवस इस स्थिति को समझाने के लिये उन्होंने एक साँप की केंचुली मँगायी । वे उस केंचुली को दिखाकर समझा रहे थे । उस सत्संग में मेरे मामा पू० चिम्मनलालजी गोस्वामी भी थे । वे साँप की केचुंली में मुख, आँख आदि सभी चिन्ह दिखला रहे थे और कह रहे थे कि देखो, आकृति सर्वथा साँप की है, परन्तु यहाँ साँप नहीं है । इसी प्रकार भगवान् की प्राप्ति के पश्चात् जीव अपनी काया में रहता हुआ भी नहीं रहता। वह जीव काया में रहता है, इस अर्थ में कि जीव भगवान् में डूबकर भगवान् से एक हो जाता है और भगवान् उस देह में रहते हैं, अतः जीव भगवान के संबंध से रहता

भी है, और नहीं भी रहता इस अर्थ में क्योंकि वह तो सर्वथा भगवान् में जागा हुआ देह-ज्ञान को ही भूल चुका है। उसे अपने देह की नामरूप की आत्यंतिक विस्मृति हो जाती है, अत: वह देह में सर्वथा नहीं भी रहता । वह वही होकर भी वही नहीं रहता । जो सरोवर सरिता के आप्लावन के कारण सरिता में विलीन हो गया है, फिर उस सरोवर का रूप, संज्ञा, उसका जल का स्वाद, उसके जल की गंभीरता सब पहले वाली रह ही नहीं पाती । उसकी सब संज्ञा बदल जाती है ।

नाम जप का प्रारंभ

पू० पोद्दार महाराज के द्वारा कृपा किये जाने के पश्चात् एवं भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा पू० पोद्दार महाराज का माहात्म्य सुनने के पश्चात् पू० गुरुदेव जैसे ही उन्हें गीता की टीका के कार्य से अवकाश मिलता, पोद्दार महाराज के पास गीता वाटिका चले आया करते थे । श्रीसेठजी के पास तो और भी अनेक कार्य रहते थे अत: उनके दूसरे कार्य जब भी अधिक आवश्यक हो जाते थे, तब गीता कार्य स्थगित हो जाया करता था । उस दिवस पू० गुरुदेव श्रीसेठजी से पूछकर वाटिका चले आते थे ।

गीतावाटिका में उन दिनों बहुत ही उत्तम व्यक्तियों का समावेश था । स्वामी अखण्डानन्दजी सरस्वती महाराज तब श्रीशान्तनुबिहारी द्विवेदी के नाम से गीतावाटिका में ही रहते थे । श्रीसनातनदेवजी भी श्रीमुनिलाल के नाम से बहुत ही विद्वान एवं अच्छे साधक थे । श्रीद्विवेदी जी के साथ पू० गुरुदेव की बहुत ही आत्मीयता थी । वे पम्प चला-चलाकर पू० गुरुदेव को स्नान कराया करते थे । श्रीद्विवेदीजी श्रीमद्भागवत के मूर्धन्य विद्वान थे, और श्रीमद्भागवत की कथा कहा करते थे । एक दिवस पू० गुरुदेव पू० श्रीपोद्दार महाराज के पास बैठे थे । द्विवेदीजी भी साथ ही थे । बात चली नापजप की । पू० श्रीपोद्दार महाराज ने गीता की टीका कार्य के पश्चात् नामजप करने की राय उन्हें श्रीघनश्यामदासजी जालान के घर में भी दी थी, जिसे हम पिछले अध्याय में उल्लेख कर चुके हैं । उस दिवस श्रीपोद्दार महाराज नामजप एवं भजन पर बहुत ही अधिक आग्रह करने लगे । पू० गुरुदेव के मन में तो पोद्दार महाराज के तनिक से संकेत का भी बहुत महत्व था । श्रीद्विवेदीजी नापजप की अपेक्षा मंत्र-जाप पर अधिक निष्ठा रखते थे । अत: वे **'ॐ नमो भगवते**

वासुदेवाय' मंत्र का माहात्म्य उल्लेख करते हुए इस मंत्र के आसन निष्ठापूर्वक जप के हिमायती थे । उन्होने तो वही मंत्र जप करना प्रारम्भ किया ।

पू० श्रीपोद्दार महाराज की नामजप निष्ठा बहुत ही विलक्षण थी । वे कल्याण पत्रिका का सम्पादन करते हुए भी नामजप करने में सिद्धहस्त थे । नामजप के मध्य यदि उन्हें संध्या करनी हो जाती तो संध्या का जल रखा रह जाता, उनका मन नामजप में लीन हो जाता । फिर जब उन्हें यह ध्यान आता कि संध्या तो की ही नहीं, तब झूठी-सच्ची पात्र में अर्घ्य आदि देकर नाक पकड़कर संध्या की क्रिया पूरी करते । उस दिन तो श्रीपोद्दार महाराज ने भी पचास हजार स्वयं नामजप करने का व्रत लिया । श्रीपोद्दार महाराज को नामजप में बहुत अधिक रस आता था । पू० गुरुदेव ने तीन लाख नामजप प्रतिदिन करने का संकल्प लिया था । पू० पोद्दार महाराज नामजप करते ही भावावस्था में आ जाते थे ।

पू० गुरुदेव ने इस नामजप के नियम को बहुत ही निष्ठापूर्वक अनेक वर्षों तक निभाया । जब गीता-तत्व-विवेचनी का कार्य बहुत अधिक गंभीरतापूर्वक चलने लगा और उस अवधि में पू० गुरुदेव के पास अवकाश का अत्यधिक अभाव रहता था, तब भी पू० गुरुदेव तीन के स्थान पर दो लाख नामजप अवश्य ही करते रहे । यह कम भी तत्परतापूर्वक बहुत काल तक चला । बाद में पू० पोद्दार महाराज के साथ जब पू० गुरुदेव जीवनव्यापी संग का व्रत लेकर रहने लगे तब एक दिन उन्होने उनसे अपना व्यक्तिगत पुस्तकालय व्यवस्थित कर देने का आग्रह किया । उन दिनों पू० गुरुदेव लगातार अठारह घंटे पुस्तकालय को ही व्यवस्थित करने में लगे रहते थे। पू० पोद्दारजी की रुचि का कोई भी कार्य चाहे वह दिखने में अति सामान्य क्यों न हो, उन्हें सर्वाधिक महत्वपूर्ण अनुभव होता था । यह नामजप इसी पुस्तकालय को व्यवस्थित करने के कार्य के ही लिये पू० गुरुदेव को छोड़ना पड़ा ।

पू० गुरुदेव कहते थे कि इस पुस्तकालय के कार्य को पूर्णतया योग्यतापूर्वक सम्पादित करने से मुझे नामजप से अधिक पारमार्थिक लाभ हुआ ।

पू० गुरुदेव अपनी पारमार्थिक स्थिति की बात बताते कहा करते थे कि नाम जप करने वाले को नामी क्या-क्या अनुभव कराता है, इसे तो बस जप करने वाला साधक ही जानता है । नामजप करने का आनन्द तभी है जब नाम में रस आने लगे । यह ऐसा अद्भुत रस होता है कि यह प्रपंचगत सभी

रसों का समूल नाश कर देता है । फिर बचता है मात्र भगवद्रस, भगवन्नाम रस । बस थोडी सी देर नाम लिया नहीं कि चित्तवृत्ति बाह्यजगत को देखना, सुनना, स्पर्श करना भी छोड देती है और मन विलक्षण दिव्यातिदिव्य परमार्थ राज्य की गहराइयों में उतर जाता है । तब नामजप हुआ, ऐसा समझना चाहिए । जब भी नामजप अतिशय प्रिय लगने लगता है तो मन में भावोद्वेलन होने लगता है उस समय संख्या पूरी करना कठिन हो जाता है ।

जो भी हरिनाम लेते हैं, सुनते हैं, कीर्त्तन करते हैं, कीर्त्तन कराते हैं उन्हें इस सबका क्या फल मिलेगा, इसकी जानकारी उन्हें आज भले ही नहीं हो, परन्तु भविष्य में अवश्य होगी ही । नाम, गुण-संकीर्तन परमात्म-राज्य में स्थित कर देने का अमोध उपाय है ।

तीन पदों की लीलाओं का साक्षात्कार

भावमयी साधना के क्षेत्र में संगीत का स्थान अतिशय महत्वपूर्ण है । संगीत गान एवं श्रवण से स्वभावत: ही भाव बहुत ही अधिक संचरित होने लगते हैं । पू० गुरुदेव को यदि कोई भावुक व्यक्ति सिद्ध भक्तों द्वारा रचित पद गायन सुनाया करता था तो उस पद गायन के पीछे जो भी उस सिद्ध सन्त द्वारा अनुभूत लीला होती थी, वह उनके सम्मुख ज्यों-की-त्यों प्रकट हो जाती थी । पू० गुरुदेव भगवद् अनुभूति के आधार पर रचित साहित्य को ही श्रेष्ठ साहित्य मानते थे । वे अनुभूति विहीन साहित्य को तो थोथा, मात्र शाब्दिक जाल मानते थे । यह यथार्थ ही है कि कल्पना के आधार पर लिखा गया लीला-प्रसंग और अनुभूत संत द्वारा वर्णन किया लीला-प्रसंग एक समान संवेदनशील तो होना असंभव ही है ।

जिस महासिद्ध प्रेमी सन्त का मानस-बिन्दु अपने प्रेमास्पद प्रभु की लीलाओं में विलय को प्राप्त हो चुका है, उस प्रेमी के मन का प्रेमास्पद से अलगाव कैसे संभव है ? उस प्रेमी के मन में एवं उसके प्रेमास्पद में अभेद एकत्व हो जाता है । तब उसका मन ही भगवद्लीला बन जाता है । उस प्रेमी को लीलाराज्य के जिन प्रसंगों के दर्शन होते हैं, उसे जो-जो दिव्य अनुभूतियाँ होती हैं, उन अनुभवों से स्वयं उद्भूत जो वाणी अथवा वैसे सन्त द्वारा रचित काव्य, यथार्थत: उस लीला को किसी भी शुद्धान्त:करण में उतार देने का कार्य करने वाला अमोघ मंत्र ही होता है ।

और उन वाणियों को पदों को गायन करने वाला अथवा पाठ करने वाला, करने वाली यदि शुद्ध अन्त:करण नहीं है तो निश्चय ही कालान्तर में वह शुद्ध अन्त:करण होकर उस लीला को अपने में उतार लेने का पात्र हो ही जाता है।

इस सिद्धान्त पर पू० गुरुदेव का तब पूरा-पूरा विश्वास जमा जब एक दिन वे गीतावाटिका में श्री पोद्दार महाराज के सत्संग में सम्मिलित हुए थे ।

पू० गुरुदेव कहते थे कि मुझे पू० श्रीपोद्दार महाराज की सन्निधि मात्र से बहुत ही अलभ्य वस्तुएँ मिल जाती थीं । संसार भले ही श्रीपोद्दार महाराज को थुल-थुल शरीर वाला मारवाड़ी बनिया देखता हो, मेरे लिये तो वे साक्षात् श्रीकृष्ण ही थे । वरं यह कहना अनुचित नहीं होगा कि वे श्रीकृष्ण का गोपनीय से गोपनीय तत्व-रहस्य प्रकट करने वाले साक्षात् कृपामूर्त्ति ही थे ।

श्रीपोद्दार महाराज के सत्संग के पूर्व गोस्वामी श्रीचिम्मनलालजी कोई भी सूरदासजी, तुलसीदासजी आदि महासिद्ध भक्तों का एक पद सुनाया करते थे । उस दिवस उन्होंने सूरदासजी का निम्न पद सुनाया ।

ग्वालिनि प्रकट्यौ पूरण नेहु ।
दधि भाजन सिर पर धर्‌यौ (हो) कहत गुपालहि लेहु ।।१।।
कौन सुनै का सौं कहौं (हो) काके सुरत-सँकोच ।
काको डर पथ अपथ को (हो) को उत्तम, को पोच ।।२।।
हाट बाट प्रिय पुर-गली (हो) जहाँ-तहाँ हरिनाम ।
समुझाएँ समुझै नहीं (हो) वाहि सिख दै विथक्यौ ग्राम ।।३।।
पान किये जस बारुनी (हो) मुख भलकत तन न सँमार ।
पग डगमग इत-उत धरै (हो) बिथुरी अलक लिलार ।।४।।
दीपक ज्यौं मन्दिर बरै (हो) बाहर लखै न कोय ।
तृन परसत प्रजुलित भयो(हो)(अब) गुपुत कौन विधि होय।५।
सरिता निकट तड़ाग के (हो) दीनो कूल बिदारि ।
नाम मिट्यौ सरिता भई (अब) कौन निबेरै बारि ।।६।।
लज्जा तरल तरंगिणी (हो) गुरुजन गहरी धार ।
दोउ कुल कूल परिमिति नहीं(हो)वाहि तरत न लागी बार।।७।।
विधि भाजन ओछो रच्यौ (हो) लीला सिन्धु अपार ।
उलटि मगन तामै भयौ (हो) अब कौन निकासन हार ।।८।।

चित आकरष्यौ नंद के (हो) मुरली मधुर बजाय ।
जेहि लज्जा जग लाजयौ (हो) सो लज्जा गयी लजाय ।।९।।
प्रेम मगन ग्वालिनि भई (हो) सूरदास प्रभु संग ।
श्रवण नयन मुख नासिका (हो) कंचुकि तजत भुजंग ।।१०।।

पू० गुरुदेव कहते थे कि गोस्वामीजी का हृदय अत्यंत भावमय था। उनकी एक-एक शब्दावली ने मेरे सम्मुख इस पद में निहित लीला को प्रत्यक्ष कर दी थी । उस दिन मुझे सर्वप्रथम श्रीकृष्ण ने परिचय कराया कि सूरदास, तुलसीदास आदि के अधिकांश पद मात्र तुकबन्दियाँ नहीं हैं, ये तो जाग्रत मूर्त्तिमान सिद्ध-मंत्र हैं । बाद में अनेक वर्षों पश्चात् पू० गुरुदेव ने इस लीला को जो उन्हें अनुभूत हुई थी 'सत्संग सुधा' परिपत्र के वार्षिक अंक में राधष्टमी के अवसर पर सम्मान्या सावित्रीबाई फोगला को लिखा दी थी । सम्मान्या सावित्रीबाई से पूछने पर पता चला कि जब पू० गुरुदेव उस पद की व्याख्या लिखा रहे थे, उस समय उनकी विचित्र स्थिति थी । वे जैसे किसी दृश्य को देखकर बोल रहे हों इस प्रकार बोलते थे, परन्तु तुरन्त ही उस भाव में डूब जाते थे । सम्मान्या बाई उन्हें बार-बार सावधान करती थीं । बार-बार स्मरण दिलाती थीं, जिससे कि वे उस वर्णन को भली प्रकार लिखा सकें ।

यह बात यथार्थ है कि प्राकृत मन से अप्राकृत वस्तु का दिखाई पड़ना असंभव है । इस माया-जगत् की उत्पत्ति शरीर, मन एवं इन्द्रियों की गति मायातीत राज्य में होनी तो ठीक इसी प्रकार है जैसे रात्रि का दिन में होना । माया-जगत् के शब्द,स्पर्श,रूप,रस,गंध मायातीत जगत के शब्द, स्पर्श से सर्वथा भिन्न हैं । माया जगत की इन्द्रियों से तो वे सर्वथा अग्राह्य हैं ।

यह लीला जो पू० गुरुदेव के सम्मुख व्यक्त प्रकट हुई वह तो अप्राकृत जगत् के पात्र गोपी में घटित हुई थी । उसका पू० गुरुदेव के प्राकृत नेत्रों के सम्मुख प्रकट होना तो एक असंभव सा आश्चर्य ही था । यह पुरुषार्थ द्वारा तो सर्वथा साध्य नहीं था । यह तो श्रीपोद्दार महाराज अथवा भगवान् की पू० गुरुदेव पर अपार हेतुरहित उदारता ही थी ।

यथार्थतः कृपा मार्ग ही सबसे सरल साधन है । कृपाश्रित का संपूर्ण भार कृपासागर पर रहता है । कृपा सागर संत अथवा भगवान् दोनों एक ही तत्व

हैं, वे उसकी सब बात बना देते हैं। पू० गुरुदेव का जीवन इसका मूर्त्तिमान उदाहरण ही था ।

सरिता के जलप्रवाह में धारा के उलटे मछली आसानी से तैर जाती है, परन्तु हाथी नहीं तैर पाता । मछली सरिता के आश्रित होती है अतः उसे किसी भी प्रकार के आयास की अनुभूति नहीं होती । उसी प्रकार कृपाश्रित व्यक्ति का संपूर्ण कार्य भगवत्कृपा ने अनायास ही हो जाता है, मानो वह पथ से नहीं, राकेट अथवा हवाई मार्ग से यात्रा कर रहा हो । स्वयं परिश्रम अथवा पुरुषार्थ करने वाला लक्ष्य तक पहुँच पायेगा या नहीं, कहा नहीं जा सकता । कृपाश्रित के लिये लक्ष्य सुलभ है, सुगम्य है, सुप्राप्य है ।

पू० गुरुदेव को इस '**ग्वालिनि प्रकट्यौ पूरण नेह**' पद के अतिरिक्त उन्हीं दिनों दो और पदों में निहित लीला के भी दर्शन हुए थे । उसमें एक पद है-

कब की मह्यौ लियें सिर डोलै ।
झूठे हि इत उत फिर फिर आवत, यहाँ आय यह बोलै ।
मुँह लौं भरी मथनिया तेरी, तोहि रटत भई साँझ ।
जानति हौ गोरस को लेबो, याही बाखर माँझ ।
इत तौ आय बात सुनि मेरी, कहें विलग जिन मानै ।
तेरे घर में तुही सयानी, और बेचि नहिं जानै ।
भ्रमतहि भ्रमत भरमि गई ग्वालिनि, विकल भई बेहाल ।
सूरदास प्रभु अन्तरयामी आइ मिले तत्काल ।।

इसमें भी निहित लीला पू० गुरुदेव ने सत्संग सुधा के वार्षिक अंक राधाष्टमी परिपत्र में लिखाई थी । ये दोनों लीलाएँ पश्चात् '**चलोरी आज ब्रजराज मुख निरखिये**' नामक पुस्तक में छप चुकी हैं ।

तीसरा पद है :-

नाहिन रह्यौ हिय माँहि ठौर ।
नंद नंदन अछत कैसे आनिये हिय और ।
चलत चितवत उठत जागत सुपन सोवत रात ।
हृदय तैं यह श्याम मूरति छिन न इत उत जात ।
कहत कथा अनेक ऊधौ लोक लाज दिखात ।
कहा करौं तन प्रेम पूरन घट न सिंधु समात ।
स्याम गात सरोज आनन ललित गति मृदु हास ।
सूर ऐसे रूप कारन मरत लोचन प्यास ।

इस तृतीय पद की व्याख्या पू० गुरुदेव ने "प्रेम सत्संग सुधा माला" नामक पुस्तक में दी है । पाठकों के मननार्थ ये लीलाएँ यहाँ भी उद्धृत की जा रही हैं ।

ग्वालिनि प्रकट्यौ पूरण नेह' पद की लीला

देखो ! देखो !! देखो !!! देखो !!!! अरे एक बड़ी ही सुन्दरी गोपी आयी है। उसके सिर पर दही का मटका है । लँहगा पहने है । अरुण कंचुकी है उसकी । ओढ़नी सिर पर दही का मटका लिये रहने के कारण - सिर से चिपकी पड़ी है । ओढ़नी के दोनो छोर मन्द समीर के झोंके में किञ्चित् हिल रहे हैं । किन्तु सर्वथा उन्मादिनी है यह गोपी ।

दधि भाजन सिर पर धर्यौ कहत गोपालहि लेहु

अहा ! हाँ !! कितना सुन्दर नन्दग्राम का दृश्य है । उसके राज पथ पर यह गोपी दौड़ रही है । यह लो ! मटका सिर से गिर गया । गोपी को कोई भान नहीं मटका फूटने का, दही के गिर जाने का । दही बेचने आई हूँ , यह भी भूल गयी है वह ! बस पुकार रही है - गोपाल लो । गोपाल ले लो !! गोपाल लो !!! गोपाल लेलो !!!! गोपाल लो ।

कौन सुनै कासौं कहौं काके सुरत सँकोच
काको डर पथ अपथ को, को उत्तम को पोच

देखो ! देखो !! गोपी के पिता उसके पीछे दोड़े जा रहे हैं । बेटी ! बेटी !! कहकर चिल्ला रहे हैं । परन्तु गापी को तो विश्व का कोई ज्ञान ही नहीं है । 'गोपाल', 'गोपाल' 'गोपाल' की ध्वनि निरन्तर उसके मुख से निकल रही है । और ओह ! इस गोपी के मुख से निकले गोपाल नाम का कैसा विचित्र प्रभाव है । उस नाम श्रवण से उसके पिता की देह में जड़िमा का विकार व्यक्त हो गया है । वे चेष्टाशून्य ज्यों-के-त्यों खड़े हैं और गोपी 'गोपाल', 'गोपाल' कहती हुई तैलिक एवं ताम्बूलिक हाट की ओर चली जा रही है ।

हाट बाट प्रिय पुर गली जहाँ-तहाँ हरिनाम
समुझाये समुझै नहीं जाहि सिख दै विथक्यौ गाँम

युवतियों का एक दल एकत्र हो गया है । आश्चर्यचकित सभी देख रही हैं। एक युवती उस गोपी से कह रही है - "अरी ! इस प्रकार तू चिल्लाकर अपने कुल में कालिख क्यों पोत रही है री !" किन्तु गोपी के कान में यह सीख तो अब जाने से रही । उसे भान ही नहीं है कि मैं कहाँ हूँ ।

एक अधेड़ वयस्का युवती आगे बढ़कर उसे रोकना चाहती है । पर यह लो ! उसे छूते ही, गोपी को स्पर्श करते ही युवती के शरीर में कम्पन का विकार हो जाता है । थर-थर नाच रहा है उस युवती का शरीर । और गोपी तो आगे बढ़ गयी ।

अब देखो ! वह पूर्व की ओर दौड़ती आ रही है । राजपथ से नहीं, उस वीथी से - जो कलिन्दनन्दिनी के प्रवाह की ओर जाती है । और उस गोप के घर के द्वार पर रुक कर वह गोपी पुकार रही है - 'गोपाल', 'गोपाल', 'गोपाल' ।

अब देखो ! वह यमुना के उस अर्धवृत्ताकार मोड़ पर आ गयी है । एक उज्ज्वल वसना युवती उसके सामने खड़ी हो जाती है । "अब देखती हूँ, तू आगे कैसे बढ़ती है" - कर्कश स्वर से उसने गोपी को रोकना चाहा । किन्तु यह लो ! उस उज्ज्वल वसना युवती में भी 'गोपाल' नाम का प्रभाव व्यक्त हो गया । जड़िमा भाव ने उसे आत्मसात् कर लिया । 'गोपाल', 'गोपाल', 'गोपाल' की रट लिये गोपी आगे बढ़ गयी ।

अब देखो वह सित केशी धवल वसना वृद्धा गोपी उसे रोककर समझा रही है - "बेटी ! सात दिवस हो गये री ! तेरी ऐसी दशा है, तुझे क्या हो गया मेरी बेटी ! 'गोपाल, गोपाल' कहकर गोपी ने अपना मुख फेर लिया । वृद्धा की आँखों से झर-झर अश्रुप्रवाह बह चला ।

अरे अब तो वह वृद्धा भी बेटी की ही तरह गोपाल ! गोपाल !! चिल्लाती हुई गोपी के पीछे दौड़ी जा रही है । कैसा विचित्र प्रभाव है इस गोपी के मुख से निकले गोपाल नाम का ।

अब देखो ! अधेड़ गोपियों के एक दल ने उसे घेर लिया । समझाने लगी उसे । दल में जो सबसे बड़ी थी वह - "अरी ! तू सोच तो सही, इसमें तेरे लोक-परलोक दोनो ही नष्ट हो रहे हैं ।"

दूसरी कह रही है - "बावरी ! पथ-कुपथ देखकर चलना चाहिए, इसमें ही लोक-परलोक दोनों बनते हैं । और नहीं तो ।"

तीसरी कह रही है - "तू कितनी सयानी थी, री ! कितना ऊँचा जीवन था तेरा ! किस प्रकार तेरे सद्‌गुणों की चर्चा गाँव-गाँव में फैली थी । और आज 'गोपाल' ! 'गोपाल' !! -इतना ही बोल सकी तीसरी और न जाने उसे क्या हुआ - उस गोपी के चरणों में गिरकर वह मूर्च्छित हो गयी ।

अब उस दल में किसी को भी साहस नहीं हो रहा है कि उसे छेड़े क्योंकि पहली दूसरी भी उपदेश तो कर गयी, पर पहली की आँखों के आगे, दूसरी की आँखों के आगे एक साथ ही न जाने कौनसा दृश्य आया कि पलकें पड़नी बन्द हो गयीं ।

अब उस दल में जो सबसे गंभीर, शान्त प्रकृति की है, अब वह कह रही है, अपने दल से - "देखो ! इसे छेड़ने में कोई लाभ नहीं है । इस बेचारी को अपने तन की सुधि ही नहीं है । फिर संकोच, पथ-अपथ का भय, ऊँच-नीच का भेद क्या अर्थ रखते हैं, ये इसके लिये । इसके कण-कण में वह गोपाल, यशोदा का नीलमणि ही परिपूरित हो चुका है । सारा गाँव इसे समझाकर थक चुका है । अब तुम इस व्यर्थ के प्रयास से विरत हो जाओ ।" इतना ही कह सकी वह अधेड़ रमणी और न जाने उसे भी क्या हुआ, वह भी उस गोपी के चरणों में गिरकर मूर्च्छित हो गयी । और वह गोपी - 'गोपाल' 'गोपाल' की ध्वनि से यमुना के कूलवर्ती तमालों को निःनादित करती हुई दक्षिण अरण्य की ओर चली जा रही है ।

पान किये जस वारुणी, मुख झलकत तन न सँभार ।
पग डग मग इत उत धरत बिथुरी अलक लिलार ।।४।।

अब देखो ! वन पथ से, वन की पगडंडी से वह उस अश्वत्थ वृक्ष की ओर चली जा रही है । ओह । कैसी विचित्र दशा है इस गोपी की । ऐसा लगता है जैसे इसने कोई अद्‌भुत विचित्र सी मदिरा पीली हो । मुख लाल-लाल हो रहा है । ज्योति निकल रही है इसके मुख से । लाल किरणें निकल रही हैं । यह लो । ओढ़नी गिर गयी । कञ्चुकी और लहँगे का आवरण ही देह पर बच रहा है, अलकें बिखर गयीं । कुन्तलों की लटें गोपी के ललाट पर झूल रही हैं । उन्माद की इस दशा में वह आगे दक्षिण-पश्चिम

के कोण की ओर बढ़ती चली जा रही है डगमग गति से । अपने निवास-स्थल से दूर, बहुत ही दूर चली आई है वह । किन्तु उसे क्या पता ? जब अपने तन का ही भान नहीं उसे, तब फिर आवास कहाँ, कितनी दूर चला गया, इसे कौन देखें । पैर रखती है कहाँ और पड़ते हैं कहाँ । अरण्य के वृक्षों से टकराने चलती है, पर बड़ी विचित्र बात है । तरु शाखायें अपने कोमल पल्लव जाल से उसे थाम लेती हैं और वह आगे बढ़ती जा रही है । अब भी अनजान में ही वह नन्दग्राम को अपने दाहिने करके ही चल रही है। आ पहुँची वह अब उस तमाल की शीतल छाया में, जो उत्तर वाहिनी कलिन्द नन्दिनी के तट पर है । विस्फारित आँखों से देख रही है, वह चारों ओर। जनशून्य अरण्य स्थल है । कल-कल करती हुई प्रवाहिणी गोपी का स्वागत करती है । फिर एक लहर से उसे पाद्य समर्पित करती है । इस समय वन विहंगमों के अतिरिक्त कोई भी उसकी गति विधि को देख नहीं पा रहा है ।

मन्दिर ज्यौं भीतर बरै री बाहर लखै न कोय।
तृन परसत प्रजुलित भयौ (हो) गुपुत कौन विधि होय ।

अब देखो । वह तमाल की शीतल छाया में आँखें बन्द करके बैठ जाती है । ओह ! कितना विचित्र प्रभाव है उस गोपी का कुछ क्षण वन विहंगम भी मूक हो जाते हैं । तरु शाखाओं पर विराजित रहकर वे गोपी का दर्शन कर रहे हैं।

अब देखो ! उस तमाल पर बैठी सारिका अन्य विहंगमों से कह रही है। "तुम सब सुनो, मैं इस गोपी की जीवनी बतला रही हूँ तुम सभी को । तुम्हें स्मरण है ही कि इस रस-तरंगिणी के तथा उस सरोवर के मध्यस्थल में इस गोपी की पर्णशाला थी । एक बड़ा ही मनोरम उद्यान रस-तरंगिणी और सरोवर को सम्बद्ध कर देता था । इसकी पर्णशाला के अग्रभाग में एक लघु स्त्रोत भी था । जब रस-तरंगिनी बढ़ती तो उसकी लहरें, उसका ज़ल उस स्रोत में बहने लगता और सरोवर तक चला जाता।'तथा जब सरोवर पावस की धारा से भरपूर हो उठता तो एक छोटे से द्वार से वह इस स्रोत में बह चलता । रस-तरंगिनी और सरोवर का इस प्रकार रसमय मिलन हो जाता । संभवत: गिरिराज के उस प्रच्छन्न निर्झर से ही इस स्रोत में जल आता था । ग्रीष्म में भी सूखता नहीं था । और कैसी विचित्र बात ! कभी-कभी हेमन्त में

भी, शीत में भी, शरद बसन्त में भी, शिशिर में भी अचानक वह सरोवर भी ऊपर तक भर जाता था, और उसकी धारा बह चलती उस स्रोत में ।

वह गोपी अपनी पर्णशाला में बैठी रहती । इसके नेत्र निमीलित रहते । इसके हृदय में नन्दनन्दन की प्रीति का दीपक अनादि काल से जल रहा था । किन्तु सभी गवाक्ष, रंध्र, पर्णशाला के सभी छिद्र, सर्वथा बन्द रहने के कारण समीर का एक झौंका भी पर्णशाला के भीतर नहीं आ पाता था । घास-फूस-निर्मित उस लघु विश्रामगृह के एक द्वार से ही वह गोपी आया-जाया करती थी । अपने हृदय मन्दिर को तो इसने ऐसा आवृत कर रखा था कि उसके अपने श्वास समीर भी उस दीपक तक नहीं पहुँच पाते थे । इसलिये सर्वथा निर्वात स्थल में विराजित रहकर प्रीतिदीप की लौ रंचमात्र भी नहीं हिलती थी ।

एक दिन की घटना है - दिनकर प्रतीची - क्षितिज की ओर झुक पड़े थे । रस-तरंगिनी के तट से गूँज उठी वह स्वर लहरी, वह मधुरातिमधुर झंकृति -

कमल मुख शोभित सुन्दर वेणु
मोहन ताल बजावत, गावत आवत चारे धेनु ।।

यह झंकृति एक विचित्र बयार के रूप में परिणत हो गयी । और जा पहुँची, उस गोपी की पर्णशाला में - गवाक्षों में नवीन छिद्र का निर्माण करके। इतना ही नहीं, गोपी के कर्णपुटों के द्वार से हृदय मन्दिर के समीप भी जा पहुँची बयार। और अचरज की बात । मन्दिर के आवरण में भी एक, दो, चार, पाँच, दस, बारह, सोलह छिद्र बन गये । बयार और प्रीति दीप की लौ का मिलन हो गया । लौ बड़े वेग से हिल पड़ी। गोपी के वक्षस्थल की ओर झुक पड़ी । तनके झीने आवरण को जलाकर बाहर निकल आयी । कुन्तलों की दो काली लटें वक्षःस्थल पर झूल रही थीं । लौ ने एक साथ दोनों को पकड़ा । गोपी का तन जलने लगा - परिधान जलने लगा । उधर बयार का झौंका अभी भी स्पंदित हो ही रहा था । घास-फूसमयी पर्णशाला के दो, तीन लम्बे तृण नीचे लटक पड़े । प्रीति की लौ लपट में परिणत हो ही चुकी थी । लपटने उस तृण को आत्मसात् कर लिया । प्रज्वलित हो उठी पर्णशाला । अब तक हम लोगों के अतिरिक्त सुनते हो विहंगमों ! किसी ने

नहीं देखा था उस गोपी को । गोपी की पर्णशाला को और गोपी के हृदय को तो कोई देखता ही क्या ? अब जब पर्णशाला और गोपी, गोपी का हृदय भी सब धक्-धक् जल रहे थे, तब फिर यह आग कैसे छुपती ? भीड़ इकट्ठी हो गयी । सभी ने जान लिया 'अहा ! यह बडभागिनी गोपी - संभवत: स्वप्न में एक बार - हमारे दृष्टिपथ में आयी थी अवश्य, परन्तु इसके हृदय मन्दिर में नन्दनन्दन की प्रीति का दीप जल रहा है, उस दीपक की निर्मल ज्योति ही हममे भी नन्दनन्दन की प्रीति जगाने की भूमिका का निर्माण कर रही है - इस बात को हम लोग सर्वथा ही नहीं समझ पाये । बाहर से कुछ भी दीखता जो नहीं था ।

'विहंगमों सुनो ! मैं स्पष्ट खोलकर बतला दे रही हूँ - यह गोपी उस सरोवर की अधिष्ठात्री देवी थी । गोपी की इन्द्रियाँ ही सरोवर का प्राची तट बनी हुई थीं । मन ही दक्षिण तट बना हुआ था । गोपी की बुद्धि ही प्रतीची तट के रूप में परिशोभित थी । इसकी अहंता ही उत्तर-तट के रूप में मूर्त थी ।

सरिता निकट तड़ाग के दीनो कूल बिदारि

'अब सुनो क्या हुआ ? प्रतिदिन ही रसतरंगिणी में बुद-बुदे उठते थे । उस सरोवर की ओर जाने के लिये ही तथा कभी-कभी बुद-बुदे लहरों में परिणत होते और स्रोत के द्वार से सरोवर तक जा पहुँचते । प्रच्छन्न रूप से सरोवर का प्रतीची तट, तट की नींव खोखली होती जा रही थी तथा एक दिन रसतरंगिणी में ऐसी बाढ़ आयी कि क्या बताऊँ ? पहले तो उसने सम्पूर्ण उद्यान को आत्मसात् कर लिया । वह पर्णशाला तो पहले ही प्रवाह में डूब चुकी थी । क्षण बीतते-न-बीतते रसतरंगिणी की बाढ़ प्रतीची तट के ऊपर से चल पड़ी ।

नाम मिट्यौ सरिता भई अब कौन निबेरै बारि ।।

इतने वेग का प्रवाह था कि दूसरे उच्छलन में ही, रसतरंगिणी के दूसरे उद्वेलन में ही सरोवर का प्रतीची कूल बीच से टूट गया । फिर तो दक्षिण-प्राची तटों को टूटने में देर ही नहीं लगी । इनके टूटते-न-टूटते उत्तर का तट टूटकर, सरोवर एवं रसतरंगिणी दोनों एक हो गये ।

रस-तरंगिणी ने सर्वथा, सर्वांश में आत्मसात् कर लिया उस सरोवर को । सरोवर का नाम था यह ....। गोपी उसकी अधिष्ठात्री देवी थी । सरोवर का नाम मिट गया। सरोवर रसतरंगिणी बन गया । जहाँ सरोवर था, वहाँ रसतरंगिणी लहरा रही है । अब किसकी सामर्थ्य है कि रसतरंगिणी के जल को रोक सके, रुद्ध कर सके । जो ऐसा करने जायेगा, करने जायेगी - वही बह जायेगा । बह जायेगी । डूब जायेगा, डूब जायगी । इस प्रेम सरिता की बाढ़ में । रस कल्लोलिनी के इस उद्वेलन में ।

लज्जा तरल तरंगिनी गुरुजन गहरी धार ।

कीर ! पक्षियों ! सुनो, देखो ! गोपी के निवासस्थान को तो देखो । देख रहे हो तुम ! लज्जा की कैसी विशाल नदी बह रही है । उस ग्राम के आगे। कितनी चञ्चल लहरें हैं उस नदी की । कितनी गम्भीर धारा है उसकी। इसके दोनो तटों को देखो ! उड़ते चले जाओ दोनों तटों पर, कहीं तटों की सीमा मिलेगी ही नहीं । और भी खोलकर कहे देती हूँ - वह गोपी बहुत ही लज्जावती थी । स्वभावत: चंचला होने से इसकी आँखें उठती तो सही नन्दग्राम की ओर, किन्तु तत्क्षण घूँघट की ओट में चली जातीं लज्जावश । इसके गुरुजन इतने कट्टर मर्यादावादी हैं कि पूछो मत । इस गोपी के दोनों कुल कितने विशाल हैं - घूमते-घूमते, देखते रह जाओगे, कहीं अन्त नहीं मिलेगा ।

किन्तु हुआ क्या ? आधा क्षण भी नहीं बीता, नन्दनन्दन की प्रीति के प्रवाह में यह गोपी ऐसी वह चली कि सर्वप्रथम लज्जा ने ही इसका साथ छोड़ा। गुरुजनों का यह गंभीर शासन आधे क्षण में निरर्थक हो गया । दोनों कुलों का बंधन पट-पट टूट गया । सबको छोड़कर, सबके ऊपर पैर रखती हुई, सम्पूर्ण प्रतिबन्धकों को पार करती हुई वह नन्दग्राम की ओर भाग चली । नन्दनन्दन की ओर दौड़ चली । प्रबल वेग से । कोई भी रोक नहीं सका, कोई भी रोक नहीं सकी, इसे । आधे क्षण में ही यह घटना संघटित हो गयी।

दोउ कुल कूल परिमित नहीं (हो) वाहि तरत न लागी वार ।।

अहा ! शुक, अहो !! कपोत !!! कोकिल, सभी विहंगम - बन्धुओं । देखो, कैसी शोभा है इस गोपी की इस समय । इसे क्या पता कि मैं इसकी जीवनी बतला रही हूँ । यह तो गयी ! गयी !! गयी !!! डूब गयी !

डूब गयी !! डूब गयी !!! कहाँ ? ओह । देखो, देखो, कलिन्द नन्दिनी के प्रवाह की ओर देखो । कलिन्द नन्दिनी कहाँ, महासमुद्र लहरा रहा है । अब उडो तो सही प्रतीची की ओर, दक्षिण की ओर, उत्तर की ओर - कहीं इस महासमुद्र का कोई तट तुम्हें मिलेगा क्या ? उस महाभाव रससमुद्र का कोई किनारा मिलेगा क्या ? और फिर प्राची की ओर भी उड़कर देख सकती हो, कहीं इस महाभाव रससागर का पार तुम्हें उपलब्ध होगया क्या ? अरे ! सुनो, रहस्य की बात बतलाती हूँ । इस महासमुद्र के फेन से ही निर्मित हुआ यह तट तुम्हें दीख रहा है । उस फेन से ही निर्मित तमालतरुराशि है, कदम्ब कानन है, यह वृंदारण्य है । कथन मात्र के लिये फेन से भला ।

कैसे समझाऊँ ? अच्छा सुनो ! इस रस-सिन्धु की लहरें ही शीत उपल के रुप में परिणत हो गयी हैं, तरुजाल के रूप में परिणत हो गयी हैं, गिरि, गिरिश्रृंग के रूप में परिणित हो गयी हैं । आँखें गड़ाकर, देखो ! वही विशुद्ध रस ही इस द्वीप के रूप में परिणत हो गया है । कहीं भी उस रस के अतिरिक्त तुम्हें इनमें कुछ भी अन्यवस्तु उपलब्ध होगी ही नहीं । ऐसे, इस अपार महाभाव-रस सुधा-सागर में यह रस-सुधामय द्वीप का भान हो रहा है तुम्हें ? द्वीप की अनुभूति हो रही है तुम्हें ? और कितना गहरा है यह महाभाव-रस सुधा-सिन्धु । अरे, इसमें तल है ही नहीं । यह नित्य अतल है। और देखो । कैसी ऊँची-ऊँची लहरें उठ रही हैं इसमें । कुछ समझे ? ये लहरें क्या हैं ? यशोदा के नीलमणि, नन्दनन्दन ही इन उर्मियों के रूप में अभिव्यक्त हो रहे हैं । उनकी परमरसमयी लीलायें ही उत्तुंग तरंग बन-बनकर ऊपर उठ रही हैं । इस द्वीप को, उसके तटको आ-आकर आर्द्र कर रही हैं ।

विधि भाजन ओछो रच्यौ (हो) लीला सिन्धु अपार।
उलटि मगन तामें भयौ (हो) अब कौन निकासन हार।।

और देखो ! इस गोपी की लघु-हृत्-स्वर्ण कलशी उलट गई । इस महारस-सुधा-सिन्धु के प्रथम स्पर्श में ही देह से बाहर निकलकर लहरों में नाचने लग गयी । फिर इसमें रस-सिन्धु का जल भरते कितनी देर लगी । बाहर निकलते-न-निकलते वह उलटे मुँह वाली लघु-स्वर्ण कलसी, छोटी सी हेममयी कलसी लीलारस से परिपूरित हो गयी । दूसरी लहर में ही वह आगे बह चली, और देखो ! दूर, दूर, दूर - वहाँ डूब गयी वह हृदय कलसी, इस समुद्र के अतलतल में । विधाता में बुद्धि नहीं, अथवा जान बूझकर उसने इसे इतना छोटा बनाया, इसकी आकृति इतनी लघु कर दी - कौन बतावे इसे । किञ्चित् आकृति बड़ी होती तो आधे क्षण के लिये कदाचित् इन लीला लहरियों पर यह और भी नाचती । हमारी आँखें दर्शन कर कृतार्थ होतीं । निहाल होतीं । किन्तु जैसा होना था, हो गया ! जो हो, अब कोई, उस हृदय के कनक पात्र को इस ओर छोरहीन रसोदधि के अतल-तल से निकाल लाए तो सही । फिर से यहाँ लाकर रखे तो सही । कोई ऐसा है क्या ? किसी में यह सामर्थ्य दीखे तो बताओ, मेरे विहंगम बन्धुओं !

चित आकरष्यौ नन्द के मुरली मधुर बजाय
जेहि लज्जा जग लाजयो सो लज्जा गई लजाय ।।

'अहो रक्तचक्षु हरितगात्र विहंगवर ! इस गोपी के जीवन में ऐसे परिवर्तन हुए क्यों ? तुम जानते तो हो ही ! तुम्हीं क्यो न सुना दो आगे की कथा, आगे का इतिवृत्त ! क्या तुम्हें संकोच होगा ? मैं ही कह देती हूँ । तुम्हे स्मरण है ही, कीर ! तुम उड़ रहे थे, उड़-उड़कर उस ग्राम की गतिविधि का निरीक्षण कर रहे थे । आम्र की शीतल छाया में ही नन्दनन्दन आये कि तुमने मंगलाचरण किया इस गोपी की जीवनधारा को मोड़ने का । हम सभी ने पहले तुम्हारी ही वाणी सुनी थी ...

शोभित वेणु शोभित वेणु ।

और फिर बज उठी वंशी नन्दनन्दन की । वेणुका वह मधुर रव क्या-क्या चमत्कार कर बैठा - अभी-अभी इसे सुना चुकी हूँ । अब तो केवल कथा का उपसंहार ही सुनाना है । देखो ! इस रव ने ही आग लगायी थी गोपी की पर्णशाला में । आग नहीं लगी थी - वह तो गोपी के चित्तरूप स्वर्ण-कलशी का अन्तिम संस्कार था । सोने को तपाया जाता है भला !

रजकी, रज के एक अणु की छाया भी नहीं रहे पुरट पर, पुरट-पात्र पर । इसलिये और फिर उस कनक पात्र को नन्दनन्दन अपने हाथ में लेकर, अपने हृदय-मन्दिर में संस्थापित कर लेते हैं सदा के लिये । इसे ही कहा जाता है राग के उन्मेष की एक प्रणाली में इस प्रकार - नन्दलाल के द्वारा वंशी वादन होकर, उस वंशी ध्वनि के श्रवण से भी राग जग उठता है, वंशी बजाकर नन्द लाड़िले चित्त को आकर्षित कर लेते हैं । उसे अपने राग में रँगना आरम्भ करते हैं। जितनी तूलिका, उतने चित्रण एक ही चित्र के । अस्तु, इसके पश्चात् वे दस दशायें - और फिर अन्तिम परिणाम ? जिस लज्जा से जगत् का अस्तित्व बना है वह लज्जा स्वयं लज्जित होकर छिप जाती है । इस गोपी के जीवन में यही हुआ विहंगमों।

अरे ! देखो !! देखो !!! कैसी विचित्र घटना घटती दिख रही है । अरे ! वह अनन्त, अपरिसीम, असमोर्ध्व, नित्य-सत्य, संविन्मय महासमुद्र, उस ओर से उमड़ा चला आ रहा है । अरे ! वह देखो, वह उत्तुंग पर्वत श्रेणी अन्तर्हित हो गयी उसमें । नील, नील, नील, रसोद्वेलन, रस प्लावन बढ़ता जा रहा है हम सभी की ओर । कितनी ऊँची लहरें उठ रही हैं उसमें । आ गया, आ गया, आ गया, सर्वथा समीप आ गया । और देखो ! इस गोपी के चरणों को स्पर्श करने लग गया । अरे ! देखो, जय, जय ! जय, जय !! जय, जय, जय!!! नीलसुन्दर नित्य किशोर, वृजेन्द्रनन्दन गोपी के समक्ष खड़े हैं । जय, जय बैठ गये वे गोपी के सामने ! किन्तु गोपी के नेत्र अभी निमीलित ही हैं । जय, जय, जय, जय ! साँवर किशोर ने अंक में भर लिया गोपी को । देखो, देखो, जय ! जय !! जय !!!

प्रेम मगन ग्वालिन भई सूरदास प्रभु संग

गोपी के कन्धे पर हाथ रखे नीलसुन्दर जा रहे हैं उस ओर संविन्मय, अनन्त, अपरिसीम, असमोर्ध्व, महाभाव समुद्र के उस उद्वेलन की ओर ---- जय ! जय ! जय !!!

कीर, कपोत, कोकिल, नीलकंठ, **"मिल लो गोपी तुम एक"** रटने वाली पिरोई सभी खग-स्वजनों ! मैं रोती हूँ और एक बार तुम सब भी रोओ । गोपी चली गयी । अब यहाँ दिख रही है उसकी छाया मात्र ।

गोपी की यह छाया हम सभी के जीवन की अनमोल निधि है विहंगमों ! ध्यान से देखो । तमाल की छाया विराजित है । अद्भुत पीतमणिमयी एक लघुशिला से निर्मित रमणी की आकृति जैसी गोपी की देह दीख रही है । और

उसके कृष्णकुन्तलों की सोलह लटें, देह को सब ओर से आवृत्त कर झूल सी रही हैं । पर हैं वे लटें भी वास्तव में निस्पंद । ऐसी दिख रही हैं जैसे सोलह कृष्ण भुजंगिनियाँ निःस्पंद विराजित हों गोपी को लपेटे । गोपी के नयन, श्रवण, मुख, नासा-पुट की छाया संक्रमित सी हो गयी है इन भुजंगिनियों में ।

श्रवण नयन मुख नासिका ज्यों कंचुकी तजत भुजंग

कीर ! पिरोई री !! तुमने देखी होगी छोड़ी हुई सर्प की केंचुली । कैसी दीखती है ? सर्पिणी की आँखें, मुख, उसकी देह ज्यों-की-त्यों दीखती है उस केंचुली में । ऐसा लगता है, सचमुच ही वहाँ सर्प हैं, सर्पिणी है । किन्तु केंचुली में कहाँ सर्पिणी, कहा सर्प ! सर्पिणी, सर्प तो - उस आवरण को छोड़कर चली गयी, चला गया । वैसे ही गोपी अब इस छाया में कहाँ है ? कृष्णकुंतल मंडित गोपी की देह-छाया पड़ी है । उसमें आँख, कान नासिका, मुख सब के सब ज्यों के त्यों दीख रहे हैं, ऐसा लगता है मानो गोपी अभी भी यहीं है । किन्तु गोपी तो इस छाया को छोड़कर कबकी चली गयी । कीर मैं गीत नहीं गा रही हूँ - मैं रो रही हूँ।

पदव्याख्या में पू० गुरुदेव का भावजीवन

यह व्याख्या रूप कथा जो पू० गुरुदेव ने सत्संग सुधा के वार्षिक राधाष्टमी के वर्ष ----- के परिपत्र में लिखाई थी । इसमें पू० गुरुदेव के द्वारा उस समय के अपने संपूर्ण भाव जीवन का वृत्तांत **'प्रकट्यौ पूरण नेह की ग्वालिन'** के रूप में संकेत में लिख दिया गया है । उस समय पू० गुरुदेव ग्वालिन (गोपी) बने अपने भावदेह से ठीक वैसी ही पर्णशाला में बैठे रहते थे। इस गोपी की पर्णशाला के आगे एक लघुस्त्रोत बहता था । जब रस तरंगिणी में बाढ़ आती तो लहरें और उनका जल उस स्त्रोत को आप्यायित करता हुआ - सरोवर तक चला जाता था । इसी प्रकार वर्षा ऋतु में जब सरोवर पावस की जल धारा से भरपूर हो जाता था तो सरोवर का जल एक छोटे से द्वार से इस स्त्रोत में बह चलता। इस प्रकार इस स्त्रोत के माध्यम से रसतरंगिणी यमुना और सरोवर का रसमय मिलन होता रहता था । संभवतः गिरिराज के उस प्रच्छन्न निर्झर से ही इस स्त्रोत में जल आता था और ग्रीष्म में भी सूखता नहीं था । और कैसी विचित्र बात, कभी-कभी हेमन्त में भी,

शीत में भी, शरद में भी, बसन्त एवं शिशिर में भी अचानक यह सरोवर ऊपर तक भर जाता था और उसकी धारा बह चलती थी उस स्रोत में ।

यह सरोवर तो प्रेम सरोवर था और इसकी अधिष्ठात्री देवी वह गोपी थी। सरोवर का पूर्व का तट गोपी की इन्द्रियाँ थी, और पश्चिम का तट उसकी बुद्धि थी, उत्तर का तट इसकी अहंता थी और उसका मन ही दक्षिण का तट था ।

पहले पू० गुरुदेव की बुद्धि अर्थात् ज्ञानराज्य, ब्रह्मभाव में रमी थी, परन्तु पू० पोद्दार महाराज रूप भगवान् श्यामसुन्दर ने पहले बुद्धि को डुबा दिया । भगवान् ने रस तरंगिणी में ऐसी बाढ़ लायी कि ब्रह्म भावापन्ना बुद्धि रसमयी कृष्णानुरागिणी बन गयी । यही प्रतीची तट की नींव का खोखला होना है । इस रसकी बाढ़ ने (अर्थात् पोद्दार महाराज रूप रसतरंगिणी की बाढ़ ने) पहले बुद्धि को रस से ओत-प्रोत कर दिया तत्पश्चात् दक्षिण का तट प्रियतम से अनुरक्त हो गया, अर्थात् मन में श्रीकृष्ण भगवान् भर गये अब पूर्व एवं उत्तर का तट तो जाना ही था । पूर्व का तट उसकी इन्द्रियाँ थीं सो भगवान् के वचनामृत सुनकर एवं वेणुनाद सुनकर वे सब डूब गयीं और अहंता भी मिट गयी सन्यासी पुरुष का भाव समाप्त हो कर गोपी भाव भर गया । पुरुष से परम नेहमयी नारी बन गये । फिर पर्णशाला और उद्यान सबका डूबना तो होता ही ।

यह सभी भावपूर्ण सांकेतिक वर्णन है ।

पूज्य गुरुदेव ने अपनी इसी पर्णकुटी का वर्णन 'प्रियतम काव्य' में भी किया है :-

पर भग्न हुआ सा था गृह वह, जिसमें रहती बाला प्रियतम!
थी तमसे परिपूरित रजनी जब तुम आये थे हे प्रियतम!
दीपक तक वहाँ नहीं था कुछ कण थे रज के बिखरे प्रियतम!
गोबर मिट्टी से यद्यपि थी अवनी लीपी पोती प्रियतम !
थे सब कपाट टूटे गवाक्ष के तथा द्वार के भी प्रियतम !
वह पवन धूलि भरकर दुकूल में लाया करता था प्रियतम ।।

बात यह है कि प्रेममयी तथा ऐश्वर्यमयी, समस्त लीलाओं का आधार भगवान् श्रीकृष्ण की ह्लादिनी शक्ति श्रीराधाजी ही हैं । श्रीकृष्ण तो लीला के

आस्वादक हैं और श्रीराधाजी लीला का आस्वाद कराती हैं। ऐश्वर्यमयी लीला के भी जैसे अनन्त स्तर हैं, वैसे ही प्रेममयी लीलाओं के भी अनन्त स्तर हैं । ब्रजलीला में ग्वालबालों के साथ जो लीला होती है, श्रीगोपीजनों के साथ जो लीला होती है, तथा श्रीराधाजी के साथ एकान्त में मात्र उन्हीं के साथ जो लीला होती है, इनमें सभी में भिन्न-भिन्न स्तर हैं । अभी तो पू० गुरुदेव प्रेम का ककहरा पढ़ रहे हैं । श्रीराधारानी से तो अभी उनका साक्षात्कार ही नहीं हुआ है । पू० गुरुदेव की प्रेम साधना अभी तो भावदेह के निर्माण और भावदेह की प्रगाढ़ प्रेमानुभूतियों में लहरा रही है ।

ग्वालबालों के संग की लीला एवं उसका अनुभव भी बिरले भाग्यवान् सन्तों को होता है, उनकी संख्या भी बहुत ही कम है । बात यह है कि लीला की बात करने वाले तो हजारों-लाखों मिल जायेंगे, परन्तु ठीक जिनका मन इन लीलापात्रों के साथ तादात्म्य करके ठीक अनुभूति में लहराये ऐसे संत बिरले ही होते हैं । फिर श्रीगोपीजनों के संग जो भगवान् श्रीकृष्ण का प्रेम है, उन गोपियों के प्रेम का प्रारम्भ कैसे होता है, श्रीकृष्ण दर्शन एवं मिलन के पूर्व गोपी की भावदशा क्या होती है, इस गोपीभाव के आरम्भ का परिचय ही इस "प्रकट्यौ पूरण नेहं" नामक पद में दिया है । पू० गुरुदेव इस गोपी से तादात्म्य लाभ करके उस प्रगाढ़ प्रेम में डूबे, लहराये हैं, यही कहने का अर्थ है।

शास्त्र पढ़कर हम बहुत सी प्रेम की बातें, लोगों को चकित कर देने वाली लीलायें बता सकते हैं, परन्तु सचमुच ही इन लीलाओं का दर्शन हो, ऐसा होना अति कठिन है । फिर दर्शन में तो दृष्य ही सम्मुख आता है, हम अछूते, अस्पृश्य पृथक् रह जाते हैं । हम इस लीला के पात्र स्वयं बनें एवं उसकी सब प्रीति संवेदनाओं के भोक्ता हो जावें, यह और भी दुर्लभ स्थिति है। यह सौभाग्य पू० गुरुदेव को श्रीराधाकृष्ण की महान् कृपा से प्राप्त हुआ था।

जहाँ समस्त परमार्थ साधना और साध्यतत्व समाप्त हो जाता है, वहाँ इस लीलातत्व का श्रीगणेश होता है । परन्तु यह बात मनुष्य की बुद्धि में तब तक नहीं आ सकती जब तक कि उसका अन्तःकरण सर्वथा निर्मल नहीं होकर वह पूर्णतया भगवत्कृपा के परायण नहीं हो जाता ।

वेदान्त की सच्ची साधना हो और सचमुच ही हम ब्रह्म प्राप्ति की स्थिति प्राप्त कर सकें तथा इसके पश्चात् जो एक रहस्यमय अनिर्वचनीय

सच्चिदानन्दमय साधना का मार्ग है, वह आरंभ हो, तब कहीं संभव है कि मनुष्य असली सगुण तत्व का रहस्य समझ सके । नहीं, तो होता क्या है कि दु:ख की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है, ब्रह्मानन्द की अनुभूति हो जाती है । पर इससे भी परे कुछ ऐसी रहस्यमयी बातें हैं, ऐसा अनिर्वचनीय कुछ भगवत्तत्व है, जो सर्वथा किसी भी साधना के द्वारा नहीं समझा जा सकता । उस स्थिति की प्राप्ति सभी ब्रह्म प्राप्त पुरुषों को हो ही, यह निश्चित नियम नहीं है । हो भी सकती है, नहीं भी । यह ब्रह्मज्ञान, तत्वचर्चा तो मनुष्य उसी क्षण भूल जाता है, यदि उसे स्वप्न में भी श्रीकृष्ण के रूप की हल्की-सी झाँकी ही हो जाती है।

कब की मह्यौ लियें सिर डोलै

(अनुभूति)

शिशिर के अन्तराल से वसन्त की सुषमा नन्दप्रासाद के सामने अवस्थित उन आम्र तरुओं पर व्यक्त होने जा रही है । आज नन्दनन्दन दिनकर की प्रात: रश्मियों को देख लेने पर भी गृह के भीतर से बाहर आने की मुद्रा में सर्वथा नहीं हैं । मैया चाह रही है प्रासाद से संलग्न गोशाला में उन्हें ले चले, किन्तु नन्दलाड़िले मैया के लँहगे को पकड़कर झूलने लगते हैं । मैया बाध्य हो जाती है पुन: बैठ जाने के लिये ।

"दही लो, दही लो, अरे दही ले लो !" - मधुस्यंदी स्वर सहसा गूँज उठता है मैया के कानों में । स्वर में एक अभिनव आकर्षण है । मैया ने इतना मधुर स्वर मानों कभी सुना ही नहीं था ।

मेरे लाल ! कोई ग्वालिन दही बेचने आयी है रे । बाहर-बाहर तोरण के उस पार रे ! चल देखें तो सही कौन है - अपने नीलमणि को भुजपाश में भरती हुई, कपोलों पर प्रीतिचिन्ह अंकित कर मैया ने प्रेरणा दी । किन्तु अचरज की बात, आज तो यशोदा के नीलमणि तुले बैठे हैं बाहर नहीं जाने के लिये ।

मन्द समीर का एक झौंका नीलमणि को स्पर्श करता है, उनके नखचन्द्रों को स्पर्श करने के उद्देश्य से - मानों मानचित्र से अन्य कोई पथ न पाकर विलीन होने आया है उनमें ही और संकेत कर रहा है - शिशिर के साथ मैं नहीं जाऊँगा । हे मेरे जीवन सर्वस्व ! मैं तुम्हारी नखमणि में ही तब तक

विश्राम करूँगा जब तक ऋतुराज मेरे अंगों को सुरभित नहीं कर दें अपने सौरभ से ।

अभी-अभी शिशिर भी आयेगा ही तुम्हारे-तुम्हारे-तुम्हारे ही पदनख की द्युति में ही अपना आवास ढूँढ़ने और उस समय हे भक्त-वाञ्छा-कल्पतरु ! उससे तुम कह देना कि जब तक तुम समीर को शीतलता का दान करोगे, तब तक मैं आज तो क्या कभी भी बाहर नहीं निकलूँगा प्रासाद से । ऋतुराज की अर्चना को ही स्वीकार करने आऊँगा .....।

अरी मैया मुझे तो ठंड लग रही है री ! और तू कह रही है, बाहर चल, मैं तो नहीं जाऊँगा। नन्दनन्दन ने मानो विनती सुन ली समीर के प्राणों की।

'दही लो, दही लो, दही लो, अरी बहिनो ! कोई तो दही ले लो।' वही प्राणोन्मादी मधुमय स्वर मुखरित करने लग गया नन्द सदन के प्रांगण को ।

'मेरे लाल कोई तेरे राज्य की दीना ग्वालिन दही बेचने आयी है । पुकार रही है करुण स्वर से । चल, चल मेरे असंख्य प्राणों के प्राण ! एक बार चलकर देखें तो सही, कौन है यह ग्वालिनि ? अहा ! आतुर कण्ठ से बुला रही है वह किसी दही के ग्राहक को ! दही तो अपने घर, शत-शत मटकों में भरा है । परन्तु मेरे नीलमणि रे ! उसका दही अत्यन्त सुमधुर, अत्यन्त सुमिष्ट होगा । देख, देख कैसी मीठी पुकार है उसकी ! - इस बार प्रलोभन का जाल रचकर मैया ने नीलमणि को बाहर ले जाना चाहा । किन्तु नीलमणि मैया को खींच ले चले प्रतीची की ओर कलिन्द नन्दिनी के प्रवाह की दिशा में । मैया ने समझ लिया, अब उसके नीलमणि दिनकर-नन्दिनी की धारा के समीप ही खेलने का विचार कर रहे हैं । सुबल, श्रीदाम, विशाल, तोककृष्ण आदि प्रासाद के प्रतीची अंश के स्तंभों की ओट में मैया को दीख भी गये । मैया का मुख उस ओर ही हो गया । चल पड़ी मैया अपने नीलमणि को अंक में लेकर उस ओर ही ।

नीलमणि की क्रीड़ा आरम्भ होती है । अन्य शिशु योगदान कर रहे हैं । मैया अपलक नेत्रों से देख रही है । कभी आकर अंक में विराज जाते हैं और कभी जननी के कान के पास अपने बिम्ब विडम्बी अधरों को ले जाकर अत्यन्त धीमे स्वर में कह देते हैं - "दही लो !" और तत्क्षण मैया को अनुभव होने लगता है कि सचमुच वह ग्वालिनि अभी भी वैसे ही पुकार रही है । और यमुना के प्रवाह पर मानों उसका स्वर नाचता सा दीख रहा है ।

कल्लोलिनी की कलकल धारा मैया को 'दही लो' का भान कराने लग जाती है। और तो क्या, मैया अपनी कल्पना की आँखों से देखने भी लग जाती है मानों अत्यन्त निकट ही वही दही बेचने वाली कहीं छिपी खड़ी है और उसका ही स्वर सर्वत्र परिपूरित हो रहा है । साथ ही मैया को यह भान भी हो रहा है, उनका नीलमणि भी उसी स्वर की अनुकृति में संलग्न है । जैसे-तैसे नीलसुन्दर को भुलाकर पुनः एक कक्ष में ले आती हैं वे । उन्हें कुछ खिलाती हैं और इतने में मैया के कानों में पुनः **"दही लो, दही लो"** की ध्वनि झंकृत होने लगती है ।

इस बार मैया अपने को रोक नहीं पाती । नीलमणि को बरबस अंक में लेकर बाहर चलने को प्रस्तुत हो जाती हैं । किन्तु एक विचित्र-सी अवस्था में मैया के अवस्थित हो जाने के कारण नीलमणि गोदी से नीचे सरक पड़ते हैं । मैया भ्रान्त-सी हुई प्रासाद के बाह्यअलिन्द पर जाकर खड़ी हो जाती हैं और तोरण के उस पार उसे दीख जाता है, एक अत्यन्त सुन्दरी प्रौढ़ा अहीरन सिर पर छोटा सा दही का मटका लिये उन्मादिनी-सी वैसे ही पुकारती इधर से उधर घूम रही है । मैया देखती ही रह जाती है और वह ग्वालिन प्राची की ओर चल पड़ती है ।

कबकी मह्यौ लिये सिर डोलै ।

सहसा मैया को भान हुआ, नीलमणि अंक में तो नहीं है । और वह पुनः भवन के अन्तर्देश में लौट आयी । नीलसुन्दर आँखें नचाकर मैया के लहँगे से चिपक जाते हैं और मैया को बैठाकर उसके अंक में विराज जाते हैं।

एक, दो, तीन - घड़ी बीत जाती हैं । निमीलित नेत्रों से मैया अपने लाल को अंक में लिये समाधिस्थ बैठी है । शिशु उसे घेरे खड़े हैं । किन्तु यह एक-दो घड़ी का विचार भी बाह्य दृष्टि से ही है । वस्तुतः कितना काल व्यतीत हो गया - कहना कठिन है । क्योंकि दिनकर तो प्रतीची की ओर झूलते से दिख रहे हैं - नहीं, नहीं प्रतीची के क्षितिज को छूने जा रहे हैं । यहाँ का काल, व्रजदेश का काल प्रकृतिगत काल से भिन्न जो ठहरा।

जो हो, मैया की आँखें खुलती हैं और तुरन्त अत्यन्तिक व्यथा और करुणा से पूर्ण वही स्वर पुनः सुन पड़ता है - **'दही लो', 'दही लो'**! मैया अन्य सभी कुछ विस्मृत कर यंत्रवत् पुनः प्रासाद के द्वार पर आती है, तोरण

के उस पार चली जाती है और अपलक नेत्रों से देखने लगती हैं उस ग्वालिन की ओर । स्वेद से लथपथ वह ग्वालिन मैया की ओर देखने लगती है ।

झूठे ही इत-उत फिर-फिर आवत

"अरी ! साढ़े तीन प्रहर बीत गये, तेरे स्वर का - 'दही लो' पुकार का विराम नहीं हो पा रहा है ।" मैया ग्वालिन का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करके इतना ही बोल पायी । मैया के अंक में एक विचित्र सी सिहरन का अविर्भाव हो गया ।

'सुनती है ? मुझे लगता है कि तू दही बेचने अवश्य आयी होगी, किन्तु झूठ-मूठ ही - किसी भी कारण से बार-बार मेरे द्वार पर ही आ जाती है और फिर पुकार उठती है । तेरे मन में कोई दूसरी अभिसन्धि है क्या री ? - मैया उत्तर की प्रतीक्षा में रुक गयी ।

'बोलती क्यों नहीं री ! देख मैं प्रातः से तेरा वही स्वर सुन रही हूँ, कहीं भी अब तक किसी ने तेरा दही लिया भी नहीं । मटका ऊपर तक ज्यों-का-त्यों भरा है ..... । मैया पुनः रुकी परन्तु उत्तर की प्रतीक्षा में नहीं। एक विचित्र भावावेश ने मैया को आत्मसात् कर लिया है ।

"तो क्या इसी गली में कोई दही खरीदने वाला है क्या री ? नहीं, कहीं किसी द्रुम की ओट में छिपा है क्या री ! उस ओर देख, कदाचित् हो । इस बहाना बनाने में क्या लाभ है री !" - मैया कहना नहीं चाह रही थी, पर न जाने क्यो ऐसे बोल गयी ।

ग्वालिन की आँखों में झर-झर अश्रु का प्रवाह चल पड़ा ।

'अरी ! तनिक मेरे निकट आ । देख, मेरी बात का बुरा मत मानना भला, और भी तो तेरे घर में कोई होंगी ही । तो क्या उनमें से और कोई दही बेचना नहीं जानती थी क्या ? दही के ग्राहक को पटानेवाली सबसे अधिक सयानी तू ही है क्या री ? ऐसे बोलना सर्वथा अनुचित अनुभव करती हुई भी मैया बोल तो गयी किन्तु मैया के प्राणों में एक वेदना का संचार हो गया ।

इततौ आय बात सुन मेरी कहै वलग जिन मानै
तेरे घर में तु ही सयानी और बेचि नहीं जानै
भ्रमतहिं भ्रमत भरम गयी ग्वालिन विकल भई बेहाल
सूरदास प्रभु अन्तर्यामी आय मिले तत्काल ।।

दिनकर की किरणें अब नहीं दीख रही हैं । संध्या की नीरवता में खड़ी है वह ग्वालिन, और मैया देख रही है उसकी ओर । ग्वालिनी की प्रत्येक साँस कुछ कह रही है मैया से, किन्तु मैया इतना ही समझ पायी - उसे मेरी बात का दुख हो गया है । ग्वालिन की आँखों से झरता हुआ अश्रु का अनर्गल प्रवाह, अत्यधिक श्रान्ति से भरा हुआ कलेवर, मैया की आँखों में है । धैर्य रखना मैया के लिये संभव न रहा । एक हाथ से दही का मटका थामे हुए, दूसरे हाथ से अंक में भर लिया मैया ने उस प्रौढ़ा को । मैया को स्पष्ट अनुभव हो गया, कितनी वेदना की आग में ग्वालिन के प्राण जल रहे हैं ।

'अरी मैया ! तू तो यहाँ खड़ी है और मैं तुझे ढूँढ़ता फिर रहा हूँ और यह कौन है री ! जो तेरे अंक से लगी है ।' - नीलमणि ने एक साथ मैया को और उस ग्वालिन को छूकर जननी को झकझोरना आरम्भ किया । मैया दोनों को अंक में लिये वहीं तोरण के पास भूमि पर बैठ जाती है ।

'तो तू दही बेचने आयी है री ! कहाँ रहती है ? तेरा घर कहाँ है री ? तू मुझे दही दे दे, देखूँ कैसा है ? ओह बड़ा ही मीठा होगा।" नीलमणि ने मटके को सिर से उतारना चाहा और मैया ने उसे अपने हाथों से उतार दिया ।

बड़ा मीठा दही है - नन्दनन्दन ने दही का आस्वादन करते हुए ग्वालिन की आँखों की ओर देखा।

चेतनाशून्य ग्वालिन मैया के अंक में पड़ी है । नीलमणि मैया की ओर और कभी उसकी ओर देख-देखकर हँस रहे हैं ।

'कभी मैया से पूछते हैं कुछ अटपटे प्रश्न - तो क्या संध्या के समय दही बिकता है ? .... यह तो न जाने क्यों यहाँ आकर नींद में सो रही है .... थक गयी है क्या, मैया ..... तो रात्रि में अपने घर कैसे जायेगी ? .... तू इसे अपने घर में ही क्यों नहीं रख लेती ? .... इसके घर में कौन-कौन हैं मैया .... ? यह भूखी दीख रही है ..... अच्छा प्रात:काल यही पुकार रही थी, दही लो ...... मैया ! यह तो वृषभानुपुर की दिखती है ? वही-वही गाँव, तुझे याद है न री मैया ! .... तू इससे पूछ तो वह बात ..... । तू कितनी देर सोयेगी री ....? ऐ मैया ! यहाँ तो कोई भी दही बेचने नहीं आती थी री ! यह मुझसे कितनी बड़ी है, मैया ! ऐ मैया ! घरवाले इसे अपने घर में न देखकर इसे खोजने आयेंगे कि नहीं ? तो तू बाबा को भेज दे इसके घर कह आयेंगे - 'आज तो मेरे घर ही रहेगी यह।' तू इससे पूछ इसका ब्याह हुआ है या

नहीं। वही, वही, वही सपने की बात तुझे याद है न ..... । अरी मैया, कहीं वही तो नहीं है री ....? पर यह तो मुझसे लम्बी अधिक है और तूने उसे आयु में मुझसे छोटा बताया था । तो, एक दिन में अगर कहीं मेरे से लम्बी वही हो गयी होगी तो क्या पता ? ऐ मैया ! तू इसे छूकर बता कि यह सो रही है कि केवल सोने की नकल कर रही है । देख, मैया ! इसके पेट में गुदगुदी कर, सोयी होगी तो जाग जायगी नहीं तो हँस पड़ेगी .... । अथवा इसके मुख में थोड़ा दही तू डाल दे, यदि खाने लगेगी तो समझ लेना जगी हुई है । किन्तु यदि नकल कर रही होगी तो चुपचाप दही ढरका भी देगी । मैया तू कोई उपायकर जिससे मैं जान सकूँ कि यह सचमुच ही सोयी है या सोने की नकल कर रही है । अरे ! इसके तो सारे परिधान गीले हो रहे हैं । तो यमुना में नहाकर आयी है या स्वेद से भीग गये हैं इसके वस्त्र । तो मैया ! तू अपने घर से इसके लिये लहँगा ला दे और ओढ़नी भी ।

अघटन-घटना-पटीयसी योगमाया का ..... अचिन्त्य लीला महाशक्ति का एक आवरण आ जाता है । मैया के दृष्टिपथ से ग्वालिन अन्तर्हित हो जाती है और मैया विस्मृत कर जाती है गत साढ़े तीन प्रहर की घटनावली को । उसे भान होता है, 'नीलमणि भी यहाँ नहीं है । कहीं गोशाला में खेलने गया है।'

अटपटे प्रश्नों का साधन रहस्य

प्रकृति से ....निर्गुण (प्रीति गुणों के) धरातल पर अविराम भाव से चलने वाली व्रजेन्द्रनन्दन की इस उपर्युक्त लीला के अन्तराल में, उनके अटपटे प्रश्नों में ब्रज के मधुर भाव की साधना का एक बड़ा ही अद्भुत संकेत पू० गुरुदेव दे रहे हैं । अवश्य ही पू० गुरुदेव के द्वारा दिये गये इस संकेत को हृदयंगम वही कर सकता है, वही कर सकती है, जो सचमुच अपने हृदय को दही का प्रतीक बनाकर इस ग्वालिन की भाँति अपने सिर पर, दूसरे शब्दों में - अपने विवेक पर प्रतिष्ठित कर नन्दनन्दन को खोजने की अभिलाषा लिये हो । साधना का प्रवाह कैसे चलता है - यह अनुभव उसी के लिये संभव है, जो अन्य अभिसन्धियों से सर्वथा शून्य होकर, साधना में ही अपने मन-प्राण को तन्मय कर देने में जुट पड़ता है । और फिर वहीं जहाँ वह है, जिस परिस्थिति में है भगवत्कृपा के प्रकाश की प्रतीक्षा करता रहता है। यह सिद्धान्त सत्य है, ब्रजभाव के साधक को विवेक का आधार तो रखना

पड़ेगा ही । किन्तु उस पर अपने हृदय के भावों की प्रतिष्ठा कर, उसके प्राबल्य को सुरक्षित रखना होगा । उसका भाव ही तो उसका भगवान् है जो व्रजेन्द्रनन्दन के साथ मिलन कराने में हेतु बनेगा । यह निष्ठा तो उसे रखनी ही होगी । जो भावों के प्रवाहों को गौण कर, विवेक को ही प्रधान कर, ब्रजभाव की साधना में चलते हैं, उनके लिये ब्रजभाव की साधना केवल चित्त शुद्धिका दान कर सकेगी । रसराज और महाभाव के संविन्मय स्वरूप का अनुभव उन्हें हो ही जाय, यह कहना बड़ा कठिन है । साथ ही यह भी सत्य है - दृष्य से सर्वथा ऊपर उठकर ही **"सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म"** में पूर्ण परिनिष्ठा जिनकी है, उनके लिये ही, ब्रजभाव के वास्तविक स्वरूप की अनुभूति संभव होती है । इसलिये ही विवेक पर हृदय को प्रबल करके और फिर साधना में जुटकर भगवत्कृपा की प्रतीक्षा करने का मार्ग ही निरापद और निश्चित रूप से ध्येय की प्राप्ति कराने वाला माना गया है । पू० गुरुदेव की मान्यता है कि प्रतिभा के आश्रय से ब्रज रसके सत्य स्वरूप की प्राप्ति आज तक तो नहीं देखी गयी, और उपर्युक्त चिन्मयीलीला में पू० गुरुदेव इसका सुस्पष्ट संकेत हमें प्राप्त करा रहे हैं ।

ग्वालिन आई है दही बेचने - नहीं-नहीं, अपने हृदय को व्रजेन्द्रनन्दन के चरण सरोरुहों में समर्पित करने को । उसका विवेक उसके हृदय को स्थिर किये हुए है, किन्तु साथ ही उसके ग्राहक नन्दनन्दन और नन्दनन्दन से सम्बद्ध सबके लिये उसके हृदय का स्वरूप सुस्पष्ट है । आवरण के अन्तराल में रहने पर भी किसी को भ्रान्ति नहीं है कि उसका रूप क्या है ? वाणी के द्वारा भी ग्वालिन घोषित कर रही है - वह क्या बेचने आयी है। वैसे ही साधक भी जो सच्चा साधक है, सबके समक्ष आवरण शून्य रहता है। उसके हृदय के स्वरूप के संबंध में किसी को भी भ्रांन्ति नहीं है कि उसका रूप क्या है ? इतना निर्मल वह होता है । पुन: ग्वालिन पुकार अवश्य कर रही है दही के ग्राहक की, परन्तु ऐरे-गैरे ग्राहक को वह दही दे भी नहीं रही है । ठीक इसी प्रकार सच्चा साधक घूमता अवश्य है, परन्तु उसकी गति होती है नन्दनन्दन की ओर ही । अपने हृदय को अन्य किसी के चरणों में वह समर्पित कर ही नहीं सकता ।

ग्वालिन की साधना में कहीं भी विश्राम के लिये अवकाश नहीं । आधे क्षण के लिये भी ग्वालिन नहीं ठहरती कहीं - साधक भी कहीं किसी अन्य की ओर देखता ही नहीं । और तब नन्दनन्दन की जननी के कानों में ग्वालिन

की पुकार पहुँचती है । .... ठीक वैसे ही सच्चे साधक की पुकार सच्चे महापुरुषों के, सच्चे महासिद्धों के ध्यान को आकर्षित कर लेती है । नन्दनन्दन पर आधिपत्य है एकमात्र नन्दगेहिनी का, वैसे ही सच्चे महासिद्धों की ही निधि है भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन ! मैया आती है, वैसे ही महासिद्ध भी अन्त में आ ही जाते हैं, अपनी निधि का दान करने, किन्तु नन्दनन्दन खरे सौदागर हैं और प्रीति की परीक्षा करने के अनन्तर ही, प्रीति की विशुद्धता को परखने के उपरान्त ही अपने स्पर्श का दान करते हैं । इसलिय महासिद्धों की गति भी तब तक अवरुद्ध ही रहती है, जब तक साधक उन आवश्यक साधना के अंशों में उत्तीर्ण नहीं हो जाता । यहाँ का कालमान बदल नहीं सकता किन्तु साधक की परीक्षा समाप्त होते ही सम्पूर्ण प्रतिबन्धकों का अवसान करके मिलन का क्षण उपस्थित कर ही दिया जाता है ।

मैया पूछ गयी है कितने प्रश्न ग्वालिन से, ठीक वैसे ही महासिद्ध भगवत् संयोग की सिद्धि के लिये, उसके लिये आवश्यक वेदना उत्पन्न कर देने के लिये भूमिका का निर्माण कर देते हैं । ग्वालिन अदर्शन की वेदना ज्वाला में जलने लगती है, साधक के लिये भी महासिद्धों के द्वारा निर्मित उस भूमिका का पर्यवसान होता है, मिलन की उत्कष्ठा के लिये धक्-धक् करते हुए अग्निताप में । और ग्वालिन के समक्ष नन्दनन्दन आ ही गये, और वैसे ही आ जाते हैं नन्दनन्दन साधक के सामने भी । क्षणिक चिन्मय संस्पर्श ग्वालिन को अभिभूत कर लेता है, साधक को भी नन्दनन्दन का स्पर्श आत्मसात् कर लेता है । और तब दधि के आस्वादन की प्रक्रिया जैसे वहाँ चली, वैसे ही संविन्मय-स्वरूप विलास का समुद्र हिलोरें लेने लगता है । वे अटपटे प्रश्न संविन्मयी लहरें हैं । अवश्य ही उनका सम्बन्ध तट से - नन्दनन्दन स्वरूप महासिद्ध से कथन-मात्र के लिये रह जाता है । लहरें अपने आप में ही, अपने-आपके प्रति ही नाचती रहती हैं ।

नन्दनन्दन की आँखें केवल स्वरूपभूता वृषभानुनंदिनी राधाकिशोरी, राधाकुमारी को ही देखती हैं । ओर इसलिये रस समुद्र की ऊर्मियाँ अपने-आप में ही, अपने आप से ही विलसित होती हैं । किन्तु साधक के लिये उसी स्थान पर पूर्णरूप से सम्पूर्ण जीवन की साधना का संकेत रहता है - साथ ही स्वरूप विलास का रूप अक्षुण्ण विराजित रहता है :-

१. **तो क्या संध्या के समय दही बिकता है ?** - जीवन की संध्या आने से पूर्व ही ऐसी व्याकुलता का बिन्दु सृष्ट करलो, जहाँ तुम्हारे हृदय के

समर्पण को स्वीकार करने के लिये मुझे तुम्हारे सामने अभिव्यक्त हो जाना पड़े । तुम्हारे हृदय का ग्राहक मैं ही हूँ । परन्तु तब तक तुम्हारे समक्ष आऊँगा भी नहीं, जब तक मेरे लिये आत्यंतिक व्याकुलता की लहरों में तुम्हारी सत्ता विलीन होती मुझे न दिखे । तुम पर शक्ति संचार हो चुका था, मध्यान्ह आने से पूर्व ही - किन्तु वह शक्ति मूर्त नहीं हो सकी अपने संपूर्ण वेग से ग्राहकता शक्ति के अभाव में ।

ग्राहकता शक्ति का परिवर्धन तुम्हारे हाथ में है .... । वह शक्ति ग्राहकता का उन्मेष भी करेगी अवश्य .... पर यदि तुम्हारी आँखें केवल मुझ ग्राहक की ओर टिकी रहकर, लज्जा छोड़कर केन्द्रित रहेंगीं मेरी ओर ही .... आँखें किसी भी दिशा की ओर न जाकर, और अपने पुरुषार्थ - की गति को बन्द कर यदि मेरी ओर ही स्थिर हो जायेंगीं तो उस आकुलता का बिन्दु सृष्ट हो जायेगा जीवन की संध्या के आने से पूर्व ही - अन्यथा अन्तिम क्षण में ही मेरा स्पर्श तुम्हें प्राप्त होगा । होगा अवश्य .... पर साँझ होने से पहले ही, अन्तिम साँस आने से पूर्व ही, पर्याप्त पहले भी तुम मेरा संस्पर्श प्राप्त कर सकते हो, वह व्याकुलता सृजन करके । ...

नित्य निकुंजेश्वरी वृषभानुनन्दिनी ! प्राणों की उत्कण्ठा लिये मैं तुम्हारी ही प्रतीक्षा कर रहा था - तुम्हारे रसमय हृदय के आस्वादन की, किन्तु तुम उस आकुलता पर द्रवित हुईं तब, जब निराशा के बिन्दु को मैं छूने लगा..।

क्या मैं इतने विलम्ब से तुम्हारे दर्शन का अधिकारी हूँ तो जैसे तुम मुझसे रूठ जाती हो, वैसे अब मैं भी रूठा हूँ तुमसे .... । आँखें अपलक निहार रही थी केवल, केवल, केवल, तुम्हें । पर गुरुजनों की लाज मुझे बाध्य कर रही थी बाहर नहीं आने के लिये । तुम क्यों नहीं कक्ष में चली आयी ।

मेरी लज्जा के आवरण को तो तुम्हें तोड़ना ही पड़ेगा । चाहकर भी मैं मिल नहीं पाऊँगा तुमसे, यदि तुम मुझ पर अहैतुकी कृपा का प्रकाश न करके स्वयं मेरे पास नहीं आ जाओगी । ... तुम्हीं सोचो कदाचित् मैया बाहर नहीं आती तो अपनी लज्जा को मैं तो छोड़ नहीं पाता । तुम अब आगे तो मुझ पर उस कृपा का प्रकाश करो - प्रातः समीर के समय हम दोनों एक बार मिलकर और .... ।

२. **"यह तो न जाने क्यों यहाँ आकर नींद में सो रही है ।"** तुम्हारी सारी भ्रान्ति दूर हो जायेगी और तुम परमानन्द में निमग्न हो जाओगे - बाह्य दृष्टि से मानो तुम मुझे नहीं देख रहे हो, ऐसी प्रतीति होने पर भी ।"

"किशोरी ! प्राणों की रानी !! मैंने तो तुम्हें कुछ भी नहीं कहा ? क्या मेरा कहना अनुचित था ? क्यों तुमने मेरी ओर से आँखें फेरलीं .... ?

३. ..... **थक गयी है क्या मैया** .....? - तुम्हारे अनन्त अपरिसीम आनन्द में निमग्न रहने पर भी मेरी करुणा की लहरें तुम्हारे लिये उत्तरोत्तर अप्रतिम सुख का सृजन करती रहेंगी । वे लहरें तुम्हारा पाद संवाहन करती रहेंगी ।

किशोरी ! कितनी दूर से चलकर तुम आयी हो ? मैं तुम्हारे चरणों को अपनी अलकों से पौंछकर निहाल होऊँ।

४. **तो अब रात को अपने घर कैसे जायगी ?** - एक बार मुझसे मिलन हो जाने के पश्चात् तुम माया के आवरण में नहीं जा सकते । दुख तुम्हें स्वप्न में भी छू नहीं सकेगा ।'

'मेरे शत सहस्र प्राणों की रानी । आज की रजनी तो इस कदली निकुंज में ही हम दोनों अतिवाहित करें ।

५. **'तू इसे अपने घर ही क्यों नहीं रख लेती** .... ?' तुम्हारे अन्दर संकल्प ही नहीं जगेगा कोई-सा भी । फिर वेदना का, दुख का सदा के लिये अन्त हो जायगा तुम्हारे लिये । तुम मेरे चरणों को छोड़कर अन्यत्र कहीं सुख की अनुभूति ही नहीं कर सकोगे ।'

जीवनेश्वरि ! मेरे अंक में तुम्हारे चरण विराजित रहने पर तुम्हें सुखानुभव होगा कि नहीं, कह नहीं सकता। किन्तु आज कुछ क्षणों के लिये, आज की रजनी के लिये मुझे यह सौभाग्य दे दो । और तुम मुझे बतला देना, तुम्हारी भ्रान्ति का अपनोदन हुआ कि नहीं ?

६. **इसके घर में कौन-कौन हैं मैया** ? माया का आवरण नष्ट हो जाने के कारण फिर तुम्हें नित्य-निरन्तर सर्वत्र केवल मेरी ही मेरी उपलब्धि होगी।'

'प्राणों की रानी ! यह बतलाओ, आज जब तुम आ रही थीं, तब द्वार पर कौन-कौन खड़े थे ? किन्तु तुम्हारी आँखें तो मेरे अतिरिक्त कुछ भी नहीं देख पाती । तुम कैसे बतला सकोगी ? .... ओह ! इस तन्मयता का एक कण भी कदाचित् मैं स्पर्श कर पाती ।

७. **यह भूखी दीख रही है** .... ? तुम्हारे अन्दर कोई वासना न रहने पर भी जितनी वासनाओं का सृजन तुम्हारे द्वारा हुआ था, उनकी आत्यन्तिक पूर्ति का अनुभव भी तुम्हें हो रहा है कि नहीं । .... तुम्ही बतलाओ।"

प्राणेश्वरि । अब मैं तुम्हें अपने संविन्मय रस में स्नान कराऊँ क्या ?

८. **अच्छा... प्रातःकाल यही पुकार रही थी, 'दही लो ..... ।** .... तुम्हें यह भी अनुभव हो जायगा कि मैं सतत् जागरूक था तुम्हारी गतिविधि की ओर से और तुम्हें मान हो रहा था, मानो मैं उदासीन हूँ तुम्हारी ओर से ।'

"मेरे नयनों की पुतरी । मुझे प्रातःकाल से ही भान तो अवश्य हो रहा था कि तुम मिलने आयी हो मुझसे, किन्तु .... उस कारण से तुम्हें विलम्ब हो रहा था मेरे पास आने में ।

९. **मैया ! यह तो वृषभानुपुर की दिखती है ?** तुम्हें मुझसे मिलने से पूर्व मेरी प्रियतमा वृषभानु किशोरी के पदचिन्ह जहाँ पड़े होंगे, उस धूलि की अर्चना करनी पड़ेगी । यह धूलि ही तुम्हें अधिकार का दान करेगी।

भानुनन्दिनी ! हम दोनों को भी तो भानुपुर चलना ही है ।

१०. **वही, वही गाँव – तुझे याद है न री मैया ! तू पूछ तो इससे वह बात ।'** – तुम भूले नहीं होओगे, कैसे तुम्हारी यह साधना, वह अनुभूति, रस की साधना में परिणत हो गयी थी ? क्यों ? अब तो अचरज नहीं हो रहा है मेरी उन प्रेरणाओं पर ।"

'प्राणेश्वरी, उस बकुलतरु की घटना याद है, न ?

११. – **'तू कितनी देर सोयेगी री !'** – अब तुम देखो, कहीं तुम्हारी आँखें जाती है क्या अन्यत्र मुझे छोड़कर ?

'प्राण संजीवनी ! कब मैं तुम्हारी उस कृपा का अधिकारी बनूँगा ?

१२. – **'ऐ मैया ! घर वाले इसे अपने घर में न देखकर इसे खोजने आयेंगे कि नहीं ....?'** – अब तुम्हें माया की छाया भी देख नहीं पायेगी । निश्चिन्त रहना, भला ! इसलिये कह रहा हूँ कि भक्तिरस से विशुद्धतम आवेश में तुम्हें भय की भ्रान्ति कदाचित् हो जाय ।'

'प्राणेश्वरी ! वहाँ उस कक्ष का द्वार कदाचित् खुला रह गया हो तो .... ।

१३. **तो तू बाबा को भेज दे इसके घर । कह आयेंगे – 'आज तो मेरे ही घर रहेगी यह .... !'** तुम जिन-जिन से जुड़े हुए थे, जिन-जिनके मन में तुम्हारे प्रति तनिक भी महत्व था, वे भी मेरा संस्पर्श करेंगे भला ।'

'तुम चिन्ता मत करो, मेरे प्राणों की रानी ! ललिता, विशाखा, आदि ने निश्चित रूप से .... उसकी भी व्यवस्था अवश्य कर दी होगी ।'

१४. **यहाँ तो कोई दही बेचने नहीं आती थी, री ।** देखो, हजारों हजारों में कोई एक ही मेरी ओर मुझे ढूँढ़ने चल पड़ता है ।'

प्राणाधिके ! मुझे सुख देने के लिये तुमने आज कुछ भी उठा नहीं रखा।

१५. ... **यह मुझसे कितनी बड़ी है मैया !** ... तुम जिस दिन, जिस क्षण मेरी ओर चले हो - उसी दिन, उसी क्षण से मैं तुम्हारा पुजारी हूँ ।

'प्राणों की रानी ! प्राणवल्लभ !! अनन्त काल तक मैं तुम्हारा ऋण परिशोध नहीं कर सकूँगा ।

१६. **तू इससे पूछ इसका विवाह हुआ है या नहीं ?'**

"तुम्हें स्मरण होगा - कैसे मैंने क्षणों में ही तुम्हारी ममता के समस्त बन्धनों को तोड़ दिया था ।"

'प्राणेश्वरी ! मेरे प्राणों की आराध्य देवी !! काल के अनादि प्रवाह में मेरे अतिरिक्त तुम्हारी आँखें अन्यत्र गई ही नहीं ।

किन्तु हाय रे ! मैं तुम्हारे योग्य बन नहीं सका ... ।

१७. **"वही, वही, वही .... सपने की बात तुझे याद है न ? अरी मैया ! कहीं वही तो नही है री !"** 'उस प्रथम स्वप्न में भी मैं ही मूर्त्त हुआ था, भला ! वह तुम्हारी स्वप्नानुभूति नहीं थी । वास्तविकता ही किञ्चित् आवरण लिये व्यक्त हुई थी ।'

"प्राणवल्लभे ! तुम्हारा स्वाप्निक संस्पर्श भी कितना प्राणोन्मादी होता है, इसे किन शब्दों में कहूँ ... ।"

१८. **'पर यह तो मुझसे लम्बी अधिक है और तूने तो आयु में उसे मुझसे छोटा बताया था ....** ? देखो ! साधना की दिशा में तुम्हारी प्रगति बहुत ही छोटी आयु में पर्याप्त हुई थी और तुमने अपने भाव के प्रवाह में मेरे प्रीति-प्रतिदान को लघु-लघुत्तर-लघुत्तम बना दिया । मैं तुम्हारी प्रशंसा नहीं कर रहा हूँ, भला ! ध्रुव सत्य को प्रकट कर रहा हूँ । ऋण परिशोध का एक नगण्य प्रयास कर रहा हूँ ।'

'जीवन संगिनी ! शैशव की प्रथम किरणों से ही आरम्भ कर तुमने मेरे प्रति-प्रतिक्षण वर्धमान जिस अनुराग का परिचय दिया है, उसकी विशालता एवं नन्दसदन की भूमि को स्पर्श करने के आरम्भ से मेरी हृदयहीनता का चित्रण न तो कोई कर सका है और न कोई आगे कर सकेगा ?'

१९. - **'तो एक दिन में कहीं मेरे से लम्बी वही हो गयी हो तो क्या पता ? दिन भर दौड़ने के कारण लम्बी हो गयी हो तो क्या पता ?'** देखो

मेरी सर्वज्ञता मानो कुंठित हो जाती थीं तुम्हारे साधन की लगन को, गरिमा को, आँकने में ।

'प्रियतमे ! मेरे प्राण आज भी लज्जा का अनुभव कर रहे हैं तुम्हारे निरन्तर निमीलित बने नयन - सरोरुहों की स्मृति से, और अपनी चंचल आँखों की नीरसता के चिन्तन से ।

२०. - **ऐ मैया ! तू जरा इसे छूकर बता कि यह सो रही है कि केवल सोने की नकल कर रही है ?"** - तुम्हें स्मरण होगा - ध्यान की तन्मयता में तुम दृष्य को सर्वथा विस्मृत कर चुके थे - आज से बहुत दिवस पूर्व ही । और उस समय मैं तुम्हारे पास खड़ा होकर जो तुम्हें जगाने का प्रयास कर रहा था, उसमें मेरी सर्व समर्थता भी पंगु बन गयी थी ।'

"प्राणेश्वरी ! स्मृति लेकर आया था मैं, उसके द्वारा पद्मपराग को मेरी आँखों पर बड़ी चतुराई से फूँक देने की प्रवृत्ति को और छद्मनिद्रा के अन्तराल से तुम्हारे मनोभावों को पढ़ता जा रहा था उस दिन । तीन घड़ी तक निरन्तर वेषभूषा से सज्जित होकर आने की, उसके व्यर्थ हो जाने की स्मृति तक तुम्हें नहीं थी । हाय रे ! आधे क्षण के लिये भी काल के प्रवाह में मैं तुम्हारे विशुद्ध अनुराग को छू सकता ... ।

२१. - **देख मैया ! इसके पेट में गुदगुदी कर, सोयी होगी तो जाग जायगी, नहीं तो हँस पड़ेगी ...!'** तुम समझ नहीं पाये थे, उस दिन मैं सोच रहा था, तुम्हें नैर्गुण्य में प्रतिष्ठित कर दूँ अथवा अपना संयोग दान करूँ । किन्तु तुम्हारे भाव का प्रवाह दोनों की ओर से उदासीन रहकर अपनी गरिमा में प्रसरित हो रहा था । पुनः मेरी 'कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुम्' सामर्थ्य मुझे छोड़ सी गयी ।"

'मेरे असंख्य प्राणों की प्राण ! तुम्हारी मुझे सुखदान की अभिलाषा उस दिन जिस गरिमा से मूर्त्त हुई थी, यदि उसके एक कण का भी प्रतिदान मैं दे पाता तो मेरा जीवन कृतार्थ हो जाता । स्वसुख वासना के आत्यन्तिक अभाव का वह निदर्शन अनन्त काल तक मेरी दृष्टि को नीचे ही किये रहेगा । प्रतिदान की लालसा की ऐसी निर्बीजता कदाचित् कभी मुझमें भी त्रुटिभर के लिये ही, स्वप्न में ही मूर्त्त हो जाती ।

२२. **अथवा इसके मुँह में थोड़ा दही तू डाल दे यदि खाने लगेगी तो समझ लेना, जगी हुई है, किन्तु यदि नकल कर रही होगी तो चुपचाप दही ढ़रका भी देगी।'** - और उस उषाकाल के समय जब मैं अपना मन तुमसे

मिलाने चला था, उस समय तुम्हारे असमञ्जस की वृत्ति कैसी हुई थी, वह भूल ही नहीं सकूँगा ।

प्राणों की रानी ! अनन्त काल तक के लिये वेदना के अश्रुओं को वरण कर लेना तुम्हारी ही महिमा है । क्या तुम्हारे चरण सरोरुह की एक रजःकणिका से अपनी आँखों को आँजकर मैं भी कभी दो बूँदें गिराकर अपने पीले दुकूल को सिक्त कर सकूँगा ....?

२३. **मैया ! तू कोई उपाय कर, जिससे मैं जान सकूँ कि यह सोयी है या सोने की नकल कर रही है ।'** और फिर चैत्रवन के पुष्पों की ओट में तुम्हें लाकर प्रकृतिस्थ करने का मेरा विचार मुझे कितना हास्यास्पद लगा था, वह कहने में भी मुझे लज्जा का अनुभव हो रहा है ?

"प्राणाधिके ! स्वप्न के उस उदुम्बर वृक्ष की स्मृति लेकर तुम्हारे उस उन्माद की मुखश्री मुझे इस क्षण भी विक्षिप्त बना दे रही है ।"

२४. **'अरे ! इसके तो सारे परिधान गीले हो रहे हैं । तो यमुना में नहाकर आयी है, या स्वेद से भीग गये हैं इसके वस्त्र ! तो मैया ! तू इसके लिये अपने घर से लहँगा लादे और ओढ़नी भी ।** - 'तुम्ही मैं हूँ, मैं ही तुम हो । और फिर मैं भी हूँ तुम भी हो । बतलाओ मेरे हृदय ! कैसी अनुभूति हो रही है इस समय तुम्हें ।

"प्रियतमे ! प्राणाधिके !! प्राणेश्वरी !!! तुम्हारे बिना मेरा कोई अस्तित्व ही नहीं, न था, न होगा ।"

नन्दनन्दन की उपर्युक्त प्रश्नावलि के अन्तराल में किसी की कृपा अभिषिक्त आँखें इन संकेतों का सुस्पष्ट दर्शन कर ही लेगीं इसमें कोई सन्देह नहीं है ।

उपरोक्त पद व्याख्या में
पू० गुरुदेव की जीवन कथा का निहित रहस्य

इस दही बेचने वाली ग्वालिन के रूप में पू० गुरुदेव ही हैं । पू० गुरुदेव का विवेक यद्यपि उनके हृदय को स्थिर किये है, विवेक के पूर्णाश्रय से ही उन्होंने अपना जीवन पथ गृहस्थ त्याग कर सन्यासी का बनाया है, परन्तु वे सम्पूर्ण विश्व के सम्मुख जैसे हैं, वैसे सुस्पष्ट हैं । उनमें कहीं भी छल-कपट दुराव नहीं है । वे भगवान् अन्तर्यामी के सम्मुख जिस प्रकार से स्वच्छ हैं,

वैसे ही विश्व के सम्मुख भी निर्मल, स्पष्ट, दुरावरहित हैं। सन्यासी के आवरण के अन्तराल में रहने पर भी किसी को किञ्चित् भी भ्रान्ति नहीं है कि वे क्या हैं ?

वाणी के द्वारा भी वे वही घोषित कर रहे हैं कि वे क्या बेचने आये हैं । वे निर्गुण निराकारवादी हैं तो वे प्रवचन करने के लिये सगुण साकारवादी नहीं है । वे स्वामी रामसुखदासजी महाराज, श्रीसेठजी जयदयालजी गोयन्दका अथवा श्रीपोद्दार महाराज भाई हनुमानप्रसादजी के सम्मुख भी शुद्ध, अद्वैत, वेदान्ती, सगुण साकार तत्व को मायोपाधिक मानने वाले ही हैं । कहीं भी छल नहीं, पूर्ण निर्मलता उनमें भरी है । वे ब्रह्मज्ञानी महापुरुष होते हुए भी, कोढ़ियों के मध्य अपने अबाध समत्व की स्वसंवेद्य परीक्षा ले चुकने पर भी यदि चीनी (मीठा) रुचिकर अनुभव करते हैं तो श्रीसेठजी को अपनी कमजोरी निष्कपटता पूर्वक बता देते हैं । अपने को ब्रह्मज्ञानी सिद्ध करने के लिये अपने दोष सर्वथा छिपाते नहीं हैं । जैसे भीतर हैं वैसे ही बाहर हैं । साधक का यही स्वरूप भगवान् को रिझाता है ।

वे अपने अद्वैत ज्ञान के ग्राहक की पुकार अवश्य कर रहे हैं परन्तु उनकी गति है, भगवान् की ओर ही । किसी अन्य वस्तु की, मान-प्रतिष्ठा, अहंपूजा, धन, वैभव की उन्हें सर्वथा इच्छा नहीं है । अपने हृदय को भगवान् के सिवाय उन्होंने अन्य किसी के लिये भी समर्पित नहीं किया है ।

पू० गुरुदेव अपनी साधना में अनवरत लगे हैं । क्षण भर के लिये भी उन्हें विश्राम के लिये अथवा इधर-उधर मुड़ने, पीछे उलटने-पलटने के लिये अवकाश ही नहीं है । वे कहीं भी विश्राम नहीं करते और तब नन्दनन्दन की जननी के कानों में जैसे ग्वालिन की पुकार पहुँचती है, ठीक वैसे ही पू० गुरुदेव की भी पुकार पू० पोद्दार महाराज जैसे सच्चे महापुरुषों के, सच्चे महासिद्धों के ध्यान को आकर्षित कर लेती है । नन्दनन्दन पर आधिपत्य है एकमात्र नन्दगेहिनी का, वैसे ही सच्चे महासिद्धों की ही निधि हैं, भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन ! मैया आती है, उसी प्रकार महासिद्ध श्रीपोद्दार महाराज भी आ ही जाते हैं, अपनी निधि श्रीकृष्ण का उन्हें दान करने । किन्तु नन्दनन्दन खरे सौदागर है, प्रीति की परीक्षा करने के अनन्तर ही अपने स्पर्श का दान, दर्शन का दान करते हैं। इसीलिये महासिद्धों की गति भी अवरुद्ध ही रहती यदि पू० गुरुदेव भगवान् श्रीकृष्ण की परीक्षा में खरे नहीं उतरते । पू० गुरुदेव की लगातार ढ़ाई-तीन वर्ष गीता विवेचनी के कार्य सम्पन्न होने तक

श्रीकृष्ण द्वारा परीक्षा ली गई । इसके पश्चात् भी पोद्दार महाराज के विषम आचरणों द्वारा उनकी लगातार परीक्षा हुई । परीक्षा समाप्त होने पर पू० पोद्दार महाराज द्वारा उन्हें दीक्षा दी गयी और तब निकुंज प्रवेश का अधिकार उन्हें मिला । उसके पश्चात् ही श्रीराधारानी के उन्हें दर्शन हुए । सभी प्रतिबन्धकों का उनके जीवन में अन्त आ गया । क्षणिक चिन्मय संस्पर्श ने जैसे ग्वालिन को अभिभूत कर लिया इसी प्रकार पू० गुरुदेव को भी नन्दनन्दन का संस्पर्श आत्मसात् कर लेता है । और तब दधि के आस्वादन की प्रक्रिया वहाँ चली ठीक इसी प्रकार संविन्मय स्वरूप विलास का पू० गुरुदेव के जीवन में भी समुद्र हिलोरें लेने लगा । ये अटपटे प्रश्न संविन्मयी लहरें ही हैं।

नन्दनन्दन की आँखें तो साधक को देखती ही नहीं हैं, वे तो स्वरूपभूता वृषभानुनन्दिनी, राधाकिशोरी, राधाकुमारी को ही देखती हैं । अतः इन प्रश्नों का अर्थ पू० गुरुदेव द्वारा रस मार्ग के साधकों के लिये तथा राधाभाव भावित रस-सिद्ध सन्तों दोनों के लिये किया है । पाठक अपने-अपने अधिकारानुसार इनमें रसावगाहन करेंगें। इत्यलम् ।।

....

"नाहिन रह्यौ हिय माँहि ठौर" पद की व्याख्या

घटना सन् १९३७ ई. की है । पू० गुरुदेव गोरखपुर में ही श्रीपोद्दार महाराज के सत्संग में आये थे । सत्संग के पूर्व श्रीपोद्दार महाराज ने पू० गुरुदेव से श्रीमद्भागवत के किसी श्लोक का अनुवाद करके सुनाने का आग्रह किया ।

पू० गुरुदेव ने श्रीमद्भागवत के उद्धव प्रसंग के इन श्लोकों का अनुवाद करके सुना दिया ।

यह कथन एकान्त में भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने प्यारे सखा उद्धव से गोपीजनों के सम्बन्ध में कहा था-

ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे व्यक्त दैहिकाः ।
ये त्यक्त लोक धर्माश्च मदर्थे तान् विभर्म्यहम् ।।
मयि ताः प्रेयसां प्रेष्ठे दूरस्थे गोकुलस्त्रियः ।
स्मरन्त्योऽग विमुह्यन्ति विरहौत्कण्ठ्य विह्वलाः ।।
धारयन्त्यति कृच्छ्रेण प्रायः प्राणान् कथंचन ।
प्रत्यागमन सन्द्रेशैर्वल्लव्यो मे मदात्मिकाः ।।
(श्रीमद्भागवत १०/४६/४-६)

पू० गुरुदेव ने इन श्लोकों का अर्थ करके सत्संग में सुनाया - हे उद्धव ! गोपियों ने अपने मन एवं प्राण मेरे अर्पण कर दिये हैं । मेरे लिये सारे शारीरिक सम्बन्धियों को और लोक सुख के साधनों को त्यागकर वे मुझमें अनुरक्त हो रही हैं । मैं ही उनके सुख और जीवन का कारण हूँ । गोकुल की उन स्त्रियों को मैं प्रिय से प्रिय हूँ । मेरे दूर रहने के कारण वे मेरा स्मरण करती हुई मेरे विरह में अत्यंत ही विह्वल और विमोहित हो रही हैं । मेरे शीघ्र गोकुल लौटने के सन्देश के भरोसे ही अपने आत्मा को मुझमें समर्पण कर देने वाली वे गोपियाँ बड़ी कठिनाई से किसी प्रकार जीवन-धारण कर रही हैं।"

पू० गुरुदेव के श्रीमद्भागवत के श्लोक के पश्चात् पू० श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी ने एक पद गायन पू० भाईजी के संकेतानुसार किया । पद था -

नाहिन रह्यौ हिय माँहि ठौर ।
नन्दनन्दन अछत कैसें आनिये हिय और ।
चलत-चितवत दिवस-जागत सुपन सोवतरात ।
हृदयते यह स्याम मूरति छिन न इत उत जात ।
कहत कथा अनेक ऊधौ ! लोक लाज दिखात ।
कहा करौ तन प्रेम पूरन, घट न सिन्धु समात ।
स्याम गात सरोज आनन, ललित गति मृदु हास ।
सूर ऐसे रूप कारन मरत लोचन प्यास ।।

श्रीगोस्वामीजी महाराज यह पद गा रहे थे एवं पू० गुरुदेव के सम्मुख श्री उद्धवजी प्रकट हो गये । गीतावाटिका का वह बरामदा जिसमें सत्संग हो रहा था, सब सत्संग सुननेवाले श्रोतागण एवं श्रीपोद्दार महाराज सभी पू० गुरुदेव की दृष्टि से लुप्त हो गये । उनके सम्मुख तो मूर्त्तिमान उद्धवजी व्यक्त थे और प्रेम-रस-निमग्ना गोपी बने पू० गुरुदेव अपनी मनः स्थिति उन उद्धवजी के सम्मुख व्यक्त कर रहे थे ।

"उद्धव ! क्या करूँ, तुम्हारी बात ठीक है, पर हृदय में जगह ही नहीं - दूसरी वस्तु को, तुम्हारी चर्चा को कहाँ रखूँ ? हृदय को तुम देख लो, इसमें

तो केवल श्यामसुन्दर ही श्यामसुन्दर भरे हैं । मैं चाहूँ तो भी क्या करूँ ? जबकि जगह ही नहीं बच रही है । उद्धव ! तुम्हीं बताओ, प्रियतम प्राणनाथ श्यामसुन्दर को छोड़कर उनकी जगह दूसरे किसी को कैसे बैठाऊँ ? मेरे श्यामसुन्दर ने मेरे हृदय को चारों ओर से घेरकर छा लिया है । उनके रहते हृदय में दूसरा कैसे आवे ? नहीं, नहीं उद्धव ! असंभव है, प्राण भले ही चले जावें, परन्तु अब इस हृदय में दूसरे का प्रवेश नहीं हो सकता । यहाँ तो बस, नित्य निरन्तर श्यामसुन्दर ही रहेंगे ।

उद्धव ! तुम्हें विश्वास नहीं होगा - वह मूर्त्ति, प्यारे श्याम सुन्दर की मूर्त्ति कभी एक क्षण के लिये भी हृदय से नहीं हटती । मैं चलती हूँ, उस समय भी श्यामसुन्दर की छवि मेरे हृदय में रहती है । मैं जिस क्षण अपनी दृष्टि को बाहर किसी और पदार्थ की ओर ले जाती हूँ तो देखती हूँ, वहाँ भी मेरे श्यामसुन्दर की छवि है, हृदय में भी, बाहर भी केवल श्यामसुन्दर ही दीखते हैं । दिनभर जब तक जागती रहती हूँ, तब तक श्यामसुन्दर, एक मात्र श्यामसुन्दर ही नजरों के सामने रहते है । रात में जिस क्षण सोने की चेष्टा करती हूँ, आँखें मूँदती हूँ, उस समय भी प्रियतम का तिरछी चितवनयुक्त मुखसारविन्द सामने रहता है । स्वप्न देखने लगती हूँ, देखती हूँ - श्यामसुन्दर आये हैं, मेरे सामने खड़े है, मेरी ओर तिरछी चितवन से देख रहे हैं । मैं पकड़ने दौड़ती हूँ, वे पीछे हटने लग जाते हैं । मैं सहम जाती हूँ, वे भी खड़े हो जाते हैं। फिर पकड़ने के लिये दौड़ती हूँ, फिर भागने लगते हैं। इस प्रकार उनको न पकड़ पाने पर मैं जब रोने लगती हूँ, तब बस हँसकर मुझे हृदय से लगा लेते हैं । आँखें खुल जाती हैं । मैं देखती हूँ, विचार करती हूँ, वह सब स्वप्न था, पर फिर ज्यों ही सामने देखती हूँ - पाती हूँ वे तो सामने खड़े हैं, ये हैं, ये हैं ।

इस प्रकार उद्धव ! एक क्षण के लिये भी प्राणवल्लभ की वह घुँघराली अलकों वाली छवि मेरे मन से नहीं हटती । उद्धव एक क्षण के लिये भी प्यारे श्यामसुन्दर के सिवा और कोई वस्तु मुझे दृष्टिगोचर ही नहीं होती । नाराज मत होना - तुम श्यामसुन्दर के सखा हो, तुम्हारी बात पर मैं ध्यान नहीं दे पा रही हूँ, परन्तु ध्यान न दे पाने के लिये लाचार हो गयी हूँ, उद्धव, कोई भी उपाय शेष रह नहीं गया है । उद्धव ! न जाने श्यामसुन्दर मेरे प्यारे ने तुम्हें सिखाकर भेजा है या तुम अपने मन से ही इस योग की बात सुना रहे हो, पर कुछ भी हो, तुम्हीं सोचो, हम गाँव की ग्वालिनें योग लेकर

क्या करेंगी । सचमुच ही ऊधो तुम भूलते हो, तुम ठगा गये हो, अरे, तुम जिस श्यामसुन्दर की बात सुना रहे हो, उसके हृदय की बात ही तुम नहीं जानते । तुम कहते हो - श्यामसुन्दर सर्वेश्वर हैं, समस्त संसार के एक मात्र स्वामी हैं ।' तुम्हें पता नहीं, वही सर्वेश्वर, वही अखिल ब्रह्माण्डनायक, अपने आपको ब्रज में आकर भूल गया । तुम्हें एक दिन की बात सुनाती हूँ, तुम चकित रह जाओगे । विश्वास करो, उद्धव ! वे मेरे प्रियतम प्राणनाथ हैं । मेरा सबकुछ उनका है, और उनका सबकुछ मेरा है । तुम्हें सुनाती हूँ -

'मथुरा जाने के कुछ ही दिन पहले मैं उनसे रूठ गयी थी । श्यामसुन्दर के सखा ! मैं देखना चाहती थी, उस दिन हृदय खोलकर देखना चाहती थी, मेरे प्रियतम मुझे कितना प्यार करते हैं । आँखों के सामने श्यामसुन्दर थे और मैं मुख फेरकर बैठ गयी । वे आये, बडे प्रेम से मेरे हाथों को पकड़कर बोले - "प्रियतमे ! अपराध क्षमा करना, मैं देर से आया । तुम मेरी प्रतीक्षा में व्याकुल थी; परन्तु क्या करूँ ? तुम्हारा ध्यान करते-करते मैं भूल गया था, कि मैं तुमसे दूर हूँ,; मैं तुम्हें पास ही अनुभव कर रहा था, सबकुछ भूलकर तुम्हें ही देख रहा था । विश्वास करो, मेरी प्राणेश्वरी ! मेरे हृदय में तुम्हारे सिवा और किसी के लिये तिलभर भी जगह नहीं; तुम मेरा जीवन हो, तुम मेरे प्राण हो, प्रिय ..... उद्धव । अब बोला जाता नहीं । कण्ठ भर आया । अब आगे तुम्हें उस दिन की बातें नहीं सुना सकूँगी । मेरे प्यारे श्यामसुन्दर की उस दिन की झाँकी, उस दिन की लीला तुम्हें अब आगे नहीं सुना सकूँगी। चाहने पर भी तुम्हें नहीं सुना पाऊँगी । नाराज मत होना, सुनने पर भी तुम समझ नहीं सकोगे । उद्धव ! उद्धव !! बस, बस, इतना ही कहती हूँ कि तुम ठगे गये - मेरे प्रियतम के हृदय की बात, हृदय का रहस्य तुम नहीं जान सके । तुम्हारे सर्वेश्वर के हृदय में क्या-क्या है, वे इसे नहीं जानते । उद्धव ! ओह उनका हृदय तो, क्या बताऊँ,; वह तो मेरे पास है । यह देखो, देख सको तो देखो; तुम्हारा सर्वेश्वर यहाँ मेरे हृदय में क्या कर रहा है,; परन्तु तुम अभी नहीं देख सकोगे । जाने दो, उद्धव ! हम गँवार ग्वालिनों को मरने दो, श्यामसुन्दर का नाम ले-लेकर मर जाने दो । उद्धव! उद्धव !! तुम भूलते हो लोक-लाज को, कुल-कान को, यश-अपयश को, तो आज से बहुत ही पहले मैं जला चुकी हूँ; सबको भस्म कर चुकी हूँ । वे सबके सब न जाने कभी के जलकर खाक हो गये और बह गये उस अजस्त्र धारा में, श्यामसुन्दर के प्रेम की प्रबल रसधारा में । उनकी गन्ध भी नहीं

बच रही है । उद्धव यदि तुम देख पाते कि मेरे हृदय में क्या भरा है । प्यारे सखा ! श्यामसुन्दर के सखा के नाते तुम मेरे भी सखा हो; पर सखा ! क्या करुँ, तुम्हारी आँखें वहाँ नहीं पहुँच रही है । देखो, मेरे शरीर के सूखे ढ़ाँचे के भीतर दृष्टि ले जाओ - वहाँ देखो ; देखो ! केवल श्याम सुन्दर का प्रेम-समुद्र लहरा रहा है । तरंग पर तरंग उठ रही है । उनमें मैं हूँ और श्यामसुन्दर हैं, दोनों ही उस असीम अगाध प्रेम समुद्र के अतल तल में डूबे हुए हैं । वहाँ और कोई नहीं है, केवल मैं हूँ और मेरे प्रियतम श्यामसुन्दर हैं। यह देखो ! मैं श्यामसुन्दर बन गयी, श्यामसुन्दर ! आह, तुम नहीं देख पाते । क्या करुँ जाने दो ।

"उद्धव ! तुम प्रेम समुद्र में डूबे हुए को, बिलकुल अतल तलमें जाकर विलीन हो जाने वाले को बाहर लाना चाहते हो ? प्रेम के समुद्र को तुम घड़े में उटाकर रखना चाहते हो ? सोचो ! कितनी भूल कर रहे हो, देखो, उद्धव! तुम चाहो, मैं चाहूँ तो भी समुद्र घड़ें में नहीं समा सकता । अरे ! मैं पगली हो गयी हूँ - क्या कहते-कहते क्या कह जाती हूँ । मैं भूल गयी, उद्धव । बस इतना ही कहना है, व्यर्थ की चर्चा हमें मत सुनाओ । हम ग्वालिनें योग की बात, ज्ञान की बात सुनकर क्या करेंगी ? अजी, तुम हमें ठगने आये हो ? नहीं, नहीं उद्धव ! ठग नहीं सकोगे, तुम्हारा यह योग हमें भुला नहीं सकेगा। तुम्हारा यह ज्ञान हमें विचलित नहीं कर सकेगा । मैं चाहूँ तब भी मैं श्यामसुन्दर को भूल नहीं सकती ।

सुनो, प्यारे सखा । बड़ी छिपी बात बतलाती हूँ । आज से बहुत दिन पहले श्यामसुन्दर आये थे, उन्होने मेरे इस शरीर रूप घड़े को अपने प्रेम से भर दिया । भरकर फिर क्या किया बताऊँ ? सुनो, चारों ओर से स्वयं ही पहरे पर बैठ गये । कानों को बन्द करके वहाँ बैठ गये, आँखों को बन्द करके वहाँ बैठ गये, नाक के छिद्रों को बन्द करके वहाँ बैठ गये, मुख को बन्द करके वहाँ बैठ गये । और बताऊँ ? स्वयं रसरूप होकर बाहर-भीतर, नीचे-ऊपर, दाहिने-बायें, सब जगह पहरा देने लगे । उद्धव । प्यारे उद्धव !! मेरे सूखे शरीर के भीतर देखो, तब पता चलेगा - देखो; श्यामसुन्दर रसरूप होकर भीतर भरे हैं । यह शरीर का घड़ा भरा है प्रेम से, और सर्वथा सब ओर से बन्द है । इसे तुम योग एवं ज्ञान के क्षार समुद्र में डुबाना चाहते हो ? यह भी कभी संभव है ? उद्धव ! इस प्रयास को छोड़ दो। यह प्रेम का घट तुम्हारे योग के खारे समुद्र में कभी डूबने का नहीं है। यह तो डूबेगा

श्यामसुन्दर के मधुर सुधामय प्रेम समुद्र में । स्वयं प्रियतम आयेंगे, स्वयं इसका मुख खोलकर इसे अपने में मिलाकर एक कर लेंगे । प्यारे सखा । उपाय नहीं है । लाख प्रयत्न करो, श्यामसुन्दर के हाथों से भरा हुआ प्रेममय घट, अमृतमय घट, तुम्हारे योग के खारे समुद्र में डूबेगा ही नहीं । ओह ! मैं सचमुच ही पागल हो गयी हूँ । क्या-क्या बक रही हूँ । क्षमा करना प्यारे सखा ! मैं होश में नहीं हूँ, यह पगली का प्रलाप है । मेरे जले हुए, झुलसे हुए हृदय में ज्ञान नहीं बच गया है कि मैं विचार कर तुमसे बात कर पाऊँ । कभी कुछ, कभी कुछ बकती ही चली जा रही हूँ ।

प्यारे श्यामसुन्दर के सखा ! तुम देख नहीं पाओगे; पर यदि देख पाते तो देखते कि श्यामसुन्दर यहाँ से कभी कहीं गये ही नहीं, एक क्षण के लिये भी कहीं बाहर नहीं गये । वे यहीं हैं, सदा यहीं रहते हैं और यही रहेंगे । मैं रहूँगी और मेरे प्रियतम रहेंगे । अनन्तका तक रहेंगे । अभी-अभी कल की बात है । तुम्हें सुनाती हूँ, कल सायंकाल की बात है । मेरे प्रियतम प्राणनाथ वन से गाय चराकर लौट रहे थे । मैं उस क्षण घर के भीतर बैठी थी, अनुभव कर रही थी श्यामसुन्दर तो पास ही हैं । इतने में वंशी बजी, चेत हुआ, सोचा भ्रम हो गया है । श्यामसुन्दर तो गाय चराकर अभी लौट रहे हैं। मैं सुनने लगी, उस मुरली की मधुर ध्वनि को । मेरे नाथ, मेरे प्राणबन्धु, मेरा नाम ले-लेकर मुरली में सुर भर रहे थे । बाहर आयी । देखा आह ! कैसी अनुपम छवि है, नील कमल के सदृश सुन्दर मुखारविन्द था, श्याम मेघ के समान समग्र तन संध्याकालीन सूर्य की रश्मियों में झलमल-झलमल कर रहा था, मुख पर धूलि के कण उड़-उड़कर पड़ रहे थे, स्वेद की कुछ बूँदें झलक रही थीं, घुँघरारी अलकें बार-बार मुख पर आ जाती थीं । और मेरे प्यारे श्यामसुन्दर उन अलकों को बार-बार बायें हाथ से हटाते रहते थे । आह ! उन आँखों की शोभा क्या बताऊँ। तुरन्त का खिला कमल उस शोभा के सामने फीका पड़ जाता था । मेरे हृदयेश्वर बार-बार तिरछी चितवन से मुझे देख लेते थे । मैं देख रही थी और वे मस्तानी चाल से, अत्यन्त मधुर चाल से चलते हुए मेरी ओर ही आ रहे थे । उद्धव ! उद्धव !! मैं मूर्च्छित होती जा रही थी । मुझ पर उनकी मनोहर मुसकान जादू का काम कर रही थी । इतने ही में वे बिल्कुल मेरे पास से निकले । मित्र क्या बताऊँ ? रोक नहीं सकी मैं अपने को; उनमें मिल जाने के लिये, अपने-आपको उनमें मिला देने के लिये दौड़ पड़ी । वे हँसने लगे, हँसते-हँसते लोट-पोट से होने

लगे। अपने सखा सुबल को उन्होने कुछ संकेत किया, मैं कुछ सहमी, वे कुछ हँसकर आगे बढ़े । मैं भी आगे बढ़ी । मैं और वे दोनों आमने-सामने थे । मैं नाच रही थी । वे आगे बढ़ते, मैं आगे बढ़ती; वे पीछे हटते, मैं पीछे हटती, वे हँसते, मैं हँसती । इस प्रकार न जाने कितनी देर हम लोग खेलते रहे । परन्तु मैं अब अपने को सम्हाल नहीं सकी । मूर्च्छित होकर भूंमि पर गिरने ही जा रही थी, बस, गिर ही चुकी थी कि मेरे प्राणनाथ दौड़े आये । उन्होने अपनी सुकुमार भुजाओं का सहारा देकर मुझे बैठा दिया । पास ही मेरी सखी खड़ी थी, उसे संकेत करके उन्होंने कहा - 'री नेक इस बावली को सम्हाल ।' उद्धव ! ..... अब आगे कुछ कहते नहीं बनता, बस, उस आनन्द को व्यक्त करने की शक्ति नहीं । आह ! उद्धव मेरे प्यारे सखा के ... .. मैं भूल गयी हूँ, अपने-आपको भी भूल जाती हूँ ।

नहीं, नहीं मित्र ! श्यामसुन्दर तो मथुरा गये हुए हैं, कल नहीं कुछ दिन पहले ऐसी घटना हुई थी । सचमुच ही उद्धव मैं भूल गयी थी, सोच रही थी कल ही वह घटना घटी होगी इसलिये सुनाती गयी । पर प्यारे सखा ! प्यारे श्यामसुन्दर के सखा ! मोहन के सखा !! यह घटना रोज ठीक सायंकाल होते ही आँखों के सामने नाचने लगती है । ठीक-ठीक अनुभव करती हूँ । जो हो मित्र ! वह मुखसरोज वह श्याम मेघ सा शरीर, वे कमल के समान नेत्र, वह मस्तानी चाल, उनकी वह मोहन मुसकान कभी भूली नहीं जाती । निरन्तर वे ही, वे ही आँखों के सामने नाचते रहते हैं । प्यारे मित्र ! श्याम सुन्दर के सखा ! मेरे प्राणनाथ का हृदय अत्यन्त उदार है, उसमें निष्ठुरता नाम को भी नहीं है । उन्हें मेरी दशा का पता नहीं, इसीलिये वे देर कर रहे हैं । इसीलिये प्यारे उद्धव ! मैं हाथ जोड़कर एक भीख माँगती हूँ, एक विनय करती हूँ - इतनी ही कृपा, बस, इतनी ही कृपा करना; जाकर मेरे श्यामसुन्दर से, मेरे प्राणनाथ, मेरे हृदयेश्वर से कह देना - आँखें तरस रही हैं, झुलसती जा रही हैं, उसी मुख सरोज को, उसी श्यामसुन्दर शरीर को, कमल दल से नेत्रों को, उसी ललित मस्तानी चाल को, उसी मन्द मुसकान को, आँखें खोज रही हैं । आँखों को बस, इतनी ही प्यास है । प्यारे उद्धव ! मेरी ओर से कह देना - बस, एक बार के लिये ही, एक ही बार के लिये, वही झाँकी कराकर वे फिर भले ही मथुरा चले जावें, खूब सुख से रहें । एक बार बस, एक बार दासी के नयनों की प्यास बुझाकर चले जायें । उद्धव

इतनी ही भीख तुमसे माँगती हूँ । तुम मेरे प्राणनाथ को, मेरे हृदयेश्वर को, मेरे हृदय का यह सन्देश सुना देना ।"

{यह पू० गुरुदेव की अनुभूति बाद में उन्होंने श्री शिवभगवानजी फोगला को उनके प्रश्नों के उत्तर में लगभग १९४२-४३ में बतायी थी । जिसे पू० श्रीपोद्दार महाराज ने मार्च १९५७ के पश्चात् 'कल्याण' में प्रकाशित कर दी थी । बाद में यह लीला प्रेम सत्संग सुधा माला' नामक पुस्तक में भी प्रकाशित कर दी गयी । इसकी भाषा भी पू० गुरुदेव ने श्रीशिवभगवानजी के लिये बहुत ही हलकी-फुलकी व्यवहार में लायी है । पू० गुरुदेव को 'उद्धव लीला' की अनुभूति उनके श्रीराधाभाव में प्रतिष्ठित होने के पश्चात् भी हुई है। वह भी आगे इस पुस्तक में दी जायगी । महाभावगत लीलाओं के गांभीर्य में जो अन्तर इस लीला में और आगे की लीलाओं में परिलक्षित होगा, वह साधनागत परिपक्वता का ही परिद्योतक है, ।

यह लीला पू० गुरुदेव के तत्कालीन मानस का ही विलक्षण चित्र प्रस्तुत कर रही है । सर्वांश में पू० गुरुदेव का चित्त अन्तःकरण भगवान् श्रीकृष्ण के प्रेम से पूरा भर चुका था । यही उन्होंने इस लीला में अभिव्यक्त किया है । पू० गुरुदेव साधारण ब्राह्मण के घर में एक जीव के रूप में जन्मे थे । परन्तु अपनी अदम्य लगन और भगवत्कृपा से उनका भीतरी चित्त परम निर्मल, परम शुद्ध होकर पहले ब्रह्मज्ञान परायण और तब भगवान् श्रीकृष्ण के प्रेम में लबालब भरकर डूब गया, यही स्थिति मननीय और अनुकरणीय है । वैष्णव पाठकों से यही विनम्र निवेदन है कि हम सब भी मृत्यु के पूर्व अपना अन्तःकरण ऐसा ही परम रसमय बना लें जैसा पू० गुरुदेव का था ।

गठिया और पेचिश का भयंकर प्रकोप

संभवतः १९३७ ई० की बात है । पू० गुरुदेव चूरू के वार्षिकोत्सव में सम्मिलित होकर स्वर्गाश्रम ऋषिकेश आ गये थे । वहाँ पू० गुरुदेव के पैर के घुटनों में गठिया हो गया । गठिया भी अति भयंकर प्रकोप से युक्त था । घुटनों में सूजन आ गयी थी । सूजन भी अतिशय उग्र थी । पीड़ा भी इतनी अधिक थी कि रात को नींद नहीं आ पाती थी । दर्द के मारे उठना-बैठना संभव नहीं था । फिर शौच के लिये थोड़ी दूर आना-जाना तो असंभव था । उस पर पेचिश का प्रकोप अलग से परेशान कर रहा था । पू० गुरुदेव का

नियम था कि शौच के पश्चात् स्नान अवश्य करना । चाहे कितनी ही बार शौच जाना पड़े, वे स्नान किये बिना नहीं रहते थे । उन दिनों श्रीसेठजी जयदयालजी के पास ही वे रहते थे, अत: उनका ध्यान सेठजी बहुत रखते थे। श्रीसेठजी ने एक व्यक्ति की उनकी सेवा पर ड्यूटी लगा रखी थी । पीड़ा के मारे जब हिलना-डुलना शक्य नहीं था तो सेवा तो अन्यों को ही करनी पड़ती थी । शौच जाने के लिये लोग उन्हें उठाकर कमोड पर बैठा दिया करते थे और बाद में कमोड पर से उठाकर स्नान करवाते थे । यह सब कार्य दूसरों के द्वारा ही होता था । पू० गुरुदेव को भयानक पीड़ा थी । दवा वे लेते नहीं थे । अत: वे कब तक ठीक होंगे, पूरा अनिश्चय था । एक दो दिन, पाँच सात दिन की सेवा हो तो कोई कर भी दे, अनिश्चितकालीन सेवा से परिचारकों का घबड़ाना स्वाभाविक ही था । श्रीसेठजी का प्रात:कालीन सत्संग तो वहीं गंगा के किनारे वट वृक्ष पर ही होता था, अत: वह सत्संग पू० गुरुदेव के श्रवणगोचर हो जाता था । सायंकालीन सत्संग श्रीसेठजी संध्यावन्दन करके फिर टीबड़ी पर (गंगातट की रेतीली भूमि पर) किया करते थे । पू० गुरुदेव दोनों समय सत्संग भी सुनना चाहते थे, अत: उन्हें सत्संग के लिये स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज अथवा अन्य लोग कंधे पर उठाकर ले जाते थे एवं कंधे में उठाकर ही बाद में उन्हें वटवृक्ष के नीचे जहाँ वे छोलदारी में रहते थे, वहाँ पहुँचाना पड़ता था । साधुओं के रहने की व्यवस्था विशाल वट वृक्ष के नीचे लकड़ी के तख्त पर छोलदारी (छोटा तम्बू) लगाकर ही की जाती थी। सायंकालीन सत्संग में उन्हें ले जाने का ध्यान स्वामी रामसुखदासजी महाराज बराबर रखते थे, परन्तु उस दिन संयोग ऐसा हुआ कि रामसुखदासजी किसी अन्य कार्य में व्यस्त हो गये और सीधे सत्संग में पहुँच गये । पू० गुरुदेव की सेवा में हीरालालजी नाम के एक हृष्ट-पुष्ट व्यक्ति थे । कारण पू० गुरुदेव को गोद में उठाकर लघुशंका भी करानी पड़ती थी । पू० गुरुदेव कुछ समय तक तो स्वामीजी की प्रतीक्षा करते रहे जब वे नहीं आये एवं सत्संग का समय व्यतीत होने लगा तो उन्होने श्रीहीरालालजी महाराज से प्रार्थना की कि वे उन्हें श्री सेठजी के सत्संग में टीबड़ी पर ले चलें ।

श्रीहीरालालजी वेदान्ती थे । वे सेवा से तंग आये हुए तो थे ही अत: व्यंग वचन बोलते हुए कहने लगे - 'स्वामीजी आप स्थान से तो परिचित हैं ही कि कहाँ सत्संग होता है तथा उस स्थान पर जाने वाले मार्ग से भी आप

परिचित हैं ही । इसके सिवा आप तो अनन्त ज्ञान सम्पन्न, अनन्त योग शक्ति सम्पन्न हैं ही । आप ही आप तो केवल हैं, आपके अतिरिक्त अन्य की सत्ता ही कहाँ है, आप ही हीरालाल हैं, और आप ही स्वामी चक्रधरजी हैं, आपके लिये वहाँ जाना कौन सी बड़ी बात है ।

वे जानते थे कि जो व्यक्ति चलना-फिरना तो दूर रहा, उठ-बैठ भी नहीं सकता, जिसके घुटने में गठिया के कारण बहुत भीषण दर्द है तथा अत्यधिक सूजन है, वह व्यक्ति भला टीबड़ी तक कैसे जा सकेगा ? टीबड़ी तो वट वृक्ष से लगभग तीन-चार किलोमीटर दूर थी ।

श्रीहीरालालजी के व्यंग करने पर पू० गुरुदेव ने उनसे कहा - मैं सचमुच ही आज वहाँ जाना चाहता हूँ । यह सुनकर हीरालालजी ने कहा - तभी तो मैं कह रहा हूँ आपकी शक्ति अनन्त है, अतुलनीय है, अत: आपके लिये वहाँ जाना कौन कठिन कार्य है ।

श्रीहीरालालजी लगातार व्यंग वचन बोले जा रहे थे । अत: पू० गुरुदेव ने अति दृढ़ता से कहा - "क्या हीरालालजी महोदय ! आप समझते हैं कि मैं सत्संग सुनने नहीं जा सकता ? श्रीहीरालालजी ने फिर वैसे ही व्यंग वाक्यों की आवृत्ति कर दी । अब तो पू० गुरुदेव ने भगवत्कृपा का असंभव को संभव करने वाला आश्रय लिया । उन्होने आँखें मूँदकर कुछ समय के लिये भगवान् श्रीकृष्ण का स्मरण किया ।

पू० गुरुदेव का यह सुदृढ़ विश्वास था कि शरीर पर जो भी दुख आता है उस दु:ख के रूप में भगवान् ही आते हैं । रोग रूपी भगवान् का न तो कोई स्वागत करना चाहता है, और न कोई उस रूप में भगवान् को आश्रय देना चाहता है । परन्तु पू० गुरुदेव तो रोगरूपी भगवान् से कहते थे कि नाथ ! यदि इसी रूप में मुझे अपना दर्शन देना चाहते हैं तो मैं आपका पूर्ण मन से स्वागत करता हूँ । यह शरीर आपका घर है । आप जब तक इस शरीर में रहना चाहें रहें, यह शरीर रूपी घर आपका ही है, इस में आप यथारुचि यथाकाल पूर्ण स्वतंत्रता से निवास करें । विश्व में रोग रूप में सर्वत्र आपका तिरस्कार होता है, दवा का, डाक्टर का, अस्पतालों का आश्रय लेकर लोग आपको घर से तिरस्कारपूर्वक निकालना चाहते हैं । आप शरीर रूपी घर नहीं छोड़ना चाहते, दुखी हो होकर लोग विकल होकर आपको शरीर से निकालने के लिये देवी देवताओं के मंत्र-तंत्र, स्तोत्र, कवच, महामृत्युञ्जय आदि अनुष्ठानों का प्रयाग करते हैं। परन्तु मेरा शरीर रूपी यह एक घर ऐसा है

जहाँ आपका नित्य स्वागत है । जब तक आप रहना चाहेंगे आपको यहाँ निवास मिलेगा । विश्व में एक घर तो मेरा शरीर अवश्य ऐसा है जहाँ आपका महाभीषण रोग रूप में भी नित्य अभिनन्दन था, अभिनंदन है, और सदा रहेगा । पू० गुरुदेव के मन में यह संकल्प ही नहीं था कि रोग रूपी भगवान् क्यों आये, कब तक वास करेंगे, और कब प्रस्थान करेंगे ।

पू० गुरुदेव कहा करते थे कि कभी आधे क्षण के लिये भी उनके मन में यह संकल्प नहीं आता था कि यह रोग क्यों आया ? बस, पू० गुरुदेव ने उन्हीं रोग रूपी भगवान् से इतनी ही सामर्थ्य की माँग की कि वे उन्हें टीबड़ी पर सत्संग में सम्मिलित हो सकने लायक छूट दे दें । भक्तवत्सल भगवान् भला ऐसे निर्मल परम विश्वासी 'वासुदेवः सर्वमिति' की सच्ची भावना रखने वाले पू० गुरुदेव के संकल्प को खण्डित थोड़े ही कर सकते थे ? उनकी 'कुर्तुमकर्त्तुमन्यथा कर्तुम्' सामर्थ्य भी यहाँ हार मान ही जाती थी ।

पू० गुरुदेव भगवान् का स्मरण करके टैन्ट की दीवार की तरफ मुख करके बैठ गये । फिर टैंट के ही बाँस आदि का सहरा लिये-लिये वे धीरे-धीरे दरवाजे की ओर सरकने लगे । धीरे-धीरे चलकर द्वार-देश के पास आ गये । वहाँ चार-पाँच फुट लम्बा एक बाँस रखा था । उस बाँस के लट्ठ को लेकर उसके सहारे पू० गुरुदेव कमरे के बाहर आ गये । अब पू० गुरुदेव क्रमशः टीबड़ी की ओर बढ़ने लगे । पहले तो वे सरकते से चल रहे थे, धीरे-धीरे उनकी चाल में गति आ गयी । श्रीहीरालालजी यह सब चकित हुए देख रहे थे । जो स्वामीजी उठ भी नहीं पा रहे थे, वे ही अब टीबड़ी पर चलकर जा रहे हैं । पू० गुरुदेव के पीछे-पीछे वे भी आये । पू० गुरुदेव उस दण्ड के सहारे चलते-चलते टीबड़ी पर पहुँच गये थे । ज्यों ही पू० गुरुदेव श्रीसेठजी के पास पहुँचे, त्यों ही धम्म से उस रेतीली भूमि पर गिर पड़े । वहाँ तक पहुँचने का रोग भगवान् ने संकल्प पूरा कर ही दिया था । श्रीसेठजी को एवं अन्य सत्संगियों को पू० गुरुदेव को वहाँ चलकर आया जानकर बहुत ही आश्चर्य हुआ । टीबड़ी से निवास स्थान तक तो वापस स्वामी रामसुखदासजी महाराज उन्हें अपने कन्धे पर बैठाकर ले आये।

उस गठिया रोग से पू० गुरुदेव अत्यधिक परेशान थे । टीबड़ी पर जाने वाली घटना जिस दिन हुई उसके बाद भी पीड़ा बढ़ती ही जा रही थी। दर्द के मारे नींद नहीं आती थी । उन्हें लगा कि अब सहन करने की शक्ति शून्य-सी हो रही है । रात्रि की बात है । उस असह्य पीड़ा से विकल होकर

पू० गुरुदेव ने भगवान् श्रीकृष्ण से कहा - मैं यह नहीं कहता कि आप मेरा रोग दूर कर दें । रोग के रूप में आप ही थे, आप ही हैं, आप ही रहेंगे । परन्तु इतना निवेदन है कि जितनी मात्रा में रोग का कष्ट देते हैं उसी अनुपात में उसे सहने की शक्ति भी दें । पू० गुरुदेव के इतना कहते ही उन्हें ऐसा लगा मानो भगवान् श्रीकृष्ण के नेत्र सजल हो उठे हैं तथा वे उनसे कह रहे हैं - "सचमुच क्या मैं इतना निष्ठुर, इतना निर्दयी हूँ कि तुम्हें उतना कष्ट दूँगा, जो तुम्हारी सहन शक्ति की सीमा के परे हो ?"

उनकी यह उक्ति सुनकर एवं उनके नेत्रों में झलमल असीम प्यार को देखकर पू० गुरुदेव का मन द्रवित हो गया । उनकी आँखों से झलमल आँसू बह चले और वे उनसे कहने लगे - "मुझसे बढ़कर कौन अधम होगा जो अपने शरीर के लिये आपसे प्रार्थना करता है । मुझे कुछ नहीं चाहिए नाथ ! मेरी नीचता की सीमा नहीं।"

इन भावों के प्रवाह में पू० गुरुदेव बह चले । थोड़ी देर पश्चात् पू० गुरुदेव को नींद आ गयी । आज पू० गुरुदेव को बत्तीस-तैंतीस दिन पश्चात् नींद आयी थी । पू० गुरुदेव दो-तीन घंटे गहरी नींद में सोये । जब जगे तो देखा उनके रोग में विस्मयकारी परिवर्तन है । पीड़ा सोलह आने में चौदह आना समाप्त हो गयी है । उन कृपालु की कृपालुता की सीमा नहीं । उनकी कृपा का द्वार जैसा पू० गुरुदेव के लिये खुला था, और खुला है, उसी प्रकार सभी के लिये उन्मुक्त रूप से खुला हुआ है । जिस प्रकार पू० गुरुदेव का गठिया ठीक हुआ उसी प्रकार किसी का कोई भी कार्य सम्पन्न कर देना उन सर्व समर्थ के लिये एक क्षुद्र सी बात है।

पू० गुरुदेव का चौदह आना रोग तो वहीं ठीक हो गया था, फिर भी दो आना शेष था । सत्संग का सत्र तो समाप्त हो रहा था । श्रीसेठजी जयदयालजी बाँकुडा एवं कलकत्ता जाने वाले थे । रोगी की सेवा का भार कलकत्ते एवं बाँकुड़ा में ढ़ोना संभव नहीं था । अत: पू० गुरुदेव से सेठजी ने पुछवाया कि उनकी कहाँ की टिकट मँगायी जाय। पू० गुरुदेव क्या उत्तर देते । वे तो निरन्तर सेठजी के साथ गीता का कार्य करने के निमित्त से चले आये थे। श्रीसेठजी का इस प्रकार पूछने का तात्पर्य यही था कि बीमारी में उन्हें साथ रखना श्रीसेठजी को असुविधाजनक लग रहा था । अत: पू० गुरुदेव ने यही उत्तर दिया कि उन्हें उनके गाँव फखरपुर में माँ के पास छोड़ दिया जाय ।

श्रीसेठजी ने पू० गुरुदेव की वैसी व्यवस्था करवा दी । एक व्यक्ति उन्हें उनके गाँव छोड़ आया । पू० गुरुदेव ग्राम के बाहर एक पेड़ के नीचे रह गये। पू० गुरुदेव की माँ सूचना पाकर आयी । पू० गुरुदेव कहते थे कि पेचिश एवं गठिया दोनों ही उनकी माँ ने हलुआ खिला-खिलाकर ठीक कर दिया । माँ के स्नेह से पू० गुरुदेव सोलहों आना स्वस्थ हो गये । स्वस्थ हो जाने पर तो उन्हें पुन: सेठजी के पास जाना ही था ।

तभी से रोग के लिये अथवा रोग जनित कष्ट के लिये पू० गुरुदेव का दृष्टिकोण ही दूसरा हो गया । पू० गुरुदेव तो सम्पूर्ण जीवन-पर्यन्त ही कभी कोई, कभी कोई, भीषण बीमारियाँ एवं रोग सहते ही रहे, परन्तु रोग के आने एवं जाने के सम्बन्ध में अब उनके मन में कोई संकल्प ही उत्थित नहीं होता था ।

सत्संग-प्रवचन से विरति

श्रीसेठजी जयदयालजी गोयन्दका बैठे हुए संध्या कर रहे थे । शाम होने वाली थी । अपनी संध्या से निवृत्त होकर श्रीसेठजी पू० गुरुदेव के पास आकर खड़े हो गये । उनका पू० गुरुदेव के प्रति बहुत ही प्यार था । श्रीसेठजी चाहते थे वे बाईस घंटे चाहे नाम-जप करें, चाहे ध्यान करें, मौन रहें, कुछ भी करें परन्तु दो घंटे प्रवचन अवश्य करें । श्रीसेठजी को सत्संग कराना बहुत ही महत्वपूर्ण लगता था । उनका सत्संग सुनने यदि कोई नहीं आता तो वे उसके पास पहुँच जाया करते थे । एक बार बीकानेर में श्रीसेठजी आये हुए थे । वे श्रीईश्वरदासजी डागा के यहाँ सत्संग करा रहे थे । उनका निवास तो प्राय: राठियों के यहाँ हुआ करता था । श्रीसेठजी ने बहुत से आस्तिक एवं प्रतिष्ठित लोगों की सूची बनवायी, उन्हें निमंत्रण देकर सत्संग में बुलाने की योजना थी । परन्तु जब सत्संग के प्रारम्भ का समय हुआ तो पाया गया कि जिन-जिन सज्जनों को आमन्त्रित किया गया था, वे एक भी उपस्थित नहीं थे । श्रीसेठजी की एक बहुत बड़ी विशेषता थी, वे पक्के निष्काम कर्मयोगी थे, अत: निराश होना तो जानते ही नहीं थे । अत: यह तय हुआ कि उन सज्जनों के घर जाकर उन्हें गीता सुनायी जाय । श्रीसेठजी दूसरे दिवस मध्याह्न में उन-उन सज्जनों के घर अपने विश्वासी सहयोगियों के साथ पहुँच गये । परन्तु राजस्थान में उन दिनों किसी के घर में गीता-पाठ

तभी होता था जब कि उनके परिवार में कोई मृत्यु शय्या में पड़ा हो । अतः वैसे गीता पाठ अशुभ माना जाता था । श्रीसेठजी ने गीता सत्संग के महत्व को समझाने की बहुत प्रकार से चेष्टा की परन्तु घरवालों ने उनकी एक भी नहीं सुनी और श्रीसेठजी को बिना गीता प्रवचन किये ही उनके घर से लौटना पड़ा।

श्रीसेठजी पू० गुरुदेव से भी इसी निष्ठा का पालन कराना चाहते थे । श्रीगुरुदेव श्रीसेठजी के आग्रह से जहाँ-जहाँ जाते प्रवचन किया करते थे । कलकत्ते में जब पू० गुरुदेव होते तो ईडन गार्डन में हजारों लोग उनका भाषण सुनने आते । मारवाड़ी लोग पू० गुरुदेव को लौड़िया स्वामीजी कहा करते थे । लौड़िया का अर्थ मारवाड़ी भाषा में छोटा होता है । श्रीरामसुखदासजी पू० गुरुदेव से वय में बड़े थे, अतः वे बड़के स्वामीजी के नाम से विख्यात थे । पू० गुरुदेव का प्रवचन लोग यद्यपि बहुत दतचित्त होकर सुनते थे, परन्तु लोगों का जीवन जैसे का तैसा ही रहता था । लोगों के जीवन में सर्वथा परिवर्तन न देखकर पू० गुरुदेव बहुत ही निराश होते थे । वे सोचने लगते कि अवश्य यह उनकी ही न्यूनता है । जब लोग उनकी कही बातों के अनुसार जीवन ही नहीं बनाते, उनकी बकवास व्यर्थ है । श्रीसेठजी इस मत के थे कि **'कर्मण्येवाऽधिकारस्ते मा फलेषुकदाचन'**; वे सोचते थे कि अपनी नीयत शुद्ध है, और अपना कर्म पूर्ण सात्विक है, तो फिर कोई उसे माने अथवा जीवन न बनावे, अपने को इसकी चिन्ता नहीं करना चाहिए ।

पू० गुरुदेव की यह कठिनाई थी कि उन्हें श्रोतागणों के रूप में सदा अपने प्रियतम श्रीकृष्ण ही दिखते थे । वे अनुभव करते कि श्रीकृष्ण निज प्रेमोद्दीपनवश उमड़े आकर उनका स्वागत तो करते हैं और इसीलिये विश्व-रूप में हजारों की संख्या में सत्संग में उत्सुकतावश आते हैं, परन्तु मेरी बकवास को व्यर्थ समझकर उस पर कान नहीं धरते । अवश्य ही मेरा जीवन मेरी कथनी के अनुरूप नहीं है, अतः श्रीकृष्ण का यही संकेत है कि मेरा जीवन मेरी कथनी के अनुरूप हो जाय ।

श्रीसेठजी उस दिन उनसे आकर बहुत ही प्यार से बोले - "कहिये स्वामीजी ! आपके प्रति क्या कहूँ, क्या निवेदन करूँ ?"

पू० गुरुदेव को ठीक ऐसा लगा मानो साक्षात् भगवान् नारायण ही उनके सम्मुख खड़े उनसे वार्ता कर रहे हैं । अतः उन्होने अत्यन्त सहज विनम्रता

पूर्वक कहा - इस समय आपके मन में जो भी स्फुरित हो रहा है; आप वही कहें ।

श्रीसेठजी ने पूछा - क्या कह दूँ ?

पू० गुरुदेव ने कहा - आप अवश्य कहें और प्रामाणिता से वही कहें जो आपके मन में है

श्रीसेठजी मानो संकोच कर रहे थे अतः बार-बार 'क्या कह दूँ' शब्द को दुहरा रहे थे । फिर वे कहने लगे - भगवान् बहुत ही कृपा परवश हैं । वे इतने करुणामय हैं कि यदि कोई व्यक्ति ईमानदारी से भगवान् के शरणापन्न हो जाये, भगवान पर सर्वथा निर्भर हो जाय तो भगवान् उसकी सभी कामनाएँ पूरी कर देते हैं ।

श्रीसेठजी के मुख से यह बात सुनकर पू० गुरुदेव को बहुत ही विस्मय हुआ । इन दिनों में पू० गुरुदेव इसी भावना में लहरा रहे थे । पू० गुरुदेव की जो अनुभूति थी, श्री सेठजी ने उसे ज्यों-की-त्यों मानो वाणी प्रदान कर दी थी । पू० गुरुदेव का यद्यपि भगवद्विश्वास अडिग था परन्तु श्रीसेठजी ने उस अनुभूत सत्य की अत्यधिक परिपुष्टि कर दी ।

प० पू० गुरुदेव के आदर्श थे भगवान् श्रीचैतन्यदेव जिन्होंने जीवन भर में मात्र आठ श्लोक बोले थे, और समस्त मत्स्यभक्षी बंगाली समाज को हरे कृष्ण, हरे कृष्ण के पावन नाम गायन में नचाया था । विगत पाँच सौ वर्षो में शाक्तमत की हिंसा त्याग करवाकर लाखों लोगों को वैष्णव बना दिया था ।

श्रीपोद्दार महाराज को पू० गुरुदेव का प्रवचन करना सर्वथा रुचिकर नहीं था । वे बहुत ही गंभीर विनोदी थे । अतः जब भी पू० गुरुदेव प्रवचन करने जाते वे व्यंग भरी वाणी में अवश्य कहते "स्वामीजी प्रवचन करने जा रहे हैं ?" और गुरुदेव क्या कहते मुख नीचा कर लजा जाते । वे पू० गुरुदेव को स्पष्ट कहते थे कि आप सेठजी की सब बात मानिये, परन्तु प्रवचन करने की बात मत मानिये ।

अनेक बार ऐसा होता था कि पू० गुरुदेव को सायंकाल गोधूलि बेला मे प्रवचन करने जाना होता । यह बेला वही होती जब श्रीकृष्ण गोचारण कर लौट रहे होते । पू० गुरुदेव उस समय अपनी भाव दशा में भगवान् श्रीकृष्ण के आगमन की प्रतीक्षा में होते और जनता होती उनके प्रवचन सुनने को उत्सुक । ऐसे अवसर पर मंच में आने में उन्हें विलम्ब हो जाता था । वे

भावदशा में ऐसे विभोर होते कि लोग समझते स्वामीजी रुग्ण हैं । उनकी आन्तरिक दशा को तो कोई पहचानता था नहीं।

श्रीसेठजी जयदयालजी गोयन्दका चाहते थे कि पू० गुरुदेव आसेतु हिमाचल ग्राम-ग्राम, नगर-नगर गीता पर प्रवचन करते हुए सत्संग करावें । एक दिवस आन्तरिक सत्संग में सत्संगियों के मध्य में श्रीसेठजी ने अपनी ऐसी रुचि प्रकट भी कर दी । पू० गुरुदेव ने सेठजी का प्रस्ताव सुनकर यही उत्तर दिया कि आपका मुझ पर परम अनुग्रह है, परन्तु मैं सत्संग कराने के योग्य नहीं हूँ। मेरा जीवन जब तक उतना गंभीर नहीं बने, प्रवचन करना व्यर्थ है। गंभीर आध्यात्मिक जीवन के पश्चात् ही लोगों पर वाणी का प्रभाव होता है । श्रीसेठजी उसी समय बोल उठे - (मारवाड़ी भाषा में) "ठीक है स्वामीजी को कहनो एक प्रकार सेती उचित है, परन्तु कोई इनको योग्य बणाय दै तो ।"

यह बात एक महासिद्ध सन्त के द्वारा कही जानी बहुत ही गंभीर अर्थ रखती थी । पू० गुरुदेव को उसी समय ऐसी अनुभूति भी हुई कि साक्षात् भगवान् नारायण उन्हें जैसे ज्ञान निष्ठा की परिपक्वावस्था प्रदान करने को उत्सुक हों । परन्तु पू० गुरुदेव को तो श्रीकृष्ण का निरीह प्रेम अपेक्षित था । अत: पू० गुरुदेव ने श्रीसेठजी को स्पष्ट कह दिया कि सत्संग कराने की उनकी रुचि सर्वथा नहीं है । हाँ, यदि सेठजी उन्हें व्यक्तिगत बुढ़ापे में अपनी लाठी पकड़ने की सेवा सौंपना चाहें तो वे सहर्ष समुपस्थित हैं । श्रीसेठजी भी अपनी धुन के पक्के थे । व्यक्तिगत सेवा के प्रस्ताव को श्रीसेठजी ने ठुकरा दिया ।

सत्संगियों ने पू० गुरुदेव को बहुत ठगा गया माना, क्योंकि सेठजी ने भरी सभा में कह दिया कि "स्वामीजी चूक गया । अगर म्हारी बात मान लेता तो म्हारे माथै वे बहुत बड़ो दायित्व पटक देता ।"

इधर पू० गुरुदेव समझ रहे थे कि जब ज्ञान मार्ग के रास्ते जाना ही नहीं है तो उसका मोह कैसा ?

गीता के "य इमं परमं गुह्यं" श्लोक का नवीन अर्थ

यह घटना २८ अप्रेल सन् १९३९ ई० की है । पू० गुरुदेव अपने उपासना कक्ष में बैठे थे । गीता तत्व विवेचनी के लेखन का कार्य हो चुका था । इस लेखन कार्य की सम्पन्नता बाँकुड़ा में हुई थी । उस समय

श्रीपोद्दार महाराज भी वहीं थे। पू० गुरुदेव के सम्मुख उनके आराध्य भगवान् का चित्रात्मक श्रीविग्रह विराजित था । सहसा पू० गुरुदेव का यह उपास्य श्रीविग्रह चिन्मय हो उठा । पू० गुरुदेव को दृष्टिगोचर हुआ कि श्रीविग्रह के दोनों ओठ हिल रहे हैं । उनका ध्यान उस पर और केन्द्रित हो गया। अधरों का हिलना ही नहीं, अचानक उसी में से भगवान् श्रीकृष्ण प्रकट हो गये । पू० गुरुदेव का हृदय आनन्द से भर गया ।

पू० गुरुदेव से श्रीकृष्ण ने पूछा - "गीता तत्व विवेचनी का कार्य तो सम्पन्न हो गया, अब मुझे बताओ अठारहवें अध्याय के ६८ वें अथवा ६९ वे श्लोक का अर्थ क्या है ?"

इस प्रश्न को सुनकर पू० गुरुदेव ने कहा - "सभी आचार्यों ने एवं टीकाकारों ने 'य इमं परमं गुहयं' को सम्पूर्ण गीताशास्त्र ही माना है । सभी ने यही अर्थ लगाया है कि इस परम गुहय गीताशास्त्र का जो मेरे भक्तों में प्रचार करेगा, वह मुझे ही प्राप्त होगा और भू मंडल में उससे बढ़कर मेरा प्रियतर कोई होगा ही नहीं ।" आचार्यों के इसी मत को मैं भी मानता हूँ ।

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा - एक दृष्टि से यह अर्थ पूर्णतः सही है परन्तु 'य इमं परमं गुह्यं' का परम गूढ़ अर्थ कुछ और ही है । इसका वास्तविक अर्थ है "सर्वगुह्यतमं परमं वचः" जो इसी अध्याय के ६४ वें श्लोक में है ।

इस वाक्य को सुनते ही पू० गुरुदेव के अन्तर में ६४ वाँ श्लोक उभर आया । इस श्लोक के उभरते ही एक-एक शब्द के गर्भ में निहित अर्थ भी उभरने लगे । 'सर्व गुह्यतमं' शब्द गीता में केवल एक बार यहीं ही आया है। और इस सर्वगुह्यतम परम वचन का अर्थ है -

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ।।
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहंत्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।।

६४ वे श्लोक में 'सर्व गुह्यतमं' के तुरन्त बाद भूयः शब्द इसीलिये आया है कि 'मन्मना भव मद्भक्तो' यह पंक्ति ज्यों-की-त्यों नवें अध्याय के ३४ वें श्लोक में भी आ चुकी है । और यही बात भगवान् भूयः कहकर पुनः कहने जा रहे हैं और यही भगवान् का सर्वगुह्यतम परम वचन है ।

इतनी बात का विचार करने में पाठकों को किंचित समय लगा होगा किन्तु पू० गुरुदेव को अर्थ बोध होने में एक क्षण भी संभवतः नहीं लगा हो ।

तत्क्षण ही पू० गुरुदेव भगवान् श्रीकृष्ण से पूछ बैठे - तो क्या सर्वधर्म का परित्याग करके आपके प्रति सर्वभाव से आत्म समर्पण करना ही श्रीगीताजी का सर्वगुह्यतम प्रतिपाद्य तत्व है । और इसका आचरण करने वाला ही आपको सर्वाधिक प्रिय है ?

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा - वस्तुतः यही सर्व गुह्यतम तथ्य है । गीता के सर्वान्त में ज्यों ही यह सर्वगुह्यतम परम वचन कहा गया, त्यों ही तत्व की रक्षार्थ मुझे यह भी तुरन्त कहना पड़ा कि जिस व्यक्ति के जीवन में तप न हो, भक्ति न हो, श्रवणेच्छा नहीं हो, श्रद्धा नहीं हो, ऐसे अतपस्वी को, अभक्त, अश्रवणेच्छुक - असूया प्रिय को इस परम रहस्यमय तत्व का कथन नहीं करना चाहिए ।

पू० गुरुदेव के मन की विचित्र स्थिति हो गयी थी । एक नवीन अर्थ, एक नवीन दृष्टि को पाने का तो उनके मन में परम उल्लास था, परन्तु साथ ही एक आत्यन्तिक खेद भी था कि हाय, व्यर्थ ही मैंने इतने दिवस खो दिये । अपने उल्लास को छिपाते हुए पू० गुरुदेव ने भगवान् श्रीकृष्ण को उपालम्भ दिया - यह अर्थ पहले क्यों नहीं बताया ? पहले ये अर्थ प्रकट हो जाते तो क्या हानि हो जाती ? अब तक मुझे भ्रम में रखने की क्या आवश्यकता थी ?

भगवान श्रीकृष्ण ने कहा - मुझे तेरे द्वारा गीता तत्व विवेचनी का कार्य सम्पन्न करवाना था । तुम्हारे सहयोग के अभाव में यह कार्य पूर्ण नहीं हो पाता । ज्यों ही यह कार्य सम्पन्न हुआ, इन श्लोकों का मर्म अब तुम्हारे सम्मुख उद्घाटित कर दिया ।

इस नवीन दृष्टि को देकर भगवान् श्रीकृष्ण तो तिरोहित हो गये और इसके साथ-साथ ही पू० गुरुदेव की सम्पूर्ण विचारधारा ही आमूल-चूल परिवर्तित हो गयी ।

पुनः भगवत्प्राकट्य और आदेश

इस सद्य उद्घाटित श्रीमद्भगवद्गीता के नवीन अर्थ की भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा दृढ़ अवधारणा कराये जाने के पश्चात् पू० गुरुदेव ने यही निर्णय किया

कि अब क्षेत्र सन्यास का व्रत लेकर वृन्दावन ही रहना है। सरलतम साधना समर्पण योग की है एवं "मन्मना भव ....." तथा सर्व धर्मान् .... श्लोकों में जो निष्ठा वर्णित है वही सबसे उत्तम है । पूर्ण समर्पणमय प्रेमयोग की रसमयी साधना ही अब उनका जीवन होगी, यही उनका निर्णय था । शरीर सेवा श्रीसेठजी लेना चाहते नहीं थे अतः सेठजी के पास रहने का द्वार बन्द हो ही चुका था । श्रीसेठजी का स्पष्ट उत्तर था कि नश्वर शरीर की सेवा के लिये वे पू० गुरुदेव को अपने साथ रखना चाहते नहीं और गीता प्रचार की इच्छा पू० गुरुदेव में थी नहीं ।

श्रीसेठजी की पू० गुरुदेव से एक डेढ़ घंटे तक वार्ता होती रही । सेठजी चाहते थे कि वे किसी भी प्रकार से गीता प्रचार के लिये स्वीकृति दे दें परन्तु पू० गुरुदेव की आन्तरिक आस्था ही प्रचार से हट गयी थी । अतः श्रीसेठजी द्वारा दिया संपूर्ण प्रबोध-उद्बोध उन्हें अपने निश्चय से विचलित नहीं कर सका । खिन्न मन से श्रीसेठजी ने पू० गुरुदेव को वृन्दावनवास करने के लिये अपनी सहमति प्रदान कर दी ।

यह घटना बाँकुडा की ही है । श्रीसेठजी से बिदायी लेकर पू० गुरुदेव अन्तिम बिदाई लेने के लिये पू० पोद्दार महाराज के पास पहुँचे । इस निर्णय का उन्होंने भी अनुमोदन नहीं किया । उन्होने भी पू० गुरुदेव को इस विचार से विरत करने की बहुत चेष्टा की । परन्तु पू० गुरुदेव को तो वृन्दावन का आकर्षण खींच रहा था ।

श्रीपोद्दारमहाराज की सर्वज्ञ दृष्टि पू० गुरुदेव के उस सौभाग्य की संभावना पर मंडरा रही थी जिसकी उपलब्धि सनकादि मुनियों एवं याज्ञवल्कादि ऋषिगणों को भी दुर्लभ है । श्रीसेठजी के द्वारा रोके जाने की भावना मात्र जगत् का कल्याण थी और श्रीमद्भगवद्गीता ग्रन्थ का प्रचार थी, परन्तु श्रीपोद्दारमहाराज पू० गुरुदेव को महाभाव दान का योग्य पात्र समझकर उन्हें अपने संग रखना चाहते थे और अपने हृदय का सौरभ महाभाव उन पर उँड़ेल देना चाहते थे ।

श्रीपोद्दारमहाराज इतने संगोपनप्रिय थे कि यह कहना नहीं चाहते थे कि जिस वृन्दावन के पीछे आप पागल हो रहे हैं, वह सचल वृन्दावन मेरा यह पंचभूतों का पिंजड़ा शरीर ही है । यह उस वृन्दावन से किसी भी प्रकार कहीं भी न्यून नहीं है । उस वृन्दावन की पंचभूतात्मक भूमि को भगवान् श्रीकृष्ण ने पांच हजार वर्ष पूर्व संस्पर्शित किया था । परन्तु वे श्रीकृष्ण साक्षात् सदेह

उनके देह के भूषण हैं, हृदय के हार हैं, चित्त में निवास करते हैं और उनकी चेतन सत्ता से एक हैं । जब पू० गुरुदेव को पोद्दार महाराज संकेत से समझा ही नहीं सके तो प्यार एवं अधिकार की भाषा का उन्होंने प्रयोग किया। आत्मीयतापूर्वक कहा - "हम लोग जाने देंगे तब न आप जायेंगे । देखें, आप कैसे वृन्दावन जाते हैं ?"

परन्तु हतभाग्य ! इस प्रेम भरी उक्ति को भी पू० गुरुदेव ने दूसरी प्रकार ले लिया। वे बोल गये - "आप लोग रेल टिकट ही तो नहीं देंगे, क्या हुआ ? भगवान् ने इस शरीर को दो पैर दे रखे हैं, पैरों में चलने की शक्ति भी दे रखी है, और लोगों से मार्ग पूछने के लिये मुख में वाणी दे रखी है । लोगों से मार्ग पूछते-पूछते बाँकुडा से आसनसोल चला जाऊँगा, आसनसोल से रेल की पटरी के किनारे-किनारे चलते हुए हाथरस पहुँच जाऊँगा। और तब हाथरस से वृन्दावन ।"

इसके पश्चात् अब पोद्दार महाराज के पास कहने को बचा ही क्या था ? पोद्दार महाराज के कथन का अर्थ था कि प्रेम के आग्रह का बन्धन पू० गुरुदेव भला कैसे तोड़ेंगे ? परन्तु जब कोई प्रेम-संबंध ही तोड़ देने को तत्पर हो जाय, उसे शरीर से रोकना कोई सज्जनता, शील और महानुभावता थोड़े ही है ।

पू० गुरुदेव श्रीपोद्दारमहाराज के पास से अपने कक्ष में चले आये । वे अपने उपास्य के श्रीविग्रह के सम्मुख बैठ गये। अचानक उस चित्रात्मक श्रीविग्रह से पुन: श्रीकृष्ण उनके सम्मुख प्रकट हो गये । अति स्नेहपूर्वक वे पू० गुरुदेव की ओर निहार रहे थे । अहा ! उनके बिम्ब-विडम्बी अधर-पल्लव कैसे मधुमय सुधारस से परिपूरित थे।

अरुणिम गोल कपोल विलक्षण कमनीयता से युक्त थे । उनके सुन्दर कर्ण-कुंडल विविध रत्नों की ज्योति से दमक रहे थे । सहसा उनकी अति मधुर नेहभरी गंभीर वाणी पू० गुरुदेव के चित्त में ध्वनित हो उठी ।

भगवान् ने प्रश्न किया - "तुम वृन्दावन क्यों जाना चाहते हो ?" पू० गुरुदेव ने उत्तर दिया - "वह आपकी लीला भूमि है।" भगवान् श्रीकृष्ण ने पूछा - "जिसके संस्पर्श मात्र से तुम्हें मेरे दर्शनों का सौभाग्य मिला, उस पोद्दार महाराज के लिये मेरी बतायी सब बातें तुम विस्मृत कर गये ? बताओ, उसके प्रति तुम्हारी सन्देह रहित क्या मान्यता है ?"

पू० गुरुदेव - "मैं उनको सिद्ध कोटि का सन्त मानता हूँ ।" भगवान् ने पुनः प्रश्न किया - "सिद्ध कोटि का सन्त किसे कहते हैं ?" पू० गुरुदेव ने कहा- "जिसका मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार सभी कुछ भगवत्स्वरूप ही हो जाता है, वही सिद्ध सन्त है । जिसका हृदय तुम्हारी लीला भूमि हो जाय वह सिद्ध सन्त है ।"

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा - "यदि तुम इस पोद्दार महाराजरूप जीव की महिमा में कहे गये मेरे सभी कथन स्मरण रखते तो मुझे पुनः तुम्हें प्रकट होकर यह सब कहने की आवश्यकता ही नहीं थी । जब तुम पोद्दार महाराज को रससिद्ध सन्त मानते हो तो उनमें और वृन्दावन में अन्तर ही क्या रहा ? मैं पूर्णतः भी यह कह चुका हूँ इसके अन्तःकरण चतुष्टय पर मैं ही अभिव्यक्त हूँ । इसका हृदय मेरी विलास भूमि है । वह अचल वृन्दावन है तो यह सचल वृन्दावन है । उसके प्रेम भरे आग्रह का तेरे द्वारा तिरस्कार हुआ है । यह तेरा अक्षम्य संतापराध है । भविष्य में उनकी रुचि ही तेरा जीवन और जीवन की साधना होनी चाहिए ।" यह स्पष्ट भगवद्वाणी सुनकर पू० गुरुदेव स्तब्ध थे ।

अब तो उनकी बुद्धि श्रीपोद्दारमहाराज की अवज्ञा के कारण परितप्त थी। अब उन्हें अपने वृन्दावन जाने के हठी आग्रह में कुछ भी सार समझ में नहीं आ रहा था । वे ठीक समझ रहे थे, देख रहे थे कि पोद्दार महाराज तो मात्र कलेवर हैं इनमें नित्य विलसित हैं भगवान् श्रीकृष्ण । संत शरीर तो मात्र माध्यम है और यह माध्यम भी निरावृत भगवत्संस्पर्श से पूर्णतया चिन्मय हो गया है । जब पारस पत्थर जैसी जड़ वस्तु लोहे को विशुद्ध स्वर्ण में परिवर्तित कर देती है, जब गंगाजल गन्दे छीलर, नाले को गंगा बना देता है तब क्या भगवान् का परम चिन्मय नित्य विलास जिस हृदय देश में हो रहा है, जिसके जड़ अस्थि-युक्त हाथ चिन्मय भगवान् के चरणों को स्पर्श कर चुके हैं, वह शरीर भला क्या, वृन्दावन से किसी भी प्रकार, किञ्चित भी न्यून हो सकता है ? कदापि नहीं ।

पू० बाबा अपने हठी स्वभाव को धिक्कार रहे थे । सचमुच प्रकृति (स्वभाव) जिसकी जो भी होती है - वह दुरत्यय ही होती है । थोड़ी देर पश्चात् भगवान् फिर बोले - जब तुमको चलती-फिरती मेरी लीलास्थली और स्वयं मैं सुलभ एवं उपलब्ध हूँ फिर इससे अधिक तुम्हें और क्या चाहिए ?

पू० गुरुदेव ने तत्क्षण निर्णय कर लिया कि अब इस सचल वृन्दावन-- पोद्दार महाराज के साथ ही निरन्तर रहना है ।

भगवान् श्रीकृष्ण का स्पष्ट निर्देश था - "सूर्योदय से लेकर दूसरे सूर्योदय तक आठ पहरों में एक बार श्रीपोद्दारमहाराज का दर्शन कर लो, भले वह दर्शन एक क्षण का ही हो, इसके अतिरिक्त जब तक श्रीपोद्दारमहाराज प्रसन्नचित्त से अनुमति न दें, तब तक वृन्दावन नहीं जाना ।

पू० पोद्दार महाराज के जीवनव्यापी संग का व्रत एवं जीवनदात्री माँ से अन्तिम मिलन

भगवान् श्रीकृष्ण के आदेश देकर अन्तर्धान हो जाने पर अब पू० गुरुदेव के मन में वृन्दावन जाने का भाव विसर्जित हो गया था । वे अपने उपासना कक्ष से उठकर श्रीपोद्दारमहाराज के पास आये । श्रीपोद्दार महाराज अपने सम्पादन कार्य में संलग्न थे । उनके पास पू० गुरुदेव चुपचाप बैठ गये । फिर अत्यंत मनुहारपूर्वक बोले - अब मैं वृन्दावन नहीं जाऊँगा ।

श्रीपोद्दार महाराज भी घुटे हुए गुरु थे । कहने लगे - "नहीं, नहीं, आपको भगवान् ने दो पैर दिये हैं, चलने की शक्ति भी दी है, फिर रास्ता पूछने के लिये मुख में वाणी दी है । लोग आपको वृन्दावन का रास्ता बता ही देंगे।"

श्रीगुरुदेव ने श्री पोद्दार महाराज के घुटनों को सहलाते हुए थोडी मनुहार करते हुए कहा - "क्षमा करिये, अब पुरानी बात भूल जाइये, मैंने अब वृन्दावन जाने का विचार छोड़ दिया है । अब तो एक ही बात है, सदा आपके ही पास रहना है। बस, चौबीस घंटे में एक बार आपका दर्शन मिल जाया करे ।"

किसी भी वस्तु को अच्छी प्रकार से गाड़ने के लिये उसे हिलानी पड़ती ही है अत: पोद्दार महाराज ने पर्याप्त आना-कानी की परन्तु गुरुदेव ने अपनी विनय, प्रेम, मनुहार से उन्हें मना ही लिया ।

अब पू० गुरुदेव को अन्तिम बार अपनी माँ से मिलकर सदा-सदा के लिये बिदाई ले लेनी थी ।

पू० गुरुदेव ने इसके लिये भी पोद्दार महाराज से अनुमति माँगी ।

उनका अनुमति माँगने के पीछे इतना ही उद्देश्य था कि ग्राम जाने पर माँ की ममता के कारण पोद्दार महाराज के पास रहने के व्रत में कहीं कोई बाधा नहीं खड़ी हो ।

पू० श्रीपोद्दार महाराज द्वारा यह आश्वासन भी प्रसन्न मन से दे दिये जाने के पश्चात् पू० गुरुदेव बाँकुड़ा से अपने ग्राम फखरपुर के लिये रवाना हुए । टिकट की व्यवस्था तो पोद्दार महाराज द्वारा कर ही दी गयी थी ।

रास्ते में पू० गुरुदेव को एक सुखद क्षत्रिय जाति के सहयात्री मिल गये। गया स्टेशन पर उतरने पर गाँव तक पहुँचने का प्रबन्ध उन सहयात्री द्वारा अयाचित ही हो गया ।

पू० गुरुदेव सूर्यास्त के समय गाँव में पहुँचे ।

जन्मदात्री माँ तो विश्व में सभी को मिलती हैं, परन्तु महा सौभाग्यवान वे होते हैं, जिनको अतिशय वात्सल्यवती माँ का वात्सल्यरस मिलता है । पू० गुरुदेव की माँ अगाध वात्सल्यवती साक्षात् यशोदाजी ही थीं । उस ममतामयी को कल्पना ही नहीं थी कि मेरा चक्रधर अब कभी गाँव पर आयेगा । उसे एक-एक दिन वर्ष के समान लगता था और साथ ही अनुभव होता था चक्रधर को गये तो कल्प ही बीत गये हैं । उसकी आँखें अपने सोने से पुत्र की स्मृति में सदा झरती रहती थीं और उन नेत्रों ने रोते-रोते अपने देखने की दृष्टि ही खो दी थी । उसे तो आशा ही कहाँ थी कि ये आँखें पुन: अपने नटखट पुत्र को देख पावेंगी, जो नौ वर्ष की उम्र तक पाठशाला से आते ही उसके सूखे स्तनपान करने मचल उठता था और दूध न आने पर काट लेता था । पू० गुरुदेव के आने की सूचना ज्यों ही पू० माँ को दी गयी, वे तो अपनी सुध-बुध ही खो बैठीं ।

इस अकल्पनीय बात पर विश्वास नहीं करती हुई पूज्या माताजी अपने वस्त्रों की सँभाल भुलाये चक्रधर, चक्रधर रटती घर के बाहर आ गयी । माँ के सामने दरवाजे पर उनका साक्षात् गैरिक वस्त्रधारी पुत्र खड़ा था, परन्तु माँ उसे देखकर भी प्रेमजनित सात्विक विकार से देख नहीं पा रही थी । प्रेम वैचित्य की ऐसी स्थिति रस शास्त्रों में अवश्य वर्णित है । किन्हीं भाग्यवान सन्तों ने इसे अपने भावदेश में अप्राकृत महासत्व की स्थिति में अनुभव भी किया होगा । परन्तु इस प्रेम वैचित्य की महा दुर्लभ दशा का अनुभव एक ग्रामीण साधन-शून्या गृहस्थिन को इस सत्व रज और घोर तमोमय प्रकृति

राज्य में भी हो सकता है, इसका प्रत्यक्ष उदाहरण फखरपुर गाँव के तत्कालीन ग्रामीणों ने उस समय अपनी आँखों से देखा ।

उस सित-केशी कृशवदना, अतिवृद्धा माँ का भावावेग इतना अधिक था कि भाव भ्रमिता वृद्धा अपने पुत्र से ही पूछने लगी - "अरे भाई ! क्या तुमने मेरे बैटे को देखा है ? तुम बताओ तो मेरा बेटा कहाँ गया है ? वह क्यों चला गया है ? वह कब तक आयेगा ? बस, एक बार मिल लेता ?

वात्सल्य के प्राबल्य ने माँ के व्यक्तित्व को नखशिख झकझोर कर रख दिया था ? महा भावावेग में वह अपने बेटे को ही नहीं पहचान पा रही थी। उन्मादिनी की तरह वह न जाने कितने प्रकार की जिज्ञासाएँ अपने बेटे से ही कर रही थी । माँ की ऐसी अपूर्व प्रेमोन्मादिनी स्थिति का वास्तविक आकलन उस समय पू० गुरुदेव स्वयं ही नहीं कर सके । उन्हें उस काल में मात्र भगवद्दर्शन ही हुआ था, परन्तु गोपी प्रेम की इन गंभीरतम भावधाराओं को छूने का अवसर ही उस समय उन्हें कहाँ मिल पाया था । फिर भी पू० गुरुदेव चकित थे । सामान्यजन तो उस स्थिति को बुढ़िया का पागलपन ही मान कर मुसका रहा था, हँसी कर रहा था ।

पू० गुरुदेव के लिये यह समस्या हो गयी थी कि वे माँ को प्रकृतिस्थ कैसे करें ? पास-पड़ौस के लोगों ने उसे घेर लिया था ।

पू० गुरुदेव को अपनी माँ को जगत् के धरातल पर लाने का कोई उपाय ही नहीं सूझ रहा था । सहसा उन्हें अपना बालपन का वह नटखटपना याद आ गया, जब कि वे नौ वर्ष की अवस्था तक स्कूल से आते ही माँ का स्तन पान करने को मचल जाते थे । इस प्रसंग की स्मृति होते ही पू० गुरुदेव ने सन्यासीपने की मर्यादा उतार फैंकी। आस-पास खड़े लोगों की लज्जा की कृत्रिमता को भी पू० गुरुदेव ने तिलांजलि दे दी । सबके सम्मुख ही उन्होने माँ के स्तन खोले और स्तनों पर अपने दाँत गड़ा दिये । दाँत का गड़ाया जाना था कि पू० माँ को अपने पुत्र की उपस्थिति का परिज्ञान हो गया । अपने लाल के मस्तक को माँ ने अपनी छाती से चिपका लिया था । अब अश्रु केवल माँ के कपोल को नहीं भिगो रहे थे, अपितु सन्यासी पुत्र के मुण्डित शीश पर भी रुद्राभिषेक कर रहे थे । अपने लाल के शीश को अपनी छाती से चिपकाये माँ बहुत देर तक खड़ी रही । फिर वह अति करुण चीत्कार कर उठी - "अरे कोढ़िया चकरा, तू मुझे क्यों छोड़ गया रे ।" चकरा-चकरा कहती माँ को हिचकियाँ बंध गयी थीं । उससे चकरा शब्द बोला ही नहीं जा

रहा था । माँ के उस महावेदनामय रुदन से सारा फखरपुर ग्राम व्यथित हो गया । सभी के नेत्र बरसने लगे । आबाल वृद्ध सभी सिसकियों लेकर इस निष्ठुर सन्यासी को कोस रहे थे, जिसने ऐसी स्नेहमयी माँ को पाकर उसे बिलखती छोड़कर जीवित ही मृत्यु को वरण किया था ।

पू० गुरुदेव ने अपनी माँ एवं पिताजी की वेदनापूर्ण स्थिति पर प्रकाश डालते हुए अपने अग्रज श्रीतारादत्तमिश्र को इस अपने काव्य-मय संन्देश में लिखा है -

है पथ तुलसी वन जोह रहा हम दोनों का प्यारी प्रियतम ।
नीली सरिता हो व्याकुल है कर रही शब्द कल-कल प्रियतम ।
है अपलक बाट निहार रहीं वे वल्लरियाँ फूली प्रियतम ।
सुस्पष्ट दे रही है इंगित सारी शुक पर झूली प्रियतम ।।
काँटों की अटवी में मिलकर देरी न करो प्यारी प्रियतम ।
चेरी पर चरण सरोरुह की अविलम्ब ढरो प्यारी प्रियतम ।
नश्वर तन की पगडण्डी पर ठहरो न तनिक प्यारी प्रियतम ।
चलते जाओ, चलती जाओ, रहकर गुमसुम प्यारी प्रियतम ।
जो कहीं अनुज अधिकारी-रुचि या महीपाल-मति का प्रियतम ।
आदर कर परिचय देता जग-सम्बन्ध नेह-गति का प्रियतम ।
वे पहुँच नहीं पाते अब तक सच्चिन्मय मंजिल पर प्रियतम ।
माया का ताप नहीं मिटता, मिलता न कृष्ण तरुवर प्रियतम ।
अग्रज के सदृश अनुज तन से जिनका नाता था हे प्रियतम ।
वे पहुँचेंगे ही नित्य जहाँ कान्हा गाता था हे प्रियतम ।।
इसीलिये विश्वास, किये रहो अविचल अहो ।
व्रजपुर नित्य निवास, कुंज-स्थल पर दृग रहें ।।
उपवन के उस पार हम सब ही मिल जायँगे
माया सरित कगार पर मिलने में हानि है ।

(भावार्थ)

अरे भैया ! वृन्दावन हम दोनों प्रिया-प्रियतम की बाट, पथ जोह रहा है। नीली रसमयी-सरिता व्याकुल होकर देखो, कैसी कल-कल शब्द कर रही है । देखो, ये पुष्पित सुमनों से लदी आनन्द से फूल रही लताएँ, वल्लरियाँ हमारा

पथ पलक नहीं गिराते हुए (अपलक) अति आतुर हुईं निहार रही हैं । और देखो, यह सारिका पक्षी शुक के ऊपर प्यार से झूलती हुई सुस्पष्ट संकेत दे रही है कि तुम्हें इस पथ से चलकर प्रिया-प्रियतम के पास पहुँचना है ।

अरे भैया ! यह संसार तो कंटकाकीर्ण जंगल, काँटों का वन है । इसमें आपस में एवं मुझसे मिलने में प्रिया प्रियतम के पास पहुँचने में विलम्ब हो सकता है । भगवान् नन्दनन्दन की चरण सरोरुह की चेरी श्रीराधारानी पर बिना विलम्ब किये ढर जाओ । यह तन तो नश्वर है, इसकी पगडंडी पर तनिक भी मत ठहरो । तुम चाहे स्त्री वेषधारी हो, चाहे पुरुष वेषधारी साधना के पथ में चलते जाओ, चलती जाओ, चुप-चाप गुम-सुम रहो और चलो ।

यदि छोटा भाई स्वामी चक्रधर अधिकारीदेवी अपनी स्नेहमयी माता की वात्सल्यमयी इच्छा, रुचि अथवा महीपालमिश्र पिताजी की बुद्धि के अनुसार अपना जीवन बनाता एवं उन पर आदर श्रद्धा कर जगत के संबंधों, स्नेह एवं व्यवहार के अनुसार अपना जीवन बनाता तो निश्चय ही न तो माया का ताप मिटता एवं न ही भगवान् श्रीकृष्ण रूप-तरु की छाया ही उसे मिल पाती । (श्रीतारादत्त जी की तरह) बड़े भाई के समान ही छोटे भाई चक्रधर स्वामी से जिनका जो भी नाता है, वे निश्चय ही वहाँ पहुँचेंगे, जहाँ श्रीकृष्ण वंशी बजाकर गाते हैं ।

इसलिये अविचल विश्वास किये रहो, हमारी दृष्टि व्रजपुर वृन्दावन, एवं कुंजस्थल जो हमारा नित्य निवास है, उसी पर लगी रहे । इस उपवन अर्थात् शरीर के उस पार मृत्यु के पश्चात् हम सभी निश्चय ही मिल जायेंगे, इस शरीर सें परस्पर मिलने से वहाँ पहुँचने में विलम्ब हो सकता है अतः हानि है।

भाव के किञ्चित शमन होने पर माँ ने देखा गाँव के स्त्री-पुरूष तमाशा देख रहे हैं और माँ बेटे का विशुद्ध प्यार एक क्रीड़ा कौतुक हो रहा है अतः उसने अपने चकरा को घर में अन्दर चलने के लिये कहा ।

पू० गुरुदेव ने माँ के चरण छूकर निवेदन किया कि सन्यासी का अपने घर में प्रवेश उचित नहीं ।

माँ ने पूछा - “तब तू कहाँ रहेगा ?”

पू० गुरुदेव ने कहा - "गाँव के बाहर बगीचे में ।"

यह सुनकर माँ ने कहा - "चल मैं भी तेरे साथ चलती हूँ ।"

पू० गुरुदेव के ऐसा कहते ही माँ घर के भीतर जाकर एक छोटी सी पोटली ले आयी और उनके साथ-साथ चल पड़ी । आगे-आगे गुरुदेव और पीछे-पीछे उनकी माता चल रही थी ।

पू० गुरुदेव के परिवार में पर्दे की मर्यादा बहुत ही कठोर थी । घर की स्त्रियाँ प्राय: घर के बाहर नहीं निकलती थीं । परन्तु आज माँ को न तो पर्दे की परवाह थी, न ही गृह-मर्यादा लोक लाज की चिन्ता । गाँव के बड़े-बूढ़े, लोगों से बेखबर माँ नेत्रों के आँसुओं की अजस्र धारा को पौंछती हुई पू० गुरुदेव के पीछे-पीछे चली जा रही थी।

गाँव के बाहर हाई स्कूल और एक पाठशाला थी । वह पाठशाला एक उद्यान में थी। पू० गुरुदेव ने पाठशाला में ही ठहरने का निश्चय किया ।

इधर तो पू० गुरुदेव अपना हाथ पैर धोने लगे उधर माँ ने अपनी पोटली खोलनी प्रारम्भ की । माँ ने उस पोटली में बड़ी-बड़ी अनेक पुडिया सँजोकर रखी थीं । माताजी एक-एक पुड़िया को खोलती और उसे सूँघती । उसमें दुर्गन्ध पाकर नाक सिकोड़ते हुए माँ उस पुड़िया की वस्तु को एक किनारे फेंक देती । एक के बाद दूसरी और दूसरी के बाद तीसरी, इस प्रकार प्रत्येक पुड़िया वह फेंकती चली जा रही थी। पू० गुरुदेव वह सब देख रहे थे । पू० गुरुदेव ने पूछा - माँ ! यह तू क्या कर रही है ? माँ ने बतलाया - बेटा ! जब भी घर में कोई बढ़िया वस्तु बनती अथवा तेरी कोई प्रिय वस्तु बनती, मैं उसे पुड़िया में बाँधकर रख देती थी । कभी न कभी तो तू आयेगा ही, तब तुझे खिलाऊँगी, परन्तु अब तो ये सभी खाने लायक रही नहीं । सभी में दुर्गन्ध आ रही है । अत: फेंक दे रही हूँ ।

पू० माताजी के इस अगाध वात्सल्य पर पू० गुरुदेव बतिहारी हो रहे थे। माँ अच्छी तरह जानती थी कि मेरा बेटा सन्यासी हो गया है, वह कभी भी घर पर नहीं आयेगा । इसके पश्चात् भी अपने सन्यासी बेटे के लिये उसके हृदय के भावों का उफान ऐसा था कि वह प्यार में पगली हुई भोजन की वस्तुएँ उसके लिये बचाकर पुड़ियाओं में बाँधकर रखती थी ।

मातृ हृदय का कैसा अभूतपूर्व वात्सल्य था यह । भला कोई इसकी गरिमा कैसे शब्दों में व्यक्त कर पायेगा ? एक-एक करके वे सभी पुडिया फेंक

दी गयीं । माँ ने अब बाबा को अपने हाथ से बनाकर सद्य:सिद्ध भोजन कराया ।

माँ रात्रिभर वहीं पाठशाला में ही रही । पू० गुरुदेव ने माँ से कहा - तू सो जा ।

माँ का हृदय तो उमड़ा जा रहा था, वह तो थमने का नाम ही नहीं लेता था । उसने भरे-भरे स्वर से कहा- बेटा, सोने के लिये समय तो मुझे फिर भी मिल जायेगा । पर तू मुझे फिर कब मिल पायेगा रे, चकरा ।

माँ इतना तो जान ही रही थी कि यह यहाँ केवल मात्र कुछ दिनों के लिये ही आया है । फिर माँ ने अपनी स्खलित वाणी में कहा - चकरा रे ! अब तू केवल मेरा बेटा ही थोड़े रहा है । जो भी तुझे बेटा कहेगा, उसे ही तू माँ कह देगा । अब तो तू सारे संसार का है । है, न ?

इस प्रकार की बातें माँ कहती जाती थी और अपने आँसू पौंछती जाती थी ।

प्रात:काल पू० गुरुदेव शौच के पश्चात् स्नान करने वाले थे । उसी समय पू० माँ ने उनके लिये कुँऐ से जल निकाला । आज उस वृद्धा के कृश शरीर में न जाने कहाँ से इतनी शक्ति आ गयी थी कि कूप से अनवरत जल निकालने पर भी थकान का नामोनिशान नहीं था ।

पू० गुरुदेव आठ नौ दिन अपने गाँव पर रहे ।

इस अवसर पर श्रीदेवदत्तजीमिश्र पू० गुरुदेव के चचेरे बड़े भाई ने श्रीमद्भागवत सप्ताह की कथा लगातार सात दिन तक कही । कथा उनके घर पर ही होती थी । कथा सुनने के लिये गुरुदेव नियम से घर जाते और कथा सुनकर घर से सायंकाल पाठशाला में वापस चले आते ।

पू० गुरुदेव के ग्राम आने की बात सुनकर न केवल उस गाँव के लोग वरं आसपास के अनेक ग्रामों के लोग पूज्य गुरुदेव से मिलने आते । पू० गुरुदेव के पिताजी जिस राजवंश के कुल पुरोहित थे, वे राजा साहब भी उनके पास मिलने आये । उन्होने पू० गुरुदेव को सन्यासी के रूप में साष्टांग दण्डवत की । कहाँ तो वयोवद्ध सम्पूर्ण गाँव के सम्माननीय राजा और कहाँ एक युवक सन्यासी । प्रणाम कराने में गुरुदेव को बहुत ही संकोच हो रहा था। वे तो बालकपन से इनके वात्सल्य भाजन रहे थे । पू० गुरुदेव ने उनका यथोचित स्वागत सत्कार किया ।

ग्रामवास की अवधि में एक दिन पू० गुरुदेव के कमण्डलु की चोरी हो गयी । गुरुदेव रात्रि में उद्यान में सोये थे, उस घने अंधेरे में कोई उनका कमण्डलु उठा ले गया । पू० गुरुदेव ने किसी से कुछ नहीं कहा । परन्तु शौच स्नानादि के लिये जलपात्र की आवश्यकता तो थी ही । पू० गुरुदेव ने उद्यान के किनारे एक पड़ी मिट्टी की हँडिया उठा ली । संभव है किसी ने शवयात्रा के काम में लेकर फेंक दी थी । सन्यासी की दृष्टि सम होनी चाहिये अत: उन्होंने वही हँडिया उठा ली । उन्होने बालू से रगड़कर उसे माँज लिया और कालिख छुड़ाकर काम में लेना प्रारम्भ कर दिया । लोगों को चोर द्वारा सन्यासी के कमण्डलु को भी उठा ले जाने की बात पर अति पश्चात्ताप हुआ और ग्रामवासी एक सुथार ने तुरन्त काष्ठ का एक कमण्डलु बनाकर पू० गुरुदेव को भेंट किया । वह कमण्डलु थोड़ा भारी अवश्य था परन्तु यावज्जीवन उसे उन्होने अपने पास रखा । पू० गुरुदेव की माताजी जब तक वे ग्राम में रहे, घर पर गयी ही नहीं । शौच स्नान के लिये तो वे अवश्य पृथक होती थीं,शेष समय पू० गुरुदेव के पास छाया की तरह बैठी रहतीं ।

माँ का वह वात्सल्य अनोखा था । पू० माँ के इस वात्सल्य के प्रति पू० गुरुदेव के मन में अत्यधिक आदर था, परन्तु वे कभी मोहाच्छन्न नहीं हुए । पू० गुरुदेव कहते थे कि माँ के इस प्रकार विकल रुदन के उपरान्त भी उनकी उपराम वृत्ति में कहीं खरौंच नहीं आयी थी । वे माँ के वात्सल्यरस का आस्वादन एक बाल केलि के रूप में मात्र अपनी माता को सुख देने भर के लिये करते थे । भीतर से सहज अति जागरूक थे। जब जगत् और. शरीर ही स्वप्नवत् मिथ्या है फिर कौन माँ और कौन पुत्र । जैसे लोगों को वर्तमान में स्वयं का अनुभव नाम रूपात्मक शरीर ही होता है, उस समय पू० गुरुदेव को अपना स्वरूप मात्र समष्टि चेतन, घन आनन्द-कन्द कदम्ब-वृक्ष के नीचे स्थित श्रीकृष्णचन्द्र ही होता था । वे ही उन्हें सबके भीतर भी परम सत्य समझ में आते थे । चाहे अग्रज भ्राता देवीदत्तजी, तारादत्तजी हों अथवा पू० माताजी एवं पिताजी हों । जब व्यष्टि की जन्म मृत्यु एवं स्थिति अथवा समष्टि की सृष्टि, स्थिति और प्रलय ही उनके लिये स्वप्न से भी अधिक असत्य थे, तो फिर ये भावुक दिन-दो दिन का रोना-धोना उन्हें सर्वथा विनोद ही प्रतीत होता था । उनके मन में सम्पूर्ण जागतिक व्यवहार के प्रति अपरिसीम वैराग्य लबालब भरा था ।

श्रीमद्भागवत की कथा विधिवत् सम्पूर्ण हुई । कथा के सम्पूर्ण होने पर पू० गुरुदेव ने माँ से कहा - "माँ, सन्यासी को अपने ग्राम पर अधिक नहीं रहना चाहिए ।

यह सुनते ही तो माँ के धैर्य का बाँध टूट गया ।

उसके लिये तो ये शब्द वज्रपात के तुल्य ही थे । माँ के रुदन और व्यथा का अजस्र स्रोत फूट पड़ा । थोड़ी ही देर में यह बात ग्राम भर में फैल गयी । पाठशाला के पास भीड़ इकट्ठी हो गयी । अपने कंधे पर एक कटिवस्त्र और कमण्डलु पू० गुरुदेव की मात्र इतनी ही सम्पत्ति थी । पू० गुरुदेव की एक सहोदरा बहिन का नाम था सुहागमणि । उसके पति श्रीजुगलकिशोरजी संस्कृत के उद्भट विद्वान थे । वे वहीं खड़े थे । पू० माँ ने श्रीजुगलकिशोरजी को गुरुदेव को पटना तक छोड़ आने की बात कही। उन्होंने तत्क्षण स्वीकृति दे दी । भीगे नयन, भीगा आँचल, भीगे कपोल माँ खड़ी थी । उसकी विह्वलता की सीमा नहीं थी ।

फिर भी वात्सल्यमयी माँ ने कहा - कुछ खा ले । उसके हाथ में उस समय कुछ था ही नहीं । चक्रधर बिदा होगा इस दुख से घर में उस समय कुछ निर्मित भी नहीं था । रसोई बने तब न निर्माण हो । परन्तु माँ अपने बेटे को कुछ खा लेने की मनुहार कर रही थी। स्वयं न जाने कितने दिवसों की भूखी थी । भरे कंठ से कौर निगला कहाँ जाता था। मात्र चक्रधर को दिखाने थाली लेकर बैठती थी और धीरे से सारा भात वन में फेंक देती थी । खाया कहाँ जाता था ।

पू० गुरुदेव के मुख से निकल गया - दे ।'

बस, माँ के कानों में ज्यों ही ये शब्द प्रविष्ट हुए उसके पैरों में मानो पंख लग गये । घर में जो भी मिला, वही वह ले आयी । उसने वह मिष्टान्न गुरुदेव के हाथ में रख दिया ।

पू० गुरुदेव ने पूछा - "वह अन्नाहारी है, या फलाहारी ?"

माँ ने कहा - "यह फलाहारी है । इसे खाले । तेरा मंगल ही होगा ।"

गुरुजन, परिजन, पुरजन, एवं स्वजनों से बिदाई लेकर पू० गुरुदेव ने माँ के चरणों में मस्तक रखा । पूज्या माँ ने चरणों में रखे मस्तक अपने लाल को आशीर्वाद दिया - सुखी रहो, सदा सुखी रहो ।

पू० गुरुदेव को सूचना मिल चुकी थी कि श्रीपोद्दारमहाराज बाँकुड़ा से कलकत्ते आ गये हैं। अत: वे सीधे गोविन्द भवन में उनसे मिले । पू० गुरुदेव को आया देखकर पोद्दार महाराज को अतीव प्रसन्नता हुई ।

वह शुभ दिन ११ मई, १९३९ का था । पू० गुरुदेव दोपहर के समय गंगा स्नान को गये । परम पावनी गंगाजी में स्नान करने के उपरान्त माँ गंगा के तट पर खड़े होकर तथा हाथ में गंगाजल लेकर पू० गुरुदेव ने संकल्प लिया। "इस क्षण मध्याह्न के बाद से मैं श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार के साथ नित्य निरन्तर निरवधि रहूँगा । हम दोनों में वियोग होगा ही नहीं । भविष्य में हम दोनों में यदि वियोग होगा तो वह अब मृत्यु ही करायेगी । अथवा तब होगा जब श्रीपोद्दारजी स्वयं मुझे वृन्दावन जाने के लिये प्रसन्नचित्त से अनुमति दे देंगे ।" ऐसा संकल्प करके पू० गुरुदेव ने अपनी अंजलि का जल पुण्य सलिला माँ गंगा के निर्मल प्रवाह में छोड़ दिया ।

११ मई १९३९ से २२ मार्च १९७१ तक पू० गुरुदेव का यह व्रत अक्षुण्ण रहा । २२ मार्च को पू० पोद्दार महाराज ने पू० गुरुदेव से अनुमति लेकर अपना शरीर त्याग किया । महाप्रेम मूर्त्ति पू० गुरुदेव पू पोद्दार महाराज के शरीर त्याग के पश्चात् भी उनकी चितास्थली में ही जीवन के अन्तिम क्षण तक वास करते रहे ।

पू० गुरुदेव के पिताश्री

पू० गुरुदेव के जन्म स्थान की लीला का पटाक्षेप ही जब हो रहा है तो यहाँ उनके पिताजी के निर्मल चरित्र पर थोड़ा प्रकाश देना आवश्यक लग रहा है ।

पं० महीपालमिश्र (पू० गुरुदेव, राधाबाबा के पिताजी) राजवंश के पुरोहित थे । पंडितजी परम सत्य निष्ठ थे।

इनमें निस्पृहता भी बहुत ही उच्च कोटि की थी । उन्होंने कभी किसी से कुछ माँगा ही नहीं । वे पूजा-पाठ के लिये कभी दक्षिणा ठहराते ही नहीं थे । उनकी अयाचकता का व्रत जीवन-व्यापी रहा कभी खण्डित नहीं हुआ। ग्राम के अतिवृद्ध लोग आज भी उनके निर्लोभी वृत्ति के प्रसंग सुनाया करते हैं।

अयाचकता का कठोर व्रत होते हुए भी उनके गृहस्थ जीवन में कभी अभाव नहीं रहा । सात्विक और साधारण जीवन व्यतीत करने के लिये यजमान लोग स्वत: ही उन्हें पर्याप्त अन्न वस्त्र दे दिया करते थे । सरल श्रृद्धालु पंडितजी के यहाँ साधु सन्तों का स्वागत सत्कार होता रहता था ।

पू० पिताजी, श्रीमिश्रजी तीर्थ यात्राएँ पैदल ही करनी चाहिए, इस मत के कठोर पालक थे । अत: उन्होंने दूर-दूर के तीर्थों की यात्राएँ पैदल ही कीं । उन्होंने अपनी पत्नी के साथ श्रीजगन्नाथधाम की यात्रा पैदल ही की। रेलगाड़ी की सुविधा होते हुए भी उन्होंने पैदल यात्रा करना ही श्रृद्धावश स्वीकार किया । वे पैदल ही गाँव से तारकेश्वरनाथ गये और तब श्रीजगन्नाथधाम गये और पैदल ही वहाँ से लौटे ।

एक बार धर्मपत्नी के साथ उन्होंने व्रजधाम की यात्रा भी पैदल ही की थी । दोनो ने साथ ही साथ श्री गोवर्धन गिरि की परिक्रमा लगायी । परिक्रमा लगाते-लगाते ही संध्या हो गयी । शरीर भी श्रान्त था । अपनी पत्नी को पंडितजी 'श्री राम' कहकर पुकारते थे । पंडितजी ने कहा - "श्री राम' क्यों नहीं यहीं विश्राम किया जाये । सूर्यास्त होने वाला है । यहाँ पास में बस्ती भी है । रात्रि को यहीं विश्राम करके फिर कल प्रात:काल यहाँ से चलेंगे ।"

पू० गुरुदेव की माताजी अपनी स्वीकृति प्रदान करने ही वाली थीं, तभी माताजी को श्रीगोवर्धन गिरि के शिखर पर आकाश में खड़े हुए भगवान् श्रीराधाकृष्ण दिखलायी दिये । वे अति मधुर स्वर में कह रहे थे, यहाँ मत रुको, यहाँ मत रुको ।

इस संकेत को पाते ही माताजी ने अति विनम्र स्वर में उनसे कहा, यहाँ रुकना उचित नहीं है । आगे बढ़ा जाय । ठहरने के लिये कोई न कोई उपयुक्त स्थान आगे मिलेगा ।

इस सुझाव को श्रीपंडितजी ने सहज प्रकार से स्वीकार कर लिया । श्रीगोर्वधन पहुँचने पर ज्ञात हुआ कि वह बस्ती निरापद नहीं थी ।

उनकी सत्यनिष्ठा का जीवन्त उदाहरण यहाँ दिया जा रहा है । एक बार पंडितजी को श्रीदुर्गा सप्तशती के पाठ का निमंत्रण मिला । निमंत्रण स्वीकार कर लिया गया । पाठ के संकल्प का विधान विधिवत् सम्पन्न कराके दुर्गापाठ का अनुष्ठान प्रारम्भ कर दिया गया । अनुष्ठान की अवधि में एक बार वे अस्वस्थ हो गये और यजमान के घर उनका जा सकना संभव नहीं

था। उन्होंने अपने पुत्र चक्रधर को पूछा - "क्या तू जाकर पाठ कर देगा ? मैं तो अस्वस्थतावना विवश हूँ । जब दुर्गापाठ का संकल्प ले ही लिया गया है तो पाठ करने के लिये तो जाना ही चाहिये ।" चक्रधर सदा से ही माता-पिता का आज्ञाकारी रहा । पिताजी के कहने के पश्चात् उसके न जाने का प्रश्न ही नहीं था । पू० गुरुदेव जाने के लिये पूर्णतया तैयार हो गये ।

जिस जजमान के यहाँ पाठ करना था, वह दूसरे ग्राम का था । प्रात:काल ही स्नानादि से निवृत्त होकर चक्रधर ने दुर्गासप्तशती की पोथी संभाली और यजमान के ग्राम की ओर चल दिया । यजमान के घर जाकर उसने पाठ तो किया परन्तु पाठ समाप्त करने में बहुत अधिक समय लग गया। अभ्यास के अभाव में संस्कृत श्लोकों का धारा प्रवाह पाठ संभव नहीं हो सका । पाठ को शुद्ध एवं पूर्ण तो करना ही था । साढ़े तीन घंटे में पाठ को पूरा करके बालक चक्रधर अपने ग्राम वापस आ रहा था । दोपहरी हो गयी थी । भूख-प्यास के कारण और पैदल यात्राजनित श्रम से मुख पर थकावट के चिन्ह थे । राह में उसके मामाजी मिल गये । उसने चरण छूकर मामाजी को प्रणाम किया। मामाजी ने पूछा- इतने थके-थके कैसे लग रहे हो ? कहाँ से आ रहे हो ?

बालक चक्रधर ने सरलता से उत्तर दे दियां कि यजमान के यहाँ दुर्गा पाठ करने गया था ? संपूर्ण पाठ साढ़े तीन घंटे में पूरा कर पाया । एक आसन पर इतनी देर बैठने का अभ्यास है नहीं । अत: थकावट आना स्वाभाविक ही है । मामाजी ने चक्रधर को निरा मूर्ख बताया, साथ ही कहा कहीं इस तरह पाठ किया जाता है ? जब तक जजमान सम्मुख रहे पाठ किया, और जजमान के हटते ही नौ दस पृष्ठ उलट कर आगे बढ़ जाना चाहिए । यजमान लोग दक्षिणा कितनी देते हैं । यदि इस प्रकार साढ़े तीन-तीन घंटे एक यजमान के यहाँ पाठ किया गया तब तो जीवन का निर्वाह हो ही गया ।

बालक चक्रधर ने मामाजी की बात मान ली । क्षण भर के कुसंग का यह प्रभाव था कि जीवन की रेलगाड़ी पटरी से उतर गयी । दूसरे दिन वैसे ही दुर्गा पाठ किया जैसा मामाजी द्वारा शिक्षा मिली थी । पाठ करके बालक जब अपने गाँव की ओर वापस चला तो उसका मन उसकी भर्त्सना कर रहा था । आज तूने ठीक नहीं किया । यह गलती उचित नहीं है ।

घर पर आकर बालक चक्रधर ने अपनी सभी भूल पिताजी को सुना दी। सब सुनकर मिश्रजी को कष्ट होना तो स्वाभाविक ही था । उन्होंने अपने

पुत्र को समझाया - "बेटा ! ऐसी वञ्चना अपनी मर्यादा के अनुरूप नहीं है, न ही यह कोई शोभा की ही बात है । आगे से ऐसा कार्य कभी मत करना । ब्राह्मण को यजमान के हित के लिये पूजन-अर्चन का कार्य विधिवत् सम्पन्न करना चाहिये । जीवन का निर्वाह न तो यजमान करता है, न ही उसकी दक्षिणा से होता है । सब कुछ भगवान् की हेतु रहित कृपा करती है। यजमान दक्षिणा कम देता है तो उसकी चिन्ता नहीं करनी चाहिये । अनुष्ठान करने के उपरान्त दक्षिणा मिले, न मिले अथवा कम मिले कम से कम उन देवी देवताओं की प्रसन्नता तो मिलेगी ।

इतना कहने के पश्चात् पंडितजी अपने बिस्तर पर से उठे । उन्होंने बिस्तर के पास भूमि पर ही पूजा वाला आसन बिछाया । आसन पर बैठकर आचमन किया, जल छिड़ककर आसन शुद्धि तथा आत्मशुद्धि की और फिर पंडितजी ने यजमान के निमित्त सम्पूर्ण दुर्गा पाठ किया । इसके पश्चात् चक्रधर जब भी किसी भी यजमान के यहाँ पाठ करने गया, तो उसने सविधि सम्पूर्ण शुद्ध दुर्गा पाठ ही किया । क्षणिक कुसंग ने जो कुसंस्कार उसके बाल मन में डाले थे वे पू० पिताजी की सत्यनिष्ठा एवं कर्तव्य परायणता ने प्रक्षालित कर दिये थे ।

वृद्धावस्था में पंडितजी की नेत्र ज्योति मन्द पड़ गयी थी । अतः वे पंचांग में तिथि, वार आदि नहीं देख पाते थे । परन्तु उनकी स्मरण शक्ति इतनी तीव्र थी कि किसी भी आत्मीय स्वजन से एक बार सम्पूर्ण मास के वार, तिथि, नक्षत्र सुनकर ही वे स्मरण कर लेते थे । उनके लिये एक बार सुन लेना ही याद कर लेना होता था । पू० गुरुदेव को भी यह गुण उनके पिताजी से मिला था । भविष्य में लेखक ने उनका यह चमत्कार आँखों से देखा है । लेखक से उन्होंने नौ पाठ श्रीमद्भागवत के सुने भर थे और उन्हें नब्बे प्रतिशत श्रीमद्भागवत कण्ठस्थ हो गयी थी । सुने हुए विवरण के आधार पर पंडितजी आये हुए लोगों को मुहूर्त आदि सही बता दिया करते थे ।

पू० गुरुदेव के पिताजी का निधन सं० २००० वि० चैत्र शुक्ल पंचमी तदनुसार ९ अप्रेल, १९४३ को हुआ था । इन दिनों पू० गुरुदेव श्रीपोद्दार महाराज के साथ रतनगढ़ में रह रहे थे । पू० गुरुदेव को उनके पूर्वाश्रम के भाइयों ने पिताजी के निधन का तार भेजा था । पू० गुरुदेव उस समय भिक्षा कर रहे थे । पहले के पत्तल में जो कुछ था वह भगवत्प्रसाद समझकर उन्होंने ग्रहण कर लिया एवं तब तुरन्त स्नान किया ।

इसके कुछ दिनों पश्चात् एक दिवस रतनगढ़ में जब वे अपने निवास कक्ष में प्रवेश कर रहे थे, उन्होंने देखा उनके पिताजी प्रवेश द्वार पर खड़े हैं। वे मृत्यु उपरान्त सूक्ष्म शरीर से आ करके वहाँ खड़े थे । पिताजी को देखते ही पू० गुरुदेव ने भूमि पर सिर टिकाकर प्रणाम किया और पूछा - आप यहाँ कैसे पधारे ?

पिताजी ने कहा - मैं इस समय बहुत ही कष्ट में हूँ । एक ही स्थान पर पड़ा रहता हूँ । कहीं भी आने-जाने की स्वतंत्रता नहीं है ।

उनके उत्तर को सुनकर पू० गुरुदेव को बहुत ही आश्चर्य हो रहा था । उनका जीवन तो आस्तिक और सात्विक था, फिर यह दुर्गति क्यों हुई ? पू० गुरुदेव ने अति विस्मय से पिताजी से पूछा - "आपका जीवन तो सदाचार और निर्मलता का मूर्तिमान स्वरूप था । आप तो अत्यधिक संत सेवी, परहितैषी धर्मनिष्ठ और ईश्वरानुरागी थे, फिर ऐसी कठिन गति क्यों हुई ? यह सुनकर सत्य को उद्घाटित करते हुए गुरुदेव के पू० पिताजी कहने लगे - "जब तुमने सन्यास लिया तो परिवार के सभी लोगों का दुःख तो स्वाभाविक ही था । तुमको बहुत समझाने का प्रयास किया गया, परन्तु तुम निश्चय के अटल थे। उस समय मेरा हृदय अतिशय विकल था । हृदयस्थ क्षोभ की सीमा नहीं थी। क्षोभ के अति आवेग में मैं कह बैठा - 'जा तेरा योग सिद्ध न हो' । एक प्रकार से यह श्राप ही था । उसी का यह कुपरिणाम था कि मैं इतना कष्ट पा रहा हूँ ।

पू० गुरुदेव ने कहा - "आपकी जो गृहस्थ सन्तान हैं, उन्हें कहें वे इसके लिये कोई अनुष्ठान करें ।"

पू० गुरुदेव के पिताजी का आशय यही था कि वे यह सब नहीं कर पावेंगे। उनकी ऊँची आध्यात्मिक पकड़ नहीं है । यह कार्य तुमको ही करना है । इतना कहकर पू० गुरुदेव के पिताजी अन्तर्धान हो गये ।

पू० गुरुदेव ने गंभीर विचार कर यही निर्णय किया कि श्री हरिः शरणम् का सवा लाख जप अति विधिपूर्वक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए करना चाहिये । उन्होंने इस आशय का एक पत्र अपने बड़े भाई श्रीतारादत्तजी मिश्र को लिखवाया । उन दिनों वे वैद्यनाथ धाम में रहकर अध्यापन कार्य कर रहे थे ।

पत्र मिलने पर उन्होंने विधि-विधान से नियम पूर्वक अनुष्ठान किया । अनुष्ठान के पूर्ण होने पर पू० पिताजी गुरुदेव को पुनः दिखाई दिये । उन्होंने

कहा - "मेरा कष्ट दूर हो गया है । मैं तुमको आशीर्वाद देने के लिये आया हूँ।"

इतना कहकर पिताजी ने अपने दोनों हाथ ऊपर उठाकर पू० गुरुदेव को तीन बार शुभाशीर्वाद दिया । शुभाशीर्वाद देकर वे अन्तर्धान हो गये ।

इसके बहुत दिनों पश्चात् पू० गुरुदेव को श्रीबदरीनाथ जी के मन्दिर के और आगे पावन तीर्थ स्थली में एक अति हरी-भरी समतल भूमि में अनेक दिव्य और तेजस्वी साधुओं के मध्य श्रोता के रूप में उनके पिताजी बैठे दिखे, पू० गुरुदेव को इससे सन्तोष हुआ ।

पू० गुरुदेव कहते थे कि उनकी अन्तिम परिणति भागुरि ऋषि के रूप में हुई है, जो वृषभानुजी के पुरोहित हैं । शाण्डिल्य ऋषि श्रीनन्दकुल के पुरोहित हैं । यह इनकी अन्तिम परिणति उनके निधन के लगभग चौदह वर्ष पश्चात् हुई थी । पू० गुरुदेव की पू० माताजी भी मृत्यु के पश्चात् कुछ काल तक इन भागुरि ऋषि की धर्मपत्नी के रूप में ही रहीं । इनकी माताजी के संबंध में आगे प्रसंग पर वर्णन करेंगे ।

प्रवचन का त्याग एवं अखण्ड मौन-व्रत

यह बात पिछले अध्यायों में लिखी जा चुकी है कि पू० गुरुदेव में श्रीपोद्दारमहाराज ने अपनी सर्वज्ञता दृष्टि से महाभावगत उच्चाति मोहन-मादन भाव जन्य स्थितियों को प्राप्त करने की योग्यता का आकलन किया था । अत: वे उन्हें उस पथ का सर्वतोभावेन एकान्त पथिक बनाना चाहते थे।

व्रजरस की आद्यन्त मधुर भावधारा में लोक-प्रतिष्ठा बहुत ही बाधक तत्व है । अत: श्रीपोद्दारमहाराज ने पू० गुरुदेव को इस प्रतिष्ठा रूपी शूकरी विष्ठा से सर्वथा अछूता रखने का दृढ निश्चय कर लिया । यह अति स्वाभाविक ही है कि सत्संग प्रवचन करके आध्यात्मिक ज्ञान की सूक्ष्म बातें बताने वालों, लोगों की शंका समाधान करने वालों एवं उन्हें साधना में प्रेरित करने वालों के प्रति जन साधारण में श्रद्धा भावना उत्पन्न होती ही है, फिर प्रवचनकर्ता यदि साधु सन्यासी वेषधरी हो तो समाज उसे भगवत्प्राप्त मानकर प्रतिष्ठा देने लग जाता है । सत्संग प्रवचन कराने वाले आयोजक उस महात्मा के व्यक्तित्व का प्रचार भी करते ही हैं. अन्यथा अधिक मात्रा में जनता श्रोता के रूप में

आती नहीं। अतः उनके नाम, त्याग, चरित्र का प्रचार किया ही जाता है इसके कारण सत्संग कराने वाला साधक तो प्रायः प्रतिष्ठा लोलुप हो ही जाता है । वह अपने मत को स्थापित करने के लिये चाहे प्रच्छन्न रुप से ही सही दूसरों के मत की, व्यक्तित्व की समालोचना भी करने लगता है ।

पू० पोद्दार महाराज पू० गुरुदेव को इस सब माया कीच का लेश भर भी संस्पर्श नहीं कराना चाहते थे ।

पू० गुरुदेव जब अपने जन्मस्थान से अपनी जन्मदात्री माँ से अन्तिम बिदाई लेकर गोविन्द भवन कार्यालय में पू० पोद्दार महाराज से मिले, उन दिनों गोविन्द भवन सत्संग का गढ़ था । वहाँ प्रतिदिन प्रातः सायं एवं मध्याह्न सत्संग प्रवचन हुआ करता था । सेठजी का आग्रह तो था ही कि पू० गुरुदेव नियमित प्रातः एवं सायं दो घंटे अवश्य प्रवचन करें । अतः आयोजकों ने पू० गुरुदेव के आते ही उनका सायंकालीन प्रवचन आयोजित कर दिया ।

पू० गुरुदेव प्रवचन करने जा ही रहे थे कि सम्मुख श्रीपोद्दारमहाराज मिल गये । उन्होने इसी प्रकार स्वाभाविक व्यंग भरे विनोद में कहा - "स्वामीजी ! प्रवचन करने जा रहे हैं ?" पू० गुरुदेव सकपका गये । उन्होंने रुककर पू० पोद्दार महाराज से कहा कि आप मेरे मन की सब दुर्बलता जानते हैं, मेरी भीतरी रुचि सत्संग कराने की सर्वथा नहीं है, परन्तु मैं श्रीसेठजी का जिन्हें मैं चतुर्थ भूमिका में प्रविष्ट महासिद्ध ज्ञानी संत मानता हूँ - हृदय तोड़ना नहीं चाहता । और वे पूर्णतया हठ पकड़े हैं कि आप बाईस घंटे खूब एकान्त भजन ध्यान-साधना करिये किन्तु दो घंटे अवश्य प्रवचन करिये । अब मैं क्या करूँ । श्रीपोद्दारमहाराज ने कहा - यह तो आपका निर्णय है परन्तु मैं तो चाहता हूँ कि आपका जीवन श्रीमद्भागवत दशमस्कंध के इस श्लोक के अनुरुप होता । आप प्रचार प्रतिष्ठा से दूर ही रहते । और वे श्लोक का उच्चारण भी कर गये ।

या दोहनेऽवहनने मथनोऽपलेप
प्रेंखेंखनार्भरुदितो क्षण मार्जनादौ
गायन्ति चैनमनुरक्त धियोऽनुकण्ठ्योः
धन्या ब्रजस्त्रिय उरक्रमयानचित्ताः ।।१०/४४/१५।।

"मथुरा नगर की स्त्रियाँ परस्पर कहती हैं - 'सखी' व्रज की गोपियाँ धन्य हैं । निरन्तर श्रीकृष्ण में लीनचित्त वे प्रेम भरे हृदय से, निरन्तर अश्रुपातवश हुए गद्‌गद् कण्ठ से उन्हीं की लीलाओं का गान करती रहती हैं । दूध दुहते, दही मथते, धान कूटते, घर लीपते, बालकों को झूला झुलाते, रोते हुए बालकों को चुप कराते, उन्हें नहलाते-धुलाते, घरों को झाड़ते, बुहारते - कहाँ तक कहें, सारे काम काज करते समय श्रीकृष्ण के गुण-गान में ही मस्त रहती हैं ।

पू० श्रीगुरुदेव ने पोद्दार महाराज की रुचि का पालन करने का निश्चय कर लिया, परन्तु श्रीसेठजी का आग्रह भी ऐसा प्रबल था कि उन्हें अपने निश्चय को क्रियारूप देने में कुछ समय लग ही गया ।

पू० गुरुदेव, श्रीपोद्दारमहाराज के संग गोरखपुर आये और तब कुछ मास गोरखपुर रहे । गोरखपुरवास के समय की अनेक अति महत्वपूर्ण घटनाएँ आगे लिखी जायेंगीं । अभी प्रसंगान्तर न हो अत: थोडे काल भविष्य में छलांग लगा लेते हैं । पू० पोद्दार महाराज गोरखपुर से सर्वथा एकान्त में रहने की दृष्टि से डालमिया दादरी और तब रतनगढ़ आ गये थे । वहाँ से ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम के वार्षिकोत्सव में चूरु ग्राम गये थे । चूरू बीकानेर राज्य का महत्वपूर्ण जिला था ।

उन दिनों राजस्थान राज्य नहीं बना था । सम्पूर्ण राजस्थान रजवाड़ों में बँटा था । इन रजंवाड़ों को अपने अन्तर्राज्यीय शासन के मामलों में पूर्ण स्वाधीनता थी । इनकी अपनी असेम्बलियाँ था । कार्यकारी कौंसिलें होती थीं। यद्यपि सभी महत्वपूर्ण पदों में मंत्री राजा के भाई बन्धु संबंधी ही होते थे, प्रजा का कोई चुनाव गत अधिकार नहीं था । राजा सर्वेसर्वा था । वही प्रधानमंत्री, मंत्रियों एवं सचिवों की नियुक्तियाँ करता था । न्यायपालिका भी स्वतंत्र नहीं थी । न्यायाधीश के निर्णय भी राजा और राजा के कृपापात्रों द्वारा अनुमोदित होने पर ही लागू हो सकते थे । सुप्रीमकोर्ट का मुख्य न्यायकर्ता राजा ही होता था । हाँ, राजा के ऊपर लंदन में इम्पीरियल कौंसिल में दरख्वास्त हो सकती थी, परन्तु वहाँ प्रजा की इतनी पहुँच ही नहीं होती थी । प्रजा की दृष्टि में राजा ईश्वर तुल्य अन्नदाता और श्रद्धापात्र होता था ।

बीकानेर राज्य का प्रधान शहर एवं मुख्य जिला होने से वहाँ कलेक्टर आदि सभी बड़े अधिकारी रहते थे । पू० गुरुदेव आंग्ल भाषा के भी अच्छे प्रवक्ता थे । हिन्दी तो उनकी अतिशय प्राञ्जल होती ही थी, साथ ही शास्त्रों

के गूढ़ रहस्यों को वे अति सरल, बुद्धि प्रधान तर्कों से प्रमाणित करते हुए विज्ञान सम्मत शैली में लोगों को समझाते थे । अतः उनका प्रवचन सुनने के लिये बड़े-बड़े पद-अधिकारी, कॉलेजों के प्राध्यापक, एवं बुद्धिजीवी लोग चावपूर्वक एकत्रित होते थे । उस दिन चूरू में पू० गुरुदेव प्रवचन करेंगे यह प्रचारित होने के कारण सभी बडे-बड़े अफसर एकत्रित हो गये थे । सभा में भीड़ भी पर्याप्त हो गयी थी ।

जब पू० गुरुदेव प्रवचन के लिये जाते थे तो उसके पूर्व श्रीपोद्दारमहाराज के पास अवश्य आया करते थे । श्रीपोद्दारमहाराज से वार्त्ता में उन्होंने पुनः वही पुराना आग्रह किया ।

'आप मेरी एक बात मान लीजिये । आप प्रवचन करना सदा-सदा के लिये बन्द कर दीजिये । सेठजी चाहे जितना प्रबल आग्रह करें, उनकी सभी बातें शिरोधार्य करिये, परन्तु इस बात को सर्वथा नकार दीजिये । इसी में आपका सर्वांगीण मंगल है । आप इस धरा में आये हैं व्रजभाव की ऊँची से ऊँची अवस्था में निमज्जित होने के लिये । अब आप उस परम एवं चरम लक्ष्य का त्याग कर प्रवचन देकर प्रतिष्ठा रूपी शूकरी विष्ठा के मूल्य पर उस स्थिति की अवहेलना करना चाहें तो दूसरी बात है ।

पू० गुरुदेव ने पूछा - "तो मैं प्रवचन करने नहीं जाऊँ ?"

इस पर श्रीपोद्दारमहाराज ने उन्हें कहा कि आज तो अनेक संभ्रान्त व्यक्ति आपकी प्रतिक्षा कर रहे हैं, उनको निराश करना उचित नहीं है, अतः आज तो प्रवचन कर आइये, पर अब आगे से उपराम हो जायें ।

पूज्य गुरुदेव के लिये श्रीपोद्दारमहाराज का इतना संकेत तो पर्याप्त था । अतः उस दिन का प्रवचन अन्तिम था । अन्तिम प्रवचन होने से वह अतिशय विचारोत्तेजक और भावोद्दीपक था । उसके पश्चात् पू० गुरुदेव ने सर्वथा मौन ले लिया । वे बोलते तो थे ही नहीं, किसी परमावश्यक बात को मात्र स्लेट पट्टी पर लिखकर बता दिया करते थे ।

श्री सेठजी का पुनः साथ रखने का हठ

पू० गुरुदेव चूरू से पू० पोद्दार महाराज के साथ ही साथ रतनगढ़ चले आये। रतनगढ़ में श्रीशान्तनुबिहारी जी द्विवेदी भी सम्पादकीय विभाग में कार्य करने की दृष्टि से आये हुये थे । वे बाद में सन्यासी होकर श्रीअखण्डानन्दजी

सरस्वती के नाम से बहुत ही विख्यात हुए । ये श्रीमद्भागवत के महापंडित थे। श्रीमद्भागवत कथा इन्हें प्रायः कण्ठस्थ थी और सप्ताह कथा में किसी भी श्लोक का कोई अंश भी बिना कहे ये नहीं रहते थे । इन दिनों ये श्री चिम्मनलालजी गोस्वामी के यहाँ सप्ताह कथा कह रहे थे ।

श्रीसेठजी चूरू ही रुके हुए थे । श्रीसेठजी चाहते थे कि पू० गुरुदेव उनके साथ ही पुनः चलें । श्रीसेठजी ऊपर से भक्ति का पर्याप्त प्रचार करते थे, परन्तु भीतरी मन से वे सर्वोपरितत्व ब्रह्म को ही मानते थे । अतः पू० गुरुदेव में ब्रह्मज्ञान की चौथी, पाँचवी भूमिका का प्रकाश हो ऐसी उनकी शुभाशंसा थी । फिर उनका गीता प्रचार का अतिशय आग्रह था । अतः सेठजी ने क्रमशः अनेक व्यक्ति चूरू से रतनगढ़ पू० गुरुदेव को बुलाने भेजे । पहले एक व्यक्ति आया, फिर दूसरा आया, फिर तीसरा एवं चौथा इस संदेश के साथ आते रहे कि पू० गुरुदेव श्रीसेठजी के साथ ही चूरू से आगे चलें । पू० गुरुदेव तो श्रीगंगा की साक्षी में श्रीपोद्दार महाराज के साथ जीवनव्यापी संबंध जोड़ ही चुके थे । अतः उनके मन में जाने की सर्वथा-सर्वथा रुचि नहीं थी ।

परन्तु एक महासिद्ध सन्त की रुचि को वे कैसे टालें - यह बात भी उनके लिये अति विकट दुविधा उत्पन्न कर रही थी । सन्देशवाहकों को तो पू० गुरुदेव किसी न किसी बहाने टालते रहे । अन्ततः पू० गुरुदेव को साथ ले जाने स्वतः श्रीसेठजी चूरु से रतनगढ चले आये । अब तो पू० गुरुदेव का धर्मसंकट सीमोल्लंघन कर गया । श्रीसेठजी स्वभावतः ही पू० गुरुदेव के लगातार उपेक्षा करने से क्षुब्ध थे । अतः उन्होंने किंचित् रुष्ट भाषा में कहा - 'मैं तो अमुक ट्रेन से प्रस्थान करूँगा ही, चलना हो तो आप आ जाइयेगा । यह कहकर श्रीसेठजी पुनः चूरू प्रस्थान कर गये । पू० गुरुदेव की बुद्धि किंकर्त्तव्य विमूढ़ थी । इस अति दुविधापूर्ण अवस्था में पू० गुरुदेव पोद्दार महाराज के पास गये । उन्होंने अपने मन की सम्पूर्ण उलझन उनके सम्मुख रखी । श्रीपोद्दारमहाराज ने अत्यन्त प्यार से अपनी दोनों हथेलियाँ पू० गुरुदेव के कंठ देश में रखीं और अपने नेत्रों तथा सम्पूर्ण मुद्रा में प्यार की वर्षा करते हुए उनकी दृष्टि में अपनी दृष्टि मिला दी । अहा ! इस प्यार की बलिहारी है । जब भी श्रीपोद्दारमहाराज किसी भी भाग्यवान् प्राणी की ओर इस प्यार सनी मुद्रा में देखते थे, कलेजा ही खींच लेते थे । अति स्नेह सनी वाणी में वे बोले - "मैंने कब चाहा और कब कहा है कि एक बार जब

आपने मेरे साथ रहने का व्रत ले लिया तो किसी भी आग्रह से उसे छोड़ें और जायें ।"

यह सुनना था और पू० गुरुदेव का सभी संकोच, दुविधा, सब संतापराध का भय जाता रहा और पू० गुरुदेव परम प्रसन्न हो गये ।

पू० गुरुदेव की मानसिक उलझन तो दूर हो गयी परन्तु अभी भी उन्हें श्रीसेठजी को सर्वथा नकारात्मक उत्तर देने का साहस नहीं हो रहा था ।

अत: उस सप्ताह कथा को निमित्त बनाकर एक बार श्रीसेठजी को टाल दिया गया । श्रीसेठजी थोड़े रूष्ट होकर चूरू से गोरखपुर एवं तब बाँकुड़ा प्रस्थान कर गये ।

जीवन व्यापी संग में बाधायें एवं सालासर से चिन्मय पुष्प की प्राप्ति

११ मई, १९३९ ई० के मध्याह्न काल से पू० गुरुदेव ने श्रीपोद्दारमहाराज के साथ रहने का आजीवन व्रत ले लिया । यह उनका व्रत अखण्ड रुप से २२ मार्च १९७१ पू० पोद्दार महाराज के महा प्रस्थान तक निर्बाध चलता रहा । इस नियम में एक ही निष्ठा थी कि सूर्योदय से दूसरे दिवस के सूर्योदय के मध्य पू० गुरुदेव को एक बार श्रीपोद्दार महाराज के वृन्दावनधाम रूप पंचभूतात्मक पिंजर के दर्शन अवश्य हो जायें । जिस दिन इस दर्शन में व्यवधान होगा, उस दिन उनका यह व्रत खण्डित हो जायेगा क्योंकि सचल वृन्दावन स्वरूप पोद्दार महाराज उनसे विलग हो जायेंगे ।

इस नियम में अनेक बार बहुत बड़ी-बड़ी बाधाएँ आयीं । यह अनुबन्ध श्रीपोद्दारमहाराज एवं पू० गुरुदेव के मध्य अति गोपनीय था । इसका प्रचार होना तो पोद्दार महाराज को न तो अभिप्रेत था, न ही पू० गुरुदेव को ही। क्योंकि संसार के लोग इसका उपहास भले बनावें, इस निष्ठा की गरिमा का उनका श्रृद्धाहीन मन कल्पना भी नहीं कर सकता था ।

हाँ, पू० पोद्दार महाराज की धर्मपत्नी आदि कुछ अन्तरंग लोगों को अवश्य इसका ज्ञान था । बत्तीस वर्ष के दीर्घ कालमान में इसमें अनेक बार बहुत बाधाएँ आयीं ।

अगणित बाधाओं के आने के उपरान्त भी प्रभु प्रसाद और पू० गुरुदेव की अदम्य निष्ठा के कारण यह संकल्प अखण्ड निर्वाह हो गया ।

पहली बाधा तो गोरखपुर में ही आयी ।

श्रीसेठजी जयदयालजी गोयन्दका गोरखपुर आये हुए थे । श्रीघनश्याम दासजी जालान जो यावज्जीवन सेठजी के दाहिने हाथ के समान अनन्य सहयोगी रहे, उनके ही घर साहबगंज में श्रीगोयन्दकाजी ठहरा करते थे । वहीं वे ठहरे हुए थे । अचानक श्रीसेठजी की तबियत खराब हो गयी । हम आगे भी कह चुके हैं कि श्रीसेठजी के प्रति श्रीपोद्दार महाराज में गुरुभाव था । वे अति उच्च कोटि के सिद्ध सन्त तो थे ही, जयसिडीह में उनके ही सान्निध्य मे पू० पोद्दार महाराज को भगवान् विष्णु के दर्शन हुए थे । श्रीसेठजी अंग्रेजी एलोपेथी की दवायें तो स्पर्श ही नहीं करते थे, आयुर्वेद में भी रसौषधि नहीं लेते थे । वे मात्र काष्ठौषधि ही लेते थे । यद्यपि वैद्यों ने उपचार की बहुत चेष्टा की किन्तु श्रीसठजी की अवस्था बिगड़ती ही गयी । श्रीपोद्दार महाराज मध्याह्न के समय साहबगंज गये थे, सो श्रीसेठजी की अति नाजुक अवस्था के कारण मध्य रात्रि तक नहीं लौटे । इस बात की किंसी को भी कल्पना ही नहीं थी कि सेठजी इतने रुग्ण हो जावेंगे और पू० पोद्दार महाराज वहाँ रात्रि पर्यन्त रुके रह जावेंगे । यदि इसका तनिक भी आभास होता तो पू० गुरुदेव पू० पोद्दार महाराज से जाने के पूर्व भेंट कर लेते और उस दिवस का नियम पूरा हो जाता । अब तो यदि सूर्योदय के पूर्व पोद्दार महाराज से मिलन नहीं हुआ तो यह व्रत तो टूट ही जायेगा ।

श्रीसेठजी की रुग्णता से गीता वाटिका में भी सभी का मन अतिशय व्यग्र था । इस व्यग्रता के वातावरण में पू० गुरुदेव से मिलने की बात श्रीपोद्दार महाराज भी विस्मृत कर गये । जब अर्ध रात्रि व्यतीत हो गयी और ब्रह्म मुहुर्त की बेला आ गयी तो पू० माताजी (श्रीपोद्दारमहाराज की धर्मपत्नी) अत्यधिक चिन्तित हो गयीं । उनके मन में पू० गुरुदेव के नियम खंडन से उत्पन्न परिणाम की चिन्ता सताने लगी । वे सोचने लगीं कि पू० गुरुदेव नियम खंडित होने पर हम लोगों का संग त्याग कर वृन्दावन चले जायेंगे । क्योंकि साथ रहने का व्रत तो सूर्योदय होते ही खंडित हो ही जायेगा । पू० माँ अतिशय आकुल हो रही थीं । उन्हें निद्रा कहाँ ?

इस प्रकार चिन्ता करते करते दो-ढ़ाई बज गये । रात्रि के ढाई तीन बजे श्रीघनश्यामदासजी के घर पर पू० पोद्दार महाराज को माताजी ने फोन किया । पू० माँ ने उन्हें पू० गुरुदेव के व्रत का ध्यान दिलाया । श्रीपोद्दार महाराज भी समझ गये कि सूर्योदय होने में मात्र घण्टे डेढ घंटे का विलम्ब

है । मोटर आदि आवागमन का साधन तो उन दिनों था नहीं । घोड़े के इक्के में बैठकर आना-जाना होता था । गीतावाटिका उन दिनों सर्वथा जंगल में ही थी । चतुर्दिक् आम, अमरूद, लीची आदि के घने वृक्षों के बगीचे और कच्चा रास्ता था । इक्के में एक घन्टा तो पहुँचने में ही लग जाता था। गोरखपुर अति पूर्व में होने से वहाँ सूर्योदय पश्चिमी भारत से एक घन्टे पूर्व हुआ करता है । फिर मध्य रात्रि में वाहन (इक्का) सामान्यतया तो उपलब्ध भी नहीं था, किसी वाहन (इक्के) वाले के घर भेजकर उसे निद्रित अवस्था से उठाकर वाहन में घोड़ा जुतवाकर बुलवाना पड़ता, तब गीता-वाटिका (बगीचा) पहुँचने की स्थिति होती । पू० पोद्दार महाराज को, जब कि श्रीसेठजी अत्यधिक रुग्ण हैं, उन्हें छोड़कर ऐसी विषम बेला मध्यरात्रि में गीतावाटिका जाने की ऐसी क्या त्वरा हो गयी है, यह भी श्रीसेठजी के समीपस्थ सामान्यजन के समझ के परे की बात थी ।

फिर भी उन्होंने श्री सेठजी के समीपस्थ लोगों से कहा - "श्रीसेठजी की तबियत अब वैसी चिन्ताजनक नहीं है, मैं एक अति आवश्यक कार्य से तुरन्त ही गीतावाटिका जाना चाहता हूँ ।"

श्री पोद्दार महाराज के मन में संकल्प उत्थित होते ही कोई अचिन्त्य विधान सक्रिय हो उठा । और उस अचिन्त्य विधान के फलस्वरूप श्रीसेठजी की आँखों में निद्रा की खुमारी आना प्रारम्भ हो गया । लोगों ने स्पष्ट अनुभव किया कि सेठजी को झपकी लग रही है । सहज ही मोटर कार भी उपलब्ध हो गयी और पोद्दार महाराज मोटर कार से गीतावाटिका और वहाँ से सीधे पू० गुरुदेव की कुटिया पर पहुँचे ।

श्रीपोद्दारमहाराज और गुरुदेव का वह सजल नेत्र परस्पर मिलन कैसा विशुद्ध रसमय था, इसे तो कोई प्रेम भरा हृदय ही अनुभव कर सकता है । जड़ लेखनी में कहाँ सामर्थ्य है कि उसे भाव दे सके ।

दूसरी घटना रतनगढ़ की है । राजस्थान में सालासर नामक एक स्थान है । यहाँ पर श्रीहनुमानजी महाराज का सिद्ध स्थल है । श्रीसालासर के बालाजी महाराज से ही श्रीपोद्दारमहाराज की दादी ने मान्यता करके बालक 'हनुमान' को प्राप्त किया था और इसीलिये बालक का नामकरण संस्कार भी हनुमान प्रसाद पोद्दार हुआ था । मारवाड़ियों में सालासर के बालाजी महाराज की इतनी मान्यता है कि वे विदेशों से भी बालाजी के सम्मुख बच्चों का केश समर्पण संस्कार करने आते हैं ।

रतनगढ़ से सालासर जाने के लिये सुजानगढ़ होकर जाना पड़ता है। यह दूरी रतनगढ़ से लगभग १०० किलोमीटर रही होगी । श्रीपोद्दार महाराज अनेक मारवाड़ी भाईयों के साथ कार तथा बस से सालासर गये । सुबह नौ-दस बजे वे पू० गुरुदेव से मिलकर गये थे । वे साथ ही यह कह भी गये थे कि सूर्यास्त के पहले-पहले मैं पुनः लौटकर रतनगढ़ आ जाऊँगा । साथ ही हँसकर यह भी कह गये थे कि कहीं कुछ विलम्ब हो जाय तो आप घर छोड़कर सड़क पर मत बैठ जाइयेगा । भवितव्यता ऐसी हुई कि वे सूर्यास्त तक नहीं आ सके । रात्रि के ९-१० बज गये, उनके आने का कोई सुराग ही नहीं था । घर में सभी को बहुत चिन्ता सताने लगी । तरह-तरह के विचार मन में आने लगे । जहाँ भी विशुद्ध स्नेह होता है, वहाँ अनिष्ट की ही आशंका हुआ करती है । श्रीपोद्दार महाराज यद्यपि पू० गुरुदेव को घर से बाहर नहीं बैठने का आग्रह कर गये थे, परन्तु फिर भी उन्होंने मन में यह निश्चय कर लिया था कि मध्यरात्रि तक यदि पोद्दार महाराज नहीं आये तो वे घर से बाहर जाकर राह में बैठ जायेंगे ।

मध्यरात्रि के दस बजे के आसपास श्रीपोद्दार महाराज आये । उनकी मोटर कार रास्ते में खराब हो गयी थी, सुधरवाने में समय लग गया । जैसे ही श्रीपोद्दार महाराज अपनी हवेली पहुँचे, वे सीधे गुरुदेव के पास गये ।

श्रीगुरुदेव तो चिन्तातुर हुए उनकी प्रतीक्षा कर ही रहे थे । श्रीपोद्दार महाराज ने कहा - "बाबा ! मैं भी आपके ही विचारों में सचिन्त्य उलझा रहा, परन्तु देखिये, मैं आपके लिये एक विलक्षण वस्तु लाया हूँ । ज्यों ही मैंने सालासर में श्रीबालाजी महाराज को प्रणाम किया, उनके द्वारा यह पुष्प अपने आप मेरे हाथों में आ गया । जब से यह फूल मेरी हथेली में आया है तबसे मैं इसे अपनी मुठ्ठी में लिये हूँ । मुठ्ठी में भी इसलिये लिये हुए हूँ कि आपको दे दूँ ।

यह कहकर वह पुष्प श्रीपोद्दार महाराज ने पू० गुरुदेव को दे दिया । वह सर्वथा अप्राकृत पुष्प था । उसकी सुगन्ध बहुत ही विलक्षण थी । पू० गुरुदेव का सम्पूर्ण निवास-कक्ष उसकी भीनी-भीनी सुगन्ध से महक एवं गमक उठा । बड़ी ही मदमाती सुगन्ध थी उसकी । ज्योंही वह पुष्प पू० गुरुदेव ने हाथों में लिया, एक और परिवर्तन हुआ । पू० गुरुदेव के सामने से यह सम्पूर्ण लोक तिरोहित हो गया और चिन्मय, दिव्य वृन्दावन का अवतरण हो गया । जिस स्थिति मे पू० गुरुदेव ने पालथी मारे श्रीपोद्दारजी से वह पुष्प लिया था, उसी

स्थिति में वे मध्यरात्रि के तीन बजे तक लगातार पाँच घंटे बैठे रहे । वे बैठे-बैठे अप्राकृतधाम श्रीवृन्दावन की लोकातीत वनस्थलियों के पुष्प, लता, झाड़ियाँ और पथों की शोभा को देखते रहे ।

सभी ऐसी शोभा बिखेर रहे थे जैसी कभी देखी ही नहीं । सभी एक से एक बढ़कर अभिनव सुन्दर । पू० गुरुदेव उस समय न तो स्वप्न काल में थे, न ही ध्यानावस्था में । वे पूर्णतया जाग्रत थे । परन्तु उसे जाग्रत भी नहीं कहा जा सकता । जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों ही से वह अतीत अवस्था थी। पाँच घंटे पश्चात् पू० गुरुदेव का मन प्राकृत धरातल पर आ सका । यह सब देहातीत स्थिति हुई श्रीपोद्दार महाराज द्वारा पुष्प-दान के पश्चात् । लोग देखकर भी नहीं देख पाते थे कि पू० गुरुदेव के गुरुदेव श्रीपोद्दार महाराज कितने अद्वितीय-शक्ति सम्पन्न थे ।

इसी प्रकार एक बार स्वर्गाश्रम में डालमिया-कोठी में पू० गुरुदेव ठहरे हुए थे । उस दिवस भी श्रीपोद्दार महाराज उनसे बिना मिले हरिद्वार अथवा अन्यत्र चले गये थे । श्रीपोद्दार महाराज की प्रतीक्षा करते-करते सायंकाल होने को आया । श्रीगुरुदेव एवं परिवार के सभी जन सचिन्त्य हो उठे थे। पू० गुरुदेव कोठी से बाहर आकर बाहर दालान में बैठ गये। उस दिवस भी यही निर्णय हुआ था कि मध्याह्नपूर्व यदि पोद्दार महाराज नहीं आये तो गुरुदेव गंगा किनारे चले जावेंगे । सन्ध्याकाल के पश्चात् श्रीपोद्दार महाराज का फोन आ गया कि वे हरिद्वार से चल पड़े हैं और ऋषिकेश पहुँचने वाले हैं । लगभग रात्रि में ९-१० बजे वे डालमिया कोठी पहुँचे और सीधे पू० गुरुदेव से मिलने गये । दोनों के प्रेम-मिलन के जो द्रष्टा थे, वे ही उस रसभीनी भावभरी प्रीति को छू पाये होंगे ।

शीत सहन की स्पर्धा

श्रीपोद्दार महाराज में अपूर्व सिद्धियाँ थी, परन्तु उन्होंने भगवान् श्रीकृष्ण से ऐसी याचना कर रखी थी कि जगत् के लोग मेरे स्वरूप को जान नहीं पावें । आत्म-महिमा की यथार्थता को छिपाये रखने के लिये वे ऐसा आवरणपूर्ण आचरण कर बैठते थे। अति विषमतापूर्ण व्यवहार उनका स्वतः हो जाता था कि जिससे लोग उन्हें सन्त मानने में ही सन्देह कर बैठते थे। फिर उनके स्थूल कलेवर में साक्षात् भगवान् नन्दनन्दन महारसघनमूर्ति रसराज

अवस्थित हैं, इसकी कल्पना करना तो लोगों के लिये असंभव बात थी। परन्तु सत्य, सत्य का भी परम एवं चरम सत्य यह था कि उनके स्थूल पांच-भौतिक कलेवर का भी पू० गुरुदेव अपने लिये और अपनी बात मानने वाले लोगों के लिये अपरिसीम महत्व मानते थे । पू० गुरुदेव श्रीपोद्दार महाराज की समाधि की चितास्थली की राख को भी उतना ही महत्वपूर्ण समझते थे जैसा महत्वपूर्ण वे उनके स्थूल कलेवर को मानते थे । इन दोनो विशुद्ध प्रेमावतारों में कितना स्नेह था इसका एक प्रसंग यहाँ दिया जा रहा है ।

जाड़े के दिन थे । राजस्थान में रतनगढ, चूरू, लोहारू, आदि स्थान भारत के अतिशय शीत के स्थान माने जाते हैं । जाड़े के दिसम्बर-जनवरी में भीषण शीत लहर चल रही थी । पू० पोद्दार महाराज को रतनगढ़ से दिल्ली जाना था । बीकानेर से दिल्ली मेल रात्रि को लगभग दस बजे रतनगढ़ पहुँचती थी । पू० गुरुदेव के शरीर में रक्ताल्पता थी अत: उन्हें शीत का अतिशय कष्ट रहता था । शीतऋतु में वे प्राय: उबलते गरम पानी की रबर की बोतल रखते थे, तब जाकर उनका शीत रुकता था । ओढ़ने के लिये भी चार-चार बहुत ही गरम कम्बलें रखनी पड़ती थी । यात्रा में कम्बलें तो साथ थी, परन्तु गरम पानी की रबर की बोतल ठंडी हो गयी थी । इधर रेलगाड़ी पूरी तेजी से चल रही थी । पू० गुरुदेव प्राय: ऊपरी बर्थ में सोया करते थे । नीचे की बर्थ पर स्थूल शरीर होने से पोद्दार महाराज रहते थे ।

यद्यपि डिब्बे की खिडकियाँ बन्द थीं, फिर भी शीत इतना अधिक था कि पू० गुरुदेव काँपने लगे । पू० गुरुदेव के पैर तो इतने ठंडे हो गये थे कि जैसे रक्त जम गया हो । श्रीपोद्दार महारज की दृष्टि पू० गुरुदेव की इस दशा पर पड़ गयी । उन्होंने तुरन्त अपनी शुद्ध कश्मीर के पश्मीने के चादर दोहरी तेहरी की और पू० गुरुदेव के पैर और शरीर ढँकने लगे । पू० गुरुदेव ने देखा कि श्रीपोद्दार महाराज भी रूई की रजाई तो साथ लाये नहीं हैं, यदि यह पशमीने की सर्वाधिक गरम चद्दर उन्होने उन्हें ओढ़ा दी तो स्वयं शीत के प्रकोप से रुग्ण हो जावेंगे।

पू० गुरुदेव जरा-जोर से बोले - "यह तो ठीक नहीं, यह सबसे गरम चद्दर यदि आप मुझे ओढ़ा देंगे तो आप क्या ओढ़ेंगे ।"

श्रीपोद्दार महाराज अतिशय वात्सल्य भरे दुलार से बोल उठे - "बाबा ! मेरा कुछ नहीं बिगड़ेगा । मुझ पर इस शीतोष्ण विषम ऋतुओं का कोई प्रभाव नहीं होता इनको सहने का मुझे बहुत अभ्यास है । मैं स्वयं शीत हो

जाऊँगा, फिर शीत, शीत को थोड़े ही पीड़ित करती है । मेरा ये सब कुछ नहीं बिगाड़ सकते । मैं तो पूर्णतया इनका द्रष्टा हूँ ।"

पू० गुरुदेव श्रीपोद्दार महाराज के मातृसम वात्सल्य पर मुग्ध हो गये ।

उन्होने उनके चादर वाले दोनों हाथ प्यार से थाम लिये एवं उत्तर दिया कि "द्रष्टा बनने की योग्यता तो आपकी कृपा से मुझ में भी है ।"

इतना कहकर पू० गुरुदेव ने अपने सब कपड़े उतार दिये और निष्कम्प बैठ गये । फिर कहने लगे - "देखिये । मुझे भी तनिक भी शीत नहीं लग रही । परन्तु अब आप प्यार से जो भी वस्त्र देंगे, मैं ओढ़ लूंगा ।"

श्रीपोद्दार महाराज हँसने लगे । और तब दोनो ही उस रात्रि एक ही सीट पर बैठे बात करते रात काट दिये, और जो भी ऊनी वस्त्र थे, परस्पर ओढ़े रहे । दोनों में कितना सरस प्यार था ।

दोनों-दोनों के लिये सहज सभी कर त्याग
सुखद परस्पर बन रहे छलक रहा अनुराग ।

दौड़ लगानी पड़ी

संसार में बहुत लोग ऐसे होते हैं जिन्हें सन्यास वस्त्र धारण करने मात्र से सर्वमान्यता, सत्कार और पूजा मिलती है, यद्यपि वे उसके सच्चे अधिकारी नहीं है परन्तु पू० गुरुदेव को सच्चे वैराग्य और तीव्र भगवद्भक्ति के उपरान्त भी स्थान-स्थान पर घोर तिरस्कार मिला । यहाँ दो-चार उदाहरण उनके श्रीपोद्दार महाराज के प्रति विलक्षण प्रेम के साथ ही बड़े सेठों के दरबानों द्वारा हुए उनके अपमान के दिये जा रहे हैं । सच्ची साधुता किसे कहते हैं इसे पू० गुरुदेव ने इन प्रसंगों में अपने आचरण से सिद्ध किया है ।

एक बार पू० गुरुदेव श्रीजयदयालजी डालमिया के साथ डेहरी-आन-सोन गये थे । श्रीपोद्दारजी भी वहीं थे । लगभग चार बजे सायंकाल पू० गुरुदेव के घूमने की प्रकृति थी । रतनगढ़ राजस्थान में भी वे चार बजे घूमने चले जाया करते थे । श्रीडालमियाजी से गुरुदेव ने पूछा - यहाँ कोई घूमने लायक स्थान है ? उन्होंने सामने नहर का स्थान बता दिया ।

जिस दिशा की ओर यह स्थान बताया गया था, पू० गुरुदेव उधर ही घूमने चले गये। इधर जिस कोठी में पू० गुरुदेव ठहरे थे वहाँ का दरबान

बदल गया । पहले वाला दरबान तो गुरुदेव को भीतर आता देख चुका था । यह नया दरबान सन्यासीजी से सर्वथा अपरिचित था । ज्यों ही पू० गुरुदेव बाहर से टहलकर लौटे तथा मुख्यद्वार से कोठी में प्रवेश कर रहे थे, त्योंही (नेपाली गोरखा) इस नये दरबान ने पू० गुरुदेव की गर्दन पकड़कर उन्हें अतिअभ्रद्र गाली देते हुए दूर सड़क पर बैठा दिया ।

नेपाली गोरखा दरबान द्वारा ऐसा किये जाने पर भी पू० गुरुदेव के मन में रंचमात्र भी विकृति या ऊँच-नीच का भाव नहीं आया । वही मुसकान जो उनके मुख पर सदा रहती थी, वैसे के वैसे थी । पू० गुरुदेव कोठी के किनारे फुटपाथ पर गन्दे धूलि भरे स्थान पर बैठ गये। सामने से सैकड़ों बैलगाड़ियाँ ईख लादे जा रही थीं । बैलों के खुर की धूलि उन पर पड़ रही थी । लगभग आधा घंटा हो गया । इस अवधि में वह नेपाली गोरखा दो-तीन बार पू० गुरुदेव के पास आया तथा गाली देते हुए कहने लगा - "ऐ साधु ! तू अब तक यहीं बैठा है, हँसता है, जाता नहीं है ।"

जब वह पास आता तो पू० गुरुदेव को अपनी खुखरी दिखाता, मानो पेट में घोंप ही देगा । आधा घंटे बाद श्रीडालमियाजी के विश्वस्त नौकर श्यामा ने पू० गुरुदेव को बाहर सड़क पर बैठे देखा । उसे बहुत ही आश्चर्य हुआ कि ये यहाँ सड़क पर क्यों बैठे हैं ? श्यामा ने जाकर पू० गुरुदेव से कहा - "अरे राम ! यह भी कोई बैठने की जगह है ?"

इतना कहकर वह नौकर पू० गुरुदेव का हाथ पकड़कर कोठी के अन्दर ले गया ? पू० बाबा हँस रहे थे ।

कोठी के अन्दर प्रवेश करते समय पू० गुरुदेव ने एक बार उस नेपाली दरबान की ओर एक नजर फेंक कर देख अवश्य लिया था । उसके तो चेहरे की हवाइयाँ ही उड़ रही थी । कोठी के भीतर दूब का सुन्दर मैदान था । श्यामा ने वहाँ एक सुन्दर सोफा रखकर पू० गुरुदेव को उस पर बैठा दिया । थोडी देर बाद तो डालमियाजी भी आकर दूब में पू० बाबा के चरणों में बैठ गये ।

फाटक पर खड़ा-खड़ा नेपाली गोरखा दरबान यह सब देख रहा था । अब तो उसके होश गुम हो गये । उसको लगा आज बहुत बड़ी गलती हो गयी है । किसी बड़े साधु का मैंने घोर तिरस्कार कर दिया है ।

श्रीडालमियाजी तो थोड़ी देर के पश्चात् चले गये । उनके जाते ही गोरखा दरबान घबड़ाता हुआ पू० गुरुदेव के पास आया । वह उनके पैर

छूकर कहने लगा - "हम आपको पहचाना नहीं, हम अनजाने में गलती किया ?" वह भागकर फिर दरवाजे पर जाता, फिर लौटकर गुरुदेव के चरणों में प्रणाम करता । वह सोच रहा था कि अब तो मेरी नौकरी गयी ।

अन्त में पू० गुरुदेव ने मौन भंग कर के उसको आश्वस्त किया - "तुम चिन्ता मत करो, घबड़ाओ नहीं, मैं किसी से यह बात नहीं कहूँगा ?"

जब पू० गुरुदेव ने उसे इतना आश्वस्त किया तब वह कहीं शान्त-चित्त हो सका ।

दूसरा प्रसंग दिल्ली का है । पू० गुरुदेव श्रीमथुरानाथजी के यहाँ ठहरे थे। पू० गुरुदेव टहलने के लिये यमुना के किनारे गये थे । जब वे टहलकर कोठी में घुस रहे थे, उस समय पहरेदार ने कड़ककर उनसे पूछा - "कहाँ जाता है ?" पू० गुरुदेव ने उसे विनम्रता से समझाना चाहा । परन्तु वह तो अधिकाधिक कड़क होता जाता था । वह ताकतवर तो बहुत ही था, और पू० गुरुदेव तो सर्वथा दुबले पतले थे ।

पू० गुरुदेव को श्रीपोद्दार महाराज की चिन्ता सता रही थी । श्रीपोद्दार महाराज कोठी के बाहर किसी काम से किन्हीं से मिलने गये हुए थे । यदि पू० गुरुदेव को कोठी में भीतर जाने में विलम्ब हुआ तो श्रीमथुरानाथजी, पोद्दार महाराज को फोन कर देंगे कि बाबा यमुना किनारे घूमने गये हैं और अब तक लौटे नहीं है । श्रीपोद्दार महाराज निश्चय ही मान लेंगे कि यमुना दर्शन जन्य किसी विलक्षण अनुभूति में पू० गुरुदेव डूब गये हैं और उन्हें समय-असमय का ध्यान नहीं रहा है । अतएव वे सब काम अधूरा ही छोड़कर पू० गुरुदेव के लिये यमुना के किनारे उन्हें ढूँढने आ जायेंगे । वहाँ भी क्योंकि वे उन्हें मिलेंगे नहीं तो पोद्दार महाराज बहुत चिन्ता में पड़ जायेंगे । पू० पोद्दार महाराज को चिन्ता एवं परेशानी से बचाने का गुरुदेव के पास एक ही उपाय था, कि वे किसी भी तरह कोठी के भीतर प्रवेश पाकर मथुरानाथजी को अपनी उपस्थिति जतला दें । पहरेदार तो बाधक बना ही था ।

मन ही मन पू० गुरुदेव ने एक योजना बनायी । वे दौड़ने में बहुत तेज धावक थे । स्कूल में फुटबाल सेंटर फारवर्ड की हैसियत से खेलते थे । उन्होंने मन ही मन तोल लिया कि यह पहरेदार भले ही ज्यादा ताकतवर है, परन्तु मैं दौड़ने में तो इससे इक्कीस पड़ूंगा ही । हल्के शरीर के कारण यह

मेरी स्फूर्ति को नहीं पा सकेगा । बस, उन्होंने ज्यों ही पहरेदार थोड़ा असावधान हुआ तपाक से कोठी के भीतर दौड़ लगायी ।

पू० गुरुदेव को कोठी में घुसते देखकर पहरेदार लाठी लेकर उनके पीछे दौड़ा । आगे गुरुदेव और पीछे पहरेदार । पू० गुरुदेव इतना तेज दौड़ रहे थे कि पहरेदार थक गया था । पहरेदार पहुँचे इसके बहुत पहले गुरुदेव मथुरानाथजी के पास पहुँच गये थे । उन्होने पू० गुरुदेव के भागने का कारण जानना चाहा । परन्तु गुरुदेव ने हँसकर टाल दिया ।

तब तक वह पहरेदार भी पहुँच गया । उसने मथुरानाथजी से पूछा - ये साधु कौन है ? सेठजी ने उत्तर दे दिया कि ये अपने ही घर के महात्मा हैं । वह पहरेदार मुँह लटकाकर वापस चला गया ।

वास्तव में सच्चा सन्त वही है जिसमें मान-अपमान का भाव सर्वथा ही मिट गया हो । मान-अपमान में उलझा प्राणी तो आस्तिक कहलाने लायक भी नहीं है । यह जो शरीर रूपी पांचभौतिक आवरण है, जब तक हम इससे पृथक नहीं होते, तब तक उस दिव्य भाव-राज्य में हमारा प्रवेश हो ही कैसे सकता है ?

चूरू में एक पंजाबी सन्त

सन्तजी का शरीर रावलपिण्डी का था । अति सुन्दर गौरवर्ण एवं सुगठित देह । वे रतनगढ़ में उन्हीं दिनों जब पू० गुरुदेव भी पू० पोद्दार महाराज के पास रतनगढ़ ही रह रहे थे, पू० गुरुदेव से ही मिलने के उद्देश्य से लगभग ढाई वर्ष रहे । वे ब्यावर से आये थे । ब्यावर में ही उन्हें अजमेर के सन्त सनम साहब के किसी परिचित से पू० गुरुदेव के संबंध में जानकारी मिली थी। गुरुदेव पू० पोद्दार महाराज की मस्से की बीमारी में आपरेशन के लिये अजमेर गये थे ।

वे रतनगढ़ में आकर पू० गुरुदेव से मिलने के उद्देश्य से ग्राम के बाहर रहने लगे । नगर में वे केवल भिक्षा करने आते थे । उनके भिक्षा करने शहर में आने के समय पू० गुरुदेव एकान्त में अपने कमरे में रहते थे । पू० गुरुदेव सायंकाल शौच जाने के समय ही अपने साधना कक्ष से बाहर आते थे, या भिक्षा के समय उन्हें पुकार कर बुलाया जाता था । प्राय: सायंकाल ही वे किसी से मिलते-जुलते थे । लगातार ढाई वर्ष प्रयत्न करने पर भी जब पू० गुरुदेव से उनका मिलन नहीं हो सका तो वे निराश होकर चूरू चले गये।

प्रभु को तो उनसे मिलना ही था । अत: श्रीपोद्दार महाराज के साथ पू० गुरुदेव का भी चूरू जाना हो गया । श्रीपोद्दार महाराज ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम के वार्षिकोत्सव में चूरू आये थे । एक दिवस सायंकाल शौच के लिये पू० गुरुदेव ब्रह्मचर्याश्रम से बाहर निकले । रेलवे के किनारे-किनारे वे रेत के धोरों की ओर बढ़ रहे थे । उधर ही कलकत्ते के सेठ लोग जो चूरू निवासी ही थे, खड़े थे, वे पू० गुरुदेव से वार्ता करने लगे ।

वे पंजाबी संत भी अदृष्ट की प्रेरणा से कुछ दूरी पर रेत के टीले में ही बैठे थे । उनके मन में भगवत्प्रेरणा से यह बात आयी कि अवश्य ही ये वही सन्त हैं जिनसे मिलने वे ढाई वर्ष रतनगढ़ रहे और मिल नहीं पाये । वे जल्दी-जल्दी चलकर पू० गुरुदेव के पास आये और एक ओर खड़े हो गये । उनकी आँखों का रंग भूरा था । उन्होने अवसर पाकर व्रजभाषा में पू० गुरुदेव से पूछा - "कहा, तुम मुझसे नायँ मिलोगे ?" उनकी व्रजभाषा में भी पंजाबी का पुट था । पू० गुरुदेव उनकी ओर उन्मुख हुए । उन्होंने अपने ढाई वर्ष रतनगढ़ ठहरने का सारा विवरण बताया । वे किस प्रकार कितनी ही बार मिलने आये, परन्तु मिलन हो नहीं पाया । पू० गुरुदेव ने उनसे अपने ठहरने का स्थान पूछा तो पता चला कि वे ऋषिकुल के समीप ही ठहरे हुए थे । पू० गुरुदेव ने कहा कि इस समय तो संध्याकाल हो रहा है और गुरुदेव को शौचक्रिया करने जाना भी है, दूसरे दिवस उनके निवास पर ही गुरुदेव ने मिलने का निर्णय किया ।

दूसरे दिन पू० गुरुदेव उनके निवास पर गये । उन सन्त ने अपना वृत्तांत पू० गुरुदेव को सुनाया । एक प्रसिद्ध मण्डलेश्वरजी से उन्होंने सन्यास की दीक्षा ली । सन्यास के पूर्व वेदान्त का विचार भली प्रकार चलता ही था। परन्तु ज्यों ही सन्यास की दीक्षा ली, त्योंही उनके मन में यह चाह जाग उठी कि भगवान् श्रीकृष्ण के दर्शन कैसे हों ? उन्होने सोचा वृन्दावन भगवान् की लीला-भूमि है वहाँ संभव है दर्शन मिल जावें । सन्यास के पश्चात् वे अपने गुरु से वेदान्त ग्रन्थ पढा करते थे । एक दिवस उन्होने अपने गुरुजी से कहा - "मेरी इच्छा वृन्दावन जाने की हो रही है।" इस पर गुरुजी ने कहा - "खाने कमाने लायक तो बन जाओ ?"००

यह सुनकर पू० गुरुदेव को बहुत ही हँसी आयी । एक ओर तो वेदान्त का विचार और दूसरी ओर शरीर की इतनी चिन्ता ? अस्तु, फिर वे पू० गुरुदेव को आगे का वृत्त बताने लगे । वे कुछ दिन शान्त रहे । परन्तु मन

नहीं माना । कुछ समय पश्चात् उन्होने गुरुजी से फिर बात चलायी । परन्तु बात नहीं बनी । जब उनसे नहीं ही रहा गया तो उन्होंने अपने गुरुजी से कहा - "यदि आप आज्ञा नहीं देंगे तो मैं भाग जाऊँगा ।"

तब गुरुजी ने रोष में महा - "इसकी टिकट कटा दो ।"

इसी को गुरुजी की आज्ञा मानकर वे चलने को तत्पर हो गये । उनके लिये मथुरा तक की टिकट कटाकर के दे दी गयी थी । टिकट कटाकर इसीलिये दे दी गयी थी कि वे पैसा का स्पर्श नहीं करते थे । उनके लिये ब्रजभूमि एकदम नवीन स्थान थी । वे भतरौड़ के पास आये । भतरौड़ था एक दम जंगल, जनशून्य प्रदेश । वहाँ जमुनाजी में स्नान किया और उस जनशून्य स्थान में एक पेड़ के नीचे आसन लगाकर वे बैठ गये । उन्होंने यह निश्चय कर लिया कि अब तभी खाऊँगा जब भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं आकर खिलायेंगे । शरीर इतना अशक्त हो चुका था कि अब तो जल के लिये एवं शौच-स्नान के लिये यमुना तक जाना भी असंभव सा हो गया था । जीवित रहने की आशा छूटने लगी । वे अपने व्रत पर अड़िग थे । शरीर तो एक दिन जायेगा ही । अब शरीर को जब जाना हो जाये, भोजन तो तभी होगा जब श्रीकृष्ण आकर खिलायेंगे । ऐसा करते-करते पन्द्रह दिन व्यतीत हो गये। सोलहवें दिन उनके कानों में घन्टी की आवाज सुनायी पड़ी ।

उन्होंने देखा चार गायें पास ही चर रही हैं । परन्तु वे गायें भी अद्भुत थीं । ऐसी गायें पहले उन्होने कभी देखी नहीं थीं । विशालकाय, हाथी की तरह गायें थीं । बड़ी ही सुन्दर, अति सुडौल और उनके कण्ठों में बँधी घंटी का रव इतना सुमधुर था मानो वीणा-ध्वनि कर रही हो । गायें एक ओर से आयीं और उनके सामने से निकल गयीं । परन्तु एक गाय उनकी ओर बढ़ी। उनको ऐसा लगा कि यह गाय उन्हें सींग से मारेगी । यद्यपि शरीर अशक्त था परन्तु भय ने शरीर को इतना सशक्त कर दिया कि वे चट से एक सघन झाड़ी में जा घुसे । झाड़ी के काँटों से शरीर छिद गया । वहाँ सर्प का भी भय था । परन्तु गौ से वहीं रक्षा संभव थी । वह गाय चली गयी । अब वही सन्नाटा, वही जनशून्यता । दूसरे दिवस फिर गायें चरने के लिये आयीं । आज उनके साथ आठ-नौ वर्ष का एक बालक भी था । श्यामलवर्ण, सुन्दर शरीर, सलोना रूप, घुँघराले केश । उस बालक ने पूछा - क्यों बाबा ! दूध पीयोगे ? उस बालक को देखकर उनको सबकुछ यहाँ तक कि अपना व्रत भी भूल गया । उसके पूछने पर उन्होंने गर्दन हिलाकर स्वीकृति दे दी । उस

बालक ने एक लोटा दूध दिया । वे दूध पीने लगे । दूध भी अद्‌भुत स्वाद था । अद्वितीय मधुर था । उस बालक ने पूछा - "बाबा ! अब मैं जाँऊ ? नहीं तो मेरी गायें बिदक जायेंगी ।" उस साधु ने पूछा - "इस लोटे का क्या करूँगा ?" उस बालक ने हँस कर कहा - "यह लोटा यहीं रख देना, मैं आकर ले जाँऊगा ।"

उस साधु ने जाने की अनुमति दे दी । बालक चला गया । जब लोटे में एक-दो घूंट दूध रह गया तब उन्हें ध्यान आया कि अरे ! ये तो श्रीकृष्ण थे । अब तो वहीं लोटा रखकर उनको खोजने के लिये इधर-उधर गये। परन्तु न तो वह बालक ही मिला न उसकी वे गायें ही मिलीं । तब लोटा देखने पुन: उस स्थान पर आये तो जहाँ लोटा रखा था, वहाँ लोटा भी नहीं था। तब उनके मन में एक ऐसी गहरी हूक उठी एक विलक्षण अननुभूत व्यथा उठी कि दोनों हाथों की मुठ्ठी से अपनी छाती को मार-मारकर वे जोर-जोर से बुरी तरह रोने लगे । जब कुछ भाव शान्त हुआ तो वे थोड़ी दूर पर स्थित गाँव मतरौड़ में आये । वे एक स्थान पर बैठे थे । गाँव की एक गोरी बालिका, जो कमरतक घाघरी पहने थी, और जिसके मुख पर अतिशय भोलापन था उनके पास आयी और उनसे पूछने लगी - "बाबाजी ! रोटी खाओगे ?

बाबाजी ने "हाँ" कर दी । उस बालिका ने अपने हाथ में रखी रोटी खाने को दे दी और साथ में यह भी कहा कि जब मन हो, आकर खा जाया करो । मैं उस मन्दिर में रहती हूँ । अब मैं जाती हूँ । देर होने से मैया नाराज होगी ।

वह बालिका चली गयी । रोटी खाने के बाद वे उस बालिका का घर देखने के लिये गये । घर पर आकर घर के लोगों से पूछा - "आपकी बिटिया कहाँ है ?" घर के लोगों ने कहा - "हमारे तो कोई बेटी ही नहीं।" साधु बाबा ने कहा - "अभी मुझ को रोटी दी है ? तथा जब चाहे तब आकर ले जाने को कहा है ।" घर वालों ने वही बात दुहरादी - "हमारे तो कोई लाली नहीं है ।" तब साधुजी को चेत हुआ कि स्वयं राधारानी आयी थीं। अब तो इनकी वेदना की सीमा ही नहीं रही । न तो भगवान् श्रीकृष्ण को पहचाना, न ही राधाजी को । वे एकान्त में खूब रोये । ब्यावर में एक पं० रामप्रसादजी थे । उससे उन्होंने पूछा था मैं किसका जप करूँ । उन्होने एक कृष्ण मंत्र बता दिया था । अन्त समय तक उसी मंत्र का जप करते रहे ।

रात को तीन बजे से दुपहरी १२ बजे तक वे उसी मंत्र का जप करते थे। समुदाय में बैठकर वे वेदान्त का ही उपदेश करते थे । यह इसीलिये कि लोग उनके भीतर की वस्तु नहीं जान पायें । आत्मगोपन सन्तों का विलक्षण स्वभाव ही होता है ।

गुरु शिष्य में अभूतपूर्व वात्सल्य

गुरु एवं शिष्य के मध्य कितना आत्मीयतापूर्ण संबंध होता है इसकी झाँकी बिरले भाग्यवान् व्यक्तियों को ही हो पाती है । हमारी जागतिक दृष्टि को मात्र मोह के सम्बन्ध ही देखने को मिलते हैं । मोहान्ध हुए हम पुत्र-पुत्रियों, सगे-सम्बन्धियों, भाई-बहनों में ही अपनत्व ढूँढते हैं, जिनमें मात्र स्वार्थ भरा रहता है, इनमें परमार्थ की छाया भी नहीं होती ।

गुरु, शिष्य को अपना सर्वस्व दान करके परमार्थ की सीढ़ियाँ चढ़ाता है पद-पद पर उसकी रक्षा करता है, उसे भयंकर विपत्तियों से बचाता है, उसके घोर कष्टदायी कर्मों को स्वयं भोगता है और उसे एकांगी विशुद्ध प्यार करता हुआ उसके चित्त को शुद्ध करता है । और उसे पूर्ण योग्य बुनाकर अपनी संपूर्ण पारमार्थिक निधि सौंप देता है ।

पू० पोद्दार महाराज ने गुरुरूप में पू० राधाबाबा (गुरुदेव) से कैसे खेल किये हैं, इसके दो चार उदाहरणों के रूप में झाँकी यहाँ दे रहा हूँ । यह प्रथम घटना तो सन् १९३६ ई. की गोरखपुर की ही है । पू० पोद्दार महाराज के साथ गुरुदेव स्थायी रूप से रहने को आ गये थे । वे गीतावाटिका में ही पीछे कुटिया में रहते थे ।

पू० गुरुदेव आये ही थे । उनके पास वस्त्राभाव था । वे किसी से कुछ माँगते तो थे नहीं, उनके अग्रज भ्राता ही अपने आप कपड़ा जो भी दे देते थे, वहीं पहन लेते थे ।

हाँ, तो किसी ने पोद्दार महाराज को सूचना दे दी कि गुरुदेव का अधोवस्त्र घुटनों से भी ऊँचा रहता है और यह गृहस्थ परिवार में रहने पर मर्यादानुकूल नहीं है, अत: उन्हें नवीन वस्त्र दिया जाय । पू० गुरुदेव शुद्ध खादी के वस्त्र पहनते थे और सन्यास की मर्यादानुसार सिले वस्त्र भी नहीं पहनते थे । श्रीपोद्दार महाराज भी खादी के वस्त्र ही पहनते थे । जब

श्रीपोद्दार महाराज को उपरोक्त सूचना दी गयी तो उन्होंने अपनी पहनी हुई धोती यह कहकर गुरुदेव के पास भेज दी कि मेरे पास नवीन वस्त्र तो हैं नहीं, यह धोती मात्र एक बार ही पहनी हुई है।

प० पू० गुरुदेव के पास जब श्रीपोद्दार महाराज का सन्देश वाहक यह पहनी हुई धोती लेकर आया तो एक बार तो पू० गुरुदेव स्तब्ध रह गये । एक वैश्य गृहस्थाश्रमी एक ब्राह्मण सन्यासी को पहना हुआ कपड़ा दे, पू० गुरुदेव के लिये यह कल्पनातीत बात थी । वे किंकर्त्तव्य विमूढ़ हुए खड़े थे । इसी समय पू० गुरुदेव के सम्मुख उनके आराध्य श्रीकृष्ण प्रकट हो गये । उनके नेत्रों में अति विनोदभरी मुसकान व्यक्त हो उठी । श्रीकृष्ण गुरुदेव को स्पष्ट आदेश दे रहे थे - "इसे लौटाना मत, अन्यथा पोद्दार महाराज द्वारा दी हुई सम्पूर्ण पारमार्थिक निधियाँ भी लौटकर इस वस्त्र के साथ ही चली जायेंगी। यह वस्त्र असाधारण परमार्थ से भरा है । इसे मेरे पीताम्बरवत् महत्वपूर्ण समझना । इसमें अलौकिक प्रीतितत्व निहित है ।"

पू० गुरुदेव अपने इष्ट का यह आदेश सुनकर शान्त हो गये । उन्होंने पू० पोद्दार महाराज का वह अधोवस्त्र प्रसाद अपने मस्तक पर लगाया । और उसे पूजा में एक तरफ रख दिया ।

इसी प्रकार एक दिवस वे वस्त्र धोने का मन बना रहे थे । पू० गुरुदेव ने इसे स्वप्न कहकर सुनाया था। परन्तु उनके कथनानुसार कपड़े धोने की क्रिया तो सदा दिन में ही होती है, रात्रि में तो होती नहीं और दिन में पू० गुरुदेव कभी भी सोये हों, ऐसा देखने में नहीं आया, फिर दिवा स्वप्न बिना सोये गुरुदेव ने कैसे देख लिया, यह मन में पूरी बात जमीं नहीं थी । श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी से पूछकर जब संनिधि बैठानी चाही तो यही निर्णय हुआ था कि यह सूक्ष्म देह की लीला रही होगी । जो हो, श्रीपोद्दार महाराज पू० गुरुदेव के पास आये । वे बोले - "स्वामीजी क्या कपड़ा धोने जा रहे हैं ?" पू० गुरुदेव ने उत्तर दिया - "माह में मात्र एक दिवस कपड़े धोता हूँ एवं रँगता हूँ ।" श्री पोद्दार महाराज तपाक से बोले - "आपके कपड़े आपसे धुलेंगे नहीं, और धो लेंगे तो आप रंग तो सर्वथा पावैंगे नहीं, मैं धोकर रंग दूँगा ।" और पू० गुरुदेव से उन्होंने कपड़े छीन लिये और धोने एवं रँगने लगे । पू० गुरुदेव सचकित थे । एक बार उनके मन में आया कि पोद्दार महाराज से कपड़े छीन लें, परन्तु वे धोते-रँगते जा रहे थे और बहुत ही मधुर मुसकाती अपांग दृष्टि से उनकी ओर देखते जाते थे । वह उनकी दृष्टि ऐसी मधुर

होती थी कि गुरुदेव मुग्ध हो जाते थे । उन्होंने सारे कपड़े धोये, रँगे और तब सुखाकर चले गये ।

इसके पश्चात् पू० गुरुदेव कह रहे थे कि मेरे चित्त में मुझे जो अप्राकृत पवित्रता भरी दिखी और ऐसा विलक्षण प्रेमोद्दीपन हुआ वह अवर्णनीय है ।

यहाँ पू० पोद्दार महाराज का एक और महान् आत्मत्याग का प्रसंग लिख रहा हूँ ।

सं० २००० वि० तदनुसार सन् १९४३ ई० में श्रीपोद्दार महाराज बवासीर रोग से बहुत ही अधिक बीमार हो गये। उनको चारपायी पकड़ लेनी पड़ी । रोग की भीषणता देखकर श्रीपोद्दार महाराज को चिकित्सार्थ दिल्ली ले जाया गया । परन्तु रोग तो घटने के स्थान पर बढ़ता ही जा रहा था । रोग इतना बढ़ गया था कि बचने की भी आशा क्षीण, क्षीणतर होती जा रही थी । स्थिति की ऐसी गंभीरता थी कि लोग अन्तिम बार दर्शन करने एवं मिलने के लिये आने लगे । इसी बीच डा० अम्बालालजी को अजमेर दिखाने की भी बात हुई । श्रीपोद्दार महाराज को लोग इलाज के लिये अजमेर ले आये । पू० गुरुदेव तो साथ में थे ही । डा० अम्बालालजी की चिकित्सा से श्रीपोद्दार महाराज को लाभ हुआ और उनके स्वास्थ्य में सुधार दिखने लगा ।

गुदा का घाव ठीक हो जाने पर श्रीपोद्दार महाराज अजमेर से पुन: रतनगढ़ आ गये । इस बीच अनेक सप्ताहों तक उनका स्वास्थ्य सामान्य रहा। तीन माह पश्चात् बवासीर का रोग पुन: उभर पड़ा । उसके भीषण रूप को देखकर पुन: लोगों का चिन्तित होना स्वाभाविक ही था । श्रीपोद्दार महाराज को पुन: अजमेर ले जाया गया। डा० श्रीअम्बालालजी के चिकित्सालय में गुदा के फोड़े का आपरेशन हुआ । आपरेशन सफल रहा । इन दिनों पू० पोद्दार महाराज को बहुत ही भीषण कष्ट उठाना पड़ा । स्निग्ध पदार्थ का प्रयोग करने के पश्चात् भी बहुत ही कष्टदायक स्थिति में मलद्वार से मल उतर पाता था ।

इस भीषण कष्ट में भी श्रीपोद्दार महाराज का मन स्वस्थ था । कैस्टर आयल से शौच कराया जाता था । परन्तु तब भी दर्द भीषण रहता था । बेचेनी भी बहुत होती थी ।

गुदा का घाव ठीक हो जाने पर श्रीपोद्दार महाराज को अजमेर से रतनगढ़ लाया गया । धीरे-धीरे रोग चला गया। विगत ६-७ मास तक वे

सीमातीत रूप से कष्ट पाये थे । परन्तु अब उनका स्वास्थ्य सामान्य हो गया था ।

एक रात्रि की बात है पू० गुरुदेव श्रीपोद्दार महाराज की हवेली में अपने कक्ष में ध्यानस्थ बैठे थे । लगभग मध्यरात्रि का समय था । पू० गुरुदेव के आराध्य तो उनके साथ थे ही । उस समय उन्होने पू० गुरुदेव से कहा कि यह तो तुम्हारा ही कष्ट था जो श्रीपोद्दार महाराज ने अपने ऊपर लेकर भोग लिया । यह सुनकर पू० गुरुदेव को बहुत ही दुःख हुआ । पू० गुरुदेव इस रुग्णता की अवस्था में छाया की तरह उनके साथ थे । श्रीपोद्दार महाराज का पल-पल तड़पने का एक-एक दृश्य पू० गुरुदेव के स्मृतिपथ पर उभर-उभरकर आने लगा। श्रीपोद्दार महाराज की व्यथा की स्मृति करके पू० गुरुदेव छटपटा गये । "मेरे इतने भीषण कष्ट को इन्होंने अपने पर झेल लिया" - यह सोचते-सोचते कृतज्ञता के भाव से उनकी आँखों मे अश्रु छलक आये थे । इस अवस्था में उन्हें निद्रा आने का तो प्रश्न ही नहीं था । अकुलाहट के मारे रात्रि युगों के समान लम्बी हो गयी थी वह काटे ही नहीं कट रही थी । पू० गुरुदेव व्यथा और कृतज्ञता के बोझ से तो दब ही गये थे, परन्तु उनके हृदय में एक आश्चर्य भी था । वे विचार कर रहे थे - "अहा ! ये कैसे आत्मसंगोपन प्रिय महापुरुष हैं ! इन्होंने किसी भी स्वजन को, सेवा-परायण किसी सेवक को, अपने प्राणोतम मित्र साथियों को, सहयोगियों को, किसी को भी गन्ध भी नहीं लगने दी कि यह कष्ट उनके द्वारा किसी दूसरे का लिया है। उनका यह शीलयुक्त व्यवहार अपने निजजन के आत्यन्तिक हित करने की कैसी उच्च भावना का द्योतक है । इतनी उच्च त्यागमयी क्रिया और वह भी इतने गुप्त रूप से किसी भी स्वजन, सम्बन्धी, मित्र, सहयोगी एवं गुरुजन को भी आभास तक नहीं मिले, वाह ! क्या उच्च चरित्र है ? यदि किसी को इसकी गन्ध भी लग गयी तो जिसके प्रति इतना त्याग किया गया है, वह तो आभार से ही दब जायेगा, फिर तो किया कराया ही किर-किरा हो जायेगा - ऐसी सदाशयता का सजीव उदाहरण कहाँ देखने-सुनने को मिलता है ?" पू० गुरुदेव निशापर्यन्त कभी व्यथा, कभी कृतज्ञता, कभी दैन्य, कभी आश्चर्य, इन्हीं प्रकार के अनेक भावों में अभिभूत हुए करवटें बदलते रहें। निद्रा का तो प्रश्न ही नहीं था । बड़ी ही कठिनाई से पू० गुरुदेव की वह रात्रि किसी प्रकार व्यतीत हुई ।

प्रात: शौच-स्नान से निवृत्त होकर पू० गुरुदेव श्रीपोद्दार महाराज के पास गये । श्रीपोद्दार महाराज अपने सम्पादन कार्य में व्यस्त थे । वे सम्पादकीय लेखों को छपने के लिये ठीक कर रहे थे । पू० गुरुदेव के आते ही श्रीपोद्दार महाराज ने उनको स्नेह सम्मानपूर्वक बैठाया । फिर बोले - "कहिये, आज एक दम सबेरे-सबेरे कैसे आये ?"

पू० गुरुदेव ने भगवान् श्रीकृष्ण का नाम छुपाकर शालीन भाषा में कहा - "मुझे ऐसा अनेक कारणों से ज्ञात हुआ है कि आपने जो बवासीर का भीषण कष्ट पाया है - वह आपने अपने शरीर पर मेरा कष्ट झेला है एवं इसी के परिणाम स्वरूप आप सात माह तक मरणान्तक रुग्ण रहे हैं ।"

पू० गुरुदेव के इतना कहते ही श्रीपोद्दार महाराज अग्निशर्मा बन गये । उन्होंने अपनी अति रोषपूर्ण मुद्रा बना ली । एवं पू० गुरुदेव को झिड़कते हुए कहने लगे - "क्या कभी ऐसा हो सकता है ? क्या यह संभव है कि एक व्यक्ति दूसरे का कष्ट अपने पर ले ले । ऐसा कहीं आपने देखा है ? आपको बैठे-बैठे यही व्यर्थ की बातें सूझती रहती हैं । मैं तो आपको विवेकशील, प्रबुद्ध, प्रज्ञाशील महात्मा समझता था । आप अपने एकान्त में ये ही ऊल-जलूल व्यर्थ-चिन्तन एवं प्रमाद करते रहते हैं ?"

वास्तविकता को गोपनीय बनाने के लिये उस दिन श्रीपोद्दार महाराज ने जो नाटकीयता की और पू० गुरुदेव से जैसा रोषपूर्ण व्यवहार किया वह देखने लायक ही था । इस प्रकार बुरी तरह से झिड़के जाने से पू० गुरुदेव एक बार तो स्तब्ध ही हो गये । श्रीपोद्दार महाराज अपने आवेश में अनर्गल बोलते रहे, और पू० गुरुदेव चुपचाप सुनते रहे । श्रीपोद्दार महाराज समझ रहे थे कि गुरुदेव उनके रोष में आ गये हैं और बात दबी की दबी रह जायगी।

परन्तु पू० गुरुदेव भी पूरे घुटे हुए गुरु घंटाल थे । वे कुछ क्षण तो चुप रहे फिर वे भी अति रोष का नाटक करते हुए कहने लगे - "देखिये ! यह आपका सम्पादकत्व मेरे पर नहीं चलेगा ? विश्व में कोई शक्ति नहीं जो मेरी बात काट सके । मैं निराधार नहीं बोल रहा हूँ । मेरे पास अकाटय प्रमाण हैं । मैं आपकी आँखें दिखाने के लपेट में आने वाला नहीं हूँ । इस धौंस पट्टी से आप मुझे भ्रम में नहीं रख पावेंगे ?"

अब श्रीपोद्दार महाराज समझ गये कि पू० गुरुदेव के कथन में मात्र भावनाजन्य अनुमान ही नहीं है । अपितु पर्याप्त ठोस दम है ।

वे हवा में नहीं बोल रहे हैं । इनके पास ठोस तथ्य हैं ? अवश्य ही श्रीकृष्ण ही इनके सामने यह रहस्य खोल चुके हैं । अब जब सर्वान्तर्यामी सर्वज्ञ श्रीकृष्ण ही पर्दा खोलेंगे तो वे कैसे उसे अप्रकट रख पावेंगे ? श्रीपोद्दार महाराज का रोष तिरोहित हो गया । वास्तविक रोष तो उनमें था ही नहीं । वह तो मात्र कृत्रिम आवरण था जो उन्होंने अपनी चेष्टा से स्वीकार किया था। उनके नेत्र प्यार से छल-छला आये उन्होंने ठीक समझ लिया था कि उनका शिष्य अब इतना समर्थ हो गया है कि उससे अब छल-दुराव वे कर ही नहीं पावेंगे । उन्होंने अपने हाथ की कलम रख दी । अपनी दोनों हथेलियों को पू० गुरुदेव के कंधो पर रखकर वे अतिशय प्यार से बोले - "क्यों क्या आप और मैं दोनो भिन्न हैं क्या ?"

पहले केवल पू० गुरुदेव के नेत्र सजल थे और अब चार नेत्र आँसुओं से भीगे थे । दो हृदय प्यार में एक दूसरे पर न्यौछावर हो रहे थे । पू० गुरुदेव मीलित-नयन, मूक-अधर, अचल-अंग, निष्पंद बैठे रहे । प्यार कैसी अनमोल वस्तु है । परस्पर कितना त्याग है, कैसा विलक्षण समर्पण है, क्या वाणी में सामर्थ्य है कि निर्वचन कर सके ? कदापि नहीं । कदापि नहीं ।

ऐसे प्यार भरे थे गुरु शिष्य दोनों

नैसर्गिक वत्सलता का रस कितना मीठा सच है प्रियतम।
जैसे पिंजर को कम्पित कर तुमने दिखलाया था प्रियतम।।
उसका भी है इतिहास बड़ा सुन्दर शुभ सुखदायी प्रियतम ।
है किन्तु नहीं अवकाश यहाँ, फिर गोपनीय भी है प्रियतम ।।

इस मायामय निसर्ग में भी वात्सल्य का रस गुरु शिष्य में कितना मधुर एवं उच्च कोटि का प्रवाहित होता है, यह सत्य तुमने पिंजर को कम्पित कर अर्थात् पोद्दार महाराज रूप शरीर को रुग्ण करके दिखलाया था । उसका इतिहास भी कितना सुन्दर है, शुभ है एवं सुखदायी है, परन्तु वह अति गोपनीय है और उसे कहने का यहाँ अवकाश ही कहाँ है ?

(यह चौपदा जिस इतिहास को संकेत कर रहा है वह इतिहास ऊपर लिख दिया गया है)

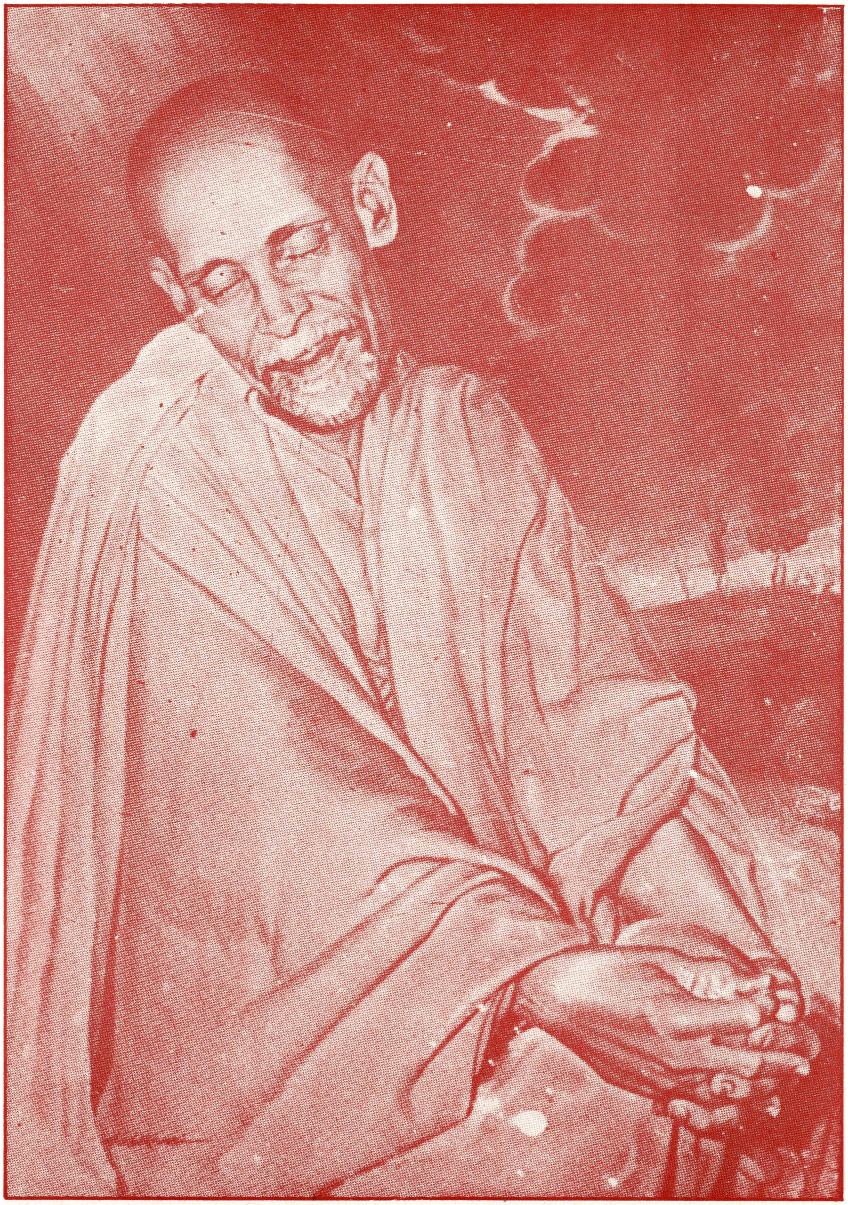

गहन ध्यानावस्था मे पुज्य राधा बाबा

महाभाव दिनमणि
श्री राधाबाबा

तीसरा भाग

पाँच सौ शब्दावली, गुरु-दीक्षा, भावजीवन का प्रारंभ भगवती श्री राधारानी से मिलन, अष्टयाम, एवं मंजुश्यामा भाव की मधुरतम अन्य लीलायें

सन् १९४० ई० से १९४३ ई० तक

ब्रजभाव की गंभीर साधना का प्रारंभ

श्रीपोद्दार महाराज के साथ निर्बाध नित्य निवासने पू. गुरुदेव को रसोपासना में गंभीरतापूर्वक उन्मुख होने के लिये परम अनुकूल परिस्थितियों का निर्माण कर दिया था। जब तक पू० गुरुदेव श्रीमद्भगवद्गीता की टीका में व्यस्त रहे रस साधना की ओर प्रवृत्त होने के लिये उनके समक्ष उपयुक्त वातावरण था ही नहीं।

वे सदा ऐसे लोगों के मध्य रहते थे जो एक प्रकार से रसिक तो थे ही नहीं, पूरे रस-अनभिज्ञ थे। ऐसे लोगों का अनवरत संग और वेदान्त के विचारों की ही निरन्तर आवृत्ति से पू. गुरुदेव का रस-मसृण मन बहुत ही घबड़ाता था।

प० पू० गुरुदेव सबके सन्तोष के लिये यथासाध्य अपनी आन्तरिक भावनाओं को पूर्णतया गोपन रखते, सबके साथ हिलमिल कर उनकी रुचि के अनुसार ही बोलते, व्यवहार करते, प्रवचन करते। परन्तु उनका भीतरी रस-भाव दबते-दबते कभी-कभी विलक्षण ढ़ंग से फूट पड़ता। उस अवस्था को लोग गुरुदेव की बालोचित चंचलता ही मान बैठते थे।

अब तो इन सभी परिस्थितियों का पूर्णतया अन्त ही हो गया था। प्रवचन का सर्वथा त्याग होकर उन्होंने मौन ले लिया था, और अनवरत नाम-साधना अठ्ठारह घंटे चल रही थी। यहाँ तक कि कभी-कभी पू. गुरुदेव को शौचालय में भी नामजप करते रहना पड़ता था तब उनका तीन लाख नामजप पूरा हो पाता।

प० पू० गुरुदेव के मन से अहंकार-ममता, आशा-तृष्णा भोगों की वासना-कामना तो सब मिट गयी थी। समस्त द्वन्द्वों - सुख-दुख, हानि-लाभ, जीवन-मरण, जय-पराजय, मान-अपमान, स्तुति-निन्दा, प्रिय-अप्रिय, शुभ-अशुभ, मेरा-तेरा, मैं-तू आदि का भेद मिटकर, सदा सर्वत्र समत्व और शान्ति से उनका चित्त भरा था। उनकी चित्त एवं अन्तःकरण की पट्टी सर्वथा निर्मल स्वच्छ थी।

अब उन्होंने इस प्रकार ब्रजभाव की साधना का अभ्यास प्रारंभ किया। वे स्मरण करते - 'यमुना'। उनका मन एकाग्र तो था ही। 'यमुना' शब्द के

स्मरण करते ही उनका मन 'यमुना' की भावना में तल्लीन हो जाता था, और यमुना का निर्मल मंजुल प्रवाह उनके सम्मुख व्यक्त हो जाता था।

ऐसे ही वेणुध्वनि' इस शब्द के श्रवण-मात्र से गुरुदेव उस लोकातीत नाद-श्रवण की माधुरी में लीन हो जाते थे जो अचिन्त्य अवस्था होती थी। पू. गुरुदेव कहते थे कि पू. पोद्दार महाराज की कृपा से मुझे जो वेणुध्वनि का श्रवण हुआ, वह इतना अभूतपूर्व था कि निखिल लोकों के निखिल नादों की जितनी मधुरिमा हैं उन सबकी तुलना करने पर वे सभी श्रीकृष्ण की वेणुध्वनि रूपी माधुरी के महान सागर के मात्र एक अणु में ही डूब जाती थीं। मैं अति दीन चित्त से आकुल हो प्रार्थना कर बैठता था - ' हे श्यामसुन्दर ! जहाँ-जहाँ आपकी मुरली के द्वारा कर्णप्रिय नाद सुधा की वर्षा होती है, वहीं-वहीं मेरे अनाद्यनन्त जन्म होते रहें, अत्यन्त तुच्छ निर्वाण से मेरा क्या प्रयोजन है।

पू. गुरुदेव ने छहों दर्शनों का अति गंभीर विशद अध्ययन किया था। वैशेषिक के वे पण्डित थे। तर्कशास्त्र में वे पारंगत थे। जैमिनी-मीमांसा-सूत्र एवं सांख्यादि-विद्या तो उन्हें कण्ठस्थ थी। उन्होंने वेदान्तादि दर्शनों का अनुशीलन आत्यन्तिक रूप से कर रखा था। परन्तु श्रीपोद्दार महाराज रूप सन्त भगवान की हेतुरहित कृपा से भगवान नन्दनन्दन ने उनके कानों में ऐसी वेणु-माधुरी प्रवाहित की कि उनका चित्त बलात् आकर्षित हो उठा एवं ऐसा आकर्षित हुआ कि उनकी सब शास्त्रों में आस्था ही नहीं रही। मात्र आस्था श्रीकृष्ण-वंशी-नादामृत में ही केन्द्रित हो गयी।

व्रज भाव की पाँच सौ शब्दावली

पू. गुरुदेव ने पांच हजार ऐसे वाक्य चयन किये हुए थे, जिन पर प्रतिदिन वे अपना ध्यान ३०-४० सैकिण्ड अवश्य केन्द्रित किया करते थे। एक सहस्र नाम तो उन्होंने मुझे (लेखक को) लिखाये थे एवं कहा था कि दस-दस, बीस-बीस सैकिण्ड प्रतिदिन इन शब्दों में अपना ध्यान केन्द्रित किया कर। मुझे उन दिनों उन्होंने माधुर्य उपासना नहीं दी थी, पहले श्रीकृष्ण की बाल लीलाओं में ही मेरा चित्त वे रमाना चाहते थे।

इस सहस्र शब्दावली में से पाँच सौ के लगभग यहाँ साधकों के लाभार्थ दिये जा रहे हैं।१. यशोदा, २. नन्दरायजी ३.नन्दभवन, ४. नन्दभवन के

पार्श्व में गोशाला, ५. यमुना, ६. यमुना के घाट, ७.घाटों में नाव, ८.घाटों की स्वर्ण-रजत-मंडित रत्न खचित सीढ़ियाँ, ९. स्त्रियों के स्नानघाट १०. पुरुषों के घाट ११.यमुना में खिलते कमल, १२. नीलकमल १३. रक्तपद्म १४. स्थल कमल १५.अप्राकृत शोभाशाली लतायें, १६. लताओं में रंग-बिरंगे पुष्प, १७. नन्दभवन का राजद्वार १८. राजपथ, १९. राजद्वार पर बैठे प्रहरी, २०. राजद्वार के शहनाई वादक, २१. नन्दभवन का शिखर एवं दीपस्तंभ, २२. गौएँ, २३. गौओं के स्वर्ण-मण्डित सींग, २४. गोप, २५. गोशाला के परिचारकों की भिन्न-भिन्न आकृतियाँ, २६. गोदोहक, २७. गोदोहन की ध्वनि, २८. यशोदाजी की वेणी, २९. उनके हाथों के आभूषण, ३०. उनके द्वारा दधिमंथन, ३१. यशोदा जी की परिचारिकाएँ, ३२. उन की भिन्न-भिन्न आकृतियाँ, ३३. श्रीकृष्ण का शिशु-वेष, ३४. उनका पालना, ३५. उनके काजल भरे नेत्र, ३६.उनकी नासिका, ३७. श्वास-प्रश्वास से फूलते नथुने, ३८. श्वास से हिलता उदर, ३९. उनकी नाभि, ४०. अतिसूक्ष्म रोमावली, ४१. उनकी लाल-लाल हथेली, ४२. उनके हाथों की नखमणियाँ, ४३. उनकी अँगुलियाँ, ४४. उनके कोमल किसलय से अधर, ४५. नीचे उगे दो दाँत, ४६. उनकी जिह्वा, ४७. उनके सुकोमल चरण, ४८. मांसल जंघाएँ, ४९. उनके नितम्ब, ५०. उनका अप्राकृत सुन्दर पुरुष चिन्ह। ५१. उनका चरण चलाना, ५२. उनका बाहुचालन, ५३. उनकी मुसकान, ५४. उनके कृष्ण कुन्तल, ५५. घुँघराली अलकावलि, ५६. गुम्फित मयूरपिच्छ; ५७. श्रीकृष्ण की लघुवंशिका, ५८. उनका घुटुरुन चलना, ५९. उनकी करधनी, ६०. करधनी की रुणकार, ६१. चरणों में नूपुर, ६२. उनकी चरण-नखावली, ६३. चरण-नख-चंद्रिका, ६४. उनका परम सुन्दर वक्षस्थल ६५. उस पर सुशोभित व्याघ्र-नख एवं दृष्टिदोष-निवारक-यंत्र, ६६. नन्दभवन का प्रांगण, ६७. प्रागंण के रत्नखचित स्वर्ण के खंभे, ६८. स्फटिक स्तंभ, ६९. स्फटिक स्तंभ में श्रीकृष्ण की छाया, ७०. छाया का अप्रतिम सौन्दर्य, ७१. छाया के संग क्रीड़ा, ७२. श्रीकृष्ण के सुबलादि बालसखा, ७३. श्रीबलरामजी, ७४. बलरामजी का अंग-सौन्दर्य, ७५. रोहिणी मैया, ७६. रोहिणी मैया द्वारा बलराम एवं श्रीकृष्ण दोनों को गोद में रखना, ७७. बलरामजी एवं श्रीकृष्ण की परस्पर प्रेम-क्रीड़ा, ७८. तुतलाकर बोलना, ७९. नन्दरायजी के द्वारा श्रीकृष्ण एवं बलराम दोनों को कंधे पर चढ़ाकर गौशाला ले जाना, ८०. गौओं के दर्शन, ८१. गौओं के श्रृंगार एवं उनका

पूजन, ८२. महर्षि शाण्डिल्य, ८३. वेद-पाठ-रत ब्राह्मण, ८४. श्रीकृष्ण एवं बलरामज़ी का स्वस्तिवाचन, ८५. उपनन्दजी, ८६. संनन्दजी, ८७. श्रीउपनन्द जी की पत्नी प्रभावती, ८८. श्रीसंनन्दजी की पत्नी, ८९. सभी का श्रीकृष्ण-बलराम के प्रति प्रगाढ़ वात्सल्य, ९०. भगवान नारायण का नन्दभवन स्थित भव्यमन्दिर, ९१. मन्दिर का विशाल बाह्य-मंडप, ९२. मंडप में देवी-देवताओं, यक्षों, किन्नरों, गन्धर्वों की कलात्मक आकृतियाँ, ९३. मन्दिर का गर्भ-गृह, ९४ भगवान नारायण की नीलमणि प्रस्तर से निर्मित जीवन्त मूर्त्ति, ९५. पूजागृह में भगवान नृसिंहादि के अन्य विग्रह, ९६. शालिग्राम-शिला, ९७. सुदर्शन यंत्र, ९८. भगवती लक्ष्मीजी का यंत्र, ९९. उनका प्रतीकात्मक अर्चाविग्रह, १००. ब्राह्मणों द्वारा पुरुष सूक्त का पाठ, १०१. श्रीनन्दराय द्वारा ब्राह्मणों का पूजन, १०२. श्रीकृष्ण-बलराम द्वारा महर्षि शांडिल्य का पूजन, १०३. महर्षि द्वारा श्रीकृष्ण-बलराम में साक्षात् ब्रह्म दर्शन, १०४. महर्षि के सम्मुख श्रीकृष्ण का मुसकाना, १०५. उनकी विश्व विमोहिनी मुसकान में भगवती आद्याशक्ति जगदम्बा का प्राकट्य एवं महर्षि को दर्शन, १०६. महर्षि की अचिन्त्य दशा, १०७. श्रीयशोदाजी द्वारा भगवान श्रीकृष्ण का पुरमहिलाओं को दर्शन कराना, १०८. पुरमहिलाओं द्वारा श्रीकृष्ण का कभी सिर को नीचा करके, कभी बांयी ओर मोड़कर, कभी दाहिनी ओर झुककर दर्शन करना। १०९. पुर महिलाओं के अश्रु-बिन्दुओं से मुक्तामालाओं का सृजन, ११०. श्रीयशोदाजी का श्रीकृष्ण को नन्दरायजी की गोद में देना, १११. उनके द्वारा पुरवासियों के मध्य श्रीकृष्ण को ले जाना ११२. श्रीकृष्ण को गोद में लेते ही उनके संस्पर्श से नन्दरायजी की बाह्य-ज्ञान-विस्मृति और विलक्षण भावसमाधि में अश्रु-प्रवाह, ११३. श्रीकृष्ण द्वारा अपने कोमल नील कुड्मल से हाथों द्वारा बाबा के अश्रु पौंछना, और उन्हें हिलाकर जगाना। ११४. श्रीकृष्ण द्वारा अपने बाबा का मुख ऊँचाकर उनसे अति प्रेम-भंगिमा-पूर्ण-वार्तालाप, ११५. श्रीकृष्ण द्वारा तोतली वाणी में बाबा के अश्रु मोचन का रहस्य पूछना। ११६. श्रीनन्दरायजी द्वारा श्रीकृष्ण को वात्सल्य की विह्वलता वश, कण्ठ से लगा लेना और कहना - "मेरे लाल ! तू मेरी अनन्त जन्मार्जित पुण्यराशि रूप कल्पतरु-उद्यान का प्रफुल्ल कुसुम है, तू मेरे वात्सल्य की कल्पलता-श्रेणी का मधुर फल है, अतः तुझे देखकर, तुझे गोद में पाकर मेरे नेत्र आनन्द से झरने लगते हैं।"

११७.श्रीकृष्ण अत्यंत भोलेपन से अपने बाबा के मुख की ओर सतृष्ण देखते हैं और तब कहते हैं - “बाबा ! यह कल्पतरु उद्यान यमुनाके उस पार है क्या ? बाबा ! मैं तो मेरी मैया का हूँ इस कल्पलता श्रेणी का फल तो सुबल भैया होगा !”

११८. श्रीकृष्ण का नन्दजी के साथ नन्दभवन के अन्त:पुर में जाना। ११९. सखाओं के साथ कलेऊ। श्रीकृष्ण का स्वयं बहुत ही कम खाना, केवल लोनी का स्वाद चखना, १२०. श्रीकृष्ण का सखाओं सहित बन्दरों को मक्खन खिलाना, १२१. श्रीकृष्ण की बालक्रीड़ा से घर के आँगन में दधि, नवनीत का कीच। १२२. नवनीत से लिपे-पुते मुखवाले सखाओं की शोभा, १२३. नवनीत से श्रीकृष्ण के लिप्तांगों का अभूतपूर्व सौन्दर्य, १२४. श्रीकृष्ण द्वारा मैया की वेणी को मक्खन खिलाने की लीला, १२५. मैया द्वारा संकेत से रोहिणीजी द्वारा श्रीकृष्ण-बलराम का स्नान, श्रृंगार। १२६. सखाओं का भी उनकी माताओं द्वारा स्नान एवं श्रृंगार। १२७.श्रीकृष्ण का गोशाला में खेलने जाने को मचलना। १२८. गौशाला में न जाकर छोटी बछड़ियों, बछड़ों के संग खेलने की मैया की अनुमति। १२९. परिचारकों की गोद में चढ़कर श्रीकृष्ण-बलराम का गोशाला जाना। १३०.परिचारकों जैसी पगड़ी पहनने का श्रीकृष्ण का आग्रह। १३१. परिचारकों का हँसना। १३२.मैया द्वारा सुन्दर सुनहरी पचरंगी पाग श्रीकृष्ण को पहनाना। १३३. श्रीकृष्ण का उस पाग को परिचारक के मस्तक पर पहनाने का आग्रह और उसकी पगड़ी स्वयं पहनने के लिये मचल जाना। १३४. किसी प्रकार परिचारक की पगड़ी पहनकर ही संतुष्ट होना। १३५. बछड़ियों के साथ खेल-कूद। १३६. उनके कान में वंशी फूँकने का आग्रह। १३७. बछड़ियों की उछल-कूद। १३८. श्रीकृष्ण की उनके समान ही उछल-कूद। १३९. परिचारिकाओं को गोबर उठा-उठा कर देने का खेल। १४०. गोबर के घरौंदे बनाना, १४१. उन घरों को लाल-पीला पोतना १४२. गोबर से गोवर्धन पर्वत का निर्माण १४३. बछड़ों द्वारा गोबर निर्मित घरों का भंग।१४४. बछड़ों की पीठ पर बैठने का आग्रह। १४५. बछड़ों की पूँछ पकड़कर लटकने का खेल। १४६. मैया द्वारा भोजन के लिये पुकार। १४७. नन्दबाबा के संग बैठकर एक थाली में श्रीकृष्ण-बलराम का भोजन। १४८. श्रीनन्दबाबा को अपने हाथ से खिलाने का आग्रह। १४९. श्रीनन्दबाबा की दाढ़ी को भी खिलाने का आग्रह।१५०. श्रीनन्दबाबा की दाढ़ी क्यों नहीं खाती, इसलिये रूठ जाना। १५१. श्रीनन्दबाबा द्वारा बहुत ही मनुहार पूर्वक दो

कौर क्षीर मिष्ठान्न का ग्रास देना। १५२. श्रीनन्दबाबा की थाली से मिष्ठान्न लेकर कौओं, शुकों, कपोतों और चिड़ियाओं को खिलाना। १५३. नन्दबाबा के साथ गौओं को, बछड़े-बछड़ियों को भी भोजन कराने को मचलना। १५४. गौओं को गो-ग्रास देकर आना। १५५. मैया का स्तनपान करने को मचलना। १५६. मैया द्वारा स्तनपान। १५७. श्रीकृष्ण के मुख की राफों से दूध के चूकर बहने की शोभा। १५८. अतिशय दुग्ध-प्रवाह से मैया के वस्त्रों का भीग जाना। १५९. दुग्ध-धार का महल के आँगन में प्रवाह। १६०. प्रवहमान दूध का भाग्यशाली पक्षियों द्वारा पान, १६१. रोहिणीजी द्वारा बहलाकर शयन-कक्ष ले जाना और श्रीकृष्ण, बलराम और सखाओं का संग-संग रोहिणी जी से रामकथा एवं अन्य अवतारों की कथा का श्रवण।

१६२. श्रीकृष्ण को निद्रा की झपकी आना। १६३. उनके निद्रित सौन्दर्य का दर्शन १६४. श्रीकृष्ण का स्वप्न-दर्शन, १६५. स्वप्न में मुरली को कोई बन्दरी चुरा ले जाती है १६६. श्रीकृष्ण का रोते हुए उठना। १६७. उठते ही बाँसुरी चोरी चले जाने की शिकायत करना। १६८. मैया का बाँसुरी दिखाना १६९. परन्तु श्रीकृष्ण का स्वप्न को सत्य समझकर उस बाँसुरी को दूसरी बाँसुरी बताना। १७०. मैया द्वारा स्वप्न-काल की घटना का मिथ्यात्व सिद्ध करना असंभव हो जाना। १७१. श्रीकृष्ण का जिद करना कि बन्दरी बाँसुरी ले गई तो वह ले ही गई, वह असत्य कैसे हो सकता है। १७२. रोहिणी द्वारा पालतू शुक से वंशी वापस दिलाना एवं समझाना कि यह शुक बन्दरी से वंशी वापस छीनकर लाया है। तभी उनके रुदन का विराम। १७३. मैया के पास व्रज की पुरन्ध्रियों का एकत्रित होना १७४. उनका श्रीकृष्ण के गुण-लीला-सौन्दर्य का बखान करते हुए गायन, १७५ ताल-बन्ध पर श्रीकृष्णचन्द्र का नृत्य करना। १७६. श्रीकृष्ण के साथ सखाओं का भी संग-संग थिरकना। १७७. व्रजसुन्दरियों का 'तत तत थेइ थेइ' कहना और श्रीकृष्ण का ठीक तदनुरूप पद एवं हाव-भाव संचालन। १७८. श्रीनन्दरायजी द्वारा संध्या करते हुए, बाहर से द्वार-संध से पुत्र का नृत्य-दर्शन, १७९. श्रीकृष्ण का मन्द-मन्द गायन १८०. इसी समय नन्दरायजी पर दृष्टि पड़ जाने से श्रीकृष्ण का संकुचित हो जाना। १८१. नन्दरायजी की संध्या करने की क्रिया की श्रीकृष्ण द्वारा अनुकृति करना। १८२. जननी द्वारा श्रीकृष्ण को गोद में उठाकर कपोलों का बार-बार चूमना। १८३. पुन: जननी द्वारा बाबा को नृत्य दिखाने की आज्ञा देना १८४. जननी के प्रेमाग्रहवश और

बाबा की लालसा पूर्ण करने श्रीकृष्ण का पुनः नृत्य करना १८५. नूपुरों की मधुर रुनझुन ध्वनि १८६. मैया एवं बाबा की कर-ताली बजाना १८७. श्रीव्रजेन्द्र के मन का शरीर से निकलकर नूपुर-ध्वनि में विलय हो जाना १८८. मनशून्य व्रजेन्द्र का अपलक स्थिर-नेत्र हो जाना, १८९.दल-के-दल व्रजपुरवासियों और पुरन्ध्रियों का नृत्यदर्शन करने उमड़ आना १९०.श्रीकृष्णचन्द्र द्वारा मुक्त-हस्त से बाल-मधुरिमा वितरण १९१.उनका कभी अस्फुट स्खलित स्वरों से गायन, १९२. हास्य-रञ्जित तोतली वाणी में नृत्य के बोल बोलना १९३. फिर नाचना और नृत्य के अन्त में अभूतपूर्व भंगिमा दिखाकर उसका समापन करना। १९४. श्रीनन्दरायजी से नन्हीं सी भुजा फैलाकर श्रीकृष्ण का लिपट पड़ना। १९५. ब्रजरमणियों के आगमन पर श्रीनन्दराय द्वारा अति संकोचपूर्वक अपने लाल की छवि हृदय में भरकर विदाई लेना। १९६. अपने लाला को यशोदा को सौंपना १९७. आभीरबालाओं द्वारा श्रीकृष्ण को मयूर का नृत्य दिखाना १९८. ग्वालिन के मनोरथ की पूर्ति के लिये श्रीकृष्ण का दोनों भुजाओं को पीठ की ओर करके मयूर बन जाना एवं ग्रीवा ऊपर उठाकर ग्वालिन के चारों ओर घूम कर फेरी देते हुए नृत्य करना। १९९. गोपांगनाओं में तुमुल हर्ष-ध्वनि। २००. एक गोपबाला का प्रश्न "बता मेरे प्राण ! भ्रमर का गुन्जारण कैसे होता है ?" २०१. श्रीकृष्ण का भ्रमर की तरह उद्यान से दौड़कर आना और गूं ऊं ऊं ऊं उच्चारण करना और प्रासाद के आँगन में दौड़ना। २०२. श्रीयशोदाजी द्वारा राई-लौन करके दृष्टिदोष उतारना। २०३. गोपसुन्दरियों के आनन्द का पार नहीं रहना। २०४. किसी भी राह चलती गोपसुन्दरी से श्रीकृष्ण का मैया मानकर लिपट जाना २०५. गोपसुन्दरियों का भावाविष्ट हो जाना। २०६. श्रीकृष्ण का बलराम एवं अन्य सखाओं के साथ मल्ल कीडा करना। २०७. उनका बाहुक्षेप करना २०८. जंघा पर ताल ठोंकना २०९. किसी भी गोपी के द्वारा बलराम को अधिक बलशाली बताने पर श्रीकृष्ण का खिन्न हो जाना २१०. श्रीबलराम जी का हँसना २११. श्रीकृष्ण की प्रसन्नता के लिये बलरामजी का बलशाली होते हुए भी हार जाना। २१२. मधुमंगल का बलरामजी की पोल खोलना कि ये श्रीकृष्ण को जिताने के लिये जानकर हार स्वीकार कर रहे हैं। २१३. श्रीकृष्ण का मचलकर मधुमंगल को कभी भी साथ नहीं खिलाने की धमकी देना। २१४. मधुमंगल का दाँत निपोर कर हँसना २१५.यशोदाजी द्वारा लड्डू वितरण। २१६. लड्डू खाकर पुनः मल्ल क्रीड़ा

करना। २१७. मल्ल युद्ध में कभी श्रीकृष्ण का ऊपर होना, कभी बलराम जी का ऊपर होना, २१८. इस प्रकार अभिनव मल्लक्रीडा की रचना २१९. कृष्ण-बलराम की विशेष शोभा का दर्शन २२०. कृष्ण-बलराम द्वारा मल्लक्रीडा के पश्चात पुनः नृत्य करना। २२१. नृत्य करते-करते थक जाने पर रोष करके रोने लग जाना २२२. यशोदामैया द्वारा अपने लाल को थका पाकर तुरन्त गोद में उठा लेना। २२३. मुख पर चुम्बनों की बौछार करना। २२४. श्रीकृष्ण-बलराम को लेकर उन्हें धूलि-धूसरित देखकर स्नानगृह की ओर ले जाना। २२५. स्नानघर में स्वर्ण कलशियों में सुरभित स्वच्छ जल की शोभा देखना। २२६. स्वर्णकलशी का जल एक छोटे पात्र में लेकर श्रीकृष्ण को एक स्नानपात्र (बडी परात) में स्थित चौकी पर बैठाना, २२७. श्रीकृष्ण की और बलरामजी की भिन्न-भिन्न परातों में सुरभित स्वच्छ समशीतोष्ण जल डाल देना २२८. श्रीकृष्ण द्वारा एवं बलरामजी द्वारा जल का थपथपाया जाना, और जल उछालना। २२९. माता यशोदा एवं रोहिणी द्वारा विलक्षण जल-केलि शोभा निरखकर बलिहार होना। २३०. छोटे स्वर्णपात्र(लोटेनुमा सुराही) से माता यशोदा द्वारा जल लेकर श्रीकृष्णचन्द्र के चूर्ण-कुन्तल-मण्डित सिर पर बिखेर देना। २३१. जल के सिर पर गिरने से श्रीकृष्ण का किंचित सिहरना और स्वर्ण परात से माँ की गोद में आने के लिये बाहु ऊपर उठाना २३२.माँ द्वारा पुनः थोड़ा सुरभित जल और डाल देना। २३३. माता द्वारा गोद में लेकर पुनः जलपात्र में बैठाकर सभी अंग मल-मलकर धोना २३४. श्रीअंगों के मले जाने पर उनसे अभूतपूर्व अंग-गंध का प्रवाह बहना। २३५. उस अंग-गंध से यशोदाजी को विलक्षण भावसमाधि लग जाना। २३६. यशोदामाता को नेत्र मूँदे हुए और आनन्द समाधि में डूबी देखकर श्रीकृष्ण-बलराम दोनों का अति मधुर मुसकाना। २३७. माता पर अपने हाथ से जलपात्र से जल लेकर उछाल कर डालना। २३८. जल के छींटे पड़ने से माँ का जाग्रत होना। २३९. पुनः श्रीकृष्ण-बलराम को स्नान कराना। २४०. अंगों को निर्मल सुकोमलतम मलमल के वस्त्रों से लपेट देना। २४१. वारिधारा का केशों से भाल, नेत्र, कपोल, एवं स्कंध, तथा उदर पर टपकने की शोभा निरखकर निहाल होना। २४२. जननी द्वारा अपने पुत्र के जलसिक्त होने से लाली लिये नेत्रों को देखकर भ्रम करना कि कहीं अरविन्द पत्र ही मेरे लाल के नेत्रों के स्थान पर जड़ित तो नहीं है। २४३. अहा! मेरे लाल के अंगों में स्वच्छता ऐसी है मानो महा-मरकतमणि को ही इसके अंगों

के रूप में गढ़ दिया गया हो २४४.अहा, कैसी विलक्षण सौरभ अंगों से निःसृत हो रही है, मानो नीलोत्पल विकसित हो रहा हो, २४५. अहा ! कैसी मधुर वाणी है मानो हंसों से युक्त यमुना की लहरें हों २४६. श्रीअंग-कान्ति ऐसी है मानो ज्योत्स्ना से परिपूर्ण तिमिर अंकुर हो। २४७. स्निग्धता ऐसी है मानो पूर्ण ज्योतिर्मान जलधर खण्ड हो। २४८. ब्रजपुर में संध्या की शोभा २४९. गौएँ पश्चिम दिशा से आ रही हैं अतः गोधूलि से व्रजपुर नन्दग्राम आवृत है। २५०. सूर्यास्त की लालिमा से नभ में पूर्ण व्रजरज अति सुन्दर रंग बिरंगी अनुरंजित हो रही है। २५१. कुमुद, कल्हार, कुन्द एवं मन्दार पुष्पों से सुरभित बयार व्रजपुर में बह रही है। २५२. संध्या आरती हो रही है २५३. ब्रजपुर में प्रत्येक घर में नारायण मन्दिर हैं, अतः घण्टानाद हो रहा है। २५४. शंख एवं मृदंग-नगाड़ों की ध्वनि मुखरित है। २५५. हरिकीर्तन नारायण-नारायण का उच्चारण हो रहा है। २५६. गोपबालक नृत्य कर रहे हैं। २५७. वन-क्षेत्र से गौएँ लौट आयी हैं। २५८. गोपाल उन्हें गोशाला में ले जाने के पूर्व घरों के द्वारदेश में पूजन के लिये एकत्र कर रहे हैं। २५९. घरों-घरों में गोपूजन हो रहा हैं। २६०. श्रीनन्दबाबा बलराम एवं श्रीकृष्ण को लेकर उनके हाथों विविध उपचारों से गोपूजन करा रहे हैं। २६१. ब्राह्मणगण वेदमंत्र उच्चारण कर रहे हैं। २६२. गोपुच्छ से श्रीकृष्ण-बलराम का रक्षा-कवच कराया जा रहा है। २६३. व्रजेन्द्र नन्दबाबा श्रीकृष्ण-बलराम को नारायण मन्दिर दर्शनार्थ ले जा रहे हैं। २६४. विविध उपचारों से ब्राह्मण नारायण अर्चन कर रहे हैं। २६५. ब्राह्मण भगवान नारायण के विग्रह के चरणों से उठाकर तुलसीदल एवं निर्माल्य पुष्प नन्दरायजी को देते हैं। २६६. श्रीनन्दबाबा निर्माल्य पुष्प श्रीकृष्ण-बलराम के मस्तक पर रखते हैं २६७. श्रीराम-कृष्ण के मस्तक पर घुँघराली कुन्तल राशि की शोभा निहारते हुए नन्दराय के अश्रु बह उठते हैं। २६८. श्रीकृष्ण बलराम के मस्तक पर अश्रु-बिन्दुओं का टपक जाना २६९. बालकों द्वारा मुख ऊपर उठाकर नन्दराय क्यों रो रहे हैं -- जिज्ञासा करना २७०. नन्दबाबा द्वारा बिना कुछ उत्तर दिये श्रीकृष्ण एवं बलराम को गोद में उठा लेना।

२७१. श्रीकृष्ण द्वारा बाबा के अश्रु अपनी सुकोमल हथेलियों से पौंछना। २७२. अकस्मात गोद से उतर पाँवों-पाँवों श्रीकृष्ण का माता के पास जाने की लालसा करना। २७३. श्रीकृष्ण का पाँवों से नूपुर ध्वनि करते हुए धीरे-धीरे चलना। २७४. ब्रजरानी के पास पहुँचकर हाथ उठाकर गोद में शीघ्र आने

को दौड़ पड़ना। २७५. लड़खड़ा कर गिर पड़ने के पूर्व माता द्वारा गोद में उठा लेना २७६. ब्रजरानी के वात्सल्य से नेत्र छलछला आना २७७.ब्रजरानी के स्नेहावेश से स्तन झरने लगना। २७८. रोहिणीजी द्वारा बलराम को गोद में लेकर नन्दरायजी की लज्जा से दूसरे कक्ष में चले जाना। २७९. श्री नन्दराय का हट जाना। २८०. नन्दरायजी के हट जाने पर यशोदा मैया द्वारा श्रीकृष्ण को दुग्ध-पान कराना। २८१. श्रीकृष्ण द्वारा अत्यंत क्षुधातुर की तरह ललक से दुग्ध-पान करना २८२. यशोदा द्वारा श्रीकृष्ण का चुम्बन कर पुनः दूध पीने को प्रोत्साहित करना २८३. श्रीकृष्ण का जमुहायी लेना। २८४. श्री नन्दरानी द्वारा श्रीकृष्ण के छोटे से मुख विवर में सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड को देखना। २८५. श्रीयशोदाजी की श्वासगति का अतिशय तीव्र हो जाना २८६. नन्दरानी का थर-थर कम्पित होना २८७. सम्पूर्ण शरीर के रोम-ऊर्ध्व हो जाना २८८. यशुमति द्वारा पुनः मुख विवर में झाँकना २८९. पुनः देखना-नीला अनन्त महाकाश, स्वर्ग, पृथ्वी, नक्षत्र, दिशायें, सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु, समुद्र, द्वीप, पर्वतमालाएँ, नद-नदी समूह, अरण्य श्रेणियाँ, चराचर अनन्त प्राणी। २९०. यशोदा द्वारा यह सब दृष्य देखकर मुग्ध भावाविष्ट हो जाना २९१. श्रीकृष्ण द्वारा अपनी माँ के कपोल पकड़कर उसे बार-बार भावावेश से जगाने की चेष्टा करना २९२. माता के होश में आते ही नीलमणि का हँसकर उसकी गोद में आ जाना २९३. मैया का अपने लाल को देखकर घटना प्रवाह भूल जाना। २९४. आश्विन पूर्णिमा की रात्रि २९५. आम्रपंक्ति कदम्ब-श्रेणी चाँदनी से नहा रही है। पर्वतीय निर्झरों से अमृत झर रहा है। २९६. कूप तड़ाग दिव्य सुधा से पूर्ण हैं। २९७. मानो ब्रजभूमि नहीं, चिन्तामणियों का विशाल आस्तरण है। २९८. गोपसुन्दरियाँ नहीं, अगणित महालक्ष्मी भूतल पर अवतरित हैं। २९९. ब्रजवधुओं की वाणी संगीतमयी है ३००. इनका गमन नृत्यमय है। ३०१. आकाश चिन्मय है ३०२. चन्द्रोदय हो चुका है ३०३. चन्द्र ज्योत्स्ना चिदानन्दमयी सर्वत्र प्रसरित है ३०४. नन्दभवन में गगन-चुम्बी मणि सद्म हैं ३०५. गोपरामाओं से नन्दसदन भरा है। ३०६. आज रात्रिपर्यन्त नन्दसदन में श्रीनारायण का नाम-गुण-कीर्तन होगा। ३०७. श्रीकृष्ण के नेत्रों में आज निद्रा नहीं ३०८. गोपवधुओं के ढ़ोलक-मृदंग झाँझ वादन पर उनका नृत्य चल रहा है। ३०९. वे सर्वथा निरालस्य एवं चंचल हैं। ३१०. नव-नव नूतन अतिशय कमनीय बाल्यभंगिमाएँ उनके अंग-संचालन से प्रकट हो रही हैं। ३११. ब्रजतरुणियाँ श्रीकृष्ण के नृत्य पर प्राण न्यौछावर कर रही हैं

३१२. सहसा उनकी दृष्टि मंथन-गगरी में स्थिर हो जाती है। ३१३. गगरी में गगनस्थ चन्द्र प्रतिबिम्बित हो रहा है। ३१४. वे और समीप जाकर देखते हैं ३१५.यह ऐसी क्या अति सुन्दर वस्तु है ? वे मैया से जिज्ञासा करते हैं। ३१६. जननी मात्र पुत्र की ओर देखती है उसकी अतिभोली बात का प्रत्युत्तर नहीं दे पातीं। ३१७. श्रीकृष्ण जननी का अंचल पकड़कर पुनः पूछते हैं ! ३१८."मेरे लाल ! यह चन्द्र है।" माता हँसकर उत्तर देती हैं। ३१९. श्रीकृष्ण हर्ष से ताली पीटकर नाचने लगते हैं। ३२०. अब तो उनकी माँ से हठ भरी माँग प्रारंभ हो जाती है - "मैया तू गगरी से निकालकर इसे मेरे हाथों में रख दे।" ३२१. श्रीकृष्ण मचलकर रो रहे हैं ३२२. उपनन्दपत्नी प्रभावती एक उपाय करती हैं, वे भण्डार से छुपाकर एक नवनीत खण्ड लाकर चुपचाप गगरी में डालकर खड़ी हो जाती हैं। ३२३. मैया अंचल से पुत्र की आँखें पौंछती है और कहती है -"तू नहीं ही मानता तो ले तुझे चन्द्र दे देती हूँ।" ३२४. जननी आती है और नवनीत खण्ड निकालकर श्रीकृष्ण के हाथों में रख देती है। ३२५. आनन्द में निमग्न श्रीकृष्ण हाथ में नवनीत खण्ड लेकर गगरी की ओर देखते हैं। ३२६. ब्रजरमणियों की जिज्ञासावश निकट उपस्थिति में गगरी में चन्द्र-प्रतिबिम्ब उन्हें नहीं दिखता। ३२७. नवनीत-पिण्ड लेकर वे आँगन में दौड़ रहे हैं ३२८. चन्द्र गगरी से निकाल कर मैया ने मुझे दे दिया, वे बलराम जी को सूचना देते हैं। ३२९. बलराम सहित वे पुनः गगरी में झाँकते हैं। ३३०. इस बार गोपरमणियों द्वारा गगरी छोड़ दिये जाने से चन्द्र-प्रतिबिम्ब पुनः उन्हें दिखाई पड़ जाता है। ३३१. उनके पंकज-नयनों में रोष एवं मान-व्यथा भरी है। ३३२. वे भूमि पर लोट जाते हैं ३३३. हाथ पैर पटक कर करुण क्रन्दन करने लगते हैं। ३३४. रूठे हुए श्रीकृष्ण जननी की गोद में नहीं आना चाहते। ३३५. यशोदा समझाती है चन्द्रमा गगन में है, गगरी में नहीं है। ३३६. उन्हें प्रतीत होता है, चन्द्रमा दो हैं, एक गगरी में और एक गगन में। ३३७. यशोदाजी श्रीकृष्ण को समझाती हैं - चन्द्रमा तेरी बहू का मुख है। वह तुझे देखने आता है। तू आँगन में खेलता नाचता है तो वह आकाश से देखता है और तू गगरी में झाँकता है तो वह गगरी में आ जाता है ३३८. श्रीकृष्ण हँसने लगते हैं । ३३९. एक गोपी गा रही है -

मैं देख्यौ जसुदा के आँगन मम नयनन को तारो री।
ततछन प्रान पलट गये मेरे, तन-मन है गयौ कारो री।।
जल-थल-नभ-कानन के भीतर जहँ लौं दृष्टि पसारो री।

तित ही तित मेरे नयनन आगे निरतत नन्द दुलारो री।।
देखत आनि सँच्यौ उर अन्तर, दै पलकन कौ तारौ री।
मोहि भ्रम भयो सखी उर अपनैं चहुँ दिशि भयो उजियारो री।।
हौं उन माँहि कि वे मोहि महिंयाँ परत न देत सँभारौ री।
तरु में बीज कि बीज माँहि तरु, दुहुँ में एक न न्यारौ री।।

३४०.एक महिष के पृष्ठ देश में श्रीकृष्ण चढ़ रहे हैं। बलराम उसे भगाने से वर्जित करने के लिये पूँछ पकड़े हैं। ३४१. प्रज्ज्वलित अग्निशिखा को पकड़ने की दोनों चेष्टा कर रहे हैं। ३४२. एक श्वान श्रीकृष्ण के पास पूँछ हिलाता खड़ा है, वह श्रीकृष्ण के सम्मुख नतमस्तक है। ३४३. बलराम उसके गले से लिपटे हैं ३४४. श्रीकृष्ण उसकी मुख-जिह्वा खींचना चाहते हैं। ३४५. एक कृष्ण सर्प के सामने दोनों खड़े हैं। बलराम ने उसकी पूँछ खींची है ३४६. सर्प फण का विस्तार करके लपलपाने लगता है । ३४७. श्रीकृष्ण ने उसके फण पर अपना वरद-हस्त रख दिया है। ३४८. श्रीकृष्ण ने हाथ से उसे पकड़ लिया है, बच्चे ताली पीटकर हँस रहे हैं। ३४९. कृष्ण-राम गंभीर कूप के सम्मुख दोनों खड़े हैं। बँधी हुई बड़ी कलशी को कूप में फेंक कर दोनों भरी हुई कलसी खींचना चाह रहे हैं। भरी कलसी भारी हो जाने पर मैया को पुकार रहे हैं। ३५०. नन्द प्रांगण में आनन्दमत्त मयूर को नृत्य करता दोनों देख रहे हैं। ३५१. श्रीकृष्ण पीछे से जाकर धीरे से मयूर की ऊर्ध्व पुच्छ पकड़ लेते हैं। मयूर और अधिक आनन्द विभोर हो उठता है।

३५२. ब्रजपुर के प्रमुख गोपों के बालक प्रतिदिन श्रीकृष्ण के साथ खेलने आते हैं। ३५३. उनसे आवृत कृष्ण-बलराम नन्दोद्यान में खेल रहे हैं। ३५४. गोपबालक धूलि इकट्ठी कर रहे हैं। ३५५. श्रीकृष्ण ने भी धूलिस्तूप का निर्माण किया है। ३५६. पास में ही श्रीदाम भैया भी धूलिखण्ड से उत्तम निर्माण कार्य कर रहा है। ३५७. श्रीदाम का निर्माण श्रीकृष्ण से उत्कृष्ट है। ३५८. श्रीकृष्ण ने उसका निर्माण धीरे से जाकर बिखरा दिया है। ३५९. श्रीदाम ने श्रीकृष्ण की रचनाएँ मिटा दीं । बालक हँस रहे हैं। ३६०. श्रीकृष्ण रुआँसे हैं ३६१. वे पुनः धूलिस्तूप से भवन निर्माण करने लगे हैं। परन्तु उनसे भवने निर्मित हो नहीं पा रहा है। ३६२. वे क्रोध में हाथ-पैर पटक कर सब धूलि बिखेर देते हैं, और मृत्तिका खाने लगते हैं। ३६३. अग्रज बलराम उनके हाथ पकड़ लेते हैं। ३६४. बलराम डाँटते हैं-"मृत्तिका को उगल दे" परन्तु श्रीकृष्ण उनकी परवाह नहीं कर मृत्तिका

निगल जाते हैं। ३६५. बच्चे मैया यशोदा से शिकायत करने भागते हैं। ३६६. बलराम श्रीकृष्ण का हाथ पकड़ना चाहते हैं, परन्तु श्रीकृष्ण हाथ छुड़ाकर पुनः मिट्टी खाते हैं। ३६७. वे कुपित पर अवश हैं। ३६८. मैया श्रीकृष्ण के परिधान सहेज रही हैं ३६९. श्रीदाम के साथ पूरी मंडली द्वारा मिट्टी खाने की बात सुनकर मैया को रोष आ गया है। ३७०. वे कुपित हाथ में छड़ी लेकर नन्दोद्यान पहुँचती हैं ३७१. श्रीकृष्ण रूठे हुए किंचित कुपित बैठे हैं ३७२. मैया की छड़ी की ओर भयभीत शंकित देखते हैं ३७३. मैया के पूछने पर श्रीकृष्ण सर्वथा नकार देते हैं। ३७४. मैया मुख खोलने को कहती है। श्रीकृष्ण मुख खोल देते हैं। ३७५. मैया उनके मुख-विवर में पुनः सम्पूर्ण माया प्रपंच का दर्शन करती है। ३७६. वे श्रीकृष्ण का हाथ छोड़कर व्याकुल हो जाती हैं। ३७७. हाथ से छड़ी गिर जाती है, नारायण-नारायण उच्चारण करती मैया वहीं बैठ जाती हैं। ३७८. श्रीकृष्ण को गोद में उठाकर मैया नन्दगृह जा रही हैं। ३७९. मैया नारायण मन्दिर पहुँचती हैं। ३८०. नीलमणि को बैठाकर भगवान से नीलमणि की रक्षा के लिये प्रार्थना करती हैं। ३८१. द्वितीय दिवस मध्याह्न का काल है । एक वृद्धा गोपी फल की टोकरी लिये नन्दप्रासाद के राजद्वार पर खड़ी है। ३८२. वह विस्फारित नेत्र विस्मित नन्दभवन का वैभव देख रही है। ३८३. सहसा खेलते-खेलते श्रीकृष्ण राजद्वार पर खड़े हो जाते हैं। ३८४. वृद्धा जान गयी है कि ये ही नन्दतनय हैं। ३८५. उसकी विचित्र दशा है, उसका अंग-अंग काँप रहा है, आंखें झर-झर बरस रही है, मुख से वह नन्द नन्दन को अपने पास बुलाना चाहती है पर बोल नहीं सकती। उसकी वाक् शक्ति लुप्त है। ३८६. श्रीकृष्ण के पग के नूपुर रुनझुन-रुनझुन बजते हैं। वे सशंकित चारों ओर दृष्टि घुमाकर देखते जाते हैं कि कोई उन्हें बाहर जाते देख तो नहीं रहा है। ३८७. वे फलवाली के समीप पहुँच जाते हैं। ३८८. उनको अपने सम्मुख अति पास में पाकर आनन्द-विगलित उसके आँसू बह उठते हैं। ३८९. सहसा उसकी वाक्शक्ति जाग्रत हो जाती है, वह बोल उठती है - "फल लोगे ?" ३९०. स्वीकृति में श्रीकृष्ण का सिर हिल जाता है । उनकी कृष्ण-कुन्तल-राशि-आवृत-मुख की कैसी विलक्षण शोभा है ? ३९१. फल विक्रयिणी श्रीकृष्ण-मुख-सौन्दर्य देखकर पगली हो जाती है। ३९२. भावाविष्ट हुई वह प्रमत्त सी फल की टोकरी लेकर चल पड़ती है। ३९३. उसकी आँखे श्रीकृष्ण की आँखों से जुडी हैं। ३९४. 'अरी मैं फल लूँगा' एक परम मधुर आवाज उसे सुनाई पडती है

३९५. फलविक्रयिणी के प्राणों में दिव्यातिदिव्य मधु की धारा बह उठती है। उसके कान उस मधुरतम शब्दावली के अमृत से भर उठते हैं। ३९६. पुनः शब्द आता है - 'री मैं फल लूँगा री, फल। ३९७. फल-विक्रयिणी लौट आती है। ३९८. वह नन्दनन्दन को विक्षिप्त सी आँखे फाड़-फाड़ देखे जाती है। ३९९. वह बोलती है - "फल लोगे ?" "लो", परन्तु इन फलों का मूल्य क्या दोगे ? ४००. श्रीकृष्ण पुनः उत्तर देते हैं - "मूल्य किसे कहते हैं ? तू तो सबसे ज्यादा पगली है, मुझे तो मैया रोज मक्खन, मलाई, आभूषण, वस्त्र, खेलने के खिलौने देती है, परन्तु कभी मूल्य नहीं माँगती। गोपियाँ भी बहुत वस्तु देती हैं, परन्तु कभी मूल्य की बात ही नहीं करतीं ?" ४०१. फलविक्रयिणी के नेत्र झर रहे हैं वह कुछ भी बोल नहीं पाती। उसकी विचित्र दशा है। ४०२. श्रीकृष्ण विचार कर रहे हैं। ४०३. उन्हें यही समझ में आता है यह मूल्य के लिये रो रही है। ४०४. वे अन्न-भण्डार की ओर दौड़ लगाते हैं - दोनों हाथ की अंजलि में नाज भरते हैं और दौड़े-दौड़े पुनः वापस आते हैं। ४०५. "ले, यह मूल्य।" वे अपनी अंजलि का अवशेष अन्न उसकी टोकरी में गिरा देते हैं। ४०६. शीघ्रता से आँगन से दौड़कर आने में अनकी अंजलि का अधिकांश अन्न तो राह में ही बिखर जाता है। ४०७. "री, मुझे अब सारा फल दे दे, ये मैं तेरे सभी फल लूँगा, सबके सब ले लूँगा।" वे पुनः बोल उठते हैं। "अब तो तेरे सब फलों का मूल्य मिल गया ?" वे उसे पुनः रोती पाकर पूछते हैं। ४०८. फल विक्रयिणी श्रीकृष्ण से पूछ बैठती है -"क्या मेरे सारे फलों का मूल्य मात्र एक धान्य का दाना है ? फल विक्रयिणी की टोकरी में तो श्रीकृष्ण की अञ्जलि का धान्य का मात्र एक दाना ही गिरा था। शेष तो उनके दौड़ कर आने से राह में ही बिखर गया था। ४०९. वे घूमकर राह में बिखरे धान्य को देखते हैं। फिर कहते हैं -"देख ! आज तो इतना ही ले ले, अब बार-बार जाने से मैया देख लेगी। फिर कभी आयेगी तो और धान्य दे दूँगा।" ४१०. फलविक्रयिणी की वाणी मुखर हो उठी थी - "नन्दनन्दन ! मेरे जीवन में दूसरा दिवस होगा, तब तो आऊँगी। गद्‌गद् कण्ठ को किसी प्रकार उसने स्वच्छ किया फिर बोली -"नन्द लाड़िले ! कर्मों के फलस्वरूप विधाता ने मुझे चाण्डालिनी बनाया। गोपियों की तरह मैं तुझे गोद में उठा नहीं सकती, तुम्हें प्यार नहीं कर सकती। तू मुझे मैया कहकर गोद में आ नहीं सकता। इस जीवन में अब यह अधिकार मिलने का भी नहीं। कदाचित् जीवन के उस पार - फलवाली का कण्ठ रुद्ध हो गया था।

४११. तत्काल श्रीकृष्ण बोल उठे "अच्छा री, सुनती है ? यह बता यदि मैं तेरी गोद में चढ़ जाऊँ और तुझे माँ कह दूँ तो तू मुझे बिना मूल्य लिये फल दे देगी ?" ४१२. फल विक्रयिणी की गरदन स्वीकृति प्रदान करती हिल जाती है। ४१३. श्रीकृष्ण एक बार इधर-उधर देखते हैं - फिर भुजा उठाकर लपक कर उसकी गोद में आ जाते हैं और उसके नेत्रों से बहते अश्रु अपनी हथेलियों से पौंछकर, उसकी ठोड़ी उठाकर उसे 'माँ' ! कह देते हैं तथा ..... फिर कहते हैं, "माँ ! अब तो फल दे दे ।" ४१४. फल विक्रयिणी अनन्त-कालीन परमानन्द समाधि में विलीन हो जाती है। ४१५. फल-विक्रयिणी उठती है। वह श्रीकृष्ण की अञ्जलि में टोकरी के सब फल रख देती है।

४१६. श्रीकृष्ण उसे आश्वस्त करते हैं - "नहीं, नहीं, तू चिन्तित मत हो, क्या मेरी अञ्जलि से धान गिर गये, इसलिये फल भी गिर जायेंगे ? इन सभी फलों को मैं खाऊँगा।"

४१७. फल-विक्रयिणी उन्मत्त पागल सी खाली टोकरी सिर पर रखकर जा रही है। एक सरोवर के तट पर टोकरी उतारती है। उसमें देखती है दिव्य रत्न लबालब भरे हैं। वह रत्नों को टटोलती है। फिर रत्नसहित टोकरी को सरोवर के अगाध जल में फेंक देती है।

निकटवर्ती गहन वन में प्रवेश कर जाती है।

४१८. यशोदा मैया श्रीकृष्ण को अञ्जलि भर फल लाते देखकर पूछती हैं- "लाल मेरे ! ये इतने फल कहां से लाया रे ?"

४१९. श्रीकृष्ण उत्तर देते हैं - "किसी बहुत ही भली फलवाली ने धान्य लेकर मुझे सब फल दे दिये हैं।" ४२०. दासियाँ जो इस सब लीला को छुप कर देखती हैं, हँस पड़ती हैं। कहती हैं - "मैया ! तेरे लाला को छूना मत, इसे नहलाना। यह चाण्डालिनी की गोद में चढ़ा है और उसे 'माँ' कह कर फल लाया है।"

४२१. यशोदा मैया की आँखों में आँसू आ गये हैं। वह अपने लाल को प्यार करती भीतर ले जाती हैं।

४२२. समस्त ब्रजपुर अरुणोदय से रंजित है ४२३. आम्र प्रशाखाओं में छिपी कोकिल कुहू-कुहू स्वर भर रही है। ४२४. अन्य विहंगमों का कलरव बहुत ही मधुर राग का सृजन कर रहा है। ४२५. गोप सुन्दरियों का कल गान, गौओं की हम्मारव से व्रजपुरी मुखरित है। ४२६. व्रजेश्वर श्रीकृष्ण को

देखने शयन गृह आ गये ४२७. मैया यशोदा अपने नीलमणि को जगाने में तन्मय है। ४२८. श्रीकृष्ण मुख पर दुकूल डालकर और सोने की जिद कर रहे हैं। ४२९. व्रजराज को आया देख श्रीकृष्ण "बाबा" कहकर मुख से दुकूल हटा देते हैं। ४३०. एक अदभुत आलोकमाला से शयनागार उद्भासित हो उठता है। ४३१. नन्द-दम्पति हर्ष से खिल उठते हैं ४३२. ब्रजेश निर्निमेष नेत्रों से पुत्र की ओर देखते हैं। ४३३. ब्रजरानी और ब्रजेश श्रीकृष्ण का मुख चुम्बन कर उनके अस्तव्यस्त केशों को ठीक करती हैं। ४३४. कनकझारी से सुगन्धित जल लेकर मुख प्रक्षालन करती हैं। ४३५. फिर कलेवा कराती हैं।

कमल नैन हरि करौ कलेवा।
माखन रोटी सद्य जम्यौ दधि भाँति-भाँति के मेवा।।
खारक (सूखा खजूर) दाख, चिरौंजी, किसमिस, उज्जल गरी, बदाम।
सफरी(अमरूद) सेव, छुहारे, पिस्ता, जे तरबूजा नाम।।
अरु मेवा बहु भाँति-भाँति हैं षटरस के मिष्टान्न।
सूरदास प्रभु करत कलेवा, रीझे स्याम सुजान।।

४३६. मुख धोये बिना ही श्रीकृष्ण जननी की गोद से भाग चलते हैं। ४३७. सम्मुख द्वार पर नन्दबाबा खड़े हैं। वे दूसरे द्वार से निकलकर कुछ ही दूर पर स्थित अपनी सखामंडली में जा मिलते हैं। ४३८. मंडली बलरामजी को अगुआ करके तमालवन में एकत्र हो गयी है। ४३९. वहाँ वे गेंद से खेलते हैं। ४४०. गेंद उद्यान के सरोवर में गिर जाती है। ४४१. श्रीकृष्ण मैया से दूसरी गेंद लेने दौड़ पड़ते हैं। ४४२. मैया को श्रीकृष्ण का क्षणभर का अदर्शन आकुल-व्याकुल कर देता है। सहस्त्रों अनिष्ट आशंकाओं से वे घिर जाती हैं। इस ध्वनि से मैया के हृदय में अमृत की धारा बह चलती है। वे नीलमणि को हृदय से लगाकर पुन: पुन: प्यार करती हैं। ४४३. दूसरी गेंद पाकर श्रीकृष्ण पुन: खेलने दौड़ पड़ते हैं। ४४४. मैया बाहर आकर देखती हैं - तमाल वन में श्रीकृष्ण, वृषभ, जम्बी, देवप्रस्थ, वरूथप आदि वयस्यों से सुरक्षित बलराम, श्रीदाम, सुदाम, वसुदाम, दाम, सुबल, मंगल, मधुमंगल सुमंगल आदि सखाओं के साथ खेल रहे हैं।

४४५. देखते-देखते जननी के स्तनों में दूध भर आया है। ४४६. माता श्रीकृष्ण को पुकारती हैं। ४४७. वे श्रीकृष्ण को दौड़कर पकड़ती हैं।

४४८. जननी एक बार वन की ओर देखती हैं, फिर नन्दभवन के शिखर के ऊपर अवस्थित कलश की ओर। ४४९. जननी मन ही मन काँप उठती हैं। सोचती हैं इसे इतनी दूर खेलने जाने से किसी प्रकार रोकना ही है। ४५०. वे भय की मुद्रा बनाकर कहती हैं -

दूरि खेलनि जनि जाहु लाल मेरे वन में आये हाऊ।

४५१. श्रीकृष्ण 'हाऊ' की बात सुनकर हँस पड़ते हैं। ४५२. मैया हाऊ की विभीषिका का वर्णन करती हैं। ४५३. श्रीकृष्ण बड़े ध्यान से सुनते हैं। ४५४. मैया कहती - अब लाल ! शीघ्र अपने घर को चले चलें। ४५५. श्रीकृष्ण-बलराम को पुकारते हैं। ४५६. बलरामजी भी आ जाते हैं। ४५७. दोनों मैया से, हाऊ की बात सुनते हुए उसकी अँगुली पकड़े घर को चल पड़ते हैं। ४५८. सहसा बलराम के मुख पर विचित्र तेज आ जाता है। एक विचित्र सी हँसी उनके मुख पर छा जाती है। वे बोलने लगते हैं -

"चारि वेद लै गयो शंखासुर जल में रह्यौ लुकाऊ।
मीनरूप धरि कैं जब मार्‌यौ तबहिं रहे कहँ हाऊ।।
मथि समुद्र सुर-असुरन के हित, मंदर जलधि धसाऊ।
कमठ रूप धरि धर्यो पीठ पर, तहाँ न देखे हाऊ।।
जब हिरनाच्छ युद्ध अभिलाष्यौ, मन में अति गरवाऊ।
धरि बाराह रूप सो मार्यो लै छिति दंत अगाऊ।।
विकट रूप अवतार धर्यो जब, सो प्रलाद बचाऊ।
हिरन कसिपु-वपु नखनि बिदार्यो, तहाँ न देखे हाऊ।।
वामन रूप धर्यो बलि छलि कैं, तीनि पगन वसुधाऊ।
स्रम जल ब्रह्म कमंडलु राख्यौ, दरसि चरन परसाऊ।।
मार्यो मुनि बिनहीं अपराधहिं, कामधेनु ले आऊ।
इक्किस बार निछत्र करी छिति, तहाँ न देखे हाऊ।।
राम रूप रावन जब मार्यो दस सिर बीस भुजाऊ।
लंक जराइ छार जब कीनी, तहाँ न देखे हाऊ।।
भक्त हेत अवतार धरे, सब असुरनि मार बहाऊ।
सूरदास प्रभु की यह लीला निगमनेति नित गाऊ।।

इस प्रकार आवेश में बलराम जी बोलते जाते हैं।

४५९. जननी हँसकर बलराम का मुख पौंछकर कहती हैं - "अरे बेटा तू तो बहुत बड़ी बड़ी बातें सीख गया रे। ४६०. बायीं ओर श्रीकृष्ण दाहिनी ओर बलराम जननी की अँगुली पकड़े घर पहुँचते हैं। ४६१. जननी उन्हें अन्तर्गृह में ले जाती हैं, दोनों के हाथों में सुन्दर सुपक्व बेसन और गेहूँ मिश्रित मिस्सी रोटी और एक एक उज्ज्वल नवनीत पिण्ड रख दिया है। ४६२. बलराम रोटी पाते ही हँसते हुए रोहिणी जी के पास भाग जाते हैं। ४६३. श्रीकृष्ण की विकसित अरविन्द जैसी हथेली पर माखन-मण्डित-रोटी की शोभा विलक्षण है। ४६४. अपने अम्बुजकोष-सदृश-मुख को खोलकर धीरे-धीरे माखन-रोटी वे मुख के भीतर ले जाते हैं, तथा उल्लास भरे नेत्रों से जननी की ओर देखते हैं। ४६५. इतने में नन्दरायजी आ जाते हैं। श्रीकृष्ण रोटी को आधी खायी छोड़ बिना मुख धोये बाबा की धोती से लिपट जाते हैं, कहते हैं - "बाबा, तुमने अभी तक कलेवा किया ही नहीं और मैं दो बार माखन खा आया। क्या तुम्हें भूख नहीं लगती ? ४६६. श्रीकृष्णचन्द्र नृत्य करके अपने बाबा को रिझा रहे हैं। ४६७. श्रीकृष्ण के नग्न-नील-अंगों से ज्योति झर रही है। वन्धूकवर्ण अधरों पर हास्य है। जननी के द्वारा स्नेह से सँवारी चोटी पर हाथ रखकर उल्लास में भरे वे समस्त अंगों से थिरक-थिरक नाच रहे हैं। ४६८. श्रीकृष्ण के अधरों से सुधासिक्त रोटी के उस टूक को एक भाग्यवान् काग खा रहा है। नवनीत खंड उससे खाया नहीं जा रहा है, उसका सम्पूर्ण मुख धवल हो गया है। वह रोटी लेकर उड़ता है, नवनीत खंड पुन: धरा पर गिर जाता है। एक वानर उसे उठाकर खाता है।

४६९. एक ग्वालिन प्रत्याशा लगाये हुए है, व्रजरानी उसे कोई गृहकार्य बतावें जिससे वह श्रीकृष्णचन्द्र का मुख कुछ काल तक और देखती रह पावे।

४७०. नन्दरानी उसे खड़ी देखकर कहती हैं -

पाहुनी कर दै तनिक मह्यौ।
हौं लागी गृहकाज रसोई यशुमति विनय कह्यौ
आरि करत मनमोहन मेरो अंचलि आनि गह्यौ

४७१. अब तो उसके आनन्द का पार नहीं है। आनन्द में निमग्न वह मथानी की ओर चली। ४७२. उसकी दृष्टि तो यशोदा के अंक में विराजित श्रीकृष्ण को एकटक देख रही है। अत: मथानी से उसके पैर टकरा जाते हैं।

४७३. नेत्र श्रीकृष्ण के रूप पर ऐसे लुब्ध हैं कि दधि की मटकी का पूरी तरह उलट जाना, दधि का बह जाना उसे कुछ भी ध्यान नहीं है। ४७४. वह तो देख रही है -- कुञ्चित-केश-कलाप, ललाट का वह केसर-बिन्दु, रतनारे चंचलनयन, सुढार युग्म-कपोल, अरुणिम अधर, कठुला-भूषित कम्बुकण्ठ, व्याघ्र-नख-राजित वक्षस्थल, सुन्दर नाभिकमल, किंकिणी-भूषित कटि देश, सुकोमल छोटे बाहु-युगल, हस्तकमल, सुन्दर मनोहर जानु, गुल्फ, चरण-तल, मथानी को देख सकें नयनों में इतना अवकाश ही नहीं था।

४७५. मथानी के पास अनुमान से जा पहुँची, देख नहीं पायी, चरणों से दधिपात्र उलटा हो गया, दही-धारा बह चली। ४७६. अभी भी वह इतना ही समझी मटका मात्र तिरछा हुआ है उसमें दधि ज्यों-का-त्यों है। ४७७. नेत्र तो वहीं उसी शोभा में विजड़ित हैं। ४७८. अत: अनुमान से ही मटका सीधा कर वह बिलोना प्रारंभ कर देती है। ४७९. प्रेम-विवश ग्वालिन यह नहीं जानती कि रीते पात्र में ही मन्थन दण्ड चल रहा है, दही तो बाहर बह गया है। ४८०. श्रीकृष्णचन्द्र माता की गोद में स्तन पीना छोड़कर ग्वालिन की प्रेम दशा देख रहे हैं। वे हँसकर जननी को ग्वालिन की दशा दिखाते हैं। ४८१. जननी देखकर कहती है - "हैं ! माखन कहां से निकलेगा, दधि तो बह गया ? री पगली ! नैकु अपने कौं सँभार। अब तो ग्वालिन को दधिपात्र की वास्तविकता का पता चलता है। ४८२. वह बहुत संकोच में पड़ती है कि उससे यशोदारानी का इतना दधि विनष्ट हो गया, एवं यशोदा संकोच करती है कि उसकी मेरे लाला से लगी प्रेम-समाधि में उसने व्यवधान उपस्थित कर दिया। ४८३. दूसरे दिन वह ग्वालिन पुन: आई है। आज मैया श्रीकृष्ण को कजरी गैया का दूध पिलाना चाह रही है। श्रीकृष्ण हठ कर बैठे हैं, दूध पीते नहीं। ४८४. जननी की बुद्धि में एक आकर्षक उपाय उपजता है। वे कहती हैं --

कजरी को पय पियहु लाल मेरे जासौं बेनि बढै।

४८५. इस प्रलोभन में श्रीकृष्ण आ जाते हैं। ४८६. कजरी का दूध पीने से मेरी चोटी बढ़ जायेगी इस उल्लास में वे दूध पीने लग जाते हैं। परन्तु साथ ही साथ वे अपनी चोटी पर हाथ रखकर तत्क्षण ही बेनी बढ़ने का अनुभव करना चाह रहे हैं। ४८७.जब बेनी बढ़ी नहीं दिखती, उतनी ही समझ में आती है तो उस समय उनके आनन-सरोज पर विविध भाव-लहरियों

की शोभा देखते ही बनती है। ४८८. पराजय का रोष, भविष्य में कभी दूध नहीं पीने का रोषमूलक निश्चय, जननी के प्रति अविश्वास, दुग्धपान-जन्य स्वाभाविक तृप्ति सब भाव एक साथ उनके कमनीय मुख पर व्यक्त हो रहे हैं। ४८९. अपने को सर्वथा विस्मृत किये ग्वालिन श्रीकृष्ण की मुख-शोभा-पान करने में पूर्णतया निरत है। ४९०. जननी से रूठे हुए श्रीकृष्ण उधर उससे टकरा जाते हैं। ४९१. वह पूर्णतया बाह्य-ज्ञान शून्य हो गयी। पूरे आठपहर वह प्रस्तर प्रतिमा बनी रहती है। ४९२. आज तीसरे दिवस वह पुन: आयी है। मैया विविध पक्वान्नों से भरी थाली लिये अपने कन्हैया को खिलाना चाह रही है। ४९३. गोपसुन्दरी श्यामसुन्दर के ठीक पीछे खड़ी उनके मधुर वचनामृत सुनकर मत्त हो जा रही है। ४९४. श्रीकृष्ण कह रहे हैं -

"मैया री मोहि माखन भावै
"जो मेवा पक्वान्न कहति तू, मोहि नहीं रुचि आवै।"

४९५. इस मत्तता के आवेश-वश उसके मन में एक संकल्प जाग उठता है। क्या ऐसा संभव है कि मेरे घर में मैं दधिमंथन करके छुप जाऊँ और श्रीकृष्ण मेरे घर आकर निस्संकोच मेरे घर का नवनीत रुचि भर खावैं। मेरे नेत्रों की यह साध कभी पूरी होगी क्या ? "सूरदास प्रभु अन्तरजामी ग्वालिनी मन की जानी" ४९६.ग्वालिन नन्दभवन से लौटकर अपने घर पहुँची। ४९७. यंत्रचालित से उसके हाथ दधिमंथन कर रहे हैं। ४९८. रह-रहकर वह द्वार की ओर देखती है, उसे श्रीकृष्ण की उपस्थिति का सन्देह होता है। ४९९. वाञ्छाकल्पतरु ब्रजेन्द्रनन्दन वास्तव में ही उसके घर की ओर चल पड़े हैं ५००. गोपसुन्दरी के नन्दभवन से लौटते ही श्रीकृष्ण मैयायशोदा की गोद से भाग चले थे। ५०१. क्षणभर का भी विलम्ब आज उन्हें असह्य हो रहा है। **"गये श्याम तिहिं ग्वालिन के घर देख्यौ नहीं कोउ इत उत !!"** श्रीकृष्ण आज सर्वथा एकाकी ग्वालिनि के घर आये हैं। ५०२. ग्वालिन चकित है। "सचमुच ही श्रीकृष्ण मेरे द्वार पर खड़े हैं" - ग्वालिनि विद्युद्गति से मणिखंभ की ओट में अपने को छुपा लेती है। ५०३. श्रीकृष्ण चुपचाप भीतर प्रवेश कर जाते हैं। ५०४. ओह ! उनकी अतुलित शोभा उस समय कैसी है ?

मुख पर चन्द डारौं वारि।
कुटिल कच पर भ्रमर वारौं, भौंह पर धनुवारि।
भाल केसर तिलक छबि पर मदन सत-सत वारि।।

५०५. श्रीकृष्णचन्द्र ग्वालिन के मनोरथ को पूर्ण करने की लीला कर रहे हैं। पास ही नवनीत पूर्ण पात्र पड़ा है। वे पात्र में से माखन निकाल-निकाल कर खाने लग जाते है। ५०६. मणिस्तंभ में उन्हें अपना प्रतिबिम्ब दिखता है। ५०७. उन्हें लगता है जैसे एक अन्य शिशु भी उनके साथ चला आया है। ५०८. वे उससे वार्तालाप करते है - "भैया तू किसी से कुछ कहना मत ! हम लोग साथी हैं। यह ले तू भी खा।" श्रीकृष्ण प्रतिबिम्ब के मुख पर नवनीत का लौदा ड़ालते हैं। परन्तु लौंदा गिर जाता है। "नहीं, नहीं, यह तो उचित नहीं, तूने यह मक्खन गिरा क्यों दिया ? क्या सभी अकेला लेना चाहता है। नहीं यह नहीं हो सकता। तुझे अधिक से अधिक एक कमौरी दे सकता हूँ।" ५०९. नन्दनन्दन की मुग्ध चेष्टा देखकर ग्वालिन जोर से हँस उठती है। ५१०. श्रीकृष्ण चन्द्र ग्वालिन को देख लेते हैं। एक अप्रतिम सुमधुर संकोच की छाया नन्दनन्दन के मुखचन्द्र को आवृत कर लेती है ५११. वे तुरन्त वहाँ से कुंज वीथी की ओर भाग चलते हैं। ५१२. बडभागिनी गोपसुन्दरी आनन्दातिरेक वश बाह्यज्ञानशून्य आत्मविस्मृत है। उसकी अद्‌भुत विचित्र दशा देखकर अन्य गोपसुन्दरियाँ चकित हो रही हैं।

गुरु प्राप्ति की चिन्ता

पू० गुरुदेव का तीन लाख प्रतिदिन नामजप चल ही रहा था, साथ ही वे इस प्रकार पाँच हजार वाक्यों में अपने मन को दौड़ाते हुए श्रीमद्‌भागवद्‌गीता में वर्णित श्रीकृष्णलीलाओं में मन उलझाने लगे। लीलाएँ पू. गुरुदेव के सम्मुख ज्यों-ज्यों मूर्त होने लगीं, त्यों-त्यों पू. गुरुदेव श्रीकृष्ण को सुखी करने वाले प्रेम को प्राप्त करने को व्याकुल रहने लगे।

वे चिन्तित रहते कि उनके हृदय में इस रसमय प्रेम का बीज कैसे पड़े ? उन्हें ऐसे प्रेमीजन कहाँ से मिलें जिनके संग के मधुमय परम निर्मल भावरस से यह प्रेम सींचा जाता है। प्रेमीजनों की प्रेम-चर्चा रूपी अनुकूल हवा पाकर वह फिर बीज रूप में नहीं रहकर अंकुरित होता है। उन्हीं के निरापद सत्संग में वह पल्लवित होता है, पुष्पित होता है। तदनन्तर अपने प्राणवल्लभ प्रियतम नीलसुन्दर को यह मीठा प्रेमफल प्रदान करता है। इस फल से प्रियतम को परम आनन्द की प्राप्ति होती है। फिर श्रीकृष्ण के मन में इस मीठे फ़ल को परिमाणरहित रूप में पाने की लालसा बढ़ती ही जाती है, एवं वे

उस मधुर फल के प्रदाता रस-समुद्र अपने प्रेमास्पद को पलभर के लिये भी नहीं त्यागते। वे गंभीर विचार में पड़ जाते - "श्री चैतन्य महाप्रभु जैसा महा प्रेमी रससिद्ध सन्त इस धरातल में क्या आज है ? फिर वह मुझे कैसे प्राप्त होगा ? क्या मुझे वह गुरु रूप में प्राप्त हो सकेगा ? क्या वह मुझे अपनायेगा? यह राधातत्व क्या है ? श्रीवृन्दावन का स्वरूप क्या है ? कुंज-निकुंज कैसे हैं ? गिरिराज पर्वत का वास्तव में चिन्मय स्वरूप कैसा दिव्य है ? मेरा गोपी शरीर क्या है ? उसका नाम क्या है ? मेरे भाव-शरीर के माता-पिता कौन हैं ? मेरी सखियाँ कौन-कौन हैं ? श्री राधाकृष्ण की सरस उपासना की पद्धति क्या है ? मैं किसकी सन्निधि में अष्टयाम सेवा करूँ। मेरी सेवा का स्वरूप क्या हो ? मेरे लीला-चिन्तन का शास्त्रीय आधार क्या हो ?

यह सत्य है - सर्वातीत, सर्वमय, सब लोकों के एकमात्र आधार, सबके नियन्ता ईश्वर श्रीकृष्ण मेरे दृष्टिपथ में रहते हैं। वे एक पल के लिये भी मुझे छोड़ते नहीं हैं। वे अवश्य मेरी इन समस्याओं का भी कोई समाधान अवश्य ढूँढ़े हुए हैं। वे स्वयं ही परम प्रेमस्वरूप गुरुदेव के रूप में मेरे सम्मुख अवश्यमेव प्रकट होंगे। परन्तु वह कृपा का शुभ दिन कब होगा ?

पू. गुरुदेव की उन दिनों जब से वे कलकत्ते में यावज्जीवन पोद्दार महाराज के संग का निर्णय करके उनके ही साथ-साथ गोरखपुर रहने आ गये थे, उपर्लिखित गंभीर समस्यायें थीं।

यहाँ एक प्रश्न विचारणीय है कि क्या किसी भगवत्प्राप्त व्यक्ति को भी किसी साधना के लिये भगवान् के अतिरिक्त किसी अन्य गुरु की आवश्यकता होती है ? जब स्वयं भगवान श्रीकृष्ण के उनको अखण्ड अष्टयाम दर्शन होते थे, तो फिर उन्हें अन्य किसी भी गुरु की क्या आवश्यकता थी ? यह पहला प्रश्न होता है।

दूसरा प्रश्न है - श्रीपोद्दार महाराज ने पू. गुरुदेव को उनका चरण स्पर्श करके शक्तिपात द्वारा उन्हें सगुण साकार भगवान के दर्शन करवा दिये थे। इन भगवान् ने गीता के १८ वें अध्याय के 'यः इमं परमं गुह्यं'' श्लोक की नवीन व्याख्या करके यह भी सिद्ध कर दिया था कि वे ही परात्पर परब्रह्म की प्रतिष्ठा-साधना के सर्वोच्च पद हैं, वे ही ईश्वरों के महेश्वर एवं सबकी चरम एवं परम गति हैं। ये ही ब्रह्म, रुद्र, शुक, नारद, भीष्म, सनकादि के परम वन्दित चरण हैं ; तब पू. गुरुदेव के श्रीपोद्दार महाराज तो गुरु बन ही गये थे,

फिर किसी अन्य गुरु की दीक्षा की क्या आवश्यकता शेष रही थी ? ये यहाँ दो प्रश्न विचारणीय हैं।

वास्तव में तत्वतः श्री राधा एवं श्रीकृष्ण दो तत्व नहीं हैं। एक ही हैं, परन्तु फिर भी प्रेमभाव की साधना में आश्रय और विषय दो तट प्रत्यक्ष परिलक्षित होते हैं। प्रेमभाव की 'आश्रय' हैं श्री राधारानी एवं इसी प्रीतिभाव के विषय 'श्रीकृष्ण' हैं। प्रीतिभाव की 'आश्रय' श्री राधारानी की ही कायव्यूहरूपा गोपियाँ एवं मंजरियाँ है। अतः निकुञ्जलीला में प्रवेश कराके गोपी भावापन्न अथवा मंजरी भावापन्न होने की योग्यता श्रीराधारानी की ही कृपा से संभव है। निकुञ्जलीला का यही सौरभ है कि यहाँ स्वयं रसराज श्रीकृष्ण भी बिना गोपियों की आज्ञा के, उनकी अनुमति के बिना, उनकी प्रीति लाभ किये बिना प्रवेश नहीं कर सकते, फिर अन्य जीव की गति ही कैसे संभव है।

इसीलिये इस निकुंज साधना में याज्ञवल्क्यादि, दुर्वासादि एवं सनकादि की भी गति नहीं है। इस महादुर्लभ रस में इनका प्रवेश ही नहीं हैं। याज्ञवल्क्य एवं सनकादि नित्य परमपूज्य एवं वन्दनीय हैं। परन्तु उनका क्षेत्र दूसरा है महाभाव रसराज का वक्र आनन्द, उच्छलित आनन्द उनके लिये दुष्प्राप्य ही है। वक्र शब्द जहाँ व्रजरस की गति की ओर संकेत करता है वहाँ उच्छलित शब्द उसके उद्वेलन को लेकर है। यह विचित्र रस उन ऋषि मुनियों की परिधि के परे की वस्तु है।

श्रीचैतन्य महाप्रभु की कोटि के रससिद्ध सन्त तो स्वयं श्रीराधारानी के स्वरूप ही होते हैं। वैसे प्रायः उच्च कोटि के रससिद्ध संत किसी उच्च महाभावापन्न सखी अथवा मंजरी के प्रतिनिधि रूप होते हैं। ऐसी गोपी भावापन्ना किसी सन्त से दीक्षा हुए बिना निकुञ्जलीला में प्रवेश प्रायः होता नहीं है। यह रस की अनादि सिद्ध परिपाटी है। श्रीपोद्दार महाराज ऐसे ही बहुत ही उच्च कोटि के रससिद्ध सन्त थे। उन्होंने निर्गुण निराकार मत के परमाग्रही पू. गुरुदेव को चरण स्पर्श करके सगुण साकारवादी बना दिया था। उन्हें साक्षात् सगुण-साकार वृन्दावनेश्वर के दर्शन कराये, परन्तु यह कृपा उन्होंने अपने सिद्ध सन्तस्वरूप से ही की थी। यहाँ उन्होंने अपने महाभाव-मय रससिद्ध राधाभाव भावित स्वरूप को संगुप्त ही रखा था, क्योंकि राधाभाव की विलक्षण अति उच्च प्रीतिस्थिति को प्राप्त करने के पू. गुरुदेव उस समय सर्वथा अनधिकारी थे। वे तो रासलीला आदि श्रीमद्भागवद्गीता के

प्रसंगों को प्रक्षिप्त मानते थे, उनकी मखौल उड़ाया करते थे। अतः कृपाशक्ति ने उन्हें मात्र वृन्दावनेश्वर श्री कृष्ण के, कदम्बवृक्ष के नीचे स्थित रूप के ही दर्शन पाने का अधिकारी माना था।

अब उनकी उत्कट जिज्ञासा भक्तिलीला बीज को प्राप्त करने की हो रही थी। यथार्थतः यही तथ्य है कि श्रीकृष्ण दर्शन तो सुलभ है, वे तो असुरों, दुर्योधनादि कृष्णद्वेषी जनों को भी दर्शन दे देते हैं, परन्तु भक्तिलीला का बीज तो उद्धवादि श्रीकृष्ण के अन्तरंग सखाओं को भी गोपियों की चरणधूलि की कृपा से ही मिल सकता है। श्रीकृष्ण भगवान स्वयं भी किसी को अपना प्रेम नहीं दे सकते। भगवान श्रीकृष्ण को भी अपना प्रेम देने के लिये राधा रूप ही ग्रहण करना पड़ता है अतः जबतक पू. गुरुदेव श्रीपोद्दार महाराज के सखी स्वरूपा सिद्धदेह से सम्पर्कित नहीं होते उनका निकुंजलीला में प्रवेश असंभव था।

श्री मन्महाप्रभु ने श्री सनातनगोस्वामीपाद को शिक्षा देते हुए मध्यलीला के बाईसवें परिच्छेद के ४८ वें पयार छन्द में कहा है - "कृष्ण भक्ति जन्म मूल हय साधु-संग' यहाँ साधु का अर्थ गोपीभावापन्न किसी रससिद्ध सन्त से ही है।

श्रीमन्महाप्रभु श्री रूपशिक्षा में भी कहते हैं -

ब्रह्माण्ड भ्रमिते कोन भाग्यवान् जीव
गुरु-कृष्ण-प्रसादे पाये भक्तिलता बीज ।।१३।।

यह भक्तिबीज महत्कृपा से ही प्राप्त हो सकता है। यहाँ केवल कृष्णकृपा उन्होंने नहीं कहा वरं 'कृष्णप्रिया' का ही वाचक यहां 'गुरु' शब्द है। कृष्ण-प्रिया गोपीजन एवं श्री राधारानी ही प्रीतिभक्ति का बीज प्रदान कर सकती हैं - यही तात्पर्य है।

'प्रेम' कृष्णेन्द्रिय-प्रीति-इच्छा का नाम है। कृष्णसुखैकतात्पर्यमयी सेवा के द्वारा श्रीकृष्ण को सुखी करने की जो इच्छा है, उसका ही नाम प्रेम है। वस्तुतः जीव के प्राकृत चित्त में ऐसी इच्छा स्वतः उदय कदापि नहीं हो सकती। साधनभक्ति का अनुष्ठान करते-करते जब चित्त शुद्ध सत्व के आविर्भाव की योग्यता प्राप्त करता है तब महत्कृपा से चिद्शक्ति के वैचित्र्यी विशेष का बीज साधक पर पड़ता है। तब अप्राकृत भगवल्लीला के उन्मेष को धारण करने वाली आसक्तिका उसमें उदय होता है। तब अप्राकृत विशुद्ध

सत्वमयी भगवल्लीला का प्रकाश एवं उसमें रति होती है और यही रति उत्कर्षता को प्राप्त कर प्रीति में परिणत होती है।

यथार्थ प्रेम साधना में भावदेह द्वारा ही साधना होती है। शास्त्र का कोई भी विधि-निषेध इसमें नहीं रहता। जबतक इस मायिक देह में अभिमान रहता है, तबतक प्रेम साधना तो बहुत ही दूर की बात है, ज्ञान-साधना भी संभव नहीं है। भावजीव का मूल स्वभाव ही होता है। प्रत्येक जीव का मूलस्वभाव शान्तरस प्रधान है, दास्यभाव प्रधान है, सख्यरस प्रधान है, वात्सल्यरस प्रधान है अथवा मधुररस प्रधान है, यह उसकी स्वयं की दृष्टि नहीं पहचान आती है।

नाम साधना एवं अन्य किसी भी प्रकार की साधना का तभी तक औचित्य है जब तक कि सद्गुरु नहीं मिलते। प्रारंभिक साधना वास्तविक साधना होती ही नहीं। जबतक सद्गुरु की कृपा नहीं होती तबतक आन्तरिक सत्यभाव में प्रवेश ही नहीं मिलता। गुरु प्राप्ति होने पर ही दीक्षा होती है। दीक्षा के पश्चात् ही गुरुदेव द्वारा सच्चे भावदेह का प्रकाश होता है।

भाव की दो विशेषताएँ हैं। एक भाव का आश्रय आलंबन है, दूसरा विषयालंबन। भाव आश्रय-विषय का अवलंबन करते हुए ही संचरित होता है। भाव का आश्रयालंबन हैं - श्रीराधा, सखागण, यशोदादि वात्सल्यवती गोपियाँ, दास्यरति प्रधान दासियाँ, वसुदेव-देवकी आदि भक्तगण। यह सब देहधारी आत्मा हैं। परन्तु इनका देह मायिक सर्वथा नहीं है। इनके स्थूल, सूक्ष्म, कारणादि देह नहीं होते । जैसे देह के रहने पर आत्मा को उसके प्रति अभिमान होता है, उसी प्रकार भाव के जागरण पर भावदेह में भी अभिमान होता है। इस स्थिति में साधक का स्थूलदेह किसी भी प्रकार का विक्षेप नहीं कर पाता। अगर ऐसा करता है तो समझना चाहिये कि जागतिक देहाध्यास अभीतक मिटा नहीं है। उदाहरण स्वरूप एक अस्सी वर्ष के वृद्ध का भाव दुधमुँहे शिशु का हो सकता है। वृद्ध जब माँ की उपासना करता है तो वह भावरूप में शिशु हो जाता है। इसी प्रकार एक बलिष्ठ पुरुष कोमलांगी स्त्री हो जाता है। जबतक भावदेह में अभिनिवेश नहीं होता, पूर्णतया स्व का अभिमान नष्ट नहीं होता, तबतक काल्पनिक शेखचिल्ली की कल्पना भले ही कोई करे भावसाधना संभव नहीं है। भावदेह अमूर्त नहीं होती, आकार विशिष्ट होती है। उसके हाथ-पैर, आँख-नाक, मुख, सौन्दर्य, सौरभ, माधुर्य, स्वभाव, उसकी कामनाएँ, रुचि, उसमें उग्रता, शील कोमलता, उसमें अपना-परायापन, उसका

घर-द्वार, माता-पिता, भाई-बन्धु, पति-पुत्र, उसका धन, मान, मर्यादा, लज्जा, कुल, गोत्र सब होता है।

भाव का आश्रय रूप जब भाव में प्रकट होता है तो भाव का विषयालंबन भी प्रकट होता है। भावदेह के प्रकट होते ही भाव के विषय का आविर्भाव स्वाभाविक ही होता है। जैसे ही शिशु भाव परिपक्व होता है स्वाभाविक ही माता का भी प्रकाश अपने आप हो ही जाता है। प्रिया भाव के प्रकट होते ही प्रियतम विषयालंबन स्वभावत: ही प्रकट हो जायेंगे। यदि किसी के सम्मुख विषयालंबन का प्रत्यक्षीकरण नहीं है तो यही मानना चाहिए कि आश्रयालंबन भी परिपक्व नहीं ही हुआ है। विषयालंबन और आश्रयालंबन दोनों का प्रकाश युगपत् एक साथ अवश्यंभावी रूप से ही होता है। भाव का आश्रयरूप जब भावदेह में प्रकट होता है तब धाम का भी स्वत: प्राकट्य हो जायगा। देह के जन्म लेते ही जैसे उसका घर-द्वार, मातापिता होते हैं वैसे ही भावदेह के प्रकट होते ही उसका भी पूरा संसार स्वभावत: अपने आप प्रकट हो जाता है।

यह भाव ही परिपक्व होकर प्रेम में परिणत होता है। भाव प्रेम में परिणत होते ही भगवत्स्वरूप स्वत: आविर्भूत होता है। उसका आह्वान नहीं करना पड़ता। उदाहरण के लिये अगर मातृभाव को लिया जाय तो समझना चाहिये कि भावदेह रूप शिशुभाव की परिपक्वता होते ही, प्रेम प्राप्त होता है और तत्क्षण ही प्रेम मातृस्वरूप विषय का आविर्भाव कर देता है। यह एक प्रकार से प्रेमसिद्धि है। प्रेम प्राप्त होते ही प्रेमाधार प्रियतम एवं प्रेमाश्रय प्रिया समानाधिकार हो जाते हैं। अर्थात् प्रियतम के आलिंगन में प्रिया बद्ध हो जाती है। माँ की गोद में शिशु बैठा ही होता है, शिशु का धाम माँ की गोद ही है। लेकिन यह भी प्रीति का चरम विकास नहीं है। प्रीति का विकास रस में होता है, भावदेह में द्वैत रहता है। प्रिया के साथ प्रियतम का एवं प्रियतम के साथ प्रिया की अभेद उपलब्धि नहीं होती। आगे चलकर भाव रसमय हो जाता है तो यह स्नेह संज्ञक बन जाता है। यह रसमयी हुआ भक्त दिव्यलीला में प्रवेश पाता है। स्नेह तक प्रियतम ऊर्ध्व एवं प्रिया नीचे रहती हैं। स्नेह के पश्चात् ज्यों ही यह रस 'मान' भाव में प्रवेश करता है भक्त ऊर्ध्व हो जाता है और भगवान नीचे हो जाते हैं। भगवान भक्तकामी हुए भक्त को मनाते हैं और भक्त रूठता है। प्राकृत शब्दों में इस पवित्रतम भाव को प्रकट करना असंभव है।

विलक्षण दिव्य स्वप्न

पू. गुरुदेव इन्हीं चिन्ताओं में थे, तभी उन्हें एक विलक्षण दिव्यस्वप्न हुआ। भगवान श्रीकृष्ण की कृपाशक्ति ही इस स्वप्न के रूप में उनके सम्मुख व्यक्त हुई थी।

स्वप्न में श्रीपोद्दार महाराज की धर्मपत्नी उनके सामने खड़ी थी। उनका उस समय साधारण पाँचभौतिक शरीर सर्वथा नहीं था। वे अप्राकृत दिव्य भगवती स्वरूप धारण किये हुए थीं। अनके चतुर्दिक विलक्षण रक्तवर्ण का तेज विकीर्ण हो रहा था। रोम-रोम से कोटि-कोटि सूर्य समप्रभ प्रकाशरश्मियाँ निरन्तर प्रस्फुटित हो रही थीं। इस विलक्षण तेजपुंज महिला -- जिसकी शरीराकृति पू. पोद्दार महाराज की धर्मपत्नी जैसी ही थी -- को देखकर पू. गुरुदेव ने स्वप्न एवं जागरण सब समय अपवे हृदय में प्रकट वंशी विमोहन श्रीकृष्ण से ही पूछा कि ये कौन हैं ? उत्तर स्वरूप उनके अन्तःकरण में ही एक अति सुमधुर मीठी दिव्य ध्वनि सुनाई पड़ी - "ये ही मेरी समग्र प्रकट-अप्रकट लीला की संरचनाकर्त्री, संचालिका, सूत्रधार महायोगमाया हैं। ये अघटन-घटना-पटीयसी सर्वभवनसमर्था मेरी कर्तुम्, अकतुम्, अन्यथाकर्तुम् समर्था महाशक्ति हैं। इन महात्रिपुरसुन्दरी आद्याशक्ति को प्रणाम करो।"

इस दर्शन के साथ २५ वर्ष के तरुण सन्यासी पू. गुरुदेव एक स्तनपायी शिशु हो गये। उनके भावशरीर का आश्रयालंबन रूप तो स्तन पीनेवाला अबोध शिशु हो गया और विषयालंबन जगज्जननी माँ भगवती हो गयीं। उन दिव्य स्वरूपा माँ जगज्जननी ने उस शिशुरूपधारी गुरुदेव को अपनी गोद में उठाकर अपने वक्षस्थल से चिपका लिया।

इसके पश्चात् भगवती ने उन्हें ललिता कुंज का दर्शन कराया। अहा ! कैसा विलक्षण वह कुंज था।

वहाँ पक्षी समूह ऐसी अप्राकृत स्वरलहरी में कलरव कर रहा था मानो सम्पूर्ण राग-रागनियाँ वहाँ मूर्त्त होकर सम्मिलित हुईं समवेत स्वर में गायन कर रही हों। वट के विटपों पर शंखालु वल्लरी छायी हुई थी। मूल-प्रदेश में हरी-हरी तृणराशि अति सुकोमल आस्तरण का निर्माण कररही थी। करीर वृक्ष इस तृणराशि को अतिशय प्रेमभरे निहार रहे थे। शंखालु वल्लरी का अधिकांश भाग पृथ्वी पर ही बिखरा था। द्रुम वट अपनी बाहों रूपी शाखाओं को झुकाकर अपने करपल्लव रूपी छोटी टहनियों को विनीत किये उसे कह रहा

था - "प्रिये ! सब कुछं तेरी प्रेमिल आँखों का ही भ्रम है। इस शशि सुमनावली से जो रह-रहकर झलमल कर रही है,- यह तेरी छाया ही तो मेरे उर में थी, अन्य मेरे हृदय में तेरे सिवा कौन अधिकार कर सकता है ?

इधर सत्वमयी उज्ज्वल अमृतालता नीम के वृक्षों को आलिंगित किये अति सुख से स्वच्छन्द फैल रही थी। उसका प्रसार परम मनोहारी था।

और देखो ! ये कामिनी लतायें प्रजापति की क्रीड़ा केलि की वार्ता वनदेवी को अति सरस भाव से बखान कर रही थीं। इधर गन्धवाह वायु से रजनी गंधा भी अपने प्रेम की अति सरस गाथा निवेदन कर रही थी।

और कुमुदिनी भी क्यों पीछे रहे ! वह हिमकर से उस प्रमत्त हुए अलि की सब करतूत बखान कर रही थी जो उसके कोष में बँधकर अब सुषुप्त हो चुका है।

जगज्जननी माँ भगवती ललिताम्बा शशिशेखरा की गोद में पू. गुरुदेव उसके वक्षस्थल में मुख सटाये आँचल में से मुख छुपाये टुकुर-टुकुर उन कुंजों की शोभा निरख रहे थे। पू. श्री गुरुदेव ने देखा कि श्रीपोद्दार महाराज उन्हीं कुंजों में से विल्ववृक्षों के हरेभरे एक कुञ्ज में विराज रहे हैं। माँ जगज्जननी उन्हें हाथ से संकेत क़र रही थी कि इन्हें ही अपना सर्वस्व मान ले।"

इसी समय पू. गुरुदेव की स्थिति जाग्रत अवस्था की हो गयी। जिस समय पू. गुरुदेव उपरोक्त दृश्य देख रहे थे उस समय उनकी दशा न जाग्रत थी, न वे स्वप्न में थे, न ही तन्द्रा में थे। वह कैसी अवस्था थी इसे कोई भी ठीक शब्द नहीं दे सकता। सर्व-साधारण को समझाने के लिये 'स्वप्न देखा' यह शब्द दिया गया है।

पू. गुरुदेव आश्चर्यचकित विस्फारित नेत्र विचार करने लगे - यह क्या दृश्य मेरे सम्मुख प्रकट हुआ ? इससे मैं क्या अर्थ ग्रहण करूँ ? यह मेरी जीवन यात्रा की किस गति को संकेतित कर रहा है ?

इस स्वप्न के पू. गुरुदेव ने दो ही अर्थ लगाये ? पहला, अवश्य ही मुझे मेरे आगे के पथ-निर्देश के लिये भगवती आद्याशक्ति त्रिपुरसुन्दरी की उपासना करनी चाहिये। दूसरा श्रीपोद्दार महाराज ही मेरे वर्तमान और भविष्य के एक मात्र पथ-प्रदर्शक होंगे।

गुरुदीक्षा

जिस वन में गाय चराते हो, मुरली मुखरित जो है प्रियतम।
उसके उन निभृत निकुंजों के सर्वथा अगम थल में प्रियतम।
जा सकूँ, अतुल वह शक्तिपात तुमने पिंजर छड़ से प्रियतम।
था किया, सदा के लिये मिटा भिखमंगीपन मेरा प्रियतम।

(हे प्रियतम ! जिस वन में तुम नित्य गायें चराने जाते हो, जो सदा मुरली निनाद से मुखरित रहता है, उस वन के निभृत निकुंजों में जो सर्वथा अगम्य स्थल हैं (जहाँ शुक सनकादि सर्वपूज्य ऋषियों का भी प्रवेश नहीं, जो ब्रह्मादि देवों की पहुँच के भी परे हैं) उन निकुंज स्थलियों में मेरा प्रवेश हो सके, मैं उनमें जा सकूं, वह शक्तिपात तुमने पिंजर स्थल की छड़ों से (अर्थात् अपने हनुमानप्रसाद पोद्दार रूप शरीर के हाथों से) किया। हे प्रियतम ! उस कृपा दान के फलस्वरूप तुमने मेरा सदा-सदा के लिये भिखमंगीपना मिटा दिया।)

अध्यात्म साधना में गुरु का स्थान अन्यतम होता है। माता के गर्भ में जिस प्रकार बीज-रूप में सन्तान रहता है और क्रमश: विकसित होकर अंग प्रत्यंग से परिपुष्टता प्राप्त करता है, इसके पश्चात प्रसव क्रिया के माध्यम से बाहर आकर इन्द्रिय-गोचर रूप में प्रकट होता है, ठीक उसी प्रकार गुरु स्वयं अपने आप को हृदय क्षेत्र में दीक्षा के रूप में स्थापित करता है, फिर शिष्य के द्वारा यथाविधि शोधित और रक्षित होकर शिष्य के हृदय से अपने आपको ही प्रकट करता है।

सद्‌गुरु पूर्ण है, वह सर्वज्ञ है, वह पूर्ण एवं सर्वज्ञान-शक्ति-समन्वित है, वह पूर्ण एवं सर्वकर्ता है, उसमें पूर्ण ज्ञान एवं पूर्ण क्रिया के समन्वय से पूर्ण विज्ञान शक्ति भी आविर्भूत होती है। वह असंभव संभव कर सकता है। उसकी इच्छाशक्ति महाइच्छा से एकमेक होती है। उसे क्रिया करने की आवश्यकता ही नहीं, उसके संकल्प से स्वत: कार्य होता है। उसके मन में कोई कार्य करने की इच्छा नहीं होती, सभी कार्य महाइच्छा के कारण होते रहते हैं। उसमें अपना संकल्प भी नहीं होता, क्योंकि वह अहंकारशून्य होता है। अत: महासंकल्प का ही उसमें बिम्ब पड़ता है। वही उसकी नियंतृ शक्ति होती है।

पू. गुरुदेव ने मई ११, १९३९ ई. को पू. पोद्दार महाराज का अखण्ड जीवन-व्यापी संग करने का व्रत लिया था। यह घटना लगभग जून मास की है। पू. गुरुदेव इन दिनों व्रजभाव-साधना की ऐसी प्रश्नावलियों में उलझे थे जिनका समाधान एक मात्र गुरु ही कर सकता है। ऐसा गुरु जो सिद्ध स्थिति में हो। शास्त्र के अवलोकन-अध्ययन से वे प्रश्न हल नहीं हो सकते थे। विचार शक्ति भी उन समस्याओं को सुलझा नहीं सकती थी। वे प्रश्न हल हो सकते थे मात्र सिद्ध गुरु की अहेतुकी कृपा से ही। पर जो वास्तव में सिद्ध है, वह अपने को सिद्ध बतलाने के लिये व्यक्त होगा नहीं और जो व्यक्त स्तर पर अपने को सिद्ध घोषित करते हैं, उनमें से शायद ही कोई विरला सिद्ध हो।

पू. गुरुदेव के सामने भी कुछ ऐसी समस्याएँ थीं जिनका समाधान वे पाना चाहते थे, परन्तु वे निरुपाय थे। श्रीपोद्दार महाराज सिद्ध स्तर के सन्त थे, पर वे गुरुपद की भावना को अंगीकार करने की भावना से कोसों दूर थे।

उन दिनों पू. गुरुदेव उस कुटीर में रहा करते थे, जो श्रीगंगाबाबू (बाबू गंगाशरण सिंह, गीताप्रेस के कार्य-प्रबंधक) ने अपनी साधना करने के लिये निर्माण करायी थी, एवं उस समय रिक्त ही पड़ी थी। बाद में पू. गुरुदेव के लिये स्वतंत्र कुटिया बन गई। अब इसमें श्रीहरिवल्लभजी ठहरा करते थे। पू. गुरुदेव विचारमग्न अपनी कुटीर के बाहर बैठे थे। विचार की गहरी रेखाएँ उनके मुख मंडल पर अंकित थीं। उसी समय पू. गुरुदेव के सामने का दृष्य बदला। उन्होंने देखा कि मुसकाते हुए पू. पोद्दार महाराज आये हैं। वस्तुत: वे सशरीर आये अथवा नहीं आये, कहा नहीं जा सकता, परन्तु पू. गुरुदेव के लिये तो वे आये ही थे। पू. गुरुदेव की उस समय सर्वथा अप्राकृत स्थिति थी। आते ही उन्होंने पूछा - "बाबा ! आज आप गंभीर कैसे बैठे हैं ?"

पू. गुरुदेव ने उनसे उत्तर में कहा - मेरे मन में एक गंभीर समस्या है। ब्रजभाव सम्बंधी एक उलझन है, जिसका समाधान मात्र गुरुकृपा से ही संभव है परन्तु मैं कहीं जानेवाला नहीं और इसप्रकार का सौभाग्य दिखलायी देता नहीं कि सिद्ध स्तर का कोई सन्त स्वयं आकर मेरे गुरुपद को स्वीकार करे। सिद्धगुरु के बिना मेरे प्रश्नों का समाधान संभव नहीं। आप सब प्रकार से समर्थ हैं, परन्तु आप मेरा गुरुपद स्वीकार करेंगे नहीं।

श्री पोद्दार महाराज ने पूछा - "बाबा ! आपकी समस्या क्या है ?"

पू. गुरुदेव ने कहा - "तो क्या आप मेरे लिये गुरुपद स्वीकार कर सकते हैं ?"

श्रीपोद्दार महाराज ने कहा - "यह कौन सी बड़ी बात है ? यह मैंने कब कहा कि मैं किसी को शिष्य बनाऊँगा ही नहीं।"

पू. गुरुदेव को बहुत ही विस्मय हुआ। उन्होंने आश्चर्य और उल्लास मिश्रित वाणी में तुरन्त पूछ लिया - "आप कहीं मुझसे विनोद तो नहीं कर रहे हैं ? मैं ऐसा इसलिये कह रहा हूँ कि आप किसी को शिष्य रूप में स्वीकार नहीं करते। सच-सच बताइये कि क्या आप मेरे लिये गुरुपद स्वीकार कर लेंगे।"

श्रीपोद्दार महाराज की आँखों की मूक भाषा पू. गुरुदेव के लिये स्वीकृति प्रदान कर रही थी। फिर भी श्रीपोद्दार महाराज ने कहा आप अपनी दोनों हथेली मेरे सामने फैलाइये।

वह दृश्य मनोहर था जिसमें गुरुदेव बने थे तुम प्रियतम ।
थे पकड़ लिये वे हाथ लगी रहती मेंहदी जिनमें प्रियतम ।।

पू. गुरुदेव ने अपनी दोनों हथेली उनके सामने फैला दी। फिर उन्होंने हथेलियों को उलट देने की आज्ञा दी जिससे नख ऊपर हो जावें। पूज्य गुरुदेव ने अक्षरश: उनकी आज्ञा का पालन किया। नखवाला भाग आकाश की ओर एवं हस्त रेखाओं वाला भाग पृथ्वी की ओर कर दिया। इसके पश्चात वे अपनी अँगुली से पू. गुरुदेव अँगुलियों के नखों को स्पर्श करने लगे। पहले कनिष्ठिका के नख का, फिर अनामिका के, फिर मध्यमा के, तब तर्जनी के, और सबके पश्चात अंगुष्ठ के नख का स्पर्श किया। इसी प्रकार से फिर दूसरी हथेली की सभी अँगुलियों के नखों को स्पर्श किया। स्पर्श की क्रिया के समाप्त होते ही श्रीपोद्दार महाराज ने हँसते हुए कहा कि लीजिये, हो गया। इस प्रकार कहकर वे हँसते हुए चले गये।

उनके स्पर्श ने चमत्कार कर दिया। पू. गुरुदेव की सारी उलझनें तत्काल समाप्त हो गयीं। उनके सभी प्रश्न समाधान हो गये। उसी दिन स्वयमेव उन्हें उनके सभी प्रश्नों का हल मिलता चला गया। भविष्य में उनके लिये फिर कोई प्रश्न, कोई समस्या रही ही नहीं। उनके उस स्पर्श का ऐसा प्रभाव हुआ कि कालान्तर के सुदूर भविष्य में व्रजभाव की साधना सम्बन्धी कोई भी व्यक्ति कोई भी समस्या उनके सम्मुख रखता, उस समस्या का तुरन्त हल उन्हें स्फुरित हो उठता।

यह सर्वथा सत्य बात है कि समर्थ गुरु की कृपा का आश्रय मिलते ही सभी प्रश्न हल हो ही जाते है। कृपाश्रित की स्वयं की सारी समस्यायें तो दूर हो ही जाती हैं, इसके अतिरिक्त समर्थ गुरु की कृपा उस आश्रित जन को इतना सामर्थ्य प्रदान कर देती है कि दूसरों की समस्याओं का भी समाधान कर दे, उनकी विघ्न-बाधाएँ भी दूर हो जावें। वह कृपाश्रित स्वयं तो तरता ही है, दूसरों को भी तार देता है। इसी क्षमता की ओर श्री देवर्षि नारदजी ने अपने भक्तिसूत्र में कहा है -

स तरति स तरति स लोकां स्तारयति

जैसे जन्म-जन्म के बुभुक्षित को कल्पतरु वृक्ष मिल जाय, जैसे मृत्यु मुख में पड़े व्यक्ति को अमृत मिल जाय, ऐसी पूर्ण समाधान की दशा उस समय पू. गुरुदेव की थी।

गुरु का शिष्य के प्रति कितना महान असीम वात्सल्य होता है, जो स्नेह एवं वात्सल्य सुख श्रीपोद्दार महाराज द्वारा उस दिन पू. गुरुदेव को मिला वह वास्तव में अकथ्य, अवर्णनीय है।

श्रीपोद्दार महाराज के जाते ही पू. गुरुदेव के चिन्तन की धारा ने एक नया मोड़ ले लिया। पू. गुरुदेव सोचने लगे - क्या यथार्थतः पोद्दार महाराज पांचभौतिक शरीर से मेरे पास आये थे अथवा भगवान श्रीकृष्ण अपनी सर्वभवन-सामर्थ्य से श्रीपोद्दार महाराज का रूप रखकर उन्हें दीक्षा दे गये। छानबीन करने पर ये ही तथ्य परिपुष्ट हुए कि श्रीपोद्दार महाराज ने सूक्ष्म शरीर से भले ही यह कार्य किया हो, स्थूल शरीर से तो वे सर्वथा नहीं ही आये थे।

अगणित अनुभूतियों का प्रकाश

क्या कहूँ तथा क्या नहीं कहूँ, मैं समझ नहीं पाती प्रियतम।
पिंजर को सरका-सरका कर लीला तुमने जो की प्रियतम।।
लजवन्ती लतिका सी अगणित अनुभूति राशि वह है प्रियतम।
वाणी छू लेगी यदि उसको, सिकुड़ेगी ही वह तो प्रियतम।।

हे प्रियतम ! तुमने अपने (श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार रूप) शरीर पिंजर को सरका-सरका कर (अर्थात् मेरे निकट ला-लाकर) जो लीलाएँ की है, उनके

संबंध में मैं क्या कहूँ तथा क्या नहीं कहूँ, मैं कुछ भी समझ ही नहीं पाती। ये मेरी एक दो नहीं, राशि-राशि अनुभूतियाँ गिनी नहीं जा सकतीं। अगणित हैं, यदि उनको वाणी छुएगी तो जो अनुभूति की पवित्रता, मर्यादा और सौन्दर्य है उसे पूरा व्यक्त न कर पाने के कारण वह संकोच में गड़ जायगी। हे प्रियतम, हाय ! मैं क्या कहना चाहती थी और जो कह गयी वह तो सर्वथा ही विकृत व्यक्त हो गया एवं जो व्यक्त करना चाहिये था, वह व्यक्त ही नहीं कर पायी।

श्रीपोद्दार महाराज लोगों के लिये विद्वान थे; बुद्धिमान थे, उन्हें हजारों लोग महापुरुष मानते थे, अनेकों ऊँची कोटि के महात्मागण भी उनमें योग की ऊँची से ऊँची विभूतियाँ देखकर अतिश्रद्धा से नमित हो जाते थे। वे अपनी आत्मगोपन-वृति की प्रबलता से सदा दीन, विनयी, अन्य महात्माओं के प्रति श्रद्धालु, सेवा परायण बने रहते थे, सबके सम्मुख अपने को हीन, हेय, तुच्छ ही व्यक्त करते थे, परन्तु सूर्य अपने को कितना ही कुहरा उत्पन्न कर ढ़के, वह प्रकट हो ही जाता है, इसी प्रकार उनकी विभूतियाँ विख्यात (प्रकट) हो ही जाती थीं।

श्रीपोद्दार महाराज में मानवीय गुण भी कम नहीं थे। वे राजनेताओं की कुशलता, उच्च कोटि की नीतिज्ञता से युक्त थे। वे बहुश्रुत थे, बहुविद् एवं आशु कवि थे। उनमें दुर्धर्ष तेज था, जो मात्र एक बार के ही संपर्क में आने पर किसी बड़े-से-बड़े व्यक्ति को भी प्रभावित कर लेता था। परन्तु पू. गुरुदेव के लिये तो वे अंधे की लकड़ी, कंगाल का धन, प्यासे का पानी, भूखे की रोटी, निराश्रयके आश्रय, निर्बल के बल, प्राणों के प्राण, जीवन के जीवन, देवों के देव, गुरुओं के गुरु, सिद्धों के सिद्ध, ईश्वरों के ईश्वर थे। पू. गुरुदेव के लिये श्रीपोद्दार महाराज सर्वस्व थे।

पू. गुरुदेव श्री मदभवद्गीतोक्त इस श्लोक को सदा स्मरण रखते थे -

नाऽहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्यं एवं विधोर्द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ।।
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवं विधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ।।

(हे अर्जुन ! तू उच्च कोटि का तपस्वी है, परन्तु न तो मैं वेद विद्या के द्वारा, न ही कठोर तप से, न सर्वस्व दान से, नही ही अश्वमेघादि महान यज्ञों से इस प्रकार मिल पाता हूँ जैसा अपरोक्ष अनन्य भक्ति से मिल पाता हूँ। अनन्य भक्ति के द्वारा ही मुझे इन्द्रिय-गोचर किया जा सकता है और मुझ में प्रविष्ट होना, एकात्म हो जाना संभव है (अन्यथा तो समग्र बुद्धियों का साक्षी होने से मुझे बुद्धि द्वारा स्पर्श भी नहीं किया जा सकता)

पू. गुरुदेव ने तो भक्ति भी नहीं की थी, उन्हें तो सबकुछ मात्र श्रीपोद्दार महाराज जैसे हेतुरहित कृपा-वर्षी, करुणा-वरुणालय दानी से ही प्राप्त हुआ था।

श्रीपोद्दार महाराज की यावज्जीवन छत्रछाया में पू. गुरुदेव ने बहुत ही सावधानी पूर्वक अपने साधन-पथ की रक्षा की। मार्ग में बड़ी-बड़ी बाधाएँ मुख खोले सुरसा की तरह खड़ी थी। विद्या, बुद्धि, तप, दान, यज्ञ, आदि के अभिमान की बड़ी-बड़ी घाटियाँ थीं, भोगों की अनेक मनहरण वाटिकाएँ थीं; पाण्डित्य, विद्वत्ता एवं शास्त्रज्ञान के अभिमान का जाल माया बिछाये हुए थी। पू. गुरुदेव तो असाधारण विद्वान, लेखक, कवि, वक्ता, बहुभाषाविद्, कुशल संगठनकर्ता, तपोनिष्ठ, सर्वशास्त्रविशारद, ब्राह्मण शरीर थे। माया कहीं भी उन्हें भटकाने में समर्थ थी। परन्तु गुरुश्रद्धा का पाथेय, एकान्त गुरुभक्ति का कवच पहनकर सन्तप्रेम को अपना अंगरक्षक सरदार बनाकर वे माया से निर्भय थे।

अपने परम प्रेमास्पद भगवान् श्रीकृष्ण को पाने के लिये उन्हें इन्हीं गुणों की आवश्यकता थी। कोरे सदाचार का अभिमान अथवा थोथे बुद्धिवाद से श्रीकृष्ण-प्रेम तो उन्हें मिलने वाला था नहीं।

पू. गुरुदेव के हृदय की एक बहुत बडी महिमा थी कि उनकी दृष्टि में पू. पोद्दार महाराज के देह में और उनके इष्ट श्रीकृष्ण में कहीं कोई भेद नहीं था। उनके परम तार्किक मन ने यह निर्विवाद सत्य मान लिया था कि किसी को धनी ही धन दे सकता है। श्रीपोद्दार महाराज स्ववस्तु का ही किसी को चरण-स्पर्श करके दान कर सकते हैं। जो वस्तु पर है वह दी ही नहीं जा सकती। अतएव परात्पर श्रीकृष्ण श्रीपोद्दार महाराज के लिये 'स्व' हैं, 'पर' कदापि-कदापि नहीं हैं। इसीलिये पू. गुरुदेव ने अपने भावों को श्रीकृष्ण-सुख-सुखिया बनाने का यही आदर्श रखा कि उनका मन, बुद्धि, चित्त

एवं इन्द्रियाँ-ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियों की सम्पूर्ण चेष्टा श्रीपोद्दार महाराज को समर्पित हो।

पू. गुरुदेव का पोद्दार महाराज के प्रति आदर्श आनुगत्य, आदर्श प्रेम, आदर्श त्याग, आदर्श सहिष्णुता, आदर्श समर्पण, आदर्श सेवाभाव जीवनपर्यन्त बना रहा।

पू. गुरुदेव कहा करते थे कि श्रीपोद्दार महाराज ने **'हुआ समर्पण प्रभु चरणों में, मन की बात मनहिं भर जाने, सौंप दिये मन प्राण तुम्हीं को'** आदि जो ऊंचे समर्पणभावी पद लिखे हैं- वे सभी मूलतः उनके ही भावों को उनके काष्ठ-मौन के बाद शब्द दिये हैं।

लेखक ने उनसे जब यह पूछा कि "बाबा ! इस परमोच्च कोटि के समर्पण भाव का आपमें अभ्युदय कब से प्रारंभ हुआ ? इस प्रश्न के उत्तर में उन्होंने कहा - "मैं अक्टूबर-नवम्बर मास में श्रीपोद्दार महाराज के साथ डालमिया दादरी गया हुआ था। दादरी में भगवान् श्रीहनुमानजी का एक मन्दिर था। वहाँ रामायण पाठ हो रहा था। मैं अपनी पूजा में बैठा था, अचानक मेरे अन्तःकरण में विराजित श्रीकृष्ण ने मेरा ध्यान गायन होती हुई एक चौपाई पर केन्द्रित कर दिया । वह चौपाई थी -

एक हि धर्म एक व्रत नेमा। काय वचन मन पति पद प्रेमा ॥

पू. गुरुदेव में इस चौपाई को सुनते ही गोपी-भाव की जाग्रति इतनी प्रगाढ़ हो गयी कि वे बराबर ही पुरुष भाव को भूले रहने लगे। जो भाव १९३७ में गीताप्रेस के कमरे में थोड़े काल के लिये जाग्रत हुआ था यहाँ यह भाव सदा के लिये स्थिर हो गया। पू. गुरुदेव का यह प्रमदा नारी-भाव इतना प्रगाढ़ था कि उनके द्वारा पत्र लेखन ही असंभव होगया। वे पत्र लिखते-लिखते अपने को प्रगाढ़ स्त्री-भाव में अनुभव करने के कारण स्त्रीलिंग की क्रियायें प्रयुक्त कर दिया करते थे।

उस समय वे सोचने लगे :- "हाय ! इस विश्व में मेरा कौन है ? मेरे जन्म मरण के एक ही तो साथी हैं। मेरी जीवन-यात्रा में एक ही संगी हैं, और वे हैं श्रीपोद्दार महाराज रूपधारी श्रीकृष्ण। बस उसी क्षण मेरे मन में निश्चय होगया कि अपने जीवन का क्षण-क्षण तथा अपनी शक्ति का कण-कण श्रीपोद्दार महाराज की रुचि पूर्ति के लिये ही व्यतीत कर दूँगा। जगत में जो भी मेरा प्रेम, विश्वास एवं आत्मीयता का संबंध है, सबओर से सभी बंधनों को खोलकर मैं मात्र श्रीपोद्दार महाराज के चरणों से बाँध दूँगा।

“श्रीकृष्ण कोई पदार्थ थोड़े ही हैं जो कोई रुपये, पैसे, जमीन, मकान की तरह किसी को प्रदान कर दे। श्रीपोद्दार महाराज का सच्चिन्मय अपरोक्ष अस्तित्व ही तो श्रीकृष्ण हैं। वे श्रीकृष्ण ही वृन्दावन, गोपी और श्रीराधा हैं। अतः मेरा संसार तो मात्र श्रीपोद्दार महाराज ही हैं। मेरी सम्पूर्ण मति, गति, एवं प्राप्ति ये ही हैं। अवश्य ही ये मेरे भाव मैं सबसे संगोपित रखूँगा परन्तु अन्तर्हृदय से मेरा मन, तन, योग्यता, मेरी गुणराशि, सब उनको ही समर्पित होती रहेगी।”

पू. गुरुदेवके स्वभाव की एक विशेषता थी कि वे मात्र भावना पर विश्वास नहीं करते थे। भावुकता जिसकी कोई ठोस भूमि न हो, उनकी दृष्टि में मात्र पागलपन और दंभ का योग ही थी। वे यथार्थता के समर्थक थे। वे सोचते थे कि मुझे मात्र श्रीकृष्ण के ही दर्शन हुए हैं तो श्रीकृष्ण की ही सेवा करूँगा। उनके तार्किक मन में इसका दृढ़ विश्वास था कि सम्पूर्ण व्रजलीला, चाहे कुञ्ज, निकुञ्ज गोष्ठ कुछ भी हो, श्रीकृष्ण में ही, श्रीपोद्दार महाराज में ही ओत-प्रोत है। जब श्रीकृष्ण मुझे सशरीर पोद्दार महाराज के रूप में प्राप्त हैं और मेरे चित्त में भी उनका वंशीधारी कदम्ब वृक्ष के नीचे खड़ा स्वरूप नित्य अविचल स्वप्न-जागरण सब समय अखण्ड स्थित है तो सारी लीला उनकी कृपा से अपने आप प्रकट होती जायगी। मुझे मनोजनित कल्पना का संसार कदापि नहीं बनाना है।

अतः वे जब ‘यमुना’ शब्द पर दस बीस सैकिण्ड अपना मन निक्षिप्त करते तो वे अपने हृदयस्थ श्रीकृष्ण के सम्मुख मचल पड़ते। “मुझे यथार्थ में ही यमुनाजी के दर्शन कराओ। जब मैंने तुम्हारा कभी किसी चित्र को लेकर ध्यान नहीं किया, तुम गोरे-काले जैसे हो जब मेरे दृष्टि पथ में अपने आप आये तो मैं किसी प्राकृत जल का क्यों ध्यान करूँ, यथार्थ सच्चिन्मयी जो श्रीयमुना हैं उन्हें मेरे सम्मुख प्रकट करो।

मुझे सच्चिन्मय वृन्दावन, तुम्हारे परम धाम के दर्शन कराओ, सचिन्नमय गिरिराज पर्वत के दर्शन कराओ। वे श्रीपोद्दार महाराज रूप श्रीकृष्ण के सम्मुख ही अपनी मानसिक सब माँग रखते थे।

साथ ही साथ वे श्रीकृष्ण की रुचि में पूर्णतया समर्पित भी थे और सोचते थे, यदि श्रीकृष्ण की रुचि अनन्त जन्मों तक मुझे नरक में रखने की हो तो मैं कुंज, निकुंज, वृन्दावन, गिरिराज, राधाकुण्ड की माँग ही क्यों रखूँ। उनकी

रुचि के विपरीत मुझमें कोई भी इच्छा का, संकल्प का, स्फुरण का जागरण भी क्यों हो ?

वे तो उनके ही प्राप्तरूप का इकटक पान करते और उनकी रुचि को ही अपना सफल जीवन मानते थे। उनमें विलक्षण समर्पण था। वे तो श्रीकृष्ण से ही पूछते - "तुम्हें मेरी गोरी आकृति प्रिय है, या काली। यदि तुम्हें मुझे गोरा बनाने में सुख अनुभव होता हो तो मेरे अंग गोरे रहें अन्यथां जो तुम्हें रुचिकर हो, वैसा ही मेरा रूप गढ़ना। जो गुण तुम्हें रुचिकर लगें वे ही गुण प्रदान करना। यदि मुझे घोर कुरूपा, गुणहीना, दुश्शीला रखने में एवं अपने विनोद की सामग्री बनाने में ही तुम्हें सुख हो तो मुझे वैसीही बना देना। जो कला तुम्हें आनन्ददायिनी हो, उसी कला में मुझे पारंगत करना । इतना ही नहीं मेरा हँसना-बोलना, मैत्री करना, जो भी स्वभाव , प्रकृति, तुम्हें रुचिकर हो मैं वैसी, वैसी सदा वैसी ही बनी रहूँ। मुझमें आपकी रुचि से भिन्न कुछ भी, कभी भी न हो। ऐसा विलक्षण हेतुरहित उनका श्रीकृष्ण के साथ प्रेम था। (यहाँ यह बात बार, बार पुनः प्रकट कर देता हूँ कि श्रीपोद्दार महाराज के सिवा उनके श्रीकृष्ण अन्य कुछ भी नहीं थे।)

इसीलिये उनका मधुरतम मनभावन प्रेम नित्य निरन्तर सहज ही बढ़ता चला गया। उनके प्रेम में न झूठी अनुनय विनय थी, न ही कोई गुणजनित हेतु था। श्रीकृष्ण चाहे कैसा भी अपराध करें, पू. गुरुदेव का प्रेम उनसे घटता ही नहीं था, उन्हें श्रीकृष्ण से न भोग की स्पृहा थी, न ही मोक्ष की, उन्हें तो अपना सर्वस्व उनपर न्यौछावर भर करना था। उनका प्रेम कारणरहित था, उपाधिरहित था, मलरहित था, बाहर से केवल बखान करने वाला नहीं, मात्र मन की वस्तु था, नित्य था, सीमारहित था, परिमाणरहित एवं दोष रहित था।

एक दिन श्रीपोद्दार महाराज के पास गुरुदेव बैठे थे। श्रीपोद्दार महाराज उन्हें किसी ग्रन्थ से उदाहरण पढकर सुनाने लगे जिसमें श्रीकृष्ण राधारानी को यमुना का स्वरूप दर्शन कराते हुए कहते हैं कि तेरा एवं मेरा प्रेम ही यह कालिन्दी यमुना है। श्रीकृष्ण कहते हैं - "यमुना का एक किनारा मैं हूँ एवं दूसरा किनारा तू है। मेरी तेरे प्रति प्रीति मुझ एक तट से बहती हुई तुझ दूसरे तट तक जाती है, फिर तुझे आत्मसात् करती हुई तेरी ही हो जाती है। फिर तेरी प्रीति हुई वही रस-धारा पुनः उमड़ती है और मुझ दूसरे तट को आप्यायित करती मेरी ही प्रीति सम्पदा बन जाती है। यह हम दोनों का प्रीति रस-प्रवाह ही तो यमुना है।

श्रीपोद्दार महाराज यह रस वर्णन कर ही रहे थे उसी समय पू. गुरुदेव जहाँ बैठे थे, वहीं एक परम निर्मल चिन्मय रस-प्रवाह बह उठा। यह रस प्रवाह ही परम शोभामयी यमुना बनकर उनके सम्मुख ही लहराने लगा।

यह यमुना पू. गुरुदेव की प्राण सहचरी बन गयी। क्योंकि ब्रजेशतनय का प्यार ही ब्रजरस होकर अति मंजुल रूप में गुरुदेव के नयनगोचर हो उठा था।

अपने प्राणसारसर्वस्व के प्रीतिभावों की इस तरंगिणी में, उसकी मधुरातिमधुर उर्मियों में पू. गुरुदेव का भावशरीर स्नान करने लगा। वह कोई स्त्री का किसी नदी में स्नान नहीं था। उनका मनोहर प्रियतम प्रेमसुख में आपातत: रस-अवगाहन था।

अहा कैसी रसमयी कलिन्दनन्दिनी यमुना भानुतनया प्रवाहित हो रही थी, पू. गुरुदेव के दृष्टिपथ में। उसका कण कण पू. गुरुदेव की अखण्ड सौभाग्य-सम्पदा बन गया था। उनके प्रियतम नीलमणि ही तो रससागर बने वहाँ लहरा रहे थे। उन्हें उस विरजा में यदि अपने प्रियतम नीलसुन्दर भरे दृष्टिगोचर नहीं होते तो चाहे कितनी ही दिव्य, चिन्मयी वह नदी क्यों न होती उनके क्या काम की ? वे उसकी चिन्मय सुन्दरता एवं दिव्यता पर अपनी दृष्टि निक्षेप भी नहीं करते।

अहा, उस यमुना में कुमुद और पद्मों का कैसा सुभग वन विकसित हो रहा था। श्रीगुरुदेव को स्पष्टतया अनुभव हो रहा था मानो प्रियतम नीलसुन्दर का मन ही इन सुमनों के रूप में उन्हें सुवास प्रदान कर रहा है। अहा ! उनकी समग्र दिशाओं में प्रिय के मन ने विलक्षण चिन्मयी सुवास भर दी थी। पू. गुरुदेव अनुभव कर रहे थे असंख्य अलिगणों का गुंजन, हंसों का कल-कल प्रेमोद्दीपक मधुर छन्दों में कूजन, उन सभी का अर्थ उनके लिये तो उनके नीलमयंक श्यामसुन्दर में ही पर्यवसित था। उनके प्रियतम नीलसुन्दर ही प्रस्फुटित अरविन्द पुञ्जों के रूप में उनके नयनों में अपनी प्रेममयी शोभा भर रहे थे। वे ही कृष्ण कोकिला की अति रसमयी वाणी में प्रिया-प्रिया रटते वन को गुँजाते उनकी विविध प्रकार से प्रेमवन्दना कर रहे थे।

इसी प्रकार पू. गुरुदेव ने एक दिवस अपने हृदयस्थ श्रीकृष्ण से प्रार्थना की - प्राणवल्लभ ! तुम कहते हो और यह मेरा अनुभूत सत्य भी है कि श्रीपोद्दार महाराज ही सचल वृन्दावन हैं, तब तो इनके चिन्मय भूमितत्व में ही महाप्रभु चैतन्यदेव, भक्तिमती विष्णुप्रिया, महाप्रभु वल्लभाचार्य, भक्तसम्राट सूरदास, श्रीपाद सनातन एवं रूप गोस्वामी आदि इस शरीर के किसी न किसी

भाग में अवश्यमेव अवस्थित होंगे ही। फिर मुझ पर इन सब वैष्णवों की कृपावर्षा कर दीजिये न नाथ ! यदि मेरी इच्छा में आपकी रुचि की अनुकूलता हो, तभी इस इच्छा की पूर्ति हो अन्यथा मेरी इच्छा को अवश्य अवश्य आग लगा देना।"

श्री श्री गुरुदेव के मुख से यह प्रार्थना होते ही पू. गुरुदेव को श्रीपोद्दार महाराज की कृपा से वहीं गोरखपुर में ही वृन्दावन की दुर्लभ भजन-स्थलियों, इनमें पुरातन काल के भजननिष्ठ सिद्ध सन्तों, विख्यात मन्दिरों के श्री विग्रहों, लीला स्थलियों, एवं श्री श्री चैतन्य महाप्रभु, श्री वल्लभाचार्य महाप्रभु आदि के प्रकट दर्शन हुए। इनका प्रेममय परम दुर्लभ संस्पर्श पू. गुरुदेव को प्राप्त हुआ।

श्री श्री गुरुदेव कहते थे कि श्रीकृष्ण की विचित्र लीला होती थी। पहले मुझे ऐसा अनुभव होता कि श्रीपोद्दार महाराज आये हैं और तब मुझे ये विलक्षण अनुभव होते। एक दिवस सवेरे ज्योंही मैं पू. गुरुदेव के पास गया, उन्होंने कहा - भैया ! आज तो मुझे श्रीमद्वल्लभाचार्य के दर्शन हुए हैं। वे श्यामवर्ण थे, उनकी गोक्षुर जितनी चौड़ी लम्बी चूड़ा थी। मैं जब उनके चरणस्पर्श करने को झुका तो आचार्यचरण बोले - आप चतुर्थाश्रमी सन्यासी होकर यह मर्यादा विरुद्ध कार्य क्यों करते हैं ? श्री गुरुदेव ने उत्तर दिया आप तो कोटि कोटि सन्यासियों के वन्दनीय हैं। श्रीगुरुदेव मुझसे पूछ रहे थे - उनकी आकृति श्यामवर्ण थी न ? मुझे तो श्यामवर्ण दिखे हैं। उनके साथ सुरभी गैया भी थी।

इसी प्रकार पू. गुरूदेव को श्री श्री चैतन्य महाप्रभु के भी दर्शन हुए। वे कीर्तन कर रहे थे। फव्वारे की तरह उनके नेत्रों से अश्रुधार प्रवाहित हो रही थी। पू. गुरुदेव कहते थे कि यह सर्वथा सत्य है कि विरहावेश में उनके शरीर में इतना ताप होता था कि पत्थर पिघल जाता था और वहाँ उनके चरण अंकित हो जाया करते थे। श्रीसनातन गोस्वामी से तो उनकी रस-चर्चा भी हुई थी।

पू. गुरुदेव ने मुझसे कहा था कि जब श्रीसनातन गोस्वामी प्रभुपाद से मेरा मिलन हुआ तो उन्होंने उन्हें अष्ट सखियों के सम्बन्ध में अपनी अनुभूति बतलायी। उन्होंने श्रीप्रभुपाद से विनम्र निवेदन किया कि गौड़ीय आचार्यों के मत में श्री ललिता में खण्डिता भाव, श्री विशाखामें स्वाधीनभर्तृका भाव, श्रीचित्राजी में दिवाभिसारिका भाव, श्रीइन्दुलेखाजी में प्रोषितभर्तृका भाव,

श्रीचम्पकलताजी में वासकसज्जा भाव प्रमुख हैं। श्रीरंगदेवीजी में गौड़ीय आचार्यों ने उत्कण्ठिता भाव का विशद विवेचन किया है । यह विवेचन अत्यधिक वैदुष्यपूर्ण है और गंभीर है। पू. गुरुदेव श्रीसनातन गोस्वामीपाद से कह रहे थे कि उन्हें गौड़ीय आचार्यों से मात्र एक स्थल में भिन्न अनुभव होता है। श्रीतुंगविद्याजी का भाव है विप्रलब्धा एवं विप्रलब्धा भाव का सागर तथा उत्कण्ठिता का भावसागर जब ये दोनों सागर खूब लहरायें, तो उन दोनों सागरों का जो सम्मिलन बिन्दु है, उन्हें उसकी तो प्रतीक लगती है श्रीरंगदेवीजी। उन्हें स्पष्ट अनुभव होता है कि उत्कंठिता और विप्रलब्धा भाव के समान सम्मिश्रण-रूप-भावोच्छलन की प्रतीक तो हैं श्रीरंगदेवीजी और उत्कंठिता प्रमुख विप्रलब्धा-भावोच्छलन की प्रतीक हैं श्रीतुंगविद्याजी। श्रीसुदेवीजी कलहान्तरिता भावोच्छलन की प्रतीक हैं। अतः पू० गुरुदेव की मान्यतानुसार अष्टसखियों का जो क्रम बनता है उसमें प्रथम खण्डिता भाव की प्रतीक हैं ललिता, फिर स्वाधीनभर्तृका भाव की प्रतीक विशाखा, फिर दिवाभि-सारिका भाव की प्रतीक श्रीचित्राजी, फिर प्रोषितभर्तृका भाव की प्रतीक श्रीइन्दुलेखाजी, फिर वासकसज्जा भाव की प्रतीक श्रीचम्पकलताजी एवं तब उत्कंठिता और विप्रलब्धा के समान सम्मिश्रण की प्रतीक श्रीरंगदेवीजी और उनके पश्चात उत्कंठिता प्रमुख विप्रलब्धा भाव की प्रतीक श्रीतुंगविद्याजी आती हैं औरतब कलहान्तारिता भाव प्रमुख श्रीसुदेवीजी होती हैं। परमवंद्य श्रीगौड़ीय आचार्यों ने चम्पकलताजी के पश्चात तुंगविद्याजी को स्थान दिया है तब श्रीरंगदेवीजी का स्थान है।

श्री सनातन गोस्वामी पाद ने पू. गुरुदेव की अनुभूति की सराहना की। श्री गुरुदेव कहते थे कि कोई यदि पूछे कि इसका प्रमाण क्या हैं ? तो प्रमाण मात्र मेरी अनुभूति और मेरा कथन है। किसी को मेरे कथन के सत्य में ही यदि सन्देह है तो वह मेरी बात अनसुनी कर दे।

इसी प्रकार श्री श्री गुरुदेव को श्रीनाथजी की झाँकी, श्रीविहारीजी की झाँकी गोरखपुर में ही हुई थीं। उन्हें श्रीराधावल्लभजी, श्रीमदनमोहनजी, श्रीगोविन्ददेव, सभी विग्रहों के दर्शन वहीं गोरखपुर में हुए थे।

यद्यपि ये सभी दर्शन और अनुभूतियाँ क्रमशः भविष्य में अनेक वर्षों में हुई हैं तात्कालिक नहीं है। फिर भी प्रसंगवश उनका इसी परिच्छेद में वर्णन है।

पू. श्री गुरुदेव श्रीपोद्दार महाराज के साथ उनके पूर्वजों के जन्मस्थान रतनगढ़ (राजस्थान) में चार-पांच वर्ष १९४० से १९४५ ई. के मध्य तक रहे। श्रीपोद्दार महाराज की पैतृक निवास-स्थली के पास ही जहाँ एक अन्य सेठ सर्राफों की हवेली थी, वहाँ उन्हें यमुना प्रवाह लहराता नेत्रों से दृष्टिगोचर होता था। श्रीगुरुदेव को पोद्दार महाराज सर्वदेवमय दृष्टिगोचर होते थे। उनकी धर्मपत्नी में उन्हें प्रत्यक्ष शशिशेखरा माणिक्य मुकुट धारण किये पूर्ण रक्तवर्णा चन्द्रानना जगज्जननी आद्याशक्ति महात्रिपुरसुन्दरी भगवती पूर्णतया प्रकट दिखती थीं।

मैं (लेखक) उन दिनों युवक था। पू. अ. सौ. माताजी (श्रीपोद्दार महाराज की धर्मपत्नी) पू० गुरुदेव को भिक्षा करा रहीं थीं। किसी विषय में मैंने (लेखक) पू. माताजी की अवज्ञा कर दी। पू. गुरुदेव ने जैसे क्रोध में भरे हों, वैसी तेज आवाज में मुझसे पूछा - तू जानता है, तूने किसकी अवज्ञा, तिरस्कार किया है ? ये कौन हैं ? मैने कहा - बाबा ! ये मेरी बड़ी मामी हैं ! मैं श्रीपोद्दार महाराज को बड़े मामाजी कहता था। पू. गुरुदेव कड़क कर बोले - 'मेरी दृष्टि से देख ! अपनी अंधी फूटी आँख से क्या सत्य देख पावेगा? और उन्होंने उनका साक्षात् चन्द्रशेखरा, माणिक्य मुकुट धारणकर्त्री त्रिनेत्रा स्वरूप का दिग्दर्शन मेरे सम्मुख किया। उन्हें वे कभी चतुर्बाहु समन्विता दिखतीं एवं कभी द्विभुजा पराम्बा रूप में दृष्टिगोचर होतीं। लगातार ५३ वर्षों तक पू. गुरुदेव उनमें दिव्य परम चिन्मय मातृस्वरूप के ही दर्शन करते रहे।

मेरे उस दिन के अपराध को क्षमा कराने के लिये उन्होंने मुझसे स्वयं एक पाठ ललिता सहस्त्रनाम का सुना, बिल्ववृक्ष के नीचे भगवती की पंचोपचार से पूजा करवायी। वे यदाकदा स्पष्ट कहते थे जिन लीलाविधातृ शक्ति के बल पर मैं तुम्हारा तत्काल दूसरा जन्म दिव्य वृन्दावनधाम (गोलोक) में कराना चाहता हूँ, उनकी तुम अवज्ञा करो, यह मेरे लिये सर्वथा असह्य हो जाता है।

यह घटना सन् १९४८ ई. की है। मैं इन्टरमीडियेट की संगीत परीक्षा देने काशी गया था। मेरी परीक्षा जिसदिन समाप्त हुई, उसके दूसरे दिन शिवरात्रि थी। पू० गुरुदेव गोरखपुर में शिवरात्रि के दिन निशापर्यन्त पूजा कराया करते थे। शिवरात्रि की पूजा में मेरे द्वारा श्रीविद्यापति के रचित मैथिली भाषा के शिवविवाह के पद हर वर्ष गाये जाते थे। पू० गुरुदेव मन में

सोच रहे थे कि मैं परीक्षा देकर रात्रि को गाड़ी में बैठकर सुबह शिवरात्रि के दिवस गोरखपुर अवश्य पहुँच जाऊँगा और निर्विवाद पूजा में संकीर्तन की सेवा कर दूँगा। उन्होंने मेरी दिनभर एवं रात्रिभर प्रतीक्षा भी की। मैं शिवरात्रि के दिन की अपेक्षा दूसरे दिवस सायंकाल बस से गोरखपुर पहुँचा। मैं उन्हें प्रणाम करने ज्योंही उनके सम्मुख गया तो उन्होंने मुझसे जाते ही जिज्ञासा की - 'अरे, तेरी परीक्षा तो परसों ही सम्पन्न हो गयी थी, कल क्यों नहीं आया ?'

मैने उत्तर दिया - "बाबा ! शिवरात्रि पर काशीधाम में रहने के लोभ से रुक गया था। रात्रि में भगवान् विश्वनाथ के मन्दिर में पूजा-दर्शन किये, वहीं रात्रि-जागरण किया, अन्नपूर्णादेवी के भी दर्शनों का सौभाग्य मिला।"

उन्होंने मुझे बहुत निराशाभरे स्वर में एकदम भर्त्सनापूर्वक झिड़क कर कहा - "क्या खाक सौभाग्य मिला ? माँ अन्नपूर्णा और भगवान् विश्वनाथ गत रात्रि काशी में थे ही नहीं । स्वयं काशीधाम ही या तो यहाँ अवतरित था, अथवा भगवान् वहाँ से यहाँ चले आये थे।" मैं उनकी बात सुनकर स्तब्ध हो गया।

फिर उन्होंने मुझे अपना सम्पूर्ण अनुभव खोलकर बतलाया। वे कहने लगे - "भैया ! पूजा का प्रारंभ श्रीपोद्दारमहाराज एवं अ० सौ० माताजी द्वारा हो, यह मेरे मन में विचार अवश्य आया था। परन्तु क्योंकि मेरे निमंत्रण पर पू० पोद्दार महाराज कभी अनुकूल उत्तर नहीं देते थे, अतः मैने श्रीपरमेश्वर प्रसादजी फोगला (श्रीपोद्दारमहाराज के जामाता) एवं उनकी पुत्री (सौ० सावित्रीबाई) को ही पूजा करने के लिये चयन कर लिया और श्रीफोगलाजी को मात्र पूजा प्रारंभ करने की अनुमति लेने उनके पास भेजा था।

श्रीपोद्दार महाराज ने जाते ही श्रीफोगलाजी से कहा - 'थाँरो बाबो आज मेरे से पूजा कोन्मीं करवावै ?' (हिन्दी में - क्या आपका बाबा आज मेरे से पूजा नहीं कराना चाहता ?) उनकी ऐसी प्रतिक्रिया देखकर श्रीपरमेश्वरजी सकपका गये, उन्होंने प्रस्ताव किया - आप चलिये। और वे सचमुच ही स्वयं सावित्री की माँ (पू० अ० सौ० माताजी) को लेने गये और तत्परतापूर्वक पूजार्थ आ गये। उन्होंने अति मनोयोगपूर्वक एक पूजा सम्पन्न की। और सम्पूर्ण पूजा में पू० गुरुदेव को श्रीपोद्दार महाराज अपनी पोद्दार-देह तथा आकृति में सर्वथा दिखे ही नहीं। वे साक्षात् वर-वेष में भगवान् शंकर ही उनकी दृष्टि में आते रहे। पू० गुरुदेव आश्चर्यचकित थे कि यह क्या हो रहा है ?

उनकी धर्मपत्नी अ० सौ० रामदेई माताजी भी साक्षात् भगवती पार्वती के रूप में ही उन्हें दिखती रहीं।

इधर पंडित लोग रुद्राष्टाध्यायी का पाठ कर रहे थे, परन्तु पू. गुरुदेव को उन्हें हिमालय प्रदेश में भगवान् के विवाह की लीला प्रत्यक्ष दिख रही थी। एक-एक देवता -- भगवान् नारायण, भगवती लक्ष्मीजी, ब्रह्माजी, भगवती सरस्वती, सब देव-देवांगनाएं, न जाने कैसी शोभा लिये समुपस्थित थीं, क्या कहा जाये ?

एक पूजा पूरी करके श्रीपोद्दार महाराज पू० गुरुदेव के सम्मुख बोले - "बाबा ! अभी भी मुझे कल्याण के अंतिम प्रूफ देखने हैं, सुबह ही मशीन में नहीं जायेंगे तो मशीनें खाली रहेंगीं।" पू० गुरुदेव ने उन्हें साश्रु-नयन विदा किया। परन्तु उनके रंगमंच से हटते ही वह विवाह-दृश्य भी लुप्त हो गया। पू० गुरुदेव कह रहे थे कि जब तक वे बैठे रहे, इसी बिल्ववृक्ष के नीचे भगवान् विश्वनाथ और माँ अन्नपूर्णा स्थित थीं। उनकी शिव-पार्वती-विवाह-लीला पूरी यहाँ सम्पन्न हुई।

पू. गुरुदेव कह रहे थे कि जब उन्हें बाह्य ज्ञान हुआ तो उन्हें मेरी (लेखक की) स्मृति हुई। वे मेरे अभाग्य पर दुखी हो रहे थे।

पू० गुरुदेव के मुख से यह वृत्तान्त सुनकर मैं अपने अभाग्य पर पश्चाताप करने लगा। वास्तव में ही श्रीगुरुचरणों में जैसी श्रद्धायुक्त भक्ति एवं अनुशासन की आवश्यकता होती है, मुझमें तो उसका सर्वदा अभाव ही रहा।

शास्त्रीय आधार

साधक जब साधना करता है, तब वह वृन्दावन की, कालिन्दी की, कुञ्जों की भावना करता है। भावना के परिपक्व होने पर जब वास्तविक वृन्दावन अवतरित होता है, उस समय जो स्थिति होती है, वह पूर्णतः अचिन्त्य, सर्वथा अनिर्वचनीय होती है। दिव्य चिन्मय-वृन्दावन के कुञ्ज-सर-सरोवर निकुञ्ज-लता-पादप-पुष्प-पक्षी आदि ऐसे हैं कि उनका वर्णन संभव ही नहीं है। उनका वर्णन करना स्वयं को ठगना है। जिसका वर्णन असंभव हो, उसके वर्णन का प्रयास करना आत्मवंचना ही है। भावना के वृन्दावन, कुञ्ज, निकुञ्जादि की वह छवि, इस छवि से सर्वथा ही अलग है; शब्दों से उसकी ओर संकेत करना संभव ही नहीं। उस वृन्दावन की दिव्य छवि का यदि कहीं

वर्णन है तो वह ऐसा ही है मानो कोई गूँगा वाक्य-रहित, शब्द-रहित गूँगी भाषा में अपने मीठे-स्वाद का वर्णन करे। हाँ, यह अवश्य है कि इस वर्णन पर विश्वास करके जो साधना करेगा, उसे उस छवि के दर्शन अवश्य हो सकते हैं।

श्री प्रिया-प्रियतम के चिद्विलास का सागर सीमाविहीन है। उस सागर का आवर्त अनोखा है, अचिन्त्य है।

पू. गुरुदेव को श्रीकृष्ण-स्वरूपिणी, श्रीयमुनामहारानी का रस-प्रवाहिणी नदी के रूप में भी चिन्मय व्रज में दर्शन होता था और सखी रूप में जब वे उनसे मूर्त्त, सदेह भी प्रकट होने की प्रार्थना करते, वे प्रकट हो जाती थीं।

वे जब भी पू० गुरुदेव के सम्मुख सदेह प्रकट होतीं तो हाथों में कमलों की माला लिये होतीं। वह माला वे पू० गुरुदेव के भावदेह को समर्पित कर देतीं और उस माला को पू० गुरुदेव अपने भाव देह के सम्मुख ज्यों ही श्रीकृष्ण प्रकट होते, वन में गौचारण कर उनके निवास में आते, पहनाया करती थीं। यह क्रम दो-तीन वर्ष चला है। पू० गुरुदेव कहा करते थे कि श्रीयमुनाजी ने ही अनुमति देकर मुझे उनके तट के निकटवर्ती एक कुंज में रख दिया था जिसमें मैं तबतक रही जबतक श्रीकृष्ण ने मुझे भगवती राधारानी से मिला नहीं दिया। उसके पश्चात् तो मैं राधारानी के संग ही रहती थी। जब तक पू० गुरुदेव को श्रीराधारानी का प्यार नहीं मिला वे भगवती यमुना एवं भगवती तुलसी की कृपा पर ही अवलम्बित रहे।

ये सभी बातें पू० गुरुदेव के भावदेह की है। पू० गुरुदेव उसका शास्त्रीय आधार खोजना चाहते थे। पू० गुरुदेव का मन ऐसा था कि जब तक उन्हें अपने भाव का शास्त्रीय आधार नहीं मिला, वे उसकी सत्यता पर ही सन्देह करने लगते। वे सोचते थे कहीं यह मेरे सम्मुख प्रकट होने वाला दृश्य मेरी मनोजनित कोई सात्विक वासना का परिणाम-मात्र तो नहीं है। इस विचार से उनका विश्वास उन भावनाजन्य दृश्यों से हिल जाता था।

एक दिवस पू० गुरुदेव श्रीपोद्दारमहाराज के पास गये थे। वे प्रतिदिन ही उनके दर्शनार्थ दिन में एक बार उनके पास जाया करते थे। पू० गुरुदेव ने पूर्वाश्रम के अपने बड़े भाई श्रीदेवदत्तजी मिश्र से सभी दर्शनशास्त्रों का, एवं ब्रह्मसूत्रों का विधिवत् अध्ययन तो किया था, परन्तु पुराणों का अध्ययन वे नहीं कर पाये थे।

सन्यास लेने के उपरान्त उन्होंने अपनी मां से अन्तिम मिलन के लिये जाने पर ग्राम-प्रवास में श्रीदेवदत्तजी द्वारा भागवत-सप्ताह अवश्य सुना था। परन्तु उसमें मात्र रासलीला का वर्णन था, कुञ्ज-निकुञ्ज लीलाओं का कहीं कोई वर्णन नहीं था। अतः पू० गुरुदेव को अपनी निकुञ्ज-भावना का अब तक कोई शास्त्रीय आधार समझ में नहीं आ रहा था। जब पू० गुरुदेव श्रीपोद्दारमहाराज के दर्शनार्थ उनके पास गये तो वे पद्मपुराण देख रहे थे। उन दिनों गीताप्रेस से संक्षिप्त पद्मपुराण छापे जाने की बात चल रही थी।

पू० पोद्दारमहाराज पू० गुरुदेव को सम्बोधित कर कहने लगे- 'स्वामीजी ! देखिये, भगवान् श्रीशिव के द्वारा प्रश्न करने पर भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने स्वरूप-तत्व का यहाँ पद्मपुराण में कैसा सुन्दर वर्णन किया है ? भगवान् समझाते हैं - कि मैं किस प्रकार सगुण हूँ और किस प्रकार निर्गुण हूँ। इस वर्णन के अनुसार यह अनुभव होता है कि अद्वैत ही लीलाद्वैत के रूप में किस शोभा से लीलायमान हो रहा है। भगवती श्रीराधा श्रीकृष्ण से अभिन्न हैं और एक ही तत्व लीला के लिये दो रूपों में लीलायमान है। श्रीराधा श्रीकृष्ण से भिन्न कोई तत्व होतीं तो यह बात नहीं रहती। "रसो वै सः" रस वही है। रस और रस वाला दो पृथक्-पृथक् सर्वथा नहीं है।'

'भगवान् सगुण नहीं है क्योंकि वे प्राकृत गुणयुक्त नहीं हैं, वे साकार भी नहीं हैं क्योंकि वे प्राकृत आकार से युक्त नहीं हैं; उनके प्रत्येक अंग से प्रत्येक कार्य संभव हैं क्योंकि उनके प्रत्येक अंग सच्चिन्मय हैं, इस तत्व को न समझने से ही तो नासमझीयुक्त विनोद होते हैं।'

श्रीपोद्दार महाराज कह रहे थे -- 'स्वामीजी ! प्रेम निर्गुण तत्व में ही होता है, क्योंकि प्रेम स्वयं निर्गुण है, गुणों को लेकर प्रेम होना प्रेम है ही नहीं। क्योंकि वह तो गुणों का ही आकर्षण है।'

इसके पश्चात् श्रीपोद्दारमहाराज ने पू० गुरुदेव को पद्मपुराण का अंश पढ़ने को दिया। पू० गुरुदेव पद्मपुराण के पातालखण्ड को अपनी कुटिया पर ले आये। वे पातालखण्ड पढ़ने लगे। इसमें तीन इतिहास हैं :-- १. भगवान् व्यासदेव का, २. भगवान् शंकर का और तीसरा श्रीशंकरपार्वती-संवाद है।

इन तीनों इतिहासों का यहाँ संक्षिप्त रूप दिया जा रहा है।

पहला इतिहास इस प्रकार है। श्रीव्यासदेव ने एक बार हजारों वर्ष घोर तपस्या की। श्रीकृष्ण के प्रसन्न होने पर उन्होंने कहा -- "हे मधुसूदन ! मैं आपके उस यथार्थ स्वरूप को तत्व से जानना चाहता हूँ जो जगत् का पालक

एवं प्रकाशक है । आपका अद्‌भुत रूप मेरे सम्मुख प्रकट कीजिये और उसे साक्षात् मुझे आँखों से दिखाइये -- मेरी यही प्रार्थना है।"

त्वामहं द्रष्टुमिच्छामि चक्षुर्भ्यां मधुसूदन ।
यत् तत् सत्यं परं ब्रह्म जगज्ज्योतिर्जगत्पतिः ।
वदन्ति वेद शिरसस्चाक्षुषं नाथ मेऽद्‌भुतम् ।।(पदम्०पातालखण्ड)

श्री भगवान् ने कहा -- "महर्षे ! मेरे विषय में लोगों की भिन्न-भिन्न धारणायें हैं। कोई मुझे प्रकृति कहते हैं, कोई पुरुष कोई ईश्वर एवं कोई धर्म। कोई उभय-पद मोक्ष। कोई केवल सत्तास्वरूप भाव मानते हैं। अनेक मुझे परम कल्याणस्वरूप सदाशिव मानते हैं।"

"मुझे इसी प्रकार अनेक वेदान्त-प्रतिपादित अद्वितीय, सनातन ब्रह्म समझते हैं - परन्तु जो यथार्थ में निर्विकार सत्तास्वरूप है, सच्चिदानन्द जिसका विग्रह है और वेदों में जिसका रहस्य छुपा है अपना वह पारमार्थिक स्वरूप मैं आज तुम्हारे सम्मुख प्रकट करता हूँ।"

भगवान् के इतना कहते ही श्रीव्यासजी को एक बालक के दर्शन हुए :- जिसके शरीर की कान्ति नीलमेघ के समान श्यामवर्ण थी, और वह गोपकन्याओं तथा ग्वालबालों से घिरा हँस रहा था। वे भगवान् श्यामसुन्दर थे जो पीतवस्त्र धारण किये कदम्ब की जड़ पर बैठे थे। उनकी परम अद्‌भुत झाँकी थी। उनके साथ ही नूतन पल्लवों से अलंकृत वृन्दावन नामक वन भी दृष्टिगोचर हुआ। इसके पश्चात् नीलकमल की आभा धारण करनेवाली कलिन्दकन्या यमुना के दर्शन हुए। फिर गोवर्धनपर्वत पर दृष्टि पड़ी। गोपाल श्रीकृष्ण रमणियों के साथ बैठकर बड़ी प्रसन्नता के साथ वेणु बजा रहे थे। उनके शरीर पर अनेक अलंकार थे। उनका दर्शन कर श्रीव्यासजी को बहुत ही हर्ष हुआ। फिर भगवान् श्रीव्यासजी से कहने लगे -- "मुने ! तुमने जो इस दिव्य सनातन रूप का दर्शन किया है, यही मेरा निष्कल, निष्क्रिय, शान्त, और सच्चिदानन्दपूर्ण विग्रह है। इस कमललोचन स्वरूप से बढ़कर दूसरा कोई उत्कृष्ट तत्व नहीं है। वेद इसी स्वरूप का वर्णन करते हैं। यही रूप सर्वकारणों का कारण है। यही सत्य, परमानन्दस्वरूप चिदानन्दघन सनातन शिवतत्व है। मेरी यह मथुरापुरी अनित्य नहीं है। यह मेरा नित्य-लोक है। ये वृन्दावन, यह यमुना, ये गोपकन्यायें, ये ग्वालबाल, सभी नित्य हैं। इसमें संशय

मत करना। पृथ्वी में जो मेरा अवतार है वह भी नित्य है। मैं ही एकमेव सर्वज्ञ, परात्पर, सर्वकाम, सर्वेश्वर, सर्वानन्दमय, परमेश्वर हूँ। मुझ में ही यह सारा विश्व, जो मेरी माया, विलासमात्र है, प्रतीत हो रहा है।"

दूसरा इतिहास भगवान् शिवजी नारदजी को कह रहे हैं :-- "मैने भगवान् से एक बार यह वरदान माँगा --

यद्रूपं ते कृपासिन्धो परमानन्ददायकम्।
सर्वानन्दाश्रयं नित्यं मूर्तिमत् सर्वतोऽधिकम्।
निर्गुणं निष्क्रियं शान्तं यद्ब्रह्मेति विदुर्बुधाः।
तदहं द्रष्टुमिच्छामि चक्षुर्भ्यां परमेश्वर ।।

"कृपासिन्धो ! आपका जो परमानन्ददायक, समग्र आनन्दों का आश्रय, नित्य मनोहररूपधारी, सबसे श्रेष्ठ, निर्गुण, निष्क्रिय, और शान्त रूप है जिसे विद्वान लोग ब्रह्म कहते हैं, उसको मैं अपने नेत्रों से देखना चाहता हूँ।"

इस पर भगवान् ने कहा -- "तुम मेरे लीलाधाम वृन्दावन में चले जाओ, जो यमुना के पश्चिम तट पर है। वहाँ तुम्हें मेरे दर्शन होंगे।"

मेरे वहाँ जाने पर मुझे सम्पूर्ण देवेश्वरों के भी ईश्वर श्रीकृष्ण के दर्शन हुए। ये किशोरावस्था से युक्त कमनीय गोपवेष धारण किये अपनी प्रिया श्रीराधा के कंधे पर बायाँ हाथ रखकर खड़े थे। उनकी वह झाँकी बड़ी ही मनोहर जान पड़ती थी। चारों ओर गोपियों का समुदाय था। मध्य में भगवान् खड़े हुए श्रीराधाजी को हँसाते हुए स्वयं भी हँस रहे थे। उनका श्रीविग्रह सजल-श्याम-मेघ के समान वर्णवाला था। वह समग्र कल्याणमय गुणों का धाम था। श्रीकृष्ण मुझे देखकर हँसे। उनकी वाणी में अमृत भरा था। वे मुझसे बोले :-- "रुद्र ! तुम्हारा मनोरथ जानकर आज मैने तुम्हें दर्शन दिये हैं। इस समय मेरे जिस अलौकिक रूप को तुम देख रहे हो, यह निर्मल प्रेम का पुंज है। इसके रूप में सत् , चिद्, आनन्द ही मूर्त्तिमान् हुए हैं। उपनिषदों के समूह मेरे इस स्वरूप को निराकार, निर्गुण, व्यापक, निष्क्रिय, और परात्पर बताते हैं। मेरे दिव्य गुणों का अन्त नहीं है और कोई भी उन गुणों को सिद्ध नहीं कर सकता। अतः वेदान्त शास्त्र मुझ ईश्वर को 'निर्गुण' बतलाता है। महेश्वर ! मेरा यह रूप चर्मचक्षुओं से नहीं देखा जा सकता, अतः सम्पूर्ण वेद मुझे अरूप 'निराकार' कहते हैं। मैं अपने चैतन्य अंश से सर्वत्र व्यापक हूँ,

इसीलिये विद्वान लोग मुझे 'ब्रह्म' के नाम से पुकारते हैं। मैं इस प्रपंच का कर्ता नहीं हूँ, इसीलिये शास्त्र मुझे 'निष्क्रिय' बताते हैं। शिव ! मेरे अंश ही मायामय गुणों के द्वारा सृष्टि संहार आदि कार्य करते हैं, मैं स्वयं कुछ भी नहीं करता। हे महादेव ! मैं तो इन गोपियों के प्रेम में विह्वल होकर न तो कोई दूसरी क्रिया जानता हूँ, न मुझे अपने आपका ही भान रहता है। ये मेरी प्रिया राधिका हैं, इन्हें परादेवता समझो। मैं इनके प्रेम के वशीभूत होकर सदा इन्हीं के साथ विचरण करता हूँ। इनके आगे-पीछे, अगल-बगल में जो लाखों सखियाँ हैं, वे सबकी सब नित्य हैं। जैसा मेरा विग्रह है, वैसे ही इनका भी सच्चिन्मय विग्रह है। मेरे सखा, माता-पिता, गोप-गौएं तथा वृन्दावन - ये सब भी मेरे स्वरूपभूत नित्य चिन्मय हैं। इन सबका स्वरूप सच्चिदानन्द रसमय ही है। मेरे इस वृन्दावन का नाम आनन्दकन्द समझो। इसमें प्रवेश करने मात्र से मनुष्य को पुन: संसार में जन्म नहीं लेना पड़ता। मैं वृन्दावन छोड़कर कहीं नहीं जाता। अपनी प्रिया के साथ यहीं निवास करता हूँ। रुद्र ! तुम्हारे मन में जिस जिस बात को जानने की इच्छा थी वह सब मैंने बता दी।'

तब भगवान् रुद्र ने पूछा -- 'प्रभो ! आपके इस स्वरूप की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? इसका उपाय मुझे बताइये।' भगवान् ने कहा -- 'रुद्र ! तुमने बहुत अच्छी बात पूछी है। किन्तु यह विषय अत्यन्त रहस्य का है। इसे यत्नपूर्वक गुप्त रखने की आवश्यकता है। देवेश्वर ! जो दूसरे उपायों का भरोसा छोड़कर एकबार हम दोनों की शरण आ जाता है और गोपीभाव से मेरी उपासना करता है, वही मुझे पा सकता है। जो एक बार भी हम दोनों की शरण आ जाता है, अथवा अकेली मेरी इस प्रिया राधा की अनन्य भाव से उपासना करता है, वह मुझे अवश्य प्राप्त करता है। इसलिये सर्वथा प्रयत्न करके मेरी इस प्रिया की शरण ग्रहण करनी चाहिये।'

"रुद्र ! मेरी प्रिया का आश्रय लेकर तुम भी मुझे अपने वश म कर सकते हो। यह बहुत ही बड़े रहस्य की बात है। अब तुम मेरी प्रिया की शरण लो और युगल मंत्र का जप करते हुए मेरे धाम में निवास करो।"

इसी प्रसंग में भगवान् शंकर नारदजी से कहते हैं -- 'श्रीकृष्णप्रिया राधा अपनी चैतन्यादि अन्तरंग विभूतियों से इस प्रपंच का गोपन अर्थात् संरक्षण करती हैं। अत: उन्हें 'गोपी' कहते हैं। वे श्रीकृष्ण की आराधना में तन्मय रहती हैं अत: 'राधिका' कहलाती हैं। श्रीकृष्णमयी होने के नाते वे परादेवता

हैं। वे पूर्णतया लक्ष्मी-स्वरूपा हैं। श्रीकृष्ण के आह्लाद का मूर्त्तिमान्-स्वरूप होने के नाते मनीषीजन उन्हें 'ह्लादिनी शक्ति' कहते हैं।"

"श्रीराधा साक्षात् महालक्ष्मी हैं और श्रीकृष्ण नारायण हैं। इनमें थोड़ा-सा भी भेद नहीं है। श्रीराधा दुर्गा हैं, तो श्रीकृष्ण रुद्र हैं। वे सावित्री हैं और श्रीकृष्ण ब्रह्मा हैं। इन दोनों के बिना किसी भी वस्तु की सत्ता ही नहीं है। जड़-चेतनमय सारा संसार ही श्रीराधा-कृष्णमय है। सब मात्र इन्हीं की विभूति हैं।"

"तीनों लोक में पृथ्वी सर्वश्रेष्ठ है, इसमें जम्बूद्वीप, फिर इसमें भारतवर्ष, फिर इसमें मथुरापुरी, मथुरापुरी में वृन्दावन, फिर उसमें गोपीजन, गोपीजनों में राधा की अन्तरंग सखियाँ, उनमें श्रीराधा सर्वश्रेष्ठ हैं।"

तीसरे प्रसंग में भगवती पार्वती के पूछने पर भगवान् शंकर श्रीकृष्ण के अंगों का वर्णन करते हैं तथा उनके नख-शिख-शोभा-श्रृंगार का वर्णन करते हुए उनके महत्व का विवेचन करते हुए कहते हैं :-

'केचिद्वदन्ति तस्यांशं ब्रह्मचिद्रूपमद्वयम्।
तद्दशांशं महाविष्णुं प्रवदन्ति मनीषिणः।।
योगीन्द्रैः सनकाद्यैश्च तदेव हृदि चिन्त्यते।
तिर्यग्ग्रीवजितानन्तकोटिकन्दर्पसुन्दरम्।।
सापांगेक्षणसस्मेरकोटिमन्मथसुन्दरम् ।
कुञ्चिताधरविन्यस्तवंशीमंजुकलस्वनैः।।
जगत्त्रयं मोहयन्तं मग्नं प्रेम सुधार्णवे।।

(पद्मपुराण पातालखण्ड)

'कुछ विद्वानों का कथन है कि चिद्रूप अद्वितीय ब्रह्म उनका (श्रीकृष्ण का) अंश है। अनेक मनीषीगण महाविष्णु को उनका दशमांश कहते हैं। सनकादि योगीश्वर अपने हृदय में इनका सदा चिन्तन करते हैं। जिस समय वे टेढ़ी गर्दन करके खड़े होते हैं, उस समय अनन्तकोटि कामदेवों से भी अधिक सुन्दर दीखते हैं। वे अपनी तिरछी चितवन तथा मधुर, मन्द मुसकान द्वारा करोड़ों कामदेवों के समान सुन्दरता धारण कर अपने सिकोड़े हुए अधरों पर वंशी रखकर बजा रहे हैं और उसी मुरली की मधुर स्वरलहरी से त्रिभुवन को मोहित करते हुए सबको प्रेम सुधा सागर में निमग्न कर रहे हैं।'

देवी ! जिनके नखचन्द्र-किरणों की महिमा का भी अन्त नहीं है, उन्हीं भगवान् श्रीकृष्ण की महिमा के सम्बंध में मैं कुछ और बता रहा हूँ। त्रिगुणमय अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों में जितने ब्रह्मा-विष्णु-महेश्वर हैं, सब इन श्रीकृष्ण की कला के करोड़वें-करोड़वें अंश से उत्पन्न हैं। सृष्टि-स्थिति-प्रलय की शक्ति से युक्त वे ब्रह्मादि देवता उन्हीं श्रीकृष्ण के वैभव हैं। उन श्रीकृष्ण के अंश का जो करोड़वाँ - उसके भी करोड़ अंश करने पर एक-एक अंश-कला से ऐसे असंख्य कामदेवों की उत्पत्ति होती है जो इस ब्रह्माण्ड में स्थित होकर जगत् के जीवों को मोह में डालते हैं। श्रीकृष्ण की शोभा-कान्ति के करोड़वें अंश से चन्द्रमा का आविर्भाव हुआ है। श्रीकृष्ण के प्रकाश के करोड़वें अंश से जो किरणें निकलती हैं, वे ही अनेकों सूर्य के रूप में प्रकट होती हैं, वे परमानन्द रसामृत से परिपूर्ण हैं। वे परमानन्द और परम-चैतन्यमयी हैं, उन्हीं से इस विश्व के ज्योतिर्मय जीव जीवन धारण किये हुए हैं। जो भगवान् के ही कोटि-कोटि अंश हैं। उनके चरणयुगल के नख रूपी चन्द्रकान्तमणि से निकलने वाली प्रभा को ही 'पूर्ण-ब्रह्म' बताया गया है, जो सबका कारण है और वेदों के लिये भी दुर्गम है। विश्व को मोहित करने वाला जो नाना प्रकार के पुष्पादि का सौरभ है वह सब उनके श्रीविग्रह की दिव्य सुगन्ध का करोड़वाँ हिस्सा है। इन श्रीकृष्ण की प्रिया, प्राणवल्लभा श्रीराधा हैं। वे ही आद्या-श्रीकृष्णमयी-प्रकृति हैं। इन्हीं श्रीराधिका के करोड़वें अंश से त्रिगुणात्मिका दुर्गादि देवियों की उत्पत्ति हुई है। इन श्रीराधिका के पद-रजस्पर्श से करोड़ों विष्णु उत्पन्न होते हैं।'

(पद्मपुराण पातालखण्ड)

प० पू० गुरुदेव इन शास्त्र वाक्यों को पढ़कर इतने कृतकृत्य हो गये मानो अब उन्हें कुछ भी जानना-समझना शेष नहीं है। जैसे समुद्र में डूब जाने पर ऊपर-नीचे, बाहर-भीतर, जल-ही-जल उपलब्ध होता है, उसी प्रकार पू० गुरुदेव को आगे-पीछे, ऊपर-नीचे श्रीकृष्ण-ही-श्रीकृष्ण, एवं उनका लीलासिन्धु दिखने लगा। परन्तु अभी उनके जीवन में बहुत बड़ी-बड़ी लीला तरंगें आनी शेष थीं, जिनका तो उन्हें अभी आभास ही नहीं हुआ था।

प० पू० गुरुदेव को पद्मपुराण में ही अष्टकालीन लीला का अत्यन्त सुन्दर कम भी प्राप्त हो गया जिसके लिये उनका मन अतिशय लालायित था। वह अष्टकालीन कम ही प्रारंभ में उनकी रस-साधना का प्रमुख अंग रहा है।

यहाँ पुनः एक बात उल्लेख कर देता हूँ कि पू० गुरुदेव को श्रीपोद्दारमहाराज की कृपा से भगवान् श्रीकृष्ण की रसमयी लीलायें सदा ही पहले प्रकट होती थीं और जब गुरुदेव उन प्रकट हुई लीलाओं का आधार पद्मपुराण, स्कन्दपुराण, ब्रह्माण्डपुराणादि आगम शास्त्रों में तथा रसिक व्रजभक्तों के लीलाचरित्रों के पद संग्रहों में, व्रजभक्तों की महावाणियों में ढूँढ़ते तो उन्हें वे कुछ भिन्नरूप में सही - मिल जाती थीं।

भावजगत् - अहीरनी रसमयी

पू० गुरुदेव ने अपने भाव संसार की निम्न लीला-कथा मुझे एवं भाई श्रीराधेश्याम पालड़ीवाल को सन् १९५१ ई० में सुनायी थी। भाई श्रीराधेश्याम पालड़ीवाल तो उन दिनों पू० गुरुदेव का सर्वोत्तम समर्पित शिष्य था। उस पर चाहे अति अल्पकाल के लिये ही सही, उन दिनों पू० गुरुदेव की असीम कृपा वर्षा हुई थी। उसके संग-साथ से जो लीला-प्रसंग उन दिनों सुनने को मिले, वे ही यहाँ दिये जा रहे हैं।

यहाँ जो लीलायें लिखी गयी हैं, वे सभी श्रुतियाँ हैं। पू० गुरुदेव द्रष्टा ऋषि थे, वे दृष्य देखते हुए वर्णन करते थे, और हम भाग्यवान् जीव उन्हें सुनते थे। पू० गुरुदेव द्वारा उन्हें नहीं लिखने का कठोर आदेश था। हाँ, इन लीलाओं का जो भी अंश श्रीकृष्ण स्मृति-पटल पर स्थायी रूप से अंकित कर दें, उसके अनुसार चिन्तन-साधना हम भले ही करें। एक दिवस मात्र एक छोटी सी लीला का प्रकाश मैंने श्री गुलाबचन्दजी बोथरा के सम्मुख कर दिया था, इस पर पू० गुरुदेव मुझ पर बहुत रुष्ट हुए थे। कहना इतना ही है, कि उन्हें हम परस्पर एक-दूसरे को कह भी नहीं सकते थे। पू० गुरुदेव जिसे जितना अधिकारी समझते, अपनी इन लीला-रूप-मंत्र शक्तियों का बीज ही उसके हृदय में डालते थे, और बस उस समय पूर्ण मनोयोग पूर्वक एकाग्र चित्त से हम सुनते भर रहें, यही हमसे उनकी अपेक्षा होती थी।

सन् १९५१ ई० से १९७१ ई० तक जब तक मैं सन्यस्त नहीं हो गया, सुनी हुई इन श्रुति निधियों को, मंत्र-स्वरूप, जाग्रत, अप्राकृत-लीला-प्रसंगों को यहाँ दिया जा रहा है। शुद्ध मन से श्रद्धापूर्वक साधना करने पर निश्चय ही साधनातीत वस्तु के अवतरण में ये हेतु होंगी, ऐसा मेरा विश्वास है।

वाह ! क्या ही विलक्षण मेरे गुरुदेव का भाव-संसार है। जिसका आकाश प्यार है, जिसके सूर्य चन्द्र मरुद्गण, पृथ्वी, आकाश, जल, तेज एवं दिशायें सभी प्यार हैं। जिसकी उद्‌भिज, अण्डज, जरायुज, स्वेदज सभी सृष्टि मात्र प्यार-ही-प्यार है। जिसके ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र अर्थात् सृष्टि, पालन एवं संहारकर्त्ता भी मात्र प्यारी एवं प्यारे ही हैं।

ऐसे प्यार के देश में रसमयी बाला बने पू० गुरुदेव अपनी गोबर से लिपी-पुती वन-कुटिया में विराजित हैं। वह कुटिया जर्जरित भग्न है। पू० गुरुदेव की भावदेह इस बाला को क्या नाम दें। मञ्जुलीला नाम तो श्रीराधारानी से मिलन के पश्चात् श्रीरूपमंजरीजी ने उल्लेख किया था। इसके पहले तो पू० गुरुदेव अपने भाव-संसार में बस अनाम गोपी थे। जब उनके दृष्य पटल में **'प्रकट्यौ पूरण नेह'** पद की लीला प्रकट हुई थी, उस समय भी उन्हें किसी नाम की स्फूर्ति हुई नहीं थी। हुई होगी तो भी उन्होंने उसका प्रकाश किया नहीं। अत: उन्हें उस अवधि तक के लिये जब कि उन्हें श्रीरूपमंजरीजी के संग मंजुलीला सेवा प्राप्त होती है, रसमयी अथवा भावमयी ही नाम दिया जा सकता है। मुझे व्यक्तिगत रसमयी नाम ही उपयुक्त लगा है। अत: उनके भावदेह को इसी नाम से उच्चारित कर रहा हूँ।

रसमयी की कुटिया मात्र देखने में ही भग्न एवं जर्जरित है। वह तो विशुद्ध सत्व के सार, प्यार का उत्तुंग प्रासाद है और प्यार के प्रासादों की ऐसी ही शोभा आज से नहीं अनादि काल से है। प्यार जनशून्य, टूटे-फूटे, एकाकी वन-वृक्षों के तले ऐसे ही भग्न-गृहों में उत्पन्न होता है, पलता है और अभिवर्धित होता है। वैकुण्ठ एवं कैलाश का वैभव वहाँ तुच्छातितुच्छ प्रतीत होता है।

बाला की कुटिया के सामने का पथ दूर बहती सरिता की ओर गया है। यह पथ सरिता तक पहुँच कर सरिता के किनारे चलता दक्षिण की ओर पगडंड़ियों में परिवर्तित हो जाता है। दक्षिण पथ से ही उस सुदूर वन से होते हुए उस रसमयी बाला के प्राणवल्लभ आते हैं, नित्य ही तो आते हैं। गायें चराकर उस वन से लौटते हैं और तब वे अपने एक छाया स्वरूप से तो सखादि के संग गायें लिये सरिता के किनारे-किनारे उत्तर की ओर पथ से गोकुल की ओर बढ़ जाते हैं और वे स्वयं उसकी भग्न कुटिया की ओर चुपचाप सरक आते हैं। अहा ! वे प्यार के कैसे निर्मल क्षण होते हैं जब बाला उनके प्रथम दर्शन करती है।

अहा ! कैसी शोभा होती है उसके नीलमणि की। मानो वे श्यामलता के एक अनिर्वचनीय फल हों जो मधुर सुस्वादु रस से पूरित हो उठे हों, और उस रसमयी बाला की लोभनीय वस्तु बन गये हों। कैशोरभाव उनके अंग-प्रत्यंगों में समस्त मधुरिमा और उच्छलित आनन्द उँड़ेल रहा होता है। मानो नीलपद्म अपने हृद्देश में प्रतिक्षण सृष्ट होते हुए मकरन्द एवं पराग को एकत्र कर मधुकरी (रसमयी बाला) का प्रीतिभाजन बनने जा रहा हो। अहा ! घुँघराली अलकें उनके कपोलों पर एवं ललाट के कुछ अंश पर झूलती कैसी प्यारी लगती हैं, उसे। गोखुरों से बिखरे उड़े धूलिकण अलकों की शोभा कैसी द्विगुणित कर दे रहे होते हैं। कुन्तल मण्डित मस्तक पर मयूर पिच्छ का मुकुट सदा ही सुशोभित रहता है और केशों में सुरभित वन्यप्रसून ग्रथित होते हैं। नेत्रों की मनोहर चितवन और अधरों पर व्यक्त हुए मृदु स्मित की शोभा देखते ही बनती है। वेणु के छिद्रों में जब वे स्वर भरते हैं तो बाला के प्राण छटपटाकर उसका देह छोड़कर उस नवकिशोर के चरणों में न्यौछावर हो जाते हैं।

जब उसका प्रियतम वह किशोर नीलम सामने के कदम्ब वृक्ष के नीचे खड़ा होता है तो तत्क्षण ही उसके नेत्र भ्रमर के रूप में परिणत हो उड़ चलते है। उसके नीलम के मुखारविन्द से राशि-राशि मधु की धारा प्रवाहित होती रहती है - उसके नेत्र भ्रमर उस मकरन्द रस का पान करने में निरत हो जाते हैं। दिनभर की विरहाग्नि जो उसके अन्तस्तल के प्रत्येक अंश में अलक्षित रूप से धक्-धक् जलती होती है, प्रशमित हो जाती है।

उन क्षणों की प्रतीक्षा करती बाला अपने नेत्र उस पथ में बिछाये सम्पूर्ण दिवस और रात काट देती है। आज भी उन्हीं क्षणों की प्रतीक्षा उसे है, और उसके नेत्र उस पथ में ही बिछे हैं।

उसकी कुटिया पूर्वाभिमुख है। अभी मध्याह्न है फिर भी रवि किंचित पश्चिम की ओर अग्रगामी होने के कारण उसकी कुटिया के पीछे वृक्षों की ओट में हो गया है कुटिया के बाहर सुखद छाया है। उस छाया में वह उत्तराभिमुख बैठी है। उसके प्राणाराम अवश्यमेव इसी वन में कहीं होंगे। उसके नेत्र उन्हें ढूँढ़ते भटक रहे हैं। किसी सूदूर वन के मध्य कहीं उसके प्रियतम मिल जायें सखाओं के मध्य क्रीड़ा करते। किसी वृक्ष पर बैठे, अपनी गायों को घेरते, पीताम्बर फहराते, वंशीध्वनि करते दिख जावें। उसके नेत्र प्रियतम की खोज में उसे छोड़कर भाग गये हैं। और नेत्र अकेले थोड़े गये हैं

उसकी कर्णेन्द्रियाँ भी वन पथ में ही कहीं वेणुध्वनि सुन रही होंगी, और मन तो अपने मनोहर को एक क्षण भी नहीं छोड़ पाता । मन अपने साथ उसके प्राणों को भी ले गया है। हाँ, उसे संजीवित रखने का कार्य प्रियतम की अबाध स्मृति अवश्य क्रियाशील हुई कर रही है। सारांश यही है कि प्रियतम स्मृति रूप उसके नीलम के ही प्राणों का एक अंश उसे जीवित रखे है।

उसके अपने मन एवं प्राण तो उसके पास तभी लौटेंगे जब उसके प्राणवल्लभ उसके नेत्रगोचर होंगे। और अब तो आने वाले ही होंगे। नित्य ही तो आते हैं। दक्षिण दिशा में थोड़ी दूर जो पुष्पित कदम्ब है, उसके ही नीचे वे प्रतिदिन खड़े हो जाते हैं। उनका यह प्रतिदिन का नियम है। फिर आज इसका उल्लंघन वे क्यों करेंगे ? आज भी अब तो वे आने ही वाले होंगे। ऐसा हो ही नहीं सकता कि वे नहीं आवें। इसी आशा में तो शरीर जीवन्त है उसका। उनके प्यार की ऊष्मा ही तो उसे जीवित किये हुए है। अन्यथा तो अपने प्रियतम का क्षणभर वियोग भी वह कैसे सह पावे ? उसके प्राण कभी के मिल जावें अपने प्राणप्रिय नीलम के नीलकमल जैसे चरणारविन्दों में।

परन्तु नहीं, यह देह उसके प्राणवल्लभ नीलम की प्रिया है। उन्हें उसके पास आने में, उसे देखने में सुख मिलता है, इसीलिये वह इस देह को पकड़े है। मात्र अपने प्रिय के सुख के ही लिये वह देहरूपा है, देह को धारण किये हैं।

तो बाला के प्राण चले गये हैं अपने प्राणधन को खोजने। वे भटक रहे हैं उस वृन्दा विपिन की राहों में। और आकुल प्राणों की सच्ची इच्छा जब उन्हें ढूँढ़ने एवं पाने की होती है तो वह प्राणधन मिल ही जाता है। यद्यपि यह सर्वत्र है, सर्वव्यापक है परन्तु उसका प्राकट्य प्रेमभरी प्राणों की आकुलता से ही होता है। रसमयी बाला के प्राण अन्ततः उसे ढूँढ़ ही लेते हैं। उसे देखते ही रसमयी के प्राण हरे हो जाते हैं। रसमयी के नेत्र, प्राण, मन सब इस शोभा का पान करने में संलग्न है :--

कृष्णस्य विष्वक् पुरुराजिमण्डलैरभ्याननाः फुल्लदृशोर्वृजार्भकाः
सहोपविष्टा विपिने विरेजुश्छदा यथाम्भोरुहकर्णिकायाः ॥
बैठे जो बीच कृपालु, सुन्दर सखा चहुं दिसि भ्राजहीं।
जिमि कमल मध्य सुकर्णिका सुभ पत्र चहुँदिसि छाजहीं।

मानो पद्म का एक प्रफुल्ल बीजकोश हो, इस बीज कोश के चारों ओर मंडलाकार श्रेणीबद्ध पद्म-दल हों -- इस प्रकार अपने सखा श्रीकृष्णचन्द्र को वेष्टित कर गोपशिशुओं ने आसन ग्रहण किया हुआ हैं। पहले श्रीदाम, सुबल, आदि शिशुओं की एक पंक्ति अपने सखा को घेर कर बैठ जाती है। इसके अनन्तर अपेक्षाकृत वृहत् दूसरी पंक्ति पहली को मण्डलाकार ही घेरे है। तीसरी पंति दूसरी की अपेक्षा वृहत्तर है और दूसरी को आवृत्त किये है।

वृजेन्द्रनन्दन को आवृत्त करने वाली प्रथम पंक्ति के सखा सभी वृजेन्द्र नन्दन की तरह पीत वस्त्र पहने हैं। अत: प्रथम पंक्ति पीत वर्णों के पद्म-दलों की तरह शोभा सम्पन्न है। द्वितीय पंक्ति में बैठे सभी सखा संयोगवश रक्तवर्ण के वस्त्र पहने हैं इसी प्रकार तृतीय पंक्ति में सभी सखा श्यामवर्ण के नील वस्त्र पहने हैं। इस प्रकार प्रफुल्ल पद्मकोश के निराले रंग बिरंगे सौन्दर्य का वर्णन साक्षात् वाग्वादिनी के लिये भी असंभव हो रहा है।

साथ ही एक और महती आश्चर्य है कि व्रजराज नन्दन का मुख-पद्म प्रत्येक शिशु की ओर है। प्रत्येक को यह अभ्रान्त अनुभूति है कि मेरा कन्हैया भैया सर्वथा मेरी ओर ही दृष्टि किये, स्नेह सौहार्द की अजस्र धारा बहाते हुए मेरे पार्श्व में ही अवस्थित है। ऐसी अवस्था में सबके आनन्द की थाह ही नहीं है।

जो हो रसमयी बाला प्रत्यक्ष देख रही है कि सखाओं से परिवेष्टित होकर भोजन के लिये आसन ग्रहण किये श्रीकृष्णचन्द्र यमुना पुलिन के उस वन में विराजे हैं।

आज सखाओं के भोजन के पात्र भी निराले ही हैं। कतिपय शिशुओं ने सुन्दर सौरभशाली कुसुमों के दल एकत्र किये और उन्हें संघटित कर अपने भोजन पात्र बनाये हैं।

अनेकों ने पद्म पत्रों से थाल का निर्माण किया हैं। कुछ ने वृक्ष के सुकोमल पत्रों से तो अनेकों ने वृक्ष-वल्कलों को लेकर अपनी थाली बनायी हैं।

केचित् पुष्पैर्दलै: केचित् पल्लवैरंकुरै: फलै:
शिग्भिस्त्वाग्भिर्हषद्‌भिश्च बुभुजु: कृतभाजना: ।

कोउक पुष्प कोउ तासु दल कोउक पत्र फल माँहि
भाजन कर जेवन लगे अपर उपल चित चाँहि ।

रसमयी बाला के प्राण इस शोभा को अलक्षित लक्ष्य कर रहे हैं। पू० गुरुदेव बैठे हैं मुझ देहावेशी अधम के सम्मुख, उनका गैरिक वस्त्रधारी देह है, राजस्थान के, रतनगढ़ ग्राम में श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार की हवेली में। परन्तु उनके भाव शरीर के सम्मुख विलक्षण दृश्य के रूप में उनका भावजगत् प्रकट हो रहा है। उनके नेत्र निहार रहे हैं अपने कोटि प्राण प्रियतम के विलक्षण सौन्दर्य को। पू० गुरुदेव विलक्षण योगसिद्ध पुरुष थे। उनका शरीर उन दिनों पोद्दार महाराज द्वारा सौंपे पुस्तकालय के कार्य मे रत रहता। वे राधेश्यामजी धानुका एवं अन्य लागों को यथायोग्य कार्य करने का 'राधा राधा' बोलकर अपनी स्लेट पट्टी में निर्देश देते रहते परन्तु उनके मन एवं प्राण अलक्ष्य लक्ष्य करते रहते अपने प्राण सुन्दर नीलम को। उनके प्रियतम का मधुस्यन्दी स्वर उनके कानों को निनादित करता रहता था :--

भो, भो, भो, भो उज्ज्वलनिष्का निष्कासयत भक्ष्य सामग्रीं अग्रीयाम् इति।

(श्री आनन्द वृन्दावन चम्पू।)

अहो ! समुज्ज्वल पदक धारण करने वाले मेरे बन्धुगणों ! उत्तमोत्तम भोजन सामग्री अपने छींकों से निकालो तो सही !

बस, इस सुधा पूरित याचना की देर भर थी, सभी ने अपनी सर्वोत्तम खाद्य सामग्री अपने कन्हैया भैया के सम्मुख रख दी। प्रत्येक सखा को प्रत्यक्ष अनुभव होता है कि कन्हैया भैया के सबसे अधिक निकट मैं बैठा हूँ, सर्वथा सम्मुख बैठा हूँ और मैंने अपने छींके की भेंट समर्पित की और कनु ने अपना सर्वोत्तम सबसे अधिक प्रिय पदार्थ मेरे आगे रख दिया। यह देखो ! अहा ! औरों ने भी वस्तु लाकर कन्हैया भैया को दीं अवश्य, परन्तु इसने होठों पर रक्खी सबसे प्रथम मेरी दी हुई वस्तु ! अहा ! क्या सुख सिन्धु उमड़ रहा है रसमयी बाला के उर एवं प्राणों के सम्मुख। पू० गुरुदेव का देह भले ही एकान्त में रहे, चाहे अनेक लोगों से घिरा कार्यरत हो - कदाचित अपने प्रियतम प्राणवल्लभ की अखण्ड स्मृति रह-रहकर उन में प्रत्यक्ष संयोग की भ्रान्ति नहीं उत्पन्न करती रहती होती तो सचमुच ही अपने प्रियतम के विरह में एक दिवस भी वे जीवन धारण कर पाते या नहीं - यह निर्णय कर लेना सहज नहीं है।

मैंने निरे बालकपन में उनकी यह दशा अपने इन चर्मचक्षुओं से देखी है। जैसा स्मरण है आगे के अध्याय में वर्णन कर रहा हूँ।

"मुझे भूत लग गया था और अब तो भूतनी भी आ गयी है"

बात १९४० ई० की है मई जून का महीना था। पू० भाईजी (पू० पोद्दार महाराज) गोरखपुर छोड़कर पहले तो एकान्तवास की दृष्टि से ड़ालमिया दादरी चले गये थे, पश्चात् गोरखपुर जाकर पुन: सभी सम्पादक-विभाग सहित अपने पूर्वजों के ग्राम रतनगढ़ आ गये थे। मेरे मामा श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी भी रतनगढ़ ही श्री भाईजी के साथ ही चले आये थे। वे श्रीपोद्दार महाराज की हवेली के पास ही एक दूसरे अग्रवाल सेठ की हवेली थी, उसमें रहते थे।

मैं एकादश वर्षीय बालक मेरे मामा के पास ही पढ़ने चला आया था। दिन में भोजनादि करके मेरे मामाजी श्रीपोद्दार महाराज की हवेली में ही चले जाते थे। वहीं उनका कार्यालय था। कल्याण एवं कल्याण-कल्पतरु के सम्पादन का कार्य वहीं से होता था। मेरी ग्रीष्मावकाश की छुट्टियाँ चल रही थीं। अत: मैं भी सम्पादक विभाग के धार्मिक पुस्तकालय से पुस्तकें पढ़ने मेरे मामाजी के साथ ही चला जाता था। धार्मिक बालोपयोगी भक्त चरित्र पढ़ने का मुझे बहुत ही शौक था।

हवेली की पिरोल के पास ही दुतल्ले में पू० गुरुदेव का कमरा था। दिन में पू० गुरुदेव सर्वथा एकान्त में रहते थे। मेरा गुरुदेव से परिचय तो वे सर्वप्रथम चुरू सन् १९३७ में श्रीसेठजी गोयनका जी के साथ-साथ जब आये थे तभी से था, परन्तु इन तीन वर्षों में मिलन नहीं हुआ था।

लगभग ४ बजे थे। मैं चुपचाप सीढ़ी चढ़कर पू० गुरुदेव को दरवाजे के संधिस्थल से देखने लगा। गुरुदेव बालकपन से ही न जाने मुझे क्यों इतने प्रिय लगते थे कि मुझे उनसे मिले बिना रहा ही नहीं जा रहा था। मैं जबसे रतनगढ़ आया था तभी से उनसे मिलने की सोच रहा था, परन्तु प्रथम तो वे मौन थे फिर नाम-जप में तल्लीन रहते थे, अत: मेरे मामाजी उनसे मिलाने का उत्साह ही प्रकट नहीं करते थे।

मैंने दरवाजों के सन्धिस्थल में आँख गड़ाकर देखा - पू० गुरुदेव अपने तख्ते (लकड़ी के) पर शान्त ध्यानस्थ बैठे थे। मैंने साहस करके दरवाजा

खोल लिया। दरवाजा मात्र उढ़का हुआ था। उसमें भीतर से सिटकनी, कुण्डी कुछ भी नहीं लगी थी। दरवाजा थोड़ा सा धक्का देते ही खुल गया। मैंने देखा उनके श्वास अति मन्द थे। वक्षस्थल ऊर्ध्व होने से उनके मुख एवं मस्तक पर रक्त प्रवाह का अधिक चाप था। मैं उनकी विचित्र दशा चुपचाप बहुत देर तक देखता रहा। उनके नेत्र स्थिर थे। मैने उनको 'बाबा' बाबा' कहकर आवाज दी। परन्तु उन्होंने मुझे न देखा, न सुना। मैं विस्मय कर रहा था। मैंने ऐसी दशा किसी की नहीं देखी थी। मेरी माँ हिस्टीरिया के कारण बेहोश हो जाया करती थी, परन्तु वह तो विक्षिप्त रोगिणी की व्याकुल दशा होती थी। यहाँ तो अपरिसीम शान्ति और उनके चेहरे में ऐसी स्निग्ध मुसकान थी कि मेरा मन हटने को कर ही नहीं रहा था। मैं एक घण्टे के लगभग उनके पास ही बैठा रहा। मुझे यही भय था कि कहीं इनकी मृत्यु नहीं हो रही हो। मैने उनको ललाट से, पैरों से स्पर्श किया, तीन चार बार बाबा, बाबा सम्बोधित भी किया, परन्तु वे संज्ञाशून्य थे।

हाँ, रह-रहकर नेत्रों से जो प्रायः स्थिर थे अश्रु की एक दो मुक्ता बिन्दु अवश्य कपोलों पर ढ़लक आती थी। इसका अर्थ था कि वे जीवन्त थे।

लगभग एक घण्टे पश्चात उनके नेत्र हिले और वे होश में आये। मैंने उन्हें प्रणाम कर पूछा - "बाबा ! आप स्वस्थ हैं ? आपको क्या हो गया था ? क्या आपको कोई रोग है ?

उन्होंने 'राधा राधा' कहकर निषेध किया। वे राधा राधा ही बोलते थे। उन दिनों घरों में शौचालय नहीं होते थे। स्त्रियाँ बाड़ों में जो हवेली के पास ही कुछ दूरी पर होते थे, जिन्हें नोहरे कहा करते थे, वहाँ शौच जाती थीं और पुरुष लोग दूर धोरों में (रेत के बडे ऊंचे टीलों में) शौच जाया करते थे। सभी ग्राम के पुरुषों को लोटा लेकर (जलपात्र लेकर) ग्राम से बाहर शौच के लिये जाता देखा जा सकता था। ग्राम के बाहर इसी उद्देश्य से बगीचियाँ भी होती थीं, कूंओं में जल एवं लोटों (जलपात्रों) की व्यवस्था भी रहती थी, जिससे शौच जाने की किया में सुविधा हो जावे।

पू० गुरुदेव लगभग पांच बजे शौच के लिये जाने को जब तत्पर हुए तो मैं भी उनके साथ हो लिया। वे मुझे लेकर रेतीले धोरों में निकल आये।

मैंने उनसे पुनः जिज्ञासा की -- "बाबा ! आपको क्या तकलीफ है ? आपके नेत्रों से अश्रु तो आ रहे थे, परन्तु आप सर्वथा संज्ञाहीन थे। मैं एक घण्टे से आपके कमरे में आपको देखता चुपचाप बैठा था।

पू० गुरुदेव ने मुझसे बहुत ही सात्विक विनोद किया। वे स्लेट तो साथ लाये नहीं थे, अत: उन्होंने रेत में ही अँगुली से लिखकर कहना प्रारंभ किया -- वे मुझ बालक के सम्मुख अपनी उच्च आध्यात्मिक भाव दशा को किस शब्दों में प्रकाश करते वे सत्य के साथ ही साथ आत्म गोपन भी करना चाहते थे। अत: उन्होंने थोड़ा कपट का आश्रय लेकर यही बात बताई :-- "भैया, आज के तीन वर्ष पूर्व मैं राप्ती नदी के किनारे रहता था। वहाँ मुझे एक भूत लग गया था, एवं रतनगढ़ आने पर तो एक भूतनी भी आ गयी है। वह भूतनी तो मुझे सदा पकड़े रहती है। कभी एक क्षण भी नहीं छोड़ती। मेरी आँखों से वही देखती है, मेरे मुख से वही खाती है, मेरे कानों से वही सुनती है, और भैया ! कभी-कभी वह भूत भी आता है। दिन में एक बार तो आता ही है और भूतनी को अपने साथ भी ले जाता है। जब भूतनी भूत के साथ चली जाती है, तब मेरी ऐसी दशा हो जाती है।" मैं अतिशय शंकित हो गया था। मैंने उनसे पूछा -- "इस समय वह भूतनी आपके ऊपर है ?" उन्होंने कहा -- "भूतनी ही तो तुझसे पुरुषाकार भाषा में बोल रही है। मुझे तो उसने मार ही ड़ाला है। मेरे स्थान पर शरीर का सब नियंत्रण तो वही कर रही है।" मैने आश्चर्य से पूछा --"आप पूरे मरे हुए है, मुर्दा हैं ?" उन्होंने कहा -- "सर्वथा"।

"फिर कब तक वह भूतनी आपको पकड़े रखेगी ?" मैंने पुन: जिज्ञासा की। वे बोले -- "जब तक भूत-भूतनी की इच्छा ?" मैंने कहा -- "जब भूतनी ही बोल रही है तब वह मुझे पकड़े रहती है" ऐसा कैसे बोलती है ? उन्होंने कहा --"यह भी भूतनी की इच्छा।"

फिर बोले --"तू न तो कभी अकेले मेरे कमरे में आया कर और न ही मेरे साथ घूमने एकान्त धोरों में चला कर। अन्यथा कहीं तुझे भी भूतनी नहीं लग जाये ?"

मैं सोचने लगा - 'इसीलिये पू. गुरुदेव बहुत ही दुबली पतली आकृति के हैं। भोजन वे करते हैं और चट कर जाती है भूतनी। परन्तु उस बालक को भूतनी का भय सर्वथा नहीं लगता था। उसके पास तो तुलसी की कण्ठी है, यज्ञोपवीत है और गायत्री मंत्र हैं। ये सन्यासी बाबा तुलसी की कण्ठी नहीं रखते होंगे, न ही यज्ञोपवीत एवं गायत्री मंत्र भी इन्होंने नहीं जपा होगा। तभी भूत ने इन्हें दबोच लिया।

उस अबोध बालक को क्या पता कि साक्षात् अधिदेवी तुलसी एवं यमुनाजी जो उसके महाप्रभु वल्लभाचार्य की गुरुस्थानीया हैं वे तो उसके बाबा को सेवा-सामग्री, पुष्प-हार, आभूषण-वस्त्र साक्षात् प्रकट होकर प्रदान करती हैं।

वह एकादश वर्षीय बालक अपने मामा के साथ जिस मकान में रहता है वह विशाल हवेली रतनगढ़ ग्राम में 'भूतों की हवेली' करके प्रसिद्ध थी। जहाँ अनेकों लोगों को अनेक बार भूत दिख चुका था, उसी स्थान पर वह रोज सायंकाल एवं दुपहरी में शौच जाता है। वह तो रोज भूत को चिढ़ाकर आता है -"**अरे भूतड़ा, मेरे गले में तुलसी जी की कण्ठी। करना हो सो करले प्यारे तेर सिर पर मैं मारता डंडी ।**" उसने अपने मामाजी को भी यह मंत्र बताया है। उसके मामाजी ने उसे डाँटकर मना किया है कि उसे किसी को भी इस प्रकार गाली नहीं देनी चाहिये। आखिर भूत-प्रेत भी भगवान के ही रूप होते हैं। परन्तु अनुशासन मानना, बड़ों की आज्ञानुसार चलना तो उसके स्वभाव में ही नहीं है। जो मन में आता है वही करता है वह।

दूसरे दिन वह बालक पुन: उसी समय साढे तीन चार बजे के आसपास उन साधु बाबा के कमरे में पुन: चला गया। आज भी साधु बाबा अपने देह कलेवर में थे नहीं। देह कलेवर निर्जीव वस्त्र की तरह उस कमरे में तख्ते पर पड़ा था। वह देह कलेवर तो संज्ञाशून्य था, परन्तु उसके प्राण तो स्पन्दित हो रहे थे रस के महा समुद्र में। रस का अनन्त अथाह तट-हीन समुद्र उनके अन्त:करण को स्पन्दित कर रहा था, उसके कारण अचिन्त्यावस्था में डूबे होने पर भी देह पर अष्ट सात्विक विकार रह-रहकर व्यक्त हो ही जाते थे। कभी अश्रुधार नेत्रों से बह उठती , कभी स्वेद से देह लथपथ हो जाती, कभी कुछ काल तक अनवरत भीषण कम्प होने लगता, कभी रोमांच हो आता और उनके रोम-रोम ऊर्ध्व हो जाते।

वह अबोध बालक समझ रहा था कि भूत-भूतनी मेरे बाबा को कष्ट दे रहे हैं। इसीलिये मेरे बाबा के शरीर की यह दशा है। उसने अपने गले से तुलसी की कंठी उतारी और उसे अपने बाबा के कमण्डलु जल से धोकर 'श्रीकृष्ण शरणं मम' मंत्र का एक सौ आठ बार उच्चारण करते हुए उसे बाबा के गले में डाल दी। इसके पश्चात वह 'श्रीकृष्ण शरणं मम' मंत्र का मन ही मन अनवरत उच्चारण करता हुआ बाबा के टपकते अश्रुओं को अपनी हथेली में ग्रहण करना प्रारंभ कर देता है। वह मन ही मन भूत भूतनी से प्रार्थना

करता है कि वे भले ही उसके बाबा के देह में रहें परन्तु उसे कष्ट सर्वथा नहीं दें। वह जानता है कि बाबा की आत्मा तो भूत-भूतनी मार चुके हैं अब यदि इन्होंने यह देह छोड़ दी तो उसके बाबा मुर्दा(शव)हो जावेंगे। अतः वह अपने बाबा को जीवित तो रखना चाहता है, परन्तु सुखी, हँसता-खेलता, एवं बोलता व्यवहार करता देखना चाहता है। उन्हें इस प्रकार अतिशय पीड़ा से काँपते, रोते, भय से रोमांचित होते, पसीने से लथपथ होते देखकर उसके प्राण बाहर से भीतर तक काँप उठे हैं। अपने बाबा की दुःख-वेदना बँटाने का उसको यही उपाय समझ में आया कि वह अपने बाबा के आँसुओं को अपनी हथेली में इकट्ठा कर अपने अंग-अंग में चुपड़ ले। संभव है इससे भूत-भूतनी उसको पीड़ित करना प्रारंभ कर दें और उसके बाबा कुछ काल तो उनके द्वारा दिये कष्ट से विराम पा सकें। वह तो 'श्री कृष्ण शरणं मम' अमोघ मंत्र से फिर भूत-भूतनी को सीधा कर ही देगा।

इधर तो वह अबोध बालक रसमयी के बाह्य कलेवर के अश्रु इकट्ठे कर रहा है और उधर पू० गुरुदेव राधा-बाबा रसमयी बाला बने हृदय देश के रस राज्य में अपने साँवरे प्रियतम पर प्राण न्यौछावर कर रहे हैं।

आवनी लीला

प० पू० गुरुदेव की भाव-देह रसमयी के प्राण एवं मन विलक्षण भावदृष्य देख रहे हैं :-- संध्या के किंचित् रक्ताभ श्याम परिधान की आभा वन प्रान्तर् के आकाश में परिव्याप्त हो चुकी है। सखाओं द्वारा उनके प्राण सखा का सर्वांग श्रृंगार सम्पन्न हो चुका है। रसमयी-प्राणवल्लभ नीलमणि के महामरकत श्यामल श्रीअंगों की निराली शोभा बस देखते ही बनती है। सखाओं ने उसका कैसा प्यारा श्रृंगार किया है। मस्तक को तो मयूर पिच्छ निर्मित मनोहर मुकुट से मण्डित किया है। घुँघराली अलकों में विविध वर्ण के महँ-महँ करते हुए कुसुम समूह गुम्फित हो रहे हैं। सखाओं द्वारा पहनाये अन्य अंगों में भी यथायोग्य कुसुमों के ही आभरण सुशोभित हैं। नवीन, रंग-बिरंगी, गैरिक आदि वन्य धातुओं से श्याम कलेवर पर सुन्दराति सुन्दर विविध चित्रों का निर्माण भी सभी ने मिलकर किया है।

सर्वांगों से पूर्ण श्रृंगारित यह साँवरा कैसा मनोहर है कि इसकी शोभा सब श्रृंगारों को श्रृंगारित कर रही है। श्रृंगारों की भला सामर्थ्य ही ऐसी कहाँ है जो इसे सजा सकें।

अहा, जब यह अपने बिम्ब-विडम्बी अधरों पर वंशी को धारण कर उससे परम रसमय अत्यंत स्फुट स्वरों का सृजन करता है तो समग्र विश्व ही मोहित हो जाता है। अब तो व्रजराजकुमार अतुल सुन्दर वेषभूषा से सुसज्जित हुए वन से गोष्ठ की ओर अग्रसर भी होने लगे। मधुरिमा का स्रोत प्रसरित हो रहा है उनके रोम-रोम से। नृत्य की नवनूतन भंगिमाओं के सहित पदविन्यास करते हुए वे सखा मण्डली को परमानन्द में डुबा रहे हैं।

देखो ! यह नीलसुन्दर एक सौन्दर्य समुद्र की तरह लहराता हुआ चाल भरता है। कभी तो यह तरुपत्रों को मोडकर स्वनिर्मित वाद्ययंत्र (सीटी) में अपने परम सुरभित मुखश्वास को भरकर अद्भुत मनोहर राग की एक ऊँची अतिशय मधुर तान छेड़ता है और कभी गुँजाता है अपना मेघ गंभीर श्रृंगीनाद। कभी-कभी यह अपने कर कमलों को ही शंखाकृति दे देता है और तब शंखनाद से स्पर्धा करती हुई कैसी परम मधुर ध्वनि सर्वत्र वन में प्रसरित हो उठती है उसका कौन वर्णन कर पावे।

और ये नन्दनन्दन के सखा जब अपने हृत्तल के सुख को अवरुद्ध करने में असमर्थ हो जाते हैं तो मधुर उच्च स्वर से अपने कन्हैया भैया की पवित्र कीर्त्ति का गान करने लगते हैं। प्रत्येक के कण्ठ से व्रजेन्द्र-नन्दन की प्रशंसा के गीत झर रहे हैं। सर्वथा अपनी ही प्रतिभा से रचित एवं तालबन्ध से गाये हुए इन मधुर गीतों में भरा है नन्दनन्दन के सुयश का वर्णन, उनकी बाल्य चेष्टामयी पुनीत कीर्त्ति का चारु चित्रण।

अरी यो कान्हर कारो री, नहीं री यो व्रज उजियारो री
सात बरस के साँवरिया ने गिरिवर धार्‌यौ री।
कालिय हृद में साँप नथायो, दावानल मुख पान करायो
तृणावर्त बक अघ से असुरन मार पछार्‌यौ री
चीर चोर, चितचोर, और दधिचोर कहायो री

अहा ! इधर तो पूर्ण महा सख्य रस प्रवाहित हो रहा है, और इस अमित रस में समग्र वृन्दावन झूम रहा है और उधर प्राणों की समग्र उत्कण्ठा लिये

रसमयी अपना तन, मन सबकुछ सर्वथा विस्मृत किये अपनी भग्न किन्तु प्रीति प्रासाद बनी कुटिया में अपने प्राणधन नीलमणि की आकुल प्रतीक्षा में सर्वथा उन्मादिनी हो रही है। वह कभी द्वार पर खड़ी होती है एवं कभी अपने प्रियतम के स्वागतार्थ सजायी रखी सेवा सामग्री की जांच परख करती है। उसके नेत्र केन्द्रित हैं, उस दिशा में, वन के उस पथ की ओर ही जिधर से ये व्रजेन्द्रनन्दन आते हैं।

उसका मन पुन: दौड़ जाता है अपने प्रियतम के पास। देखो ! देखो इनकी भुजाओं में कड़े, कंकण और बाजुबंद शोभा पा रहे हैं। हाथों में मुद्रिका अंगूठी है। और सबसे शोभा देने वाली तो इनके हाथों की नख राशि है।

रसमयी के ज्योंही ध्यान में प्रियतम के करकमल आते हैं, वह सोचने लगती है, हाय ! मैं कितनी ही मेंहदी क्यों न लगालूँ मेरे मेंहदी लगे हाथ कितने कुरुप हैं, और आते ही वे तो सर्वप्रथम अपने सुकोमल हाथों में इन्हें ही धारण करेंगे। इन्हें पुष्पसार से सुरभित तो कर लूँ। हाय ! ये खुरदरे हाथ, उनकी सुकोमलतम हथेलियों को कष्टकारी न हों।

रसमयी इस प्रकार अपने चित्त को व्यग्र कर रही है, इतने में ही उसके श्रवणरंध्रों में वेणुरव गूँज उठता है। अहा ! वे देखो वे आ गये, वे रहे उसके प्राणाराम। उसके दृगों में श्याम ज्योति पूरित हो उठती है।

विचित्र साज श्रृंगार से विभूषित हुए, अपनी परम रमणीय चेष्टाओं से पद-पद पर सुख सरिता का सृजन कर उसमें स्वयं ही अवगाहन करते हुए, सखाओं को निमग्न करते हुए रसमयी नयनानंदवर्धन प्रियतम अपनी छाया छवि से तो ब्रजपुर में प्रवेश कर जाते हैं,(गोकुल की ओर प्रवेश कर जाते हैं) और स्वयं रसमयी की कुटिया के पार्श्व में कदम्ब वृक्ष पर खड़े हो जाते हैं।

बर्ह प्रसूननवधातुविचित्रतांग: प्रोद्दामवेणुदलश्रृंगरसोत्सवाद्य:।वत्सान्
गृणन्-ननुगगीतपवित्रकीर्त्ति: गोपी दृगुत्सव दृशि:प्रविवेश गोष्ठम् ॥
श्रीमद्भागवत १०/१४/४७

रसमयी में उन्हें देखते ही माधुर्य स्नेह की ऐसी प्रखर धारा उमड़ती है कि उसका हृदय विगलित हो उठता है। रसमयी के मन-प्राणों के पीछे उसका हृदय भी बह चलता है अपने प्रियतम नन्दनन्दन की ही ओर। अब उसका शरीर उसकी कुटिया में रह पावे, भला यह कैसे संभव है। परन्तु लज्जा ने उसके पैरों की गति में ताले जड़ दिये हैं। साथ ही सात्विक भावों का उन्मेष जो हो आया। जड़िमा से समस्त अंग अवश हो गये। जहाँ की तहाँ वह खड़ी

ही रह गयी। रसमयी के कमल-नेत्रों में प्रेमानन्द के अश्रु झरने लगे हैं। वे अश्रु उसके कपोलों की सज्जा करने लगे हैं। अब उसका प्रियतम नीलम अपने आपको कैसे रोक पावे। वह निकट से निकटतर, निकटतम आता चला आता है। अपनी प्राणप्रिया के भुजपाश में स्वयं को बँधवाले अथवा उसे अपनी भुजपाश में बाँध ले। रसमयी तो अपने पैर चाहकर भी उठा नहीं पा रही है, नहीं तो वह दौड़ पड़ती। भावों का वेग उस अवस्था में उसे स्वेद से लथपथ कर रहा है साथ ही अश्रुओं की वर्षा से नहला रहा है। और नीलमणि उसके प्रियतम अपने कमल जैसे हाथ फैलाकर बटोरने लगे हैं अपनी ही हथेलियों में उसके अश्रुप्रवाह को।

ओह ! इस मिलन सुख का वर्णन कोई कैसे करे। इसमें एक विचित्र विशेषता है। यह मिलन है तो एक दैनन्दिनी घटना। प्रतिदिन नन्दनन्दन रसमयी की कुटिया में आते हैं। प्रतिदिन ही रसमयी उन्हें प्यार से गले लगाये अपनी कुटिया के अन्दर ले जाती है, प्रतिदिन ही वह उन्हें अपनी शय्या में बैठाती है उन्हें वनमाला पहनाती है। केसर कस्तूरी से उनके अंगों को विलेपित करती है। परन्तु न जाने महती आश्चर्य है प्रतिदिन ही ऐसा प्रतीत होता है मानो युग-युग के अन्तराल से आज ही प्राणप्रिय प्रथम बार ही आये हैं और प्रतिदिन ही इसमें गत दिवस की अपेक्षा सुख की ऐसी एक अभिनव अप्रतिम लहर परिव्याप्त हो जाती है, जिसकी झाँकी प्राकृत जगत के हम अधम जीवों की कल्पना में भी आनी संभव नहीं है।

देखो ! नीलमणि प्राणाराम की जैसे ही सुकोमल हथेलियाँ अश्रुओं से भरती हैं वह इन्हें छिड़क लेता है अपने कलेवर पर। अरे, वह तो अपनी प्राणप्रिया की प्रेमदशा को देखकर स्वयं भी प्रेमाश्रु बहाने लगा।

कहना कठिन है यह नीलमणि एवं रसमयी की अश्रु-प्रवाह-एकत्रीकरण की लीला कितने काल तक चलती रहेगी और उनकी यह प्रेम समाधि कब टूटेगी।

देखो ! प्रियतम नीलम की चंचल प्रेम समाधि कैसी विलक्षण है। समाधि भाषा में ही व्यक्त उसका प्रेमगीत एवं मधुस्यन्दी कोकिल के समान मधुर वाणी में गायन तो तनिक सुनो।

'प्रीति स्वाति जल से उपजीं ये मुक्ता तो मम अलंकार हैं।
प्रिया नयन सीपी से प्रकटीं महाभाव की परम सार हैं।
यों कहकर प्रेमोन्मादी से लगे उन्हें कर भर उछालने।

'मम वृन्दावन सरस करो'- कह वन कुञ्जों में लगे डालने।
'चुगो चुगो इन रसमय मणियों को हे चातक ! हे मयूरगण !
कोकिल, कीर, पपिहरा, शुक सारिका करो सज्जित सब तन मन।
यह सौभाग्य पुन: न मिलेगा हे लतिकाओं, हे पुष्पित वन
ये अशेष हैं अगणित हैं साजो इनसे समस्त वृन्दावन।
प्रियतम की इस महाभाव लहरी को निरख परम विस्मित हो
लगी बहाने प्रिया अश्रु मानो दो नेत्र नहीं झरने हों।
भर भर अञ्जलि अश्रु उछाल रहे उन्मत्त हुए जीवन धन
नाच नाचकर स्नान कर रहा था जीवन्त सकल वृन्दावन।
स्पर्धा होने लगी प्राणधन में प्यारी की अश्रुधार में
मात्र भाव ही भाव बह रहा अश्रु बना उन नेत्र द्वार में
भला भाव भी कभी पराजित हुआ नाथ ! वह तो अव्यय है।
तुम व्यय करना चाहो उसको हार तुम्हारी ही निश्चय है।
यों कह बाहुपाश में बाँध लिया विश्रान्त थके प्रिय को जब।
अश्रु मोतियों से वह लगी भिगोने उनका रोम रोम तब।
अंग अंग धोये प्रेम सँजोये सजल नयन धारा बरसाकर।
अलक तिलक आभूषण सब पहराये प्रीति अश्रु बिखराकर।
कैसी सुखद प्रीति वर्षा थी, नहा रहे, प्रेमी प्रेमास्पद।
मसृण धरा थी गगन सुनेहिल प्राण प्रीति रस भीगे गद्‌गद।

यह रसमयी प्राणाराम ऐसा ही भावग्राही है कि भाव में नहाता थकता ही नहीं हैं। अपने प्रिया-प्रेम में अहा वह कैसा नहाया है और अब अपनी प्रिया की भुजा में बँधा बेसुध हो गया है। देखो ! देखो, यहाँ तो यह रसमयी प्राणवल्लभ था और अब यह गोपी प्राणवल्लभ है। है वही साँवरा श्यामसुन्दर अनन्त रसनिधि परन्तु यहाँ यह गोकुल की वीथियों में गोप-व्रजवधू-नायक हो रहा है। देखो ! देखो !! एक से एक अति सुन्दरी व्रजबालायें नवनवायमान यौवन के उन्मेष से भरी, अटारियों में चढ़ीं, इसे देखने को नयन बिछाये खड़ी हैं। अहा ! इनके नयनों में कैसी प्रेमोत्सुकता है। इनकी प्रतीक्षा में कैसी सरस आकुलता है।

लो ! धूलि उड़ रही है। गोकुल के पश्चिम दिशा की ओर सभी की आँखें विजड़ित हैं। सुदूरगामी वन प्रदेश की तरफ से आने वाले पथ पर धूलि के अम्बार के मध्य उसका प्राकट्य होगा। धूलि धूसरित अतिमनोहर श्यामल

केशराशि के ऊपर लहराता मोरमुकुट, अरे, इन व्रजबालाओं की ही नहीं इन पशु-पक्षियों तक की भी पलकें उसे देखते ही गिरना बन्द हो जावेंगी। उन सभी के प्राणों की एक ही तो पुकार होगी :--

देख न देत न बैरिन पलकें।
सुन्दर वदन लाल गिरिधर को, बीच परत मानो वज्र की सलकैं।
ऐसे मुख देखन को सजनी कहा कियौ यह पूत कमल कैं।
नन्ददास सब जड़न की यह गति मीन मरत भावैं नहिं जलकैं।।

देखो एक कह रही है --"यह शोभा का सिन्धु है।" दूसरी मूक है परन्तु उसके प्राण चीत्कार कर रहे हैं --"यह छवि समुद्र मेरे प्राणों का भी प्राण है।" तीसरी का पारस्परिक वार्तालाप सुनो -- यह तो मेरी आत्मा की आत्मा, मेरा चित्तचोर है।"

छतों पर चढ़ी झुण्ड की झुण्ड इन गोपियों में उसको देखने की कैसी आतुरता है। उनके प्राणों की समस्त शक्ति नेत्रों में ही समाहित हो गयी है। शरीर के सभी अवयव, रोम-रोम, नेत्रों की ओर दौड़ लगा रहे हैं। सभी अंग अवयव रूप दर्शन में असमर्थ जो हैं। नेत्रों को ही तो विधाता ने यह सौभाग्य दिया है। और उन्हें तो यदि आनन्द का, तृप्ति का कुछ अंश मिलेगा तो नेत्रों के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है।

एक गोपी कह रही है -- "बहिन ये सखागण कैसे सौभाग्यवान हैं जो इसे नित्य नवीन श्रृंगार से सजाते हैं, इन्हें जितने भी वन में सुन्दर सुगन्धित पुष्प मिल पाते हैं, सभी पुष्प इसकी घुँघराली केशराशि में खौंस देते हैं। देखो तो सही, इस पीले कर्णिकार पुष्प की कैसी शोभा है जो इसके एक कान में कुण्डल की तरह सज्जित है।" दूसरी कहती है--"बेचारी नन्दरानी तो इसके प्रेम में ही विसुध रहती है, और यशोदा की दासियाँ इसके अतसी कुसुम से पतले-पतले कानों में मोटे-मोटे स्वर्ण-कुण्डल जो रत्नों से और भी भारी हो जाते हैं पहना देती हैं। हाय ! यह बेचारा फूल सा सुकुमार स्वर्ण-कुण्डलों के कानों में लटकाने से, तथा भारी स्वर्ण मुकुट को सिर पर ढ़ोने से कितना कष्ट पाता होगा ? ये कठोर हीरक, माणक एवं भारी मणियाँ इसके सुकोमल अंगों में कितनी चुभती होंगी। इन सखाओं ने उचित किया। सब धातुओं को, मणियों, पत्थरों को वन में फैंक कर, इसका पुष्प श्रृंगार कर दिया। अरी !

प्रभात में जब यह वन जा रहा था तो मैं इसके भारी श्रृंगार को देखकर टप-टप अश्रु टपका रही थी। हाय ! ये स्वर्ण के मणिजटित बाजूबन्द, स्वर्ण के कड़े, मुद्रिका सभी इसके सुकोमल अंगों में कितना चुभते होंगे। अहा ! यह पुष्प श्रृंगार इसको कितना फब रहा है। सखाओं ने कुछ प्रेम प्यार पाया तो है ?

तीसरी कहती है --"अरी बहिन ! ये वन पुष्प भी विचित्र हैं। इन पुष्पों ने हीरक मणियों की ज्योति न जाने कहाँ से पाई है ? ये पुष्प हीरों की सी ज्योति निकालकर इसके कपोलों को दमका रहे हैं।

और चौथी कह रही है -- देख सखी ! इस सखा समूह ने तो पूर्णिमा के चाँद को ही मानो इसके ललाट पर विजड़ित कर दिया हो, क्या ही प्यारा बिन्दु इसके ललाट पर लगाया है। कुंकुम में तो ऐसी शोभा नहीं होती- ये सखा अपने सखा को कैसा सजाते हैं री !

अब पाँचवी की बात सुनो। वह कह रही है - देख री सखी ! दल के दल मधुमत्त भ्रमर मँडरा रहे हैं। कुछ तो व्रजेन्द्र नन्दन के कण्ठ देश एवं वक्षस्थल पर झूलती हुई वन माला पर भी आ विराजे हैं। इन सभी का एक स्वाभाविक गुञ्जन है, और नीलसुन्दर की अद्भुत अलौकिक परम मनोहारिणी अनुकृति का रागमय स्वर स्पन्दित हो रहा है, तथा उनमें मिल रही है शिशुओं के आह्लादपूर्ण श्रीकृष्ण सुयश संगीत की ललित लहरियाँ। तीनों का विचित्र सुन्दर सम्मिश्रण हो रहा है, विचित्र सा समाँ बाँधा है, वृन्दावन बिहारी ने।"

कश्चित गायति गायत्सु मदान्धालिष्वनुव्रतैः।
उपगीयमान चरितः स्रग्वी संकर्षणान्वितः।। श्रीमदा. १०/१५/१०

अब छठी कहती है :-- देखो ! इस नयनाभिराम नन्दतनय के कर्ण पुटों में मधुर कोमल आलाप करते हुए शुक की यह मनोहारिणी ध्वनि भर जाती है और वे तत्क्षण उससे भी अधिक सरस स्वर में कीर का ही अनुकरण करने लगते हैं। कभी कोकिल कूजन की मधुर पंचम तान सुनकर उसकी अपेक्षा भी मृदुलतम कण्ठ से ठीक वैसे ही राग वे भी भरने लगते हैं। और फिर तो कुछ ही क्षणों में शुक-पिक-अलि सभी मौन धारण कर चुप बैठ जाते हैं। शान्त स्थिर होकर वे अपने इस अनोखे प्रतिद्वन्द्वी गायक की ओर मानो देखने लग

जाते हैं। उन्हें लज्जा सी लगने लगती है -- "कहाँ हमारी यह कर्कश ध्वनि और कहाँ इन नील सुन्दर का मधुस्यंदी स्वर।"

अनुजल्पति जल्पन्तं कल वाक्यैः शुकं क्वचित्।
क्वचित् सवल्गु कूजन्तमनुकूजति कोकिलम्।। श्री मद्भा. १०/१५/११

अब सातवीं की बात सुनो। वह कह रही है -- "देखो री ! हमारे प्यारे श्यामसुन्दर की शोभा ने सबसे बड़ी दुर्गति तो बिचारे कामदेवकी की है। इसे अपने बल का बहुत ही गर्व था री ! यह शंकरजी को हरा जो चुका था। हमारे प्यारे ने तो इसका अस्तित्व ही निःशेष कर दिया। उसे तुच्छातितुच्छ नगण्य बनाकर अपने चरणों में रख लिया री।"

"देख सखी ! व्रज में नर-मादा तो असंख्य जोड़े हैं। सभी एक दूसरे से परस्पर मिलते हैं, कोई भी वैरागी नहीं हुआ है, साथ-साथ सोते, बैठते एवं खाते-पीते रहते हैं, सभी परस्पर प्रेम भी करते हैं, एक दूसरे के अतिशय आत्मीय भी हैं, परन्तु फिर भी नर-मादा, और शिशु एवं वृद्ध, परिवार के सभी लोगों का चित्त डूबा रहता है इस साँवरे के मनोहर रूप में ही। गौएँ दूध देती हैं, दूध देते समय चाटती हैं नवजात वत्सों को ही। परन्तु कैसा आश्चर्य है कि उन्हें उनका दूध दुहैया गोप, एवं नवजात वत्स सभी दिख रहे हैं, प्राणधन नीलसुन्दर ही नीलसुन्दर। और ये इस अपने प्राणवल्लभ की ध्यान छवि को देखकर ही अपने मुख का अर्धचर्बित तृणग्रास छोड़कर, सिर को ऊपर उठा लेती हैं। इनके प्राणों की कैसी आकुल उत्कंठा है, अपने नित्य पालक नन्दनन्दन को देखते रहने की। और क्या जादू है, चाहे कोई अन्य गोपालक ही उनकी सेवा में हो, उन्हें तो यही प्रत्यक्ष दिखता है आनन्द विह्वलहुए नन्दनन्दन नीलमणि ही अपने पीताम्बर से गायों के मुख पर लगी रज पौंछ रहे हैं। और यह अनुभूति एक गाय की ही नहीं, असंख्य गायों की है, असंख्य गोवत्सों की है। असंख्य नेचुकियों, बछड़ियों की है। सभी नीलसुन्दर के अधरों से निस्सृत वाणी सुनती हैं, सभी उनका सर्व मोहनकारी स्पर्श पाती हैं एवं उनके ही प्यार और दुलार में सदा ही डूबी रहती हैं।

देखो, इस नन्दराय जी के गजराज से उसकी हथिनी कुछ कह रही है उसे भी सुन लो। हथिनी अपने जीवन सर्वस्व हाथी से कह रही है - मूर्ख ! नीचा मुख क्यों किये है ? क्या हुआ, इस नीलमणि बालक की मदमस्त लटक

भरी चाल ने तेरे अभिमान को चूर चूर कर दिया तो ? इसमें इतना लज्जित हो मुख नीचा कर जीवनभर उसे न देखने का व्रत लेने की मूर्खता कैसी ? अरे, इसके सामने देवराज इन्द्र, विश्वपिता ब्रह्माजी, सर्वमोहन कामदेव सबके अभिमान धराशायी हो गये हैं। उसके सम्मुख तू एक साधारण मोटी बुद्धि का हाथी क्या अर्थ रखता है ? अरे वैसे ही विधाता का प्रकोप है कि उसने हमें छोटी छोटी आँखें दी हैं। फिर इन आँखों की कृतकृत्यता का क्षण तो अभी ही आया है। इन्हीं क्षणों के लिये तो इन नेत्रों के होने की चरितार्थता है। फिर इस साँवरे सलोने प्राणों के प्यारे की ओर नयन भर कर देख न ! नयनों के द्वार से ही तो इसे हृदय के भीतर ले जाया जा सकता है। दूसरा तो कोई उपाय ही शेष नहीं है। तब इन अनमोल क्षणों को उदास होकर नीचा मुख किये क्यों व्यर्थ कर रहा है ? न्यौछावर कर दे अपने प्राणों को इस पर। जय हो ! इस प्राणों के प्यारे असमोर्ध्व सौन्दर्य माधुर्य की जय, जय, जय हो !! हाथी हथिनी प्रेमाश्रुओं से भीगे प्रेम में झूम रहे हैं।

देखो ! देखो !! शोभा समुद्र गोपीवल्लभ गौओं के पीछे-पीछे कैसा मधुर नृत्य कर रहा है। इसकी अंजलि में न जाने कहाँ से पुष्प भर जाते हैं और अटारियों पर चढ़ीं इसकी ओर सतृष्ण नयनों से देखती व्रजांगनाओं पर मुसका कर इस प्रकार पुष्प उछालता है कि पुष्प सीधे उनके उरोजों पर, कपोलों पर, उनके आनन पर, गिरते हैं और ये प्रीतिदेवियाँ भी उत्तर में इस पर इतनी पुष्पमालाओं की, पुष्पों की वर्षा करती हैं, कि सम्पूर्ण गोकुल का राजपथ पुष्पों से भर जाता है।

केवल नर नारी नहीं धरा के मस्तक मणि मुनि थे प्रियतम !
जो स्वर्लोकों के, भुवर्लोक, पन्नग तल तक के थे प्रियतम !
प्रेरित हो अन्तर्यामी से दौड़े आये सब थे प्रियतम !
जैसे थे वैसे ही प्राय: कुछ रूप धरे भी थे प्रियतम।।

(इस वनचारणोपरान्त आवनी की लीला का दर्शन करने धरा के केवल नर-नारी ही नहीं, मस्तक-मणि-मुनिगण भी आये थे। स्वर्गलोकों के, भुवर्लोकों के, एवं पन्नग तल तक (नागलोक) के सभी प्राणी अन्तर्यामी से प्रेरित हुए वहाँ दौड़े आये थे। कुछ अपने प्रकट रूपों में ही थे, और कुछ दूसरा रूप धारण किये थे।)

पश्चिम दिशा में सूर्यदेव रुक गये हैं। उनकी किरणें समशीतोष्ण सबको अतिशय सुखदायी हो रही हैं। पृथ्वी प्रतिक्षण नवीन-नवीन सुषमा धारण कर अपने प्राण प्यारे के चरणों में लिपट रही है।

शनैः शनैः व्रजवीथियों से होती यह नन्दनन्दन की टोली नन्दभवन में पर्यवसित हो जाती है। यशोदा मैया उन्मादिनी सी अपने लाला पर राई-लौन करती हैं, आरती नीराजन कर अपने अंक में भर लेती हैं।

इधर यह नीलसुन्दर नवनीरदवर्ण रससागर अपनी वात्सल्य-रस-घन मूर्ति मैया यशोदा के वक्ष में समाता है। वहाँ, वही माधुर्य-रस-सागर हुआ अपनी प्राणप्रिया रसमयी के आलिंगन में आबद्ध है। और ठीक, इसी समय श्रीपोद्दार महाराज की हेली में (हवेली शब्द का अपभ्रंश) अपने बाबा के कण्ठ से एक एकादश वर्षीय बालक लिपट जाता है। कैसा विलक्षण विचित्र साम्य अघटन-घटना-पटीयसी योगमाया संघटित करती है।

वे कैसे रसमय दिन थे

पू० गुरुदेव की आँख खुलती है। कण्ठ में लगे इस बालक को देखकर वे मुग्ध हो जाते हैं।

"अरे तू भीग कैसे गया रे?" उनका उससे पट्टी पर लिखकर प्रश्न होता है।

"आपका भूत आपको बहुत रुलाता है। मैं चाहता हूँ वह भूत-भूतनी मुझे लग जाये और आपको छोड़ दे। देखिये, आपकी आँखों से कितने अश्रु गिरे हैं। मैं चुपचाप आपके कमरे में आता हूँ। यह भूत मेरे सम्मुख आता ही नहीं। मैं तो उसे अमोघ 'श्रीकृष्णः शरणं मम' मंत्र से ठीक कर देता। मैंने आपको अपनी तुलसी की कंठी भी पहनायी, परन्तु आप पर कहीं कोई असर नहीं हुआ। एक घंटे से कभी वह आपको कँपाता है, कभी पसीने से लथपथ कर देता है, कभी रुलाता है, आपके नेत्रों से आँसुओं की धारा चलती है, आप तो बेहोश रहते हैं।"

बालक को रोत-रोते हिचकी बँध गयी है। वह रोये और बोले जा रहा है। और उसके बाबा अति प्यार से उसके आँसू पौंछते जा रहे हैं।

और तब वे रतनगढ़ ग्राम के धोरों में दौड़ने चले जाते हैं। वह भी स्कूल में फुटबाल का खिलाड़ी है और उसके बाबा भी फुटबाल के अच्छे

खिलाड़ी रहे हैं। परन्तु उसके बाबा उससे बहुत ही तेज दौड़ते हैं। वे कबड्डी में भी उसे हरा देते हैं। बालक किसी स्पर्धा में भी उनसे तेज नहीं पड़ पाता। उस बालक के जीवन के वे बहुत ही रसमय दिन थे। वह युवक सन्यासी जो उससे पन्द्रह-सोलह वर्ष बड़ा है उसे न जाने क्यों बहुत ही आत्मीय श्रद्धास्पद, एवं अनुकरणीय लगता है।

बालक आजकल ईश्वर से एक ही प्रार्थना करता है। "हे प्रभो ! मेरा तो दूसरा जन्म होगा ही, यदि हो तो इस सन्यासी को ही स्त्री बनाकर मेरी माँ बनाना। और यदि इसे स्त्री देह न दे तो मेरा बाप बना देना। और यदि ये सब भी न करे तो उसके साथ ही उसका जन्म अवश्य करना।"

एक दिवस रतनगढ़ के धोरों में उसने अपनी भावना अपने बाबा के सामने व्यक्त कर ही दी। "बाबा ! आप मुझे सबसे अधिक प्यारे लगते हैं। नाना, नानी, माँ, बाप, मौसियाँ, एवं सब सम्बन्धियों से भी आप अधिक प्यारे प्रतीत होते हैं। आपके साथ मेरा मरने के पश्चात् भी सम्बन्ध जुड़ा रहे ऐसा हो सकता है क्या ?"

पू० गुरुदेव ने कहा -- "भैया ! मैं तो मृत्यु के पश्चात् और इस जीवन में भी तेरे बड़े - मामाजी श्रीपोद्दार माहराज से ही जुड़ा हूँ तथा जुड़ा रहूँगा। तू इनसे जुड़ जाय तो तेरा मेरा जन्मान्तर में भी सम्बंध बना रहा सकता है।"

अब तो बालक बहुत ही घबड़ा गया। श्रीपोद्दार महाराज तो बहुत ही गंभीर, मुख फुलाकर, प्रूफ देखते हैं, वह ४० वर्ष बड़े अपने मामा के भी गुरुजन से कैसे अपना प्रेम प्यार बनाये। ये सन्यासी तो उसके साथ खेलते-कूदते सब सरलता से मित्रवत् व्यवहार करते हैं। वह चुप हो गया। उसने निर्णय कर लिया पोद्दार मामाजी के साथ उसकी दाल नहीं गलेगी।

अब उसने दूसरा प्रश्न किया -- "बाबा ! आपको मैं क्या कहूँ आपसे अपना क्या सम्बंध बनाऊँ ? श्रीपोद्दार मामाजी तो उसके बड़े मामा हैं, आपको 'छोटा मामा' कहूँ। बाबा, आप मेरे गुरु हो जाइये ?"

सन्यासी बाबा सकपका गये। उन्होंने तो अपने जन्मगत सम्बन्ध ही माँ, बाप, भाई, बहिन सबसे तोड़ दिये हैं। अपनी असहाय निरक्षर पत्नी तक को वह छोड़ आया है।

आज यह सन्यासी यदि अपनी चार-पाँच वर्ष पुरानी मनोदशा में होता तो इस बालक को अपने कमरे में घुसने तक नहीं देता। पहली भेंट में ही

इसे इस प्रकार रूखेपन से झिड़कता कि यह इस प्रकार चोरी-चोरी उसके निवास में घुसने का साहस ही नहीं कर सकता था। और यह बालक देह कलेवर से ही तो बालक है। इसके अन्तराल में तो उन्हें भगवती श्री राधारानी की परम प्यारी एक मंजरी दिखायी पड़ रही है। और उस सन्यासी के हृदयदेश में विराजित वह श्यामल ललित तृभंग आकृति भी तो बालक के प्यार का अनुमोदन कर रही है। तभी न इसके द्वारा शरीर से वही क्रिया हुई जो उनके अन्तस्थ प्राणवल्लभ उनके भावदेह से कर रहे थे। जब उनके प्राणवल्लभ उनके प्रेमाश्रु अपनी नीलकमल जैसी हथेली में संग्रहीत कर रहे थे, ठीक उसी समय इसके द्वारा भी यही क्रिया संघटित होना, क्या इस बालक की किसी सुदूर भविष्य की पात्रता को प्रमाणित नहीं करता ?

पू० गुरुदेव ने अपने हृदय देश में विराजित श्रीकृष्ण की पूर्ण स्वीकृति प्राप्त कर इस बालक हृदय को अपने स्नेह से भरपूर आपूरित कर दिया।

पू० गुरुदेव ने बालक को अतिशय प्यार से देखा।

बालक ने अपने बाबा से कहा-"बाबा ! मैं आपको एक गाना सुनाऊँ ?" उसके बाबा की अनुमति मिलने पर उसने उन्हें उसी कमरे में बैठकर जीवन का पहला भक्ति-पद सुनाया।

'तू दयालु दीन हौं, तू दानि हौं भिखारी।
हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पाप-पुञ्ज हारी।
नाथ तू अनाथ को, अनाथ कौन मोसौं।
मो समान आरत नहिं आरतिहर तोसौं।
ब्रह्म तू, हौं जीव हौं, तू ठाकुर, हौं चेरो।
तात-मात गुरु-सखा, तू सब विधि हितु मेरो।
तोसौं मोसौं नाते अनेक मानिये जो भावै।
ज्यौं-त्यौं तुलसी कृपालु चरण शरण पावै।

सन्यासी बाबा ने प्यार से उसके सिर पर हाथ रख दिया है। बालक आज इतना प्रसन्न हुआ है कि उसके पाँव जमीन पर नहीं पड़ते। उसने अपने पूर्ण मनुहार से फिर पूछा -- "आप मेरे गुरु है न ?" उन्होंने जोर से बोलकर कहा -- "गुरु तो मैं तेरे बाप का भी हूँ। सन्यासी सबका गुरु होता है। परन्तु तुझे मुझे सच्चा मित्र मानना चाहिये। अन्यथा गुरु की आज्ञा नहीं

मानने से गुरु-अपराध हो जाता है।" प्रकारान्तर इसे स्वीकृति मानकर बालक प्रसन्न हुआ दौड़ गया है।

दूसरे दिन पू॰ गुरुदेव ने बालक को अपने कमरे में चोरी-चोरी आने के लिये मना कर दिया, परन्तु उसके लिये एक रियायत कर दी है कि सायं चार बजे से पाँच बजे तक आफिस के कमरे में पू० गुरुदेव उससे एक घंटे प्रतिदिन या तो पद गायन सुनेंगे अथवा 'राधा-राधा' कहकर एक दूसरे को पीटने का खेल हुआ करेगा, फिर वे साथ-साथ ही धोरों में घूमने जाया करेंगे।

अब तो प्रतिदिन ही सन्यासी बाबा ठीक चार बजे आफिस में आ जाते हैं और बालक एवं सन्यासी बाबा परस्पर एक दूसरे को 'राधा-राधा' कहकर पीटने का खेल करते है। जब दोनों थक जाते हैं तो सन्यासी बाबा 'राधा-राधा' गाने लगते हैं। सन्यासी बाबा का कण्ठ इतना सुमधुर है कि बालक विभोर हो जाता है। उसके बाबा उसे संगीत भी सिखाते हैं। उन्होंने पीलू राग उसे सिखाया है। पीलू राग उसके बाबा का सर्वप्रिय राग है।

इस प्रकार यह कम महीनों तक चला। जब बालक स्कूल जाने लगा तो सायंकाल पोद्दार माहराज के नोहरे में बालक एक कमरे में हारमोनियम लेकर पद-गायन किया करता था। पू. गुरुदेव उन दिनों श्रीपोद्दार महाराज के निर्देश पर उनकी व्यक्तिगत लाइब्रेरी (पुस्तकालय) सुव्यवस्थित करने में लगे थे। अतः वहीं से बैठे-बैठे उसका पद गान सुना करते थे।

दोनों दोनों से बढ़कर

जिस व्यक्ति के जीवन में व्रजभाव अवतरित होता है, उसका अस्तित्व कथन मात्र के लिये बचता है। श्रीपोद्दार महाराज के जीवन में भी भगवान् की कृपा का अपरिसीम समुद्र लहराता रहता था। मैंने अंपने निरे बालजीवन में पू० गुरुदेव की देह-दशा तो देखी ही थी, श्री पोद्दार महाराज के उतने निकट संपर्क में मैं नहीं आ पाया था। परन्तु श्रीपोद्दार महाराज भी एक दूसरे से बढ़कर वाली कहावत चरितार्थ करते थे।

मैंने पूर्व अध्याय में कहा है कि सायंकाल लगभग पाँच बजे पू० गुरुदेव रतनगढ़ के रेत के धोरों में शौच किया करने एवं घूमने जाया करते थे। रतनगढ़ ग्राम के बाहर रेत के टीबे ही टीबे थे। कभी-कभी श्री गुरुदेव के साथ पोद्दार महाराज भी घूमने जाया करते थे। जब श्रीपोद्दार महाराज साथ

जाते तो पू० गुरुदेव उन्हें बैठकर प्राय: **'जयति तेऽधिकं जन्मना व्रज'** गोपी-गीत सुनाया करते थे।

जब पू० गुरुदेव उन्हें गोपी गीत सुनाते उस समय उनकी भाव दशा देखते ही बनती थी। उनके हाथ में जल से भरा लोटा होता था और पू. गुरुदेव कमण्डलु रखा करते थे। परन्तु उनके हाथ एवं पैर लड़खड़ाते थे, जैसे वो सम्हल नहीं पावेंगे, गिर पड़ेंगे। एक दिन मैं पू० गुरुदेव के साथ घूमने जाने के लोभ में घर से चल पड़ा, परन्तु पता चला पू. गुरुदेव एवं पोद्दार महाराज चल पड़े हैं। मैं पीछे-पीछे गया। मेरे मामा श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी मेरे साथ थे। श्रीपोद्दार महाराज ग्रामवासियों के सम्मुख तो ठीक चल रहे थे, ज्यों ही एकान्त घोरों में बैठकर पू० गुरुदेव ने गोपी-गीत सुनाना प्रारंभ किया, मैं शौच क्रिया कर रहा था अत: दूर से देख रहा था, उनकी दशा शराबी की तरह हो गयी थी। शौच हो आने से उनका (लोटा) जलपात्र हलका था, फिर भी उनसे संभल नहीं रहा था।

मैं दूर से सुन रहा था - वे कह रहे थे -- "बाबा! मेरी आँख में संसार है ही नहीं श्रीकृष्ण ही श्रीकृष्ण बचे हैं। मैं कुछ काल किसी वस्तु को देखता हूँ - फिर उसी स्थान में श्रीकृष्ण प्रकट हो जाते हैं। मैं अपने को एक विक्षिप्त भी नहीं कह सकता, विलक्षण दशा में हूँ। मुझे अपनी सत्ता के स्थान पर भी कभी श्रीकृष्ण, कभी श्रीराधारानी, कभी कोई गोपी दिखती है। अपने इस पार्थिव देह का भान भी मात्र 'कल्याण' एवं गीताप्रेस का कार्य करना है, इसलिये होता है। रुचि ऐसी ही होती है कि यह भी नहीं हो तो अच्छा रहे। मैं शरीर हूँ, मेरा परिवार है, ऐसी कभी वृति ही उदय नहीं होती। मेरे लिये न संसार बचा है, न सांसारिक पत्नी-पुत्र आदि सम्बन्ध बचे हैं, किन्तु स्वाभाविक मेरा जैसा व्यवहार वर्षो से चला आ रहा है, उन संस्कारों से उसी साँचे में ढ़ला व्यवहार चलता रहता है। पूरी ईमानदारी की बात यही है कि यह सब व्यवहार भी श्रीकृष्ण ही कर रहे हैं। स्वाभाविक ही श्रीकृष्ण अपनी इच्छा से जब जैसा व्यवहार इस पार्थिव देह से कराना चाहते हैं, वैसा करा लेते हैं। हाँ, यश-अपयश मुझे अवश्य मिलता है। परन्तु यश-अपयश करने वाले भी श्रीकृष्ण ही दिखते हैं।

पोद्दार महाराज इस प्रकार की बात बोलते-बोलते एक दम काँपे और धम्म से धोरें में गिरकर समाधिस्थ (बेहोश) हो गये। हम दोनों ही शौच क्रियार्थ दूर-दूर बैठे थे। थोड़ी देर पश्चात् श्रीपोद्दार महाराज ने अपने को

संवरित किया। वे अपने को संवरित करने की कला में बहुत ही माहिर थे। मैं रोने लग गया था। उन्होंने मुझे सांत्वना देते हुए कहा - "भाया ! थोड़ो चक्कर आ गयो थो। धोराँ में चालने को अभ्यास छूट गयो है।"

परन्तु वे रह-रहकर भावाविष्ट हो रहे थे। वे मेरे मामाजी एवं पू० गुरुदेव का सहारा लेकर चल रहे थे, परन्तु उनके पैर न तो ठीक से उठ रहे थे, न ही ठीक से पड़ रहे थे।

बाद में पू० गुरुदेव मेरे मामाजी को बता रहे थे कि जिस समय भाव का अवतरण होता है, व्यक्ति के वश की बात नहीं रहती।

श्रीपोद्दार महाराज को तो भगवान् श्रीकृष्ण ही सँभालते थे।

देख री देख अनिमेष या वेष कौं

उन दिनों श्रीपोद्दार महाराज ने रतनगढ़ में 'कल्याण' का सम्पादक विभाग होने से एक सुन्दर धार्मिक पुस्तकालय संगठित करने का विचार किया था। पू० गुरुदेव ही इस पुस्ताकलय को व्यवस्थित करने में रत थे। उनके सम्मुख पुस्तकों के ढ़ेर पड़े रहते थे। दिल्ली, बनारस, कलकत्ते, बम्बई सभी स्थानों के बड़े बड़े प्रकाशकों की सूचियों में से पुस्तकें चयन होतीं थी और पू० गुरुदेव ही उन्हें विषयानुसार भिन्न-भिन्न अलमारियों में वर्गीकरण करके रखते थे।

उस दिन दुपहरी में तीसरे पहर तीन बजे वह बालक पुस्तकालय के सामने श्रीपोद्दार महाराज की हवेली के बगल में उनके नोहरे में एक कमरे में हारमोनियम बाजा लेकर बैठ गया था और पद गायन कर रहा था। घर के संगीतमय वातावरण के कारण गायन कला उसे सहज थी।

वह बालक बहुत ही भाव से गा रहा था, और उसने देखा पुस्तकालय का काम बन्द कर उसके बाबा चुपचाप शान्त बैठ गये हैं। उनके नेत्र मुँद गये हैं। आंखों से मुक्ता बिन्दु रूप प्रेमाश्रुधार कपोलों पर विजड़ित है। बाबा के कपोलों पर इन अश्रु बिन्दुओं की ऐसी शोभा हो रही थी मानो कमल पत्रों पर जल बिन्दु शोभा पा रहे हों।

बालक को अपने जीवन की चरम एवं परम कृतकृत्यता का अनुभव हुआ। उसे लगा वह पढ़े न लिखे, सदा ही महामूर्ख बना रहे, जिससे संसार उसे किसी भी काम का नहीं समझ कर त्याग दे। बस, वह इन सन्यासी

गुरुदेव की भिक्षा में से दो रोटी खा ले और जीवन पर्यन्त अपने बाबा को पद गाकर सुनाता रहे। उसके बाबा इसी प्रकार सुनते-सुनते अश्रु बहाया करें। युग बीत जायें, जन्म बीत जायें।

आज बालक को विश्वास हो गया कि उसके बाबा के नेत्रों से जो अश्रु बहते हैं, वे पीड़ा के अश्रु नहीं, प्रेम-सुख के आँसू हैं। प्रेम से ही उनके शरीर में, रोमाञ्च कँपकँपी, और स्वेद भी बहते हैं। उसे ऐसा अनुमान भी हो रहा था कि बाबा ने जो भूत-भूतनी की बात कही थी, वह भी मात्र उसे भयभीत करके कमरे में न आने देने के लिये कही थी। वे भूत-भूतनी राधा कृष्ण ही हैं। कोई पीड़ादायिनी प्रेत जाति की भूतनी उसके बाबा को सर्वथा ही आक्रान्त नहीं किये है।

बालक अपनी धुन में गा रहा है :-

नवल ब्रजराज को लाल ठाड़ो सखी
ललित संकेत वट निकट सौहे .. हो।

बालक के पिता, पितामह, वल्लभ सम्प्रदाय के मान्य कीर्त्तनिया हैं। अत: आनुवंशिकी से सुन-सुनकर उसे पद गायन की वंदिशें सहज हैं। बालक के पूर्वजों में श्रीगदाधर भट्ट नामक बहुत ही त्यागी भगवद्भक्त हो चुके हैं। बालक भी भट्ट वंश का ही है। यह उन्हीं गदाधर भट्ट का ही रचित पद है।

बालक के पद गायन की सुरीली ध्वनि सुनते-सुनते सन्यासी बाबा अपने भावराज्य में डूब गये हैं। उनके सम्मुख एक अति ही मनोहारी भाव-दृष्य झलमला रहा है। वह भाव दृष्य कोरी मन की उड़ान नहीं, किसी विलक्षण परम सत्य, सत्य के सत्य, प्रीति-राज्य का हृदय देश में अवतरण है।

"श्री यमुना जी के निर्मल तट पर, थोड़ा सा दूर, यमुना के सैकत भाग से किञ्चित् हटकर एक परम सुन्दर कुञ्ज है। उसमें रहती है एक ब्रजांगना।"

"विश्व में ही नहीं, अनन्त त्रिलोकियों में भी, यदि कोई सर्वाधिक सुन्दर है तो वे हैं श्रीकृष्ण। ये सौन्दर्य, माधुर्य, सर्व सद्गुणों की पराकाष्ठा श्रीकृष्ण भी जब इस व्रजांगना के सौन्दर्य और प्रेमगुणों पर आकृष्ट हुए उस पर अपना सर्वस्व न्यौछावर करके लुब्ध हो रहे हैं, तो यह व्रजांगना कैसी विलक्षण सुन्दरी है, इसका अनुमान ही किया जा सकता है। कोई भाग्यवान् श्रीकृष्ण

कृपापात्र जीव इसकी सुन्दरता की छाया को भी अपने नेत्रों से एक बार यदि देख ले तो उसका जीवन सदा-सदा के लिये कृत-कृत्य तथा सफल हो जावे।

परन्तु यदि उस वृजांगना से उसके मन की अनुभूति पूछी जाय, तो सुनो, बहुत शान्त चित्त से ध्यान देकर वह क्या कहती है :--

"प्रियतम ! प्राणाधिक हे !! चतुर चूड़ामणि, मेरे श्यामचन्द्र हे ! मैं तुम्हें क्या कहूँ ? मुझ अभागिन के पास बस, तुम्हारे अतिरिक्त और है ही क्या ? हे प्राणरमण ! तुम्हीं तो मेरी सम्पूर्ण सम्पत्ति हो, मेरे असंख्य प्राणों के रूप में तुम नील-सुन्दर ही तो हो।"

"हाँ ! एक वस्तु मेरे पास अवश्य थी, महा-महा-मलिन-कुरूपता। तन की कुरूपता, मन की कुरूपता (घोर मलिनता), यही मेरी अक्षय धनराशि मेरे पास थी। परन्तु नीलम हे ! तुमने मेरे उस महामलिन तन-मन को भी ज्यों का त्यों अपहृत कर लिया, और इस प्रकार जब मुझ अकिंचन के पास कुछ भी नहीं रहा तो प्राणरमण ! मेरे प्राणवल्लभ हे ! इतना सा ही भान है कि मेरे पास कुछ भी है तो मात्र तुम्हीं हो उसके ग्राहक और तुम ही हो वह वस्तु देने वाले।"

किसी आभीर वधू से उसने केवल कृष्ण नाम सुना है। साथ ही किसी ने इतना और कह दिया है कि वह गोपराज नन्द का पुत्र है। साथ ही वे ठिठोली करती कहती हैं कि यदि अकेली-दुकेली उससे कहीं उसकी भेंट हो गयी तो वह उसकी मान-मर्यादा एवं परलोक को भी बिगाड़ कर रख देगा। परन्तु निगोड़ी उसकी सम्पूर्ण ममता उसी नन्दतनय के चरण सरोरुहों में लिपटना चाहती है। प्राण न जाने क्यों उसी की एक झलक पाने को चरम एवं परम व्याकुल हुए हाहाकार करते रहते हैं। उसके एक क्षण के मिलन-सुख के सम्मुख उसे सागर समन्वित सम्पूर्ण धरा का एक छत्र और निर्विघ्न आधिपत्य, विघ्न बाधा शून्य पाताल की सुख सम्पदा, योग सिद्धियों की कौन कहे, जन्म-मृत्यु-विहीन ब्रह्मपद और मोक्षपद भी तुच्छाति तुच्छ लगते हैं। उसका सम्पूर्ण अनुराग एकत्रित हो गया है उन नीलसुन्दर की चरण-नख-मणियों में ही।

और देखो तो सही, क्या स्थिति हो गयी है उसकी। सर्वथा विस्मृत कर देती है वह पंच तत्वों से निर्मित अपनी देह को, मन की चंचल संकल्प-विकल्प करने वाली वृतियों को एवं रोगरूप भोग-सुखों को। इन तुच्छ वस्तुओं में तो अटकने का प्रश्न ही नहीं, वह तो उस नीलसुन्दर की स्मृति में

अपुनर्भव के महान् आनन्द को भी तुच्छ समझ कर बिसार चुकी हैं। इन सबसे सर्वथा विरक्त हुई वह अपने प्राणों के प्राण, प्रियतम इस साँवरे के आकर्षण की चुम्बकीय शक्ति से खिंची, घर-द्वार, माता-पिता, लोक-लाज एवं कुल-मर्यादा के दुर्लन्ध्य अवरोधों को लाँघकर इस निर्जन वन-पथ के किनारे निर्मित इस भग्न सी टूटी-फूटी कुटी में आ बैठी है।

इस यमुना तटवर्ती वन-पथ का चयन भी उसने इसीलिये किया है क्योंकि इस वन-पथ से ही उसका प्राणधन प्रतिदिन प्रातः वन में अपनी गायों को लेकर सखाओं सहित पदार्पण करता है और तब गायें चराकर इस वन-पथ से ही प्रायः सायंकाल लौटता है।

उस अपने नीलमयंक प्रियतम का युग-युगान्तरों से चिरवांछित दर्शन, चिर अभिलषित संस्पर्श एवं उसकी मधुस्यंदिनी प्रेमगिरा का उसके कर्णपुटों में रस-सिंचन कब और कैसे प्राप्त होगा, उसके वदन-सरोज के दर्शन-जन्य अपरिसीम वक्र एवं उच्छलित आनन्दोदधि की अमित, अमाप, उत्ताल तरंगों में वह कब डूबे-उतरायेगी - यही उसकी सर्वाधिक चिन्ता के अधुनातन विषय हैं।

वह उदास चित्त बैठी रहती है, यमुना तट पर। यमुना ही उसकी एक मात्र आश्रयदातृ सखी है। वह अपने अमिलन की वेदना ज्वाला की महान व्यथा-कथा जब यमुना सखी को निवेदित करती है, तब अपने दिव्यातिदिव्य परिवेश में यमुना सखी सदेह उसके सम्मुख प्रकट हो जाती हैं। वे आश्वासन देती हैं कि शीघ्रातिशीघ्र ही उसका प्रियतम मिलन संघटित होगा। यह असंभव है कि वह मिलन होकर न रहे।

वह इसी आश्वासन से थोड़ी हरी होती है। परन्तु जब पुनः दिवस का अवसान हो जाता है, तो वह सर्वथा अन्यमनस्क होकर अपनी भग्न कुटिया की गोबर लिपी भूमि में लुंठित हो जाती है। उसका धैर्य मानो समाप्त हो जाता है। प्राण आकुल हो उठते हैं। उसके शरीर का भान ही छूट जाता है।

संध्या अपने सव्य परिवेश में उसके सम्मुख आती है। उस एकाकिनी को निमीलित नेत्र, निज आनन-सरोज को कर पल्लवों पर टिकाये, अपने प्राण सर्वस्व के ध्यान में अवस्थित देखती है तो औदास्य की रेखायें उसके मुख सरोज को भी आवृत कर लेती हैं। संध्या आती है उसके पास उल्लास में भरी हुई, परन्तु उसकी दशा देखकर वेदना की व्यथा लिये चुपचाप लौट जाती है।

अब कृष्ण निशा आती है। वह उसके गले में आलिंगन दे कर उसे उठाती है, शय्या में सुलाती है। परन्तु उसके नयनों में निद्रा कहाँ ? वह निशा की ओढ़नी में जड़ी हीरक तारावली की गणना करती काल बिता देती है। पहरुआ पक्षी ब्रह्ममुहूर्त्त के होने की जब सूचना देने लगता है तब उसे लगता है उसके सपनों को भी पाप लग गया है। आँख ही जब नहीं झपकेगी तो स्वप्न कहाँ से आयेंगे ? परन्तु आशा साथ नहीं छोड़ती। लगता है ब्राह्म-मुहूर्त्त में संभव है वे नन्दभवन से उठकर उसके पास चले आवें। परन्तु जब रवि उदयाचल से अपना लाल-लाल मुख दिखाने लगता है तो यह आशा भी टूट जाती है।

वह नीलगगन को देखती है, उमड़ते कृष्ण मेघों से वार्त्ता करती हैं, उनके द्वारा प्रियतम तक अपनी उर व्यथा पहुँचा देने का प्रस्ताव करती है।

दीर्घश्वास उसकी चिरसंगिनी हो गयी है। फूत्कार भी अरुणिम अधरों पर सहचरी के रूप में व्यक्त होती रहती है। उसकी कुञ्चित केशराशि सर्वथा रुक्ष, अस्तव्यस्त एवं धूलि में सनी रहती है। विलेपन आदि का तो प्रश्न ही नहीं। उसका गात्र अस्थिपंजर मात्र रह गया है। मुख-सरोज मुरझाया रहता है, कलेवर मात्र दैन्य का प्रतिरूप भर है। उसे न भोजन ही का ध्यान है, न जल पीने ही की सुधि रहती है। अत्यन्तिक वेदना की मूर्तिमती वह तमाल वृक्ष के तने को पकड़े, उसे हृदय से लिपटाये अपने प्रीति मनोरथों में ही डूबी रहती है।

दिन रात उसके मुख से ये दो पंक्तियाँ निकलती रहती हैं :--

कहाँ जाऊँ कैसे पाऊँ व्रजेन्द्र नन्दन ।
तन-मन प्राण चित सर्वस्व हरण ।
किसे कहूँ कौन सुने मेरी कथा ।
विरही प्राणों की मर्म व्यथा .. ।

कभी निर्मिमेष नेत्रों से शून्य की ओर ताकती हुई बोल उठती है - "हाय ! हाय !! मेरे पास तो इस अश्रुकणावली के अतिरिक्त और कोई सम्पत्ति भी तो नहीं है। कभी कुछ था भी नहीं और होगा भी कहाँ से ? फिर इन नीरकणों के बदले मुझ महापातकी, भू-भार, दीना को भला वे क्यों अंगीकार करेंगे ? हाय ! हाय ! प्राणरमण ! तुम्हारे प्रति मेरा यह अदम्य आकर्षण क्यों

हो गया है ? इस प्राणोन्माद को अब मुझे ही भोगना है। दूसरा भला मेरी व्यथा को कैसे बँटाये।"

इस विषम विरह दशा से आकुल रसमयी बाला अभी-अभी यमुना से लौटी है। यमुना की कृष्ण लोल लहरों ने उसे उमड़-उमड़ कर परिस्नात कराया है। वह कुंज में खड़ी अपने केश सुखा रही है। हृदय में अतिशय हाहाकार है और विरह की अग्नि सर्वांगों को जला रही है।

इतने में ही उसके कानों में संगीत की अमृत ध्वनि पड़ती है। कोई गायक सुदूर कहीं गाता हुआ बहुत ही भाव भरे बोल सुना रहा है :--

नवल व्रजराज को लाल ठाड़ौ सखी
ललित संकेत वट निकट सोहै री !
देख री देख अनिमेष या वेष कौं
मुकुट की लटक त्रिभुवन जू मोहै री !!

इस परम आशा बँधाते पद-गायन को सुनकर वह ठगी सी रह गयी है। उसके हाथ केश सुखाने की क्रिया स्थगित कर देते हैं। वे स्तंभित हो जाते हैं। साड़ी भी अस्तव्यस्त किसी भी प्रकार से तन पर लपेटी ही हुई है। कंचुकी पहनने का तो प्रश्न ही नहीं है। उसके उरोज मात्र साड़ी से ही आच्छादित हैं। अति मधुर स्वर में भाव-भरा कोई गाये जा रहा है।

स्वेद-कण झलक कछु झुकी सी रहत पलक,
प्रेम की ललक रस रास कीयें...।

उसके नेत्र इस पद गायन "देख री देख अनिमेष या वेष कौं" के उद्‌बोधन पर सामने उठ जाते हैं। उसकी कुटिया से किंचित् दूरी पर ही तो वट वृक्ष है। क्या सचमुच ही वट के निकट उसके प्राणधन आ गये ? वह वृक्ष की ओर नेत्र उठाती है। सचमुच ही वट-वृक्ष के नीचे खड़े उसके प्राणधन उसे दिखाई पड़ जाते हैं।

अहा! क्या रूप है ? इनका भृकुटि-विलास, इनके आकर्ण-विलम्बी दीर्घ नेत्र, नेत्रों की चपलता, घुँघराली कुंचित कुन्तल राशि, जानु-विलम्बित भुजाएँ, विशाल स्कन्धदेश, श्रीअंगों की संविन्मय सुवास, ग्रीवा में झूलती कमनीय वनमाला, वनमाला की अति उन्मादी महक, सभी तो परम मनोहर हैं। यह

ऐसा मनोहारी सौन्दर्य है कि देखनेवाले, देखनेवाली का सब कुछ हरण कर लेता है।

वह अनुमान करती है कि अवश्यमेव गोष्ठ से वन की ओर जाते हुए ही यह यहाँ आकर इस वट-वृक्ष के नीचे खड़ा हुआ होगा, तभी न नेत्रों की पलकों के ऊपर स्वेदकण झलमला रहे हैं। अहा, इसकी ये पलकें भी कैसी सुकोमल हैं। हाय, ये पलकें अपनी अतिशय सुकुमारता के कारण नन्हीं-नन्हीं स्वेद की दो बूँदों का भार भी नहीं सह पा रही हैं, और इन स्वेद बूँदों के भार से ही थोड़ी झुक गयीं हैं। अहा ! इसके उत्फुल्ल वदनारविन्द को देखकर तो यही लगता है कि एक बार ही नहीं, हजारों-लाखों-बार अपने प्राणों को उस पर न्यौछावर करती जावे और उवाँर कर यमुना में फेंकती जावे।

अहा, इसके सौन्दर्य-कोष-रूप-चिबुक, बिम्बारुण अधरोष्ठ, सुढ़ाम धवल दंत-पंक्ति, मनोहारी हास्य-छटा, सभी से विशुद्ध प्रीति झर रही है। किसी भी निर्झर के पीछे कहीं उसके मूल देश में अखण्ड जल-स्रोत होता है, तभी न अनवरत जल की धारा उसमें से फूटती रहती है। इस किशोर के भी हृदय कोश में प्रीति ही प्रीति लबालब भरी है, तब न इसके नेत्र इस प्रकार प्रेम वर्षा कर रहे हैं। उभरे हुए अरुणिम कपोल, मणिजटित झिलमिल करते कर्ण कुण्डल, भाल पर सुशोभित गोरोचन का तिलक, कण्ठ में गुञ्जामाल, सरसिज सुमनों का हार, सुमनों पर गुन-गुन कर रही भ्रमर पंक्ति, सर्वत्र प्रीति सरस सरसतर होती प्रवाहित हो रही है।

कटि-देश, सुन्दर उदर, उदर पर विराजित त्रिवली, गंभीर-नाभि, श्रवणेन्द्रियाँ और सुघड़ नासिका, इसके सभी अंग प्रकृति के परे किसी अभिनव उपादान से निर्मित हैं।

सम्पूर्ण श्रृंगार, सम्पूर्ण आभरण, कटि-किंकणी की झंकृति, पद-नुपूरों का छमछम रव सम्पूर्ण वातावरण को प्रीतिपूर बना दे रहा है। कोटि-मदन मदहारी श्रीअंगों का श्याम-वर्ण-सौष्ठव, समग्र विश्व के नयनों को सुख देने वाले सौन्दर्य का आगार, कितना अप्रतिम है यह।

क्या यह नीलमयंक ही गोपवधुओं से, व्रजकुमारियों से औद्धत्य करने वाला धृष्ट नन्दतनूज है ? समग्र वृन्दावन में असंख्य रस-विलास का कर्त्ता क्या यही नन्दतनय है ? अवश्यमेव यही मेरी प्राण-संजीवनी है।

छुप-छुप कर आँखें फेंक कर उसने इतना सब निरखा परखा तो, परन्तु सहसा उसकी आँखें उस नीलमयंक से मिल जाती हैं। चार आँखें होते ही वह

लज्जा से सिहर उठती है। न चाहते हुए भी उसकी आँखें नीचे उसके चरणों की भूमि पर झुक कर गड़ जाती हैं। हाय रे कैसी नारी जनित लज्जा है, वह उसे जी भर एक टक देख भी नहीं सकती। कितनी देर तक निगोड़ी आँखें झुकी रहीं, लज्जा उन्हें घेरे रही, और वह धरा पर दृष्टि गड़ाये धरा कुरेदती खड़ी रही। जब दुबारा साहस कर वहे नयन उठाती है, तब तक तो वह नीलमयंक वन-पथ से संभव है गोष्ठ की ओर पलायन कर जाता है।

अथाह हाहाकार से उसका हृदय भर जाता है। व्याकुलता की सीमा लाँघकर विरहाग्नि उसके सम्पूर्ण वदन को आवृत कर लेती है। हाय ! मात्र दो क्षण ही वह दृष्टि पथ में आया और चला गया। कहाँ गया वह, किस पथ से गया, उसके चरण चिन्ह तो अवश्य ही धरा पर अंकित मिलेंगे ही। उन चिन्हों पर ही अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दूँ ? हाय ! जाऊँ, उसकी चरण रज बटोरूँ और अपने को आपाद मस्तक उससे नहलाऊँ। उसे ढूँढूँ तो सही । यदि आसपास ही वह छुपा होगा तो ? मुझे इस प्रकार निर्लज्जता से ढूँढ़ता देख लेगा तो ... तब तो प्रीति चौड़े आ जायगी। वह पैर उठाना चाहती है, परन्तु पुन: लज्जावश पैर उठते नहीं। उसके चरण ही धरा देवी मानों जकड़ लेती है। वह लज्जा विजड़ित खड़ी की खड़ी रह जाती है।

गायन की आवाज उसके कानों में अमृत उँड़ेल रही है।

परम अदभुत रूप सकल सुख भूप यह
नन्दनन्दन बिना कछु न भावै हो .. ।
धन्य हरि भक्त जिनकी कृपा तें सदा...
कृष्ण-गुण गदाधर भट्ट गावै हो ... ।

बालक के बाबा यंत्र चालित से लाईब्रेरी के कमरे से निकल नोहरे में लाइब्रेरी के सामने के कमरे में आ गये हैं। बालक के नयन मुंदे हैं। बालक की प्रकृति ही ऐसी नटखट है कि वह तुलसीदासजी की कविता को "ज्यौं त्यौं तुलसी कृपालु" के स्थान पर "ज्यों त्यों नटवर कृपालु चरण-शरण पावै" करके गाता है। इसी प्रकार इस गदाधर भट्ट के पद को भी उसने बदल कर गाना प्रारंभ किया है। वह नेत्र मूँदे गा रहा है :--

धन्य हरि भक्त बाबा कृपा तें सदा
कृष्णगुण नटवरिया दुष्ट गावै हो

बालक द्वारा गदाधर भट्ट के परम पुनीत नाम को उसके नाम से बदले जाने पर उसके बाबा मुसका पड़ते हैं। वे उसके हारमोनियम की कुञ्जी पर अपने हाथ रख देते हैं। उनके हाथ रखने से हारमोनियम के बहुत से मंद तीव्र स्वर एक साथ बज उठते हैं। बालक ने अपनी आँखें खोल दी हैं। वह कुछ भी बोला नहीं। उसका कण्ठ गदगद है। अपने बाबा के चरणों में वह प्रणाम करता है, उनके चरणों की धूलि सिर पर डालता है और उठकर चल देता है।

(सन् १९४८ ई० के दिसम्बर मास में बालक राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का कार्य छोड़कर गोरखपुर आ गया था। उस समय उसने अपनी कुछ परमार्थिक अनुभूतियाँ परम पूज्य गुरुदेव के समक्ष रखीं थीं। तब पू. गुरुदेव ने यह सब प्रसंग बताकर उससे कहा था कि उसके जीवन में रस-भाव के बीज तो उन्होंने बहुत निरे जब वह ग्यारह वर्ष का बालक था और उन्हें पद सुनाया करता था तथा 'राधा राधा' कहकर पिटाई का खेल खेलता था तभी डाल दिये थे। वे अब पुष्पित हो रहे हैं, इसे जानकर उन्हें हर्ष है। परन्तु अभी उसे प्रवृत्ति मार्ग का सर्वथा त्याग नहीं करना है। उन्हीं दिनों यह सारा प्रसंग और उस प्रसंग पर होने वाली अपनी लीलानुभूति का वर्णन भी उन्होंने किया था, जो इस प्रसंग में वर्णित है।)

राधाष्टमी उत्सव

(यह घटना सन् १९४९ ई० की या १९५१ ई० की है। मैंने पू० गुरुदेव से प्रश्न किया था, "बाबा ! आपको भगवान् श्रीकृष्ण के दर्शन तो श्रीपोद्दार महाराज ने चरण स्पर्श करके कराये। श्रीराधारानी के दर्शन प्रथम बार आपको कैसे एवं कहाँ हुए ? इस पर उन्होंने जो लीला बतायी, वह विस्तार से लिखी जा रही है।)

पू० गुरुदेव को राधाष्टमी के व्रत का पहले ज्ञान ही नहीं था। सन् १९४० ई० में वे राधाष्टमी के दिन दिल्ली में श्रीमथुरानाथजी के (सद्गृहस्थ के) घर पर ठहरे थे, वहीं उनकी भिक्षा की व्यवस्था थी। श्रीमथुरानाथजी की पत्नी ने उनसे पूछा "आज राधाष्टमी है आप फलाहार करेंगे या अन्नाहार?"

पू० गुरुदेव ने फलाहार (शाकाहार) करने का ही निर्णय किया। जब भिक्षा आयी तो पू. गुरुदेव ने मानसिक पूजा सम्पन्न की तथा भोग लगाकर शाकाहार भिक्षा कर ली। यह उनकी प्रथम राधाष्टमी मनायी गयी थी। दूसरे वर्ष राधाष्टमी के दिन वे रतनगढ़ ~~में ही थे। राधाष्टमी के~~ प्रसाद के लिये प० पू० गुरुदेव ने श्रीपोद्दार महाराज से मात्र दो रुपये माँगे। श्रीपोद्दार महाराज ने ये दो रुपये भी उन्हें यह कहकर नहीं दिये कि बाबा उनकी आर्थिक स्थिति तो जानते हैं नहीं, माँग करते रहते हैं। पू० गुरुदेव का बाह्य प्रापंचिक मन इससे थोड़ा व्यथित हुआ। परन्तु उन्होंने मन में समाधान कर लिया कि वे तो सन्यासी हैं। उन्हें बाह्य प्रपंच के व्यवहार से दुखी-सुखी नहीं होना चाहिये। प्रपंच की तो गति ही ऐसी है।

अचानक श्रीमोतीजी पारीक ने प्रस्ताव किया कि उनके घर में गाय है और वे दूध का शुद्ध मावा बनाकर पेड़े ला देंगे। इनका भोग लगा दिया जाय। यथा समय मोतीजी पेड़े ले आते हैं। ठीक मध्याह्न के समय पू० गुरुदेव अपने निवास कक्ष में ही पूजा सम्पन्न करते हैं। श्रीमोतीजी ने केसरिया पेड़े बनाये हैं और उस पर श्रीकृष्ण के वर्ण का पिश्ताचूर्ण जड़ दिया है। पेड़ों पर आलू को काटकर उसका संचा बनाकर "राधा, राधा" नाम अंकित कर दिया है। पूजा के पश्चात् इन्हीं पेड़ों का भोग लगा दिया जाता है।

प्रपंच के प्राकृत धरातल पर तो इस वर्ष पूजा का यही क्रम हुआ है। आओ अब अप्राकृत भाव धरातल पर चलें।

पूजा सम्पन्न करके पू० गुरुदेव शरीराध्यास रहित अवस्था में शान्त बैठे हैं। वे देख रहे हैं कि उनका हृदय सहज स्वतंत्र हो रहा है। वह सर्वथा खाली है। सहज भाव से ही उनकी दृष्टि श्रीपोद्दारजी की हवेली की ओर जाती है। उन्हें आभास होता है मानो श्रीपोद्दार महाराज मुख्य द्वार से अपनी हवेली में प्रवेश के लिये सीढ़ियाँ चढ़ रहे हैं। परन्तु ये क्या ? ये तो श्रीपोद्दारजी के स्थान पर भगवती श्रीराधा हैं ?

अहा, क्या ही त्रिभुवन मोहिनी मुसकान है। पिंगलवर्ण श्रीअंग शोभा के निर्झर हैं। नवनीरद वर्ण लहँगा और रक्तवर्ण कंचुकी धारण की हुई है। शुद्ध जरी से खचित और अनमोल मोतियों एवं विविध रत्नों से जटित हरिताभ वर्ण की ओढ़नी विलक्षण शोभा सर्वत्र प्रसारित कर रही है। किंकिणी कटि प्रान्त का स्पर्श पाकर सौभाग्यवती हो उठी है और मंजीर झंकार कर रही है, चरण सरोजों में। भाल पर सजी है मृगमद बिन्दुओं की मरवट और कुञ्चित

केशराशि वेणी में निबद्ध हुई पीठ पर लहरा रही है। मणिमय चन्द्रिका मस्तक पर शोभित है तथा रत्नहारों से वक्षस्थल भरा है। सर्वोपरि सुन्दर सुमनों से गुम्फित है वनमाला। मुखमण्डल का लावण्य, मधुरिमा, सरसता, कोमलता एवं कान्ति कैसी है, कौन बतावे। कोटि-कोटि मन्मथ इनके एक रोम के लावण्य पर न्यौछावर हैं। बिम्ब-बिडम्बी अधरों पर मधुर स्मित की स्फुट रेख नित्य व्यक्त है। अप्रतिम हैं इसकी मादकता। अरे कर्णस्पर्शी विशाल नयनों की बंकिम चितवन ही वह जाल है जिसमें नन्दनन्दन त्रिभुवनमोहन, मुनिमन-मोहन, सर्वविमोहन, चर-अचर मोहन श्रीकृष्ण नित्य आबद्ध रहते हैं।

पू० गुरुदेव विस्फारित चकित खुले नेत्रों से देख रहे हैं। एक क्षण के सौंवे हिस्से में तो उन्हें श्रीपोद्दार माहराज दिखते हैं और दूसरे ही क्षण असमोर्ध्व अचिन्त्य सुन्दरी श्री राधारानी।

सहसा पू० गुरुदेव के कानों में अतिशय मधुर स्वर गूँज उठता है। "देखो ! आज वृषभानुपुर में राधारानी का जन्मोत्सव हो रहा है। देखो ! देखो !! क्या ही मनोरम दृष्य है। इस रतनगढ़ की धरा का भाग्य ही अप्रतिम है। इस हवेली की धरणी का कैसा सौभाग्य है कि इसने श्रीराधारानी के चरणों को अपनी पपनियों से छू लिया, छूकर धन्य-धन्य हो गयी है।

और पू० गुरुदेव भावदेह से नहीं अपनी पांचभौतिक देह के चर्मचक्षुओं से प्रत्यक्ष देख रहे थे - "श्रीपोद्दारजी की हवेली के स्थान पर विशाल दिव्य अप्राकृत अनन्त वैभवों का आगार वृषभानुपर। फिर उनके सम्मुख व्यक्त हुआ श्रीवृषभानु बाबा का सर्वसम्पदा सम्पन्न अलौकिक महल, और तब व्यक्त हुई वृषभानु बाबा की वह सम्पदा जिसके सम्मुख, वैकुण्ठ, कैलास और त्रिलोकी का वैभव तुच्छ प्रतीत होता है।"

पू० गुरुदेव के सम्मुख बाबा वृषभानुजी की यशस्विता, उनकी अपार गरिमा, उनके श्रीअंगों का अप्राकृत दिव्य सौष्ठव सब इस प्रकार मूर्त हो रहा था कि वे रह-रहकर चमत्कृत एवं रोमाञ्चित हो रहे थे। सब कुछ अतुलनीय था, और आश्चर्य यह था कि सब कुछ पू. गुरुदेव अपने चर्मचक्षुओं से देख रहे थे।

नियम हुतौ गुन देह में महाभाव नहि हौन।
मेरे हित पिय साँवरो सोऊ कीनो गौन ।।

यह नियम है कि सत्व-रज एवं तमोमय इस त्रिगुणात्मक शरीर में महाभावात्मक चिन्मय स्थिति का अवतरण नहीं होता, पर उन प्रियतम श्रीकृष्ण ने अपना नियम पू० गुरुदेव के लिये बदल दिया, और वह कर दिया, जिसे जगत् में असंभव माना-समझा जाता है। इतना ही नहीं, उन प्रियतम साँवर ने स्वयं को पू० गुरुदेव के हाथों में सौंप दिया। यह उनके प्यार की पराकाष्ठा थी।

पू० गुरुदेव को जिस वृषभानुपुर की शोभा का दर्शन हुआ उसके पश्चिम दिशा में यमुनाजी बहती थीं। अब तो यमुना बहुत दूर है, उन्होंने रास्ता बदल दिया है।

पूरब की शिखरावलि-मण्डित गिरि था सीमा रचता प्रियतम !
कानन से जुडी प्रतीची में प्रसरित नीली सरिता प्रियतम !
सुविक्षाल राजपथ उत्तर में द्रुम जालों से छाया प्रियतम !
चलकर कोसों तक छू लेता उस शैल रत्नमय को प्रियतम !

प्राकृत मन से अप्राकृत वस्तु को देखा जाना संभव ही नहीं है। पू० गुरुदेव के शरीर का मन भी प्राकृत था, बुद्धि भी प्राकृत थी। माया जगत के शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध मायातीत जगत के शब्द स्पर्श, रूप, रस, गंध से सर्वथा भिन्न हैं, माया-जगत की इन्द्रियों से वे सर्वथा अग्राह्य हैं। इन इन्द्रियों की वहाँ गति नहीं। परन्तु पू० गुरुदेव की इन्द्रियाँ एवं मन तो इस दृश्य के प्रकट होने के पूर्व ही समाप्त हो गये था। पूर्व पृष्ठों में इसका उल्लेख भी है कि देहाध्यास रहित हुआ पू० गुरुदेव का मन सर्वथा खाली शून्य हो गया था। जहाँ इस प्राकृत मन की समाप्ति हुई, वहीं वह अप्राकृत राज्य भगवत्कृपा से स्वत: अवतरित हो जाता है। यह किसी भी पुरुषार्थ द्वारा साध्य नहीं। यदि कोई अपने को सर्वथा भगवान पर ढ़ार देता है तो भगवान् उसकी कामना अवश्य पूरी कर देते हैं। भगवान् बहुत ही उदार हैं। भगवान् कभी किसी की आशा खण्डित नहीं करते हैं। अप्राकृत राज्य में प्रवेश का एक मात्र साधन है, भगवत्कृपा पर निर्भरता।

पू० गुरुदेव का प्राकृत मन विलीन हो गया था महाभाव स्वरूपा वृषभानु नन्दिनी में जो सम्पूर्ण सौन्दर्य माधुर्य, ऐश्वर्य, की आधार हैं, सार स्वरूपा हैं। पू० गुरुदेव महासत्व में निमज्जित हुए उस अलौकिक लीला-सुख का मूकास्वादनवत् आस्वाद ले रहे थे जो लीला उस दिवस राधारानी के जन्मोत्सव को हेतु बनाकर श्रीपोद्दार महाराज की हवेली की भूमि में अवतरित हो रही थी।

उस दिवस राधारानी के जन्म को हेतु बनाकर उस हवेली की भूमि में यश की, ज्ञान की, प्रेम की, वैभव की, धर्म की, दानशीलता की आनन्द की एवं उमंग की तथा उत्साह की ऐसी ध्वजा फहरा रही थी जिसकी तुलना कहीं भी नहीं हो सकती।

सतत लीला चिन्तन के पश्चात् एक ऐसी स्थिति आती है जहाँ मन मन नहीं रह जाता। महाभाव सिन्धु में जब मन विलीन ही हो गया तो फिर मन रहा ही कहाँ ? सिन्धु में बिन्दु मिलकर सिन्धु ही तो हो गया।

देखो कैसे कह दूँ सब कुछ है बात बड़ी लम्बी प्रियतम !
आगे जाकर जो डूब गयी, फिरती है क्या पीछे प्रियतम !!

पू० गुरुदेव को जो उस दिन सुख-वैभव के दर्शन हुए उस सुख-वैभव को प्राप्त करना तो दूर उसकी कल्पना भी न कभी किसी अमरेन्द्र को हुई है न दानवेन्द्र को और न ही किसी मानवेन्द्र को, फिर उसके प्राप्त होने का तो प्रश्न ही नहीं है।

पू० गुरुदेव उस समय जाग्रत थे, यह भी कहते नहीं बनता, उसको स्वप्नावस्था भी नहीं कही जा सकती, और सुषुति तो वह थी ही नहीं। जाग्रत स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों ही दशाओं से परे की वह अवस्था थी। फिर पू० गुरुदेव को दर्शन होते हैं यशोदा रानी के। यशोदा मैया की आँखें कैसी सजल हो रही हैं। यशोदारानी के पास में ही व्रजचन्द्रमा नीलमणि किस प्रकार सजे खड़े हैं। इनके नेत्र सरोज कैसे उत्फुल्ल हैं ? इतना आनन्द और ऐसा उल्लास जैसा आज इनके नयनों में भरा है, वैसा तो विरल ही दिखायी पड़ता है। व्रज चन्द्रमा तो इतने प्रसन्न हैं मानो उनका मंगल परिणयोत्सव आज ही हो। और मानो आज ही नहीं अभी-अभी सम्पन्न होने जा रहा हो। चिर

काल से अभिलषित उनका प्रेम-मनोरथ बस, आज अभी पूर्ण होने जा रहा हो।

इतने में ही लो, जन्म के समय का धौंसा बज उठा। दुंदुभी निनादित हो उठी। नगाड़े मानो मूर्तिमान हुए नाच रहे हों, इस प्रकार विलक्षण ध्वनि उनसे निकल रही थी। और कर्णेन्द्रियों को ऐसा स्वर तो सुनने को ही नहीं मिला, जैसी शहनाई की धुनि हो रही थी। और नर्तक नट, कैसा हावभावपूर्ण नृत्य कर रहे थे।

पू० गुरुदेव के सम्मुख एक-एक दृष्य, एक-एक आकृति सर्वथा सुस्पष्ट हो रही थी। 'लो, कीर्तिदा मैया के भी दर्शन करो, रोम-रोम उनका आनन्दोदधि में उछाल ले रहा है। देखो तीनों बहनें, कीर्तिदा, शारदा, एवं कीर्तिमती साथ ही यशोदाजी एवं रोहिणीजी, मयूरासन पर विराजे, मुसकाते नन्दनन्दन और राधारानी की आरती कर रही हैं। और देखो ! इन ऋषियों की कतार कैसी गरिमामयी है। भागुरि ऋषि के नेतृत्व में सभी महर्षि, ब्रह्मर्षि, वेदर्षि इकट्ठे हो गये हैं। सभी के चरणों की धूलि लेकर यशोदारानी अपने लाली-लाला पर वार रहीं हैं।"

"यह जन्मोत्सव हो रहा है वृषभानुपुर में, परन्तु सभी उत्सव की प्रमुख संचालिका शक्ति हाथ में लिये हैं नन्दराय बाबा। अहा ! यशोदा रानी तो आनन्द में इतनी उन्मत्त हैं कि उन्हें जैसे व्यवहार-ज्ञान ही नहीं रहा है। उन्मादिनी सी हुई वे अपने रत्नहारों से भरी पेटियाँ खोल-खोल कर लुटा रही हैं। इधर नन्दजी मुक्ता-माणिक, पन्ने, हीरे इस प्रकार दान दे रहे हैं, जैसे कोई कंकर पत्थर लुटा रहा हो। मैया तो अपना समग्र गोधन, गजधन, वाजिधन, रत्नधन, स्वर्ण, रजत, ताम्रादि धातुएँ, अन्न-भण्डार लुटा देने पर ही जैसे आतुर हो रही हैं।"

"लो, अब तो नन्दरानी अपने पहने हुए हार, कर्णफूल, नाक का हीरा, अपने सिरोभूषण, अपने कण्ठहार, करधनी, सभी उतार कर देने लगीं।"

"श्रीरोहिणी को जैसे ही यह सूचना मिलती है, वे बलरामजी सहित दौड़ी आती हैं, मैया को सौभाग्य भूषण दान न देने की वर्जना करती, वे पुनः सभी आभूषण उन्हें पहना देती हैं। मैया तो इतनी उत्साहित हैं और ऐसा उन्मत्त आचरण कर रही हैं, मानो मदिरा पान किये हों, उनकी दानशीलता विराम ही नहीं पा रही है।"

"अति गरिमा से द्विजवृन्द देवाराधन में लग गये हैं। महागणेश की पूजा प्रारंभ हो गयी है। इसके पश्चात् पूजन होगा, भगवान् दक्षिणामूर्त्ति का और तब पूजित होंगे भगवान लक्ष्मीनारायण, भगवती आदिशक्ति जगज्जननी त्रिपुर सुन्दरी, कामेश्वर-कामेश्वरी युगल रूप में, फिर भगवान शंकर-पार्वती का अभिषेक होगा, और तब पूजित होंगे भगवान सूर्यदेव।"

"नन्दबाबा तो सबके चरण पखारने में ही लगे हैं। उनकी पगड़ी तो अपने मस्तक पर रह ही नहीं पाती। कभी किसी के चरणों में रखते हैं, कभी किसी के चरणों में। हाथ बाँध, वे दैन्य मूर्त्ति सबका स्वागत-सत्कार कर रहे हैं।"

"और नन्दनन्दन को कहाँ धैर्य है। वह तो अपनी कल्पप्रसून प्रिया पर भ्रमर हुआ मँडरा रहा है। जहाँ वह जाती है, उसके पीछे-पीछे उसकी छाया बना दौड़ रहा है। उसके रोम-रोम से अनन्त आनन्द-सुरसरियाँ प्रवाहित हो रही हैं।"

"और महर्षि दुर्वासा, अत्रि, अगस्त्य, वशिष्ट, विश्वामित्र, सभी राधा-साँवरी युगल जोड़ी को स्वस्तिवाचन पूर्वक आशीर्वाद दे रहे हैं। ये तत्वज्ञ ऋषि प्राणप्यारे नन्दनन्दन और प्यारी दुलारी राधाकिशोरी को भगवान विश्वेश्वर और उनकी संचालनकर्त्री महाशक्ति कह कर बखान कर रहे हैं। कोई रानी को परा-अपरा प्रकृति कह रहा है और कोई ब्रह्मशक्ति बता रहा है। "अरे वृषभानु ! ओ नन्दराय !! यह तुम्हारे घर में पूर्ण ब्रह्म परमात्मा अवतरित हुआ है। यह परम तत्व है, वेदों का सार-सर्वस्व है। और यह राधा इस विश्व प्रपंच की आधार शक्ति, अघटन-घटना-पटीयसी, असंभव को संभव करने वाली भगवती योगमाया है। यही चर-अचर अनन्त प्राणियों की माला पहने परा देवी हैं।"

"और देखो ! इन महर्षियों की स्तुति करते समय जो दाढ़ी हिल रही है, उसे देख-देखकर अपने बाबा की गोद में बैठे नन्दनन्दन हँस रहे हैं और अपने बाबा से कितनी मुग्धता का प्रकाश करते पूछ रहे हैं -- "बाबा इन ऋषिगणों का तात्पर्य क्या है ?"

"और यद्यपि ऋषियों की बात नन्दबाबा एवं वृषभानुजी के गले तो नहीं उतरती फिर भी वे सबको सिर नवा-नवा कर प्रणाम कर-करके अपनी कृतज्ञता प्रकाश कर रहे हैं।"

"ब्रह्मर्षिगण अपने तत्व के प्रकाश में समाधिस्थ से हो रहे हैं। तत्व सिन्धु की लहरें उछल-उछलकर इन्हें अपने आवर्त्तों में नचा रही हैं।"

"श्रीगर्गाचार्य तो इस आवर्त-सिन्धु में पूरे ही डूब गये हैं, इन्हें तो गोप उठाकर अपने आश्रम पहुँचाने जा रहे हैं। लो, अर्चना क्रम के पूर्ण होते ही रंगमंच पर गोप आ गये हैं। नन्दभवन और वृषभानुपुर के गोप इस प्रकार नाच-नाचकर "राधा, राधा" नाम ध्वनि कर रहे हैं जिससे सर्वत्र आनन्द ही आनन्द प्रवाहित होने लगा है।"

यह उत्सवानन्द क्षण-क्षण नित्य-नवनवायमान वेग से चल रहा था, इतने में ही पू० गुरुदेव को श्रीपोद्दारजी की अति तेज पुकार सुनाई पड़ी। "दुलीचन्द ! भाया बाबा ने भिक्षा कोनी करायी, दो बज रह्या है।" और फिर वे जोर से पू० गुरुदेव को सम्बोधित कर कह उठे -- "बाबा ! आप भिक्षा कर लीजिये।"

उसी समय सम्पूर्ण दृश्य तिरोहित हो गया। पोद्दार महाराज और उनकी हवेली साथ ही प्रपंच का सब दृश्य पू. गुरुदेव के सामने ज्यों का त्यों व्यक्त हो गया। पू० पोद्दार महाराज की कोठी के मुख्य द्वार के बाँयी ओर एक बारामदा और कमरा था, पू० गुरुदेव बारामदे में ही बैठकर उन दिनों भिक्षा किया करते थे। श्री पोद्दार महाराज दाहिनी ओर के बड़े कमरे में अपना सम्पादकीय कार्य करते रहते थे।

पू० गुरुदेव भिक्षा करने लगे परन्तु रह-रहकर उनकी दृष्टि सामने बड़े कमरे में काम करते श्रीपोद्दार महाराज पर जा रही थी। और उनके स्थान पर उन्हें वहीं श्रीराधारानी की विलक्षण छबि दिख रही थी।

अहा ! उनके मस्तक पर पीछे शीश फूल नामक आभूषण शोभा दे रहा है। आगे चूड़ामणि चन्द्रिका है और ललाट पर तिलक के स्थान पर गोल कुंकुम की बडी बिंदी है।

उनकी उस समय ऐसी शोभा दिख रही है मानो स्वर्ण-शेखर सुमेरु के ऊपर पूर्ण राकाचन्द्र एवं भगवान् सूर्यदेव दोनों विराजित हों। शीशफूल में जो वज्रमणियाँ जटित हैं, वे सूर्यदेव की तरह लग रही हैं और लाल कुंकुम की बिन्दी राकाशशि की शोभा को हतप्रभ कर दे रही है।

पोद्दार महाराज प्रूफ देख रहे हैं और वे प्रूफ देखते-देखते ही पू० गुरुदेव पर अपनी तिरछी चितवन की दृष्टि डालते हैं। अहा ये पोद्दार महाराज क्या जादूगर हैं जो अपनी कला प्रदर्शित कर रहे हैं ? ये कल्याण के प्रूफ देखने

बैठे हैं कि पू० गुरुदेव को उनकी आराध्या के दर्शन कराने में जुटे हैं ? कहाँ तो मात्र दो रुपये देने के लिये ही पू० गुरुदेव का इन्होंने मानभंग कर दिया और अतिकृपण बनकर सर्वथा निषेध कर दिया और कहाँ अपना अलौकिक प्रीति वैभव पू० गुरुदेव पर न्यौछावर करने को विकल और आतुर हैं ? धन्य है संत चरित्र और धन्य है उनके व्यवहार की वक्र गति, उच्छलन, और ज्वार भाटे का नर्तन !

पू० गुरुदेव देखते जा रहे हैं, साथ ही आश्चर्य भी करते हैं। चिन्मय वस्तु का प्रकाश इतनी रजोगुणी अवस्था में - कैसे संभव हो रहा है, जब वे भिक्षा कर रहे हैं, भिक्षा का खारा-मीठा स्वाद ले रहे हैं, अपनी दृष्टि से भिक्षा कराने वाले को भी देख रहे हैं और सारी हवेली की गतिविधि का भी अनुभव कर रहे हैं ? यह तो आंठवा आश्चर्य है। जादूगर भी जादू तभी दिखा सकता है जब दृष्टि-बंध कर ले। यह तो पूर्णतया श्रीपोद्दार महाराज के देह में श्रीराधारानी का पूर्ण अवतरण है। क्या श्रीपोद्दार महाराज के रूप में स्वयं श्रीराधारानी ही अवतरित हैं ?

जैसे व्रजभूमि में अवतरण के समय श्रीराधारानी सबके सम्मुख प्रकट थीं, वैसे ही इस समय पोद्दार महाराज के रूप में क्या उनका प्रकाश हो रहा है। परन्तु आज के पाँच हजार वर्ष पूर्व तो पर्जन्यजी और महीभानु की पीढ़ी से चिन्मय जगत अवतरित हो गया था, तो क्या पोद्दार महाराज के परिवार के रूप में, इन सभी परिकरों के रूप में, इस हवेली और रतनगढ़ धाम के रूप में भी चिन्मय जगत ही व्यक्त हो रहा है ?

पिंजर काला प्रतीक यह है व्रजधरा अरण्य तथा प्रियतम !
सब मातृ-पितृ-कुल के परिकर वे श्वसुरालय के भी प्रियतम !
गोवंश,वसन,उपकरण सभी जन के तन-धारण के प्रियतम !
संधिनी-शक्ति की परिणति ही जो हैं-इन सबका ही प्रियतम !

पू० गुरुदेव की इस अनुभूति का कोई तार्किक समाधान उन्हें प्राप्त नहीं हो रहा था, परन्तु यह तो उनके लिये प्रत्यक्ष सत्य था कि पोद्दार महाराज के स्थान पर षोड़श-श्रृंगार धारण किये भगवती श्रीराधारानी ही उमके सम्मुख व्यक्त हो रही थीं।

वे स्पष्ट चर्मचक्षुओं से देख रहे हैं :--

"मृगमद को मलय केसर से सींचकर जो द्रव्य बना है उससे रानी की ललाट पर आड़ की रचना किसी सौभाग्यवती सखी ने की है। चतुर्दिक कस्तूरी और केसर की खौर और मध्य में कुंकुम की बिन्दु ऐसी शोभा दे रही है मानो व्रहस्पति नक्षत्र सुमेरू पर्वत के ऊपर से उदय हो रहा हो। छोटे-छोटे तरौना आभूषण कानों में शोभा पा रहे हैं। ये तरौना हैं तो कनक के परन्तु इनमें विलक्षण पानीदार रत्नजटित हैं। ये तरौना के रत्न राधारानी के आनन पर, कपोलों की कनकवर्णी भूमि पर ऐसी ज्योति की किरणें फैंकते हैं मानो रवि की किरणें कनक-भूमि-वृन्दावम में विश्राम करने लेटी हों। हरिणी के नेत्रों के समान बड़े-बड़े चपल श्रीरानी के नेत्र जल से भरे बादलों की कृष्ण और श्वेत शोभा प्रकाशित कर रहे हैं।"

"रानी की नक बेसर की शोभा अहा कैसी सुभग है ? उसकी मुक्ता कैसी शोभा पा रही है ? इसके सम्मुख शुक्र नक्षत्र लजा जाता है। अहा ! प्रिया के अधरों की दसनावली की कैसी अलौकिक शोभा है। उनके सारे दसन ताम्बूल चर्वण से सहज रक्तिम हो रहे हैं। रानी जब मुसकाती हैं तो ऐसा लगता हैं मानो दसों-दिशाओं में दामिनी दमक उठी है।"

श्रीदुलीचन्द जी दुजारी बार-बार पूछते है - "आप बीमार हैं क्या ? कुछ भी नहीं खा पा रहे हैं। यह भात और दही ऐसे ही अछूता पड़ा रह गया है।" परन्तु गुरुदेव अन्न का कौर निगल ही नहीं पा रहे हैं।

पू. गुरुदेव क्या भोजन करें, उन्हें जो तृप्तिदायक भोजन श्रीपोद्दार महाराज अपना प्रूफ देखते-देखते परोस रहे हैं, उसे खायें या दुलीचन्द द्वारा परोसा भोजन खायें।

श्रीपोद्दार महाराज अपने रोम-रोम से पू० गुरुदेव को प्रीति वर्षा से नहला रहे हैं। उनकी यदा-कदा टेढ़ी चितवन करके निक्षिप्त दृष्टि पू० गुरुदेव के मन में ऐसी रस वर्षा कर रही है जिसका आस्वादन बिचारा दुलीचन्द क्या समझे ?

पू० गुरुदेव कहते थे कि मेरा तो श्रीपोद्दार महाराज की कृपा ने ही सब काम बना दिया। कृपा सागर पोद्दार महाराज की कृपा से मुझे अनायास ही महाभावसागर की गहरायी पर ड़ाल दिया गया। उन्होंने मुझे अपने लक्ष्य पर बिना श्रम के इतनी जल्दी पहुँचा दिया मानो हैलीकाप्टर या हवाई जहाज से यात्रा करायी गयी हो। मुझे सन्त कृपा से ऊँची से ऊँची वस्तु अनायास सुलभ हो गयी। मैने कोई परिश्रम और प्रयास किया ही नहीं।

भगवती श्री राधारानी का दर्शन मिलन एवं नित्य संग

पू० गुरुदेव की भाव देह पंचतत्वमयी सर्वथा नहीं थी। वह भगवती ब्रह्माणी एवं लक्ष्मी, पार्वती की तरह कारण जगत की देव देह भी नहीं थी, न ही वह भगवती श्रीमती त्रिपुर-सुन्दरी की तरह भगवद्देह ही थीं। उनकी भावदेह का इन सब देहों से कोई साम्य ही नहीं था। पू० गुरुदेव की महाभावमयी देह तो चिन्मय राज्य की एक अलौकिक विलक्षण वस्तु है जो निर्मित होती है श्रीकृष्ण प्रेम-रस-सार से ही। **रसो वै सः** श्रीकृष्ण की प्रीति प्रतिमा होने से ही उसे 'रसमयी' नाम दिया जा रहा है।

निज प्रियतम के प्रेम की धनीभूत प्रतिमा रसमयी अपने प्रियतम को नित्य नव-नव सुख देने की लालसा सँजोये अपनी कुटी में विराजित है।

और इस रसमयी के निवास स्थल को तो देखो ! महाभाव रससिन्धु की लहरें तो पृथ्वी और उपल के रूप में परिणत हैं, वे ही तरुओं और लतिकाओं के रूप में चतुर्दिक् प्रसरित हैं, वे ही वन, गिरि, गिरिश्रृंग के रूप में परिणत हैं। आँखें गड़ाकर देखो, वही विशुद्ध रस जल, स्थल, तेज, पवन एव नभ के रूप मे सर्वत्र भासित हो रहा है। विशुद्ध रस सिन्धु के अतिरिक्त किसी को भी यहाँ कुछ भी अन्य वस्तु उपलब्ध होगी ही नहीं।

ऐसे इस अपार महाभाव रस सुधा सिन्धु में ही व्रज जगत का भान हो रहा है पू० गुरुदेव को। अहा, अथाह है यह महाभाव सिन्धु। इसमें तल तो है ही नहीं। नित्य अतल है यह। कितनी उच्च, उच्चतर, उच्चतम लहरें उठ रही हैं इसमें।

ये लहरें हैं -- इस रसमयी प्राणाराम नीलमणि का ही उच्छलित प्रेमोन्माद, प्रीति तरंगे; उसकी परम रसभरी लीलायें, एक से एक उत्तुंग तरंगे बनकर ऊर्ध्वतर, ऊर्ध्वतम उठ रही हैं और व्रज जगत को आ-आकर आर्द्र कर दे रही हैं।

क्या यह वज्र जगत और महाभाव समुद्र कुछ भिन्न हैं ? ये नन्दनन्दन, श्रीराधारानी, ये नन्द, यशोदा, वृषभानुजी, मैया कीर्तिदा, सखियाँ, पशुधन, ये चतुष्पद, ये भृंग,कीट क्या सब भिन्न हैं ?

अरे भाई ! कभी तुमने कन्दके बने राजा, रानी, महल, मकान, पर्वत, पशु-पक्षी देखे हैं ? सब कन्द ही कन्द तो हैं, इसी प्रकार ये सब मात्र

महाभाव रस समुद्र ही रस समुद्र है। भगवत्कृपा अथवा महज्जन कृपा से जब यह लोक किसी भाग्यवान को दिखता है तो वह कुछ भी कह नहीं सकता, अत: वह गूँगा हो जाता है, जगत को फिर देख नहीं पाता अत: अन्धा हो जाता है, और उसकी मन बुद्धि में इतना रस भर जाता है कि वह पागल हो जाता है।

सच्चिदानन्द परतत्व अहो ! अविषय मन-वाणी का प्रियतम !
है खेल अनिर्वचनीय और निरुपम अचिन्त्य इनका प्रियतम !
साँवर जिसको जितना सा, जब दिखला दे, वह देखे, प्रियतम !
उतना सा तभी, मर्म फिर भी अज्ञात रहेगा ही प्रियतम !!

इन लीलाओं की, इस व्रजराज्य की अनुभूति और प्रत्यक्षीकरण साधक एवं सिद्ध को अपने-अपने मानसिक धरातल के अनुरूप ही होती है। वियोग-संयोग, प्रकट-प्रच्छन्न, एकाकी-सामुदायिक सभी प्रकार की लीलाओं का उद्गम स्थल दिव्य भावराज्य का दिव्य नित्य विलास है। ये सभी लीलाये विलक्षण रूप से एक दूसरे से गुँथी हैं। इस रहस्य को हृदयंगम करना बहुत कठिन है।

संकेत भले सुन लो, यद्यपि रस का सागर वह है प्रियतम !
यह गिरा न जाने क्यों कुण्ठित हो रही अचानक है प्रियतम !!
कानन में विविध विहंगम हैं रस लोलुप किन्तु सभी प्रियतम !!!
है रस मर्मज्ञ नहीं पूरे अतएव न समझेंगे प्रियतम !!!!

यह वही सिन्धु अब तक जो है नापा जा सका नहीं प्रियतम !
है गहरायी कितनी, कोई बतला न सका, न सकी प्रियतम !!
नीचे जितना जो गया, गयी, बढ़ती ही मिली उसे, प्रियतम !!!
वह मरा, मरी, जो बचा, बची गूँगा, गूँगी वह है, प्रियतम !!!!

उस गूँगी का इंगित कोई समझे, न समझ पाये प्रियतम !
जो समझे वह सब समझ गया है नियम नहीं यह भी प्रियतम !!
गूँगी तो यह निर्णय करने आयगी नहीं कभी प्रियतम !!!
बहरी तो थी ही, अंधी, फिर पगली हो जाती है प्रियतम !!!!

तो जब महाभाव सिन्धु है तो फिर कौन सी संध्या कौन सा प्रभात। वस्तुत: आस्वाद्य, आस्वादक, और आस्वादन के भेद से रहित यह रस प्रवाह ही जब मात्र नीलसुन्दर है फिर कौन रसमयी और किसका किससे मिलन-वियोग ?

आस्वादन आस्वादक एवं आस्वाद्य नाम वाला प्रियतम !
सच तो यह है दयिते ! किञ्चित कोई है भेद नहीं प्रियतम !!
फिर भी वह है रसराज वहाँ वह महाभाव भी है प्रियतम !!!
इन दो की ही क्रीड़ा चलती उत्तर निकुंज में है प्रियतम !!!!

आगे प्रवाह बहता क्रमश: उन दोनों के रस का प्रियतम !
वे अहो कहाँ से कहाँ जुड़े उसमें बहते रहते प्रियतम !!
पीछे आने का प्रश्न नहीं उस धारा में बनता प्रियतम !!!
वे सृजन और संहार जनित परिणाम न उसमें हैं प्रियतम !!!!

सचमुच ही प्रीति का पथ निराला, सबसे पृथक् है। इस प्रीति की उद्गमस्थली श्रीभानुराज नन्दिनी हैं। प्रीति पथ का पथिक वही हो सकता है जिस पर स्वयं भगवान व्रजेन्दनन्दन की कृपा का एक कण ढ़लक पड़ता है। कृपा कणिका से अभिषिक्त होते ही वह जुड़ जाता है, जुड़ जाती है, प्रीति की उद्गमस्थली भानुराजनन्दिनी से। उस समय भानुराजनन्दिनी के प्राणों की धारा ही प्रसरित होने लगती हैं जुड़ने वाले, जुड़ने वाली में।

पू० गुरुदेव की भाव देह की वर्तमान में ऐसी स्थिति है कि अभी उन्हें भानुराजनन्दिनी के मात्र राधा जन्माष्टमी उत्सव में दर्शन हुए हैं। अब उन्हें उनका नित्य परिचारकत्व प्राप्त हो जाय, वे उनकी अन्तरंग सखी होकर उनसे, उनकी लीलाओं से एकात्म हो जाये, इस भूमिका का निर्माण उनके प्राण प्रियतम श्रीकृष्ण कर रहे हैं।

प्रीति जगत की परिपाटी ही यही है पहले श्रीकृष्ण के रसराज रूप में, वृन्दावनविहारी रूप में, वंशी, कदम्ब सहित साधक को दर्शन होते हैं। इस दर्शन के पश्चात प्रेम भूमि का निर्माण होता है। तत्सुखिया भाव का बीज वपन होकर महत्कृपा से वह बीज पल्लवित होता है। उसकी रस दीक्षा होती है।

तब भाव देह का उदय होता है। पांचभौतिक देहाध्यास की सर्वथा आत्यन्तिक निवृत्ति होकर भावदेह में पूर्ण प्रतिष्ठा होती है। फिर लीला विधातृ शक्ति धाम में प्रवेश का अधिकार देती है। यमुना, दिव्य वृन्दावन, निकुंजों का, दिव्य चिन्मय गिरिराज परिसर आदि का दर्शन होकर इनमें नित्य निवास एवं निकुञ्ज प्रवेश की योग्यता प्राप्त होती हैं तब श्री राधारानी के दर्शन की भूमिका का निर्माण होता है। और तब उनकी मंजरी देह से सेवा प्राप्त होती है। राधारानी के दर्शन के पूर्व ही श्रीकृष्ण से मिलन और असीम प्रेम की अभिवृद्धि होती है। फिर श्रीकृष्ण मंजरी भाव देह में निज प्रिया का दर्शन करते हैं। उसे प्रिया ही मानकर अतिशय प्रेम से नहा देते हैं। तत्पश्चात् पूर्ण पात्री बनाकर राधारानी की चरण सेवा में उसे भेज देते हैं।

तो इस महाभाव रस सिन्धु में निशा अपने सम्पूर्ण राज्य का भार अपनी सखी उषा को सौंप कर सीकरों के रूप में अश्रुकण बिखेरती बिदा हो रही है। जिस प्रकार मनुष्य दो पैरों से ही चलता है, पक्षी की उड़ान निर्भर होती है दो पंखों पर ही, ठीक उसी प्रकार मिलन एवं विछोह, संयोग एवं वियोग दोनों के द्वारा ही इस रस विलास की सिद्धि होती है। इसीलिये निशा आती है और दिवस का अवसान होता है उषा आती है, निशा विदा लेती है, ब्रह्म मुहूर्त्त का आरंभ होता है । यमुना के किनारे से पूर्व में सूर्योदय होता है और पश्चिम में गिरि पर्वत श्रेणी में उसका अस्त हो जाता है।

निशा का अन्त होने पर शुक सारिका, मयूर, कोकिल, आदि असंख्य पक्षियों का कलरव प्रारंभ हो जाता है। इन पक्षियों के सुमधुर कलरव से रसमयी की नींद टूट जाती है। आँख खुलते ही खुमारी में उसे भान होता है प्रियतम अतिशय रसभरे नेत्रों से उसे ताक रहे हैं। ऐसी प्रियतम रस-भावित-मति रसमयी की निद्रा भी पर्यवसित होती है नीलद्युति में ही और स्वप्न जागरण में सब समय भरे रहते हैं, ये नीलसुन्दर अपनी मनमोहन मुसकान बिखेरते, अपनी चितवन की छटा से विश्व को मोहित करते हुए।

देखो रसमयी चल पड़ी है यमुना स्नान करने। यह कलिन्द नन्दिनी है कि सचिन्मय महाभाव-रस-सागर रसमयी के प्रियतम नीलम ही उमड़ रहे हैं उसे अपने प्यार के अतल तल में विलीन कर लेने को। अरे देखो ! देखो ! वह प्राणाराम नीलम रसमयी के सम्मुख न जाने कहाँ से आकर खड़ा हो गया है।

निर्निमेष नयनों से वह रसमयी की ओर सुस्नेह भरी अतिशय तृष्णा से देख रहा है।

रसमयी की भी कैसी दशा है। ऐसे अपूर्व मिलन सुख के क्षणों में और प्रीति के इन अनमोल अवसरों पर यह निगोड़ा निष्ठुर लज्जा भाव उसे अपने समग्र बल से विकट रूप में घेर लेता है। यह लज्जा उसमें अतिशय क्रूर विधाता ने मानो कूट-कूटकर भर दी है। लज्जा से घिरी वह रह-रहकर थरथर काँपने लगती है। यह कम्प इतना तीव्र होता है कि उसकी करधनी और गले के हारादि आभूषण ध्वनि करने लगते हैं। इसके पश्चात् स्वेद का प्रवाह उसके अंग-अंग से फूट पड़ता है। एक-एक रोम कूप जैसे जल का निर्झर हो उठा हो। वह मस्तक से ऐडी तक स्वेद से नहा जाती है। अब रोमांच और पुलक उठने लगते हैं।

रसमयी को ठीक अनुभव हो रहा है उसके प्रियतम के हृदय का सम्पूर्ण राग जैसे रसमयी के हृदय में भरता जा रहा है।

रसमयी अपनी प्रीति भावों की आंधी में इतनी प्रगाढ़ बह चली कि अपने वस्त्रों का भान भी उसे नहीं रहा।

इधर प्राणाराम नीलमणि के बाहु युगल भी भावों के अति वेग भरे उच्छलन से यंत्र चालित से ऊपर उठ जाते हैं। राग से ओत-प्रोत रसमयी का हृत्तल व्याकुल हुआ नीलम प्रियतम की ओर मानो दौड़ पड़ता है। अपने अस्तित्व को सर्वथा उसमें विलीन कर देने के लिये। और फिर दोनों का वह अनिर्वाच्य अचिन्त्य मिलन संघटित होता है, जिसको कोई क्या कहकर वर्णन करे। ऐसा कोई महासिद्ध सन्त हो जिसका हृदय पटल प्रिया-प्रियतम का लीला क्षेत्र बना हुआ हो, वही इस मिलन की छाया की छाया की कुछ कल्पना भर कर सकंता है। वाणी और लेखनी इतना ही बता सकती है कि रसराज श्रीकृष्ण का भाव-सागर महाभावस्वरूपा श्रीवृषभानुनन्दिनी को आत्मसात् कर लेना चाहता है और महाभावस्वरूपा श्रीवृषभानुनन्दिनी का भावसागर उमड़कर रसराज को आत्मसात् कर लेना चाहता है।

कोई कहेगा यहाँ वृषभानुनन्दिनी है ही नहीं, यहाँ तो रसमयी अपने प्रियतम नीलम से मिल रही है। भाई ! अनेक स्वतंत्र सत्ताएँ तो हैं नहीं, सत्ता का मूल स्रोत तो प्रिया प्रियतम राधा माधव का निभृत निकुञ्जान्तर्गत नित्य चिन्मय विलास ही है। लीला पात्र, जैसे अनन्त हैं, वैसे ही उन-उनके भावों के अनुसार लीलाएँ भी अनन्त हैं और उसमें पात्रों के भावानुसार मिलन एवं

वियोग भी अनन्त है। परन्तु सब में लहरा रहा है एक ही प्रिया प्रियतम का प्रेम। भले ही कहने को नाम रूप भिन्न हों, मिलन और वियोग के पात्र चाहे रसमयी और नीलमणि हों, मिलन एवं वियोग के स्पंदित होने का मूल स्रोत तो निभृत निकुंजान्तर्गत नित्य निकुञ्जेश्वरी प्रिया एवं नित्य निकुञ्जेश्वर प्रियतम माधव ही हैं।

और देखो ! रसमयी के नेत्र कमल झरने लगे हैं अपने नील देवता के वक्षस्थल को भिगोने। और इधर नीलसुन्दर की भी यही दशा है वह अपने आपको सर्वथा विस्मृत करके ढ़लक पड़ा है अपनी प्राण-प्रिया के उरस्थल पर ही।

और देखो अघटित घटित हो गया। महाभाव-रस-तरंगिणी कालिन्दी के तट पर ही अतिशय सुभग यह निकुञ्ज कहाँ से प्रादुर्भूत हो गया ? देखो ! सभी श्रृंगारोपयोगी, विश्राम-दायिनी सामग्री इसमें प्रचुर मात्रा में यथा स्थान सजी हैं। अति मनोरम पद्‌मपर्यंक स्थान-स्थान पर लटकती मणि मुक्ताओं की झालरें, स्थान-स्थान पर लगीं मनोहर रत्न-जटित मनोहर आसन चौकियाँ, शुक सारिकादि पक्षीगणों के लिये लटके रत्नखचित स्वर्ण पिंजर प्रसाधन की सभी वस्तुएँ, मनोरथ करते ही यह कुंज मनोवांछित सब वस्तुएँ यथावसर उपस्थित कर देता है।

और नीलमणि अपनी प्राणप्रिया को अपने हृदय से सटाये-सटाये इस निकुंज के पद्‌मपर्यंक में विराजित कर दे रहा है। और तब स्वयं अपनी प्राणनिधि के चरण प्रान्त में आसीन हो जाता है। इसने अपनी प्राणप्रिया के रक्तोत्पल सदृश द्युतिमान सुकोमल चरणों को अपने कर सरोजों में धारण कर लिये हैं।

और सुनो, यह अपनी प्रिया के सुकोमल चरणों को कभी अपने सुकोमलतम अधरों से संस्पर्शित करता, कभी अपने नील नलिनाभ नेत्रों से छुलाता, निज पलकों से इनकी रज स्वच्छ करता, और कभी अपने वक्षस्थल में उन्हें स्थापित करता, नयन मूँदे कुछ अस्फुट परम मधुर स्वर में बोल भी रहा है।

आओ ! इसकी परम मधुर वाणी सुनें। अहा ! इसकी सुमधुर वाणी आनन्दोदधि की उच्छलित तरंगे ही हैं।

"मेरे प्राणों की रानी, मेरी सर्वांगों की मोहिनी, मेरे सम्पूर्ण आह्लाद और आनन्द की उद्गमस्थली, तुम्हारे इन चरणों के आश्रय से मुझे कभी पृथक् मत करना।"

देखो, देखो ये अपनी प्राणप्रिया के चरणों को अपने नलिन नयनों के प्रेमाश्रुओं से भिगोता हुआ, नयन मूँदे किसी विलक्षण आनन्द समाधि में डूब गया है।

और रसमयी भी अपने प्राणनाथ नीलसुन्दर को, अनन्त, अपरिसीम, अनुपम सुख में डूबा देखकर उनके सुख से अनन्त सुखी हुई आनन्दोदधि की ऊर्मियों में डूब जाती है। उसे कुंज का कण-कण अपने प्रियतम की नीलिमा से परिवेष्टित दृष्टिगोचर हो रहा है। सहसा उसे किंचित् बाह्य जाग्रति होती है। वह देखती है उसके चरण तो प्रियतम के अश्रुओं से आर्द्र हैं।

हाय ! ऐसा क्यों ? हकबकायी सी रसमयी अपने नीलमणि के करयुगलों को अपनी अञ्जलि में में बाँध लेती है और अति मनुहार भरे स्वर में बोलती है -- "तुम रो क्यों रहे हो ? प्राणनाथ !! अहा रसमयी की कोकिल कण्ठी वाणी में कितना रस छलक रहा है।

रसमयी सोच ही नहीं पा रही थी कि कौन से अभिनव भाव के आवेश में मेरे जीवन सर्वस्व का मन निमग्न है और लोर की धारा के रूप में वह मेरे चरणों को अभिषिक्त करने बाहर फूट पड़ा है। लो ! रसमयी को अपने नीलम प्रियतम की अतिशय मधुर वाणी श्रवण-गोचर हुई।

"प्राणेश्वरी ! तुम मेरे अन्तर्हृदय की सुगुप्त बात जानना चाहती हो तो जान लो। मैं निरवधि नित्य ऋणिया रहूँगा तुम्हारा। मेरे शत सहस्र प्राणों की देवी ! वस्तुतः तुम्हारे शुचितम चरण सरोरुहों में ही मेरा स्थान है। तुम मुझे वहीं वास दिये रहना। मेरे इस सौभाग्य से मुझे कभी वंचित मत करना।

"मेरी प्राण संजीवनी ! तुम्हारे नयनों की ऐसी शोभा है कि वे मेरी आकृति को देखने के सिवा कुछ देखते नहीं। तुम्हारी कितनी सौभाग्यवती श्रवणेन्द्रियाँ हैं जो मेरे शब्दों और मेरी वेणुमाधुरी के सिवा कुछ सुनती ही नहीं। तुम्हारी वाणी मेरे नाम एवं गुणगान के सिवा कुछ बोलती ही नहीं। तुम्हारे हाथों के सौभाग्य की क्या कह कर स्तुति करूँ, वे मेरी सेवा के अतिरिक्त कुछ करते ही नहीं। तुम्हारे चरण मेरे अनुसंधान के सिवा कहीं गमन करते ही नहीं। तुम्हारा मन मेरे चिन्तन में ही निरन्तर रत रहता है। तुम्हारा चित्त एवं अहंकार सर्वतोभावेन मुझे ही समर्पित है। और हाय ! मैं

कैसा हृदयहीन हूँ कि मेरे नयन नित्य अनेकानेकों को निहारने में चंचल बने रहते हैं। तुमने अपने प्रेम के प्रवाह में मेरे स्वसुख लालसा रत प्राणों की ओर देखा तक नहीं। सचमुच ही मेरी प्रीति अपवित्र है। मेरी इस हृदयहीनता का परिचय पाकर भी तुम नित्य निरन्तर मुझे अपने अनुरागपूर उरस्थल में ही रखती हो, और मुझे पवित्रतम बनाती रहती हो। मेरी जीवनेश्वरि ! मैं इसी अभाववश रोता रहा कि हाय ! कब मैं तेरे अनुरूप तुझे प्रेम कर पाऊँगा ?

नील सुन्दर के हृद्देश में भावों की आंधी सी आ रही है। वे अपनी प्राणेश्वरी रसमयी को मनोरम पद्म शय्या में विराजित कर दैन्य की चरम अवस्था में स्थित हुए, उसके रोम-रोम को अपने समग्र प्यार से अभिषिञ्चन करते हुए उसका अभूतपूर्व श्रृंगार करने लगते हैं। श्रृंगार करते हुए उनके हृत्तल में निर्मल अनुराग की उर्मियाँ निरन्तर हिलोरें ले रही हैं।

और तब वे दोनों गलबाहीं दिये, अपनी प्रीति से सम्पूर्ण वृन्दावन को आप्यापित करते हुए यमुना के किनारे-किनारे वन की ओर चलने लगे। फिर वह बेला आयी जब वह संकीर्ण वीथी दो भागों में विभक्त होकर राह बदल रही थी। एक भाग तो गहन वन में चला जाता था एवं दूसरा भाग गिरि-परिसर में जाता था।

वहाँ वे दोनों अवस्थित हो जाते और तब आकुलता से भरे-भरे हृदय से दोनों विलग हो जाते। रसमयी का शेष दिन अपने कुञ्ज में एकाकी व्यतीत होता। प्यार ही प्यार से भरा उसका संसार था। वह घंटों अपने प्रिय की स्मृति में खोयी मयूरी की ग्रीवा से लिपटी पड़ी रहती। और जो उसकी कुटिया में तमाल वृक्ष था, वह तो रसमयी का चिर सखा था। रसमयी अपने हृदय की सभी बातें उसे सुनाती रहती और वह अतिशय मनोयोग पूर्वक सुनता रहता। ये हरिणियाँ समग्रवन में कुलाचें भरती उसके प्रियतम का अन्वेषण करके आतीं और रसमयी को सुनाती थीं कि उसके प्रियतम इस समय कहाँ, कैसी, रसमयी लीला कर रहे हैं। सखा मण्डली के साथ उनकी क्रीड़ा केलि को हरिणियाँ रसमयी के कानों में मुख लगाकर सुनाती रहती थीं। इस प्रकार लगातार दो वर्ष तक पू० गुरुदेव की यह भाव साधना चलती रही। प्रतिदिन प्रभात काल में यमुना के किनारे प्रियतम नीलमणि उनकी कुंज में आते और विदा हो जाते। दो वर्ष पश्चात एक दिन इसी प्रकार विदा होते समय वे दोनों अवस्थित हो गये। प्राणों में भावी विप्रलंभ का ताप लिये आमने-सामने वे बहुत देर तक अनबोले ख़ड़े रहे। रसमयी के अंगों-अंगों में अदर्शन ज्वाला की आशंका से

वैवर्ण्य का अतिशय संचार हो उठा था। रसमयी एक टक निहार रही थी अपने प्राणवल्लभ की ओर। प्रियतम नीलमणि के नेत्र भरे थे, वे कभी वन की ओर देखते फिर रसमयी की ओर। सहसा नीलमणि बोल उठे - "प्राणवल्लभे ! यह कुछ घटिकाओं की विरह वेदना तुम सहन कर लेना, भला। और तब न जाने भीतर की उठी किसी अन्तमूर्त जिज्ञासा से रसमयी प्रश्न कर उठी थी । "प्राणवल्लभ ! तुम कहाँ जाओगे मुझे छोड़कर ? तुम प्रतिदिन यहाँ से सीधे गोचारण को तो नहीं ही जाते। फिर इतनी शीघ्रता आखिर क्यों करते हो ?

उस समय रसमयी के प्राणों की क्या दशा हुई थी, इसे कोई कैसे लिखे भला ? आकुलता की मुखमुद्रा जो रसमयी की उस समय थी, उसे स्वयं उसके प्रियतम ही अपने हृदय में अंकित भले ही कर पाये होंगे। रसमयी की बाह्य स्मृति सर्वथा लुप्त हो रही थी। उसके मुख से बस दो चार अस्फुट शब्द ही निकल रहे थे -- 'प्राणनाथ ! जाओ ! परन्तु प्रतिदिन मुझे छोड़कर तुम कहाँ जाते हो, इसका संकेत तो कर दो ?

रसमयी सर्वथा स्तंभित हो गयी थी। उसके जीवन सर्वस्व नीलमयंक ने उसे अंक भर कर अपने हृदय से सटा लिया था। उनका बदनांभोज स्वर विन्यास की मुद्रा में खुल उठा था :-- "देख, प्रिये ! यह वन की पगड़ंड़ी मुड़कर चली जाती है गहन वन में। यमुना से दूर पूर्व दिशा में जहाँ ये गिरि श्रृंखलायें दिख रही हैं। उस गिरि के परिसर में दो बड़े सरोवर हैं। तेरी पर्णकुटी से किंचित् दूरी पर ही यमुना का अतिशय मनोहर सम्मोहन घाट है। और उसके पार्श्व में तेरी पर्णकुटी के उत्तर की ओर अग्रभाग में एक लघुस्त्रोत है। जब रस तरंगिणी यमुना बढ़ती है तो उसकी लहरें और उसका जल इस स्त्रोत में बहने लगता है और सरोवरों तक चला जाता है। रस तरंगिणी कालिन्दी और उन सरोवरों का इस प्रकार मिलन हो जाता है। पावस में गिरिराज के प्रच्छन्न निर्झरों से जब सरोवर भरपूर हो उठते हैं तो एक छोटे से द्वार से जल इस स्त्रोत में बह चलता है और सरोवर का कलिन्द तनया से पुन: मिलन हो जाता है। ग्रीष्म में न सरोवर सूखते हैं और न ही स्त्रोत सूख पाता है। और कैसी विचित्र बात है, कभी-कभी हेमन्त में, शीत में भी, शरद वसन्त में भी, शिशिर में भी अचानक सरोवर ऊपर तक भर जाते हैं और उसकी धारा बह चलती है, उस रस स्त्रोत से कालिन्दी से मिलने के लिये।

इस सरोवर के मध्य में एक विलक्षण निकुंज है, उसमें रहती है मेरी प्राण प्रिया राधा जिसकी स्मृति मुझे सदा विभोर बनाये रखती है।

रसमयी के चित्त में अतिशय आह्लाद की तरंगें उठने लगीं - वह सोचने लगी - "मैं तो एक छिल्लर के समान महामलिन अत्यंत दुर्गन्धित जल से भरी गढ़ैया के जल की भी एक कणिका मात्र थी। भला मैं मेरे इस दिनकर की तृषा कैसे बुझा सकती थी। अहा खद्योत के भुक्-भुक् प्रकाश से भी कभी घोर तिमिरमयी निशा में उजियारी हो सकती है। मल से सना काँच का एक मलिन कण क्या नीलमणि की स्पर्धा कर सकता है? मेरे जीवन का अणु-अणु अभिलाषाओं के हाहाकार में परिपूरित है। मैं भला कैसे मेरे प्राणवल्लभ को सुख दे पाती।"

"मुझमें लेश मात्र भी सौन्दर्य नाम की वस्तु नहीं है। कोई भी मेरे किसी भी अंग संस्थान पर दृष्टि डाल ले, उसे यही अनुभूति होगी कि महा कुरूपा हूँ मैं। यह भी मैं अच्छी तरह से जानती हूँ कि किसी भी सद्‌गुण का कियदंश भी मुझ में नहीं है। दोषों की जीवन्त प्रतिमा मैं हूँ। अविवेक का घन आवरण मुझे नित्य आवृत किये रहता है।"

"फिर यह भी नितान्त सत्य तथ्य है कि प्रियतम के प्रति निर्मल अनुराग भी मेरा नहीं है। वे कुछ भी यदि मुझ में स्नेह देखते हैं तो वह मात्र प्रीति का दंभ है। मैं तो नित्य निरन्तर स्वसुख वासना से ही हाहाकार करती रहती हूँ। निरन्तर मुझे अपने ही योगक्षेम की चिन्ता है। उनसे जो कुछ मुझे स्नेह मिला है, वह मुझसे छिन नहीं जाय -- यह मुझे नहीं मिला, मुझे यह नहीं मिला - इस चिन्ता में ही मैं अहर्निश डूबी रहती हूँ और उनके निरन्तर देते रहने पर भी संतुष्ट होना तो जैसे मैं जानती ही नहीं। हाय, कितना निकृष्टतम घृणित जीवन है मेरा।"

"मैं भला कैसे मेरे प्राणवल्लभ को सुख दे पाती। वेदना की इस आग में मेरा अन्तर जल-जल कर जर्जर हो रहा था। स्वप्न में भी उनको क्षणार्ध के लिये भी सुख देने की योग्यता मुझ में नहीं थी। वे उदारता के सिन्धु अपने अपरिसीम सौहार्द से मुझे प्रेम करते थे, यह मात्र उनकी महानुभावता थी, मैं तो किसी भी प्रकार उनके योग्य कदापि नहीं थी।"

"अब प्रियतम मुझे अनुमति भर दे दें तो मैं मेरे प्रियतम की प्राणेश्वरी राधा के चरण सरोरुहों में न्यौछावर हो जाऊँ ? हाय रे ! अब तक मैने मेरे प्रियतम से उनके हृदय की यह रसमयी वार्ता क्यों नहीं पूछी। धिक्कार है मुझे। इतना सुदीर्घ काल व्यतीत हो गया और मैं मेरी प्रिया राधा की चरण रज से भी वंचित रही। शत-सहस्र धिक्कार है मुझे।"

"देखो तो सही ! मैं महा अधमा, लज्जाहीना अपने प्राणवल्लभ की प्रतिदिन सेवा करने का ढ़ौंग वर्षो से कर रही थी। रसविद मधुकर रे ! मेरे द्वारा लगातार वर्षों से यह महान अपराध सृजन होता रहा और तुमने आज तक मुझे नहीं चेताया। मेरी इस भग्न कुटिया में प्रतिदिन तुम आते, मेरी यत्किञ्चित सेवा लेते, मुझ अतिशय कृतघ्ना को अपनी प्रीति से नित्य सराबोर करके चले जाते, मैं प्रेम-हत्यारिणी स्वसुख में डूबी हर्षित होती रहती। मेरे मन में कभी प्राणेश्वरी राधा से मिलने की उत्कण्ठा ही नहीं हुई तो तुम मुझे राह भी भला क्यों दिखाते ? मेरे नीलम ! तुमने जो कुछ किया सो सब अति स्वाभाविक ही था।"

"मैं सदा प्रेम का दंभ ही करती आयी हूँ और आज भी दंभ से ही भरा मेरा जीवन है। मेरे नीलमणि ! स्वप्न में भी सच क्षण भर के लिये भी मैं तुम्हें अनाविल प्यार का एक कण भी नहीं दे पायी।"

रसमयी बिलख-बिलख कर रोने लगी थी। उसके इस रुदन में अथाह परिताप और आह्लाद दोनों असीम मात्रा में युगपत् भरे थे।

रसमयी के मुख से नीलम, नीलम का स्वर निःसृत हो रहा था। फिर दोनों के प्राण एकाकार हो उठने को व्याकुल हो उठे। और पल बीतते न बीतते रसमयी और उसके प्राणवल्लभ नीलमणि का परिरंभण इतना दृढ़ हो गया मानो छूटना जानता ही न हो। और जब यह परिरंभण किंचित् शिथिल हुआ तो हकबकी सी रसमयी देख रही थी अपने प्रियतम नीलसुन्दर की ओर। उस समय रसमयी के मुख से अस्फुट स्वर निकल रहे थे--'नीलम ! नीलम !! प्रियतम हे ! तुम मुझे एक वरदान दे दो। मुझे तुम्हारी हृदयेश्वरी श्रीराधारानी के चरणों का जो अनागत और अतीत की सम्पूर्ण विश्वविमोहक प्रीति के उत्स हैं, अखण्ड एवं अनाविल कैंकर्य दे दो।

और तब प्रियतम के कर सरोज रसमयी के दोनों स्कंधों पर विराजित हो गये और वे कहने लगे - "प्रिये ! मेरी प्राणेश्वरी राधा का मेरे तन के रोम-रोम पर, मेरे मन के प्रत्येक संकल्प पर, मेरे जीवन की प्रत्येक गति पर, चेष्टा पर, इतना ही नहीं मेरे नेत्रों की पलकों के उठने और गिरने पर, मेरी अलकावलि के एक रोम के भी हिलन-चलन पर कितना अधिकार है यह तुम नहीं जानती। और उन्होंने रसमयी की अँगुलियों को अपने वक्षस्थल के मध्य में स्थापित कर दिया। और रसमयी के कर्ण रन्ध्रों की तो बात ही क्या, उसकी अँगुलियाँ भी स्पष्ट सुन रही थीं, उसके प्रियतम के वक्षस्थल की प्रत्येक

धड़कन में - राधा, राधा, राधा - यही स्वर स्पंदित हो रहा था और तब रसमयी ने अपनी दृष्टि अपने प्रियतम की रोमावली पर केन्द्रित कर दी और अपने नीलसुन्दर के प्रत्येक रोम-रोम में उसे श्रीराधारानी का ही रूप अभिव्यक्त मिला। और तब रसमयी देखने लगी, उस भूमि की ओर जहाँ उसके नीलम प्रियतम खड़े थे, उस वृक्ष के नीचे जहाँ वे अवस्थित थे, उस वृक्ष के क्षुद्र से क्षुद्र अंश में, उस भूमि के प्रत्येक कण-कण में, उसे नीले गगन के अणु-अणु में, उस सुरभित वायु के परमाणु-परमाणु में जहाँ उसके नीलमणि श्वास ले रहे थे, भरीं थी श्रीराधा ही राधा। रसमयी को सर्वत्र श्रीराधारानी का मुख ही झलमल करता दृष्टिगोचर हो रहा था। रसमयी स्पष्ट अनुभव कर रही थी कि उसके प्रियतम की प्रत्येक वृत्ति में श्री राधारानी के अतिरिक्त किसी अन्य का किञ्चिन्मात्र अस्तित्व नहीं है। वे सर्वतोभावेन श्रीराधा ही राधा हैं। वे दोनों एक ही हैं। एक होकर भी दो हैं और दो होकर भी एक ही हैं।

सर्वथा सर्वांश में इनमें नहीं कुछ भेद है।
नित्य लीला के लिये बस रंग भर ही भिन्न है।।

फिर भी रसमयी ठीक समझ रही थी कि उसके प्रियतम में कोई ऐसी विलक्षण माया है, कोई ऐसी संकल्प शक्ति है, जिससे सभी व्रजवासी भ्रमित हैं और ठीक समझ रहे हैं राधा वृषभानुजी की लडैती छोरी है और ये नन्द किशोर माता यशोदा के लाड़िले लाल हैं। और उसी शक्ति के प्रभाव से ही रसमयी भी उन्हें अपना प्राणनाथ, प्राणवल्लभ और राधारानी से पृथक् पुरुषाकार लिंग समझे बैठे थी। यद्यपि श्रीराधारानी और उसके प्रियतम एक ही हैं परन्तु इन्हें नित्य एक ही देखते रहना सर्वथा असंभव सा दुर्लभतम जटिल कार्य है।

रसमयी यह भी अनुभव कर रही थी कि निर्बाध दो वर्ष के लगातार क्रन्दन के पश्चात् जब उसके नेत्रों का मल स्वच्छ हुआ है तभी-तभी यह सत्य उसके सम्मुख प्रकट हुआ है।

और अब रसमयी की दृष्टि अपने प्रियतम के मुख पर स्थिर थी और प्राणधन नीलम की दृष्टि उसके मुख पर। काल मान से कितना समय लगा, उन दोनों के प्रकृतिस्थ होने में, अग्रिम लीला का उपक्रम करने में इसे कौन बतलावे ?

सच्चिदानन्द असमोर्ध्व और जो भगवत्ता का भी प्रियतम !
है सार मूल मधुरिमा, यही नीली-पीली द्युति है प्रियतम!!
रसमय संविद्, केवल अद्वय जो नील-पीतमय है प्रियतम !
लीला रस पीता हुआ नित्य जो युग्म रूप में है प्रियतम !!
रह कर दो नित्य एक जो है, दृग विषय हुआ वह है प्रियतम !
जिनका किंजल्क सुदुर्लभ है योगीश-मुनीशों को, प्रियतम !!

रसमयी सोचने लगी - 'मैं निश्चय ही इसी क्षण मेरी जन्म-जन्म की स्वामिनी के दर्शन करूँ, परन्तु क्या मैं ऐसे ही चली जाऊँ ? कुछ तो प्रथम मिलन के समय मेरे पास भेंट करने को उन्हें हो। मेरे पास तो अश्रुकणावली के अतिरिक्त और कोई भी संपत्ति थी नहीं, है नहीं और भविष्य में कुछ होने की कोई संभावना भी प्रतीत नहीं होती। रसमयी अपने भावों में ऐसी तन्मय हो गयी थी कि उसे ठीक अनुभव होने लगा कि श्रीराधारानी के चरणों में वह मानो पहुँच ही गयी है। एक अभिनव आकुलता का उन्मेष रसमयी में हुआ। और तभी नीलसुन्दर प्रियतम ने रसमयी को अपनी बाहुओं में बाँध लिया। 'प्रिये ! तू श्रीराधारानी मेरी प्राणप्रिया के पास जावे तो यह मेरी वनमाला उसे पहना देना।' उन्होंने अपनी पहनी हुई वनमाला रसमयी के हाथों में सौंप दी। रसमयी ने वनमाला तो ले ली, परन्तु उसे अनुभव हुआ कि मेरे प्रियतम के अरुण अधर पिपासा से म्लान हैं। "अरे न जाने कितने काल से मैंने इन्हें ताम्बूल ही अर्पण नहीं किया। वह इस अपनी विस्मृति पर अपने को धिक्कारने लगी। ताम्बूल पात्र से उसने एक अतिशय सुगन्धित ताम्बूल गिलौरी निकाली। अहा ! गुलाब और केवड़ा जल में भीगी उस गिलौरी में केसर, इलायची, कस्तूरी, आदि अति सुगन्धित पदार्थ एवं सुगन्धित सुपारी और अनेक सुवासित स्वादिष्ट अन्य पदार्थ भी भरे थे। उसने वह ताम्बूल प्रियतम श्याम सुन्दर के मुख में दिया, परन्तु यह क्या ? प्रियतम ने उसे अर्ध-चर्वण ही किया और शेष आधा उसके मुख में देने लगे। "नहीं, नहीं प्राणवल्लभ ! यह ताम्बूल तुम मुझे ऐसे ही दे दो। मेरे नीलम ! आज यह ताम्बूल मैं माला के साथ मेरी स्वामिनी रानी को भेंट करूँगी। और प्रीति की अथाह अनुभूति में तन्मय रसमयी ने अपना दक्षिण कर प्रियतम की ओर बढ़ा दिया। और नीलमणि ने वह अर्ध-चर्वित ताम्बूल रसमयी की हथेली में रख दिया।

रसमयी सोच रही है कि कितने निर्मल स्वभव के हैं उसके नीलमयंक प्राणधन ! उन्हें सदा देते रहने में ही अत्यधिक सुख का अनुभव होता है। क्या उनकी राधारानी का भी ऐसा ही स्वभाव होगा ?

सहसा रसमयी को स्मरण आया कि उसने अपने प्रियतम को इतने दीर्घकाल तक अपनी ही समस्याओं में उलझाये रखा। यह उसने कितना बड़ा अन्याय किया है ? अब तो इनको प्राणप्रिया के पास जाने ही देना चाहिये। और मैं कुछ काल ठहर कर तब उनके पास जाऊँ जिससे इनके परस्पर मिलन में किञ्चित भी मेरे कारण व्यवधान नहीं पड़े।

रसमयी अपने प्राणधन से कह उठी - 'नीलम रे ! तुम कब मुझ से बिदा लेकर राधारानी के पास जा रहे थे ? परन्तु मेरे कारण तुम्हारा वहाँ जाना विलम्बित हो गया। देखो, यहाँ पथ तो है नहीं, घोर अटवी ही अटवी है। गहन कान्तार और सूर्यदेव भी मध्याकाश की ओर बढ़ चुके हैं। उनका ताप भी तीव्रतम हो रहा है। हाय ! यह सब मेरे ही कारण हुआ ? मुझ पर तुम्हारा इतना स्नेह क्यों है ? इस स्नेह के पराधीन हुए ही तो तुम अपनी प्राण प्रिया से मुझे मिलाने को उत्सुक थे।'

'प्राण ! तुम्हारे स्नेह के लिये मैं क्या करूँ ? तुम्हारा स्वभाव ही ऐसा प्रीति परायण निर्मल है। इतना कष्ट सहकर घने कान्तार को पारकर तुम प्रतिदिन प्रभात एवं सांयकाल मेरे पास आते हो ? फिर मेरे पार्श्व से गिरि परिसर जाते हो ? तुम्हारे ये सुकोमल चरण इतनी लम्बी पथ की दूरी कैसे पार कर पाते हैं ?'

'कंटकाकीर्ण पथ निश्चय ही तुम्हें अतीव कष्टदायक होता होगा, परन्तु घनी-प्रीति तुम्हें इस कष्ट में भी सुख बोध कराती है ?' रसमयी अपनी प्रियतम के दक्षिण कर में पुनः लिपट जाती है एवं कहती है -- "तुम कितने प्रेमी हो, प्रियतम।

सुमधुर वार्तालाप से दोनों का परस्पर रस-विनिमय हो रहा है। दोनों अग्रसर हो रहे हैं गिरिराज परिसर की ओर। सम्मुख दिखाई पड़ने वाली पहाड़ी को ही वे लक्ष्य करके उस दिशा में जाने वाली किसी न किसी पगडंड़ी का वे आश्रय ले रहे हैं। रसमयी देख रही है कि उसके प्रियतम जिस किसी भी पथ पर चलने को ज्यों ही उद्यत होते हैं, वृन्दावन की अधिष्टातृ देवी उसी पथ में सर्वत्र अतिशय सुरभित पुष्प-लताओं को आदेश देकर सारे पथ में लता-मंडप निर्माण करती चलती हैं। वृन्दा देवी द्वारा चयन किये अनगिनत

पुष्प चतुर्दिक विकसित हो पथ को सौरभ से भर देते हैं। रसमयी देखती है रह-रहकर प्रियतम के अरुण अधरों पर स्मित व्यक्त हो जाती है और वह स्मिति ही परिणत हो जाती है सुमनावली के रूप में। वे सुमनावली समस्त पथ में आस्तरण बिछाती जाती हैं। रसमयी ने चलते-चलते देखा कि कालिन्दी का सम्मोहन घाट सम्मुख ही है। रसमयी ने प्रियतम श्यामसुन्दर से कुछ काल यहाँ विश्राम करके तब आगे बढ़ने की रुचि प्रकट की।

प्रियतम रसमयी की अभिसंधि समझ गये। वे मुसकाते एकाकी ही वन में प्रविष्ट हो गये।

कालिन्दी के किनारे यह कुञ्ज कैसा अतिशय सुभग है। चतुर्दिक लता मण्डप से आच्छादित किन्तु यमुना की ओर पश्चिम दिशा में यह खुला हुआ है।

कला की अधिष्ठातृ देवी सरस्वती ने स्वयं अनगिनत एक से एक सुन्दर परम सुरभित पुष्पों को उनके ही वृन्तों से गुम्फित कर कैसी सुभग प्राकृत मालाओं का निर्माण किया है और उन्हें इस निकुंज में स्थान-स्थान पर पूर्ण शोभा से लटका दी है। इन मालाओं में मधुकर किस प्रकार झूम-झूम कर लिपट रहे हैं। इन चंचरीकों की बोली दूर से तो स्वाभाविक गुन-गुन लगती है, परन्तु यदि ध्यान देकर कोई सुने तो उसे स्पष्ट अनुभव होगा ये, 'प्रिया-प्रियतम' 'प्रिया-प्रियतम' नाम ही उच्चारण कर रहे हैं। रसमयी देख रही है वृन्दावनेश्वरी श्रीराधारानी का प्रियतम-सुख सर्जक मन ही सुमनों के रूप में सर्वत्र विकसित हो रहा है और प्रियतम प्राणवल्लभ उसके नीलसुन्दर की रोमावली ही मधु मत्त चंचरीक बनी अपनी प्रिया के सुख-सिन्धु मन पर उमग-उमग कर गुँजार कर रही है।

रसमयी कुंज शोभा निहारने लगी। कालिन्दी की 'कल' 'कल' प्रवहन ध्वनि उसे 'कृष्ण' 'कृष्ण' उच्चारण करती सुनाई पड़ रही थी। परन्तु जब वह थोड़ा ध्यान लगाकर सुनती तो पहले वह ध्वनि 'राधाकृष्ण' 'राधाकृष्ण' सुन पड़ती एवं तब वह 'राधा' 'राधा' में पर्यवसित हो जाती।

यमुना के किनारे-किनारे का सम्पूर्ण तट क्षेत्र ही अभिनव एक से एक सुन्दर कुंजों से भरा था। कोई कुंज सर्वथा रक्तवर्ण के पुष्पों से लदा था तो कोई पीत पुष्पों से, कोई शुभ्र श्वेत पुष्पों से, कोई मिश्रित रंगों से; रसमयी इन कुंजों की शोभा देखती मुग्ध हो उठती है।

वन शोभा देखते देखते ही यंत्रचालित सी रसमयी को किसने कैसे महाभाव-रस-सिन्धु-सरोवरों के तट पर पहुँचा दिया, उसे कालमान की प्रतीति ही नहीं हुई। वह तो वन शोभा देखने में संलग्न थी और कोई यंत्री यथा-दिशा यथा-राह उसके चरणों को संचालित किये जा रहा था।

सहसा उसे अनुभव हुआ, वह किसी ऐसे देश में पहुँच गयी है जहाँ अलौकिक रूप एवं सौन्दर्य उमड़ रहा है। वहाँ प्रकृति अपने समग्र कौशल से श्रृंगारित हुई खड़ी है। अभिसार की अभिलाषा उसे चंचल बना चुकी है। नील सुन्दर प्रियतम ने उसे छूकर जगायी है। और केवल जगायी ही नहीं अनन्त असीम रस से सराबोर कर दी है उसे, अपना विशुद्ध रसभरा संस्पर्श दान करके। परन्तु वह अब कहीं छुप गया है। उसका अनादि स्वभाव जो ऐसा ही है।

प्रथमत: वह अपने प्रति आसक्ति उत्पन्न करता है। और जब वह आसक्ति असीम हो उठती है तो छिपकर वह उस स्नेही का सिसकना तड़पना देखता रहता है। ऐसा नहीं कि वह स्वयं प्रीति वेदना से अछूता रहता है। परन्तु दूसरे को सीमा रहित क्रन्दन कराता हुआ वह स्वयं भी क्रन्दन करता है। यह क्रन्दन ही उसकी दृष्टि में नेह का साफल्य है।

तो प्रकृति सोलहों श्रृंगारों से सजी अपने आवास से बाहर निकल कर इस सरोवर के चतुर्दिक् स्थित इन अनेक परम रसमय कुञ्जों में घूमती यत्र-तत्र उसे ढूँढ़ती फिर रही थी। प्रकृति के पथ को विकसित पुष्पों से आच्छादित कर दिया था निराविल रज ने। विशुद्ध सत्व अपनी दिव्य ज्योति से उसका पथ आलेकित कर रहा था। ये दोनों भी प्रियतम नीलम के वाम और दक्षिण नेत्रों में ही तो सदा निवास करते हैं। अत: वहीं से निकलकर वे उसकी सेवार्थ प्रस्तुत हुए थे।

सर्वरसनिकेतन से विलक्षण अभिसार जो उसका संघटित होना है। ढूँढ़ते ढूँढ़ते प्रकृति भी थक कर चूर हो गयी थी। इसीलिये सरोवर के किनारे श्रान्त थकी चुपचाप निस्पंद पड़ी थी। जो भी उसे अपने से बाहर ढूँढ़ता है, उसे वह थका ही लेता है। बहिर्मुख जितने भी लोग हैं सबके लिये वह सुदुर्लभ जो है। उसकी सम्यक् समाराधना अन्तर्मुखी होने पर ही संभव है। इसीलिये प्रकृति को भी अन्तर्मुखी करने वह उसकी समग्र गतिविधियों को प्रतिपल निरीक्षण कर रहा है। परन्तु पूर्णतया संगुप्त रहकर। आत्म-संगोपन की कला में उसकी कुशलता निरुपम एवं अतुलनीय है।

कुछ भी अवगुंठित नहीं रह सकता उससे। भाव की एक छोटी से छोटी तरंग भी किसी की भी उससे छुपी नहीं रह सकती। किन्तु जब तक मापक यंत्र को ध्वंस कर देने लायक तड़प नहीं होती तब तक तो उसे अप्रकट ही रहना है। प्रकृति के बड़े-बड़े कोटि-कोटि नेत्र उसे सर्वत्र ढूँढ़ते जा रहे हैं, लालायित हुए सब दिशाओं में कण-कण को छान-छानकर निरख रहे हैं, कहीं वह छिपा पकड़ में आ जाय। परन्तु उसे पकड़ लेना, ढूँढ़ लेना, बड़े-बड़े योगीन्द्र, मुनीन्द्रों के लिये भी दुष्कर है, फिर बिचारी यह त्रिगुणात्मक प्रकृति उसे कैसे ढूँढ़ पावेगी। यह उसे कौन समझाने का साहस करे। बड़े-बड़े सांख्याचार्य भी उसे विश्लेषण करके, छान-छानकर नहीं जान पाये। चारों वेद जिसका निर्णय 'नेति नेति' कह कर नहीं ही कर पाये।

है वह धृष्ट अवश्य ही उसके पास यहीं कहीं। छिप-छिपकर उसकी समग्र चेष्टाओं को वह देख रहा है। कुछ भी अवगुंठित नहीं रह सकता उससे। भाव की एक छोटी सी तरंग भी उससे किसी की भी भला कभी छिपी रह सकती है ? सबका एक मात्र साक्षी जो है वह ?

कुछ भी अवगुंठित नहीं रह सकता उससे। वह इतना शीघ्र प्रकट भी कैसे हो ? अभी तो तड़प-मापक यंत्र को ध्वंस कर देने लायक भी नहीं हुई है।

ढूँढ़ते-ढूँढ़ते अतिशय श्रान्त हो गयी थी वह। बैठकर अँगड़ाई लेने लग गयी थी। उसी समय प्राणवल्लभ के कृष्ण देह से निकलकर तम ने उसे अपने अंक में अवश्य ही भर लिया था। तम के द्वारा लाड़ लड़ाई जाकर वह शान्त सो गयी थी।

परन्तु प्रियतम को कहाँ चैन है ? वे अपनी प्रेमिका को तमोगुण में डूबी कैसे देख सकते हैं ? वे प्रकृति का स्वप्न बन गये ? जो स्वयं ही निराविल तमोरूप और रजोरूप हैं उन्हें स्वप्न बनने मे बिलम्ब थोड़े ही होता है। वे स्वयं ही तो जाग्रत स्वप्न एवं सुषुप्ति हैं। प्रकृति क्या ही प्यारा स्वप्न देख रही है :--

प्रियतम उसके चरणों को सहला रहे हैं। उसकी पैरों की सुकोमलतम अँगुलियों को अपने कपोलों से छुला रहे हैं। उसकी पगथलियों में लगे रजकण अपनी नेत्रों की बरौनियों से स्वच्छ कर रहे हैं। बलिहारी है रसराज के असमोर्ध्व प्यार की। वे अपने बिम्ब-विडम्बी अधरों से उसके चरणों की अँगुलियों को संस्पर्श दान कर रहे हैं। चाहे स्वप्न में मिलो अथवा जाग्रत में।

प्रियतम मिल तो गये ही हैं। स्वप्न में ही प्रकृति के नयनों में मानजनित रोष आ गया। प्रकृति जाग्रत तो हो गयी है स्वप्न में, परन्तु मानवती होकर उसने उन प्रियतम को पीठ दे दी है, जिनकी मुख छबि की एक झलक पाने को वह अब तक तरस रही थी।

प्रियतम ने उसका मानभंग करने का व्रत ठान लिया।

अहा ! कैसी मधुस्यंदी वाणी प्रियतम के मुख से फूट पड़ी है। "प्राणप्रिये ! मैं तो युगों-युगों से तुम्हारी प्रतीक्षा करता रहा हूँ।" मात्र एक ही रसभरे वाक्य के कान में जाते ही, मात्र एक ही निराविल प्रीति भरी नयन भंगिमा के दर्शन से प्रकृति का मान टूटकर चूर-चूर हुआ बिखर जाता है।

प्राणवल्लभ की वाणी सत्य की सत्य है। प्रकृति के कानों ने विद्रोह करके प्रियतम की वाणी का रस लेना स्वीकार कर लिया। प्रियतम के रूप को नेत्रों ने द्वार दे दिया। नेत्रों के द्वार से निरुपम सुन्दर रूप सीधा हृदय में जाकर विजड़ित हो गया। अब प्रकृति के लिये उस रूप को वहाँ से निवारण करना असंभव था। दृगों ने कपाट लगा लिये। दृग बन्द ही नहीं हुए, सुस्थिर होकर पहरेदारी करने लगे। और तो क्या घ्राणेन्द्रियों से निस्सरित होने वाले प्राण भी प्रियतम के चरणों में जाकर उनके दस नख-चन्द्रों के प्रकाश में एक हो गये।

इसी को सच्चा प्रणय कहते हैं। अनादि काल से यही रस-परम्परा है, मान का पर्यवसान प्रणय में ही होता है।

रसमयी सरोवर के चतुर्दिक प्राकृत शोभा के कण-कण में भरे प्रियतम नीलमणि को स्पष्ट अनुभव कर रही थी। अपने प्राणसारसर्वस्व नीलमणि से प्राणों की उत्कृष्टतम एकात्मता लिये हुए वहाँ की प्रकृति थी। और वहाँ के काल में व्याप्त थी मिलन समय की निरुपम निष्पंदता। साथ ही प्रियतम की अखण्ड स्मृति जन्य एकाग्रता।

रसमयी चकित हो गयी। कैसा देश काल व्याप्त है इस सरोवर के चतुर्दिक।

रसमयी के प्राण रानी का जय-जय कार कर उठे। "हे वृषभानु राजनन्दिनी ! हे प्रियतम प्राणेश्वरी !! तुमसे ही ....? नहीं, तुम्हारी छाया की छाया के कण मात्र से ही प्राप्त हुई हैं इस जड़ प्रकृति को ये सबकी सब भावनिधियाँ।

तुम्हारी भौंहों से इसने अद्भुत रसभरी बंकिमा ग्रहण की हैं तुम्हारे श्रुति युगल से स्मृतिकाल की अद्भुत एकाग्रता यह प्राप्त कर चुकी है, तुम्हारे नयन सरोरूहों से इसने विशुद्ध निर्मलता प्राप्त की है, और तुम्हारे नासा श्वास से अप्रतिम एकाग्रता का दान पाकर यह कृत-कृत्य हो उठी है। तुम्हारे हृदय में अपने प्रियतम के प्रति जो बढ़ता हुआ राग का प्रवाह है वही आविर्भूत कर दे रहा है चतुर्दिक् यहाँ के सर्व देश-काल में, सबके सब निरुपम अलौकिक प्रेम भाव और तज्जनित विलक्षण शोभा सौन्दर्य।

रसमयी के नेत्र नलिनों में भावसिन्धु लहराने लगा। कभी वह अनुभव करती सर्वत्र केवल-केवल प्रियतम नित्य निकुञ्जेश्वर ही खड़े हैं। यहाँ और कुछ भी नहीं है। उस समय जब रसमयी में यह भाव प्रधान होकर प्रगाढ़ता को प्राप्त करता तब उसे अपने अंगों का पीतवर्ण भी श्याम वर्ण दिखने लगता। वह गहन विचारों में डूब जाती। उसके प्राणनाथ आज अगणित कैसे हो गये हैं, क्या वे ही मेरे पास से यहाँ आकर अपनी प्रिया के प्रेमवश उसके निवास के चतुर्दिक वृक्ष, लता, पुष्प, तृण, गुल्म, पशु, और पक्षीगण बन गये हैं ? क्या सचमुच ही ये मेरे हृदय हरण मेरा भी इस प्रकार विलक्षण प्रेम भरा स्वागत कर रहे हैं ?

परन्तु दूसरे ही क्षण उसे अनुभव होता :-- नहीं, नहीं इन दोनों में, रानी एवं नीलम में तो कोई भेद ही नहीं है ?

सर्वथा सर्वांश में इनमें नहीं कुछ भेद है
बस रंग भर ही भिन्न है अवशेष सभी अभेद है।

पीतद्युति ही पीतद्युति सर्वत्र वन एवं सरोवर में भरी परिलक्षित हो रही है। यह कंचन ज्योति ही एकमेव सत्य की सत्य है। अहा ! कैसा विलक्षण सौन्दर्य है मेरी रानी का।

देखो ! रानी ही तो वृक्ष-वृक्ष से, लतिका-लतिका से, भूमि की प्रत्येक तृणराजि से, सुमन-सुमन के अन्तराल से, उसे निराविल प्यार से नहला रही है। अहा, कैसी सुमधुर वाणी में सर्वरुप में रानी रसमयी का स्वागत कर रही है :--"आओ बहिन ! आओ !! इस निकुंज में तुम्हारा स्वागत है।"

हो रहे चित्र हृत्पट पर थे, अंकित सब लहरों के प्रियतम !
कैसे; कितने सुन्दर वे हैं किस भाँति कहूँ तुमसे प्रियतम !
अविराम भावना हृत्तल की, विगलित हो, थी आती प्रियतम !
उसका मन डूब गया नीली-आनन्द हिलोरों में प्रियतम !!

इस प्रकार रसमयी विलक्षण भाव दर्शन में डूबी हुई थी। उसे अनुभव होने लगा उसके सम्मुख एक विलक्षण निकुञ्ज है। वह विचारने लगी - यही ललिता रानी का सर्वसौभाग्यप्रद निकुञ्ज है। यही ललितानन्दद है। अवश्य ही उसे यहीं आज रानी मिलेंगीं। वैसे सरोवर के चतुर्दिक् अन्य अनेक एक से एक सुन्दर निकुंज थे। परन्तु आज उसे रानी ललिता कुञ्ज में ही मिलेंगीं प्रियतम ने उसे ऐसा संकेत ही दिया था।

रसमयी विस्फारित नेत्र उस कुंज के दर्शन करने लगी। कैसा विलक्षण यह निकुञ्ज भवन है। यह निकुंज सर्वत्र सब भागों से उज्ज्वल नीलमणिवत् प्रकाश पुंज की तरह ज्योतिर्मान है। इसकी चतुर्दिक् परिक्रमा में श्रीफल के असंख्य वृक्ष लगे हैं जो सभी पानीदार फलों से लदे हैं। अहा, चन्दन के नवतरुओं से ही यह कुंज बना है; अत: मलय गंध से यहाँ की शीतल वायु विलक्षण रूप में सुवासित है। उस कुञ्ज का प्रत्येक भाग इतना अलौकिक सौन्दर्य-माधुर्य से भरा था कि कब कौन से भाग पर दृष्टि चली जाय और वह अन्तर के भावों को सीमातीत रूप तक उद्दीपित कर दे। कुञ्ज के दर्शन करती-करती रसमयी भावोद्वेलनजनित शैथिल्य के अतिरेक से अभिभूत हुई विवश वहीं धम्म से गिर जाती है।

उसे सम्हाला उस निकुंज की द्वाररक्षिका ने। द्वाररक्षिका की दृष्टि बहुत काल से रसमयी पर केन्द्रित थी। रसमयी के अंगों में जो श्रृंगार रचना थी, वह प्राणधार नीलमणि का ही अप्रतिम हस्त कौशल है, चतुर द्वार रक्षिका के पारखी नेत्रों से यह तथ्य सर्वथा ही गोपनीय नहीं रहा था। प्रियतम श्याम सुन्दर निज जीवनेश्वर की यह नवागन्तुका अतिशय प्रीति भाजन है तभी तो इस कुञ्ज-प्रदेश,इस राधा-विहार-सरोवर तक उसकी पहुँच हुई है -- यह जान लेने में भी उसे कोई कठिनाई नहीं थी। अत: उसने रसमयी की भाव दशा देखकर तत्क्षण आगे बढ़कर उसे अपनी बाहुओं में भर कर सम्हाल लिया। पास ही एक पीठ पर जिसमें सुन्दर मखमल का आस्तरण था,द्वार रक्षिका ने उसे बैठाया।

रसमयी के मुख से वाणी तो फूट ही नहीं रही थी, उसने मूक भाव से अपने हाथों में सम्हाली वह माला और अर्ध वर्णित ताम्बूल खण्ड उस द्वार रक्षिका की ओर बढ़ा दिया। ताम्बूल खण्ड और माला के दर्शन मात्र से द्वार रक्षिका समझ गयी कि यह प्राणेश्वर द्वारा प्रिया को भेजा गया प्रेमोपहार ही है। द्वार रक्षिका ने ज्योंही वह प्रेमोपहार स्पर्श किया -- रसमयी का स्वसुख उपरत प्रियतम प्रेम सुखदान का सम्पूर्ण स्वभाव उसके हृदय में प्रतिबिंबित हो गया। रसमयी के सरल और निर्मल भाव से भरे आनन पर वह द्वार रक्षिका मुग्ध हो गयी।

"क्या यह चर्वित ताम्बूल खण्ड प्राणाधार नील सुन्दर ने हमारी प्राणसखी को प्रेषित किया है, और इस माला में तो निश्चय ही जीवन सर्वस्व नीलमणि के अंगों की पावनतम सुवास पूर्णतया परिव्याप्त है ? क्या यह भी प्राणसखी के लिये तेरा उपहार है ? अति भाव भरे प्रश्न द्वार रक्षिका उससे कर रही थी।" परन्तु सखी री ? इस माला में तो तेरे वक्ष की चर्चित कस्तूरी के कण भी संलग्न हैं ? यह कहते हुए उसे रसमयी पर अतिशय प्रेम भरे नेत्रों से ऐसे कटाक्ष बरसाये कि रसमयी उस पीठ पर ही भावाविष्ट हुई लुढ़क गयी।

रसमयी बहुत चेष्टा करके स्वीकृति में मात्र अपनी गर्दन ही हिला सकी।

परिचारिका के नेत्र भी स्नेहाधिक्य से अतिशय आर्द्र हुए भावावेश में मुँद से रहे थे। परन्तु परिचारिका में सेवा भाव इतना प्रबल एवं प्रमुख था कि उसने अपना भाव तो तत्क्षण ही संवरित कर लिया। उसे वह चर्वित ताम्बूल और वन माला तत्क्षण ही अपनी प्राणसखी रानी के पास ले जानी चाहिये, इस कर्तव्यजनित त्वरा ने रसमयी के हाथों से दोनों उपहार लेकर वह निकुञ्ज महल के भीतर प्रवेश कर गयी।

रसमयी द्वार रक्षिका के जाते ही विचार में पड़ गयी। ज्यों ही द्वार रक्षिका रानी को ये उपहार समर्पित करेगी, रानी तत्क्षण ही उसे अपने पास बुला लेंगीं। प्राणवल्लभ नीलसुन्दर तो निकुञ्ज के भीतर अपनी प्रिया के पास होंगे ही। हाय ! मेरे भीतर जाने से रानी एवं प्रियतम के विहार के एकान्त क्षणों में निश्चय ही बाधा आवेगी। यदि वे एकान्त में नहीं होते तो यह द्वार रक्षिका मुझे अपने साथ ही ले जाती। हाय ! मैं उनके असीम एकान्त सुख के क्षणों में अवरोधक बन गयी ? हाय ! मैने यह विचार ही नहीं किया कि रानी से मिलनजन्य सुख को प्राप्त करती हुई मैं प्रियतम के सुख की घातक हो रही हूँ। अब तो मुझे तुरन्त ही लौट जाना चाहिये।

इन विचारों के आते ही रसमयी के पैर परावर्तित हुए अपने निकुंज की ओर लौट चले। रसमयी दैन्य में इतनी अभिभूत थी कि तीव्रगति से अपने कुंज में ही पहुँचकर उसने विश्राम की साँस ली।

भगवती श्रीराधा का वह दिव्य विहार सरोवर और ललिता कुञ्ज के दर्शन कर रसमयी अत्यधिक आनन्दित थी।

वन का सौन्दर्य, निकुञ्ज की शोभा, सरोवर की अगाध सरसता, उस द्वार रक्षिका का स्नेहभरा उन्मुक्त रसालाप, उस स्थान की एक-एक वस्तु ने रसमयी का मन पूर्णतया वशीकृत कर लिया था।

अहा ! कैसा निर्मल देश है, जहाँ स्वसुख वाञ्छा की कलुषित छाया किसी तृण में भी नहीं है। काम की सामर्थ्य ही कहाँ जो वहाँ के एक कीट को, भृंगी को भी संस्पर्श कर सके।

अहा ! और वह द्वार रक्षिका सहचरी -- निश्चय ही मनोज दूर खड़ा अश्रु-मोचन करता उसके चरणों की धूलि के कण की याचना करता होगा ? अरे ! अरे !! उस निर्मल सरोवर के चतुर्दिक् कितनी शुक-सारिकाएँ थीं। असंख्य कपोत-कपोती थे। मयूर, चातक और वराट-वराटी थे। कितने रंग-बिरंगे शोभा भरे पक्षी वहाँ विलसित थे।

शुभ शकुन बताते खंजन को, पहले उसने देखा प्रियतम !
इतने में उड़ आया कपोत अभिनन्दन करने हे प्रियतम !
वह कण्ठ फुलाकर लगा नृत्य अपना दिखलाने हे प्रियतम !
पीहू करके आया मयूर उसने तानी छतरी प्रियतम !
सुन्दर अत्यन्त एक शुक था प्रणिपात किया उसने प्रियतम !
आया वह नीलकण्ठ, अपनी ग्रीवा नीची करके प्रियतम !
आयी वट तीतर की टोली रचना कर मण्डल की प्रियतम !
थे रंग-बिरंगे कितने ही क्रमशः विहंग आये प्रियतम !
नानापन अहा ! प्रकृति में जो है नित्य सृष्ट होता प्रियतम।
मानो वह सभी विहग बन कर करता था सुस्वागत प्रियतम !
जो प्यार लिये ये आये हैं, वह इनकी ही निधि है प्रियतम !

ये सभी विहंग कितने सुखी हैं। रसविलास की देव दुर्लभ सभी सामग्रियाँ उनको करतलगत सुलभ हैं, परन्तु उनमें इनकी दृष्टि ही नहीं जाती। कैसे

योग सिद्ध हैं ये सभी, कि एक निमेष मात्र भी विस्मृत नहीं कर पाते अपने जीवन सर्वस्व प्रियतम और प्राणसखी रानी के सुख संवर्धन के उद्देश्य को। तृण पर स्थित लघुत्तम कीट भी वहाँ 'पद्मपत्रमिवाम्भसा' पंक से अलिप्त कमल पत्र की तरह स्वसुख से सर्वथा अछूता है और प्रियतम सुख सूर्य की शोभा पर दृष्टि जमाये पूर्ण विकसित है।

अहा ! मैं तो उस द्वार रक्षिका के कुछ क्षणों के व्यवहार से ही उसकी क्रीतदासी हो गयी हूँ। फिर रानी की परम निगूढ़ प्रेमपात्री अन्य परिचारिकाएँ, मंजरियाँ, सखियाँ, नर्म सखियाँ तो न जाने कितने प्रीतिरस से भरी कैसी छलकती होंगी ?

अहा ! रानी का प्रियतम के प्रति कैसा अपार गरिमामय प्रेम है कि उसकी किंकरियाँ, दासियाँ, द्वार-रक्षिकायें, उसके गृह के पक्षी, शुक, सारिकाएँ, कपोत, वन के मयूर, चातक, उसके सरोवर के वराट, वराटी, इतना ही नहीं उस निकुंज की परिधि का आकाश, भूमि, तृण, गुल्म, वल्लरियाँ, तरुश्रेणियाँ, कीट, भृंग, वायु एवं जल एवं सूर्य-चन्द्र नक्षत्रावलि तक सब सृष्टि एक ही स्फुरणा से जीवंत है -- "प्रियतम का सुख ही हमारा सुख है, प्राण जीवन की रुचि चरितार्थ हो, उनकी चाह पूर्ण हो, यही हमारे अस्तित्व की सार्थकता है।

वैसे ही तुम 'निकुञ्ज है वह' ये शब्द भले सुन लो प्रियतम !
पर देश नाम से कथित नहीं कोई है वस्तु वहाँ, प्रियतम !
है कहाँ अहो ! फिर इसका है उत्तर इतना बनता प्रियतम !
वह अपनी ही महिमा में है परिनिष्ठित नित्य बना प्रियतम !!

रसमयी का मन विचार कर रहा था :-- 'अहा ! प्रियतम नीलम ने मुझे जितना प्यार दिया है, वह अवश्य ही तभी वे दे पाये हैं जब मेरे स्वरूप में उन्हें रानी ही दिखाई पड़ी होंगी। वे तो यथार्थ में रानी के ही एकान्त प्राणवल्लभ हैं। वह रानी और प्रियतम के केलिसुख को अपने भावों में निरखती सम्पूर्ण निशा जागती रही - वह सोच रही थी --

कैसी थी प्रीति परस्पर की लहरें लेती रहती प्रियतम !
दोनों ही एक दूसरे को रहते निहारते ही प्रियतम !!
फिर भी अतृप्ति रहती मानो दर्शन का सुख न मिला प्रियतम !

दोनों के प्राण एक होकर ऐसी गति धर लेते प्रियतम !
होने लगती प्रतीति उनको, मानो मैं हूँ न अहो प्रियतम !
स्वीकार काल का वे करते, कहने के लिये तभी, प्रियतम !
वह था उनका स्वरूप ही, फिर आरंभ खेल होता, प्रियतम !
उनकी पलकें खुलती, सुस्मित अधरों पर भर आता प्रियतम !
सुस्थिर वे नयन पुतरियाँ भी चञ्चल कुछ हो जातीं प्रियतम !
गलबाहीं दिये हुए ही वे धीरे-धीरे उठते प्रियतम !
चलते धीरे, सुख से धरणी जड़िमा धारण करती प्रियतम !
आगे प्रवाह बढ़ता क्रमशः उन दोनों के रस का प्रियतम !
वे अहो ! कहीं से कहीं जुड़े उसमें बहते रहते प्रियतम !
पीछे आने का प्रश्न नहीं उस धारा में बनता प्रियतम !
वे सृजन और संहार जनित परिणाम न उसमें हैं प्रियतम !!

इन्हीं विचारों में खोयी-खोयी, डूबती-उतराती रसमयी की सम्पूर्ण निशा व्यतीत हो गयी। ब्राह्म मुहूर्त्त होते-होते ही उसकी आँख लगी होगी, परन्तु स्वप्न में भी उसको रानी का अपने प्रियतम से प्रेमालाप ही सुनाई पड़ रहा था।

आखिर बोली प्यारी -- 'प्यारे तुम अहो विजेता हो प्रियतम !
बोला प्यारा 'सच है प्यारी ! श्रीकर में ही जय है प्रियतम !
दोनों ही दुहराते जाते अपनी ही उक्ति भला, प्रियतम !
मुखरित निकुञ्ज वन का कण-कण होता उस मधुरव से प्रियतम !

रसमयी को ध्यान ही नहीं रहा, कब उसके प्रियतम उसके निकुञ्ज में आ गये।

प्रियतम के द्वारा पूर्व दिवस उसका श्रृंगार करते समय जिसमें घिसी हुई कस्तूरी लेप रखा जाता था, वह पात्र पार्श्व में ही छूटा पड़ा रह गया था, वह पात्र प्रियतम की दृष्टि में आ जाता है, वे उस कटोरी में अपने दाहिने हाथ की अनामिका अँगुली डालकर सोती हुई उसके कपोलों पर एक गोल बिन्दी लगा देते हैं। बिन्दी लगाकर प्रियतम उसके मुख की शोभा निरखने लगते हैं

मात्र एक कस्तूरी बिन्दु से ही उसकी शोभा इस प्रकार खिल उठती है कि प्रियतम उसके आनन सरोज पर मुग्ध हुए स्थिर दृष्टि हो जाते हैं।

इतने में ही उसका निद्रा भाव टूट जाता है वह प्रियतम का अपने निकुंज में आगमन देख शीघ्रता से उठती है। वह अपने बिखरे केशों को शीघ्रता पूर्वक समेटती है। सिर पर अंचल डाल लेती है। प्रियतम उसके बगल में ही बैठ जाते हैं। अभी तक भी वे उसकी मुख शोभा में ऐसे डूबे हैं कि उनका एक टक उसकी ओर देखना स्थगित ही नहीं होता। कुछ क्षण उसके मुख को अपलक देखते रहकर अतिशय प्यार से प्रियतम रसमयी के मस्तक पर अपना हाथ रख देते हैं। फिर अतिशय प्यार से रसमयी के मुख के पास झुककर धीरे से कहते हैं --"रात को बहुत देर तक जागती रही थी, ठीक ठीक बतलाना।"

रसमयी कुछ नहीं बोल पाती। नेत्र मूँदकर अपने प्राणाधार के वक्षस्थल में ढुलक जाती है।

प्रियतम रसमयी के बांये कंधे को अपने दाहिने हाथ से स्पर्श कर अपने प्यार को दुगुना करते पुन: पूछते हैं - "क्यों, नहीं बतायेगी ?"

रसमयी कुछ गंभीरता की मुद्रा में किन्तु मन्द मुसकाती हुई कहती है -- "विचारों में निद्रा आयी ही नहीं तो क्या करूँ ? रसमयी की बात सुनकर प्रियतम के नेत्र स्नेह से छलक आते हैं।" सूर्योदय हो गया है, यमुना स्नान करने नहीं जाओगी ?" वे पुन: प्रश्न करते हैं।

यह सुनते ही रसमयी शीघ्रता से वस्त्र समेटती हुई खड़ी हो जाती है। शीघ्र से चलकर मुख प्रक्षालन करने एक सुन्दर सजी हुई स्वर्णनिर्मित मणि जटित पीठिका पर बैठ जाती है। पास ही रखे जल-पात्र से जल लेकर वह मुख धोती है, दाँत माँजकर(कुल्ला) गण्डूष करती है। रसमयी के मुख से निस्सृत सुवास इतनी दिव्य एवं मनोहर है कि उसका सौरभ सर्वत्र प्रसरित हो उठता है। प्रियतम उस सुवास के आघ्राण में ही ऐसे मुग्ध हो जाते हैं कि उन्हें कुछ क्षणों तक बाह्य ज्ञान ही नहीं रहता। तत्पश्चात सकुचाये हुए प्रश्न करने की मुद्रा में पूछ बैठते हैं -- हाँ, हाँ ! मैं विस्मृत ही कर गया, कल तू रानी को वह पुष्पमाला और ताम्बूल खण्ड देने गयी थी न ? उसका तुझसे मिलन हुआ ही होगा ? मैं तो तुझसे उसका मिलन वृतान्त सुनने ही निरे प्रभात तेरे निकुञ्ज में चला आया था। मैं तो अपने मन में निराश था कि तू मूझे इस कुञ्ज में मिलेगी ही नहीं। अवश्य ही निशापर्यन्त तुझे प्रिया ने सख्य

स्वागत में ललिता कुञ्ज में ही रोक लिया होगा। तू अभी तक वहीं होगी ? वहाँ से स्नान श्रृंगार करके ही प्रिया तुझे भेजेंगी।

मैंने तो इधर तेरे कुञ्ज में ऐसे ही आनुमानिक झाँक भर लगायी थी। तुझे सूर्योदय तक सुषुप्त देख कर तेरे समाचार जानने की जिज्ञासा और प्रबल हो उठी थी।

प्रियतम की वार्ता सुनकर रसमयी अतिशय संकुचित हो उठी। उसका शरीर काँप उठा। वह किस मुख से प्रियतम को सूचित करे कि उसने मात्र माला और ताम्बूल ही द्वार-रक्षिका के हाथ भेज दिया था, संकोचवश स्वयं तो बिना मिले ही लौट आयी। प्रियतम कुंज के भीतर प्रिया के पास ही अवस्थित होंगे -- यह उसका अनुमान मिथ्या ही निकला। वे तो वहाँ थे ही नहीं।

हाय ! रानी अब क्या समझेंगी ? अवश्य ही मुझे मिथ्या अभिमाननी मानेंगी ? मैं द्वाररक्षिका के भीतर सूचना पहुँचाने तक भी द्वार पर धैर्य रख प्रतीक्षा नहीं कर सकी ? मुझे अतिशय धिक्कार है ? अब तो जो भूल हो गयी सो हो ही गयी । अब प्राणवल्लभ से कपट क्या करूँ ? उन्हें तो सब खोलकर बता देना ही चाहिये।

रसमयी का हृदय अतिशय तीव्रता से धक्-धक् कर रहा था। उसका कण्ठ रुद्ध हो गया था। वह अपने प्रियतम के हृदयदेश से सट गयी। उसके नेत्रों से अश्रु प्रवाह बह उठा ।

"नीलम रे ! मैं महा मूर्खा, व्रजमूर्खा हूँ। सीमा रहित मूढ़ ही मुझे कहना उचित होगा । व्यवहार तो तनिक भी नही आता मुझे। मात्र अपने पागलपन के विचारों में ही दिनरात बहती रहती हूँ।"

"इस प्रकार की सब प्रकार से हीना को एक तुम ही ऐसे हो जो इतना स्नेह देते हो ? मैं रानी के सरोवर और निकुञ्ज गयी थी। वह तो साक्षात् प्रीति का प्रासाद ही है। प्रीति मूर्तिमती हुई वह वन बन गयी है। रानी का वात्सल्य वहाँ सर्वत्र जीवन्त प्रस्फुटित है। वल्लभ ! मेरे पास शब्द नहीं हैं जो वर्णन कर सकूँ, उस वन में मैंने कितनी असीम आत्मीयता, प्रीति, सौन्दर्य एवं शोभा का दर्शन किया।" "रानी की वह परिचारिका, एक मात्र किंकरी द्वार-रक्षिका - अहा ! कैसे उसके निराविल, सरल, प्यार से सने व्यवहार को, उसके रसीले माधुर्य को, उसके नयनों की पैनी परख को मैं शब्द दूँ। बस इतना ही कह पा रही हूँ - प्रीति ही अपनी समग्र गरिमा के साथ वहाँ उस प्रदेश में मूर्त है। नित्य नवीन-नवीन सुन्दर है वहाँ का उपवन। ऋतुराज

वसन्त अपने दल-बल के साथ वहाँ बारहों मास सेवारत है। शीतल सुरभित मलय पवन नित्य नवीन भाव गरिमा लिये एक रस वहाँ प्रवाहित होता है। वहाँ कोई प्राकृत लतिकाएँ नहीं हैं, सब कल्पलताएँ हैं, तरूश्रेणियाँ नन्दन कानन के पारिजात श्रेणी के गर्व को चूर-चूर कर दे रही है। महाभाव रूपा संधिनी ही उन वन के रूप में परिणत हैं।"

"प्राणाधार ! मैने सोचा तुम रानी के साथ अवश्यमेव वहीं होओगे। अतएव तुम्हारे संयोग-सुख में मेरा अनवसर पदार्पण कहीं बाधा न दे, इस संकोच में मैं वे उपहार उस द्वार रक्षिका को सँभलाकर रानी से अमिली ही परावर्तित हो गयी। निश्चय ही वह द्वाररक्षिका तुरन्त रानी की सम्मति लेकर लौटी होगी, मुझे द्वार से विलुप्त पाकर वह चिन्तित भी हुई होगी। रानी को भी मेरा इस प्रकार बिना सूचना दिये लौटना अव्यवहारिक ही प्रतीत हुआ होगा। परन्तु नाथ ! मेरे द्वारा ऐसा हृदय हीन व्यवहार मात्र इसीलिये हो गया क्योंकि मैं मूढ़ा यही समझ रही थी कि तुम निकुंज में रानी के संग हो।"

यह कहती-कहती रसमयी फफक कर रो उठी। प्रियतम उसकी निष्कपट निर्मल उक्ति पर रीझ गये। वे उसे अति स्नेह से अपने कंधे पर चिपकाये स्नानार्थ यमुना किनारे ले आये।

व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण चन्द्र की स्मिाति कितनी सम्मोहक है, कितनी मादक माधुरी इसमें भरी है, इसका अनुभव वही प्राणी कर सकता है, जिसे वे अनुभव करावें। प्रियतम ने अपनी मादक स्मिति का प्रयोग किया रसमयी का दुःख भुलाने में। रसमयी के मन-प्राण सर्वथा विमोहित हो उठे। एक क्षण में ही अभिनव एवं अलौकिक नेह धारा जन्य सुख में वह डूब गयी। वह प्रियतम के कंधों पर सिर टिकाये-टिकाये उनसे सटी-सटी यमुना के किनारे स्नान करने चली आती है।

रसमयी की कुटी से यमुना तक पथ के दोनों ओर कदली वृक्ष उग रहे थे। सुगन्धित पुष्पों की क्यारियाँ भी समग्र पथ को सज्जित किये थीं। पुष्पों की पंखुड़ियों को वायु उड़ा-उड़ाकर पथ में आस्तरण कर दे रहा था। कदली वृक्षों के पीछे अनार के वृक्षों की कतारें थीं और तब विल्ब वृक्ष फलों से लदे थें। कहीं विल्बों के स्थान पर नारिकेल शोभा पा रहे थे।

प्रियतम रह-रहकर रसमयी की ओर झुक जाते हैं और अत्यंत प्यार से रसमयी के कंधों से स्पर्श कर उसके मुखराविन्द की ओर देखते हैं। निशा जागरण के फलस्वरूप रसमयी अतिशय अलसायी है, फिर प्रियतम का सुकोमल

प्यार भरा स्पर्शालिंगन प्राप्त कर सुख से मुँदी उसकी आँखें शयित होने लगती हैं।

वह बीच-बीच में आलस्यवश उबासी भी लेती है। उबासी लेते समय उसके मुख से ऐसी निर्मल सुवास प्रसरित होती है कि पद्मगंध वहन करती वायु भी उस गंध को पाकर निहाल हो जाती है। रसमयी के मुख से निस्सरित इस सुवास का ऐसा तीव्र वेग प्रवाहित होता है कि वन-उपवन के विकसित पुष्पों में से मधु संवरित करते भ्रमर पुष्पों का मकरंद त्याग कर दम्पति की ओर उड़ चलते हैं। इस असीम भ्रमर दल को अपने चतुर्दिक् फेरी देते देख रसमयी संकुचित हुई अपने प्रियतम के अंगों से सट जाती है।

अब वही निकुंज आ जाता है, जहाँ पद्म पर्यंक में रसमयी का श्रृंगार प्रियतम ने किया था। यमुना के किनारे अतिशीतल मन्द समीर बह रही है। निकुंज के मुख्य द्वार से कुछ ही दूर पर यमुना का निर्मल प्रवाह है। मुख्य द्वार के आगे कैसा विशाल वट वृक्ष है। इस वट के नीचे खड़े हुए दोनों यमुना महारानी की सुखद शोभा देखते हैं।

सहसा प्रियतम अति मधुस्यन्दी वाणी में बोल उठे --"देख ! आज फिर तू कोई नयी बुद्धि मत उपजा लेना। तेरे कल लौट आने से प्रिया को बहुत ही गहन चिन्ता हुई होगी। मेरा अर्ध चर्वित ताम्बूल और मेरी अंग संस्पर्शित वन माला को भेंट में देने वाली अनुरागिणी से मिलने वे कितनी उत्कंठातुर हो गयीं होंगी, मैं तो मात्र कल्पना से ही सिहर उठता हूँ। तेरा विचार करते करते वे भी तेरी ही तरह निशापर्यन्त जागी ही होंगीं। मुझसे भी बहुत ही भूल हो गयी। तुझसे पृथक् होकर मैं चला तो था प्रिया की ओर ही परन्तु मेरे चरण भटक गये। मैं पहुँच गया चन्द्रावली कुञ्ज की ओर।

वहाँ से ज्यों ही राह मुड़ने का विचार किया ही था कि मुझे शैव्या ने देख लिया। अब तो उसके आग्रहवश मुझे चन्द्रावली सखी के पास ठहरना ही पड़ा। मैं सोचने लगा -- अब तू निर्बाध प्रिया से मिल पावेगी। और प्रिया भी तुझे पाकर मेरे न आने की व्यथा भूल जायेंगीं। तेरे सख्य सत्कार में वे रात भी पलकों में काट देंगीं -- ऐसा विचार करता हुआ मैं निशा में भी वहाँ नहीं गया।

हाय ! हाय !! अब तो बहुत ही व्यथा हुई होगी उसे। मेरी किसी भी अनुरागिणी से मिलने की उन्हें इतनी आतुरता हेती है, मानों मैं स्वयं ही

उससे मिलने आया हूँ। न जाने कल दुपहरी और विगत सम्पूर्ण निशा उन्होंने कैसे काटी होगी, मैं तो सोच भी नही पा रहा।

अब तू शीघ्र स्नान कर ले। मुझे तो अपनी गौएँ सम्हालनी हैं। मैं उन्हें सखाओं को सम्हलाकर किसी प्रकार तेरे सन्निकट आ पाया था। सुबल एवं तोक तो मेरे साथ ही आ रहे थे। वे मुझे अकेला आने ही नहीं दे रहे थे। लम्बे समय तक उनसे दूर रहने पर वे मैया को सूचित कर देंगे।

आज अभी प्रिया के पास मेरा जाना संभव नहीं है। तू शीघ्र स्नान करले तो मैं तेरा श्रृंगार कर दूँ। यदि तू मुझसे बिना श्रृंगार कराये चली गयी तो प्रिया को मेरे न आने का कष्ट सताता रहेगा। मेरे द्वारा श्रृंगारित तुझे पाकर रानी को तेरे स्वरूप में मैं ही मैं दिखाई पड़ूँगा। अतः वे मेरे न आने की व्यथा को तुझे पाकर बिसार देंगीं।

रसमयी चट-पट स्नान-घाट की ओर चल पड़ती है।

अहा, यमुना की नीली जलधारा में स्नान करती रसमयी की कैसी विलक्षण शोभा है। प्रियतम घाट की दीवारों से छुपे इस शोभा को नयन भर निहार रहे हैं। यमुना की तरंगे रसमयी के सिर पर से होकर पृष्ठ देश और स्कंध देश में गिर रही हैं। उसकी काली घनी कुन्तल राशि जल के वेग से स्वर्ण वर्णी पीठ पर इस प्रकार लहराती है मानों कोई वृहद् कृष्ण नाग बहता हुआ स्वर्ण शिला को पाकर उस पर आरूढ़ होने को प्रयासरत हो। परन्तु जल का वेग उसके प्रयास में बाधा दे रहा हो।

रसमयी के अंगों में लगी, केसर एवं कस्तूरी का गहरा लेप यमुना जल को पंकिल कर दे रहा है। उसके अंगों के मर्दन से अंग गंध इतनी गहन रूप से वायुमंडल को सुवासित कर दे रही है कि चारों दिशाओं से भ्रमर दल व्याकुल हुआ स्नान करती रसमयी की परिक्रमा करने लगता है।

जैसे ही रसमयी स्नान करती है, एक सुन्दर स्वर्णथाली में सब वस्त्राभूषण अपने आप घाट पर प्रकट हो जाते हैं। रसमयी अपने अंगों को एक शुभ्र स्वच्छ वस्त्र में लपेट कर यमुना से बाहर आती है और अपने गीले वस्त्रों को यमुना में ही पृथक् कर देती है। उसके पहने हुए गीले वस्त्र इस प्रकार यमुना जल में विलीन हो जाते हैं, मानो कोई रजकिनी उन्हें स्वच्छ करने ले गयी हो।

भाव विभोर रसमयी यमुना से बाहर आती है। स्नान करते समय उसे यही अनुभव होता रहा है कि उसके प्रियतम का स्नेह ही धारा रूप में यमुना

बना प्रवाहित हो रहा है। तभी न यमुना वे जीवन्त प्रकट हुई उसे वस्त्रालंकार देती हैं, और प्रतिदिन उसके तन मन को रस स्वच्छ करके प्रियतम श्यामसुन्दर की भोग्या बनने की योग्यता प्रदान करती हैं।

यमुना किनारे के निकुञ्ज में रसमयी एक स्वर्ण-आसन पर जिस पर अति सुकोमल मखमल का आस्तरण है, बैठ जाती है। उसके तपाये पुरट के से वर्ण-सदृश अंगों में चम्पई रंग का लहँगा धारण किया हुआ है। इस लहँगे में कृत्रिम पीत एवं नील पुष्प विजड़ित हैं। पुष्पों के मध्य में इतनी सुन्दर मणियाँ जड़ी हैं कि लहँगा उन भिन्न-भिन्न वर्ण की मणियों से झलमल कर रहा है। उन्होंने राग बहुला सच्चिन्मय अरुणिम बंधों वाली कंचुकी वक्षस्थल पर धारण की है। ये सभी वस्त्र तो रसमयी घाट से ही स्वयं पहनकर आयी थी। प्रियतम ने अपने हाथों से उसकी ग्रीवा में झुला दिये हैं विविध रत्नों के हार, मणिमुक्ताओं की मालायें। और तब उन नील कर कमलों द्वारा सम्पूर्ण आभूषण रसमयी के सर्वांगों में विधृत हुए। रसमयी तो अपने प्रियतम की प्रेम एवं कला दोनों के संयोग से भरी श्रृंगार सम्पादन लीला को द्रष्टावत् तटस्थ देख रही थी। रसमयी देख रही है कि मेरे प्यारे नीलमणि के संस्पर्श से आभरणों की शोभा अपरिमित बढ जा रही है। साथ ही प्रियतम अनुभव कर रहे हैं कि मेरी प्यारी के अंग इतने सुन्दर हैं कि आभूषण तो उसके सौन्दर्य से आभूषित हो उठते हैं। वे भला उसके अंगों को क्या सजायेंगे।

देखो ! नीलसुन्दर अपने करपल्लवों से सौरभशाली सुन्दर पुष्प चयन कर रहे हैं। इन पुष्पों का कैसा सौभाग्य है कि ये प्रियतम के कर कमलों द्वारा गुम्फित होकर वनमाला का अति सुन्दर आकार ग्रहण कर रहे हैं। इस सुमन हारावली को जब प्रियतम रसमयी को पहनाने लगे तो उसने इसे हाथों में लेकर प्रियतम को ही पहना दी और उनकी वह पहनी माला रानी के लिये उपहार रूप में माँग ली। प्रियतम की ग्रीवा में झूलती वह माला अहा कैसी सौभाग्य वर्षा कर रही है।

और अब प्रियतम ने रसमयी के अति रसीले नेत्रों को अंजन अंजित करने का विचार किया। वे अपनी मध्यमा अंगुली से अंजन लेकर नयनों से जैसे ही छुलाने लगे, वे यह देखकर चकित हो गये कि वे नेत्र तो स्वयं ही उन्हें अपने भीतर पूरा समोये हैं। प्रियतम ने अपनी कज्जल सनी अँगुली नेत्रों से हटाकर रसमयी के कपोलों पर दिठौना के रूप में लगा दी। अपनी प्रिया के ललाट पर आकर्षक कुंकुम बिन्दु लगाकर प्रियतम सद्यःस्नात प्रिया की

केश राशि को अगरुधूम से सुखाने लगे। उस विकीर्ण केशराशि को जैसे ही उन्होंने वेणी रूप में बाँधने का विचार किया, वैसे ही रसमयी ने पुनः उन्हें निषेध कर दिया कि वह वेणी-बंधन तभी करेगी जब अपनी प्राण सखी रानी के दर्शन कर लेगी ? अहा, प्रियतम ने रसमयी की श्रवणेन्द्रियों में अति सुन्दर रत्नजटित तरौना पहनाये। अन्त में ज्योंही वे पनवट्टे में से पान का बीड़ा निकाल कर अपने हाथों प्रिया के अधरों से छुलाने लगे तो पुनः रसमयी ने उस ताम्बूल को प्रियतम के हाथों से अपने हाथों में ले लिया और अपने हाथों प्रियतम को उसे अर्धचर्वित कराके शेष अपने अंचल में रानी को भेंट करने की इच्छा से बाँध लिया। श्रृंगार समाप्त कर प्रियतम रसमयी को आरसी दिखाने लगे।

अहा ! अब तो आत्यन्तिक उल्लास में भरे प्रियतम कभी आरसी में अंकित रसमयी की छवि हृदय से सटाते हैं कभी अपने स्वयं को ही उस शोभा पर न्यौछावर करने लग रहे हैं।

अन्त में श्रृंगार सम्पूर्ण कर अति उल्लास से भरे अधरों में मन्द-मन्द मधुर मुसकान लिये दोनों ही गलबाँही देकर पुनः रानी के विहार कुंज की ओर चलने लगते हैं। आज प्रियतम ने रसमयी को संकेत कर दिया कि रानी ललिता कुंज में नहीं मिलकर विशाखा कुंज में जो उसके पार्श्व में ही स्थित है, वहाँ मिलेंगी।

अहा, दोनों परस्पर कैसे एक दूसरे से लिपटे वन में प्रवेश कर रहे हैं। कौन कह सकता है कि इनमें दो भिन्न स्वतंत्र सत्ताएँ क्रियाशील हो रही हैं। जो इस समय इनका इस प्रकार प्रेम से युगपत् जुड़ा गुंथा रूप और वन गमन देखेगा वह तो यही कहेगा, ये दो देह अवश्य हैं, परन्तु दोनों का संचालन मात्र एक अहंकार और एक ही सत्ता कर रही है। अब वह सत्ता नील द्युति है अथवा पीतद्युति यह सत्य अपनी भाव राशि से ही आकलन किया जा सकता है। किसी को वह सत्ता नील द्युति प्रतीत हो सकती है, किसी को पीतद्युति और किसी को नीलपीत दोनों द्युति भी दिख सकती हैं। परन्तु दोनों का गमन लक्ष्य एक ही पथ है।

अहा, कैसी सुमधुर दोनों की परस्पर रसवार्ता हो रही है मानों दो वराट-वराटी एक दूसरे में समाहित प्रणय काकली कर रहे हों।

लो, वही कालिन्दी का सम्मोहन घाट आ गया। वहाँ से नील सुन्दर अपनी प्रिया से भरे हृदय से विदा लेकर गोचारण क्षेत्र की ओर बढ़ जाते हैं

और रसमयी त्वरा से चल पड़ती है गिरि की तलहटी में उन सरोवरों की ओर।

आज उसे अपनी प्राणसखी रानी से मिलने की इतनी त्वरा है कि वह प्रियतम नीलमणि के विछोह दुख को ही भूल गयी है।

अहा ! पलक झपकते रसमयी के चरण उस देश को संस्पर्शित करने लगते हैं, जहाँ सुमनों का सौरभ चतुर्दिक् प्रसरित हो रहा है। मधु लुब्ध भ्रमर उड़ उड़कर विविध सुमनों पर बैठ रहे हैं।, परन्तु नीरस निर्गन्ध वन्य जाति के प्राकृत रूप से खिले सुमनों से भला कृष्ण भ्रमर की तृष्णा कैसे बुझ पावे अत: विरक्ति में भ्रमित से दौड़ रहे हैं, कुञ्जों की फेरी लगा रहे हैं, कहीं किसी छिद्र से इन्हें प्रवेश मिल जाय तो ये टूट पडें उस पद्मिनी पर जो इन चंचरीकों की मात्र विश्राम स्थली है।

विविध विहंगम श्रेणी तरुजाल में निलीन रहकर नित्य निकुंजेश्वरी और निकुंजेश्वर का दर्शन पाने अति समुत्सुक है। इनमें से अनेक पक्षी तो तृण संकुल धरा पर सुस्पष्ट व्यक्त होकर अपनी सेवा समर्पित करने की त्वरा में नाच-नाचकर हर्षित हो रहे हैं और शुक, शुकी एवं सारिकायें अपने अन्य सजातीय विहंगम वर्ग के साथ आनन्द विभोर व्रजजन जीवन-सर्वस्व दम्पति की रसमयी केलि का चित्रण कर रहे हैं अपनी-अपनी भाषा में।

कोकिल का स्वच्छन्द कुहू-कुहू रव वनस्थल को मुखरित कर रहा है। किन्तु उसको कहीं कोई मात्र विहंगम की काकली ही नहीं मानले। ये मयूर जो पंख फैलाकर नृत्य कर रहे हैं, ये पुंस कोकिल और कोकिला पक्षी- सभी सुशिक्षित हैं तुलसी कानन की अधिष्ठातृ देवी से और अभिनव रागिणी के मिस से रानी की परिचारिकाओं को यथावश्यक संकेतदान कर रहे हैं।

रसमयी ने देखा कि ललिता कुंज से सटा उत्तर पूर्व के कोने में एक विलक्षण कुञ्ज है जिसमें सर्वत्र अशोक, सहिजन, अगस्त्य एवं कचनार के वृक्ष पूर्णतया कुसुमित हुए खड़े हैं। इनके कुसुमों के गुच्छों से समस्त कुंज-स्थल की शोभा ऐसी लग रही है मानो इन पुष्प गुच्छों से श्रीदेवी के उरोज विभूषित हो रहे हों। और पारिजात वृक्ष जो इस कुंज के मध्य में स्थित है, इस कुंज की भूमि के वक्षस्थल पर विचित्रता पूर्वक ऐसे रसमय मनोहर चित्र अंकित कर रहा है कि उन्हें देख-देख कर रात्रि में चन्द्रमा भी मुग्ध हो जाता है। इस कुंज की यह विलक्षणता स्पष्ट परिलक्षित हो रही है कि यहाँ के सभी वृक्ष निसर्गत: लता वल्लरियों का दासत्व आचरित करते प्रतीत होते हैं। इसे

कदली के विलक्षण सुन्दर वन ने चतुर्दिक घेर रखा है। यत्र-तत्र आम्र-वृक्षों की निकुंजावलि है और बीजपूर वृक्षों की कुंज पंक्तियाँ हैं। आम्रवृक्षों के निकुंजों के साथ-साथ दाड़िम वृक्ष के भी निकुंज हैं। प्रिया प्रियतम कन्दुक क्रीड़ा करें ऐसी विस्तृत क्रीड़ास्थली भी यहाँ शोभा दे रही है; एवं मणिमय विलक्षण सुन्दर महल हैं।

रसमयी को आश्चर्य हुआ कि कुञ्ज भवन का प्रवेश द्वार स्वत: ही उसके समीप आते ही खुल रहा है। रसमयी सोच रही थी कि क्या उसके आगमन की पूर्व सूचना महल के भीतर पक्षियों ने पहुँचा दी है ? वह यह विचार कर ही रही थी कि उसे मणिमय महल से बाहर निकलती वहीं नव कैशोर से विभूषित द्वार-रक्षिका दृष्टिगोचर हो जाती है।

उसे दूर से देखते ही रसमयी का हृदय अनुराग समुद्र की लहरियों में संतरण करने लगता है। रसमयी को देखकर वह द्वार-रक्षिका भी स्नेह में निमग्न हो जाती है।

रस-समुद्र जब उछाल लेकर विभिन्न दिशाओं में अपनी शत सहस्र ऊर्मियों को प्रेषित करता है, तो उन ऊर्मियों में संवेदन सर्वांश में परिपूरित रहता है। इसलिये जिस माध्यम का वे संस्पर्श करती हैं, उसे वे आत्मसदृश साँचे में ही ढ़ाल देती हैं। भानु किशोरी रानी के अन्तस्तल में विगत आठ पहर से जो रसमयी के प्रति रसोच्छलन हुआ, उसकी ऊर्मियों ने सभी सखी-मंजरियों, एवं रानी की आन्तरिक नर्म परिचारिकाओं के हृदयों को भी अभिभूत कर लिया था। अत: सभी के हृदय उन प्रिया हृदय से प्रसरित ऊर्मियों के प्रभाव से रसमयी के प्रति अगाध आत्मीयता और स्नेह से भरे थे।

रसमयी तो अपने कल के आचरण से व्यथित थी ही परन्तु वह द्वार रक्षिका भी अपनी भावव्यथा से पूरी भरी थी।

ज्यों ही द्वार रक्षिका रसमयी के द्वारा प्रदत्त उपहारों को लेकर रानी के पास पहुँची, उस समय रानी प्राणवल्लभ का चित्र निर्माण करने में तल्लीन थीं। इस नीलोदधि का स्वभाव ही ऐसा है कि जो भी इस उदधि की मात्र एक क्षुद्र सी कणिका का भी संस्पर्श प्राप्त कर लेता है, उसका बाहर निकलना तो सर्वथा असंभव हो जाता है।

चित्र रचना के समय ही सही, किशोरी के नेत्र अपने प्राणधन से चार हो जाते हैं। उन नील देव की बंकिम चितवन को चित्र में उतारते-उतारते ही किशोरी रानी के मर्मस्थल में नीलमयंक देव के बंक विलोचन की पैनी

धार बैठ जाती है। बस उसी के सहारे रानी का मन उस पथ से चलता-चलता डूब जाता है उस नील सौन्दर्य सागर में जहाँ से आजतक कोई बचकर निकल ही नहीं पाया है।

वह द्वार रक्षिका रानी के सम्मुख बार-बार निवेदन करती है रसमयी के इन उपहारों सहित आगमन की वार्ता, परन्तु द्वार रक्षिका को कोई प्रत्युत्तर ही प्राप्त नहीं होता है भानुनन्दिनी की ओर से। आखिर एक ही बात को पुन: पुन: निवेदित करने में तथा प्रत्युत्तर की भी प्रतीक्षा करने में द्वार रक्षिका का काल तो व्यतीत होता ही।

इधर रानी की भाव दशा विलय-बिन्दु की ओर अग्रसर होने लगती है। रानी के प्राणों की यह दशा देखती हुई वह किंकर्तव्य विमूढ़ हो जाती है। पहले स्वामिनी की दशा की सूचना ललिता को देने जाय, अथवा द्वार पर बाहर प्रतीक्षारत रसमयी को सम्हाले, वह निर्णय ही नहीं कर पा रही है। वह अपनी भूल पर भी पश्चाताप करने लगती है। उसे आगन्तुका को स्वामिनी के पास अपने साथ ही ले आना चाहिये था। अब तो इतने विलम्ब तक उसे आसन दान तक न दिये जाने की असभ्यता को वह अपना तिरस्कार मान ही लेगी। और ऐसा मानने में कोई अस्वाभाविकता भी नहीं।

यदि अपने निर्मल साधु स्वभाव वश वह तिरस्कार नहीं भी माने तो भी स्वामिनी के लिये इस प्रकार का अनमोल अनुरागात्मक उपहार लाने वाली के प्रति उसका आचरण तो औचित्य से परे हो ही गया। फिर स्वामिनी निराविल प्रेम का तिरस्कार कैसे सहन कर पावेंगीं। भले ही वे उसे कुछ भी न कहें, परन्तु उनके अन्तर्मानस में उठी इस व्यथा का भार तो उस पर ही होगा। फिर द्वार पर खड़ी आगन्तुका भी अतिशय संकोच शीला है, अन्यथा उसे स्वयं ही उसके पीछे महल के भीतर आ जाना चाहिये था। मनुहार की तो इस प्रेमभूमि में परिपाटी ही नहीं है। परन्तु हाय ! मुझ जड़ बुद्धि ने भी तो उसकी घोर उपेक्षा कर ही दी। वह तो प्रथम ही यहाँ आयी है। उसने साधारण शिष्टाचार वश संकोच का व्यवहार उचित ही तो किया। वह यहाँ की निस्संकोचता को कैसे हृदयंगम करती।

और इस आगन्तुका के प्रति प्राणवल्लभ का अवश्य ही अतिशय स्नेह रहा होगा, तभी न उन्होंने इसके हाथ अपना चर्वित ताम्बूल खंड एवं अपनी वनमाला भेजी थी। इन उपहारों को भेजने में उनका कोई मंतव्य भी रहा ही

होगा ? हाय ! हाय !! मैं तो घोर अपराधिनी ही हो गयी। मेरा व्यवहार तो प्रेम तो दूर रहा शिष्टता की सीमा का भी उल्लंघन कर गया।

इन विचारों में डूबी वह किंकर्तव्यविमूढ़ हो रही थी। अन्ततः उसने यही निर्णय किया कि रानी की उपेक्षा करके भी पहले उसे द्वार पर खड़ी आगन्तुका को सम्हालना चाहिये। यह निर्णय करके वह मुड़ ही रही थी कि उसे सम्मुख रूप मंजरी आती दृष्टिगोचर हो जाती हैं। वह रूप मंजरी को जो कुछ घटित हुआ निवेदन कर देती है।

उस उपहार सामग्री को रूप मंजरी को सौंप कर वह तेजी से द्वार की ओर आती है। परन्तु बाहर आकर पाती है कि आगन्तुका तो वहाँ है ही नहीं। वह अनुमान करती है कि संभव है वह आगन्तुका यहीं आश्र्व-पाश्र्व में वन देखने चली गयी होगी। परन्तु पर्याप्त समय प्रतीक्षा करने पर भी जब वह नहीं मिलती तो टोही पक्षियों से उसका अन्वेषण कराती है। कोकिला उसे यही सूचित करती है कि वह तो अतिशय स्नेह भरी डगमगी चाल से यमुना के सम्मोहन घाट की ओर लौटे जा रही है। प्रीत्युद्दीपन की अधिकता से उसकी चाल में गति-भंग दृष्टिगोचर हो रहा है।

द्वार रक्षिका अब पुनः रानी को सम्हालने भीतर जाती है। भानु-नन्दिनी के बढ़ते व्यथा भार को देखते हुए रूप मंजरी ने ललिता को बुला लिया है। ललिता रानी आते ही प्रियतम के द्वारा चर्वित अर्ध ताम्बूल किशोरी रानी के मुख में दे देती हैं। प्रियतम के वक्षस्थल में चर्वित केसर कस्तूरी पंक से लिप्त उनके श्री अंगों की गन्ध से सुरभित वनमाला भी ललिता रानी के कण्ठ देश में झुला देती है। इधर सखियों के प्राणों की बढ़ती चिन्ता भाव धारा भी रानी के हृदय को संस्पर्शित करती है। इन सभी के एक साथ घटित हो जाने से भावसमुद्र की अतल गहराइयों में प्रवेश करती रानी रुक जाती हैं। चित्त विचलित होते ही भाव सन्धि का उन्मेष अनिवार्य हो जाता है।

किशोरी की प्रथम दृष्टि उस द्वार-रक्षिका के आनन पर ही पड़ती है। उसे अश्रुओं से भीगा पाकर रानी में उसके प्रति अतिशय प्रेम उमड़ उठता है।

इसके पश्चात रानी सभी की ओर दृष्टि उठाती हैं, सभी के चेहरों में व्यथा भरी पाकर वे पूर्णतया जाग्रत हो जाती हैं।

वे उन्मुख होती हैं, द्वार-रक्षिका सहचरी की ओर। क्योंकि वही सर्वाधिक प्राणों की व्यथा से भरी थी।

"मनोरमे ! अरी क्या हुआ था मेरे साथ, तुझे सब कुछ खोलकर सुना रही हूँ । देख ! इस चित्र में मैं नवीन परिधान वस्त्रों से सुसज्जित हुई नीली शैवालिनी के तट पर जल भरने ही तो जा रही हूँ। और देख ! यहाँ द्रुम जालों में निलीन मेरे प्रियतम नील सुन्दर कैसी बांकी त्रिभंगी में खड़े हैं। मैं चित्र रचना करती-करती एक टक इस छवि को देखने लगी। सहसा मुझे ऐसा लगा मानो यह चित्र जीवन्त है। बस, मैं तो सर्वथा सुध-बुध ही खो बैठी। भावों की ऐसी आँधी मेरे मानस में आयी कि मेरा सम्पूर्ण अस्तित्व ही उसमें विलुप्त हो गया री। तुझे मेरे कारण इतना कष्ट हुआ - तू मुझे क्षमा कर देना री।

"अरी ! यह वन माला मुझे किसने पहनायी री ? इसमें तो प्रियतम की अंग गंध भरी है ? उनके वक्षस्थल में विलेपित केसर एवं कस्तूरी की सौरभ भी इस वनमाला में लिप्त है। और मेरे मुख में जो ताम्बूल है, यह कौन सखी मुझे खिला गयी है ? यह तो निश्चय ही प्राणसर्वस्व नीलसुन्दर के अधर रस से सिक्त है ? क्या प्रियतम यहाँ आये हैं री ? वे कहाँ हैं ? उन्हें किसने कहाँ छुपाया है ? मेरे प्राण तो उन्हें देखने आतुर हो रहे हैं री ?

रानी की इस उत्कट जिज्ञासा पर मनोरमा उस नव-आगन्तुका के आने और माला तथा चर्वित ताम्बूल भेंट स्वरूप देने की वार्ता तथा साथ ही तुरन्त ही परावर्तित होकर लौट जाने की सभी वार्ता वर्णन कर देती है। साथ ही यह भी स्वीकार कर लेती है कि वह उसे साथ ही लेकर निकुंज में प्रविष्ट नहीं हुई, यह उससे भूल हो गयी।

मनोरमा द्वारा रानी के सम्मुख इस प्रकार हृदय खोल देने और रुद्ध कण्ठ से रानी की आकस्मिक दशा देखने से हुए विलम्ब के कारण नव आगन्तुका के लौट जाने का समाचार सुनकर रानी चिन्ता में पड़ जाती हैं ?

वे मनोरमा को सम्बोधित कर कहने लगती हैं -- मनोरमे ! उस आगन्तुका को निश्चय ही नीलघन ने ही मेरे पास भेजा था। देख ! प्रियतम के अधरों की मधु सुधा इस ताम्बूल में पूरी सिक्त है। और इस वनमाला में कैसे बताऊँ री, मेरे प्राणरमण के श्री अंगों से निःसृत अप्रतिम रस की धारा बह रही है। वह अवश्य ही प्राण सुन्दर की अत्यधिक प्रीति पात्रा है। उसने अपना सर्वस्व नील सुन्दर पर न्यौछावर कर दिया है। उसके अन्तर्जीवन में स्वसुख की गन्ध भी नहीं है, तभी न यह वनमाला प्रियतम के निराविल आनन सरोज को दिग्दर्शित कर रही है। इन उपहारों को लेकर कहीं छद्म

वेश में प्रियतम ही तो नहीं आये थे री ? क्योंकि इस उपहार सामग्री को ग्रहण करते ही प्रियतम मेरे सम्मुख जीवन्त खड़े हो गये हैं। मेरे प्राणनाथ के अतुल सौन्दर्य समुद्र में देख, मैं डूब रही हूँ। मेरा अंग-अंग सर्वथा अवश हो रहा है री।

यह कहते-कहते रानी पुनः बाह्यावेश रहित हो जाती हैं। आठ पहर से प्रिया की यही दशा है, वे बार-बार आगन्तुका गोपी को पुकारती हैं। कहती हैं -- बहिन ! बता ! तू कौन है ? तेरे अंग-अंग तो मेरे प्रियतम के समान श्याम वर्ण हैं। नहीं, नहीं तू गौरवर्णा ही होगी। अवश्य मेरी ही भूल होगी। मेरी निगोड़ी आँखों को रोग लग गया है री। उसे सभी वस्तुएँ श्याम ही श्याम दिखाई पड़ती हैं। बता तो बहिन, तू कहाँ से आयी है ?

अहा ! मेरे प्यारे श्याम सुन्दर की चितवन से घायल होकर तू भी मेरे समान तड़प रही है ? अच्छा बहिन ! तू मेरे पास ही रह। मुझे छोडकर अब कभी मत जाना। हम दोनों एक दूसरी के सामने हृदय खोलकर रोयेंगी, रो-रोकर जी हल्का कर लेंगी। यह कहती-कहती प्रिया फिर मुग्धावस्थ को प्राप्त हो जाती हैं। इस प्रकार प्रिया के गत आठ पहर बीते हैं।

इधर द्वार रक्षिका ज्योंही रसमयी को पुनः आते देखती है तो वह दौड़कर आनन्द में डूबती उसका हाथ पकड़ लेती है। शीघ्रता से तेज गति से आने के कारण रसमयी के मुख पर प्रस्वेद कण मोती की तरह झलमल-झलमल कर रहे हैं। उसकी वेणी तो निर्बन्ध है ही। इतने में ललिता को भी पक्षी सूचित कर देते हैं कि कल वाली आगन्तुका पुनः वैसी ही माला एवं ताम्बूल लेकर निकुञ्ज द्वार पर आ चुकी हैं । वे भी विशाखा सहित धीरे-धीरे चलती हुई रसमयी के पास आ जाती हैं।

ललिता कुछ कपट क्रोध करके रसमयी का हाथ पकड़कर कहती हैं -- “क्यों, क्या कल तूने ही हमारी प्राण-प्यारी रानी को ताम्बूल एवं वनमाला भेंट में दी थी ? क्या तू जादूगरनी है ? हमारी प्राण सखी की आठ पहर से तूने कैसी दयनीय दशा कर दी है ? चलकर देख ? आज फिर कोई नया जादू करने आयी है ? कल की तरह आज भाग मत जाना ? नहीं तो याद रखना मैं ललिता हूँ।” यह कहती हुई वे छलछलाये नेत्रों से रसमयी को कसकर हृदय से लगा लेती हैं। वे इतना कसकर आलिंगन करती हैं मानो उसे अपने हृदय से एक ही कर लेंगी।

और मनोरमा को तो मानो प्राण ही मिल गये ? उसने उसके हाथ कसकर पकड़ लिये हैं ? मानों आज तो जाने ही नहीं देगी ? उसके नेत्रों से इतने आँसू बह रहे हैं कि उनके प्रवाह में उसे रसमयी का मुख दिखना भी बन्द हो जाता है। विशाखा भी रसमयी को आलिंगन करती हैं फिर वे एवं ललिता रानी दोनों किसी अन्य कार्य की त्वरा में हँसती हुई उससे बिदा ले लेती हैं।

मनोरमा उसके खुले केशों पर हाथ फेरती हुई कहती हैं :-- अरी सखी ! कल तू क्यों चली गयी थी री ? मुझ मूर्खा, अभिमानिनी से क्या तू रूठ गयी थी ? अवश्य ही मेरी भूल थी। मुझे उसी समय तेरा हाथ थामकर तुझे निकुञ्ज के भीतर ले चलना चाहिये था। हाय ! मुझसे घोर अपराध हुआ ही परन्तु तू तो अपने आप भी तो मेरे साथ आ सकती थी ? हमारे यहाँ की तो यही नेहमयी परिपाटी ही है। कोई किसी से पूछता थोड़े ही है। यह तो सबका अपना निकुंज है। प्रिया की सब वस्तु सबकी अपनी ही हैं। फिर इसमें पूछना क्या ? परन्तु यह कहकर मैं अपनी भूल अस्वीकारती नहीं। क्या मेरे अति विलम्ब तक नहीं लौटने से तूने अपमान का अनुभव किया ?

रसमयी क्या उत्तर देती ? उसका तो पात्र ही इतना छोटा है कि वह उसमें इतना प्रेम भरने में ही असमर्थ हो रही है। उसका हृदय पात्र इतना छलक रहा है कि वह पूरी की पूरी नहा गयी है।

द्वार रक्षिका कहती जा रही है :-- "अरी बहिन ! जब मैं तेरा हार एवं ताम्बूल खंड लेकर प्रिया के पास जैसे ही पहुँची तो वे प्राणवल्लभ की चित्र रचना कर रही थी।

वे उसमें इतनी तल्लीन थीं कि अनेक बार सूचित करने पर भी उन्हें मेरी बात सुनाई ही नहीं पड़ रही थी। अत: मैं विचार में पड़ गयी। वे भी अकेली थी। ध्यान की प्रगाढ़ एकाग्रता में उन्हें न सँभाला जाय तो कुछ भी अनहोनी उनके साथ घटित हो सकती है। कहीं वे भूमि पर ही लुढ़क जावें। इधर तुझे भी सत्कार-पूर्वक भीतर लाना भी मेरा कर्तव्य था। इस ऊहापोह में समय जा रहा था। इधर मुझे ज्यों ही रूपमंजरी दृष्टिगोचर हुई, मैंने तेरे उपहार उन्हें सम्हलाये और भागी तेरे पास। क्या करूँ ? तब तक तो तू ऐसी विलीन हुई कि मुझ पर तो सेरों पानी पड़ गया। मैंने विचार किया, इधर वन-शोभा देखने चली गयी होगी। परन्तु टोही पक्षी कोकिला ने सूचित किया कि तू तो सम्मोहन घाट की तरफ जा रही है। अरी ! ऐसा मेरा क्या

अपराध था जो तू एक क्षण भी यहाँ नहीं ठहरी। रानी को तो जबसे तेरी उपहार सामग्री वनमाला एवं ताम्बूल खंड से संस्पर्श कराया वे तो तब से ही तेरी ही माला फेर रही है। इधर लगभग २४ घंटों से वे प्राय: बाह्य चेतना शून्य रही हैं और जब भी उन्हें बहि:श्चेतना थोड़ी भी होती है तो तेरा ही संस्मरण कर रही हैं।

इतने में ही ललिता एवं विशाखा पुन: आ जाती हैं। वे रसमयी को बायें हाथ से पकड़े रानी के पास ले जाती हैं। विशाखा उसके बांयी तरफ साथ चलती हैं।

ललिता रसमयी को प्रिया की बगल में बैठा देती हैं और संकेत से कहती हैं कि इन्हें तू अपने हाथ से ताम्बूल खण्ड खिला दे। साथ ही यह वनमाला जो प्रियतम ने अपने हाथों गुम्फित की है, इन्हें पहना दे।

रसमयी चुपचाप पास बैठी रानी की विलक्षण भावदशा देखती है। शरच्चन्द्र को भी हेय बनाने वाले उसके सुन्दर मुख चन्द्र के जादू ने रसमयी को रोमाञ्चित कर दिया है। अहा कैसा चित्ताकर्षक अमृतवर्षी मुखमण्डल है प्रिया का। किसी कवि ने ठीक ही कहा है ---

"कर पर धर कपोल बैठी री नयन मूँद"
कमल बिछाय मानो सोयो सुख चन्दा !!

अपने चपल लोचन-युग्मों की बंकिम चितवन से रसमयी रानी को अपलक निहारती है और तब उस अप्रतिम अनिन्द्य सौन्दर्य की साकार प्रतिमा के मुख पर प्रियतम का अर्ध चर्वित ताम्बूल दे देती है। वनमाला पहनाते पहनाते तो रसमयी के नेत्रों से अनर्गल बारिधारा प्रसरित होने लगती है।

रसमयी का कज्जल मिश्रित यह अश्रु-प्रवाह उसके दीप्त अरुणिम कपोलों को आर्द्र कर दे रहा है। रसमयी चाहती है,उसे रुद्ध करना परन्तु किसी भी प्रकार वह रुद्ध नहीं हो रहा है। हाँ ! कण्ठ अवश्य रुद्ध हो गया है उसका। वाणी नि:सृत नहीं हो रही है। सर्वथा विह्वल हो गयी है वह।

रसमयी द्वारा रानी के मुख में ताम्बूल देते ही रानी अपने नेत्र विकसित कर देती हैं। उनके सम्मुख नवागन्तुका का अश्रुसिक्त आनन झलमला उठता है। रसमयी की हृदय की रसधारा गंभीर गंभीरतर होती चली जा रही है। सखियाँ रानी को सँभाले रहकर मुसकाती हुई यह प्रेम लीला देख रही हैं।

देख-देखकर सभी आनन्द में उत्तरोत्तर विभोर होती जा रही हैं। सखियाँ अपने प्यार भरे हाथ से श्री प्रिया की बिखरी लटों को ठीक करती हैं।

रसमयी देखती है --"अहा मूर्तिमान सुन्दरता ! अनुमानातीत सुघड़ता !! निरुपमेय लावण्य !!! अपरिमित कान्ति !!!! रानी के अति सुकुमार चरणों में रसमयी लुढ़क जाती है। ज्योंही रानी के सम्मुख नवागन्तुका का अश्रुसिक्त, चरणों में लुण्ठित होने को उद्यत चेहरा आता है, रानी भावावेश में ही उसे उठाकर अपने वक्षस्थल से चिपका लेती हैं।

"अच्छा बहिन तो तू मेरे पास आ ही गयी। अरी! कबसे मैं तेरी प्रतीक्षा में अपने नेत्र बिछाये थी। अरी बहिना ! किसी अनमोल वस्तु के स्वामित्व को प्रकट करना भयावह होता है री ! उसके छिन जाने की संभावना होने लगती है। इसलिये मैं नहीं चाहती इसे मुख में भी लाना। परन्तु तू वास्तव में मेरी प्रीति-वैभव का अतुल निस्सीम कोष है री। मेरे प्राणों की लालसा है यह बहिन ! तू मेरे पास ही रह। देख री ! मैं तुझे अपनी आँखों की काली पुतरियों में रखूँगी। और जब भी मेरे इस पीत-तन के ग्राहक, मेरे प्राणों के प्राण, प्रियतम नीलमणि मेरे पास होंगे तो मैं अनन्तगुने प्रेम से उन्हें निहार सकूँगी, क्योंकि मेरे नेत्रों में तेरा भी तो वास रहेगा। बोल, तू मुझे छोड़कर नहीं जायेगी न ?

रसमयी रानी की इस व्याकुलता और प्रेमाग्रह को देखकर गदगदाये कंठ से इतना ही कह पाती है -- नहीं जाऊँगी, बहिन ! तू निश्चिन्त रह। इतना सुनते ही किशोरी रानी उसे पुनः दुगने वेग से कंठ से चिपका लेती हैं ?

रसमयी रानी के अचिन्त्य सौन्दर्य, अकल्पनीय माधुर्य, अतुलनीय लालित्य, असीम प्रेममय स्वभाव को देख-देखकर क्षण प्रतिक्षण अधिकाधिक समर्पण से अभिभूत हो रही हैं।

रानी रसमयी को वह चित्र पट दिखाती हैं जो उन्होंने अपने हाथों से बनाया है, वे उसे अपने पास ही पर्यंक में बैठा लेती हैं।

रसमयी चित्रपट को देखती है। अहा ! जीवन्त चित्रण किया है रानी ने। घन कृष्ण कुंचित कुन्तलराशि पर मयूर पिच्छ गुम्फित मुकुटाभरण कैसा फब रहा है। और प्रियतम के श्री अंगों पर ललित तृभंग मुद्रा की अभिव्यक्ति तो देखते ही बनती है। चंचल अरुणिम नेत्रों की चितवन से प्रीति रस का निर्झर झर रहा है। रानी ने प्रियतम का ऐसा सुभग चित्रण किया है कि उसे देखकर रसमयी उनके अतुल सौन्दर्य में डूब जाती है। उसके प्रियतम जितने सुन्दर

इस चित्रपट में दिख रहे हैं वैसे तो उसकी आँखों ने उन्हें साक्षात् रूप में कभी नहीं देखा था। वह विचार करने लगती है। यह क्या रहस्य है ? फिर तत्क्षण ही उसे रहस्य समझ में आ जाता है। रानी का प्रियतम के प्रति प्रेम उसके प्रेम से अनन्त गुना है, इसलिये रानी की प्रेम भरी आँखों ने उनके रूप को भी विलक्षण रूप से आस्वादन किया है, तब उसका चित्रण तो उसके दर्शन से विलक्षण होगा ही। प्रियतम का रूप तो चिन्मय है अतः वह तो प्रेम की तरतमता से घट बढ़ जाता है। जिसकी आँखें जितनी प्रेम में डूबी होंगी, उतना ही प्रियतम सौन्दर्य अभिवर्धित हुआ उसे प्रतीत होगा। और प्रिया ने तो अपनी प्रीति प्रतीति का ही यह चित्रण किया है। कोटि-कोटि कंदर्पों को लज्जा के घन आवरण में आवृत कर देने वाले इस चित्रण को देखकर रसमयी के अंग-अंग अवश होने लगते हैं, वह भाव समुद्र में डूबने लगती है। वह स्वेद से लथपथ हो जाती है। बार-बार उसे रोमाञ्च और कम्प होने लगता है। रानी रसमयी की यह दशा देखकर वह चित्र पट उसके हाथों से हटा लेती हैं और अपनी नील ओढ़नी के छोर से स्वयं रसमयी का स्वेद मार्जन करने लगती हैं। प्रेम से भरी रानी के नेत्र रसमयी की भावगरिमा देखकर छलछला आते हैं।

'कितनी सुन्दर है री तू' रानी उसके मुख की ओर एकटक देखने लगती है। रानी को इतने प्यार से अपनी ओर देखती पाकर रसमयी अपना मुख नीचा कर लेती है। "अरे, अरे आज तेरी केशराशि खुली क्यों है ? तूने वेणी बंध नहीं किया री ? मेरी तो अब तक इन पर दृष्टि ही नहीं गयी। और देख, सच बताना, तेरा श्रृंगार किसने किया है री ? ऐसा श्रृंगार तू स्वयं अपने हाथों कदापि नहीं कर सकती ? तेरे श्रृंगार के अन्तराल में मुझे नीलसुन्दर की प्राणोन्मादिनी मूर्ति अभिव्यक्त होती दिख रही है। तेरे कपोलों पर उनका प्रतिबिम्ब मुझे स्पष्ट दिख रहा है। तुझे स्वयं को पता नहीं है परन्तु मेरी आँखें ठीक देख रही हैं तेरे अंगों से अप्रतिम नीली धारा बह रही है । क्या तुझे लज्जा आ रही है ? अच्छा मत कह ? परन्तु मुझसे उनका प्यार छिपा नहीं रह सकता री। अपने हृदयगत समस्त दुलार से उन्होंने ही तेरा श्रृंगार किया है और तब वे तुझ पर, तेरी प्रीति राशि भरे आनन पर न्यौछावर हुए हैं ?"

मूक अधर रसमयी ने नयनों-नयनों में ही अपनी स्वीकृति दे देती है। और तब वह नयन नीचे करके बैठ जाती है। बहुत ही लजा रही थी वह।

इतने में ही एक विलक्षण चमत्कार होता है। रसमयी का समस्त शरीर घनीभूत होने लगता है और वह सिमट जाती है मात्र एक नीली ज्योति में और फिर वह नीली ज्योति भी घनीभूत होती हुई अति सूक्ष्म होती-होती प्रविष्ट हो जाती है रानी के कपोलों में, ठीक नासिका के पास। और वह परिणत हो जाती है एक मसिबिन्दु के रूप में। और तब उसके मसिबिन्दु में से ही एक अतिशय कोमलांगी गौरवर्णा सखी निकलती है।

सुन्दर , अति सुन्दर, अभिनव सुन्दर, प्रतिपल नव-नव नूतन सुन्दर वह प्रतीत हो रही है। उसके सौन्दर्य की, परम कल्याणमय गुण गणों की मधुरिमा क्षण-क्षण अभिवर्धित होती जा रही है।

प्रतिक्षण नव-नव लीला विलास की अप्रतिम सुन्दर भंगिमा से विभूषित होते रहते हैं उसके अंग-अंग। उसकी गुण-गरिमा नित-नूतन परिवर्धित होती रहती है। उसकी सम्पूर्ण वृत्तियाँ डूबी रहती हैं रासेश्वरी रानी और रासेश्वर प्राणरमण के सुख विलास को सम्पादित करते रहने में ही। उसके उरस्थल में आनन्द की नित्य नवीन-नवीन रस-धारा प्रसरित होती ही रहती है। दो-तीन निमेष का कालमान व्यतीत होते न होते नवीन उमंग की लहरें आत्मसात् कर लेती हैं पूर्व की तरंगों को।

कैसी मनोहर है इसके अलक जाल की शोभा। कमल के सदृश मुख सरोरुह पर कृष्ण अलकावलि झूल रही है। कैसी विलक्षण सुन्दर है इसकी कुञ्चित कुन्तलराशि जिस पर दृष्टि पड़ते ~~ही~~ षट्पद श्रेणी का गर्व चूर्ण-विचूर्ण हो जाता है। लज्जा के घन आवरण में अलिकुल अपना मुख छुपा लेता है। कितने मृदुल अंग संस्थान हैं इसके। यह मृदिमा भी नित्य नूतन होती चली जा रही है। सभी के प्राणों को चरम बिन्दु तक आकर्षित करती है, यह। सौरभ से दिशायें सुरभित हो रही हैं। इसके अंगों में प्रिया-प्रियतम दोनों के अंगों का सम्मिलित सुवास भरा है। इसमें सर्वत्र मादकता पूर्ण है।

प्रिया प्रियतम के अचिन्त्य कृपा के प्रकाश से किसी की घ्राणेन्द्रिय में वह शक्ति आ जाय, तभी कोई समझ सकेगा कि कैसी सरस एवं मादक इसकी अंग गंध है।

इसके झूमते हुए कमनीय नयनों में कैसा अभिनव आकर्षण है। अहा इसके पलक पड़ने की भी कैसी शोभा है। पलकों के गिरने और उठने में इसकी दृष्टि से कैसी रस की अभिनव वेगवती सरिता बह उठती है जो प्राण

सुन्दर को सुख समुद्र में बहा ले जाती है और रानी को विलक्षण सख्य रस भरी सेवा से आप्यायित कर देती है।

मसिबिन्दु से ज्यों ही इसका उद्भव होता है इसे रूप मंजरी गले लगा लेती हैं। अब यह प्राणसखी रूप-मंजरी की सहयोगिनी होकर रानी की नित्य सेविका हो जाती है।

सहसा सूक्ष्मधी सारिका जः रानी की अतिशय प्रेमपात्री है स्वर्ण पिंजर में से बोल उठती है --

"मंजुलीला, मंजुलीला रूप किशोरी रानी की कायव्यूह-रूपा की जय !

अब शुक भी पीछे क्यों रहे, वह भी पुकार उठता है --

"मसिबिन्दूद्भवा, मसिबिन्दूद्भवा वृन्दावन-चन्द्र की प्राणप्यारी की जय ! मंजुलीला रूप रसमयी-परिणति की जय,जय !!

इस जय जयकार से रानी एवं ललिता विशाखादि सभी सखियों के मुख पर हँसी आने लगती है।

शुक एवं सारिका दोनों बोल उठते हैं -- महाप्लावन ! देखो ! देखो !! कलिन्दनन्दिनी की ओर तो देखो ! आज वह महारससिन्धु हो उठी है। वह यमुना तटवर्ती निकुंज, वह तो कभी का डूब गया। वह बिचारा वट वृक्ष, उस निकुंज के द्वार पर जो स्थित था, कुछ काल तक प्रवाह से जूझता रहा, अन्त में वह भी डूब ही गया। वे मनोरम घाट सब डूब गये। वह भग्न सी रसमयी की कुटिया भी बह गयी। और आश्चर्य यह रससमुद्र इतना उमड़ा कि महाभावद्वीप इस निकुंज के भी द्वार खटखटाने लगा। इन द्वारों के सन्धिस्थलों से प्रविष्ट होकर रसमयी को भी चूर्ण-चूर्ण कर अपने में उसके अवशेषों को घोल लेता है और तब उसे अपने से एकात्म कर स्वयं रानी के छोटे से मसिबिन्दु में समा जाता है। उसमें प्रविष्ट होकर समाहित हुआ स्वयं को रानी में विलीन कर देता है।

रानी के इस मसिबिन्दु की जय, जय सदा ही जय हो।

शुक एवं सारिका दोनों जयकार कर उठते हैं :--

मसिबिन्दु विलया रसमयी की जय ! मसिबिन्दूद्भवा मंजुलीला की सदा ही जय हो।

पुनः दोनों साथ ही साथ बोल उठते हैं।

महाभावसिन्धु स्वरूपा नित्य निकुञ्जेश्वरी की जय !

महारससिन्धु प्रियतम नित्य निकुंजेश्वर की सदा ही जय हो !

मंजुलीला भाव

वनमाला गुम्फन लीला

व्रजेन्द्रतनय की अनाविल लीला रसपान एवं रसदान की मधुरिमामय अभिसन्धि को लेकर ही अघटन-घटना-पटीयसी-योगमाया निर्माण करती है अखिल रसामृत सिन्धु व्रजराज कुमार के विहार स्थल व्रजपुर का। शब्द नहीं हैं जो व्रजपुर की विभु-रसराशि को व्यक्त कर सकें। उसके महाभाव महिमा मंडित स्वरूप को भाषा में बाँध देना सर्वथा सर्वांश में असंभव, पूर्णतया असंभव है। प्रियतम नीलमणि और उनकी प्रिया महाभावमयी राधारानी की यह नित्य आवास-स्थली जो ठहरी। प्रीति अपनी समस्त गरिमा के साथ यहाँ इसी प्रदेश में मूर्त होती है। और इसीलिये व्रजेशतनय वृन्दाकानन का परित्याग कर अन्यत्र नहीं जाते । अत: नित्य नवीन-नवीनतर रसमय ही होती रहती है यहाँ की भूमि।

अहा ! रस तरंगिणी यमुना के पुलिनों की सौन्दर्य राशि प्रतिक्षण नित्य नूतन विस्तार को पा रही है। ऋतुराज वसन्त यहाँ अपनी पूरी सेना के साथ सर्वत्र एवं सब समय सेवा में उपस्थित है। शीतल मन्द मलय मारुत तो प्रियतम नीलमणि की परिक्रमा ही करता रहता है और उनके आदेश से श्वास लेने वाले लघुत्तम कीट से लेकर विशालकाय वन-गजराजों तक सभी के प्राणों में प्रियतम नीलमणि का रस संदेश भरता रहता है और उनके चरणों में सभी प्राणियों की भाव कुसुमांजलि अर्पित करता रहता है।

देखो ! यह तरुश्रेणी जो तुम्हें दृष्टिगोचर हो रही है इन्हें भूलकर नन्दन कानन की पारिजात-पादप-श्रेणी मत समझ लेना और न ही ये सर्वत्र रस-सुरभि दान करती लतायें सुतल तथा पाताल लोक से आनीत हैं :-- ये सभी तो नन्दतनय एवं प्रिया रानी की कायव्यूह स्वरूपभूता सन्धिनी शक्ति वृन्दा की ही इन रूपों में परिणति हैं। सुमनों का दिव्य प्राणोन्मादी भाव सौरभ, मधु लुब्ध असंख्य कृष्ण भ्रमरों का रसपूर्ण गुञ्जन, और मकरन्द रस-पान, उनका भाव-भरे रंग-बिरंगे सुमनों पर अति सरसता पूर्वक आसीन होना - इन सभी के अन्तराल में सर्वथा सर्वांश में मूर्त है, रानी की स्वरूपभूता संधिनी का विलास ही।

यहाँ निसर्ग का भोग्या होना ही अविचल नियम है। यहाँ सभी व्यक्ति नन्दनन्दन की सेवा के लिये समर्पित हैं, चाहे वे महाराजा वृषभानु हों, श्री गोपराज नन्दराय हों, अथवा साधारण सा साधारण अंत्यज जाति का चाण्डाल हो। वह अपेने स्व के लिये जीवित ही नहीं है, वह तो मात्र नन्दनन्दन सुखी हों, उनका सुख मेरे द्वारा कैसे सम्पादित हो, इसी भावना से जीवित है। यहाँ की सब वस्तुएँ नन्दनन्दन के लिये एवं सब परिस्थितियाँ भी हैं नन्दनन्दन के सुख-प्रवाह को नित्य नवनवायमान उच्छलन देने के लिये ही।

देखो ! आज कुछ विलक्षण दृष्टिगोचर हो रहा है। तरुश्रेणियों में आसीन ये पक्षीगण प्रतिदिन तो नाम-गायन करते हैं, नीलमणि प्रियतम श्यामसुन्दर का अथवा प्रिया राधारानी का, परन्तु आज तो इनमें कुछ परिवर्तन है। ये कोकिल, मोर, पपीहा, कपोत, फुदकती कृष्ण चिरैया, नाचती प्रसन्न होती नवीन नाम उच्चारण कर रही हैं। आओ, तनिक ध्यान लगाकर इन्हें सुनें।

अरे ये तो नामोच्चारण कर रही हैं :-- मंजुलीला , मंजुलीला ! और यह दूसरा नाम तो अतिशय क्लिष्ट है। परन्तु देखो, पक्षीगण कितनी सरलता पूर्वक इसे भी नाच-नाचकर उच्चारित कर रहे हैं। इन्हें “मसिबिन्दूद्भवा मसिबिन्दूद्भवा” इतने क्लिष्ट उच्चारण में भी कहीं कोई आयास, क्लेश, अथवा दुरूहता नहीं प्रतीत हो रही है। और इस गायन के साथ ही चतुर्दिक् वन में सौख्य की, सौन्दर्य की, माधुर्य की, सरसता की एवं सौरभ की अभिनव उच्च लहरों पर लहरें उठने लग रही हैं।

अरे देखो ! यह सौन्दर्य की साकार प्रतिमा कौन है, जो राधा-विहार-सरोवर की राह से आगमन करती घने वन में अकेली निर्भय प्रवेश कर रही है। इस घने वन में व्रजरमणियाँ पुष्पचयन करने आती हैं अवश्य, परन्तु अकेली तो कदापि नहीं प्रवेश करतीं, वे सभी दो-चार, पांच-सात के यूथ में ही इस घने वन में प्रवेश करती हैं। परन्तु यह तो प्रभात होने के पूर्व ही अकेली वन-प्रवेश कर रही है, महती आश्चर्य है।

अरे ! विलक्षण सुन्दरी है यह ? पंच तत्वों से तो इसका कलेवर निर्मित ही नहीं है। इसका न तो साम्य है देवांगनाओं से, न ही नागलोक की कुमारियों से। इसकी तुलना तो लक्ष्मी, ब्रह्माणी, एवं पार्वती से भी नहीं की जा सकती। सत्यलोक, तपोलोक, महर्लोक, जनलोक, स्वर्लोक सबका तेज इसके सम्मुख फीका पड़ रहा है। अरे भाई ! इसके तो दर्शन मात्र से प्रपञ्च स्वतः स्वाभाविक विलुप्त हो रहा है। वैसे ही जैसे रवि के उदय होते ही स्वतः

अन्धकार विलुप्त हो जाता है। क्या ही विलक्षण प्रभाव है इसका ? आओ, इस पुष्पित कदम्ब वृक्ष के नीचे चलें। इस वृक्ष की डाली पर ये पक्षी युगल शुक एवं सारी कुछ रसमयी गंभीर रहस्यमयी वार्ता कर रहे हैं। इन्हें सुनें।

यह सारिका कह रही है :-- हे शुक ! मैं इस मंजुलीला की पूरी वार्ता बता रही हूँ। यह किस पदार्थ से निर्मित है और इसका अन्तर्हृदय कैसा है ? ध्यान से दत्तचित्त होकर सुनना भला ?

"हे बन्धु ! तुमने कभी न कभी व्रजेन्द्र नन्दन के काले कजरारे नेत्र तो देखे ही होंगे ? कैसी मादकता भरी हैं उनमें, साथ ही कैसी निर्मलता भी है। उन कजरारे नेत्रों की रसमयी कालिमा से इस मंजुश्यामा की कुञ्चित केशराशि इसकी कांचन वर्णीपीठ पर लहराती कैसी सुन्दर लग रही है। अप्रतिम अतुलनीय है इसकी शोभा।

और बन्धुओं ! कोटि-कोटि शशधरों को अपनी कान्ति से हतप्रभ कर देने वाला नीलमयंक देव का लावण्य भरा मुखमण्डल तो तुमने नयन भर निहारा ही होगा। हाँ, तो उसी शोभा को पदार्थ बनाकर अतिशय प्यार और भावावेश के क्षणों में नीलमणि एवं राधारानी ने अपने हाथों इसके अंगों अंगों की बहुत ही मनोयोगपूर्वक रचना की है। इसीलिये इसके मुखमण्डल का लावण्य, मधुरिमा, सरसता, कोमलता, और कान्ति सभी अवर्णनीय है।

और इसके कजरारे, कानों तक दीर्घ, तीखे नेत्रों की ओर तो देखो ! हरिणियाँ लजा कर मुख फेर रही हैं, कैसी अनुपम रसमयता निखर रही है इसके अन्तराल से। इसके इन रसभरे नयनों की अभूतपूर्व शोभा का रहस्य पता है तुम्हें ? नहीं तो सुनो। परम प्रेमास्पद प्राणसारसर्वस्व नीलमणि इसके नेत्रों में आठों पहर निवास करते हैं। तभी न सम्पूर्ण प्राणि-पदार्थ इसे मात्र प्राणवल्लभ ही प्राणवल्लभ दृष्टिगोचर हो रहे हैं। यह विश्व प्रपंच को सर्वथा सर्वांश में विस्मृत कर गयी है। इसकी रसमयी अनुभूति सुन लो। यह देख रही है कि इसके प्राणवल्लभ नीलसुन्दर और प्राणप्रिया राधारानी के नील-पीत-द्युति चरण सरोरुहों में जो विजड़ित बीस नखमणियाँ हैं और उनसे जो अनाविल प्रीति प्रकाश निरन्तर निःसृत हो रहा है, वही घनीभूत होकर उपल बन गया है, वही अनन्त असीम नभ बना सबको अवकाश दे रहा है, वही रवि और शशि, अग्नि तथा अनन्तानन्त नक्षत्र मण्डल बन गया है। वही सप्त सागर के रूप में लहरा रहा है। वही प्राण बन भू:, भुवः, स्वः, महः, तपः, जनः एवं सत्यलोक तक के ऊर्ध्व लोकान्तरों के और तल, वितल, अतल,

सुतल, तलातल और पाताल तक के अध: लोकों के जीव समुदाय की श्वास प्रश्वास बन सबको जीवन्त कर रहा है, वही इन लोकों की विघ्न-बाधा-शून्य अनन्त सम्पदा है और वही इनमें अविद्या जनित देहाभिनिवेश कराता हुआ इन्हें जन्म-मृत्यु के अनन्त प्रवाह में भटका रहा है। भाई ! कैसी पावन सत्य दृष्टि है इसकी। इसे नीलसुन्दर के सिवा किसी अन्य की सत्ता दिखती ही नहीं। इसीलिये इसका रागद्वेष शून्य चित्त एकरस सर्वत्र सभी को अपना अगाध एवं निर्बाध एक रस प्रेम प्रदान कर रहा है। देखो शुक ! इसीलिये वन प्रान्त के पक्षी समुदाय के रूप में ही नहीं, कान लगाकर सुनो, व्योम, वायु, तेज, जल एवं धरा का अणु-अणु बने प्रियतम प्राणवल्लभ ही अतिशय प्यार से इस महा सौभाग्यवती देवी का नाम संकीर्तन कर रहे हैं -

मंजुलीले, मंजुलीले, मंजुलीले, मंजुलीले।

देखो ! यह परम सत्य इस देवी से अप्रकट थोड़े ही रह सकता है। इसे ठीक अनुभव हो रहा है समग्र वन में आत्मगोपन कला-प्रवीण उसके प्रियतम ही प्रेमजन्य विकलता के अतिरेक में उसका निरन्तर नाम जप रहे हैं। और इसीलिये मंजुलीला के दीर्घ सरसिज नेत्रों में प्रेमाश्रु-छलक आये हैं, शुकराज !"

तो लो, सारिका से इस देवी का परिचय तो मिल गया। अब इसके पीछे चलें, यह इस वन में क्यों आयी है ?

अवश्य ही यह यहाँ आयी है वन के सर्वोत्तम गन्धवाही पुष्पों का चयन करने। प्राणप्रिया राधा ने आज जीवन में प्रथम बार ही तो उसे यह पुष्पचयन की सेवा दी है। वह अपने हाथों अति सुन्दर सुगन्धित पुष्पों का चयन करेगी और तब उन्हें वृन्तों से कलापूर्ण रीति से गूँथकर सुन्दर पुष्पहार निर्माण करेगी और तब उस पुष्पहार को प्राणप्रिया प्रियतम श्यामसुन्दर को पहना देंगीं।

लो मंजु ने वन प्रदेश में चारों ओर दृष्टि घुमायी। वृक्षों-वृक्षों में आच्छादित लताएँ सुगन्धित कुसुमों के अम्बार लगाये उसे संकेत कर रही हैं। बहिन ! हमारे पास आओ न ! कुछ भी आयास की आवश्यकता नहीं, मात्र आँचल भर फैला लो, हम अभी तत्क्षण उसे पुष्पगुच्छों से परिपूरित कर देंगीं। देखो ! इन वृक्षों को अपनी सुकोमल सहस्त्रों भुजाओं से पूर्णरूपेण आलिंगित किये ये लताएँ कोई लाल, कोई पीली, कोई नीली कोई अनेक रंगों की मिश्रित, कोई पीली और लाल मात्र दो रंग की और कोई लाल, पीली, बैंगनी

तीन रंगों की पुष्प सज्जा धारण किये उसे अतिशय प्यार से आमंत्रण दे रही हैं। "आओ न बहिन ! मेरे पुष्प लो न, मैं ये इतनी सुन्दर पुष्पसज्जा धारण किये युगों-युगों से अति आकुल चित्त से तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा हूँ -- मुझे सफल मनोरथ कर दो न ? मेरा रोम-रोम तुम्हारा अभिनंदन कर रहा है, अच्छा पुष्प मत लो, दो क्षण मुझे तुम्हारा प्रेमरस से ओतप्रोत किञ्चित् स्पर्शदान ही कर दो, और यह भी तुम्हारी रुचि के विपरीत हो, तो दो क्षण हमारी शीतल छाया में विश्राम ही कर लो न बहन ? निर्निमेष नेत्रों से वृक्ष-वृक्ष अपनी प्यारी सखी मंजुलीला को आकुल प्रेम निमंत्रण दे रहा है।

लो, एक भाग्यवान वृक्ष के नीचे खड़ी हो मंजुलीला ने अपनी आँचल निर्मित झोली फैला दी और क्षण भी नहीं हुआ और वृक्ष से लिपटी लताएँ अति सुरभित प्रस्फुटित पुष्पों की वर्षा करने लगीं। इन पुष्पों के सौरभ से समग्र वन मुखरित हो उठा।

अहा ! कैसी मुग्ध भावापन्ना है यह बाला मंजुलीला। इसका अंग-अंग नवतारुण्य से छलक रहा है। उसकी तरुणाई कोटि-कोटि अनंग मदहारी है। उसकी घुँघराली अलकावलि, कंदर्प-धनु सी बंकिम भौंहे, शुक-चंचु-तिरस्कारी नासिका, दमकते सुकोमल कपोल, बिम्ब के समान लाल-लाल अधर, कोमल किसलय से कान, रक्तपद्म से हाथ, गोल-गोल कलाइयाँ, रति को स्पर्धा में पराजित करती कमनीय भुजायें, ये उत्तुंग उरोज, ग्रीवा की गति, नेत्रों की चंचलता, भ्रू-नर्तन, पदविन्यास, उसका अभिनव सुन्दरतम रूप देखकर वन श्री भी लज्जा से अवनत मुख हो जाती है। वनश्री दूती बनी दौड़ी-दौड़ी नन्दनन्दन के कानों में चुपचाप संकेत दे देती हैं। आओ ! प्राणप्यारे अपने नेत्रों की रूप-दर्शन की तृषा बुझा लो न ? वनश्री के उरस्थल में उठती भावलहरियों का समर्थन नर्तन करता हुआ सुरभित समीर भी कर देता है। चिरकाल का वही तो नन्दनन्दन का सर्वप्रिय विश्वास पात्र दूत है। "हे मेरे प्राणधन ! तुम्हें आकुल हृदय से रानी की एक प्राणसेविका का यौवन पुकार रहा है। उसे अपनी दृष्टि से सार्थक कर दो न नाथ।

लो ! प्राणवल्लभ श्रीकृष्णचन्द्र के अधर पल्लवों में अनुमोदन भरी मधुरातिमधुर रसमयी स्मिति नाच उठी। और उन्होंने एक अतिशय प्रीति गरिमा से भरा खेल करने का संकल्प कर लिया। वनश्री और समीर दोनों कृतकृत्य हो गये। प्रियतम के नयन-चंचरीक मंजुलीला के वदन-सरोज के सौन्दर्य का रसपान करने समुत्सुक हो उठे। और लो, प्रियतम ने अपने को

व्यक्त कर दिया, वहीं उसी वृक्ष के पार्श्व में, एक सुमन लतिका की ओट में, जहाँ मंजुलीला वनमाला गुम्फन कर रही थी।

देखो ! प्रियतम की कैसी शोभा है। इन्द्रनीलद्युति अंग संस्थानों पर विराजित पीत परिधान, ललितत्रृभंग गात्र, इनके दर्शन मात्र से वन का अणु-अणु आनन्द में परिपूरित हो उठा। उनके श्रीअंगों की मधुरिमा भरी आभा से वन में सर्वत्र ओरछोर विहीन सुषमा बिखर उठी।

प्रियतम सतृष्ण निरख रहे हैं अपनी प्रिया मंजुलीला की पुष्पमाला गुम्फन करती मुग्ध मुद्रा को। प्यार की कूल विहीन स्रोतस्विनी उमड़ रही है, प्रिय के हृदय में। स्नेह का आपार वैभव अविराम वितरित होने लगा स्वत: प्रियतम के चंचल नंयनों से। उनका नील कलेवर प्यार के समुद्र की तरह लहराने लगा और संविन्मय आनन्द छलकने लगा उनके रोम-रोम से।

प्रियतम के कमल जैसे दीर्घ नेत्र उस छलकते प्यार से भरे टप-टप अश्रु टपकाने लगे।

परन्तु महारस की आगार मंजुलीला तो मानो मधुपूर बनी दत्तचित्त हो वनमाला गूँथने में लगी है। उसे पता ही नहीं है कि उसके प्रियतम कोटि मदन-मदहारी उसकी रूपराशि का अतिशय तृष्णा से नयन-प्यालों में भर-भर कर पान कर रहे हैं। और अप्रतिम प्रीति के ये दो निर्झर प्रियतम श्यामसुन्दर और प्यारी मंजुलीला सारे वनक्षेत्र को अपने प्रेमरस से सराबोर कर दे रहे हैं।

प्रियतम सरक कर शनै: शनै: मंजुलीला की पीठ के पास ही आ गये। मंजुलीला के मस्तक पर प्रियतम के बरसते नेत्रों की अश्रुधारा अभिषेक करने लगी। यह अश्रुधारा उसकी उन्मुक्त केशराशि का सिंचन करती उसके कंचन गात्र और रक्ताभ कपोलों पर भी बहने लगी फिर भी मंजुलीला यही जान रही है कि लताओं में संचित ओसबिन्दु रवि-किरणों के प्रसार से चू रही हैं, और वे ही उसके मस्तक को भिगो रही हैं।

वह माला गूँथती ही जा रही है। सुमन जैसे ही समाप्त होते हैं, सुमन लतिका पुन: पुष्पवर्षा कर देती है और माला गुँथती हुई दीर्घ, सुदीर्घ होती चली जा रही है। उसके नेत्रों के सम्मुख है उसके प्राण प्रियातम की मानस छवि। स्निग्ध नयनों की मधुमयी अविरल धारा से वह अपने प्रियतम को पाद्य समर्पित कर रही है। उनके पाद पद्मों में वह अपने प्रेमाश्रुओं से ही उर्घ्य, आचमन स्नान, सभी करा रही है। यह पावनतम प्रीति जलधारा ही तो उसका

एक मात्र धन है। इन अश्रुकणों की मुक्ताओं के मोल पर ही तो वह रानी के आश्रय को प्राप्त कर सकी है। उसके पास इनके सिवा अन्य कुछ भी नहीं है। अपने प्रिय की प्रगाढ़ स्मृति में वह सर्वथा भूल गयी है अपने आपको। पूर्व संकल्पानुसार यंत्रवत् हाथ स्वतः माला पिरोते जा रहे हैं। उसे काल मान का तो ज्ञान ही नहीं है।

वह सूर्योदय से पूर्व ही रानी के आदेश से पुष्प चयन करने आयी थी और अब तो दुपहरी भी व्यतीत हो गयी है। रानी नन्दभवन से पाक-रचना कर लौट भी आयी हैं। उन्हें उसकी स्मृति ने विह्वल कर दिया है। अब तो ललितादि सखियाँ सूर्य पूजन के लिये प्रस्थान को उत्सुक हैं। निरे प्रभात गयी मंजुलीला का कुछ पता नहीं। कहाँ अदृश्य हो गयी वह। रानी सखियाँ सहित उसे ढूँढ़ने वन में चली आयी हैं। और पक्षियों ने राह दिखायी है उस मणिमय प्रांगण की।

अहा क्या ही प्यारी छवि रानी के सम्मुख है। वृक्ष पर बैठी सारिका जोर से चीख-चीख कर कह रही है --"बताओ तो सही, नील सुन्दर जैसा सच्चा स्नेह देने वाला भला कोई दूसरा है क्या ? ऐसी प्रीति क्या अन्यत्र संभव है ? देखो ! देखो !! मंजुलीला की रुचि का आदर करते हुए प्रियतम ने अपने को गुँथी माला से कैसा लपेट लिया है? ऐसा अन्य कौन है, जो किसी के प्रीति भरे मन की इस प्रकार साध पूरी करे ? इन्होंने अपने इन्द्रनीलद्युति सम्पूर्ण अंगसंस्थान, अपना सम्पूर्ण गात्र, अपना मयूरपिच्छ-गुम्फित-मुकुट, अपनी कुन्तलराशि, अपनी ग्रीवा, अपना विशाल स्कंधदेश, अपनी भुजायें, अपना वदन सरोज, अपने कर्ण-कुण्डल, अपना कटिदेश, सुन्दर उदर, नितम्ब और जंघाएँ और चरण सरोज सभी तो मंजुलीला द्वारा गुँथी माला से लपेट लिये हैं फिर भी मंजुलीला को अपनी वनमाला गुंथनलीला से विराम कहाँ ?"

अपने को आपाद मस्तक सुरभित माला में लपेटे नीलमयंक देव मंजुलीला को अपने अश्रुओं से नहला रहे हैं परन्तु उसे बाह्यज्ञान ही कहाँ ? यंत्र चालित से उसके हाथ माला गूँथने का कार्य यथावत् पूर्व अभ्यानुसार करते जा रहे हैं।

रानी कुछ क्षण चमत्कृत सी अपने प्रियतम की छवि देखती हैं और तब मंजुलीला को बाह्य आवेश कराने की चेष्टा करती हैं। रानी के साथ आयीं ललिता, रूप मंजरी, एवं मंजुश्यामा आदि इस प्रीति छवि पर विमुग्ध हो रही हैं।

रानी उसे सम्बोधित कर कहती है -- "मंजूरी, तू तो निरे प्रभात निशान्त में ही पुष्प चयन करने गयी थी, क्या तेरी वनमाला ही अब तक नहीं गुँथी ? देख री, सूर्य पश्चिम की ओर मुख कर चुके, उठ, न ?

मंजुलीला को अब बाह्यज्ञान होता है। वह प्रिया के कण्ठ से लग जाती है ? और मालाओं में गुँथे इन नील मयंकदेव को अपने पास ही खड़ा देख अति लज्जा से भर जाती है। वह मन ही मन जिज्ञासा करती है कि यह सब क्या खेल हो गया है ?

और सारिका चीख उठती है --

एषांतु भाग्य महिमाऽच्युत तावदास्तामेकादशैवहि वयं बत भूरिभागा:
एतद् हृषीकचषकैरसकृत् पिबाम: शर्वादयोऽघ्र्युदजमध्वमृतासवं ते।

हे अच्युत ! इन व्रजवासियों की सौभाग्य की महिमा तो अलग रही, इनके मन आदि ग्यारह इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देवताओं के रूप में रहने वाले महादेवादि हम लोग भी बड़े ही भाग्यवान् हैं क्योंकि इनकी मन आदि ग्यारह इन्द्रियों को प्याला बनाकर हम आपके चरण कमलों का अमृत से अधिक मीठा, मदिरा से भी मादक, मधुर मकरन्द पान करते रहते हैं। जब उसका एक-एक इन्द्रिय से पान कर हम लोग धन्य हो रहे हैं तो अपनी समस्त इन्द्रियों से उसका सेवन करने वाले इन व्रजवासियों की तो बात ही क्या है ?

मंजुलीला भाव

अष्टयाम लीला

ऐसे काल बिताओ, निसदिन।
भोर साँझ लौं, साँझ भोर लौं लाड़ लड़ाओ दोऊ जन।
छिन विच्छेप न होइ टहल में, कीजै यह अदभुत पन।
सब रस को रस सार विहार, सो चीन्हौं हम रसिक जन।
विविध भाँति के और भजन जे, लौन बिना ज्यों व्यंजन।
श्री राधा-पद-कमल-कृपा-बिनु को पावै रस को कन।
श्री वृन्दावन-वास रासि-रस, समय प्रबंध परम धन।
अलबेली श्रीबंसीअलि बलि यह मानो मेरे मन।

श्री अलबेली बंसीअलिजी निवेदन करते हैं :-- हे मेरे मन, तू यह मेरी बात मान ले। इस प्रकार दिन-रात का तू(काल) समय व्यतीत कर। साँझ से लेकर भोर तक और भोर से लेकर साँझ तक तू प्रिया-प्रियतम दोनों जनों का लाड़ लड़ाया कर। इन दोनों की सेवा में तेरा क्षण भर भी विक्षेप नहीं हो। यह अनोख व्रत तू ग्रहण कर। सारे रसों का सार विहार रस है, यह रसिक जनों ने पहचान की है। दूसरे अनेक प्रकार के जो भजन हैं, वे तो नमक बिना जैसे व्यंजन होय, वैसे बेस्वाद हैं। श्री राधारानी के चरणों की कृपा के बिना रस का कण किसी को नहीं मिल पाता। श्रीवृन्दावनधाम का वास ही रस की ढ़ेरी है और समय को विहार-सेवा में नियुक्त करना ही परम धन है।

आओ ! अब श्री मंजुलीला भाव में पू० गुरुदेव श्रीराधाबाबा की निशा एवं दिवा अष्टयाम सेवा क्या रहती थी, इस प्रकरण पर प्रकाश ड़ालें। यह अष्टयाम लीला पू० गुरुदेव ने मुझे सन् १९५१ में संकेतित की थी, जिसे मैने लिपिबद्ध करके १९५६ ई. में पू० गुरुदेव को पुस्तकाकार रूप में पढ़ने एवं स्वीकृति के लिये समर्पित की थी। काष्ठ-मौन लेते समय पू० गुरुदेव ने मात्र बारह व्यक्तियों को इसे देने का आदेश दिया था। इन बारह व्यक्तियों को मैं अपनी हस्तलिपि में लिखकर दूँ, ऐसा उनका मन्तव्य था। बारह व्यक्ति निम्न थे -- १. सावित्री बाई (पू०पोद्दार महाराज की पुत्री) २. श्रीमति राधाबाई (पू० पोद्दार महाराज की दौहित्री) ३. राधेश्याम पालड़ीवाल ४. कुंजबिहारी पालड़ीवाल ५. श्री विष्णुहरि डालमिया ६. श्रीमती ललिता डालमिया ७. श्रीमती रमादेवी सरावगी ८. श्री गजाननजी सरावगी ९. श्रीमती इन्दु सरावगी १०. श्री मोतीजी पारीक ११. श्री चिम्ननलालजी गोस्वामी १२. श्री रामस्नेहीजी।

पू० गुरुदेव के काष्ठ मौन के पश्चात मैं आर्थिक दुरवस्थावश इतना समय ही नहीं प्राप्त कर सका कि सबको वितरण करने इतनी प्रतियों में यह ग्रन्थ लिख सकूँ। इसकी एक मौखिक टेप करके श्री इन्दु सरावगी को अवश्य दे पाया था। उसके पास वह सुरक्षित है या नष्ट हो गयी पता नहीं। पश्चात् गुरुदेव ने इस अष्टयाम लीला में अपनी श्रीशिवभगवानजी फोगला को लिखी लीलायें भी सम्मिलित कर देने का सुझाव दिया था। श्रीशिवभगवानजी पोद्दार वाली लीलाएँ तो केलिकुंज के नाम से प्रकाशित हो चुकी हैं।

श्री वृन्दावन वर्णन

प्रफुल्लित वन विविध रंग झलकत यमुना तरंग
सौरभ घन आमोदित अति सुहावनो ...
चिन्तामणि कनक भूमि छबि अदभुत लता झूमि
शीतल मंद अति सुगन्ध मलय आवनो
सारस हंस शुक चकोर नृत्यत चित्रित सुमोर
कल कपोत कोकिल कल मधुर गावनो
युगल-रसिक-वर-विहार परमानँद छबि अपार
जयति चारु वृन्दावन परम भावनो....

उज्ज्वल आनन्द से परिपूर्ण, विविध दिव्य सुगंधित समीर सेवित, श्री राधाकृष्ण युगल किशोर के रस विलास से सदा संतत उल्लसित, अपरिसीम सौरभ से चंचल चंचरीकों की झंकार से निनादित, महा प्रेम-रस-तरंगों से हिल्लोलित यह वृन्दावन है। नये-नये पत्र पुष्पों से सुशोभित विटप समूहों में यहाँ नित नूतन सौन्दर्य स्फुटित है, प्रत्येक फल, पुष्पादि में यहाँ अपूर्व मकरन्द संचित है। विलक्षण सौरभ से दसों दिशायें आमोदित हैं। सर्वत्र अशोक, मौलश्री, चम्पा, माधवी, आदि लताएँ पुष्पित हो रही हैं। स्थान-स्थान पर कलिन्द नन्दिनी की मनोहर उर्मियाँ स्थल को सिक्त कर रहीं हैं। रसमय सरोवरों में अतिशय शोभा भरे स्वर्णकमल-प्रस्फुटित कमलों के दल वायु प्रवाह से चंचल हो रहे हैं।

पुष्प गुच्छों से आच्छादित सुसज्जित मनोहर कुंज श्रेणियाँ है। सरोवरों पर, हृदों पर, असंख्य वराट, वराटी, हंस, हंसिनियाँ केलिरत हैं। वृक्षों पर लिपटी लता श्रेणियों में विराजित असंख्य विहंगम प्रिया-प्रियतम की निशा-विहार की भावना से भावित हुए उनकी एकान्त मिलन की छवि को नेत्रों में भरे ध्यानावस्थित हैं। आनन्द-रस-सिन्धु की तरंगों में निमग्न पशु-पक्षी, लता-तरु, कीट-पतंग सभी एक अभिनव रसमयी प्रतीक्षा की मुद्रा में स्थित हैं। सुपुष्पित, फलित लता वल्लरियों से परिवेष्टित तरुश्रेणियों की निराली ही शोभा हैं। विविध मणियों से जटित उद्‌भासित भूमि तल है। उसमें समीर ने पुष्प परागों का आस्तरण आस्तृत कर रखा है।

निद्राभाव

प्रिया प्रियतम निभृत निकुञ्ज में शयन कर रहें हैं। दोनों ही निद्राभाव समुद्र में तल्लीन हैं। निद्रा महाभाव का अर्थ ही है समस्त व्रज वृन्दावन रूप दृष्य सिमट कर समाहित हो जाय नील-पीत द्युति महाभाव रूप चिन्मय रस सिन्धु में। अनिर्वचनीय और अचिन्त्य का निर्वचन तो हो ही नहीं सकता। गिरा बस इतना ही संकेत दे सकती है कि पता नहीं महासिन्धु नील है कि पीत। एक क्षण वह नील प्रतीत होता है परन्तु दूसरे ही क्षण वह आत्मसात् हो जाता है एक असीम उत्ताल पीत लहर से। वह लहर समग्र को पीत महासिन्धु में परिणत कर देती है। परन्तु दूसरे ही क्षण फिर नील लहर

उच्छलित होती है और समग्र पीतता को अपने में विलीन कर लेती है। अब लगता है यह महाभाव सच्चिन्मय सिन्धु नील ही नील है। परन्तु क्योंकि वहाँ प्राकृत काल मान है ही नहीं, अतः उसे दूसरे क्षण भी नहीं कहा जा सकता, फिर अनन्त असीम पीत लहर उत्थित होती है और यह कथन भी नहीं बनता, क्योंकि नील लहर आ ही जाती। अब उसे कैसे नील कहें और कैसे पीत कहें।

यह सभी महाभाव लहरें पूर्ण संविन्मयी हैं अतः महाभाव कलेवर रानी क्षण में ही रसराज प्रियतम श्यामसुन्दर हो जाती हैं। और श्यामसुन्दर दूसरे ही क्षण राधा हो जाते हैं। अतः यह विलक्षण निद्राभाव पल-पल निमेष-निमेष रानी को प्रियतम के रूप में और प्रियतम को रानी के रूप में समग्रतः परिवर्तित करता रहता है।

और इस समय इस निद्रा महाभाव रससमुद्र का ऐसा उद्दाम उफान होता है कि इसकी लहरें समग्र गिरि श्रृंगों को, गिरि को, सम्पूर्ण तरुश्रेणियों को, समग्र वज्रप्रदेश को, प्रदेश के चर-अचर प्राणियों को अपने में लीन कर अस्तित्वहीन कर देती है। शुक, कपोत कोकिल, मयूर, जलचर एवं स्थलचर सभी डूब जाते हैं। कहाँ गयी ललिता, विशाखा, चित्रा, इन्दुलेखा सब सखियाँ, सभी मंजरियाँ-परिचारिकाएँ, सब अस्तित्वहीन, सत्ताहीन, हो गयीं हैं। इस महानिद्राभाव रस का सागर ऐसा उमड़ा है कि इसने काल को, दिशाओं को, सर्व देश को, लीलास्थलियों, लीला-परिस्थितियों को, सब को आत्मासात् कर लिया है। मात्र दो उच्छलित तरंगें शेष हैं, एक तरंग नीली रस सिन्धु है और दूसरी विशाल असीम भावतरंग पीली है। इन तरंगों का कोई तल है ही नहीं। ये नित्य अतल हैं। जब इनमें महाज्वार आता है बस उत्तुंग तरंगों के ही रूप में यह लीलायमान रहता है। यह उत्तुंग सच्चिन्मयी नीली लहर ही साँवर प्रियतम है और पीतद्युति सच्चिन्मयी भाव तरंग ही राधा, प्रिया, रानी हैं।

ये सच्चिन्मयी लहरें उत्तुंग उछाल लेती हैं और तब एक लहर दूसरी लहर को अपने में परिणत कर लेती है। नीली लहर पीत लहर में परिणत हो जाती है और पीत लहर नीली तरंग बन जाती है। रानी साँवर में परिणत हो जाती है और साँवर रानी हो जाते हैं। अब कौन रानी और कहाँ साँवर - इदमित्थं व्यक्तित्व तो है ही नहीं। पृथक् अहंकार हैं ही कहाँ ? अब जब अघटन-घटना-पटीयसी लीला-महाशक्ति महाभाव रससिन्धु में ज्वार को थाम देती हैं, तभी भाटा आता है। तब ये संविन्मयी महाभाव तरंगें ही उपल बन

जाती हैं, बस तरुजाल व्यक्त हो जाते हैं, ये उर्मियाँ ही वन के रूप में परिणत हो जाती हैं।

अरे भाई ! तुम्हारे नयनों में व्रजेन्द्रनन्दन एवं उसकी प्रिया की चरण रज का अंजन लगाकर जरा गौर करके देखो ! तुम्हें किसी में भी, न ललिता में, न विशाखा में, न चित्रा में, न चम्पकलता में, न इन्दुलेखा में, न तुंगविद्या में, न ही किसी मंजरी में, दासी में, न पक्षियों में, न वनचरों में, न नन्दभवन में, वृषभानुपुर में, न ही सखाओं में, महलों में कहीं भी इस विशुद्ध संविन्मयी रस सुधा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं मिलेगा। कहीं कुछ भी अन्य वस्तु जब है ही नहीं तो मात्र रस ही रस, भाव ही भाव तो व्यक्त हुआ मिलेगा।

निभृत निकुञ्ज में प्रिया-प्रियतम की शोभा

यह स्वत: सिद्ध है कि इन सबके व्यक्त होने का अर्थ ही है कि प्रिया प्रियतम में निद्रा महाभाव अब प्रशमित हो रहा है। लौकिक अर्थ में प्रिया प्रियतम अब जग गये हैं। लो, वृन्दादेवी प्रकट हो गयीं और शुक, सारिका, मयूर, कोकिला, चातकादि पक्षियों का कलरव चतुर्दिक् प्रारंभ हो जाता है।

कक्खटी वानरी वल्लरी पर आसीन सारिका को अस्फुट संकेत देती है और सारिका लवंग शाखा को सुशोभित कर रहे शुक की समाधि भंग करती हुई उसे जाग्रत करती है --"भाई, सावधान होओ, यह पूर्वी पवन जो सौरभ वहन करता प्रवाहित हो रहा है यह सरोरुहों के अर्ध-विकास से प्रसरित हो रहा है -- निशावसान समीप है।"

और शुक संबोधित कर रहा है मधुकण्ठ कोकिल को, सुग्रीव कपोत को, प्रशान्त मयूर को -- 'भाई ! यह समाधि भाव त्यागो, स्फूर्ति विस्तार करो, देखो ! भ्रमरों का दल कमल वन की ओर धावन करता गुंजार कर रहा है। अरे भाई ! प्रिया प्रियतम की निकुंज अवबोध लीला में सहायक हो जाओ। और भ्रमरों ने प्रभातकालीन मंगल गान करते हुए ताम्रचूड़ को जाग्रत कर दिया।

और ताम्रचूड़ ने अपनी कर्कश आवाज को अति मधुर बनाते हुए बाँग लगायी। वृद्ध विचक्षण शुक निकुंज के बहिर्देश से आकर सभी को संबोधित करता है --"अहो कोकिलों, सुनो । कन्दर्प ने तुम्हें जो अपना वीणायंत्र प्रदान किया है, वह किस अवसर के लिये। उसे बजाओ। परन्तु सावधान

पंचम स्वर में अभी नहीं। पहले मन्द-मन्द स्वर में प्रभाती प्रारंभ करो। युगल दंपति प्रिया-प्रियतम के नील-पीत-द्युति श्रीअंगों में अभी-अभी मुझे एक मनोहर स्पन्दन का दर्शन हुआ है। और अहा ! मेरे प्राणों में उद्वेलन हो उठा और मैं वहाँ से दौड़ता हुआ सभी को सूचना देने के उद्देश्य से आ रहा हूँ। अरे मधुकरों ! पदमों से पराग संचित कर लो। प्रिया प्रियतम के निकुंज से बाहर धरा पर पैर रखते ही प्रथम तुम्हें ही उनके चरणों में भेंट अर्पित करनी है।

अब विचक्षण शुक कपोतों को संबोधित कर रहा है -- भाई ! झींगुरों ने अपनी झन-झन ताल का विराम कर दिया है, अब तुम अपना 'घुत्''घुत्' मृदंग वादन प्रारंभ कर दो। आज मदन स्वयं प्रिया प्रियतम के जागते ही उन्हें अपना नर्तन दिखाना चाह रहा है।

लो, पक्षियों के संकेत को समीर ने सर्वत्र प्रसारित कर दिया। सरिता, सरोवर, प्रपात, हृद्, गिरि सभी ने यह रसभरा संवाद श्रवण कर लिया। श्वेत कमल, रक्त पद्म एवं नीलोत्पल सभी अभिनव आनन्द में झूमने लगे।

समीर पुष्पों का किंजल्क अपने दूकूल में भर कर समग्र वन की परिक्रमा करता हुआ गवाक्ष-रंध्रों की ओट से निकुंज में झाँकने लगता है। उसकी दृष्टि वहाँ स्थिर हो जाती है, जहाँ गाढालिंगन-जनित सुख में डूबे हुए प्रिया-प्रियतम पद्म पर्यंक में शयित हैं। समीर की इस चेष्टा को राधा किशोरी की प्रिय सारिका सूक्ष्मधी जो उनके निकुंज में ही स्वर्ण दंड़ी पर विराजित है देख लेती है। बूढ़ा विचक्षण शुक तो कुंज के बहिर्देश में चुपचाप अर्ध-निमीलित नेत्र प्रिया-प्रियतम के ध्यान में रत है, किंचित मुसका कर नेत्रों से अत्यन्त रसमय कटाक्ष करता हुआ समीर की भर्त्सना कर उठता है --**"रस तस्कर ! छबि चोर ! कि पश्यसि संधि छिद्रेण।** परन्तु यथार्थतः वह भर्त्सना के मिस से समीर की क्रिया का अनुमोदन ही कर रहा है माधवी लता मुसका उठती हैं एवं समीर को तनिक रोककर उस दर्शन की शब्द-झाँकी की ही करा देने की मूक प्रार्थना करती है। मल्लिका भी पार्श्व में ही सरक आती है, मानो जो कुछ समीर माधवी को कहेगा-- उसका किञ्चित् आस्वादन उसे भी प्राप्त हो जायगा। पाटल समीर का सखा जो ठहरा, पहले ही सब वार्ता सुनकर झूम उठता है। स्वर्णयूथी जो अब तक ध्यानरत थी सजग हुई नयन उन्मीलित कर लेती है।

सौन्दर्य के अधिदेव ने वसन्तश्री के मुख से अंचल अपने हाथों उठा दिया। दोनों वृन्दावन पर विजयाभियान करने चल पड़े।

वृन्दावन के सभी लता-द्रुम अरुण, नील, पीत, एवं श्वेत कुसुमों के विकास से सज्जित हो उठे। सम्पूर्ण कानन ने अपने को प्रिया-प्रियतम के स्वागतार्थ विचित्र परिधान से भूषित कर लिया। जैसे वक्षस्थल पर नीलम का हार शोभा दे रहा हो, इस प्रकार यमुना लहर उठी। पूर्व की अरुणाई से अप्रतिम सुन्दर गिरि की रत्न राशि जगमगा उठी। मानो वृन्दावन के मस्तक पर विराजित रत्नमुकुट झलमला उठा हो। गिरिराज परिसर में स्थित सघन तरुश्रेणी - देवदारु, कदम्ब, शाल, प्रियाल, कोविदारु, अश्वत्थ, निम्ब, तिंतड़ी, शाल्मली, इमली, सभी झूम उठे - मानों वृन्दावन देव की कुंचित कृष्ण कुन्तलराशि समीर से प्रिया प्रियतम के जागरण एवं वनागमन का शुभ संवाद सुनकर आह्लाद से झूम उठी हो। मणिमय पर्वतों से निर्गलित मणिद्रव के समान स्वच्छ छल-छल, कल-कल, करते हुए निर्झर मानों वृन्दावन महाराज के आभूषणों की झंकार हो, ऐसे प्रतीत हो रहे थे।

राधाकुण्ड, कृष्णकुण्ड, नामक दो अपरिसीम सरोवर मानो वृन्दावन महाराज के तेजोमय ललाट में केसर, कुंकुम एवं चन्दन के दोहरे तिलक झलमला रहे हों। कुण्डों के चतुर्दिक् अवस्थित असंख्य कुंजगृह, उपकुंजों की अगणित श्रेणियाँ जैसे कपोलों पर सुन्दर अभिनव चित्रों का निर्माण किया हो। नीलगगन में उड़ती असंख्य हंसों की पंक्तियाँ मानो देववृन्द वृन्दावन महाराज के मस्तक पर नन्दन कानन के पुष्पों की वर्षा कर रहे हों।

मदन के अधरों पर स्मिति के समान रम्य वृन्दावन अपनी अपरिसीम सुषमा से प्रिया-प्रियतम के वनागमन पर सेवा में संलग्न होने को परमानन्दित हुआ, जागरुक हो गया।

नीलोत्पलों की सुन्दर शय्या में प्रिया-प्रियतम आलिंगन बद्ध प्रेम समाधि में लीन हैं। नवीन अम्बुद राशि को एकत्र कर , अभिनव कौशल से एक अपरिसीम पीयूषवर्षी अप्रतिम चन्द्र का निर्माण किया गया हो, तथा उसकी ज्योत्स्ना सर्वत्र प्रसरित हो रही हो। इस प्रकार नीलसुन्दर प्रियतम के श्री अंगों से शोभा का निर्झर झर रहा है। निर्मल स्वर्ण शिला पर जैसे काश्मीर विलेपित हो और जिसके अन्तराल से कोटि-कोटि राका चन्द्रों की सुस्निग्ध ज्योत्स्ना झर रही हो, जिसकी स्वच्छता और पवित्रता सुरधुनी की शत-सहस्त्र धारा को हेय बना दे रही हो ; वैसी आभा श्रीराधाकिशोरी के अंग-प्रत्यंगों से झलमल कर रही है।

सौन्दर्य सिन्धु में दो कुमुद परस्पर गुँथे निमीलित हों, इस प्रकार किशोरी के नयनों की शोभा है। और शारदीय शशधर के दर्शन करने के कारण पंकज ने अपने नयन मूँद रखे हों - प्रियतम श्रीकृष्णचन्द्र के नयनों की विलक्षण शोभा है। श्रीराधाकिशोरी की चूर्ण कृष्ण कुन्तल राशि उनके बाम स्कन्ध को आच्छादित करती हुई प्रियतम श्रीकृष्ण के श्रीअंगों का संस्पर्श कर रही है और प्रियतम के अलकों की कुछ लटें प्रिया के बाम कपोल पर विश्राम कर रही हैं। श्रीराधाकिशोरी के अधर प्रियतम के अधरों से संलग्न हैं।

उरझ्यौ नीलाम्बर पीताम्बर महियाँ।
कुण्डल सौं लरलट बेसर सों पीत पट,
हार ही में वनमाल, बहियन में बहियाँ।
हंस गति अति छबि, अंग-अंग रही फबि,
उपमाऽवलोकिये कों पटतर नहियाँ।
काम के कलोल छूटें सेजहू को सुख लूटें,
सूर प्रभु विलसत कदंब की छहियाँ।

निकुंज की सजावट अत्यंत मनोहर है। नील-मणियों का मन्द-मन्द नीला प्रकाश सर्वत्र प्रसरित हो रहा है। गवाक्षिकाओं पर पीले मखमल के परदे लगे हैं जो यमुना पुलिन पर प्रवाहित मंद समीर के झौंकों से शनैः शनैः हिल रहे हैं, कम्पित हो रहे हैं। समस्त निकुंज प्रिया-प्रियतम की उन्मुक्त अंग-गंध की सौरभ से पूर्ण आमोदित है। निकुंज के पूर्व एवं दक्षिण के कोने में एक सुन्दर मणिजटित स्वर्ण पीठिका है, जिस पर जल की भरी हुई दो सुन्दर झारियाँ रखी हैं। कुछ पान-पात्र पार्श्व में रखे हैं। उस चौकी के पार्श्व में एक और रत्नजटित स्वर्णपीठीका है जिस पर चौड़े मुख के स्वर्ण निर्मित प्रक्षालन पात्र रखे हैं।

निकुंज के पश्चिम एवं दक्षिण के कोने में एक और सुन्दर रत्नमयी पीठिका है जिस में भिन्न-भिन्न प्रकार के श्रृंगार की उपयोगी सामग्री सजी रखी हैं। इस सामग्री को रखने वाले पात्र भी अति कलात्मक कृतियाँ हैं। उसी के समानांतर एक और पीठ रखी है जिसमें अति सुन्दर वृहद् रत्न मंजूषा रखी है, एवं जिसके ऊपरी कपाट ऊर्ध्व खुले हैं, जिससे दर्पण पर प्रिया प्रियतम की शयित छबि प्रतिबिंबित हो रही है।

निकुंज की समस्त दीवार स्वर्ण निर्मित है परन्तु यह स्वर्ण इतना सकुमोल स्पर्शयुक्त है मानो किसलय दल हो और इस पदार्थ में रत्नों से ऐसी सुन्दर प्रिया प्रियतम के निशाकालीन विहारलीला की चित्राकृतियाँ विजड़ित हैं जिन्हें देखने से ठीक प्रतीत होता है मानो चित्र नहीं जीवन्त लीलापात्र हैं।

शुक सारिका संवाद

निकुंज के पूर्व दिशा के कोने में प्रिया की अत्यधिक प्रिय सूक्ष्मधी नामक गृह-सारिका एक स्वर्ण-दंडी पर जो छत से लगी रेशमी स्वर्णतारों से ग्रथित रस्सी पर झूल रही है, अवस्थित है।

यह रानी की सूक्ष्मधी नामक गृह सारिका जिसे निभृत निकुञ्जान्तर्गत घटित होने वाली प्रिया प्रियतम की सम्पूर्ण निशा विहार लीला की साक्षी द्रष्टा रहने का सौभाग्य प्राप्त है एवं जो निष्पन्द-नेत्र निशापर्यन्त महाभाव की परमोच्च आह्लाद उर्मियों में तरंगायित होती रही है -- सहसा अपने उन्मीलित नेत्र विकसित कर देती है। वह देखती है प्रभातागमनजनित अरुणाई पूर्व दिशा में फैल रही है।

सारिका - "अरे कोई है ? इस हृदयहीन दुर्बुद्धि मलय-मारुत को अनुशासित करो। इसकी निर्लज्जता तो देखो ! मेरे प्रिया-प्रियतम के सुख में बाधा डालने आ गया है। देखो तो सही, बिना अनुमति लिये ही गवाक्ष रंध्रों के पथ से अन्तर्देश में प्रविष्ट हो गया।"

सारी की उक्ति का विराम होते न होते वृन्दादेवी बहुत धीरे-धीरे हाथ में एक स्वर्ण पिजंर लिये हुए निकुंज द्वार के पास आकर खड़ी हो जाती हैं और गवाक्षिका के छिद्र से भीतर दृष्टि डालती हुइ सारिका को मन ही मन प्रणाम कर अपने हाथ के पिंजरे का द्वार खोल देती हैं। पिंजरे में से विचक्षण शुक एवं शुभा सारिका उड़कर कक्ष के भीतर चले आते हैं। वे भी उसी स्वर्ण दंडी में चुपचाप अवस्थित हो जाते हैं जिस पर गृह सारिका पूर्वत: आसीन थी। वे उस गृह सारिका की परिक्रमा करते हैं, और तब प्रिया प्रियतम की ओर देखने लग जाते हैं। प्रिया-प्रियतम की रूपसुधा-पान कर दोनों तृप्त हो जाते हैं। उन्हें भावमुग्ध देखकर सूक्ष्मधी गृह-सारी बोल उठती है --

"आओ ! बहिन शुभे आओ ! तुम्हारा स्वागत है। मेरे जीवनसर्वस्व वल्लभ प्रियतम एवं वल्लभी प्रिया की अनुपम रूपसुधा का पान कर नयनों को

कृतार्थ करो। अहा ! किञ्चित् दृष्टि डालकर देखो तो सही। इन दोनों की रूपसुधा का मैं सम्पूर्ण निशा निर्निमेष नयनों से पान करती रहती हूँ, परन्तु मेरे नयन तृप्त नहीं होते। बहिन ! इस असीम रूप सागर की एक बूँद भी तो मेरी दो आँखों में नहीं समा पाती। फिर तृप्ति हो भी तो कैसे ?

अहो विचक्षण शुक ! रस विलास से श्रान्त निद्रा-सुख अनुभव करते प्रियतम कैसे भले लग रहे हैं ! नीलोत्पलों की शय्या पर अवस्थित प्रिया-प्रियतम के परस्पर ग्रथित पाद पद्मों को तो देखो ! नखों की ज्योति का तो दर्शन करो ! अहा ! नीलसरोवर में चार अभिनव सरोज प्रस्फुटित हो रहे हों और पाँच-पाँच चन्द्रमाओं की चार पंक्तियाँ उन पद्मस्थलों के अन्तराल से उद्भासित हो रही हों, अहा ! कदली स्तंभ की शोभा अपहरण करने वाली अप्रतिम शोभा राशि परस्पर संनद्ध जंघाओं पर से तो दृष्टि हटती ही नहीं।

अरे शुक ! सम्पूर्ण विश्व को विलक्षण संविन्मय सौरभ का दान करने वाले इन नासा पुटों से प्रवाहित श्वास-प्रश्वासों की ओर तो देखो ! मानो अप्रतिम सौरभशाली दो पूर्ण विकसित पद्म हों और उनके दलों को स्पर्श करता हुआ मन्द समीर प्रवाहित हो रहा हो। अरे शुक ! तुम्हारी घ्राणेन्द्रियाँ तुम्हारे मन और अहंकार सहित इनमें ही विलीन हो जायेंगी।

"अरी बहिन सारिके ! प्रिया-प्रियतम की कुंतल राशि की शोभा तो निहार। मानो मधुपान से मत्त भ्रमरावलि दो पद्मों पर विश्राम कर रही हो।

सारिका रूप-सुषमा का वर्णन करती भावाविष्ट हो जयगान करने लगती है --

अहो ! कांचन-देहिनी शुद्ध स्वर्ण-विडम्बिनी श्रीराधा की जय हो !
ताटंक-धारिणी नील-दुकूलिनी किशोरी की जय हो !
नव रसिक किशोर-मुख-चन्द्र-चकोरी गोरी की जय हो !
विश्व-विमोहन-मनोहारिणी श्यामा महारानी की जय हो !
चूड़ामणि-राजित सुकुञ्चित केशी वृन्दावनेश्वरी की जय हो !
कृष्णाधर-सुधारस-ह्रदिनी वृषभानुनन्दिनी की जय हो !

सारिका के कण्ठ से कण्ठ मिलाकर शुक भी जयजयकार कर उठता है तत्पश्चात वृन्दादेवी द्वारा आनीता नवागन्तुका शुभा सारिका कहती है -- "बहिन सूक्ष्मधी, तुम्हारे सौभाग्य की सीमा नहीं है। अहा ! सचमुच ही इन

दोनों मुखचन्द्रों पर नयन लगते ही उनमें वे नयन विजड़ित हो जाते हैं। फिर हटना चाहते ही नहीं। बहिन !

मैं अभी बाहर से उड़कर आयी हूँ। मैने देखा ! पश्चिम गगन में चन्द्र अति त्वरापूर्वक अस्ताचल की ओर बढ़ते जा रहे हैं। ऐसा अनुमान होता है कि इन वल्लभ-वल्लभी के मुखचन्द्र की झलक चन्द्रदेव को गवाक्ष रन्ध्रों से मिल ही गयी होगी, तभी न अतिशय लज्जा से वह तेजहीन हो रहे हैं और अस्ताचल में मुख छिपाने की शीघ्रता कर रहे हैं।

फिर शुभा सारिका उन्मत्त सी हुई जयजयकार कर उठती है ।

अहो ! इन्द्रनील-मणि मंजुल वर्ण की जय हो !!
फुल्लनीप-कुसुमांचित कर्ण की जय हो !!
राधिका वदन-चन्द्र-चकोर की जय हो !!!
सर्व बल्लव-वधू-धृति चोर की जय हो !!!!
केंकी-चन्द्र-विराजित-चूड़ की जय हो !!!!!
राधिकोन्नत पयोधर-धारी की जय हो !!!!!!
गौर धातु-तिलकोज्ज्वल भाल की जय हो !
केलि-चंचलित-चंपकमाल की जय हो !
चर्चित-सुरभि-पटीर की जय हो !
स्वर्ण-कान्ति-परिशोभि-कुटीर की जय हो !
प्रेममत्त वृषभानुकुमारी-नागर की जय हो !

शुक सारिका का जयगान सुनकर प्रियतम के नेत्र एक बार विकसित हो जाते हैं 'परन्तु निद्रा एवं आलस्य वश वे पुन: नेत्र मूँद लेते हैं।

शुभा सारिका पुन: बोल उठती है --

"हे मेरे प्यारे सखा शुक ! मेरे प्राणवल्लभ के मुखराविन्द की ओर तो देख ! इनके अलस भरे नयनों की ओर तो देख ! बिखरी अलकावलि की ओर देख ! ताम्बूल रंजित अधरों की ओर देख !"

विचक्षण शुक भी पुन: जय गान करता नाचने लगता है।

नव जलधर-वर्ण की जय हो।
चंपकोभ्दासि-कर्ण की जय हो।
विकसित-नलिनास्य की जय हो।

विस्फुरन्मन्द-हास्य की जय हो।
कनक-रुचि-दुकूल की जय हो।
चारु बर्हावचूड़ की जय हो।
मुख-जित-शरदिन्दु की जय हो।
केलि लावण्य-सिन्धु की जय हो।
कर विनिहित कन्दु की जय हो।
वल्लवी-प्राण-बन्धु की जय हो।

विचक्षण शुक - "हे सारिके ! मैं तुझसे निशावृतान्त सुनने को अधीर हो रहा हूँ। मेरे प्यारे श्यामसुन्दर और प्रिया रात्रि में सुख पूर्वक सो पाये हैं ? इस वन में अनगिनत चकवाक युगल हैं। उनके आनन्द कलरव से प्रिया प्रियतम की निद्रा में कहीं अवरोध तो नहीं आया ? मैं देखकर आया हूँ। अभी भी यमुना पुलिन में चकवा और चकवी शोर मचा रहे हैं। पूर्वाभिमुख किये ये प्रिया प्रियतम की गुणावली भी गाते जा रहे थे और अस्त होते हुए चन्द्रमा से कह रहे थे :-- चकवी कहती थी --"चन्द्रदेव ! जाओ, सुख पूर्वक जाओ, पुन: आना ! मैं तुझे अब गाली नहीं दूँगी। इस वन में मेरी प्यारी रानी और प्रियतम नीलमणि का राज्य है। यह राज्य अनन्तकाल तक रहेगा और अनन्त काल तक यहाँ के सभी प्राकृत नियम उलटे पुलटे रहेंगे। चन्द्र सुना है कि तुम्हारे दर्शन होते ही चकवे चकवी का विलगत्व हो जाता है, परन्तु मैं तो मेरे चकवे से एक क्षण के लिये भी कभी भी विलग नहीं हुई। भाई चन्द्र ! देखो ! मेरे नेत्रों में न जाने क्या रोग हो गया है ? मुझे चकवे में, तुझमें, निशा के कृष्णाकाश में, यमुना में, पुलिनवर्ती वृक्षों में, लताओं में, सभी पशु एवं पक्षियों में - यहाँ तक कि भूमि-भवन, गिरि-पर्वत में भी प्यारे श्याम सुन्दर भरे दृष्टि गोचर होते हैं। भाई ! बुरा मत मानना मुझे तो सदा ही यह भ्रम रहता है कि उज्ज्वल गगन में तुम्हारा प्रकाश नहीं प्यारे श्यामसुन्दर के ही मुख-चन्द्र का प्रकाश प्रसरित हो रहा है। इसलिये उड़कर उधर की ओर ही देखने लगती हूँ ; चकवा भी मेरे साथ ही साथ उड़ने लगता है। वह मुझसे ज्यों ही आगे बढ़ता है और उसका तन मेरे दृष्टि पथ में आता है मुझे उसमें भी प्रियतम नन्दनन्दन भरे दृष्टिगोचर होते हैं। फिर मैं विस्तृत आकाश से नीचे उतर आती हूँ। तो मुझे भूमि में भी प्रियतम सर्वत्र. दिखने लगते हैं।

एक नहीं, अनन्त रूपों में सर्वत्र वे ही दृष्टिपथ में खड़े मुसकाते दिखते हैं। मैं सोच लेती हूँ - यह मुझे मात्र दृष्टि भ्रम ही है। मेरे नेत्रों में उनकी छबि बस गयी है। बहुत सोचती हूँ - ऐसा क्यों हो गया है ? तब एक ही समाधान मिलता है। हम सभी वन-विहंगमों पर हमारी प्राणप्यारी रानी की दृष्टि पड़ती है - और रानी की दृष्टि में, उनके अणु-अणु में प्रियतम ही प्रियतम भरे हैं इसीलिये हम सभी वन-विहंगमों की ऐसी दशा होगी। अत: चन्द्रदेव ! अपनी असंख्य प्राणों से भी अधिक प्यारी रानी पर न्यौछावर होती हुई तुमसे प्रार्थना करती हूँ कि शीघ्र से शीघ्र पूर्व गगन में लौट आना। तुम्हारे आने से ही मेरी प्यारी रानी अपने प्रियतम से मिल पाती है अत: देर कदापि मत करना। हम वनवासी रानी की अनन्त करुणा के चिर ऋणी हैं। रानी की छाया पड़ने से ही हम इस अनन्त असीम सौभाग्य की अधिकारिणी बनी हैं। मैं रानी की एक तुच्छ सेविका से प्रार्थना मात्र कर सकती हूँ कि मेरी ओर से शंका मत करना कि चकवी मुझे गाली देगी। शीघ्र से शीघ्र पूर्व गगन में उदय होना मैं हृदय से तुम्हारा स्वागत करूँगी।

हे सारिके ! चकवाक भी इसी प्रकार चन्द्रमा से प्रार्थना कर रहा था। मैं तो सशंकित था कि चकवे चकवी की इस आनन्द केलि से प्रिया प्रियतम की निद्रा में व्यवधान तो नहीं आया।

शुक सारिका के वार्तालाप से प्रियतम की निद्रा तो टूट जाती है परन्तु वे प्रिया को हृदय से लगाये उसी प्रकार लेटे रहते है। दोनों में से कोई भी नेत्र खोलता नहीं है। हाँ, दोनों के मुख पर मुसकान खिल उठती है।

सखियाँ उधर गवाक्षिकाओं के छिद्रों में दृष्टि ड़ालकर प्रिया प्रियतम की शोभा निहार निहार कर आनन्द में डूब रही हैं। सारिका पुन: बोलती है :-- व्रजेन्द्र-किशोर प्रिये ! व्रजपुरवासी राजपथ में आवागमन करें, इसके पूर्व ही आप शीघ्र गृह प्रस्थान करें। सुमुखि ! दिनकर अत्यंत वेगपूर्वक उदयाचल का आरोहण कर रहा है। अतएव शीघ्र शय्या परित्याग करो। सखि ! आलस्य त्याग करो। स्वयं जाग्रत होओ और प्रियतम को जाग्रत करो। सखि री ! लोक लज्जा का अवसर उपस्थित हो, यह कदापि उचित नहीं है।

विचक्षण शुक :- नन्द किशोर - भामा की जय हो !

अलबेली वर बामा की जय हो !

रंगीले की जय हो ! प्रिया-प्रेम-पगीले की जय हो ! पियमुखचन्द्र-चकोरी की जय हो ! दुलहिन नित्य किशोरी की जय हो ! प्रिया प्राणधन की जय हो !

रसिक जन-जीवन की जय हो ! राधारमण की जय हो शोभाभवन की जय हो। आनँदकंद की जय हो, श्री वृन्दावनचन्द की जय हो। कृष्ण कृपाल की जय हो ! अम्बुजनयन विशाल की जय हो।

"अहो मेरे प्राण सखा नीलमणि ! प्रिया समग्र निशा की जगी हैं। रमणी जनों का स्वभाव ही है कि उन्हें प्रभात बेला में ही अपने प्रियतम के प्रगाढ़ आलिंगन में बद्ध होने पर ही सुख पूर्वक निद्रा आती है। देखो ! प्रिया कैसी निश्चिन्त हैं इन्हें प्रभात होने का एवं निशावसान का भान ही नहीं है। हे प्यारे ! अपने मुखचन्द्र को आपके मुखचन्द्र से मिलाकर, कर कमलों से आपके कण्ठ देश को धारण कर ये आत्म विस्मृत हो रही है।"

"गोविन्द जागो। प्रिया को जगाओ । देखो ! कालिन्दी अत्यंत विरहातुर है। वे आपाके पथ में नयन बिछाये है। जागो देव ! जागो।"

"देव ! भगवती पौर्णमासी तुम्हारे मुख चन्द्र का दर्शन करने आ पहुँचें, नित्य कर्म सम्पादन कर जननी यशोदा सहित वे आपके शयन कक्ष में प्रवेश करें, इसके पूर्व ही आप शय्या परित्याग कर अपने शयन मन्दिर में प्रवेश कर जायें।

"सखे कृष्ण ! तुम्हारा प्रिय गृह-शुक दक्ष तुम्हारी सेवा में नन्दभवन से उड़ता हुआ अति त्वरापूर्वक आया है। वह सन्देश लाया है कि जननी यशोदा दासियों सहित तुम्हारे शयन-मन्दिर में तुम्हें जगाने पहुँचने ही वाली थीं। उसने यह कह कर उन्हें किसी प्रकार निवृत्त किया है कि - श्रीकृष्ण वन पर्यटन से अति श्रान्त शयित हैं। हे जननी ! उन्हें विक्षेप मत करो। अभी निश्शब्द कार्य करो। दधिमंथन भी किञ्चित् विलम्ब पूर्वक करना ही उचित है।" अतः शीघ्रता पूर्वक जागो, प्रिया को जगाओ और गोष्ठ की ओर निर्जन सुगुप्त पथ से चल पड़ो।

मलयज-रुचि सुन्दर चन्द्रक-चूड़ की जय हो।
संतत-सेवित यमुना कूल की जय हो।
नवाम्बुधि-नील की जय हो।
विलक्षण शील की जय हो। मुखासंगिवंश की जय हो।
शिखण्डावतंस की जय हो।
वराम्भोजनेत्र की सदा ही जय हो।

मंगल गान (वन पक्षियों द्वारा)

स्वन् स्वन् सुनो, बहिछे पवन सखि गहन कानने।
हेरि श्यामे, पाई प्रीति, गाइछे मंगल गीति विहंगम-गणे।
कुवलय परिमल नए-ए सजनि चल,
ओ सुगंध देह गंध बहिछे पवन
हायगो श्यामेर वपु सौरभ सदन!!

सजनि ! सुनो, सन्-सन् शब्द करता हुआ मन्द समीर सघन वृन्दा कानन में प्रवाहित हो रहा है। श्यामसुन्दर की प्रीति से भावित हुए ये विहंगम भी मंगलगान कर रहे हैं, किन्तु सखि ! समीर सौरभ सरोजों से संचारित हुआ हो, ऐसा मत्त मानना भला ! अरी, चल, देख ! यह पवन तो अप्रतिम सौरभशाली प्रियतम की अंग-गंध को अपने दुकूल में भरकर चुपचाप वन-पथ की ओर आ रहा है। ओह तू जानती नहीं ? सम्पूर्ण सौरभ का भण्डार तो प्रियतम श्याम सुन्दर का वही नील कलेवर ही तो है।

जय राधा, जय सब सुख साधा जय जय कमल नयन वश करनी ।
जय श्यामा, जय सब सुख धामा, जय यज मनमोहन मन हरनी।
जय गोरी, जय नित्य किशोरी, जय जय भागनि भरी सुहागिनि।
जय नागरि जय सुयश उजागरि, जय जय श्री हरि प्रिया की स्वामिनि।

श्री वृन्दादेवी सभी वन पक्षियों को मंगल गान करने की अनुमति दे देती है। पक्षीगण तो प्रतीक्षा में थे ही, अपनी काकली में गुणगान करने लगे। आनन्द मत्त नृत्य करती हुई भ्रमरी बोली :-- "मंगल प्रभात हुआ। बकुल पुष्प प्रस्फुटित हुए। अहो अलि ! मंगल, मंगल सर्वत्र सुमंगल। नवीन कुसुमों का श्रृंगार धारण किये ॠतुराज ने वृन्दावन में प्रवेश किया। विलासवती वन-धरा ने अभिनव श्रृंगार से अपने सम्पूर्ण अंगों को सजाया। चलो अलि, त्वरा करो, कुंजों की ओर प्रस्थान करें। परस्पर प्रेमातिरेक से भरे प्रिया-प्रियतम का परम मंगल दर्शन करें।

भ्रमर भी आमोदातिरेक में झूमता हुआ नाच उठा। भ्रमर --"री प्रिया प्रियतम निकुंज से बाहर आकर उपवन के पथ से यमुना तट जायेंगे री।

अप्रतिम सौरभ से वन का कण-कण सुरभित हो उठेगा। देख ! शयन के समय प्रिया-प्रियतम की वनमाला उनके अंगों की दिव्यातिदिव्य सौरभ से सन गई होगी। दिव्य रस से परिभावित वह माला हम सबको आनन्द मत्त कर देगी। प्रिया प्रियतम के नासा पुटों से प्रसरित श्वास निश्वास जन्य दिव्याति-दिव्य सौरभ ही तो हमारा जीवन है। भ्रमरी नृत्य करती है "मेरी प्यारी रानी की अलकावलि की जय। अद्भुत सौरभमयी घन-कृष्ण-कुन्तल-राशि की जय। चन्द्रिका-जटित मणियों से उद्भासित अपरिसीम सौरभवर्षिणी कोमलतम केश राशि की सदा ही जय हो। देख ! मेरे जीवन संगी भ्रमर ! अनन्त कुवलय एकत्रित हों, उनमें अपरिसीम मृगमद का संयोग हो जाय, पुन: आपार कर्पूरचूर्ण की पुट से वह भावित हो उठे, पश्चात् इस सम्पूर्ण ढेर को किसी सौरभमय सुधासागर में निक्षिप्त कर दें। फिर उसका मंथन हो तथा बिन्दु मात्र सौरभ सार निकल आवे - वह भी श्रीराधाकिशोरी की लटों से प्रसरित स्निग्ध सौरभ धारा की तुलना में अत्यंत तुच्छ हेय ही ठहरेगा। चलो ! उस सौरभ धारा में हम सभी अवगाहन करें।"

भ्रमर - "अहा ! मंगल सुमधुरे ! क्या तुमने कभी प्रिया प्रियतम की अधर सुधा का पान किया। अहा ! उस मधुरिमा से सनी सौरभ का तू आस्वादन पा सकती ? देख ! उस दिन यमुना के उस स्रोत के अंक में प्रस्फुटित अरविन्द कोश में बैठा, मैं किंजल्क का रस ले रहा था। रवि अस्ताचल में समा गये थे। और मैं मुग्ध हुआ उसी कोश में बद्ध हो चुका था। सहसा मुझे नुपूरों की झंकार सुनाई पड़ी। और प्रिया की कृपा से मेरे नयनों में अद्भुत प्रकाश का उन्मेष हो गया। मैं उस पद्मकोश के अन्तराल से स्पष्ट देखने लगा - मदनिका एवं रूपमन्जरी प्रिया प्रियतम के विहार के लिये अभिनव सुन्दर शय्या का निर्माण करने जा रही है। सहसा उनकी दृष्टि उस पद्मकोश पर भी पड़ गयी जिसमें मैं आबद्ध था। उन्होंने प्रिया प्रियतम की असीम कृपा से उस पद्मकोश को भी चयन कर लिया और वह कोश भी शय्या के उपकरणभूत सरोरुहों के ढेर में स्थान पा गया। अरी ! सम्पूर्ण निशा मैं उस कोश में आबद्ध हुआ निष्पन्द निर्निमेष नयनों से प्रिया प्रियतम के उस रसमय विहार को कोश के अन्तराल से ही देखता रहा। वाणी में सामर्थ्य नहीं कि उस अप्राकृत दृश्य को व्यक्त करे। ओह अधरों से अधर संलग्न थे। उन अधरों की सुकोमलता, सुन्दरता और पवित्रता अवर्ण्य है। मधु का स्रोत झर रहा था। सहसा युगल दंपति अधर से अधर सटाये ही प्रेम की विलक्षण

महाभाव समाधि में डूब गये। उन दोनों के संलग्न अधरों का रस प्रवाहित हो उठा। उस अधर रस की धार से शय्या में गुम्फित कुवलय पत्रों का सर्वांश सिक्त हो उठा। कोश के बाह्य स्तरों को पार करती रस-कणिका वहाँ आ पहुँची जहाँ मैं स्पन्दन शून्य पड़ा था। मेरा समग्र तन का रोम-रोम, मेरा मन और मेरे प्राण भी उस रस धार से सिक्त होने लगे। और इस प्रकार मैं उस दिव्यतम रस का, उसके अप्रतिम सौरभ का आस्वाद ले सका।" भ्रमरी भी अब पुनः अपनी अनुभूति कहने को आतुर हो उठी -

"मेरे जीवन साथी प्यारे भ्रमर ! क्या तुमने प्रिया प्रियतम के श्री अंगों पर व्यक्त हुए प्रस्वेद का घ्राण पाया है ? सुनो ! सौन्दर्य निकेतन वृन्दा-कानन ने एक दिवस अभूतपूर्व श्रृंगार धारण किया था। चारों ओर वसंत का साम्राज्य था। प्रिया प्रियतम वन सौन्दर्य निहारने लगे। प्रियतम वनस्थली के प्रत्येक भाग का परिचय देते हुए प्रिया श्रीराधाकिशोरी का मनोरंजन करते जा रहे थे। सहसा प्रिया श्रान्त हो गयीं। उनके गोरोचन मंडित भाल पर श्रमकण झलमल करने लगे। अपनी प्रिया को श्रमित जान प्रियतम ने पुरोवर्ती कुंज में प्रवेश किया। वहाँ स्वतः ही वृन्दादेवी ने पद्म शय्या निर्माण की हुई थी। प्रियतम ने प्रिया को उस पर विराजित कर दिया और स्वयं उन पर अपने पीताम्बर को व्यजन बना कर हवा झलने लगे। परन्तु अपने प्रियतम की नेह छबि देखकर प्रिया में सात्विक स्वेद विकार हो आया। उनकी रक्त बिन्दु वाली कंचुकी तो स्वेद से चूने लगी। प्रियतम को उस कंचुकी को अपसारित करना पड़ा। प्रियतम प्रिया के भाल, मुख एवं ग्रीवा, वक्षोज, सभी अंगों के स्वेद अपने पीताम्बर से पौंछने लगे। इससे मुख का, कपोलों का, वक्षस्थलका सभी श्रृंगार विलुप्त हो गया। प्रियतम नवीन श्रृंगार धारण करने चले। फिर तो ऐसा विलक्षण खेल हुआ कि प्रिया प्रियतम दोनों के ही श्रीअंगों से स्वेद की धारा बह चली। बस, प्रियतम श्रृंगार चित्र निर्मित करते और और उनकी ही अँगुलियाँ, हथेली, इतना स्वेद बहा देतीं कि चित्र विकृत हो जाते। प्रिया का रोम-रोम तो बस, स्वेद बूँदे ही बहा रहा था। शय्या का कण-कण स्वेद जल से आर्द्र हो उठा। अब तो मैं संयत नही रह सकी। निकुंज के पुष्प गुच्छों से उड़कर शय्या के समीप सरक आयी। स्वेद की बूँदे झर रही थीं प्रत्येक कुवलय पत्र पर। मैं किसी पत्र का आश्रय लेती पर बरबस वह चलती, मैं अवश थी। मेरा रोम-रोम उस स्वेद सौरभ में सन गया। मैं पूरी डूब ही गयी थी, उस मधुरातिमधुर रस प्रवाह में। अहा ! कैसी

वह सुरभि थी कैसा वह रस था - इसे मैं प्रयास करना चाहूँ तो भी वाणी द्वारा समझा नहीं पाऊँगी। इतना ही कह सकती हूँ कि उस समय मेरे लिये तो काल मान स्थिर ही हो गया था। प्रिया प्रियतम के अंक में विराजित कितने कालतक श्रृंगार धारण कराती रहीं - कितने युग बीत गये उस श्रृंगार के पूर्ण होने में, इसका भान करने लायक मेरा स्मरण-तंत्र बचा ही नहीं था। स्वेद के प्रथम स्पर्श से ही मैं सर्वथा उन्मादिनी हो चुकी थी। आज तक उन्मादिनी हूँ। हाँ, यह अवश्य है कि उस स्वेद जल में मेरा अंग अंग-अंग सन जाने के कारण तुम मुझे देखकर भ्रमित हो जाते हो। पुष्पों का पराग भूल कर मेरा अनुसरण करने लगते हो और मैं इस डर से भाग चलती हूँ कि कहीं उस सौरभ की छाया तुम पर भी न पड़ जाय और तुम भी उन्मादी न हो उठो। मेरी तरह तुम भी अधिकांश बाह्य-ज्ञान शून्य न रहने लगो।"

लो, भ्रमरी का विलक्षण गायन तो सुन लिया, चले देखें ये चकोर-चकोरी क्या रट लगा रहे हैं। इसे भी सुनें तो सही। अहा ! कैसा प्रेम मस्त हो रहा है।

चकोर - "प्राणप्रिये चकोरी ! पूर्व गगन की ओर क्या देख रही हो ? मूढ़े ! अनुपम मंगल-निधान पूर्ण-चन्द्र को प्रकट करने की सामर्थ्य इस पूर्व गगन में रही ही नहीं। परम मंगल निधान पूर्णचन्द्र एक नहीं अब तो युग्म हैं। आश्चर्य - एक नील राका और दूसरा पीत द्युति शशि। ये दोनों कभी विलग होते ही नहीं। और भविष्य में भी अनन्त काल तक इनका क्षणभर के लिये भी विलगत्व न हो, यही मेरी विधाता से दीन विनय है अरी, ये तो पूर्ण स्वच्छन्द हैं। किसी भी दिशा का इन पर नियत बंधन नहीं। जहाँ कहीं से जब जैसी इनकी रूचि होती है ये प्रकट हो जातें हैं। अहा ! अनन्त काल तक अक्षुण्ण कानन की धरा इनसे उद्भासित होती रहे, बस कण-कण इनकी प्रीति ज्योत्स्ना में सना रहे। और हम दोनों इन अपूर्व युग्म-चन्द्र ज्योत्स्ना का आजीवन पान करते रहें।"

चकोरी आनन्द से नृत्य करती - "अहा मेरे कर्णपुटों में कैसा शुभ संवाद तुमने ड़ाला। प्रिय चकोर ! अपार हर्ष ! ये दोनों हमारी ही नहीं, सभी की जीवन निधि बने रहें। प्रिया प्रियतम के मुखचन्द्र-युग्म सभी प्राणी-प्राणी के प्राणों में अनन्त आनन्द सिंधु का सृजन करते रहें। और प्रिय तुमने उनकी नख ज्योत्स्ना का आह्लाद पाया है या नही। हो सकता है, मुख चन्द्र ज्योत्स्ना पान निरत तुम्हारा चित्त उधर गया ही न हो। यदि किसी

अभाग्यवश तुम वंचित हो ही गये होओ, अब ऐसी चूक मत करना। एक नहीं, दो नहीं, दस और दस बीस और पुनः बीस इन चालीस चन्द्रों से जो अपरिसीम सुधा का स्रोत प्रसरित होता है, मेरे प्राणधन ! उससे अब भविष्य में कदापि वंचित मत होना।"

अब देखो ! इस संकेत कुंज के चतुर्दिक् न जाने कहाँ-कहाँ से असंख्य पक्षी एकत्रित हो गये हैं। इन्हें विचक्षण शुक दूर-दूर के वनों से आह्वान करके लाया है। ये अपने अपने नियत स्थानों में बैठकर प्रिया-प्रियतम के कुञ्ज बहिर्गमन की प्रतीक्षा कर रहे हैं। ये अपनी अपनी भिन्न-भिन्न वाणी में प्रिया प्रियतम का मंगल गुणगान कर रहे हैं।

सारिका - "निकुंज महारानी की जय हो ! प्रफुल्लित अरविन्द के समान मुख वाली, सौरभपूर्ण किंजल्क से पूर्ण पद्मकोशों के समान वक्षोजों वाली, सरोरुह जैसे नेत्रों वाली नित्य किशोरी की जय ! अब दक्ष शुक की वाणी सुनो- वह सम्पूर्ण शुक समाज का नेतृत्व कर रहा है। "अहा ! नील तमाल से भी अत्यंत नील जिनकी आभा हैं, जो सदा घनी केसर, कस्तूरी एवं कुंकुमादि के पंक से लिप्त रहते हैं, जो नक्षत्र-मालाओं के समान वज्रमणि हारावली से विभूषित हैं, जिनके वक्षस्थल पर राधारानी का मुख चन्द्र सदा प्रतिबिंबित है - उन व्रज-नव-युवराज की जय हो।

अब मयूरी की उक्ति सुनो - "जय हो ! प्रिया किशोरी रानी के सुन्दर चरण चिन्हों की जय हो ! अहा ! शंख की कैसी विलक्षण शोभा है - वेदी और स्पन्दन, मीन और पर्वत तो चित्त को परम एकाग्र कर अपने में ही लय कर रहे हैं।

लो तांडविक मयूर आह्लाद से नाचता हुआ कहने लगा - अरे मयूरों, शुकगणों, सभी पक्षियों, मेरी बात चित्त में दृढ़तापूर्वक धारण कर लो। बस विश्व का सम्पूर्ण आनन्द तुम्हारे करतलगत हो उठेगा। प्रिया प्रियतम के सुन्दर चरण चिन्हों में ही रम जाओ। अहा ! पद्म कैसा विकसित हो रहा है। इस ध्वज पर से तो मेरा चित्त हटता ही नहीं। वलय और अंकुश, यह जौ और ऊर्ध्व रेखा, स्वस्तिक, एवं अष्टकोण, इन्द्रचाप एवं त्रिकोण सभी एक से एक मनोहर हैं। अहा ! कलश और अर्ध चन्द्र, अम्बर, मत्स्य और गोपद सभी अतुलनीय शोभामय हैं।

पक्षियों का इस प्रकार कलरव चल ही रहा था। वे अति उत्कण्ठापूर्वक निकुंज द्वार में अपनी दृष्टि जमाये थे और प्रतीक्षा कर रहे थे - कब द्वार

खुलें और प्रिया प्रियतम के उन्हें मनोहारी दर्शन प्राप्त हों। उनकी उत्कण्ठा शनैः शनैः बढ़ती ही जा रही थी।

वीणा वादन एवं जागरण

(यहाँ यह बात पाठकों के सम्मुख पुनः पुनः रखनी है - ये सभी लीलाएँ उच्च कोटि के उन साधकों के लिये हैं जिनका काम-भाव सर्वथा सर्वांश में बीज सहित निरस्त हो चुका है। साथ ही जिनमें भगवान श्रीकृष्ण एवं राधा रानी के प्रति रमण-रमणी बुद्धि सर्वथा नहीं रही है। यहाँ नारी-पुरुष रमण-रमणी की कल्पना ही नहीं है। महा प्रीतिभाव ही आस्वाद्य तथा आस्वादक, आश्रयालंबन एवं विषयालंबन के रूप में प्रिया प्रियतम बन गया है। ये प्रिया भी क्षण के कोटि भाग में ही प्रियतम हो जाती हैं और प्रियतम प्रिया। अतः इदमित्थं न प्रिया हैं एव न ही प्रियतम। सखियाँ, मञ्जरियाँ, दासियाँ, यही नहीं, वन उपवन, गिरि, हृद, सरोवर, सरिता, नंद, यशोदा, वृषभानु, कीर्तिदा, सभी निद्रा महाभाव में एक विलक्षण प्रेम समाधि में समाकर प्रिया प्रियतम से एक हो जाते हैं। कोई श्रीकृष्ण सिन्धु में डूबकर कृष्णसिन्धु हो जाता है और कोई प्रिया-सिन्धु में डूबकर प्रिया-सिन्धु हो जाता है। यहाँ का स्वप्न भी जागरण है और जागरण भी स्वप्न है। अतः यहाँ लौकिक, प्राकृत आवेश है ही नहीं। नित्य उच्छलित आनन्द लहरा रहा है। यह सब अप्राकृत राज्य के पात्रों में संघटित हो रही लीलाएँ हैं, जो पू० गुरुदेव श्रीराधाबाबा जैसे लोकोत्तर महासिद्ध सन्त के अन्तःकरण में व्यक्त हुई हैं। शब्द देने की लेखक की तो सर्वथा सामर्थ्य नहीं है। लेखक के महाभाग्य उदय हुये थे कि उसे श्री गुरुदेव की कृपा से इन्हें सुनने का सौभाग्य प्राप्त हो गया। लेखक ने अनचाहे ही अपनी शब्द देने की अयोग्यता के कारण इन लीलाओं का सम्पूर्ण माधुर्य, समग्र सौन्दर्य, और सारी पवित्रता नष्ट कर दी है। परन्तु वह निरुपाय है। हाँ ! यह सत्य है कि इन लीलाओं को पू० गुरुदेव श्री राधा बाबा को उनके काष्ठ मौन के पूर्व ही दिखाया जा चुका है। उनकी अनुमति लेकर ही लेखन कार्य हुआ है। उनकी इस सम्पूर्ण लेखन सामग्री पर दृष्टि पड़ चुकी है। इतना ही नहीं इसमें से बहुत पंक्तियाँ तो उनकी स्वयं की उनके स्वयं के हस्ताक्षर से लिखी गयी हैं। अतः वे मंत्र भी इनमें

सम्मिलित हैं। साथ ही उनकी अनुमति से बारह कृपापात्र व्यक्तिओं को इन्हें देने के लिये स्वीकृति मिल चुकी है। इसीलिये उनकी जीवनी के साथ इन्हें संबद्ध करके पाठकों के लाभ के लिये प्रकाशित की जा रही हैं इसमें जो भी अपराध लेखक द्वारा यदि हुआ है तो वह क्षमा प्रार्थी है)

श्री राधा किशोरी की निद्रा भाव समाधि का अवसान हो चुका है। किन्तु फिर भी वे अपने आपको निद्रित सी बनाकर निस्पन्द लेटी हैं। निद्रितवती, निमीलिताक्षी निज प्रिया की रूप माधुरी का पान प्रियतम अत्यन्त ललक भरी दृष्टि से करने लगे। वे अपनी प्रियतमा का बार-बार आलिंगन करते हैं। कपोलों पर प्रीति चिन्ह अंकित कर देते हैं। किशोरी के नेत्र-सरोजों पर अपने अधर स्थापित करते हैं और कभी उनकी बिखरी कुन्तल राशि को अपने हाथों सहलाते हैं, उन कुन्तलराशि पर भी अपने प्रीति चिन्ह विजड़ित कर देते हैं, उनकी दिव्य गन्ध को बार-बार सूँघते हैं और फिर आनन्द मत्त हुए अपनी प्राणप्रिया को पुन: अपने भुज-पाश में बाँध लेते हैं। उनके नयनों में एवं सर्वांगों में इस प्रकार अत्यधिक आलस्य महाभाव भरा है कि पुन: उनके नयन मुँद जाते हैं और अपनी प्रियतमा के वक्षोजों पर मस्तक रख वे पुन: प्रीति समाधि में निद्रावश शयित हो जाते हैं।

लो ! प्रभात होने के उपरान्त भी प्रिया प्रियतम के पुन: आलस्यवश शयित हो जाने पर प्रिया की बेसर के श्याम रत्न में से मंजुश्यामा उनकी भगिनी प्रकट होती हैं, एवं उनके वाम कपोल स्थित मसिबिन्दु से मंजुलीला प्रकट हो जाती हैं। उसी समय प्रिया प्रियतम दोनों की समग्र गुणावली भी गुण मंजरी के रूप में उनकी कटि किंकणी से व्यक्त हो जाती है। निद्रा काल में ये सब प्रिया-प्रियतम में समाहित थीं, अब उनके जागरण लीला की भूमिका के निर्माण के लिये इन सभी विशिष्ट लीला-पात्रियों की अभिव्यक्ति मूर्तरूप में हो रही है। ये तीनों अपने नूपुरों का शब्द न हो, अत: उनमें रेशमी सुन्दर वस्त्र लपेटे हैं। मंजुलीला एक स्वर्णिम रत्न-जटित अति सुन्दर थाल में तूलिका एवं विलेपन-योग्य परम सौरभयुक्त सुगन्धिद्रव्य कटोरियों में रखकर लायी है। वे प्रिया-प्रियतम की शय्या से सटाकर एक स्वर्ण पीठिका में इस सब सामग्री को रख देती हैं। श्री गुणमंजरीजी नवीन रत्नहार, मुक्तामालाएँ एवं अन्य आभूषण एक रत्नजटित थाल में लिये हैं, जिससे कि निशा विहार के

समय भग्न-आभूषण परिवर्तित किये जा सकें। श्री मंजुश्यामा जी खाली हाथ हैं।

तीनों सखियों की दृष्टि प्रिया प्रियतम एवं इनकी शय्या की ओर जाती है। वे देखती हैं प्रिया-प्रियतम परस्पर आलिंगन में आबद्ध बहिर्ज्ञान शून्य भाव समाधि में लीन हैं। तीनों सखियाँ इस शोभा को देखकर चकित हो जाती हैं। भावोदय के कारण उनके नेत्र मुँदने लगते हैं, परन्तु वे संयमपूर्वक अपने भावजन्य विलयावेश को रोकती हैं।

श्रीमती की वेणी उन्मुक्त है। उसमें गुम्फित मुक्ता और रत्न मालाएँ उनके शीश फूल नामक आभूषण को घेर कर पड़ी हैं। प्रियतम का मुकुट और मयूर पिच्छ कुंड़लों से लिपटा पड़ा है मुकुट और कुंड़लों के पास श्रीकृष्ण की लटों में पिरोये हुए मुक्ता माणिक्य शोभा दे रहे हैं। इनके नीचे प्रियतम के उत्तरीय का आलिंगन किये वनमाला शयित है। इधर प्रियतमा के समीप उनके गले का स्वर्णहार मानो किशोरी के दिव्य स्वर्णकुण्डल और कानों के चक्री नामक आभूषण को प्रणाम करने के उद्देश्य से साष्टांग मुद्रा में लेटा हुआ है।

उसी के पार्श्व में श्रीराधा किशोरी की कंचुकी पड़ी है। उसके पार्श्व में क्रमशः अलकावली को संवरित करने की दो शलाकाएँ, वलय, कंठहार, अंगुलीयक एवं ताराहार, भुजाओं में पहनने के अंगद, रत्नचूड़ियाँ, चरणों में पहनने के नाना प्रकार के मणि जटित नूपुर, मंजीर, और कमर की करधनी और पादांगुलीयक पड़े हैं। इस ओर श्रीकृष्ण के पार्श्व में उनका उत्तरीय शांत पड़ा है। उससे सटकर उनके बाहुओं के वलय, कंकण, अंगुलीयकों के साथ अनेक रत्नहार, कटि-किंकणी, पैरों के अंगुलीयकों से उलझा पीताम्बर अपनी शोभा विस्तार कर रहा है।

प्रिया-प्रियतम ऐसी शोभा है मानो रूप के दो पुंज परस्पर मिले विराज रहे हैं। निशा-विहार के चिन्हों की ओर मंजुश्यामा बहिन का ध्यान चला जाता है। वे उन्हें कस्तूरी पंक से छिपा देती हैं। अधरों पर नेत्रों के कज्जल की रेखा है वे उसे मुसकाकर रक्तिम अंगराग से छुपा देती हैं। श्री गुणमंजरी मंजुश्यामा जी के पार्श्व में शान्त स्थित रानी का अप्रतिम रूप निहारती भाव में मूक भाषा में बोल उठती हैं - हे सुन्दरी ! विधाता ने अहा ! जब तेरी यह विलक्षण गरिमामयी देह यष्टि का निर्माण किया तो अपनी कला की इति ही कर दी है। कुछ भी सौन्दर्य कहीं भी बचा कर नहीं रखा। सम्पूर्ण सौन्दर्य को

तेरे अंगों में ही उड़ेल दिया है। अरी सखि ! इस शोभा राशि का दर्शन कर लेने पर सम्पूर्ण भुवन एवं चतुर्दश लोक नीरस लगते हैं। तेरे चरणों के तालुप्रदेश की लालिमा पर ऐसा लगता है जैसे रति, कमला, और शची तीनों को बलिहार कर दूँ। कुवलय-दलों पर विराजित तेरे रोम-रोम से सहज माधुरी की जो राशि प्रस्फुटित हो रही है, उसका पान कर मेरे नयन छलकने लगे हैं।

प्रिया प्रियतम का श्रृंगार यथास्थान उचित प्रकार धारण करवा देने पर गुणमंजरी, मंजुलीला एवं मंजुश्यामा निष्पंद बिना कोई ध्वनि किये कुंज से बाहर आ जाती हैं। इधर वृन्दा के विनय करने पर ललिता सुन्दरी कुंज प्रकोष्ठ के बाहर वीणा वादन करने लगती हैं। भैरवी की कोमल स्वर लहरी वीणा की मधुर झंकार के साथ गूंजने लगती है। कोमल गांधार और कोमल निषाद की झंकृति सातों स्वरों पर अपना आधिपत्य जमा बैठी हैं। भैरवी रागिनी मूर्तिमती होकर वीणा पर आसीन हो गयी हों, इस प्रकार वीणा श्रीललिता सखी की कोमल अँगुलियों के संकेत पर तान भर रही हैं।

लो प्रिया-प्रियतम उस संगीत स्वरलहरी में सखियों द्वारा जगाये जाने का त्वरापूर्ण संकेत समझ कर सरस मुद्रा में जागने का उपक्रम करने लगते हैं। वीणा की स्वर लहरी इतनी सरस है कि वह प्रिया-प्रियतम को उसका रस लेने को बाध्य कर दे रही है। दंपति श्रीतार वीणा का रस लेने लगे। जब भी बंदिश में सम आता है, प्रिया प्रियतम दोनों की गरदन अनुमोदन में हिल जाती है। जो उनके रस में मस्त होने का लक्षण है।

सहसा प्रियतम की दृष्टि प्रिया के मुखारविन्द की ओर केन्द्रित हो जाती है। वे किञ्चित मुसकाते हुए अलकावलि मण्डित मुख के सौन्दर्य का पान करने लग जाते हैं।

रानी अपनी मृणाल सी भुजाओं को उठाकर अँगडाई लेती हुई आलस्य का निवारण करती हैं। उस समय उनके अधरों पर विराजित स्मिति की, अर्धमुक्त कबरी की, विमर्दित कुसुम माला की, अस्तव्यस्त हुए रत्न हारों की, आलस्य भरे विघूर्णित नयनों की छबि का दर्शन करते-करते व्रजकुल चन्द्र आनन्द से उन्मत्त हो उठते हैं।

रानी यद्यपि पूरी जाग्रत हैं परन्तु वे रति-श्रम से श्रान्त होने के कारण तथा आलस्य के आवेश से अपने तमाल-नील प्रियतम से पुनः लिपट जाती हैं। जैसे चंचल विद्युल्लता नवीन मेघ में स्थिर हुई शोभा पा रही हो- श्री किशोरी

रानी की ऐसी ही छबि है। उनके मद से भरे नेत्रों की ऐसी शोभा है मानों चन्द्र बिम्ब पर दो अर्ध विकसित सरोज हों, उन सरोजों के सौन्दर्य में किसी का दृष्टि दोष नहीं हो जाय इसलिये विधाता ने ही उन्हें कज्जल से आवृत कर दिया हो। किशोरी के रोम-रोम से मानो पद्मों का सौरभ फूट पड़ा हो, और चंचल भ्रमर पंक्ति उस मकरन्द का पान करने पास-पास बैठी हो, नेत्रों में कज्जल की ऐसी ही छबि बन रही है। रानी के अनावृत कुचयुगल की शोभा ऐसी निराली है मानो असंख्य राका राशियों की ज्योत्स्ना कर्पूर के संग मिश्रित कर दी गयी हो और उसके दो परम सुन्दर पिण्ड विधाता ने अतिशय कला सहित निर्माण किये हों, और उन पर कस्तूरी के बड़े-बड़े दो लघु बिन्दु जड़ दिये हों। रानी ने अपने प्रियतम की ओर देखा। अधरों से अधर पुनः मिल गये। लज्जा ने नयनों पर आवरण ड़ाल दिया, नेत्र निमीलित हो गये।

इसी समय सरिता एवं हृदों, सरोवरों में खिले असंख्य पद्मों का सौरभ लिये समीर का झौंका मुख्य द्वार का पर्दा हिला देता है प्रियतम को अरुणोदय की लालिमा गहन हुई दृष्टिगोचर हो जाती है। वे अत्यन्त प्यार भरी दृष्टि से प्रिया के मुखारविन्द को देखते हुए धीरे से उनके कानों में अति मधुर स्वर में कहते हैं :-- "प्रिये ! प्रभात हो गया है ?

अपने प्रियतम की बात कानों में जाते ही प्रिया के मुख पर एक विषाद मिश्रित गंभीरता की रेखा फैल जाती है। वे प्रियतम का गाढ़ालिंगन त्याग कर शय्या पर बैठ जाती हैं। प्रियतम भी शय्या पर बैठ जाते हैं। लो ! प्रिया प्रियतम एक दूसरे के श्री अंगों पर चित्र निर्माण करने लगे। दोनों के मुखों पर, नयनों पर बिखरी अलकावलि आ जाती हैं, जिससे वे हँस-हँस कर निवारण करते हैं। प्रियतम प्रिया के मुख पर मँडराती अलकावलि को अतिशय रस-पूर्वक संयमित करते हैं।

इसी समय सखियों की टोली हँसती हुई कुंजद्वार में धक्का दे देती है। द्वार खुल जाते हैं। ललिता मुसकाती सबके आगे कुञ्ज के भीतर प्रवेश करती हैं। उनके पीछे सभी अन्य सखियाँ हैं। ललिता रानी तेजी से शय्या के निकट पहुँचती हैं। सखियों का आगमन देख प्रिया लज्जित हुई जल्दी से शय्या से उठती हैं। परन्तु ललिता उनके हाथों को पकड़कर जहाँ वे बैठी थीं, वहीं प्रियतम के पार्श्व में बैठा देती हैं। श्री रूप मंजरी शय्या में पड़ा हुआ रानी का मोतियों का हार उठाकर मंजुलीलाजी को देती हैं वे उसे अपने अंचल में बाँध लेती हैं। श्री गुण मंजरी मणिखचित ताम्बूल पात्र ले लेती हैं। श्री अशोक

मंजरी चन्दन पात्र ग्रहण करती हैं। श्री विशाखा जी रति मंजरी को चित्र विचित्र रत्नों से जड़ा स्वर्ण रचित जल पात्र उठाकर देती हैं।

सखियाँ प्रिया-प्रियतम के रति-चिन्ह चिन्हित अंगों का दर्शन कर अपने को परम कृतकृत्य एवं कृतार्थ अनुभव करती हैं। उनके अधरों पर अपने प्रियतम के दशन चिन्ह, कलेवर पर नख चिन्ह, उनका विलास जन्य अलस भाव, वेष-विन्यास की अस्त व्यस्तता, विगलित कुंड़लों की आभा, विच्छिन्न मणि-मुक्ताहारों की शोभा, कंठ प्रदेश में विमर्दित वन माला का सौन्दर्य - निहार-निहार कर सभी के नेत्र आह्लाद में मुग्ध हो रहे हैं।

श्री तुंगविद्याजी स्वर्ण दंड़ी युक्त व्यजन धारण कर लेती हैं और शनैः शनैः प्रिया प्रियतम पर व्यजन करने लगती हैं। श्री मंजुश्यामा स्वर्ण पिंजर में सारिका को समाविष्ट करती हैं और द्वार बन्दकर उसे अपने हाथों में सम्हाल लेती हैं।

सूर्योदय होने में अभी विलम्ब है। वन श्रेणी पर उषा कालीन सौन्दर्य छाया हुआ है। निकुंज के इधर-उधर हरिणी चौकड़ी भर रहे हैं। कदम्ब पर बैठी कोकिलें कुहू-कुहू की तान अलाप रही हैं। मालती-जुही आदि लताएँ नाना प्रकार के वृक्षों को आच्छादित कर मह-मह महक रहीं हैं। पुष्प विकसित हैं, उन पर भ्रमर गुंजार कर रहे हैं।

इतने में मुसकाती हुई वृन्दादेवी भी समुपस्थित हो जाती हैं। उनका निवेदन है कि आज उन्होंने वनवासिनी सखियों के सहयोग से अद्भुत वन श्रृंगार किया है, अतः अपनी दृष्टि प्रिया प्रियतम अवश्य ही अब शीघ्र उस पर ड़ालें।

रति मंजरी से लवंग जल की झारी लेकर प्रिया प्रियतम को गण्डूष (कुल्ला) कराने को उद्यत होती हैं। विमला कुल्ला करने का प्रक्षालन पात्र जो पास ही रखा है - उसे हाथ में उठा लेती हैं। पहले प्रिया एवं पश्चात प्रियतम पहले अपने नेत्र धोते हैं और तब जल-गण्डूष करते हैं। शीतल जल से भरा पान-पात्र चित्रा रानी के हाथों में देती हैं - रानी पात्र को प्रियतम के होठों से लगा देती हैं। प्रियतम धीरे-धीरे प्रिया के मुख पर दृष्टि जमाये आधा गिलास जल पी लेते हैं, फिर पात्र को प्रिया के होठों में लगा देते हैं। प्रिया लज्जावश पीना नहीं चाहतीं प्रियतम बायें हाथ से उनका इतने प्रेमाग्रह से कन्धा स्पर्श करते हैं एवं वह पात्र प्रिया के अधरों से सटाये ही रखते हैं, अन्ततः प्रिया कुछ घूँट जल धीरे-धीरे पी लेती हैं। फिर सखियाँ दोनों का

श्रृंगार नवीन वस्त्राभूषणों से करती हैं जो ठीक पुराने वस्त्रों एवं आभूषणों की हू-बहू अनुकृति ही हैं।

अनेक सखियाँ श्याम सुन्दर प्रियतम की शय्या पर, एवं अनेक नीचे कालीन पर बैठी हैं, कुछ उन्हें घेरे खड़ी हैं। उन सबके मध्य प्रिया प्रियतम की अनिर्वचनीय शोभा समस्त निकुंज को आनन्द से सराबोर कर रही है। प्रियतम की अंगकान्ति नीलमणि के समान दमक रही है। प्रिया प्रियतम को गुणमंजरी चरण प्रदेश तक लम्बी अत्यन्त सुन्दर शतरंगी पुष्पों से रचित अनन्त सौरभमयी माला धारण कराती हैं। तत्पश्चात् रूपमंजरी ललिता के आदेश से प्रिया प्रियतम को केसर-कर्पूर कुंकुम सिक्त चन्दन चर्चित करती हैं। सुन्दर वनमाला से विभूषित चन्दन से चर्चित पीतवसन धारण किये प्रियतम सुन्दर गोपरामाओं के साथ पुनः केलि-परायण हो उठते हैं। उनके कंपित मणि-कुण्डल एवं उनके उन कुण्डलों से दमकते उनके कपोल युगल, उनकी दंत-पंक्ति, सुकोमल गुलाबी अधर सब शोभा परम निराली फब रही है।

सखियाँ किशोरी से विनोद हास करती हैं। रानी के कपोल आनन्द से विकसित हो उठते हैं। किशोरी रानी के कपोल इतने निर्मल एवं ज्योतिर्मय हैं कि उन कपोलों में प्रिय छबि का प्रतिबिंब पड़ रहा है या नहीं, सखियाँ बार बार अनुसंधान करती हैं। प्रिया के आनन सरोज पर से प्रियतम की लुब्ध दृष्टि हटती ही नहीं। सखियों के आनन्द का पार नहीं है। उनके अंगों में सात्विक भाव उदय हो रहे हैं। कोई स्वेद से लथपथ हो रही है। कोई अट्टाहस कर रही है। किसी को कम्प हो रहा है। वह इस प्रकार काँप रही है जैसे तूफान से वृक्ष काँप रहे हों। किसी को अश्रुप्रवाह अनवरत हो रहा है कोई लज्जा से लाल हो रही है।

श्री मंजुलीला मंजरी सुगन्धित ताम्बूल अर्पण करती हैं। वे प्रिया के मुख से आधा ताम्बूल चर्वित कराके आधा प्रियतम को दे देती हैं। प्रियतम मंजुलीला को भुजा में भर लेना चाहते हैं पर वे पीछे हट जाती हैं।

सखी मंडली सहित प्रिया प्रियतम निकुंज के बाहर आ जाते हैं। बाहर एक विलक्षण चन्द्रातप तना है। यह ऐसी सुभग चन्द्रकान्त मणियों से जड़ा है जो निशापर्यन्त शीतल ज्योत्स्ना छिटकाती रहती है। पुष्पों से लदी सघन लताएँ बरामदे को चारों दिशाओं से घेरे शोभित हैं। उस चन्द्रातप से होते हुए सभी बाहर उपवन में आ जाते हैं। मन्द समीर के झोंकों से हिलती लताएँ मानो दम्पति से प्रार्थना करती हैं -- हमारे जीवनाधार ! निशापर्यन्त तुम्हें

हृदय में छुपाये बैठी रही अब जा रहे हो .... जाओ ... क्या ऐसा विधान संभव है कि तुम्हें एक पल भी अपने अंक से विलग न करूँ । ना ना.. मत जाओ।

आगे उपवन के प्रांगण के चारों ओर बड़ी-बड़ी गुलाब की क्यारियाँ हैं। परन्तु इनमें विलक्षणता यह है कि काँटे सर्वथा नहीं है। बड़े-बड़े सुगन्धित स्थल पद्मों के समान गुलाब खिले हैं।

इसी समय वृन्दा देवी के आदेश से शुभा सारिका बोल उठी -- "हे कमल नेत्रे प्रिये ! अभिवादन ! तुम्हारे आवास के सभी गुरुजन जाग्रत हो उठे हैं। उन्होंने गोदोहन भी समाप्त कर लिया है। गोशालाओं दुग्ध के असंख्य भाण्ड़ उठवाकर गोपगण गृहों की ओर प्रस्थान कर चुके हैं, अतः शीघ्रता पूर्वक शयन मन्दिर में जाकर विश्राम करो।"

हे मुग्धे ! तारागणों के सहित चन्द्र गगनतल में अदृश्य होने लगा। राजपथ जन समूह से पूर्ण हो, उसके पूर्व ही क्रीड़ा कौतुक का परित्याग कर कुंज से गोष्ठ की ओर प्रस्थान करो।

हे सरले ! तुम्हारे गुरुजन वास्तुपूजन की सभी सामग्री सम्पादित कर चुके हैं, वे तुम्हें उठाने शयन मन्दिर में पहुँचने वाले हैं, अतः शीघ्रता करो।

सारिका के वचन सुनकर रानी अतिशय व्यथित हो उठी। प्रियतम संग विच्छेद से दुःखिता वे प्रियतम के पीताम्बर में मुख ढ़ाँप कर वक्षस्थल से लिपट जाती हैं।

प्रियतम भी भावी विरह की व्यथा से विषादित हुए प्रिया का बार-बार गाढ़ालिंगन करते हैं। वे एक दूसरे के गले में बाँहें डाल कुछ क्षण एक दूसरे के मुखराविन्दों को अतृप्त नयनों से देखते हैं फिर वियोगाशंका से गंभीर श्वास लेते हैं। दोनों के मुख से स्वाभाविक उल्लास धूमिल हो जाता है। सखियाँ भी उदासीन हो जाती हैं।

ललिता रानी को प्रसन्न करने के लिये सम्बोधित करती हैं - री ! तुझे विस्मरण तो नहीं हुआ - आज प्रतिदिन की अपेक्षा शीघ्र सूर्य-पूजा के लिये जाना हैं। सूर्य व्रत आज से ही प्रारंभ हो रहा है।

ललिता की यह उक्ति सुनकर प्रिया एवं प्रियतम दोनों ही पुनर्मिलन की कल्पना से आनन्द में भर जाते हैं। दोनों के मुख पर उल्लास छा जाता है। सखियाँ भी उल्लसित हो जाती हैं। प्रियतम अतिशय कृतज्ञता मृदुलता भरी दृष्टि से ललिता की ओर निहारते हैं।

श्री मंजुलीला ने प्रिया का ताटंक जो शय्या में ही प्रिया भूल गयीं थीं, उठा लिया। उन्होंने उसे अपने अंचल में बाँध लिया। श्री मंजुलीला जी ने प्रिया प्रियतम का मुख शुष्क देखकर उन्हें ताम्बूल पात्र से ताम्बूल दिये। श्री गुणमंजरी प्रिया का (पीकदान) ताम्बूल विसर्जन पात्र उनके मुख के आगे कर देती हैं। प्रिया प्रियतम उस में मुख का चर्वित ताम्बूल शेष उगल देते हैं। उस (पीकदानी) ताम्बूल विसर्जन पात्र में बहुत से निशा काल के विसर्जित किये हुए ताम्बूल चर्वित शेष तथा अर्ध चर्वित ताम्बूल खण्ड पड़े हुए हैं, उन्हें श्री गुण मञ्जरी जी सब सखियों में वितरण करती हैं। फिर वे झारी से जल लेकर उस पात्र को स्वच्छ कर देती हैं। जैसे ही जल धोकर वे उसे फेंकती है उस पर शुक सारिकादि वृक्षों पर बैठे पक्षी ताम्बूल अवशिष्ट लेने आ जाते हैं। उस धोवन में प्रिया प्रियतम के मुख की ऐसी सुवास भरी होती है कि पुष्प मकरन्द को त्याग कर भ्रमर दल उस पर मँड़राने लगता है।

गुलाब की क्यारियों से होते हुए सखी मंडली सहित श्री प्रिया-प्रियतम कदली वन में प्रवेश करते हैं। इसके पश्चात वे अत्यंत सुगन्धित पुष्पों से भरे उपवनों मे से होते हुए विश्राम कुंज के मुख्य द्वार पर पहुँच जाते है। मुख्य द्वार से आगे बहुत ही मनोहर घाट हैं और घाट पर यमुना का निर्मल प्रवाह प्रवाहित हो रहा हैं घाट के ऊपर एक विशाल वट वृक्ष है। इस वृक्ष के नीचे खड़े होकर दम्पति यमुना की शोभा निहारने लगते हैं।

यमुना-संतरण

तपन तनया तुमि ; तेई कादम्बिनी
पाले तोमा शैल नाथ कांचन भवने।
जन्म तब राजकुले (सौरभ जनमे फूले)
राधिका रे लज्जा तुमि कर कि कारणे ?
तुमि कि जानो ना सेउ राजार नन्दिनी ?

प्रियतम नील सुन्दर - "प्रिये देखो, यमुना की क्या ही मनोहर शोभा है। दूर-दूर तक तट-प्रदेश चित्र-विचित्र रत्नों से जटित है। .उन रत्नों की उज्ज्वल कान्ति से दिव्य प्रकाश चारों ओर निखर रहा हैं। देखो तट के निकट अनन्त पक्षियों के समूह कलरव कर रहे हैं। जल में चित्र-विचित्र पक्षी

हंस-सारसादि के अगणित समूह एवं रंग-बिरंगी मछलियाँ, सभी आनन्द मत्त हैं। फिर विलक्षण रंगों के कमलों की शोभा तो सर्वोपरि है। इन श्वेत, पीत, रक्त, नील कमलों से लिपटीं कमलिनियाँ और इन सभी पर मदमत्त हो गुंजार करते मधुपों के अगणित-दल और इनके मध्य विहार करते हंस-हंसिनियों के युगल जोड़े सभी कैसे मनोहरी हैं। प्रिये ! ये प्रस्फुटित कमल ही जैसे यमुना सखी का मुख सरोज हों, तट प्रदेश में रत्नों और मणियों से विजड़ित लघु-लघु पर्वत ही मानो इसका मुकुट हो, शोभावली नीलोत्पल ही इसके दीर्घ कृष्ण नयन हों, चक्रवाक् दम्पति का दल ही इसके स्तन मंडल हों, देखो हंसों की उदार गति ही इसका मनहरण गमन आर युगल तट ही इसके दोनों नितम्ब हों और रस स्वरूप नीला जल ही जो प्रवाहित हो रहा वही इसका नील निचोल परिधान है, रंग-बिरंगी मछलियाँ इसकी मेखला हैं ऐसी शोभामयी तरणि तनया तेरा स्वागत कर रही है। आओ, प्रिये, नौकाओं में संतरण करें। प्रियतम के ऐसा कहते ही --

यमुना की लहरियों में रंग-बिरंगे रंगों से सजी रत्न जटित नौकाएँ, कोई मयूर की आकृति की, कोई श्वेत हंसाकृति की, कोई प्रस्फुटित कमल के समान गोलाकार आकृति की, कोई अविकसित पद्म-कोश के समान ऊर्ध्व आकार वाली, कोई मीनाकृति, कोई वृहद् तिमिंगलाकृति वाली नाच उठी । सभी नौकाएँ तट पर स्वभवतः ही आ लगीं । गोपबालाएँ जिसको जो रुचिकर लगी उन नौकाओं पर आरुढ़ हो गयीं ।

महती आश्चर्य इस बात का था प्रत्येक नौका में आरुढ़ गोपी को यही अनुभव हो रहा था कि प्रिया-प्रियतम उसी की नौका में आरुढ़ हैं एवं वह प्रिया से सटकर उसके पार्श्व में ही आसीन है ।

अत्यंत सुन्दर प्रस्फुटित कमल के समान बर्त्तुलाकार नौका पर प्रिया-प्रियतम आरुढ़ हुए । श्रीगुणमंजरी एवं मंजुलीला मंजरी नौका संचालन करने लगीं । प्रिया-प्रियतम की नौका को घेर कर सभी सखियों की नौकाएँ चल रही थीं ।

धीरे-धीरे यमुना की लहरियों में सभी नौकाएँ बढ़ने लगीं । यमुना में कहीं भी पंक हुए बिना ही सुन्दर कमल खिले हैं । प्रियतम-प्रिया को प्रसन्न करने के लिये यमुना में खिले कमल वनों की ओर ही नौका का रुख करने का संकेत, वाहक सखियों को करते हैं और खिले सुन्दर कमलदलों को

तोड़कर किसी कमल को उनकी वेणी में खौंस देते है किसी सुन्दर नीलकमल को प्रिया के हाथों में सौंप देते हैं।

प्रिया-प्रियतम की नौका को घेरकर संपूर्ण जल पक्षी अपने अंगों की मनोरम शोभा से प्रिया-प्रियतम के नेत्रों को, अपनी सुमधुर काकली से उनके कर्णपुटों को सुख देते उनकी नौका के आस-पास जल में संतरण करने लगते हैं। श्रीगुणमंजरी प्रिया को बहुत सी द्राक्षा, बादाम, काजू, पिश्तादि सूखा मेवा देती हैं जिसे प्रिया-प्रियतम नाव के साथ चलते पक्षियों को अपने हाथों खिला रहे हैं । प्रिया-प्रियतम की अंगगंध से लुब्ध भ्रमर अपने प्रिय पद्मों को छोड़कर दल बनाकर प्रिया-प्रियतम की अंगसौरभ से लुब्ध हुए उनकी परिक्रमा करते गुंजार कर रहे हैं । उनकी गुंजार से सब वातावरण मुखरित हो रहा है।

हंस-हंसिनियों का विहार देखकर प्रेमावेश के कारण प्रिया, प्रियतम के वक्षस्थल से लिपट जाती हैं । कभी कमल दलों का सौन्दर्य देखकर उनका मुख निर्निमेष नेत्रों से देखने लगतीं है । फिर गोष्ठगमन जनित वियोग की आशंका में इस प्रकार काँप जाती हैं जैसे वर्षा ऋतु में वज्रपात से वन की तरुराशि काँप जाती हो ?

प्रियतम प्रिया के भावी विरहदु:ख को यथाशक्य भुलाने का प्रयास करते हैं परन्तु जल में चक्रवाक-चक्रवाकी को परस्पर मिलते देख उनका मन अधीरता की सीमा लाँघ जाता है । वे दोनो परस्पर अलिंगित हो जाते है ।

शनै: शनै: प्रिया प्रियतम एवं सखियों की नौकाएँ यमुना के बालुका मय तट पर आ लगती हैं ।

प्रिया प्रियतम अब एक दूसरे से पृथक होकर गोष्ठ गमन करेंगे, इसलिये उनका एक बार एकान्त मिलन हो जाय- इस इच्छा से सभी सखियाँ प्रिया प्रियतम से कुछ दूरी पर वृक्षों की ओट में स्थित हो जाती हैं । प्रिया प्रियतम भावी विरह के दुख को न सह सकने के कारण एक दूसरे के प्रगाढ़ आलिंगन में लिपट जाते हैं ।

उनकी प्रेमालिंगन जनित प्रगाढ़ भाव-स्थिति ऐसी हो जाती है कि न उन्हें बाह्यज्ञान रहता है एवं न ही अपने आपका ।

परन्तु आश्चर्य काल भी उनके भाव का अनुसरण करता थम जाता है,वह गतिशील तभी होता है जब श्री रूपमंजरी उनका हाथ धारण किये उन्हें गुप्त

पथ से वृषभानु महल में ले जाती हैं तथा प्रियतम शंकित चित्त हुए बार-बार मुड़ मुड़कर प्रियतमा की ओर देखते नन्दभवन की ओर चल पड़ते हैं ।

वृषभानु - भवन गमन, शयन एवं स्नान

पूरब की शिखरावलि मंडित गिरि था सीमा रचता प्रियतम ।
कानन से जुड़ी प्रतीची में प्रसरित नीली सरिता प्रियतम ।
सुविशाल राज-पथ उत्तर में द्रुम जालों से छाया प्रियतम ।
चलकर कोसों तक छू लेता, उस शैल रत्नमय को प्रियतम ।

लो ! अब सूर्योदय होने में अधिक विलम्ब नहीं है । सूर्यदेव ने अपनी प्रथम रश्मियों से वृन्दावनेश्वरी के चरणों में पाद्य समर्पित कराया । भानु-किशोरी अपने वृषभानुपुर प्रासाद में सुगुप्त पथ से अति शीघ्रतापूर्वक पहुँचने की त्वरा में तीव्र गमन कर रही हैं । सूर्योदय के पूर्व उन्हें अपने शयनकक्ष में पहुँच ही जाना है । तीव्र गति से उनके मुक्ताहार और आभूषणों के रत्न बिखर जाते हैं । श्री मंजुलीला, गुणमंजरी के साथ उन खण्डित मणिमालाओं को उठाकर आँचल में बाँध लेती हैं। रानी के दाहिनी ओर मंजुश्यामा उनकी बहिन चल रही हैं और बाम भाग में श्रीललिता रानी हैं । विशाखादि अन्य सखियाँ पीछे अनुगमन कर रही हैं । श्री रतिमंजरी ताम्बूलपात्र एवं रसमंजरी जल-पात्र लिये चल रही हैं । श्री मंजुलीला पीकदानी से रानी एवं प्रियतम के चर्वित ताम्बूल खण्ड अपने साथ एक पान पात्र में ले आयी हैं जिसे चलते-चलते ही वे सखियों में वितरित कर दे रही हैं। उस पर ललिता प्रसन्न होकर उनकी पीठ थपथपाती हैं ।

सभी सखियों एवं प्रिया की उस समय कैसी विलक्षण स्थिति है कोई उसे क्या कहकर वर्णन करे ।

हो रहे चित्र अंकित हृत्पटपर विगत निशा के थे प्रियतम !
कैसे कितने सुन्दर वे हैं किस भाँति कहूँ तुमसे प्रियतम !
अविराम भावना हृत्तल की विगलित हो थी आती प्रियतम !
सबका मन डूबा था नीली आनन्द हिलोरों में प्रियतम !!

यद्यपि रानी तीव्र गति से पथ में संचलन कर रही हैं, परन्तु विगत निशा का प्रियतम का नेह दान उनके हृत्पटल पर जीवंत स्मृति चित्र खड़े कर दे रहा है । कभी उन्हें ऐसा प्रतीत होता है मानो वे अभी तक प्रियतम के पास नाव में ही बैठी हैं । परन्तु दूसरे ही क्षण ऐसा अनुभव होता है कि वे तो हैं ही नहीं, थी भी नहीं, और वे होएँगी भी नहीं । मात्र प्रियतम ही प्रियतम ही तो सर्वत्र विलस रहे हैं ।

दे रहे प्रीति संकेत दृगों को नचा-नचा करके प्रियतम !
ढ़ल जाती बहित साँवरी पर रहता न होश तन का प्रियतम !!

ललिता रानी को किसी प्रकार साम दाम दंड भेद से पथ में संचलन करातीं हैं। वे उन्हें सूर्यपूजन में शीघ्र चलना है - कहकर उत्साहित करने की चेष्टा करती हैं। प्रिया फिर शीघ्रता से पथ चालन करती हैं। परन्तु कुछ ही क्षण नहीं बीतते पुनः भावाविष्ट हुई जोर-जोर से बोलने लगती है - "अरी ललिते ! ओ रूप !! अरी मंजू !!! मेरी प्राण प्रिया राधा कहाँ गयी ? उसे अन्वेषण करो । वह किसी लता-वल्लरी में मुझे ढूँढती पथ तो विस्मृत नहीं कर गयी । हाय ! अब मैं उसे कैसे एवं कहाँ पाऊँगा ? उसके बिना तो मेरे प्राण ही संकट में हो गये हैं ।"

सखियाँ पुनः रानी को संवरित करने की चेष्टा करती हैं । इस प्रकार किसी तरह पथ पूरा होता है ।

दूरी संकुचित अहो ! पथ की हो गयी सत्य सहसा प्रियतम !
लाड़िली आदि सब जा पहुँची आधी घटिका में ही प्रियतम !

वैसे प्राकृत धरातल पर बरसाने और संकेत के मध्य कई मील की दूरी है, वह कैसे आधी घडी अर्थात् बारह मिनट में ही तय हो जाती है यह आश्चर्य लग सकता है। वहाँ लीलाराज्य की प्रत्येक वस्तु चिन्मय है । वहाँ का देश, काल एवं वस्तुएँ सभी लीला की सम्पन्नता के लिये विस्तृत और संकुचित हो जाती हैं, वे यथावसर वृहत् भी बन जाती हैं और तब तत्क्षण ही वहीं लीला के अनुसार लघु भी हो जाती हैं । जड़-चेतनात्मक गुण-दोषमयी सुख-दुःख पूर्ण जन्म मरणधर्मा हमारी जो ब्राह्मी सृष्टि है, इस सृष्टि के नियम

उस नित्य चिन्मयी लीलास्थली पर सर्वथा लागू नहीं होते । दिव्य लीलाराज्य के देश, काल, पात्र सभी नियमातीत हैं ।

यह महाराज वृषभानु का भवन है । विधाता का कौशल यहाँ कोई अर्थ ही नहीं रखता । सभी कुछ संविन्मय, सभी कुछ संधिनी शक्ति की परिणति ही है यहाँ । दिव्य रत्नों से बनी चतुः शालाएँ, चंदनादि अत्यन्त मूल्यवान काष्ठों पर जटित स्वर्ण और रजत तथा उसके ऊपर विविध बहुमूल्य रत्नों से जटित सम्पूर्ण कपाट । स्तंभ ऐसे हैं मानो मणि पर्वतों को काट-काट कर उनकी कलापूर्ण रचना की हो ।

स्वर्ण के झलमलाते कलश, दिव्य वेदियाँ, मुक्ता और प्रवाल के चूर्णों से निर्मित प्रांगण, कहीं स्वर्ण के, कहीं रजत के और कहीं स्फटिक के प्राकार वृषभानु पुरी जगमग-जगमग कर रही है ।

निकुंज से आकर रानी अपने महल में एक सुन्दर शय्या में लेटी हैं । रानी का मस्तक दक्षिण की तरफ है और चरण उत्तर की ओर हैं । एक नीली श्यामवर्ण स्वर्ण खचित चादर से रानी के मुख एवं ग्रीवा को छोड़कर सभी अंग आवृत हैं । देखने से प्रतीत यही होता है कि वे प्रगाढ़ निद्रा में हैं। उनके दीर्घ कमल के समान काजल से कृष्ण नयन आधे मुँदे है । अध मुँदे होने से कुछ श्वेत अंश की झलक हो रही है । परन्तु वस्तुतः वे अतिशय भावाविष्ट हैं, परन्तु जाग्रत हैं । श्री मंजुश्यामा श्रीप्रिया के चरणों के पास उनकी शय्या पर ही बैठी हैं । उनके श्यामल चरण नीचे लटक रहे हैं। उनके लाल-लाल तलुए श्यामवर्ण पैरों में बहुत ही शोभा दे रहे हैं । उनके नयन प्रेमवश छलक रहे हैं और दृष्टि प्रियामुख की ओर एकटक लगी है।

अब तो ब्राह्म मुहूर्त्त व्यतीत हो गया है । प्रातः हो गया है । मंजुलीला गुणमंजरी को पानदान एवं पीकदानी माँजकर लाने को कहती हैं । रति एवं अशोक रात्रि के भोजन पात्रों को स्वच्छ कर रही हैं । केलि एवं रसमंजरी मणिमुक्ताओं को यथा स्थान पर आभूषणों में विजड़ित कर रही हैं । श्री प्रिया के निशाकाल के वस्त्रों को धोकर श्यामला सुखा रही है।

रूपमंजरी उत्तम रीति से चन्दन घिस रही हैं और केसर पीस रही हैं । वृषभानु बाबा एवं कीर्त्तिदा मैया जग गये हैं । मैया आकर रानी की शयित शोभा देखकर पुनः गृहकार्य में लग गयी हैं । वे मंजुश्यामा के भगिनी प्रेम पर मुग्ध हैं । उसे हृदय से लगाती हैं । उसका मस्तक सूंघती हैं । सभी सखियाँ पारी-पारी से मैया को प्रणाम करती हैं और उनसे आशीर्वाद लेती हैं ।

ललिता को बुलाकर मैयारानी को उठाने का संकेत करती हैं जिससे समय पर नन्दरानी के बुलाने पर पाक रचनार्थ वे जा सकें । ललिता मैया को महल से उनके महल तक छोड़ने जाती हैं ।

स्नान के लिये स्नानगृह में मंजुलीला एक स्वर्ण पीठिका रख देती हैं । गुण मंजरी सुगन्धित मंजन दाँत माँजने के लिये रख देती हैं । और अब जल की झारी लेकर गण्डूषार्थ जल प्रदान करने के लिये केलिमंजरी खड़ी हो जाती हैं ।

लो, अब तो सुगंधा नापित कन्या अपनी सहचरी नलिनी के साथ आ गयी। वे अपने साथ ही उबटन निर्मित करके लायी हैं, मंजुलीला उन्हें चतु:सम (चन्दन, अगुरु, केसर और कुंकुम का समभाग में मिश्रण) प्रदान करती हैं । मंजुलीला सुगन्धा से अतिशय प्रेमपूर्वक मिलती हैं और गले लगकर उन्हें एकान्त में ले जाकर अति उत्कृष्ट एवं परम सौम्य उत्कृष्ट सुगन्धित तैल देती हैं और बार-बार समझाती हैं कि रानी के परम सुकुमार अंगों में तैल मर्दन करते समय तनिक भी बल प्रयोग नहीं करे । उनके अंगों का उबटन से सम्मार्जन भी अति सुकोमल संस्पर्श से करे ।

सुगन्धा मंजुलीला का निर्देश सुनकर मुसकाने लगती है। मंजुलीला जब ढ़ीठता से मुसकाने का कारण पूछती हैं तो वह उनके गले से चिपट जाती है एवं हँसकर कहती है - इन सभी कार्यों की शिक्षा जो मुझे परंपरा से मिली है, वह अन्यत्र से भला कैसे मिलेगी ? उसके परिवार ने तो रानी सुखदा एवं माता कीर्त्तिदा जब नई नवेली विवाह करके आयी थीं तभी से उन सबकी मर्दन एवं उबटन सेवा की है । रानी के सौकुमार्य के ध्यान का पाठ उसे अन्य कोई क्या पढ़ायेगा ? यह तो उसका पारम्परिक कार्य है ? सुगन्धा की बात सुनकर मंजुलीला लजा जाती हैं ।

रानी की विलक्षण शोभा है। सारिका अत्यन्त सुरीले कंठ से गान करने लगती है । उसके दोनों प्रयोजन हैं- रानी सो रही हों तो उठ जावें और यदि भावाविष्ट हों तो आत्मकेन्द्रित हो जावें।

सारिका - "कुँआरि राधिका तुम सकल सौभाग्य की सीमा,
वदन पर कोटि चन्द्र वारौं .....

सारिका गायन का वाक्य पूरा कर ही पाती है कि सहसा एक शुक उड़ता हुआ आता है - और सारिका से विवाद कर उठता है । वह दूर से सारिका

की वाणी सुनता है - "वदन पर कोटि कृष्ण वारौं ....." उसे इसी पर आपत्ति है । वह सारी से झगड़ता है कि क्या हमारे सखा श्रीकृष्ण इतने नगण्य और तुच्छ हैं कि तू इस कृष्णाराधिका के मुख पर हमारे करोड़ों सखा न्यौंछावर कर रही है ?

सारिका डाँटकर कहती है - "मूर्ख ! झूठी कलह करता है, मैंने "वदन पर कोटि चन्द्र वारौं..... कहा है ।"

परन्तु शुक अपनी बात पर अडिग है - वह एक मयूर को साक्षी करके कहता है इससे पूछ इसने भी सुना है। मयूर अपनी नई राग आलापता है - वह कहता है कि "चन्द्र तो श्रीकृष्ण के मुकुट में पिच्छ के रूप में ही रहता है अतः चन्द्र का अर्थ कृष्णचन्द्र ही होता है ।" नभ स्थित चन्द्र तो ब्रज में उपमा का पात्र ही नहीं है - इतने में पास में ही स्थित पुंस कोकिल बोल उठता है :-"इस दुर्बुद्धि सारिका का मंतव्य कोटि कृष्णचन्द्र वारौं यही रहा है।"

सारिका रानी की अति प्रीतिपात्रा है - वह उनकी कलह की परवाह नहीं करती हुई दूसरी पंक्ति गाना चाहती है, परन्तु शुक उसे गाने नहीं देता। बीच में ही चीख उठता है ।

रानी उठ जाती हैं । ललिता उनके पास आ जाती हैं । अतिशय प्यार से पूछती हैं - निद्रा आयी ? रानी मन्द मुसकाकर निषेध कर देती हैं ।

रानी के जगकर उठते ही सारिका फुदक कर उसकी गोद में बैठ जाती है, शुक भी दूसरी गोद में धमक कर बैठ जाता है । रानी शुक का पक्ष लेकर कहती है - "सारिका सच बताना - जब तूने मुख से यह पाठ किया 'वदन पर कोटि चन्द्र वारौं' तब तेरे भीतर क्या सत्य छुपा था ?

सारिका जोर से खिल खिलाकर हँसती है - "प्रियतम तो आपके पद तल की लालिमा पर अपने आपको अनेक बार वार चुके है, इसकी तो मैं साक्षी हूँ, फिर मैंने तो मुख पर ही उन्हें न्यौछावर किया है ।"

शुक - (कृत्रिम रोष प्रकट करता हुआ) प्रणयावेश में तो हर एक पुरुष प्रेम जन्य दीन उक्तियाँ करता है, आप भानु नन्दिनी, हम सभी वृन्दावनवासियों की वृन्दावन-महेश्वरी हो, सत्य न्याय करें क्या हमारे सखा इतने तुच्छ हैं कि यह कृष्णमुखी सारिका कोटि-कोटि उनको आप पर न्यौछावर कर रही है ?

रानी धीरे से अतिशय प्यार से शुक को अपने हाथों से उठा लेती हैं और उसकी कर्णेन्द्रिय के पास अति मन्द स्वर में कहती हैं - अर भाई शुक ! तू विश्वास करले, मेरा रोम-रोम उन पर न्यौछावर है, बलिहार है। सारिका कुछ भी कहे, उसका क्या ?

शुक जोर से बोल उठता - "पक्षियों ! सभी रानी की जय जयकार करो । सच्चा न्याय हुआ, सारिका हार गई । पक्षियों रानी को नृत्य करके दिखाओ ! सत्य यही है - हमारे प्रिय सखा के गुण सौन्दर्य एवं प्रीति पर रानी न्यौछावर है । अब तो हम सभी हमारी प्राणप्यारी रानी पर न्यौछावर हैं। ये हमारे सखा की हृदयेश्वरी, प्राणेश्वरी, रोम-रोम की स्वामिनी हैं, ये ही हमारे सखा की जीवनेश्वरी हैं । शुक के आह्वान पर अगणित पक्षी आ जाते हैं। सभी पक्षी आनन्दमत्त होकर नृत्य करते हैं -

राधा रानी की जय, महारानी की जय
प्राण प्यारे की पटरानी की जय जय जय
हृदयेश्वरि की जय, प्राणेश्वरि की जय
हमारे सखा की जीवनेश्वरि की जय जय जय।

रानी और सखियाँ परम प्रसन्न हुई पक्षियों की रसक्रीड़ा देख रही हैं। शुक और पक्षीगण मिलकर ऐसा नयन नचा-नचाकर भावभरा नृत्य कर रहे हैं कि कीर्तिदा मैया आदि सभी मातृपक्ष की स्त्रियाँ भी आ जाती हैं। रानी लज्जा से भर जाती है। सहसा मैया ललिता को संकेत करती हैं कि नन्दभवन से कुन्दवल्ली और धनिष्ठा पहुँच गयी हैं ।

मंजुलीला इसी समय भण्डार से द्राक्षा, बादाम, पिश्तादि बहुत सी मेवा एक रत्नजटित स्वर्णपात्र में रानी को लाकर देती है । एक-एक पक्षी रानी की गोद में आता है, रानी का प्यार भरा संस्पर्श प्राप्त करता है और तब रानी अपने हाथ से उसकी खुली चोंच में मेवा देती हैं । पक्षी आनन्द से उत्फुल्ल रोमांचित हो जाता है। अनगिनत पक्षी हैं परन्तु सभी को रानी एक क्षण में ही मेवा खिला देती हैं । सभी पक्षियों को ऐसा अनुभव होता है कि रानी सर्वाधिक प्यार उसे ही करती हैं ।

अब ललिता एवं मंजुलीला रानी को शय्या से उठाकर उपवन मे एक चौकी में आसीन कर देती हैं । चौकी पर अति सुकोमल मखमल की रेशमी -

रूई भरी गद्दी बिछी है रानी उस पर बैठकर सुगन्धा से सर्वांग में उबटन लगवाती हैं । अहा अतिशय सुगन्धित उबटन भी रानी के अंगों की सुवास के सम्मुख तुच्छ प्रतीत होती है । रानी के कर्पूर एवं केसर की ज्योति के समान अंग इतने स्वच्छ हैं कि सुगन्धा को रानी के अंगों में अपनी मुख छवि प्रतिबिंबित दृष्टिगोचर होती है । परन्तु रानी को तो सुगन्धा दिखनी ही बन्द हो गयी है उन्हें तो अब प्रियतम श्रीकृष्ण ही उबटन लगाने की प्रार्थना करते दृष्टिगोचर हो रहे हैं । सुगन्धा रानी के दृश्य पटल से ही विलुप्त हो जाती है । रानी जोर से बोल उठती है - "अरी ललिता ! इन्हें निवारित करो, ये क्या करने जा रहे हैं, इन्हें सादर महल में विराजित करो न । तब तक मैं स्नान करके आती हूँ ।"

सुगन्धा स्तंभित हो जाती है । ललिता दौड़ी आती है । कुन्दवल्ली एवं धनिष्ठा भी वहीं रानी के पार्श्व में ही खड़ी हो जाती हैं । ललिता तनिक डाँटकर कहती है, इस तरह से विलम्ब करेगी तो नंदभवन में पाक रचना हो गयी ? प्रियतम नन्दनन्दन भूखे ही वन का चले जायेंगे ।

ललिता के ये शब्द कानों में जाते ही रानी सजग हो जाती हैं । सुगन्धा पुनः मर्दन करना प्रारम्भ करती है। नलिनी अंगों में पहले सुगन्धित तैल लगाती है ताकि रानी की रोमावलि को उबटन उखाड़ नहीं पावे । अंगों को तैल स्नान कराके नलिनी रानी की वेणी उन्मुक्त कर देती है । घनी काली केशराशि पीठ पर लहरा उठती है । जबतक सुगन्धा पैरों एवं जंघाओं में उबटन करती है तबतक रानी के केशों को नलिनी तैल से खूब सिंचित करती हैं । रानी की घनी कुन्तलराशि पीठ पर एवं कंधों से होती उनकी बाहुओं पर लहराने लगती है ।

ज्यों-ज्यों सुगन्धा उबटन करती है त्यों-त्यों महक के आवर्त्त पर आवर्त्त उठ रहे हैं । रानी के अंगों की विलक्षण सघन गंध से भ्रमरावली सर्व ओर से घिर कर झंकार कर उठती है । वह भ्रमरावली वृन्दा के आदेश से रानी के अंगो पर नहीं टूटती, नहीं तो सब अंगो में गंध लुब्ध हुई चिपक जाती । रानी पुनः भावाविष्ट हो जाती हैं । उन्हें तो यही अनुभव हो रहा है कि प्रियतम ही भ्रमर बने उसके चारों ओर उड़ रहे हैं । वह भ्रमरों की ओर हाथ ऊँचा कर लपकती है । सुगन्धा रानी का प्रियतम प्रेम देखकर स्वयं भावाविष्ट होने लगती हैं । उन्हें रानी के रोम-रोम में प्रियतम भरे दृष्टिगोचर होते हैं । वह देखती है रानी तो मात्र श्रीकृष्ण-प्रवाहिनी रस-धन

प्रतिमा हैं । इनमें अपना अहं, स्व है ही नहीं । प्रियतम ही प्रियतम हैं । उन्हें रानी की केशराशि से लेकर चरण-तालु तक प्रत्येक अंग में मात्र मुसकाता साँवरा मुख दिखता है। उन्हें आश्चर्य होता है कि ऐसा भी हो सकता है क्या ? नलिनी कहती है कि प्रियतम श्यामसुन्दर की भी यही दशा है । एक बार कुंज में वह उनके अंगों में भी तैल मर्दन का सौभाग्य पा चुकी है । उनके अनावृत अंगों में जब उसकी दृष्टि गई तो वह आश्चर्यचकित हो गयी । वहाँ प्रिया ही प्रिया की छवि भरी थी । ललिता, विशाखा एवं चित्रादि सखियाँ रानी को कहानी सुनाती हैं । जिससे उनका ध्यान बँटा रहे । वे भावाविष्ट नहीं हो पावें ।

"तुझे पता है आज मध्याह्न काल के विहार के समय विशाखा एक नवीन कौतुक भरी लीला करने वाली है ? रानी जिज्ञासा से ललिता की ओर देखती हैं । ललिता तत्क्षण कहती है तू पहले उबटन और स्नान तो सम्पन्न कर । मैं सुनाती जा रही हूँ । रानी अपना ध्यान ज्यों ही ललिता की ओर केन्द्रित करती है, त्यों ही ललिता नलिनी एवं सुगन्धा को संकेत करती है कि वे केशों में कंघी करलें और शीघ्रता से उबटन समाप्त करें ।

ललिता पुन: बात आगे बढ़ाती है । रात्रि को प्रियतम विशाखा के कुंज में थे, यह तो तुझे ज्ञात ही है । रानी हुंकार देती है । विशाखा ने प्रियतम से कपटपूर्वक उनके धारण किये सभी वस्त्र, आभूषण, वंशी आदि चुरा लीं और इनके स्थान पर नवीन वैसे ही सभी वस्त्राभूषण उन्हें पहना दिये। रानी की जिज्ञासा बढ़ जाती है। रानी दत्तचित्त ललिता को निहार रही है । पाटला ने आँवला, कल्क आदि के द्वारा रानी के केशों का संस्कार करना प्रारंभ किया ।

ललिता कहने लगी - अब विशाखा मेरे पास अपनी चतुराई से प्रसन्न हुई आई और कहने लगी - सखी ! तू स्वीकृति दे दे तो आज प्रियतम से छद्म किया जाय ? उसने कहा कि आज मध्याह्न में श्यामला को प्रियतम के रूप में सजाया जाय । श्यामला तो प्रियतम का दूसरा रूप है ही, रूप में, लावण्य में, सुकुमारता में, ऊँचाई में, चाल-ढाल में, शरीर रचना में, बोल-चाल में, हँसने-खेलने में विनोद में, मिलन में - वह तो प्रियतम की पूरी प्रतिमूर्त्ति ही है । अस्तु । श्रृंगार होने पर श्यामला सर्वथा प्रियतम का रूप ही हो जायेगी ।

रानी की जिज्ञासा अतिशय तीव्र हो उठी । उसने पूछा - तब ? आगे की बात फिर बताऊँगी - पहले तू स्नान कर ? ललिता के यह कहते ही रानी

झटपट उठकर स्नान चौकी में आकर बैठ जाती है। मंजुलीला स्वर्ण घटों से जल ला रही है । गुण मंजरी उनका साथ दे रही हैं । अहा ! जल कुण्ड़ों में पद्म, गुलाब, केवड़ा , खस के पुष्प रात भर से गिरे हैं । जल में पुष्प सार तैरने लगा है । जल समशीतोष्ण है और अतिशय सुगन्धित हो उठा है । रत्नजटित स्वर्णघटों से जलधारा प्रिया पर गिरती ऐसी शोभा पा रही है मानो वृक्षों से लदे सुमेरु पर स्वर्ग से गंगा गिर रही हो । ललितादि सखियाँ रानी के अंगो-अंगो को मल रही हैं । गुणमंजरी मोटी-मोटी जलधारा डाल रही हैं। रानी के अंगों में से मलने से परम सुन्दर अंगगंध निसृत हो रही है।

रूप मंजरी अति झीना वस्त्र लेकर उपस्थित हैं । ललिता उसे रानी के गीले अंग में लपेट कर उनके पुरातन वस्त्र उतरवाती है । रूप मंजरी बहुत से वस्त्र लिये हैं । रति मंजरी रानी के केशों को सुखाने के लिये एक वस्त्र में सब केशों को कसकर बाँध रही है । केलि मंजरी उनकी पीठ को महीन मल-मल के वस्त्र से पौंछ रही हैं । रति उनकी ग्रीवा, मुख एवं स्तनों को पौंछकर उदर आदि अंगों को पौंछ रही हैं । रानी के अंग ज्यों-ज्यों मले जा रहे हैं त्यों ही त्यों उनका कंचन वर्ण कुन्दन की तरह दमकने लगता है । रानी का अनावृत सौन्दर्य देखकर ललिता मनौती करती है कि कहीं प्रियतम इस शोभा को देख पाते । यह शोभा उनके लिये दुर्लभ है। हाय ! चन्दन, कस्तूरी लेप से तो रानी की शोभा आच्छादित हो जाती है । यह लेप्य सामग्री रानी को कुरूप करती है। उनकी प्राकृत श्रृंगार शून्य छवि से श्रृंगार भी श्रृंगारित होता है, रानी का निरावरण अनन्त सौन्दर्य तो इस ऊपरी श्रृंगार से ढ़क ही जाता है ।

अब मंजुलीलाजी ललिता सखी को रानी के कटि भाग में पहनाने के लिये स्वर्ण तन्तुओं द्वारा अनुपम शिल्प किया हुआ अत्यन्त सुन्दर लाल खोपनाओं से भूषित अत्यंत मूल्यवान नीले रेशम से बना हुआ लहँगा पहनाती हैं । रानी को लँहगे के स्थान पर पुनः श्याम सुन्दर ही अपने कटि देश से लिपटे दृष्टिगोचर होने लगते हैं । बस वे भावाविष्ट हो जाती हैं ।

ललिता पुनः जोर से बोलकर कहती है - "न तो तू पूरी कहानी सुनेगी, न ही नन्दभवन जायेगी ? यहीं इसी प्रकार तुझे पड़ी रहना है तो प्रियतम भूखे ही वन को जायेंगे ? मैं तपस्विनी पौर्णमासी को निवेदित कर देती हूँ । वे कोई दूसरा उपाय करें ।

ललिता का रोष काम कर जाता है । रानी को पुनः बाह्य ज्ञान हो आता है। अत्यन्त विनयपूर्वक कहती हैं - "बहिन ! मेरे नयनों पर मेरा वश नहीं है, वे बार-बार हर वस्तु में उनकी छवि जीवन्त देखने लगते हैं तो क्या करूँ । फिर चित्त भी वश में नहीं रहता, वह भी उनमें डूब जाता है । हाँ, तो फिर विशाखा ने श्यामला का श्रृंगार किया ?" ललिता कहने लगी - सारी कहानी सुनाऊँगी और आज सूर्यपूजन के लिये चलेंगे तो यही लीला होगी । तू पहले श्रृंगार धारण कर । देख ! सूर्य नभ में कितना ऊपर आ गया । नन्दभवन की गायें वनगमन के लिये हम्मरव कर रही होंगी । शीघ्रता कर ।

रानी श्रृंगार कराने श्रृंगार कक्ष में चलने को प्रस्तुत हो जाती हैं ।

(रानी की स्नान-लीला की पू० गुरुदेव द्वारा रचित कथा केलि कुञ्ज नामक गीतावाटिका गोरखपुर से प्रकाशित पुस्तक में देखें)

श्रृंगार एवं नन्द भवन गमन

राधा प्रति कृष्ण स्नेह सुगन्धि उद्वर्त्तन,
ताते अति सुगन्धि देह उज्ज्वल वरण ।
कारुण्यामृत धाराय स्नान प्रथम,
तारुण्यामृत स्नान मध्यम ।
लावण्यामृत धाराय तदुपरि स्नान,
निजलज्जा-श्याम-पट्ट शाटी परिधान।
कृष्ण अनुरागे रक्त द्वितीय वसन,
प्रणय-मान-कंचुलिकाय वक्ष आच्छादन।
सौन्दर्य कुंकुम सखी-प्रणय चन्दन,
स्मित-कान्ति कर्पूर तिने अंग विलेपन।
कृष्णेर उज्ज्वल रस मृगमद भर,
सेइ मृगमदे विचित्रित कलेवर ।
प्रच्छन्न-मान वाम्य धम्मिल्ल-विन्यास,
धीरा धीरात्मक गुण अंगे पटवास ।
राग ताम्बूल रागे अधर उज्ज्वल,
प्रेम कौटिल्ये नेत्र युगले कज्जल ।
सुद्दीप्त सात्विक भाव, हर्षादि संचारी,

एइ सब भाव-भूषण सब अंग भरि।।
किल किंचितादि भाव विंशति भूषण,
गुण श्रेणी पुष्पमाला सर्वांग पूरित ।
सौभाग्य तिलक चारु ललाटे उज्ज्वल,
प्रेम वैचित्य रत्न हृदये तरल ।
मध्यवय स्थिति सखी स्कंधे करन्यास,
कृष्णलीला-मनोवृत्ति सखी आस-पास।
निजांग सौरभालये गर्व पर्यक,
ताते वसि आछे सदा चिन्ते कृष्णसंग ।
कृष्णनाम-गुण-यश अवतंस काने,
कृष्णनाम-गुण-यश प्रवाह वचने ।
कृष्ण के कराय श्याम रस मधुपान,
निरन्तर पूर्ण कर कृष्णेर सर्वकाम ।
कृष्णेर विशुद्ध प्रेम रत्नेर आकर ।
अनुपम गुण-गण पूर्ण कलेवर ।

भानु किशोरी को सखियाँ सजा रही हैं । उनका श्रृंगार सम्पन्न कलेवर प्रियतम नन्दतनय को परमानन्द-सिन्धु में निमग्न कर देता है। एक मात्र प्राणेश्वर नीलमणि को सुख पहुँचाने के उद्देश्य से ही रानी सज रही हैं। और सखियाँ उन्हें अपने सम्पूर्ण कौशल से सजा रही हैं।

भानु किशारी श्रृंगार सिंहासन में बैठी हैं । प्रभात कालोचित सम्पूर्ण भूषण वस्त्र भूषण पेटिकाओं में से निकाल-निकालकर मंजुलीला सखियों के सम्मुख रख रही हैं । सब सखियाँ अपने मनोरथों के अनुसार जो-जो श्रृंगार चयन करती हैं, वह तो बाहर रख लिया जाता है शेष असंख्य प्रकार का श्रृंगार पुन: यथा स्थान रख दिया जाता है ।

बहुरत्न खचित गजदन्त विनिर्मित स्वस्तिद नामक कंकतिका से श्री मंजुश्यामा उनका केश संस्कार कर रही हैं।

बूझत साँवरि, बहिन ! बतारी ।
हेरि-हेरि अचरज निसदिन अति होउँ अधीर न समुझि गँवारी ।
हौं रचि-रचि कच तोर सँवारत, बेनि निहारि जाउँ बलिहारी ।

पलक परत नहिं परत देत तुम, जानि-अजानि कँपाइ बिथारी ।
सुनत लाड़िली लोचन छल-छल विह्वल गद्‌गद् गिरा उचारी ।
मोर कीर जनि कहिय सबहिं तन कन-कन पूरि रहहिं गिरधारी ।
अलकन यह पिय कौ बंधन लखि सपनहुँ सूल परत उर भारी ।
तुम उन मुकुत सुखी नित निरखउँ चाह परान पिरोवत सारी ।

(पू० गुरुदेव की काव्य रचना)

अपनी सम्पूर्ण चतुराई से श्री मंजुश्यामा अपनी बहिन श्री राधा की वेणी गूँथती हैं । छोटी-छोटी कलियों को यथा स्थान सुगुम्फित करके कुशलता के साथ श्यामला मंजरी उन्हें मालाएँ बना बनाकर दे रही हैं । मंजुश्यामा उन्हें लटों के साथ इस प्रकार गूँथ रही हैं कि वेणी अद्‌भुत सुन्दर हो उठे । पर यह क्या हुआ ? उसका सारा श्रम और श्यामला की सारी चतुरायी व्यर्थ ही हो जाती है। रानी अपनी वेणी को इस प्रकार प्रकम्पित कर देती हैं कि सारे केश बन्धन विहीन होकर उन्मुक्त हो जाते हैं और सभी मालायें भूमि पर बिखर जाती हैं। अपने श्रम को व्यर्थ समझकर खिन्नमना श्रीमंजुश्यामा अपनी बहिन श्री राधा से पूछती हैं - "अरी बहिन ! तू ऐसा क्यों कर देती है ? मैं तो इतने श्रम से चतुराई पूर्वक तेरी वेणी को गूँथती हूँ और तू इस प्रकार से वेणी को प्रकम्पित कर देती है कि केश खुल जाते हैं । और समस्त वेणी गुम्फन ही व्यर्थ हो जाता है ।" रानी बड़े प्यार से अपनी सहोदरा को उत्तर देती है ।" देख, बहिन ! मैं तेरा मन रखने के लिये वेणी रचना करवा लेती हूँ । पर मेरी जब दृष्टि मेरे इन केशों पर जाती है तो मुझे ये केश नहीं प्रियतम दिखाई पड़ते हैं । देख बहिन । ये मोर हैं शुक हैं, संसार इन्हें कुछ भी कहे परन्तु मुझे तो सभी के कण-कण में प्रियतम गिरिधारी ही भरे प्रतीत हो रहे हैं । अब मुझे तो यह मात्र अलकों का बन्धन तो लगता है नहीं, प्रियतम को बँधा मान कर मेरे तो हृदय में भंयकर शूल की पीड़ा होती है । मैं तो उनको नित्यपूर्ण मुक्त एवं सुखी देखना चाहती हूँ । तुम उन्हें मालाओं में, फूलों में पिरोती हो तो लगता है जैसे मेरे प्राण पिरो रही हो ।

अत: रानी के केशों का सखियों द्वारा संस्कार तो हो जाता है परन्तु वे उन्मुक्त वेणी निर्बन्ध ही रहते हैं । अब भी उनमें जल का अवशेष नहीं रहे इसलिये सखियाँ अगुरू, धूप, आमला, ब्राह्मी आदि अनेक औषधियों के धूम

द्वारा रानी के केश कलाप को सुखा अवश्य देती हैं । रानी को नीले रेशम का लहँगा तो स्नान के समय ही पहना दिया जाता है, परन्तु उसके ऊपर लाल रंग का अत्यन्त सुन्दर वसन श्री ललिताजी पहनाती हैं। इस लाल रंग के वसन में नक्षत्रों के समान हीरा मणियाँ जड़ित हैं । तत्पश्चात् रूप मंजरी ने कटिदेश में क्षुद्र घंटिकायुक्त काँची-मेखला धारण करवाती हैं । इस काँची करधनी के मूल प्रदेश में भाँति-भाँति के रत्न पिरोये हुए हैं तथा इनमें पाँच वर्ण के झूमर शुक, नील, पीत और हरिद्रा वर्ण के शोभित हैं ।

मंजुश्यामा एवं विशाखा अब कर्पूर, अगुरु और चन्दन द्वारा श्रीमती का पृष्ठ देश, बाहु-युगल, कुचद्वय, वक्षस्थल आदि विलेपित करती हैं । सिन्दूर से ललाट देश में सीमन्त रेखा लगाती हैं तथा कामयंत्र नामक तिलक रचना करती हैं । चन्दन बिन्दुओं द्वारा तिलक के दोनों पार्श्व में कपोलों तक कस्तूरी से पत्रावली रचना करती हैं । मंजुश्यामा प्रिया के वक्षोजों पर मृगमद द्वारा चन्द्ररेखा, पद्म, मकरी तथा आम्र पल्लव चिचित्र करती हैं। तत्पश्चात् रंगदेवी श्री किशोरी के कर्ण युगलों में स्वर्ण निर्मित कमल कली के आकार के ताटंक युगल पहनाती हैं । तुंगविद्या सखी श्रीराधाकिशोरी के कर्ण युगलों में ऊपर की ओर स्वर्ण से बने अति मनोहर चक्र शलाका द्वय पहनाती है । श्रीविशाखा रानी के नासाग्र भाग में बेसर पहनाती हैं । पश्चात् ललिता पहले कसौटी सिल पर अपने नाखून घिसती हैं, तब मध्यमा अंगुली से मनोज्ञ अंजन द्वारा रानी के नयनों को आँजती हैं ।

श्री विशाखा रानी को गुच्छ नामक हार पहनाती हैं यह वैदूर्य मणियों की दो-दो पंक्तियों के बीच हेम निर्मित बीज के समान लम्बित गुटिकाओं से युक्त है। रानी को मंजुश्यामा गुंजा का हार धारण कराती है। पूर्व रात्रि में प्रियतम ने नृत्य गीतों से रीझकर रानी को उपहार स्वरूप यह गुंजाहार दिया था । जिसे रानी मंजुश्यामा को सम्हला कर भूल ही गई थीं ।

श्री ललिताजी इन्द्रनील मणि के वलय रानी के मणिबंधों में पहनाती हैं। इन्द्रनीलमणि के वलयों के बीच में मुक्तावलि रचित सुवर्ण कंकण शोभा पा रहे हैं । इन कंकणों से श्यामल ज्योत्स्ना की तरह आभा प्रसरित हो रही है। अब ललिता ने नाना प्रकार के अंगुलीयकों को रानी को पहनाया । इन सभी अंगुलीयकों में राधा नाम अंकित था ।

श्री विशाखाजी किशोरी के चरणों में पदवलय आभूषण पहनाती हैं । ये अत्यन्त ही मनोहारी शब्द-ध्वनि किया करते हैं।

अब नर्मदा मालिन कन्या द्वारा लाये लीला कमल श्री विशाखाजी ने रानी के हाथ में दिये । लीला मंजरी ने रानी को स्वर्णमय रत्नखचित दर्पण दिखाया।

चम्पकलता ने पनबट्टे में से सुन्दर एला, लवंग और सुगन्ध द्रव्य से भरा स्वर्ण बरक से आच्छादित हुआ पान का बीड़ा निकाला और रानी के मुख में दिया । श्री मंजुलीलाजी ने आधा चर्वित बीड़ा रानी के मुख से लेकर कुन्दलता को दे दिया । कुन्दलता यह बीड़ा प्रियतम के मुख में दे देगी । कुन्दलता द्वारा लाया आधा चर्वित प्रियतम का बीड़ा मंजुलीला प्रिया के मुख में देती हैं ।

ललिता एक काजल की रेखा दृष्टिदोष निवारण के लिये प्रिया के कपोलों पर खींच देती हैं । परन्तु इस कज्जल रेखा ने तो प्रिया के मुख की सुन्दरता और अधिक अभिवर्धित कर दी है ।

सखियों द्वारा श्रृंगार हो जाने पर रानी गुरुजनों एवं भगवती त्रिपुर सुन्दरी के मन्दिर में प्रणाम करने जाती हैं। लज्जा से झुके नेत्र उनके चरणों में विजड़ित हैं । चलते समय उनके नूपुर झंकार कर रहे हैं । श्री ललिता उनके एक हाथ को थामे हैं । श्री मंजुश्यामा उन्हें कंधे से सहारा दिये हैं ।

अनुपम छवि, अनुपम रूप - लावण्यवती रानी के अंग-अंग से सौन्दर्य चू रहा है । उनके नयनों में अपार वैदग्ध्य एवं अनुराग छलक रहा है । उनके अंग-अंग से कुंदन ज्योति दमक रही है । बारंबार भाव प्रवणता वश वे रोमांचित एवं चमत्कृत होती हैं ।

उनके कटि प्रदेश में कांची नामक आभूषण उनके चलने से इस प्रकार शिंजन ध्वनि कर रहा है मानो यमुनाजी में असंख्य हंसों के यूथ काकली कर रहे हों । उनके चरणों में मंजीर नामक आभूषण की मधुर ध्वनि हो रही है। भिन्न-भिन्न आभूषण सभी संविन्मय होने से अपनी-अपनी सेवा से प्रिया की शोभा को बढ़ाने का प्रयास कर रहे हैं । सबकी भीतरी चाह यही है कि प्रिया के अंगों से एकात्मलाभ प्राप्त कर प्रियतम सुख का संवर्धन करें ।

सद्रूप, सौशील्य एवं मांगल्य की मूर्तिमान स्वरूपा रानी भगवती आद्या शक्ति त्रिपुर सुन्दरी के मन्दिर में उनकी सच्चिन्मयी प्रतिमा को प्रणाम करने पहुँचती हैं ।

श्री त्रिपुर सुन्दरी की प्रतिमा प्रासाद कक्ष में ही प्रियतम।
अद्भुत सुवर्ण से विरचित थी, फिर था प्रभाव ऐसा प्रियतम।

हो जाता स्वत: नमित सबका सिर मन्दिर परिसर में प्रियतम।
हो कहीं चित्त की वृत्ति, किन्तु आते ही सीमा में प्रियतम।

चाहे कोई कैसा भी हो, भावित होता सहसा, प्रियतम।
विस्मृत सब कुछ होकर समाधि मानो लग जाती थी, प्रियतम।
प्रहरी ही होश कराता यह कहकर 'दर्शन कर लो' प्रियतम।
लेकर अञ्जलि में पुष्प तथा पंकिल लोचन से, हे प्रियतम।

जाकर जब अर्पित कर देता, अपने को श्री पद में प्रियतम।
होता था भान तभी उसको अग्रिम कर्त्तव्यों का प्रियतम।
वे अहो ! न जाने कबसे थीं राजित देवी कुल की प्रियतम।
युवराज रूप में ही जब थे वे वर्त्तमान राजा प्रियतम।

ऋषितुल्य पितृ चरणों की ले अनुमति ली थी उनने प्रियतम।
अपने ऊपर संभाल पूरी देवी की सेवा की प्रियतम।
उसके पहले भू देवों के द्वारा अर्चन होता प्रियतम।

वृषभानु राजा के प्रासाद कक्ष में ही भगवती त्रिपुर सुन्दरी की प्रतिमा थी। ये देवी राजा की कुल देवी हैं । प्रतिमा अद्‌भुत स्वर्ण से विरचित है और उसका ऐसा प्रभाव है कि चाहे कोई किसी इष्ट को मानने वाला हो, मन्दिर परिसर में प्रवेश करते ही उसका मस्तक स्वत: ही नमित हो जाता है । किसी की चित्तवृत्ति चंचल भी हो, चाहे कोई कैसा भी हो, मन्दिर की सीमा में आते ही वह भक्ति भावित हो उठता है। उसको सबकुछ विस्मृत हो जाता है और समाधि लग जाती है। उसे मन्दिर का द्वार रक्षक ही होश कराता है कि भाई दर्शन करलो। वह अश्रु भरे पंकिल नेत्रों से अंजलि में पुष्प लेकर जब अपने को भगवती के चरणों में जाकर अर्पित कर देता, तब उसे अग्रिम कर्तव्यों का भान होता है।

वे देवी इस भालुकुल में न जाने कब से शोभायमान हैं, इसका किसी को पता नहीं है । जब वर्तमान राजा युवराज रूप में थे तभी ऋषितुल्य पितृ चरण की अनुमति ले उन्होंने देवी की सेवा का भार अपने ऊपर लिया था, उसके पहले ब्राह्मणों द्वारा ही इनका अर्चन होता था ।

रानी जैसे ही प्रतिमा के चरणों में गिरी वैसे ही दो सुगन्धित पद्म पुष्प रानी के मस्तक पर आशीर्वाद रूप में गिरते है । सम्पूर्ण अन्तरिक्षचारी त्रिलोकी के ऋषि मुनि "अखण्ड सौभाग्यवती भव" का जैसे उद्घोष कर रहे हों , अन्तरिक्ष से बड़ी विलक्षण ध्वनि गुंजारित हो उठती है ।

रानी देवी को कर प्रणाम देवी मन्दिर के बाहर आकर सभी गुरुजनों, ब्राह्मणों, ऋषियों को प्रणाम करती हैं ।

कुन्दलता रानी के स्कंध देश को पकड़कर अत्यन्त प्यार से उसका मस्तक सूँघती हुई कहती हैं - "चल ! तुझे नन्दमहिषी यशोदा ने शीघ्र निमंत्रण दिया है ।" रानी के मुखारविन्द पर उत्कंठा और आनन्द के चिन्ह प्रकट हो जाते हैं । रानी मैया कीर्तिदा को प्रणाम कर नन्द भवन की ओर प्रस्थान का मानस बना लेती हैं ।

वे सभी सखियों सहित तेजी से छत की सीढ़ियों से उतरती हैं तथा महल के पश्चिम की तरफ उपवन में जा पहुँचती हैं । रानी उत्कंठावश इतनी तेजी से चल रही हैं कि रूप मंजरी उनकी नीली रत्नजटित ओढ़नी लेने के लिये पीछे लौटती हैं, उन्हें रत्नजटित ओढ़नी दौड़कर पहुँचानी पड़ती है। ललिता, कुन्दवल्ली सभी को रानी के साथ दौड़कर चलना पड़ता है । वे उपवन के द्वार को पारकर राजपथ में पहुँच जाती हैं। इसी समय रूपमंजरी पीछे से आकर उन पर ओढ़नी उढ़ा देती हैं । ओढ़नी ओढ़े हुए रानी नन्दमहल की ओर गति करती हैं ।

कुन्दवल्ली रानी को वन दर्शन कराती हैं ।

वृन्दारण्य के कण-कण में नव-नव शोभा उमड़ रही है । रानी की दृष्टि कुन्दवल्ली जिधर करती है उधर ही शोभा की राशि बिखर उठती है । कभी कुन्दवल्ली रानी को दक्षिण दिशा की ओर कभी उत्तर दिशा की शोभा पर दृष्टि पात करने को कहती हैं ।

कुन्दवल्ली रानी को नव-नव निकुंज स्थली की ओर लता पल्लव जाल से आवृत सुरम्य वन स्थली की ओर संकेत करती हैं, रानी की दृष्टि वहाँ पर पड़े इसके पूर्व ही प्रकृति की समग्र सुरम्यता वहाँ मूर्त्त होने की स्पर्धा कर उठती है, परन्तु रानी को तो इस शोभा के अन्तराल में भरे उसके प्रियतम ही उसकी ओर मुसकाते, नेत्र नचाते, कुंज की ओर आने का प्रेम निमंत्रण देते, ललित तृभंगी में खड़े दिखाई पड़ते हैं ।

रानी प्रेमावेश से कभी ऐसी काँप जाती हैं मानो उन पर विद्युत गिर पड़ी हो। कभी रोमांचित हो जाती हैं। कभी उन्हें स्वेद प्रवाह हो उठता है। ललिता किसी तरह उन्हें सँभालती हैं। रानी को तो वन-पार करना ही कठिन हो जाता है, परन्तु इसी समय यशोदा मैया नन्दभवन से नान्दीमुखी को पुन: भेजती हैं कि रानी को किस कारण अतिशय विलम्ब हो रहा है। नान्दीमुखी को आयी देखकर सभी सखियाँ उन्हें प्रणाम करती हैं। नान्दीमुखी के साथ अन्य सखियाँ भी हैं। सभी रानी को कंठ से लगाकर सिर सूँघकर आशीर्वाद देती हैं। इन सभी सखियों के साथ रानी नन्दभवन के मुख्य द्वार पर पहुँचती हैं।

नन्दभवन में प्रवेश

श्री ललिता राधारानी के आगे हैं, पीछे मंजुश्यामाजी हैं, कभी पार्श्व में और कभी पीछे गुणमंजरी चल रही हैं। रानी का वाम स्कंध थामे कुन्दवल्ली है। एक ओर नान्दीमुखी हैं। मंजुश्यामा के पास अशोक एवं रति हैं। एक ओर विशाखा हैं।

रानी सभी सखियों के साथ नन्दभवन में प्रवेश करती हैं। श्रीनान्दीमुखी श्री राधाकिशोरी को नन्दभवन का उद्यान दिखती हैं। वे कहती हैं - हे किशोरी रानी, देखो ! यह अप्रतिम शोभाशाली उद्यान महाराज नन्द के परम लाड़िले एवं यशोदा प्राणधन श्रीकृष्ण का परम प्रिय उद्यान है।

'श्रीकृष्ण' इतना नाम सुनते ही श्रीराधाकिशोरी के अंगों-अंगों में जैसे विद्युल्लहरी दौड़ गयी हो, उनके रोम-रोम से कृष्ण, कृष्ण, कृष्ण, कृष्ण प्रतिध्वनि होने लगती है।

नंदनन्दन नन्दभवन के भीतर महल के पास खड़े हैं। नान्दीमुखी श्रीकृष्ण की ओर राधा किशोरी का ध्यान आकृष्ट करती हैं। किशोरी देखती हैं श्रीकृष्ण उन्हीं की ओर देखते मन्द मुसका रहे हैं।

एक क्षण किशोरी के नयन श्रीकृष्ण के नयनों से मिलते हैं। श्री किशोरी रानी लज्जा से संकुचित हो जाती हैं। मन की पुन: दर्शन की लालसा नयन उठाकर देखने को कहती है, परन्तु लज्जा जैसे उनके नयनों को जकड़ कर नीचा कर देती है। उनके पैर स्तंभित हो जाते हैं। गति का नियंत्रण उनके हाथ में नहीं। उनके मन-प्राण बुद्धि एवं इन्द्रियों की समग्र चेतना सिमटकर

नयनों में ही मानो आकर भटक गयी है। मन की लालसा इतना प्रबल जोर मारती है कि लज्जा का अवरोध कुछ शिथिल हो जाता है। नयन ऊँचे हो जाते हैं पुनः प्रियतम श्रीकृष्ण की दृष्टि से उनके नयन मिल जाते हैं। अब तो लज्जा तरंगिणी में ज्वार हो आता है। गाढ़ लज्जा बल-पूर्वक नेत्रों को झुका देती है। अंग जड़ हो जाते हैं। ललिता जोर से कहती हैं - "क्या करती है, यशोदा मैया सम्मुख खड़ी हैं। पैर यन्त्रवत् चल पड़ते हैं। नन्दनन्दन के अत्यन्त निकट से चलकर किशोरी एवं सखियाँ नन्द प्रांगण में पहुँच जाती हैं।

प्रेम विभोर भानु किशोरी को देखकर अखिल रसामृत मूर्त्ति प्रियतम में रस की एक अभिनव नवीन बाढ़ आ जाती है। बिन्दु के रूप में वह रस उनके नेत्रों से छलक कर बहने लगता है। रसमय नेत्रों से वे किशोरी का रूप देखते आये हैं और अनन्त काल तक यही रूप देखते रहेंगे। उनकी दृष्टि में माणिक मोती हीरे जवाहरात का तो कोई मूल्य ही नहीं है। जिसे देख देखकर वे अब तक तृप्त नहीं हुए, अनंत काल तक तृप्त होंगे भी नहीं वह भानु किशोरी का विलक्षण सुन्दर श्रृंगारित रूप यह है --"रानी अपने प्राण-प्रियतम की दृष्टि में उनके स्नेह का उबटन लगाये हुए है। इस उबटन में सखियों का प्रणयरूप सुगन्धित द्रव्य भी मिश्रित रहता है। उसी से किशोरी के अंग स्निग्ध, कोमल, सुगन्धपूर्ण एवं उज्ज्वल हैं। पहले किशोरी रानी कारुण्य रूप अमृतधारा में स्नान करती हैं, यह किशोरी का प्रातः स्नान कौमार है। फिर तारुण्य की अमृतधारा मे स्नान करती हैं, यह उनका मध्याह्न स्नान कैशोर है। ये दो स्नान करने के पश्चात् रानी लावण्य की अमृत धारा में अवगाहन करती हैं। यह किशोरी का सायाह्न तृतीय स्नान (कैशोर-सौन्दर्य) है। स्नान के पश्चात् रानी ने लज्जा रूप साड़ी पहनी है। यह साड़ी श्यामवर्ण की ही होती है और दिव्य श्रृंगार-रसमय तन्तुओं से निर्मित है। रानी कृष्ण अनुराग की अरुण साड़ी भी धारण करती है, तथा प्रणय एवं मान की कंचुलिका से उनका वक्षःस्थल आच्छादित है। रानी के अंग विलेपन में सौन्दर्य रूप कुंकुम, सखी-प्रणय रूप चन्दन एवं अधरों की स्मिति, कान्ति रूप कर्पूर चूर्ण मिश्रित रहता है। रानी ने मधुर रस की मृगमद (कस्तूरी) लेकर श्री अंगों को सुचित्रित किया है। प्रच्छन्न बंकिम मान के द्वारा केशबन्ध की रचना की है। उन्होंने किसी दिव्य धीरा-धीरा सुन्दरी के दिव्य गुणों को लेकर उससे उनका सुगन्धित चूर्ण (पटवास) निर्मित किया

है, वे राग का ताम्बूल ग्रहण करती हैं, इस ताम्बूल-राग से उनके अधर उज्ज्वल अरुणवर्ण हो उठे हैं; प्रेम के कौटिल्य रूप अंजन से वे दोनों नेत्रों को आँजे हैं। सुदीप्त अष्ट सात्विक भाव, अश्रु, स्वेद, रोमाञ्च, कंप, मूर्च्छा, उन्माद, विलय, प्रलयादि तथा हर्ष आदि तैंतीस संचारी भाव-भूषणों को रानी अपने सर्वांगों में धारण किये हैं। किल किञ्चित आदि बीस भाव ही रानी के श्री अंगों के अलंकार हैं। माधुर्यादि दिव्य पचीस सद्‌गुणों की पुष्पमाला से समस्त अंग पूर्ण हैं। सुन्दर ललाट पर सौभाग्यरूप सुन्दर मनोहर तिलक सुशोभित है। प्रेम वैचित्य रूप रत्नहार उनके हृदय पर नाच रहा है।

नित्य किशोर वयस रूप सखी के कंधे पर वे हाथ रखे हैं। कृष्ण-लीलामयी मनोवृत्ति रूप सखियाँ उन्हें घेरे हैं। अपने श्री अंग के सौरभ रूप गृह में वे दिव्य गर्वपर्यंक पर विराजित रहकर सदा श्रीकृष्ण मिलन का चिन्तन करती रहती हैं। कृष्णनाम, कृष्ण गुण, कृष्ण-यश का ही कानों में अवतंस रूप कर्णभूषण अलंकार धारण किये हैं। श्रीकृष्ण नाम, यश, एवं गुण के गान-प्रवाह से उनकी वाणी समलंकृत है। श्यामरस दिव्य श्रृंगार रसरूप मधु से पूरित पात्र हाथ में लिये वे श्रीकृष्णचन्द्र को मधुपान कराती हैं। यही भानु किशोरी के हाथों की शोभा है। समस्त अंगों से एकमात्र श्रीकृष्ण की सेवा होती है - यही किशोरी की अंग शोभा है। प्रियतम श्रीकृष्ण को रानी का बाह्य श्रृंगार दिखता ही नहीं, उन्हें तो वे अपने निर्मल प्रेम की आकार ही प्रतीत होती हैं, उनके अंगों के अन्तराल से प्रियतम प्रेमभूत अनन्त सद्‌गुण चमकते रहते हैं।

योगमाया मञ्च पर अपना वैभव बिखेर कर लीला क्रम का निर्देश करती जा रही हैं तथा उसी क्रम से लीला आगे बढ़ रही है।

पाक रचना भोजन एवं वृषभानुभवन लौटना

नन्दभवन के मुख्यद्वार के समीप नन्दनन्दन खड़े हैं। उनके अत्यन्त निकट से चलकर रानी एवं सखियाँ नन्दप्रांगण में जा पहुँचती हैं। मरकत-मणियों की अकृत्रिम भूमि है। उस भूमि पर स्वर्णमय गुल्म लताएँ एवं द्रुम समूह परिशोभित हैं। कहीं स्वर्ण की वीथियाँ बनी हैं।

स्वर्ण ही स्वर्ण आस्तृत है। मृत्तिका का लेश भी नहीं। और इस स्वर्ण भूमि में मरकत मणिमय वल्लरियों की, गुल्मतरु पंक्तियों की छटा फैल रही है।

कहीं पद्मराग रचित भूमि है तो - उन पर स्फटिक निर्मित गुल्मलता वृक्ष समूह विराजित हैं और कहीं स्फटिक रचित भूमि है तो पद्मराग रचित लताएँ, गुल्म, तरुराजि झूम रही है। मरकत द्रुम समूह कनकलताओं से परिव्याप्त हैं। स्वर्ण पादप श्रेणी मरकत निर्मित वल्लरियों से सुमंडित हो रही है, स्फटिक रचित वृक्षावलि है तो शाखायें विविध रत्नों से बनी हैं, फिर प्रत्येक शाखा मणिमय पल्लवजाल से मंडित है। बहु वर्ण-मणिमयी पल्लवराजि की शोभा अकथनीय है। ऐसे मणिपल्लव नहीं जिनमें रत्नमय कुसुम निकर झलमल नहीं कर रहे हों। कुसुम समूहों से भाँति भाँति के सौरभ झर रहे हैं। वृक्षों के मूल देश में आलवाल निर्मित हैं, मणिद्रवों से ये अपने आप सब ओर से पूर्ण रहते हैं। अत्यन्त सुन्दर मणिमय विहंगमगण इनमें विहार कर रहे हैं।

भवन के प्राचीर का निर्माण हरित मणि से हुआ है। गृह समूह मरकत मय हैं। गृह के आच्छादन स्वर्णमय हैं। स्तंभ प्रवाल निर्मित हैं। वेष्टनी स्फटिक घटित है। गृह चूड़ा वैदूर्य रचित है। अट्टालिकाएँ महानीलकान्त मणि निर्मित हैं। द्वारावलि कुरुविन्द मणि प्रस्तरों से निर्मित हैं। विविध भाँति से सुचित्रित इस भवन की तुलना नहीं हो सकती।

स्थान-स्थान पर शिल्प नैपुण्य से अंकित शुक-पिक आदि पक्षियों की प्रतिकृति भ्रम उत्पन्न कर देती है। यह निर्णय करना ही अत्यंत कठिन है कि ये छबि हैं या जीवन्त विहंगम। छबिमय होते हुए भी सब कुछ चिन्मय। मणिमुक्ता रत्न आदि भी कठोर नहीं अत्यंत कोमल हैं।

नन्दभवन में मुकुन्द माता यशोदा, रोहिणी एवं अन्य गृहपरिजन रानी के स्वागतार्थ महल के बाहर ही खड़े हैं। रानी पर दूर से दृष्टि पड़ते ही मैया आनन्द में डूबने लग जाती हैं। रोहिणी उन्हें नियंत्रण में रखती हैं अन्यथा तो रानी के स्वागत में वे दौड़ पड़ें। फिर भी वे आगे बढ़कर रानी का पुष्प बिखेर कर स्वागत करती हैं। गगन एवं वृक्ष समूह स्वतः ही रानी के पथ को पुष्पास्तृत कर देते हैं।

माता यशोदा को अपने पुत्र नन्दनन्दन को आलिंगन करने में जो सुख मिलता है। वात्सल्य रसघन मूर्ति मुकुन्दमाता अपने रस का आवेग सहन नहीं कर पा रही हैं, उनके नयन प्रेमाश्रुओं से छलछला आते हैं। मुख से केवल 'राधा, वत्से, बेटी !' बस यही निकल रहा है । वात्सल्य रस जैसे मूर्त्त हुआ

उमड़ पड़ा हो, श्रीयशोदा को साक्षात् दिखाई पड़ रहा है इस राधा नामक किशोरी के अंग-अंग रोम-रोम जैसे नील नीरदाभ नन्दनन्दन नामक पदार्थ से ही बने हों । कोटि-कोटि नन्दनन्दन जैसे श्रीराधाकिशोरी के अणु-अणु में भरे मुकुन्दमाता को माँ-माँ पुकार रहे हों । मुकुन्दमाता यशोदा के स्तन वात्सल्य से झरने लगते हैं । सखियों के मस्तक पर माँ के स्नेह दुग्ध की बूँदे अभिषेक कर रही हैं । माता अत्यन्त आश्वस्त हुई रोहिणी से कहती हैं - "अब तो मेरी लाड़िली बेटी आ गयी अब तो एक क्षण में ही सब हो जायगा। रोहिणी रानी को सखियों सहित विश्राम कक्ष में ले जाती हैं । रानी को पथ से थकी जान परिचारिकायें गरम जल में नमक डालकर उनके चरण धुलाती हैं । कुछ देर सभी सखियाँ किशोरी सहित सहते-सहते नमकीन उष्ण जल में चरण रखती हैं । इससे सभी की थकान उतर जाती है । ललिता मंजुलीला को लेकर रोहिणीजी से रसोई में सब भोजन व्यवस्था समझ लेती हैं। तबतक रानी, मधुमती सहित एकान्त कक्ष में विश्राम करती हैं । मधुमती उनके धीरे-धीरे चरण दबा रही हैं ।

प्रिया के नेत्रों के सम्मुख प्रियतम की नन्दोद्यान में दृष्टि में आयी छबि ज्यों की त्यों जीवन्त है ।

अहा ! उसके प्रियतम कितने मनोहर हैं ? उनका वर्ण काजल के समान चिक्कण है । परन्तु काजल में मात्र सुचिक्कणता के अतिरिक्त और कोई गुण तो है नहीं । वह न सुधा के समान शीतल है और न ही सरस; मधुर एवं प्राणों को आप्यायित करने वाली मादकता भी उसमें नहीं है । उसके प्रियतम कैसे मधुर, लावण्यमय, प्राणों को मथने वाली आकर्षण शक्ति से युक्त एवं साथ ही साथ ज्योतिर्मान भी हैं । इन्द्रनीलमणि में ज्योति है• परन्तु उसमें तो जड़ कठोरता है । उसके प्रियतम के अंग-अंग अनाविल ज्योतिर्मान हैं साथ ही पद्मदलों की तरह परम सुकोमल हैं । हाँ, सरसता की दृष्टि से उनकी तुलना कुछ मेघमाला से की जा सकती है । नील कमल उनके अंगों की कोमलता को अवश्यमेव बहुत ही थोड़े अंश में पा सकता है । परन्तु इन सभी के गुण ससीम है । मेरे प्रियतम तो माधुर्य, लावण्य, सौन्दर्य, कान्ति, सरसता, मादकता, आकर्षकता सभी में अपरिसीम, असमोर्ध्व हैं । वे तो विविध क्रीड़ारस के आकार हैं । अहा, उनकी कैसे घुँघराली अलकें हैं।

किशोरी की सम्पूर्ण वृत्तियाँ ध्यान में एकाग्र हो ही रही थीं इतने में ही यशोदा मैया की अति लाड़भरी शब्द ध्वनि उन्हें सुनायी पड़ती है। "वत्से

राधे ! मेरी लाड़िली ! तुम्हारे हाथों निर्मित भोजन सामग्री की प्रशंसा सम्पूर्ण गोकुल कर रहा है । और मेरा पुत्र बलराम एवं कन्हैया तो उसके लिये सदैव लालायित रहते हैं । बेटी तुम्हारी बनायी रस मलाई (पियूष ग्रन्थिपानीय) जो गाढ़े रढ़े मलाईदार दूध और छेना (अमिक्षा) के द्वारा निर्माण की जाती है और अमृतकेलि (मावे की जलेबी), कर्पूरकेलि (रबड़ी, दूध में मलाई के मोटे लच्छे पड़ा मिष्ठान्न) को मेरा वत्स बहुत ही रुचि से खाता है।

श्रीकिशोरी मैया की शब्दावली सुनकर सजग हो जाती हैं । रानी को रसोई घर में ले जाने ललिता आती हैं । रानी का हाथ लगाकर विशाखा शिखरणी बनाने में जुट जाती है । शशिलेखा विशाखा को सहयोग दे रही है। चम्पकलता (दुग्धसार) मावा निर्माण कर रही हैं। तुंगविद्या छाना (आमिक्षा) निर्मित करने लगीं । चित्रा मिश्री खंड बना रही है । रंगदेवी खण्ड-मण्ड बना रही है। सुदेवी खीर (पायस) बनाने जुटी है। मंगला जलेबी (कुण्डलिका) बना रही है। वासन्ती फीनी (मृदुफेनिका) निर्माण कर रही है। कादम्बरी चन्द्रकान्ति (मीठी फीनी) बना रही है । लासिका सत्तू तन्दुल चूर्ण पिण्डि निर्माण कर रही है। कौमुदी शष्कुली गुजिया बना रही है।

सभी सखियाँ एवं मंजरियाँ पाक कार्य में लग जाती हैं । अत्यंत शीघ्र ही सभी सखियों के सहयोग से गुण, सौरभ और रस एवं स्वाद में एक से एक उत्कृष्ट उत्तम सामग्रियाँ भगवती योगमाया स्वयं निर्माण करती जा रही हैं और राधा रानी के सम्मुख रखती जा रही हैं । रानी मात्र उसमें अपना हाथ रख देती हैं, और वह सामग्री अनन्त आयुवर्धक अमृततुल्य हो जाती है।

कांचन वल्ली ने अति सुमधुर मलाई के लड्डू निर्माण कर लिये । मैया यशोदा ने प्रभात ही प्रभात जो सुगंधा नामक गौ के दुग्ध से नवनीत निकाला था, उसमा घृत निर्माण कर लिया मंजुलीला ने । वही घृत सभी सामग्री में प्रयोग हो रहा है । अम्बिका ने वृजराज द्वारा धवला कामधेनु का स्वयं निज हाथों दुह कर रामकृष्ण के पानार्थ जो दूध रखा था उसे खूब रढ़ाकर पीने योग्य बना दिया । शशिमुखी और रंगमाला आम्र, दाड़िम, बदरी, रुचक (सेव), नींबू, केला, अदरक (सौंठ), खारक (खजूर), अमृतफल (अमरूद) आदि सुसंस्कृत कर रही हैं ।

रोहिणी मैया यशोदा को सखियों के सहयोग से रचित सभी सामग्रियाँ दिखा रही हैं । हे यशोदे ! निरीक्षण करो - यह चन्द्रतुल्य पायस, यह कदली

पिष्टक, यह क्षीर-सार, यह आमिक्षाकन्द (छेने की मिठाई) और यह अमृत केलि, सब मधुर मिष्टि राधा ने बना दी हैं ।

ये विविध शाक शकरकन्द, आलू, केला, कूष्मांडों एवं तोरी, लौकी, गोभी, टिण्डों, जमीकन्द आदि मूलों से रचित हैं । अहा ! जायफल, दालचीनी, जावित्री, धना, जीरा, हल्दी, हरी मिर्चादि के संयोग से ये विविध प्रकार के रायते भानुकिशोरी ने बनाये हैं, ये परम सुस्वादु हैं और इन्हें भानुकिशोरी ने नन्दनन्दन की तृप्ति के लिये विशेष मनोयोग पूर्वक रचना किये गये हैं ।

ये विविध, अचार हैं, ये शाक, ये पूड़ियाँ, ये धान्य और ये भिन्न-भिन्न दालें हैं । इस प्रकार सम्पूर्ण सामग्री रोहिणी, यशोदा मैया को अतिशय हर्ष से दिखा रही हैं ।

श्रीयशोदा किशोरी को अत्यंत श्रमित जान अत्यंत प्रेम से उनको अपने हृदय से लगाती हैं, और उनके ऊपर राई लौन वारती हैं, अपने आँचल से उन पर व्यजन करती हैं । रानी रसोई घर से अपने कक्ष में आ जाती हैं । उनकी दृष्टि तो तोरणद्वार में भटक रही है, कहीं श्रीकृष्ण दृष्टिपथ में आ जावें तो उनके प्राणों की सम्पूर्ण थकान मिट जाये ।

पूजागृह के पार्श्व में एक बड़े सुन्दर कक्ष में चतुर्दिक् सुन्दर स्वर्ण के पीठ रखे हैं उन पर मखमल के आसन लगे हैं । उनके ऊपर नवनीत से स्वच्छ वस्त्र बिछे हैं । इन स्वर्णपीठों के सम्मुख स्वर्ण निर्मित चौकियाँ रख दी गईं हैं।

मनोहर आसनों पर मध्य में श्रीकृष्ण एवं बलराम भैया बैठे हैं । उनके सम्मुख श्रीदाम तथा उसके दक्षिण में सुबल । श्रीदाम के बाम भाग में मधुमंगल, फिर वरूथप, तोक, भद्र, सुवाहु, किंकिणी, दाम, अनुदाम और असंख्य सखा श्रीकृष्ण को घेर कर बैठे हैं । यद्यपि कुछ सखा श्रीकृष्ण के पृष्टदेश की ओर भी हैं परन्तु फिर भी प्रत्येक सखा को यही प्रतीत होता है कि श्रीकृष्ण के पास सर्वथा उनके मुख के सम्मुख मैं ही हूँ । किसी को तो यह भी भान होता है कि बलदाऊ भैया उठकर उसके स्थान पर श्रीकृष्ण के सम्मुख आ गये हैं और वह बलरामजी के स्थान पर ठीक श्रीकृष्ण के पार्श्व में बैठा है।

अब भोजन प्रारम्भ होता है। सखियाँ, दासियाँ एवं स्वयं नन्दरानी परोसने का काम कर रही हैं । रानी भीतर बैठी हुई स्वर्ण तश्तरियों एवं कटोरों में सामान सजाकर परात में भर देती हैं । सखियाँ बाहर ले जाकर

परोसती हैं । श्रीकृष्ण मंजुलीला की ओर प्यार भरा संकेत करते हैं । मंजुलीला मेवा एवं केसर से सिक्त चन्द्रवर्णी पायस की कटोरी रानी के अधरों से छुलाती हैं और तब श्रीकृष्ण को परोसने जाती हैं । मधुमंगल इसे देख लेता है । वह संकेत से श्रीकृष्ण की ओर देखकर विलक्षण ढंग से हास्य विनोद करता है । 'देवी प्रसादम्' 'देवी प्रसादम्' कह करके वह जैसे ही बोलने लगता है श्रीकृष्ण उसका मुख लड्डू मिष्ठान्न से भर देते हैं । श्रीकृष्ण नवनीत-धवल, मलाई का लड्डू खाते-खाते नयन कोर से रानी की ओर दृष्टिपात करते हैं और मधुमंगल वह लड्डू यह कहकर झपट लेता है - "तुम मात्र चन्द्र-मुखदर्शन से ही बुभुक्षा शान्त करो, लड्डू मैं खा लेता हूँ।" सखागणों के साथ मुसकाते चपल बाल क्रीड़ा करते श्रीकृष्ण की शोभा अत्यन्त प्रेममय सुन्दर हो जाती है। माता यशोदा श्रीकृष्ण की थाली के सम्मुख आसन लगा लेती हैं और तर्जनी द्वारा प्रत्येक पदार्थ के गुण एवं स्वाद का वर्णन कर-करके श्रीकृष्ण को तृप्तिपूर्वक भोजन करने को उत्साहित करती हैं।

वे कहती हैं - "यह द्रव्य अत्यन्त सुन्दर है, यह बहुत सुमिष्ट है, यह अत्यन्त मनोहर है । कृष्ण, इसे तो अवश्य चखो।" परन्तु श्रीकृष्ण तो जिसे मैया अनुमोदन करती है एवं खाने का आग्रह करती है, वह पदार्थ सखाओं की थाली में डाल देते हैं ।

मधुमंगल माता यशोदा को कहता है "माता ! कृष्ण को तो तुम मात्र स्तनपान कराओ और आलिंगन दान करो - यह तो बस इतने से ही मोटा हो जायेगा । वह तो अति अल्प भोजी ही है । और बलराम रोहिणी मैया के यहाँ से, एवं ये सभी सखा अपने-अपने घरों से पूरे छककर, खाकर आये हैं । इन्हें तनिक भी और खिलाने की आवश्यकता नहीं है । माँ ! मात्र भूखा ब्राह्मण तो मैं ही हूँ । अत: सम्पूर्ण भोजन जो भी तेरे घर बना है, वह सभी तू निस्संकोच मेरी थाली में डाल सकती है। मैं सब खा जाऊँगा । एक कण भी उच्छिष्ट नहीं छोड़ूँगा । हाँ ! तुम, रोहिणी और नन्दबाबा नारायण मन्दिर से तुलसी प्रसाद ले लेना । ब्राह्मण भोजन का फल भी तुम्हें मिलेगा और निराहार व्रत का पुण्य भी । इससे अधिक और तुम्हें चाहिये भी क्या ? शीघ्र करो माँ ! जो कुछ निर्मित है त्वरापूर्वक सब ले आओ।

"अरी माता ! ये सुबल और तोक सिक्त पदार्थ अति अरुचि से खाते हैं, इन्हें तन्दुल और शाक, दाल दे सकती हो । घृत-सिक्त पायस आदि सभी पदार्थ मुझे ही मुझे परोसो ।"

मधुमंगल तृष्णातुर इस प्रकार जीभ में स्वाद ले-लेकर अँगुली चाटता है कि श्रीकृष्ण बलराम एवं अन्य सभी सखा हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाते हैं । श्रीकृष्ण एवं सखा अपनी थाली के सब मिष्ठान्न उसकी थाली में डाल देते हैं। वह कहता है - "निस्संकोच डालो - दुग्ध रचित, घृत पक्व, अग्नि संस्कारित कोई रसमय पदार्थ उच्छिष्ट कभी होता ही नहीं ।" और ब्राह्मण की जठराग्नि सर्वभक्षी है । वह अपवित्र होती ही नहीं ।" मधुमंगल अपनी बाम जाँघ पर ताल ठोककर कहता है - "हे सखा ! जब तक तुम तिरछे तीखे नयनों से देवी-मुख दर्शन करो, तब तक मैं सब खालूँगा।" यह कहकर दीर्घ ग्रास लेता हुआ "और पायस दो, और दधि दो, सिखरन, पंचामृत एवं नवनीत खूब दो, श्रीकण्ड कर्पूर केलि (रबड़ी), मलाई, बरफी के लड्डू और दो" माँगता हुआ भोजन पर टूट पड़ता है । मैया पायस परोसती तो वह सिखरन, पंचामृत, नवनीत चट कर जाता है ।

ये सब सामग्री परोसी जाती है तब तक वह 'पायस-पायस' की रट लगाता है । श्रीराधा एवं सखियाँ श्रीकृष्ण का हँसता और प्रसन्नता से नाचता मुख दर्शन करके आनन्द में निमग्न हो रही हैं ।

अनन्तर सब सखाओं के सहित श्रीकृष्ण की, मञ्जुलीलामंजरी मुखारी कराती हैं । श्रीराधा स्वयं अपने हाथों प्रियतम के लिये ताम्बूल लगाती हैं । कुन्दवल्ली को मंजुलीला इशारा करती है, कुन्दवल्ली श्रीकृष्ण के मुख में अपने हाथ से दो पान की गिलौरी देती है, फिर एक वापस ले लेती है । मधुमंगल ही-ही हँसता है-संस्कृत में बोलता है -**"देवी प्रसादम् देवतार्थ, देव-प्रसादं देव्यर्थम् ।"** जब ललिता मधुमंगल को ताम्बूल देने लगती है तो वह कहता है -**"तपोनिष्ठ ब्रह्मचारी बालोऽहं । मदर्थे इदं ताम्बूलादि श्रृंगार-भोग सामग्री सर्वथा वर्जनीयः। विनिमये यदि लड्डूकं मोदकं देहि तदा सर्वे पूर्णानन्देन ग्रहणीयः।** नयनों से एक बार पुनः राधा किशोरी पर प्रेमपूर्ण दृष्टि निक्षेप कर श्रीकृष्ण विश्रामागार की ओर चल पड़ते हैं। श्रीकृष्ण के दृष्टि से ओझल होते ही सभी सखियाँ पूर्णतया अनमनी हो जाती हैं। श्रीराधा किशोरी में ऐसी व्याकुलता सृष्ट होती है कि मंजुलीला उन्हें रोहिणी एवं कुन्दवल्ली के आग्रह से विश्रामागार के सम्मुख के प्रकोष्ठ में ले जाती हैं, इस प्रकोष्ट में एक ऐसी विशाल आरसी है जिस पर सामने के विश्रामागार में विश्राम करते व्यक्ति का चित्र ठीक सम्मुख ही दिखने लगता है । रानी ओट में बिछे स्वर्ण पलंग पर विश्राम करती हैं और सम्मुख कक्ष में शयन करते श्रीकृष्ण उसे प्रत्यक्ष दिखते

रहते हैं । राधा के प्राणों में प्रियतम दर्शन से अतिशय प्रसन्नता होती है । यही दशा नन्दनन्दन की है । उन्हें भी राधारानी के मुख का दर्शन अपने कक्ष में लगी विशाल आरसी में हो रहा है । इधर गायें नन्दनन्दन के सान्निध्य को प्राप्त करने हम्मारव करने लगती हैं । सखागण भी श्रीकृष्ण को वन प्रस्थान के लिये प्रेरित कर रहे हैं । अतः श्रीकृष्ण को वनगमन करने को उठना ही पड़ता है ।

यह नन्दग्राम शकटाकार बसा है । कहीं-कहीं गोमय के गिरि श्रृंग बने हैं। गोष्ठ की गोशालाओं में सहस्रों गोपियाँ श्रीकृष्ण के रूप-गुण-शील का कीर्त्तन करती कार्यरत हैं ।

एक झुण्ड गाता है - अरी, यो कान्हर कारोरी
दूसरा यूथ गाता है - नहीं यो व्रज उजियारो री
फिर समवेत सभी गाती हैं-सात बरस के साँवरिया ने गिरिवर घार्यौरी
एक झुण्ड पुनः - अरी प्राणन सौं प्यारो री
दूसरा झुण्ड - अरी या पै सरवस वारोरी
समवेत - सात बरस के साँवरिया ने गिरिवर धार्यौरी

गोपगण वत्सों को गौओं से पृथक् करने में असमर्थ हो रहे हैं। गौशालाओं से श्वेत गौएँ नदी की तरह उफनती निकल रही हैं । श्रीकृष्ण को सम्मुख पाकर वत्स एवं गौएँ रुक जाती हैं । सभी हम्मारव करके श्रीकृष्ण के प्रति अपना प्रेम मंतव्य प्रकट कर रही हैं ।

श्रीकृष्ण वनगमन के समय जहाँ-जहाँ अपने पैर रखते हैं - वहीं वहीं पृथ्वी हर्षोत्फुल्ला हुई सुकोमल तृण विकास के रूप में अपना रोमांच प्रकट कर रही हैं । श्रीकृष्ण के पीछे-पीछे सम्पूर्ण ब्रजमण्डल के लोग चल रहे हैं । यशोदारानी तो अपने वन जाते पुत्र को देख व्याकुल है। श्रीव्रजराज, उपनन्द, संनन्द आदि गोप श्रीकृष्ण को वन जाता हुआ देख नीरव, निस्पंद और निस्तब्ध हो गये हैं । सभी एक टक अपने प्राण प्रिय लाला की ओर देख रहे हैं ।

मंगला, भद्रा, श्यामला, पाली, शैव्या एवं चन्द्रावली आदि सभी गोपांगनाएँ अपने-अपने भवनों के मुख्य द्वारों पर खड़ी निर्निमेष नयनों से अपने प्राणवल्लभ को देख रही हैं । मैया यशोदा रानी को एवं सखियों को भोजन करने को कहती हैं परन्तु वे सभी कहती हैं कि अपरान्ह में सूर्य पूजनोपरान्त ही भोजन करेंगी । मैया बहुत सारा भोजन उनके साथ बांध देती हैं और

नान्दीमुखी कुन्दलता को उन्हें वृषभानुभवन तक पहुँचा आने की अभ्यर्यना करती हैं ।

श्यामसुन्दर ने जिस थाली में भेजन किया था, सखियाँ उसी थाली को उठा लाती हैं। इन सभी ने बहुत ही चतुराई से श्रीकृष्ण की भोजनोपरान्त की थाली में मैया द्वारा भेजी सभी मिठाइयाँ सजा सजाकर रख ली हैं तथा सखियों सहित रानी प्रियतम के अधरामृत का प्रसाद लेती हैं । शीघ्रता से वे प्रियतम द्वारा चबाया पान एवं पीक से संयुक्तकर बहुत से पान तय्यार करती हैं एवं परस्पर बाँट लेती हैं । रानी को विदा करती मैया रानी की अँगुली में घनिष्ठा द्वारा मंगायी अँगूठी यह कहकर पहना देती हैं कि "बेटी ! मेरा यह आशीर्वाद अस्वीकार मत करना । मैनें इसे कृष्ण के लिये बनायी थी पर उसे कुछ ढीली होने से वह बार-बार निकाल फेंकता है आज प्रातः तेरी अंगुली देखकर यही अनुमान हुआ कि यह तेरे ठीक बैठेगी ।"

"मेरी लाडिली ! माँ के इस आशीर्वाद को तू ग्रहण कर ले ।" रानी सिर झुका लेती है । मैया के चरणों में गिरकर प्रणाम करती हैं, मैया रानी को हृदय से लगा लेती हैं । मैया की आँखों में अश्रु बहने लगते है । वे रानी की ठोडी पकड़कर चूमती हैं तथा कहती हैं - "बेटी तुझे देखकर प्रायः मुझे भ्रम हो जाता है कि सुबल कहीं कृष्ण को ही साड़ी पहनाकर खेल तो नहीं कर रहा है । फिर पास आने पर तेरे गोरे रंग को देख पहचान पाती हूँ, आह, विधाता ने तुम दोनों के मुख को सर्वथा एक सा ही निर्माण किया है । रानी मैया की बात सुन लजा जाती हैं ।

वृजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण के बिम्बारुण अधरों पर विराजित वेणु की महामोहन स्वरलहरी से, सुबल श्रीदामादि, गोपशिशुओं के कण्ठ से अपने सखा के सुयश की सुमधुर तानों से सम्पूर्ण व्रजमण्डल मुखरित हो रहा है ।

अहो, जननी यशोदा का प्रेमावेश तो देखो। वे पुकार रही हैं -बलराम ! बेटे ! तू नीलमणि के सदा आगे रहना । हे सुभद्र, हे मंडलीभद्र, बच्चों ! मैं इस सुकुमार बालक का सब उत्तरदायित्व तुम्हें दे रही हूँ । हे श्रीदाम ! हे विजय ! हे जय ! तुम इसे कभी अकेला मत छोड़ना । हे वत्स मधुमंगल ! यह श्रीकृष्ण जो भी चंचलता करे, मुझे अवश्य बता देना । मैं तुम्हें भरपेट नवनीत दूंगी । अरे । सुबल तू मेरे लाल के पीछे हो जा । श्रीदाम, ओ दाम, सुदाम, तुम तीनों इसके सदा पार्श्व में रहना । देखो ! शिशुओ तुम इसे

चतुर्दिक आवृत करके ही चलना । यह सब कहते यशोदा के नेत्र निरन्तर झर-झर बरसते रहते हैं ।

> राम ! प्रागस्य पश्चाद्‌भव सुबल ! युवां श्रीलदामन् ! सुदामन्
> दो पार्श्वस्थौ भवेतं दिशि विदिशि परे सन्तु चात्मीय बन्धोः ।
> इत्थं हस्ते विधृत्य प्रतिशिशु दिशती तत्र कृष्णस्य माता
> तत्तत्कर्माधिकारश्रियमपि ददती नेत्र नीरैरसिक्ता ।।

बस, इससे अधिक वाणी की सामर्थ्य नहीं जो कह सके ।

मैया अंचल पसारकर देवी-देवता मनाने लगती हैं । हे नृसिंह ! प्रभो ! मेरे बालक की रक्षा कीजियेगा । हे पृथ्वी ! हे आकाश ! हे अरण्य ! हे दिक्‌पालों ! तुम सभी मेरे पुत्र के लिये शुभदायक रहना । श्री यशोदा मैया इसी प्रकार की भावना प्रत्येक गोप शिशु के लिये भी कर रही हैं ।

प्रियतम श्यामसुन्दर का पीताम्बर जो कुञ्ज से रानी पहनकर चली आयी थी, मंजुलीला उसे सुबल को लौटाती हैं परन्तु यह किया वे श्रीकृष्ण को दिखाकर उन पर ऐसा कटाक्ष फैंक कर करती हैं, जिससे रानी एवं प्रियतम दोनो लजा जाते हैं । गोचारण के लिये वनगमन को समुत्सुक श्रीकृष्ण प्रिया को सुगुप्त संदेश देने के लिये मंजुलीला को पत्र प्रदान करते हैं और मंजलीला भी प्रिया का संदेश उन्हें देती हैं ।

अब प्रियतम असंख्य सखाओं सहित हँसते-खेलते गोचारण को जा रहे हैं। किशोरी उनके पीछे अपनी सखियों सहित एक ही पथ में कुछ दूर जाती हैं। प्रियतम बार-बार मुड़कर प्रिया की ओर देखते हैं। जब श्रीकृष्ण प्रिया की ओर ताकते हैं मंजुलीलाजी प्रिया का घूँघट किसी न किसी मिस से उठा देती हैं और रानी को वन अथवा ब्रजशोभा दिखाने के मिस प्रियतम से आँखें चार करवा देती हैं । इस प्रकार वे दोनों को अतिशय संतुष्ट करके उनकी आदर तथा स्नेह भाजन होती हैं । किशोरी की आँखें सजल हो उठती हैं । परस्पर दोनों का हृदय अपने भावों का आदान-प्रदान करता विह्वल हो उठता है। इन गुप्त संकेतों द्वारा उन दोनो के अपने -अपने प्रेम भावों के निवेदन को मात्र सखियाँ ही जान पाती हैं और कोई अनुमान भी नहीं कर सकता है । नन्दावास से चलकर किशोरी वनपथ की ओर अग्रसर होने लगीं । इस समय किशोरी के नेत्रों में प्रियतम की छवि भरी रहती है । उन्हें सम्पूर्ण राजमार्ग

ही कृष्णमय प्रतीत हो रहा है । अति कठिनता से वे पथ को पहचान भी पा रही हैं । अवश्य ही ललिता विशाखा आदि उन्हें संभालकर ले चलती हैं जिससे कहीं कोई बाधा नहीं आ पावे । रानी घर पर आकर धम्म से अपने बिछोनों पर गिर पड़ती हैं । ललिता रानी के सिर को अपनी गोद में ले लेती हैं और पंखा झलने लगती हैं । अवश्य ही किशोरी के मन में क्या-क्या विचार आ रहे हैं इसे कोई नहीं जान पाता ।

सखियाँ सूर्य पूजा की सामग्रियाँ प्रस्तुत करने में संलग्न हैं । मंजुलीला किशोरी के लिये पूजोचित पवित्र रेशमी वस्त्र और वैसे ही अलंकार और श्रृंगार सामग्री निकालकर ललिता को दे रही हैं ।

वंशीध्वनि एवं वनगमन

रुन्धन्नम्बुभृतश्चमत्कृतिपरं कुर्वन्मुहुस्तुम्बुरं ।
ध्यानादन्तरयन् सनन्दनमुखान् विस्मापयन्वेधसम् ।
औत्सुक्या बलिभिर्बलिं चटुलयन् भोगीन्द्र माघूर्णयन् ।
भिन्दन्नण्डकटाह भित्तिमभितो बभ्राम वंशीध्वनि: ।।
(श्रीहरिभक्तिरसामृतसिन्धु)

{यह नन्दनन्दन की वंशीध्वनि वृन्दावन को ही झंकृत करके नहीं रह गयी, अन्तरिक्ष को भी आत्मसात् करने ऊपर उठी, पाताल को प्रकम्पित करने नीचे चली गयी । उधर तो मेघ समूह सहसा रुद्ध हो गये । स्वर्गायक तुम्बरु की दशा विचित्र हो गयी । आश्चर्य में निमग्न विस्फारित नेत्रों से बारंबार वृन्दावन की ओर झाँककर वह इस उन्मद नादका अनुसंधान पाना चाहता था। सनक-सनन्दन प्रभृति ऋषिवर्ग का चिर अभ्यस्त ध्यान टूट गया । विक्षिप्त चित्त हुए वे इस मधुर रस में डूबने उतराने लगे । विधाता के आश्चर्य का भी पार नहीं और उधर दानवेन्द्र बलि की उत्सुकता की सीमा नहीं । चिरशान्त स्वभाव बलि आज अतिशय चंचल हो उठे । भोगीन्द्र अनन्तदेव भी आज घूर्णित होने लगे । समस्त ब्रह्माण्ड को भेदन करती यह ध्वनि सर्वत्र परिव्याप्त हो गयी । सब ओर रस सिन्धु उमड़ चला ।}

इस अमृत पूर का प्रवाह बहाने वाले नन्दनन्दन को इस वंशीवादन की शिक्षा कहाँ कब किससे मिली, यह किसी ने भी नहीं जाना । व्रजेश्वर की आज्ञा से आज गौओं का सुन्दर श्रृंगार हुआ है । सभी सिर उठाये शान्त होकर नन्दनन्दन लाड़िले की प्रतीक्षा कर रही हैं । श्रीकृष्णचन्द्र भी आ ही पहुँचे । एक हाथ में पितृ प्रदत्त लकुट और दूसरे में वंशी । देखो वे कैसी मधुर ललित चाल से आ रहे हैं ।

'उन पर दृष्टि पड़ते ही गौओं में जो आनन्द की लहरों पर लहरें परिलक्षित हो रही हैं उसे देखकर समस्त ब्रजमण्डल अवाक् है । कूदने के अतिरिक्त इन गायों के पास अन्य तो कोई साधन नहीं, जो अपने आनन्द को व्यक्त कर सकें । इसलिये वे हम्मारव करती कूदने लगीं। परन्तु इनके कूदने, चौकड़ी भरने में भी उन्माद एवं उद्दामता नहीं है । मानो वे विलक्षण नृत्य कर रही हों इस प्रकार सर्वथा किसी को भी क्षति नहीं करती वे अद्भुत रूप से अपनी मात्र प्रसन्नता ही व्यक्त कर रही हैं । कुछ रक्षक गोप उन्हें संयत करने की चेष्टा कर रहे हैं, पर सब व्यर्थ । हाँ, ज्यों ही नीलमणि उनके प्राणधन उनके मध्य आकर खड़े हुए, ज्यों ही उन्होने अपना वंशीविभूषित हाथ उठाया, तब तो प्रत्येक गौ जहाँ की तहाँ शान्त हो गयी। अपने प्राणवल्लभ गोपाल की वे कभी भी रंचकमात्र इच्छा की भी अवज्ञा नहीं करेंगी - सभी गोधन इसका प्रमाण दे रहा था । इस दृष्य को देखकर आनन्द विह्वल सभी ब्रजवासी समवेत स्वर से पुकार उठे - "गोपाल नन्द के लाल की जय हो।"

अब एक विलक्षण आश्चर्य घटित होता है, श्रीकृष्ण मात्र आधी घड़ी में ही महर्षि शण्डिल्य से लेकर शत सहस्त्र ब्राह्मणों के एवं असंख्य वयोवद्ध गोप गोपियों के चरणों में प्रणिपात कर लेते हैं । सभी स्पष्ट अनुभव करते हैं यशोदा का नीलमणि आया है, उनके चरणों में सिर रखने को । उन्होंने उसको गले से लगाया है, मस्तक पर तिलक किया है, सिर सूँघा हैं, निर्मिमेष नयनों से रुद्धवाणी से भी आशीर्वाद के वचन फूट पड़े हैं - "चिरजीवी रहो, सुख में फूलो-फलो ।"

प्रत्येक ब्रजकिशोरी तरुणी अनुभव कर रही है - अति सगुप्त न जाने किस पथ से वे उसके पास एकान्त में मुसकाते पहुँच गये हैं; एक मधुर मुसकान, तिरछी चितवन से प्रेमभरी एक कटाक्ष उन्होंने उस पर फैंकी है, उसके अवयव निस्पन्द हो गये हैं और प्राण निर्मिमेष नयनों की राह उनके

साथ ही वन प्रदेश की ओर चले गये हैं, प्राण वियोग भला कैसे सह पावेंगे । जो मधुर प्रेम भाव की शत सहस्र मन्दाकिनी उस समय प्रत्येक गोपी के उरस्थल पर उठ रही है, उसे चित्रित करने की सामर्थ्य साक्षात् देवी सरस्वती में भी नहीं है ।

सखागण समवेत श्रृंगध्वनि कर उठते हैं । ब्रज पुरन्ध्रियाँ मंगलगान कर रही हैं । जननी एवं व्रजेश को किसी अचिन्त्य शक्ति ने ही प्रकृतिस्थ कर रखा है, नहीं तो जैसी उनकी अपने पुत्र को वनगमन के लिये बिदा देते समय की दशा है उससे तो गोचारण आज सर्वथा स्थगित ही हो जाना चाहिये था ।

वृन्दारण्य के कण-कण में यह भावना मानो प्रतिध्वनित हो उठती है - "वनाधिदेवी ! माधव आ रहे हैं । उल्लास युक्त हो जाओ । अपने समग्र रूप, गुण का प्रकाश करो ।" लो ! प्राणवल्लभ नीलमणि के श्रीअंगो के सौरभ पान से मदान्ध हुए भ्रमरों का यूथ गुन-गुनरव करता उनके चतुर्दिक मँडराने लगा। नीलमणि ने इस गुंजन का ऐसा अनुकरण किया है कि अग्रज बलरामजी भी विस्मित हो उठे हैं। भ्रमरों की इतनी सफल और सरस अनुकृति देखकर स्वयं भ्रमर दल चकित हो बोलना स्थगित कर देता है । सखागण "वाह रे कन्हैया ! वाह रे कन्नू मैया !" कह कहकर साधुवाद का मंजुघोष कर रहे हैं।

लो, भ्रमरों की अनुकृति स्थगित हुई तो कलहंसों का दल दृष्टि में आ गया । नीलमणि हंसकुल के अति समीप चले गये । और उनके कूजन में अब उनका स्वर मिलने लगा ।

उन हंसों के नैसर्गिक सुन्दर रव में और नीलमणि की अनुकृति में आश्चर्यमयी एकता ही नहीं हो उठी अपितु इस अद्भुत नव किशोर नर मराल का स्वर इतना चमत्कारिक सरस है कि वराट-वराटी अपनी काकली स्थगित कर देते हैं । और अब उनकी चंचल दृष्ट को आकर्षित कर लिया मयूरों ने। अतिशय शीघ्रता से अपने पीताम्बर के उत्तरीय को उन्होंने हाथों के सहारे पीछे से फैलाकर ऐसा बना लिया मानो नृत्य-परायण अभिनव मयूर का विस्तारित पीताभ पुच्छ हो । तथा यह हो जाने पर देखने ही योग्य होता है उस मयूर दल के तालबन्ध पर उनके सम्मुख ही नील सुन्दर का अनुकरण नृत्य ! उनके महामरकत-श्यामल श्री अंगों की विचित्र भंगिमायें देख-देखकर वे असंख्य गोपाल गोपसखागण उच्च कण्ठ स्वर से हँसने लगते हैं । उनकी

वह उन्मुक्त हँसी गिरि परिसर में सर्वत्र गूँज उठती है । मयूर दल को भी संकोच होने लगता है । पुच्छ संकुचित कर, नृत्य का विरामकर वे देखने लगते हैं श्रीकृष्णचन्द्र की ओर । उन्हें सचमुच ही यही अनुभूति होती है कि ऐसा सुन्दर नृत्य तो वे कभी भी नहीं कर पावेंगे ।

और लो वनाधिदेवी ने अपने आपको ऐसी सज्जा से श्रृंगारित किया है कि आज सौन्दर्य की अधिष्ठातृ साक्षात् लक्ष्मीजी भी चकित हैं । विमान चारी देववर्ग भी इस सौन्दर्य को देखकर स्तब्ध है । नन्दन कानन तो इस सौन्दर्य के सम्मुख कूड़ेदानी में फेंकने लायक हो गया है । समीर उल्लसित होकर सर्वत्र संदेश प्रसरित कर रहा है :- "हे लतागणों । सचेतन होओ । हे तरुगण विकसित होओ ! हे मृगगण, क्रीड़ा करो, हे कोकिलगण ! तुम लोग भ्रमर दल के साथ गायन करो । हे शुक पक्षीवृन्द ! तुम लोग मधुर पदावली पाठ करो । हे स्थावर जंगम तत्वों ! आनन्दित होओ ! प्रियतम प्राणवल्लभ सभी को सुख देने वन में आ रहे हैं । लो देखो ! उनका वंशीनिनाद गूँज उठा । ऊपर आकाश का दृष्य भी देखने योग्य हो गया है । सुर समुदाय की बात तो दूर, हंसवाहन चतुर्मुख ब्रह्माजी भी प्रेम विकारग्रस्त हो उठे हैं ।

अष्टाभि: श्रुतिपुटकैर्नववैणवकाकलीं कलयन् ।
शतधृतिरपि धृतिमुक्तो मराल पृष्ठे मुहुर्लुठति ।।

अपने आठ कर्ण पुटों के द्वारा उस नवीन मधुरास्फुट वेणुध्वनिका रस-पान करते हुए ब्रह्मा विभोर होने लगते, उनका धैर्य छूट जाता तथा वे वहीं हंस के पृष्ठ देश पर प्रेम विवश हुए बारंबार लौटने लगते और सुरेन्द्र के सहस्र नेत्रों से अश्रुबिन्दु झरने लगते । सरलमति गोप सखा आश्चर्य चकित होकर देखते। गगन मेघशून्य है, फिर भी बूँदें गिर रही हैं । शीतल सुखद वृष्टि हो रही है, वन, प्रान्तर आर्द्र होते जा रहे हैं । वृन्दावन की भूमि किसी अभिनव वर्षाधारा से सिक्त हो रही है । इस वेणुध्वनि से वृन्दाकानन में स्थावर-जंगमों का स्वभाव वैपरीत्य तो अनिवार्य घटना है ।

द्रवति शिखर वृन्देऽचञ्चले वेणुनादैर्दिशिदिशि विसरन्ती निर्झराप:समीक्ष्य ।

तृषित खग मृगाली गन्तुमुक्ता जड़ा तैः स्वयमपि सविधाप्ता नैव पातुंसमर्था।

(गोविन्द लीलामृत महाकाव्य)

{विणुनाद का स्पर्श पाते ही स्थिर पर्वत श्रेणियों के शिखर समूह द्रवित हो जाते हैं, पाषाण तरल बनकर चारों ओर बह चलते हैं, अनेक निर्झरों का सृजन हो जाता है । उन्हें देखकर तृषित विहंगम कुल, मृगयूथ पीने के लिये उत्कण्ठित हो जाते हैं, चाहते हैं कि दौड़कर जल पीने जा पहुँचे; किन्तु उनके अंग अवश हो जाते हैं, उनमें एक विचित्र सुखमयी जडिमा आ जाती है तथा स्वयं निकट आयी हुई उस वारिधारा का पान करने की उनकी सामर्थ्य भी समाप्त हो जाती है।

वंशीनादैः सरसि पयसि प्रापिते ग्रावधर्मम्
हंसीः संदानित पदयुगाः स्तम्भितांगी रिरंसूः ।
आसन्नीशाः स्वयमपि जड़ा बद्धपादा न गन्तुं
ताम्यो दातुं न विसशकलं नापि भोक्तुं मराला : ।।

बंशीनाद का चमत्कारी प्रभाव सरोवर के जल को जमाकर प्रस्तर का रूप दे देता है । सरोवर में संतरण करते हुए हंसिनी यूथ के पैर भी जमे हुए जल के संपर्क में आकर बँध जाते हैं । साथ ही वे ध्वनि का मधुपान करके स्वयं भी अपने समस्त अंगों से निश्चल हो जातीं हैं। यही दशा हंसकुल की है। घन होकर प्रस्तर रूप में परिणत अपनी हंसिनी को अपना प्यार समर्पित करने की वासना लिये स्वयं भोजन करने के उद्देश्य से चञ्चुपुटों में मृणालखण्ड धारण किये वह मराल कुल भी जहाँ का तहाँ रुद्ध है । न तो वह मराली को मृणालदान कर पाता है और न ही स्वयं भक्षण कर पाता है ।

अतः आज अटवी में प्रवेश करने के कुछ ही काल पश्चात् प्रियतम नीलम ने वंशी निनाद किया । जैसे विरहरूप दावानल से मूर्छित प्रिय अटवी को चैतन्य करने के लिये अमृत वर्षा कर रहे हों । यह अमृत वर्षा वृभभानुपुर में विश्रान्त अपने कक्ष में थकी लेटी किशोरी रानी के कानों को भी रस पीयूष से भर देती है । मानो अपनी प्रिया को आह्वान करने का

मंगलाचरण पाठ हो रहा हो, उनकी अग्रिम लीलाओं की चिर सहचरी वंशी ध्वनि सर्वत्र प्रसरित हो उठी ।

और कदाचित् वन विहार के इस रसमय आवेश में नीलमणि आत्म विस्तृत हो गये । उनके वंशीनिनाद के उन्मादी सुख में डूबकर गोपसखागण भी जडिमा भावग्रस्त हुए अपनी सुध-बुध खो बैठे । गायें भी जो पूर्णतया स्वतंत्र होकर दूर चली गयी थीं, वे भी जड़ हो गयी थीं । उनके मुख का अर्धचर्वित तृणग्रास वहीं का वहीं रह गया था । वे अपने प्राणों का सम्पूर्ण वेग लगाकर आना चाहती थीं अपने नित्यपालक वेणुवादक के पास । परन्तु ऐसी विलक्षण सच्चिन्मयी जड़िमा उनके रोम-रोम में व्याप्त हो गयी कि उनके अंग अवश हुए हिल ही नहीं रहे थे ।

नीलमणि अकस्मात् जाग से उठते हैं । यह क्या कर दिया उन्होने । वंशीध्वनि तत्क्षण स्थगित हो गयी । उसे अपने कमर में उन्होंने खौंस ली । उनके नित्य नव सुन्दर मुखारविन्द पर एक विचित्र सी व्याकुलता परिलक्षित होने लगी । अरे सुबल ! ओ तोक, अरे मणिभद्र, भाई सुदाम ! ओ श्रीदाम ! अरे, तुम्हें क्या हो गया ? उठो, तो भाई । क्या सभी सो गये ? सखाओं के कर्णपुटों में उनकी यह अतिशय मधुर जलद ध्वनि अनिर्वचनीय पीयूष स्रोत का सृजन कर देती है, इसे कौन बतावे ? सभी सखागण जाग उठे से गायों को स्मरण करते हैं । उनके मुखारविन्द पर एक विचित्र सी व्याकुलता परिलक्षित होती है - अरे भैया ओ ! देखो तो सही अपनी गायें कहाँ से कहाँ चली गयीं ? और इस कन्नू की वंशी ने उन्हें भी कहीं दूर सुला नहीं दिया हो ?" इन सखाओं के नेत्रों में किञ्चित् भी चिन्ता, भय व्याप्त हो जाये - यह उनके प्राणसखा को कहाँ स्वीकार है । दूसरे ही क्षण नील सुन्दर के बिम्बारुण अधर-पल्लव पर वह अपूर्व स्मिति व्यक्त हो जाती है । वे दौड़कर निकटवर्ती कदम्ब की ऊँची शाखा पर चढ़ जाते हैं और फिर गूँज उठता है उनका मेघ गंभीर नाद-

पिशंगि मणिकस्तनि प्रणतश्रृंगिपिंगेक्षणे,
मृदंगमुखि धूमले शबलि हंसि वंशिप्रिये ।
इति स्वसुरभीकुलं मुहुरुदीर्ण ही ही
ध्वनिर्विदूरगतमाह्वयन् हरति हन्त चित्तं हरिः ।।
मेघ गंभीरयावाचा नामभिर्दूरगान् पशून् ।
क्वचिदाह्वयति प्रीत्या गो-गोपाल मनोज्ञया ।।

अरी पिशंगि, ओ मणिकस्तनि, री प्रणतश्रृंगि, ओ पिंगेक्षणे, अरी मृदंगमुखी, हे धूमले, अहो हंसि, री वंशीप्रिये, आजा, आजारी ! हीओ ! हीओ ! इस प्रकार प्रत्येक का नाम ले लेकर, स्नेहविवश हुए वे आह्वान करने लगते हैं और अपने प्यारे नीलमणि की इस पुकार ने गायों में नवीन चेतना का मानो संचार कर दिया हो, वे एक साथ हाम्बारव करती अपने प्राणसारसर्वस्व के पास आ जाती हैं । बस, इतना सा ही तो अभिप्रेत था लीलाबिहारी को ।

अब फिर नये कौतुकों का प्रारम्भ हो गया । यह लो ! आगे से आगे सखाओं के प्रस्ताव प्रस्तुत हैं । एक ने कहा - "कन्हैया ! चकोर की बोली बोल सके तो जानूँ ।" दूसरे ने कहा - "मयूर के समान नृत्य तो मैं भी कर लूँगा, उसकी बोली बोलकर सुना ।" अनेक सखा हैं, सबकी अलग-अलग रुचि है । ये चकोर, क्रौंच, चकवा-चकवी, भारद्वाज , कोकिल, मयूर, सभी के मनोरथ पूर्ण करना है उनको ही । राशि-राशि वन-पक्षी शान्त-सुस्थिर उनकी ओर एक-टक देख रहे हैं । सभी के रव का हूबहू अनुकरण कर रहे हैं उनके ये प्राणनिधि ! और वह देखो ! वन के सघनतम अन्तर्भाग से हिंस्र-पशु व्याघ्र सिंह, विशाल अजगर भी बाहर आकर उन्मुक्त वनस्थली में अपने मनोहारी चितचोर के पास चले आये ।

उस वन के किसी चतुष्पद में हिंसा की वृत्ति न थी प्रियतम !
दिनरात परस्पर निर्भय वे सुख से घूमा करते प्रियतम !
उनमें मुनियों की दृष्टि अहो ! थी स्वतः उतर आयी प्रियतम !
मानो एकात्मभाव मन में वे लिये हुए सब थे प्रियतम !!

नीलसुन्दर के प्रति कितना स्नेहभरा है उनकी आँखों में, यह देखते ही बनता है । किन्तु बलिहारी है लीलाबिहारी की लीला की । वे तो भयभीत दौड़ लगा रहे हैं । देखो ! भय मिश्रित उनकी चीख निकल आयी है । अवश्य ही गोप सखा हँस रहे हैं । वे सभी ताली पीट-पीटकर हँसते हुए आनन्दभरी दृष्टि से इन हिंस्र पशुओं से खेल रहे हैं । तोक कृष्ण तो इस व्याघ्र की सवारी करने पर उतारू है । सुबल कन्हैया को बुला रहा है और कहता है -- "अरे भैया तूने कालिय नाग को आहत कर दिया, इस साधारण अजगर से

क्या डरता है ?" किंकणी ने अजगर का मुख खोल लिया है । वह तो बहुत ही विनोदी है - कहता है हमारे कन्हैया ने पहाड़ जैसे अजगर जिसका मुख कन्दरा के समान था, उसको मार डाला, इसका मुख तो मात्र भूमि विवर जैसा ही है । सखाओं की पुकार पर उनके प्राण सखा को तो आना ही था । इन हिंस्र जीवों में अहिंसा की नित्य प्रतिष्ठा है । निसर्ग से ही वैर सम्पन्न जन्तुओं में भी इस व्रजभूमि के प्रभाव से सदा स्नेह की सरिता उमड़ती रहती है।

इस प्रकार नये-नये कौतुक करते श्रीकृष्ण गिरि परिसर में पहुँच जाते हैं। सखाओं में तनिक भी श्रान्ति का भान नहीं हैं । अत: विश्रामका तो प्रश्न ही कहाँ है ? तो लो ! अब उनकी क्रीड़ा चली आँख मिचौनी खेल की । तरु शाखायें परस्पर जुड़कर हरित पत्रों का सुन्दर वितान कर देती हैं । इन लताओं की ओट लेकर एक दल को अरण्य में अपने को छुपाना है और दूसरे दल को उसे खोज निकालना है । सभी चाहते हैं कि इस रंगभूमि के नेता, प्रधान श्रीकृष्ण सबकी आँखों के आगे ही रहें, वे उनसे ओझल कदापि न हों। परन्तु लीला महाशक्ति तो रंगमंच में अब दूसरा दृष्य पट प्रस्तुत करने को उतावली हो रही है ।

अत: आँख मिचौनी लीला में एक दल का नेतृत्व बलदाऊ दादा संभालते हैं और दूसरा दल का नेतृत्व नीलमणि । दूसरा दल एवं नीलमणि लतावल्लरियों की ओट में जा छिपे । मात्र एकक्षण का ही यह उनका अदर्शन सखाओं के प्राणों में व्याकुलता की सीमा का उल्लंघन कर देता है । तुरन्त ही बलदाऊ भैया का दल अपने कन्हैया भैया को ढूँढ निकाल लेता है और विजय के हर्ष से सभी दल नाच उठते हैं ।

अवश्य ही अघटन घटना पटीयसी अचिन्त्य लीला महाशक्ति के विधान से ऐसा आयोजन हो जाता है कि यह एक क्षण का अन्तर्धान का कालमान श्रीराधा कुण्ड पर श्रीराधा किशोरी के दैनन्दिनी विहार की लीला-संरचना के लिये ढाई पहर की लम्बी अवधि बन जाता है । दूसरे शब्दों में यहाँ का एक क्षण वहाँ के ढाई पहर में व्यक्त हो जाता है । श्रीकृष्ण के सखागण उन्हें केवल एक क्षण के लिये अपने से पृथक अनुभव करते हैं और वहाँ राधाकुण्ड में, सूर्यपूजन की ढाई पहर की लीला संघटित हो जाती है ।

श्रीकृष्ण का राधाकुण्ड आगमन

दिन के दूसरे प्रहर में वे रहते अरण्य में थे प्रियतम !
मेरा प्यारा भाई मेरी करता सहायता था प्रियतम !
प्रेषित मैं एक पत्र करती तू भी अवश्य करना प्रियतम !
मेरे प्राणों में प्राण मिला नलिनों में लिख करके, प्रियतम !!

वनदेवी नीलमणि प्राणधन के सरोवर के सन्निकट पहुँचते ही वसन्तश्री से मण्डित होन लगी । भ्रमरगणों की सर्वत्र झंकार मानो उनकी गुणावली पाठ कर रही थी । सर्वत्र पक्षीगणों की काकली मुखरित हो उठी । तरु समूह रस क्षरित करने लगे । लता श्रेणियों ने स्वागत में पुष्पों से समग्र पथ पर आस्तरण बिछा दिया । पत्र चंचल होकर आह्वान करने लगे । मृग मृगी यूथों में तृण भक्षण को विराम देकर वंशीरव से आकृष्ट हुए अपने प्राणवल्लभ के पास चले आये । हरिणियों के चंचल नेत्रों को देखते-देखते प्रियतम नीलमणि को प्रिया किशोरी रानी की स्मृति होने लगी ।

सरोवरों में मदमत्त हुए जल पक्षियों का कलरव प्रियतम के लिये प्रिया के आभूषणों की झंकार बन गया । उत्कृष्ट परिमल तिरस्कारी सुगन्धि भरी प्रस्फुटित कमल श्री उन्हें प्रिया की हसित आननश्री की स्मृति में विसुध कर रही थी । कमलों पर बैठे भ्रमर उन्हें प्रिया के कज्जल रंजित दीर्घ नयन प्रतीत हो रहे थे । रस चूते खिले दाड़िम दंतछटा की स्मृति उद्दीपित कर रहे थे, बिम्ब अधरो की, बड़े-बड़े नारंग उनके उरोजों की स्मृति में उन्हें विसुध बना रहे थे ।

प्रियतम प्राणवल्लभ के लिये सम्पूर्ण वन प्रिया रूप हो उठा था । वे जहाँ जहाँ भी दृष्टि डालते वहीं उन्हें प्रिया ही दिखाई पड़ती । एक अद्भुत असीम व्याकुलता उनमें व्यक्त हो गयी थी । एक चम्पक वृक्ष को देखकर तो उनकी व्याकुलता और तन्मयता दोनों अतिशय प्रगाढ़ हो उठी । श्रीदाम एवं सुबल दोनो वन एवं पर्वत शोभा दिखाकर उनका ध्यान हटाने की चेष्टा करते हैं - "हे सखे ! देखो हम गिरिराज गोवर्धन की तलहटी पर पहुँच गये हैं । अहा ! मणि समूहों की राशि-राशि से कैसा दिव्य प्रकाश उद्भासित हो रहा है । मणिमय आम्रवृक्ष मणिमय मुकुलों से लदे हैं । मणि मुकुलों के क्षरण से स्वर्णिम भूमि रत्नमयी प्रतीत हो रही है । अहा ! इन मणि मुकुलों पर भिन्न-भिन्न मणियों के रंग के भ्रमर गुंजन कर रहे हैं । इनका झूमना और

गुंजन करना कितना मनोरम है । इनके झंकार से तो मलयाचल की मंद समीर भी उल्लसित हो उठी है । देखो न ! इन सरोवरों के जल में गोवर्धन पर्वत की छवि ज्यों की त्यों मूर्तिमान हो रही है । मणि पर्वतों की ज्योत्स्ना लता वल्लरियों से आच्छादित घने वन के अन्त: पट से चमचम चमचमा रही है । इन मणि पर्वतों की चमक से प्रतिबिंबित इस सरोवर का जल भी विलक्षण छटा प्रकाश कर रहा है । गोवर्धन के अन्तराल से निकली यह स्वच्छ जलधारा भी कितनी शीतल-स्वच्छ और मधुर सुस्वादु है ।

परन्तु प्रियतम तो प्रिया की स्मृति में इतने तल्लीन हैं कि सुबल एवं श्रीदाम द्वारा वन शोभा वर्णन उनके कानों में प्रवेश ही नहीं कर रहा है । मयूरों का केकारव उन्हें ऐसा प्रतीत होता है मानों उन्हें एकाकी प्रिया से वियुक्त पाकर मयूरियाँ रुदन करती पूछ रही हों - “राधा कहाँ ? राधा कहाँ ? राधा कहाँ ?”

वे सुबल से कहते हैं - “हे सुबल ! ये हंस-हंसिनी गण मुझ एकाकी को प्रिया-विरह में दुखी देख अपनी भी प्रियाओं को सहानुभूति में त्याग कर उदास मन से कमलिनी के क्रोड़ में अपनी ग्रीवा डाल शान्त लेट गये हैं ।”

“हे सखे ! इन हरिणियों को भी मेरे प्रिया-वियोग का कितना असह्य दु:ख है , ये भी अपने प्रिय मृग को त्याग अति उदास मन से मेरी ओर कैसी दया भरी दृष्टि से निहार रही हैं। यह कृष्णा-कोकिल ‘किशोरी किशोरी’ कूजती हुई हे सखे ! किस प्राणों की आकुलता से इधर-उधर फुदक रही है ? इन लताओं ने मुझे प्रियाहीन जानकर वृक्षों का आलिंगन त्याग दिया है एवं ये वृक्ष भी अधोमुख विषाद में कम्पित हो होकर अपनी व्यथा प्रकट कर रहे हैं। ये भ्रमर पुष्पों का मकरन्द पान नहीं करते, ये मुझे एकाकी विषादयुक्त उदास देख प्रिया का गुणगान कर मेरा मनोरंजन करने का प्रयास कर रहे हैं। और देखो इन पुष्पलताओं की ओर तो दृष्टि पात करो - ये अपनी विकसित पुष्पावली को गिराकर मुझे निवेदन कर रही हैं कि जब प्रिया ही नहीं है तो हम कौन सा साज श्रृंगार धारण करें ? अब तो हमारी सारी सज्जा ही प्रयोजन शून्य है ।”

“हे श्रीदाम भैया ! यदि तुम मुझे जीवित और हँसता, मुसकाता देखना चाहते हो तो शीघ्र मेरी प्रिया को मेरे इस वन में आने का समाचार दे दो । सखियों सहित अपने नूपुरों की झंकार से संपूर्ण वन प्रांगण को मुखरित करतीं, अपनी अमृतमयी दृष्टि निक्षेप से इन विरहिणी वल्लरियों को

जीवनदान देतीं, अपनी मुसकान माधुरी से संपूर्ण जड़-चेतन, स्थावर-जंगम को चैतन्य प्रदान करतीं वे कब इस सरोवर को अपना विश्राम स्थल बनावेंगीं ? मैं परमाकुल चित्त मेरी प्रिया की प्रतीक्षा में रत हूँ । उनके आगमन के बिना न ही यह वन आनन्दित होगा, न ही मेरा हृदय ।"

"देखो न ! यह गोवर्धन जो अनन्त शोभा का आगार है मुझे प्रिया के बिना कितना नीरस, सौन्दर्यहीन, शुष्क दिख रहा है ।"

यह कहते-कहते वे बाह्य चेतना शून्य हो जाते हैं । श्रीदाम उन्हें धैर्य बंधवाने की चेष्टा करता कहता है कि मैं शीघ्र ही रानी को अन्वेषण कर यहीं ला रहा हूँ । सुबल कदली पत्र से उन पर व्यजन करता है । वह राधा-सरोवर का शीतल स्वच्छ जल उनके मुख पर छिड़कता है, फिर भी वे अर्धचेतन दशा में "राधा ! प्राणेश्वरी ! जीवन निधि !" कहकर पुकारने लगते हैं। वे अपने सभी आभूषणों को अपने देह से पृथक कर देते हैं ! हे मुकुट ! तुम मेरे शीर्ष को शोभित क्या करोगे, तुम्हारी कृतार्थता तो प्राणप्रिया के चरणों में झुकने पर ही है । हे मणिमालाओं ! मेरा समस्त श्रृंगार मात्र प्रिया की प्रसन्नता के ही लिये है जब वही मेरे साथ नहीं तो मैं तुम्हें धारण करके क्या करूँगा ? हे नूपुर ! हे कटि किंकिणी ! जब मेरी प्रिया आये तभी तुम मेरे अंगों को सुशोभित करना ! अभी तुम्हारी झंकार मुझे अति कर्ण कटु लगती है। हे कुंडल ! हे केयूर ! तुम सभी को मैं आकुल हृदय से बिदा कर रहा हूँ।

उन्होंने मात्र प्रिया के हाथों गुम्फित वन-माला अपने पास रखी और प्रिया की छवि प्रकाशित करने वाली गज-मुक्ता माला को धारण किये रहे । उन्होंने पीताम्बर को भी अपनी प्रिया के वर्ण का मान अपने पास रखा, शेष सभी आभूषणों को वे उतार-उतार कर चम्पावृक्ष के चरणों में रख देते हैं।

प्रियतम श्रीकृष्ण के भावों में प्रिया के विरह सें एक विलक्षण उदासीनता परिलक्षित हो रही है । उनके अन्तर्हृदय में अतिशय व्याकुलता है, परन्तु बाहर अपने सखाओं के सम्मुख लज्जा का प्रकाश भी है । यह मिश्रित भावदशा देखते ही बनती है । उनके प्राणों में मिलन की इतनी उत्कण्ठा है कि वे सचकित नेत्रों से उस पथ की ओर देखने लगते हैं जिस पथ से श्रीकिशोरी रानी नित्य राधाकुण्ड पर आती हैं । उन्हें भ्रम होने लगता है, वास्तव में ही किशोरी अशोक वृक्ष के आलवाल के समीप खड़ी है । वे हर्षोन्मत्त धीरे से सुबल को कहते हैं - "अरे सुबल ! किशोरी आ गई रे ?"

यह हृदय की भावना वाणी में आते ही उनमे पुन: घनीभूत लज्जा का आवेश हो जाता है । वे अपने भाव को गुप्त करने के प्रयास में अपने दक्षिण की ओर घने आम्र वृक्षों की कुंज में देखने लग जाते हैं । वे अपनी प्रिया के आगमन की भावना में पुन: तन्मय हो जाते हैं । दाहिनी ओर गिरिश्रृंगों की ओर उनकी दृष्टि केन्द्रित हो जाती है । वहाँ एक उत्तुंग शिखर पर उन्हें पुन: किशोरी अवस्थित दिखाई पड़ती है, परन्तु इस बार उन्हें यही प्रतीत होता है कि यह उनके नेत्रों का भ्रम ही है ।

वे मन ही मन अपनी प्रिया राधा को संदेश देने लगते हैं - "प्रिये ! ऋतुराज आज पुष्प वितान तान कर, पुष्पास्तरण आस्तृत कर अपनी इष्टदेवी धरा का पूजन कर रहा है । देखो ! इसने मलय सौरभयुक्त परिमल की धूप सजा रखी है । भ्रमरों के निनाद की शंखध्वनि हो रही है । कोकिल, मयूर स्तुति पाठ कर रहे हैं । किंशुक फूल रहे हैं, यह उसका दीपोत्सव नीराजन है। प्रिये ! आओ !! मैं भी तुम्हारी अर्चना करूँ । इस किंकर की अर्चना ग्रहण कर इसे कृतार्थ करो ।

हे प्रिये ! देखो अति रमणीय कुसुमों से घिरा यह सरोवर दूर-दूर तक शोभा की तरंगों में नाच रहा है । इसके चतुर्दिक असंख्य मयूर नर्त्तन कर रहे हैं । अलिदल अति प्रमत्त हो रहे हैं । हे प्रिये ! आओ इस वन श्री की शोभा निहारकर इसे धन्य भाग्य करो ।

इस प्रकार प्रिया का प्रगाढ़ चिन्तन करते-करते उन्हें ऐसा अनुभव होने लगता है कि जैसे वे ही श्रीराधा हैं और श्यामसुन्दर उन्हें त्यागकर कहीं अन्यत्र चले गये हैं । उनकी 'मैं राधा' यह अनुभूति इतनी प्रगाढ़ हो जाती है कि उन्हें सुबल ललिता अनुभव होता है । यद्यपि उनका यह मनोभाव बाहर प्रकट नहीं होता परन्तु उन्हें 'मैं राधा' की अनुभूति में सम्पूर्ण वन एवं राधा कुण्ड श्रीकृष्ण से भरा दृष्टिगोचर होता है ।

इधर किशोरी रानी के आने का काल हो चुका है । वे अपने आवास से चल पड़ती है । रास्ते में ही श्रीदाम उन्हें मिल जाता है एवं वह श्रीकृष्ण की विरहावस्था की सूचना ललिता को दे देता है। किशारी अत्यन्त तीव्र गति से कुण्ड की ओर प्रस्थान करती हैं ।

{विस्तार भय से शेष अष्ट-याम लीला इस ग्रन्थ के इस भाग में नहीं दी जा रही है । शेष प्रसंग संक्षेप में दिये जा रहे हैं । इसका कारण यही

है कि पू० गुरुदेव जब मंजुलीला भाव में रहे उस समय मैं निरी अबोध बाल्यावस्था में रहा । उस समय समझ ही परिपक्व नहीं हुई थी । जब गोरखपुर में उनसे १९४९ ई० में मिलन हुआ तब वे मंजुश्यामा भाव में परिनिष्ठित हो चुके थे । मंजुलीला भाव में रहते हुए उन्हें जो भी लीलानुभव हुआ है वह श्रीशिवभगवान फोगला के लिये लिखी लीलाओं में व्यक्त है जो बहुत ही हेर-फेर करके उन्होने व्यक्त किया है । वह लीला चरित्र 'केलिकुंज' पुस्तक रूप में प्रकाशित हो चुका है।

मुझे उन्होनें मंजुलीला भाव की कुछ लीलाएँ सुनायी हैं, वे आगे दी जायेंगी । इसी प्रकार सारिका भाव की लीलायें भी आगे उल्लेख की जायेगीं। ये सब लीलाएँ तीसरे भाग में ही लिखी जा पावेंगीं । जो अष्टयाम मेरे पास है, वह उनका मंजुश्यामा भाव का है अत: मंजुश्यामा भाव में शेष अष्टयाम देने का मन है । पू० बाई सावित्री के पास राधाभाव में जब वे थे तबका अष्टयाम है । यदि पू० बाई उसे प्रकट करना चाहेगी तो पाठकों के अवलोकनार्थ वह दिया जा सकता है । अभी तो संक्षेप में ही इस अष्टयाम का आनन्द लें }

अवशिष्ट अष्टयाम लीला

{ यहाँ जितने क्रमांक दिये जा रहे हैं उन सबके पृथक्-पृथक् अध्याय हैं। अब अनुमान ही कर सकते हैं कि सम्पूर्ण लीला कितनी विस्तृत है } (१) रानी राधाकुण्ड में आती हैं । प्रियतम कृष्ण कुण्ड में खड़े हैं । दोनों का प्रथमत: दृष्टि मिलन होता है फिर प्रेम जनित अथाह त्वरा लिये प्रिया-प्रियतम इस प्रकार प्रगाढ़ आलिंगन में गुँथ जाते हैं जैसे एक प्राण एवं दो तन हों । वन प्रान्त के सभी पक्षीगण शोभा देखकर मुग्ध हुए सात्विक विकारों से पूर्ण हो उठते हैं । सम्पूर्ण वन ही विलक्षण भाव-समाधि में भर जाता है । (२) प्रिया-प्रियतम के विश्राम के लिये मंजुलीला ने अत्यधिक शोभाशाली सुन्दर पुष्पकुंज निर्माण किया है, इस पुष्प मन्दिर में अतीव सुखद पुष्पाशय्या का अतीव कलात्मक कुशलता से वे मनोरमा और गुण मंजरी के सहयोग से निर्माण कर रही हैं । इस शय्या और विश्रामगृह की शोभा देखकर आँखें आश्चर्य से विस्फारित हो उठती हैं । (३) रानी एवं प्राणवल्लभ इस मंजुलीला रचित अत्यधिक शोभाशाली पुष्प मन्दिर में विश्राम करने प्रवेश करते हैं और

मंजुलीलाजी औषधि युक्त सुगन्धित जल से दोनों के चरण परात में पखार रही हैं । चरण पखारने के उपरान्त वे अपनी उन्मुक्त अति दीर्घ केशराशि से दम्पति के चरण पौछ रही हैं ।

प्रिया प्रियतम पद्म पर्यंक में विराजित हो जाते हैं । मंजुलीला दोनों पर चँवर डुलाती हैं । श्रीललिता के संकेत से चँवर डुलाने का कार्य गुण मंजरी को सौंपकर मंजुलीला प्रिया प्रियतम को मादक मधु पिलाने के लिये मधुपात्र लाती हैं । विलक्षण स्वादभरा मादक मधु से भरा पात्र मंजुलीलाजी ललिता को देती हैं, विशाखा भिन्न-भिन्न रत्नों के विशिष्ट आकृति के प्याले दोनों के हाथों में दे देती हैं और ललिता उन रत्न-प्यालों में मधु उडेलती हैं । प्रिया को जो मधु दिया जा रहा है उसका मरकत वर्ण है और प्रियतम को जो मधु दिया जा रहा है उसका वर्ण चम्पा के समान है । प्रिया प्रियतम परस्पर अपने हाथों पहले एक दूसरे को पिलाने का आग्रह करते हैं । प्रिया चाहती हैं प्रियतम उसके मधु पात्र को अपने अधरों से स्पर्शित कर लें एवं एक घूँट पी लें तब वे पान करें, ठीक इसी प्रकार प्रियतम चाहते हैं कि प्रिया पहले उनके पात्र को अधर संस्पर्शित करके घूँट एक पी लें तब वे पान करें । प्रिया सखियों के सम्मुख लज्जा कर रही हैं क्योंकि प्रियतम मधुपान कराते हुए उन्हें अपने अंक में बैठाना चाहते हैं और अतिशय प्यार से मधुपान कराना चाह रहे हैं । मंजुलीला तदनुसार अन्तःपट कर दे रही है । अन्तर्पट इतना झीना है कि सखियों को सारी शोभा तो दिख ही जाती है, परन्तु फिर भी प्रिया समझती हैं कि प्रियतम उन्हें एकान्त में ही मधुपान करा रहे हैं । मधुपान कराते कराते प्रियतम प्रिया के अधरों को भी अपने अधर से संस्पर्शित कर लेते हैं । इससे प्रेमजन्य ऐसी आनन्द लहर दोनों के अंगों में व्याप्त हो जाती है, जो मात्र किसी भाग्यवान् के संविद् में भले ही व्यक्त हो पावे, लेखनी में तो असंभव ही है ।

(४) लो ! मंजुलीलाजी ने अपने पन-बट्टे में से अति सुन्दर दो ताम्बूल की गिलौरियाँ निकाली हैं और एक गिलौरी प्रिया के मुख से अर्धचर्वित करवा के प्रियतम के मुख में दे दी है और दूसरी गिलौरी को प्रियतम से अर्धचर्वित कराके प्रिया के मुख में दे रही हैं । जब मंजुलीला यह ताम्बूल प्रियतम को प्रदान करती हैं उसी समय प्रियतम अपने मुख का चर्वित ताम्बूल परम रसभावित रूप में अपने मुख से ही उनके मुख में दे देते हैं । यद्यपि

मंजुलीला बहुत ही तीक्ष्ण निषेध करती है, अतिशय लजाती हैं परन्तु प्रियतम अत्यन्त औद्धत्य-पूर्वक यह क्रिया कर लेते हैं ।

(शब्दों ने अति संक्षेप में वर्णन किये जाने के कारण इस लीला की पवित्रता, मर्यादा, सौन्दर्य एवं निराविल विशुद्ध सरसता को सर्वथा ही प्रकाशित नहीं किया है, वरं च शब्द तो लौकिकावेश और जगत की मलिन भोग क्रियाओं की ही अभिव्यंजना करते हैं पाठकों से इस दोष के लिये अनन्त चरणवन्दन पूर्वक लेखक क्षमा प्रार्थी है ।)

अब अशोक मंजरी रानी एवं प्रियतम के सम्मुख रत्नजटित पीकदानी रख देती हैं । अशोक प्रिया प्रियतम से पीक उत्सर्जित कराके अधरामृत सनी प्रिया-प्रियतम की पीक नये ताम्बूलों में संयुक्त कर इन ताम्बूलों को सभी सखियों में वितरित करती हैं ।

(५) अब सारिका सखियों को निर्दयी एवं स्वसुखरता कहती हुई अति तीक्ष्ण स्वर में उनकी भर्त्सना करने लगती हैं - उसका रोष यही है कि सखियाँ प्रिया प्रियतम की एकान्त मिलनेच्छा को अन्धी होकर अनुमान ही नहीं कर रही हैं और अपने सुख में मदमाती उन्हें घेरे खड़ी हैं । सारिका के संकेत को समझ कर तुरन्त शुक निकुंज कक्ष के बाहर आ जाता है । सभी सखियाँ एवं मंजुलीला निकुंज के बाहर आ जाती हैं ।

(६) प्रिया प्रियतम के अंगों की मिश्रित अंग गंध इतनी सौरभमयी है, उसकी लहरें सखियों को आनन्द विभोर कर देती हैं । भ्रमरों का दल इस गंध से आकृष्ट हुआ चतुर्दिक गुंजार करता है और पुष्प मन्दिर के पुष्पों पर बैठ जाता है । वह भ्रमित सा यही मान बैठता है कि पुष्प मन्दिर के पुष्पों की ही यह महक है ।

एकान्त मिलन के कारण प्रिया प्रियतम के नूपुर, कंकण, एवं करधनी अतिशय रसमय ध्वनि उत्पन्न कर रही हैं, जिसको सुनकर सखियाँ आनन्द में डूब रही हैं ।

पुष्पमन्दिर निकुंज के लता छिद्रों से प्रिया-प्रियतम की कभी किसी अंग की झाँकी सखियों को हो जाती है जिससे सखियाँ अति निहाल हो रही हैं । प्रिया-प्रियतम के चरण चिन्हों को लता छिद्रों से देख-देखकर उनकी शयन मुद्राओं का अनुमान करती हुई सखियाँ एवं मंजुलीला परस्पर रसालाप कर रही हैं । प्रिया-प्रियतम द्वारा परस्पर रस विलासरत होने पर उनके मुख से सीत्कारादि के रूप में निकली ध्वनियों को सुनकर तथा प्रीतिचिह्न अंकित

करते समय निस्सृत ध्वनियों को सुनकर सभी सखियाँ आनन्दमत्त हो रही हैं।

(७) श्रीमंजुश्यामा प्रिया-प्रियतम के विहार को विरमित हुआ जान उन्हें श्रान्त शयनरत पाकर निकुंज में प्रवेश करती हैं । मध्याह्न काल व्यतीत हो गया है । वे रानी के अंगों में विहार के कारण विकृत हुए कुंकुमादि से श्रृंगार के समय रचित चित्रों को पुन: रचित करती हैं । तिलकादि भी जो विकृत हो गये हैं उन्हें यथोचित करती हैं । वे रानी के श्रीअंगों में चतुस्सम का अनुलेपन कर रही हैं । नख क्षत एवं दंत क्षतादि के चिह्नों को गोपन कर दे रही हैं । उनके भग्न मोतियों के हार एवं रत्नहारों को पिरोकर उन्हें यथास्थन धारण करा रही हैं । श्री मंजुलीला एवं गुण मंजरी उनको इस कार्य में सहयोग दे रही हैं ।

(८) अहा, सखियाँ डलियाओं में अतिशय सुगन्धित अनेकों वर्णों के पुष्प चयन कर ले आयी हैं । श्रीमंजुलीला परम सुन्दर वैजयन्ती माला का निर्माण करती हैं, वे पुष्पों के अति सुन्दर आभूषण भी बनाती हैं देखो, प्रिया प्रियतम के सम्मुख ये सभी वन मालाएँ और आभूषण रख दिये जाते हैं । और वे परस्पर एक दूसरे का श्रृंगार करते हैं । परिहास रत प्रिया-प्रियतम सखियों का भी श्रृंगार कर देते हैं । श्रृंगार करते समय कभी वे ललिता, कभी विशाखा एवं कभी चित्रादि से ऐसा रसमय परिहास एवं रसमय स्पर्श चेष्टा कर लेते हैं जिससे आनन्द की लहरें सखियों में उमड़ने लगती हैं ।

(९) अब ललिता प्रिया के केशों को सँवारने उन्हे वेणी मुक्त कर देती हैं परन्तु प्रियतम स्वयं प्रिया की वेणी रचना करने तत्पर हो उठते हैं । वे स्वर्ण कंघी से प्रिया के केशों को सँवारते हैं । प्रिया भी प्रियतम के केशों को सँवारती हैं और उनकी वेणी रचना करती हैं । प्रिया प्रियतम के नयनों में काजल आँजते हैं और प्रियतम-प्रिया के नेत्रों को अंजन अनुरंजित कर रही हैं। लो, प्रिया-प्रियतम अब परस्पर दोनों के अधर अनुरंजित करते हैं, उरोजों में पत्रावलि रचना करते हैं । दोनो एक दूसरे के चिबुकों पर कस्तूरी से बिन्दु रचना कर रहे हैं ।

(१०) श्रृंगार समाप्त होते ही मंजुलीलाजी प्रिया प्रियतम को अनंग गुटिका, सीधु-विलासादि, रति सुखवर्धक अति सुस्वादु रसायन खिला रही हैं ।

(११) ललितादि सखियाँ अपने-अपने कुंजों से अनेक प्रकार के सरस एवं मधुर फल चयन करके लाती हैं और प्रिया प्रियतम को खिला रही हैं ।

प्रिया-प्रियतम सखियों को भी साथ-साथ खिलाने की अतिरसमयी चेष्टा करते हैं । प्रियतम ललिता विशालादि सखियों के अधरों से खाया हुआ आम्र अमृत फलादि स्वयं खा लेते हैं । इस प्रकार प्रीति वर्धन करने वाली लीलायें हो रही हैं ।

(१२) सखियाँ कुंज में से ही किसी स्थान से सुन्दर रसोई बनाकर प्रिया-प्रियतम को भोजन कराती हैं, वे सभी स्वयं भी उनका अधरामृत सना प्रसाद भोजन कर रही हैं ।

(१३) प्रिया-प्रियतम वन विहार को चलते हैं । श्रीमंजुलीला प्रिया की वीणा लेकर उनके पीछे-पीछे चल रही हैं । एकान्त स्थान में प्रिया-प्रियतम को वीणा वादन करके सुनाती हैं । प्रियतम वेणु वादन द्वारा उनका साथ देते हैं । ऐसा रसमय समा बँधता है कि उसका वर्णन असंभव है।

(१४) लो बसन्त कुञ्ज में सखियों के साथ प्रिया-प्रियतम होली खेलते हैं। मंजुलीला प्रिया को प्रियतम पर छिड़कने के लिये केसर जल से भरी पिचकारी प्रदान करती हैं ।

(१५) पावस कुंज में प्रिया-प्रियतम की झूलन लीला होती है । एक से एक मनोहर कुंज हैं, कहीं मोतियों का पूरा कुंज है जिसमें मोतियों के ही झूले लगे हैं, कही वज्रमणियों का कुंज हैं और उसमें वज्रमणि का झूला है, कोई नीलमणि का, पुखराज का, स्वर्ण कुन्दन का, रजत का कुंज है उसमें वैसे ही झूले हैं, कोई पुष्पों का कुंज है, पुष्पों के झूले हैं, कही फलों का कुंज है और फलों के ही झूले हैं - इस प्रकार असंख्य झूलों में प्रिया-प्रियतम झूलते हैं। मंजुलीला एवं सखियाँ झोंटा दे देकर उन्हें झुला रही हैं। इतने तीव्र झोंटे लग रहे हैं कि प्रिया तो डर जाती हैं। तीव्र झोंटो के बीच प्रियतम उस तीव्र झौंटा देने वाली सखी को ही उठाकर अपने साथ ले लेते हैं । कभी ललिता को, कभी विशाखा को इस प्रकार अपने साथ झूले में बैठाकर वे झुलाते एवं उतारते हैं कि किसी सखी को तनिक भी आयास का अनुभव नहीं होता। अति सरस लीला चल रही है।

मधुमती मंजरी अति सरस ध्वनि में वीणा वादन कर रही हैं । कहीं तुंग विद्या आलाप लेकर तान सुना रही हैं। उनका कण्ठ इतना सरस एवं सुरीला है कि झूलन थम जाता है ।

(१६) यहाँ प्रियतम सखियों सहित जल क्रीड़ा कर रहे हैं ।

(१७) यहाँ प्रियतम सखियों सहित पासा खेल रहे हैं ।

(१८) यहाँ प्रहेलिका प्रश्नावली लीला हो रही है ।

(१९) लो, अब प्रिया सूर्य पूजा के लिये जाती हैं । प्रियतम एक बार तो गोचारण में विलम्ब हुआ कहकर वन में चले जाते हैं, परन्तु ब्रह्मचारी बनकर पुनः सूर्य पूजन कराने चले आते हैं । यह छद्‌म ब्रह्मचारी की लीला बहुत ही सरस है।

(२०) सूर्य पूजा सम्पादित करके प्रिया वन से आकर अति श्रान्त थककर महल में शयन कर लेती हैं। परन्तु प्रियतम की प्रगाढ़ स्मृति में उन्हें बार-बार गूढ़ भावावेश होता है। मंजुलीला पर्यंक में शयन करती रानी पर व्यजन कर रही हैं । उनके चरण संवाहन कर रही हैं।

(२१) अब सायंकालीन पाक रचना हो रही है । और मंजुलीला रानी को पाक रचना कार्य में पूर्ण सहयोग कर रही हैं ।

(२२) राधारानी अब अपरान्ह स्नान करने गिरिस्रोत में जा रही हैं । मंजुलीला उनके वस्त्राभूषणादि लेकर उनका अनुगमन करती है । गिरिस्रोत के दूसरे तट पर प्रिया को प्रियतम स्नान करते दृष्टिगोचर होते हैं । दोनो की वनमालायें एक के कंठ से जल में तैरती दूसरे के कंठ में आ जाती हैं। इस प्रकार प्रेम निवेदन होता है ।

(२३) रानी सायाह्न श्रृंगार करती हैं । प्रिया भावाविष्ट हैं । ललिता साम,दाम,दंड,भेद से किसी प्रकार उनका भावावेश शिथिल कर उन्हें श्रृंगारित करती हैं ।

(२४) अब नन्दनन्दन वन से नन्दभवन लौट रहे हैं, सखियों से घिरी वृन्दावनेश्वरी के पीछे-पीछे मंजुलीला भी वन से लौटती सखाओं से घिरी प्रियतम की आवनी लीला का दर्शन करती हैं । प्रियतम अपनी पुष्प गेंद प्रिया पर उछालते हैं जिसे प्रिया हाथों में ले लेती हैं । उसमें रात्रि में किस कुंज में मिलेंगे इसका संकेत रहता है ।

(२५) लो, अब तुलसी सखी आ गयी हैं, रसोई घर से सम्पूर्ण भोज्य सामग्री लेकर मंजुलीला नन्दभवन जाती हैं । साथ में वे प्रिया द्वारा अपने हाथों रचित सुन्दर पुष्प-माला और ताम्बूल जो स्वर्ण बरक से युक्त है प्रियतम को समर्पित करती हैं । वे प्रियतम को निशा मिलन के लिये कुंज-संकेत भी करती हैं ।

(२६) नन्दभवन से लौटती हुईं वे श्रीकृष्ण का प्रसाद उनकी पहनी वनमाला, उनका चर्वित ताम्बूल साथ लाती हैं ।

(२७) रानी के निवास में आकर वे वह प्रसाद रानी एवं सखियों में वितरित करती हैं । वे सायंकाल रानी के कक्ष में अतिशय सुगन्धित धूप जलाती हैं जो रानी को अतिशय प्रिय हैं ।

(२८) रानी को पीने के लिये अतिशय सुगन्धित, केवड़ा पुष्पों से संयुक्त जल प्रदान करती हैं। रानी को भोजनोपरान्त आचमन पात्र में आचमन कराती हैं। रानी को पश्चात् वे ताम्बूल अर्पण करती हैं। अब वे सखियों सहित रानी का एवं प्रियतम का अवशिष्ट अधरामृत प्रसाद भोजन कर रही हैं।

(२९) प्रदोष काल हो गया । अब वृन्दावनेश्वरी का सखियाँ पुनः श्रृंगार करने लगीं । उज्ज्वल पक्ष में रानी को शुभ्र वस्त्र एवं उज्ज्वल स्वच्छ श्वेत मुक्ता एवं वज्रमणियों का श्रृंगार धारण कराया जाता है तथा कृष्ण पक्ष में उनका सम्पूर्ण श्रृंगार नील वस्त्र और नीलम के आभूषणों से ही किया जाता है । कृष्णपक्ष में तो उनकी दंतपंक्ति मिस्सी नामक रंग से काली कर दी जाती है । रानी को तदनुकूल श्रृंगार से सजाने में मंजुलीला ललिता का सहयोग कर रही हैं ।

(३०) रानी अभिसार को जा रही हैं । मंजुलीला उनका अनुगमन कर रही हैं । अहा वृन्दावनेश्वरी के नूपुर और उनकी कटि किंकिणी अतिशय रमणीय ध्वनि कर रही हैं, परन्तु मंजुलीला रानी का निशाविहार-गमन होने से नूपुरों में एवं कटि किंकिणी में वस्त्र बाँधती हैं जिससे निश्शब्द रानी वन-गमन करें ।

(३१) अहा सुदूर संकेत कुंज में स्थित प्रियतम वेणुध्वनि कर रहे हैं ! वह वेणुध्वनि मंजुलीला एवं प्रिया के श्रवणों में पड़ रही है, जिससे दोनों में रस मुग्धता सृष्ट हो रही है । वेणुवादन सुनकर प्रिया में जड़िमा भावोदय हो जाता है । ललिता का संकेत पाकर मंजुलीला प्रियतम के पास जाकर उन्हें वेणुवादन से विरत करती हैं ।

(३२) संकेत कुंज में प्रिया-प्रियतम का मिलन होता है । मंजुलीलाजी विमुग्ध हुई उस अपूर्व मिलन का दर्शन करती हैं ।

(३३) कदम्ब वृक्ष के नीचे सुन्दर पर्यंक में प्रिया-प्रियतम विराजित हैं । शुभ्र शीतल चाँदनी छिटक रही है । संपूर्ण वन आनन्द से भरा है । सखियाँ, नृत्य गीत एवं वाद्यों के वादन से प्रिया-प्रियतम को सुख प्रदान कर रही हैं ।

कभी मंजुलीलाजी प्रिया-प्रियतम को अति सुवासित ताम्बूल भेंट करती हैं, कभी नवीन सुगन्धित पुष्पमाला पहनाती हैं, कभी व्यंजन द्वारा शीतल हवा करती हैं । कभी सुवासित शीतल जलपान कराती हैं । कभी उनके चरण प्रान्त में बैठकर उनके चरण सहलाती हैं ।

सखियाँ प्रिया-प्रियतम का रासोचित श्रृंगार करती हैं । और तब रासोत्सव होता है ? मंजुलीला भी रासोत्सव में सम्मिलित होती हैं और रासोत्सव के पश्चात् परिश्रान्त प्रिया-प्रियतम को सुकोमल शय्या में सुलाती हैं। व्यजनादि द्वारा उनकी सेवा करती हैं । प्रिया प्रियतम के शयन कुंज से थोड़ा सा हटकर उनके रसालाप का श्रवण करती वे उनके कुंज के समीप ही सो जाती हैं ।

यह एवं इससे मिलती जुलती श्रीमंजुलीला की अष्टयाम चर्या रहती है। राधाष्टमी एवं जन्माष्टमी के दो दिन बाद तक नन्दनन्दन की गोचारण लीला और रानी की सूर्यपूजा स्थगित रहती है । इसी प्रकार बसन्त पंचमी से लेकर दोल पूर्णिमा तक भी ये लीलाएँ स्थगित रहती हैं । इन दिनों गोचारण का कार्य गोप ही करते हैं । श्रीकृष्ण बसन्त पंचमी से दोल पर्यन्त होली खेलने सखाओं के साथ वृषभानुपुर जाते हैं और सखियाँ नन्द भवन में आती हैं । होली क्रीड़ा का कार्य ४० दिन तक प्रिया-प्रियतम के मध्य खूब उत्साह के साथ होता है।

मंजुलीला भाव

(प्रियतम द्वारा वंशीवादन करके आवाहन एवं श्रृंगार)

देखो ! देखो !! भाई, ये नीलमयंक देव ललित तृभंग मुद्रा में खड़े हुए त्रिलोकी को मोहित कर रहे हैं । अहा ! इनके अंग-अंग कितने मनोहर हैं । काजल के समान सुचिक्कण इनका वर्ण है । परन्तु इनके वर्ण की सांगोपांग तुलना काजल कदापि-कदापि नहीं कर सकता । काजल में सुचिकणता के अतिरिक्त अन्य गुण कहाँ है, जो इनके वर्ण में भरे हैं । इनका वर्ण सुधा के समान शीतल है, सरस है, मादक है और प्राणों को आप्यायित करने वाला है, साथ ही लावण्य एवं मधुरता से भरा है और कोटि-कोटि चन्द्रों के शीतल प्रकाश को तुच्छ करने वाला तेजस्वी भी है, साथ ही इनका वर्ण परम सविन्मय है । अब काजल विचारा इतने गुण एक साथ कहाँ से अपने में

प्रकट करे । क्या इन्द्रनील मणि उसकी कभी पूरी कर सकती है ? परन्तु इन्द्रनील में मात्र प्रकाश ही तो है, और वह भी ऐसा निर्मल प्रकाश कहाँ जो इन नीलमणिदेव की संतुलना में ठहर सके । फिर वह तो अत्यन्त कठोर पत्थर ही तो है । और नीलकमल ? नीलकमल में किंचित् मात्र कोमलता तो है, परन्तु वह सरसता नहीं है । मेघमाला में सरसता है तो कान्ति की किरणें नहीं हैं, सभी उपमानों के गुण परिच्छिन्न, ससीम, अल्प हैं । ये नीलमणि नन्दतनूज देवाधिदेव रसराज तो माधुर्य, लावण्य, रूप, सौरभ, सौकुमार्य, श्रृंगार, सौशील्य, चांचल्य, यशस्विता आदि सर्वगुणों के असीम, अपरिच्छिन्न सागर हैं । इनके अंगों में पिंगल दुकूल झलमला रहा है । वक्षः स्थल पर रंग विरंगी वनमाला झूल रही है । अंग-अंग पर रत्नजटित आभूषण शोभा पा रहे हैं । परन्तु कण्ठदेश पर विराजित गुज्जा की माला सर्वाभरणों को हेय बना रही हैं ।

विविध रस-विलास के अनुपम आकर हैं, ये ।

लम्बी घुंघराली अलकें हैं जिनसे विविध प्रकार का विलक्षण सुवास प्रसरित हो रहा है । केशपाश विभिन्न पुष्प मालाओं से सुशोभित है । ओह ! कितनी मनमोहक बन गयी है इससे चूड़ा की कान्ति । चमकते हुए ललाट पर चन्दन की खौर अत्यन्त शोभा दे रही है । लीलायुक्त चढ़ी हुई भौहों के विलास से वे कामिनियों का चित्त हरण कर रहे हैं । उनके झूमते हुए कमनीय नेत्र कमलों की छटा धारण किये हैं । गरुड़ की चौंच के समान नुकीली नासिका के अग्रभाग में मुक्ताफल लटक रहा है । दोनों कान स्वभाव से ही मनोहर हैं, विविध-मणि-जटित मकराकृति कुण्डलों से वे और भी भले लगते हैं । उनका प्रतिबिम्ब दर्पण सदृश कपोलों पर पड़ रहा है । जिससे ये कपोल और भी चमक उठे हैं । लावण्ययुक्त मुखरविन्द कोटि-कोटि शशधरों की कान्ति बिखेर रहा है । ठोड़ी विविध हास्य रस की छटा से अत्यन्त मधुर एवं प्रकाशयुक्त प्रतीत हो रही है। कण्ठदेश में मुक्ताहार सुशोभित हैं। अहा ! कितना लावण्य भरा है इस कण्ठ में । त्रिभंगी मुद्रा में खड़े हुए वे त्रिलोकी को मोहित कर रहे हैं । ग्रीवा की मरोड़ कैसी मधुर एवं आकर्षक है । वक्षःस्थल तो मानो लावण्य का आकर ही है । मणिश्रेष्ठ कौस्तुम तथा विद्युत के समान चमचम करती मुक्तामाला उसकी शोभा को द्विगुणित कर रही है। घुटनों तक लटकती दोनों भुजाओं में केयूर एवं कंकण शोभा पा रहे हैं। उदर अत्यन्त मनोमोहक है, उस पर लावण्य अहर्निश क्रीड़ा करता है।

पृष्ठदेश एवं पार्श्वभाग भी अमृत के समान मधुर है । वर्तुल नितम्बभाग सुधा सम्भृत कमल के समान मादक है । कन्दर्प स्वयं मोहित है इसे देखकर। दोनों उरु मनोहर कदली स्तंभों की शोभा को परास्त कर रहे हैं ।

चरण कमल परम मनोहर एवं रत्नजटित नूपुरों से मण्डित हैं। विलक्षण प्रेम एवं आनन्द के सिन्धु ये इन लताओं की ओट में यमुना के मनोहर घाट के प्रस्तर खण्ड में खड़े-खड़े किसी का ध्यान कर रहे हैं । अखिल ब्रह्माण्ड नायक, अनन्त अपरिच्छिन्नैश्वर्य, अचिन्त्य महाशक्ति निकेतन, अपना सम्पूर्ण ऐश्वर्य ज्ञान विस्मृत कर मुग्ध शिशु की तरह ध्यानरत हैं ? परन्तु भाई ! यह ध्यान की कौन सी मुद्रा है ?

लोग पद्मासन लगाकर, सिद्धासन में ध्यान करते हैं, ज्ञानमुद्रा धारण करते हैं । परन्तु ये तो अधरों पर मुरली विधृत कर ध्यान कर रहे हैं । और यह मुरली भी कैसी भाग्यवती है, यह प्रियतम की नव पल्लव सदृश अधर शय्या में तो लेटी है और बिम्ब-बिडम्बी ओष्ठ के आलिंगन-पाश में बद्ध हुई प्राणों की प्रीति सुरभि से संलालित हो रही है । प्रियतम के अति सुकोमलतम कर-पल्लव इसके अंग-अंग को संवाहित कर रहे हैं । अरे भाई । यह मुरली तो प्रियतम की दूती है । प्राणप्रियतम नीलमणि की परमाराध्या प्रिया को यही तो उनके सम्मुख आकर्षित करके लाती है। अतिशय विलक्षण है यह बांसुरी। यह दृष्टिगाचर होती भर है छिद्रयुक्त बाँस की काष्ठ, परन्तु जब इसका रव बजता है तब जिसे यह नन्दतनूज अपने पार्श्व में बुलाना चाहता है, मात्र उसी को तो यह वंशीवादन श्रवणगोचर होता है, अन्य तो इसके श्रवण से बहरे रहते हैं और उसे स्पष्ट अनुभव होता है कि ये नीलसुन्दर उसके सम्मुख ही खड़े अथवा बैठे बाँसुरी में उसका नाम ले लेकर उसे पुकार रहे हैं । आह्वान कर रहे हैं, बस मेरा मात्र मेरा ही ।

फिर क्या संघटित होता है उसे भी सुन लो । जिसका यह नाम ले लेकर नयन मूंदे ध्यान कर रहा है, वह जिस अवस्था में जहाँ, जैसे है वहीं से उसी अवस्था में दौड़ पड़ता है, या दौड़ पड़ती है । उसे अपने तन की स्मृति ही नहीं रहती । मन कहाँ है ? क्या हुआ उसके मन का ? कौन बतावे ? इस वंशी में लगायी फूंक उसके मन, बुद्धि, चित्त, समस्त ज्ञानेन्द्रियों कर्मेन्द्रियों, अहंकार और उसकी आत्मा का भी इन नीलसुन्दरदेव से तादात्म्य कर देती है, इसे तादात्म्य भी नहीं कहा जा सकता ? क्योंकि तादात्म्य में तो पूर्ण विलय हो जाता है । फिर तड़प, जलन, चिन्ता, हाहाकार उसे थोड़े ही

होता है । परन्तु इस फूँक को सुनने वाली तो एक मीठी कसक लेकर यावज्जीवन जलाभाव में मत्स्यी की तरह तड़पती है, हाहाकार करती है और ऐसी आग उसके हृदय में जलती है जिसका अनन्त काल तक विराम ही नहीं होता । फिर तो उसका भोजन-पान छूट जाता है । उसका स्नान ध्यान, उसकी केश संरचना, श्रृंगार, उसका मर्यादा एवं शील व्यवहार, उसका धर्म, उसके पति, पिता-माता, भाई-बन्धु, पुत्र-पुत्री का ज्ञान, उसका निवास सब छूट जाते हैं। उसकी मानस भूमि से सभी - जैसे कभी थे ही नहीं - इस प्रकार विलुप्त हो जाते हैं । आतुर कलिन्दनन्दिनी का प्रवाह जैसे उद्दाम रूप में उद्वेलित हुआ पहले सुरसरि से संगमित होता है और तब नील समुद्र की ओर अविराम दौड़ पड़ता है, उसी तरह वह भी इस वेणु नादामृत रूप सुरसरि से संगमित होते ही एकीभूत धारा हुई नीलसिन्धु प्राणवल्लभ नन्दतनय से मिलने भाग छूटती है । इस वंश-काष्ठ की छिद्रभरी लकुटी का ऐसा ही प्राणोन्मादी प्रभाव है कि इस प्राण-विमोहक स्वर-लहरी की निर्बाध सत्ता के सम्मुख कोई अन्य अस्तित्व रह भी तो नहीं पाता । मात्र एक ही अस्तित्व रहता है और वह है इसका वादक यह नील तृभंगी नन्दतनय ।

तो रानी का समादेश पाकर मंजुलीला अपने मस्तक पर स्वर्ण कलशी रखे पूजार्थ यमुना जल लाने घाट की ओर अग्रसर हुई ही थी । उसके रूप की किरणों से दिशायें उद्भासित हो रही थीं । परन्तु इस नीलमंयक देव की वंशी रूपिणी आवाहन ध्वनि उसके श्रवण-विवरों में पड़ ही गयी। फिर क्या ? पैर भटक गये ? चरण रखती है कहीं, परन्तु पड़ते हैं कहीं । इस प्रकार स्वाभाविक ही उसका पद-विन्यास हो उठा उसी दिशा की ओर, जिधर से यह नीलमंयक देव वंशी की तान छेड़ रहा था ।

मंजुलीला अपने को संवरित करने की चेष्टा करती है, परन्तु अकारण ही उसके नेत्रों से अश्रुधारा बहने लगी। इतना ही नहीं वह देख रही थी कि वृक्ष समूह भी रसों की अटूट धारा बहा रहे हैं । और यमुना भी अपना प्रवाह उलटा कर रही है । यह वंशी ऐसा अमृत रस बहा रही थी कि उसका चित्त उन्माद-ग्रस्त हो उठा । उसे यह नाद चन्द्रमा से अधिक शीतल, निखिल लोक की सम्पूर्ण मधुरिमा से भी अधिक मधुर लगने लगा। वंशीनाद की चुम्बकीय शक्ति उसे आकर्षित कर लायी वहीं नन्दनन्दन के अति समीप और उसके पार्श्व में ही यह अति मोहित हुई आसीन हो गयी ।

अहा ! कैसा चमत्कार है, इसी समय चतुर्दिक वृक्षावलियों और लताओं ने स्वभावतः ही सुन्दर कुंज का निर्माण कर दिया । वल्लरियों ने सुगन्धित रंग बिरंगे पुष्प गिरा-गिराकर आस्तरण निर्माण कर दिया ।

जो भी व्यक्ति नीलसुन्दर की मुसकाती मुख-छवि अपने नयनों के सम्मुख देखने को पा जावे और उसकी अति मधुर वंशी की तान श्रवण-गोचर कर ले - फिर भला क्या वह अपनी देह सुधि को संभाल सकेगा ? कदापि नहीं । सो मंजुलीला स्निग्ध नयनों से अपने प्राणधन रसनिधान प्रियतम को एक-टक निहारने लगी । उसे न तो देह-सुध थी एवं न ही भूत-भविष्य कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान । उसकी पलकें गिरे - यह तो असंभव था । नन्दनन्दन की परम सुन्दर मुख छवि सर्वप्रथम जड़िमा का अस्त्र चलाती ही पलकों पर हैं । सो नयन उस रूप पर स्थिर हो गये । अब पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय, स्नानादि पंचोपचार भी तो करना था । सो नयनों ने अश्रु-वर्षा कर इन सबकी सामग्री भी उपस्थित कर दी । यही तो प्रीति की पद्धति है ।

मंजुलीला अचेतन सी, स्पन्दन शून्य गिर गयी अपने जीवन सर्वस्व प्राणधन के चारु चिन्मय चरणों में । प्राणधन ने उसे भुजपाश में भरकर उठा लिया । परिरंमण के बंधन में आबद्ध हो गयी वह । प्रियतम के नयनों से भी शुचितम अश्रु-प्रवाहिणी धारा अविच्छिन्न प्रसरित होने लगी । इस प्रीति वैकल्य की अवधि कितनी थी - इसे कौन बतावे ? परन्तु जब भी वे प्रकृतिस्थ हुई उस क्षण प्रियतम का कर सरोज उसके मस्तक पर विराजित था । वे उसे पीयूषवर्षिणी दृष्टि से निहार रहे थे ।

किसी के लिये यह सौभाग्य केवल निर्धारित मात्र हो जाय, यही बहुत दुर्लभ प्राप्ति है, व्रजेन्द्र-नन्दन की कृपा-शक्ति शत-सहस्र युगों में ही सही, कभी तो ऐसे सुदुर्लभ संयोग का विधान कर देगी - यह आशा होना भी बहुत ही असंभव सी बात है, फिर ऐसा विधान होकर यह महान् कृपा का अवसर उपस्थित हो जाय, उसके सौभाग्य और जीवन-सार्थकता की तो बात ही क्या है ?

और अब रसामृत सिन्धु में डूबे एवं डुबोते हुए प्रियतम मंजुलीला का श्रृंगार करने लगे । उच्छलित आनन्दोदधि की अमित, अमाप, उत्ताल तरंगों में वे दोनो डूबने उतराने लगे ।

अपने मृदुल कर से उसकी केशराशि को सहला-सहला कर, अतिशय प्यार से अलकावलि को अपने कर-कमलों से सुलझाते हुए, फिर प्यार से उसे

अपने कपोलों से, नयनों से, हृदय देश से लगाते हुए वे उसकी केश-रचना करने लगे । अहा ! एक-एक अलकावलि को वे कितने प्यार से निहारते हैं, फिर उसमें अपने हाथों निर्मित फूलमाला को लपेटते हैं । प्रेमवश उस अलकावलि पर उनकी अश्रु-बिन्दुएँ ढलक कर उसे चिन्मय-रस-सराबोर कर देती हैं, तब उस आर्द्रता को अपने अंचल से सुखाते हैं, उसका प्यार से चुंबन लेते हैं और इस प्रकार प्रत्येक लट को नेह सुधा में आप्यायित करते हुए उसको पुष्पों से अलंकृत करते हैं, मणिमालाओं से गूँथते हैं और केशराशि में कैसी विलक्षण कलाकृतियाँ निर्मित कर देते हैं ।

अहा ! अपने मधुस्यन्दी स्वर से प्रीति मधुभरी वाणी बोल-बोलकर वे मंजुलीला के मानस को प्रीति मधुपूरित करते हुए उसके ललाट पर कस्तूरी पंक से चित्र रचना करते हैं । उसके कपोलों पर पुष्प रचना करते हैं, कानों में पुष्पाभरण तरौना पहनाते हैं, अधरों को सुमनों से निर्मित रंगों से रंजित करते हैं । चिबुक पर कस्तूरी बिन्दु की रचना करते हैं । अहा ! मंजुलीला के नेत्रों में प्रीति उद्रेक से जल कण छलक आते हैं, जिससे उनके नयनों का काजल कपोलों के सब श्रृंगार को बार-बार शुचि श्यामल धारा में परिस्नात करा देता है ।

प्रियतम इसे देखकर मुसका उठते हैं । परम सौहार्द से भरे वे बार-बार अपने हाथों में सुकोमल पीताम्बर छोर लेकर अपनी प्रिया मंजुलीला के आर्द्र नेत्रों को सुखाते हैं, कज्जल की धाराओं से बनी अस्त-व्यस्त रेखाओं को पौछते हैं, उनके कृष्ण दागों को अपने अधरों की लालिमा दे देकर उन्हें पुनः स्वाभाविक वर्ण का बनाते हैं और तब पुनः श्रृंगार करना प्रारम्भ करते हैं ।

अहा मुख का श्रृंगार सम्पन्न कर प्रियतम मंजुलीला का वक्षस्थल श्रृंगारित करने लगे । उन्होने मंजुलीलाजी की कंचुकी अपसारित कर दी । उनके उरोजों के सौन्दर्य का दर्शन करने मात्र से प्रियतम के नेत्र रसानन्द सिन्धु में डूबने लगे । दिव्यातिदिव्य रसवर्षी इन उरोजों में स्वर्णिम कमल कलियों का सा सौन्दर्य व्यक्त हो रहा था । अहा वे नवोत्थित गोलाकार स्तनमंडल अनन्त रस-गुणों की खान थे और प्रियतम के चित्त वित्त को बाँधे हुईं दो चारु गठड़ियाँ थीं । जैसे दो असाधारण लावण्य भरी सहस्रदल अरविन्द की कलिकाएँ परस्पर संलग्न सटी हुई रूपादि दर्प से मदमत्त प्रियतम के सर्वस्वभूत चित्त को चुराने की उद्घोषणा कर रही हों, उनका ऐसा अनंग सागर को उछालता रूप था ।

अपने प्रियतम के अंक में स्थित रहते हुए भी मंजुलीला प्रेम वैचित्त्य की दशा को प्राप्त हो जाती हैं । वे हा प्राणवल्लभ ! तुम कहाँ हो ? इस प्रकार मधुर-प्रलाप करने लगती हैं ।

उरोजों से निस्सरित अप्राकृत दिव्य सुवास से परिपूरित हो उठती हैं प्रियतम की घ्राणेन्द्रियाँ। अहा! ये सौन्दर्यपूर कुचद्वय युगपत् विरुद्ध गुणधर्म प्रकाशित कर रहे थे। अति कठोर भी थे और सुकोमलतम भी थे। प्रियतम की समग्र त्वगिन्द्रियों को ये निसर्ग से अतीत संविन्मय रसानुभव में निमग्न कर रहे थे।

देखो ! देखो ! इन उरोजों में अंकित 'राधा' 'राधा' नाम देखने मात्र से प्रियतम की कैसी निसर्गातीत विलक्षण भावदशा हो गयी है। अहा ! कैसी उद्दाम समर्पण भाव की तरंगें प्रियतम के चित्ताकाश में उठ रही हैं। इस राधा-राधा नामांकन को देखते ही वे अपनी पूर्ण सत्ता ही, अपना समग्र अस्तित्व ही मंजुलीला को दान कर बैठते हैं। वे संकल्प कर बैठते हैं कि इसकी परिणति मेरी स्वरूपभूता 'मंजुश्यामा' में हो जाय। यह बहुत ही अल्प समय मंजुलीला भाव में रहे और तब मेरी प्रिया की नक बेसर रूपा हुई सदा मेरे नित्य निवास प्रिया के ओष्ठ से संलग्न रहे। यह संकल्प करते-करते ही प्रियतम निसर्ग से अतीत संविन्मय रसानुभव में सर्वथा निमग्न हो जाते हैं। कहीं घोर जड़िमा भाव का विकास उनकी कर्मेन्द्रियों में नहीं हो जाय - इस संभावना को देखते हुए वे शीघ्रतापूर्वक किसी प्रकार शेष श्रृंगार सम्पादित कर पाते हैं।

अहा ! प्रियतम प्राणवल्लभ की कैसी विलक्षण दशा हो गयी है। उनकी मन-सत्ता को तो पूर्णरूपेण अपहृत कर लिया मंजुलीला ने और वे मात्र एक स्पन्दन-शून्य अस्तित्व मात्र ही शेष रह जाते हैं। मंजुलीला की भी यही दशा है। उसका मन भी स्वयं अपने पास नहीं रहा - वह भी डूब गया पूरा प्रियतम के मन में। सर्वथा अचेतन, स्पन्दन शून्य दोनों एक दूसरे के बाहुबन्धन में ग्रथित कितनी अवधि तक रहे - इसे कौन बतावे ? किन्तु जब दोनों प्रकृतिस्थ हुए तत्क्षण ही भगवती योगमाया ने मंजुलीला को प्रिया द्वारा कालिन्दी से जल लाने के आदेश की स्मृति करा दी।

वह अपने को सँभालकर शीघ्रता से उठ खड़ी हुई। उन्होंने अपनी स्वर्ण कलशी सँभाली और यंत्रचालित सी चल पड़ीं यमुना तट की ओर। अपरिसीम, गंभीर, उच्छलित आनन्दोदधि की उत्ताल तरंगों में डूबती-उतराती यंत्रचालित सी ही उन्होंने गगरी यमुना जल से भरी। अरे ! वह लघु हेममयी उसकी

हृदय-कलसी तो प्रीतिरस से नित्य ही परिपूरित है, वह रिक्त हो तब तो उसमें कोई भाव तरंग प्रविष्ट हो। वह तो पूर्वत: ही लबालब भरी है। वह अति डगमगी चाल से चल पड़ी प्रिया राधारानी के कुंज की ओर। प्रियतम प्रेम की घनीभूत प्रतिमा, प्रेमास्पद के सुख की उपकरण बनीं उसकी कर्मेन्द्रियाँ यंत्रचालित सी यथायोग्य क्रिया कर रही हैं। उनके मन में भावों का अथाह उफान उठ रहा है। "प्रियतम प्राणनाथ ! मैं तो आपकी प्रिया किशोरी की एक तुच्छ चरण रज कणिका मात्र हूँ। मैं आपके द्वारा इस प्रकार समादृत होऊँ - यह मेरे लिये सर्वथा अयोग्य एवं अनुचित है। क्या आपसे इस प्रकार मेरा मिलन रानी की गौरवमयी मर्यादा के अनुरूप है ? हाय ! आप पुन: मेरे साथ ऐसी कोई प्रीति भरी क्रिया करें इसके पूर्व मैं अपना यह कलंक-पूर्ण मुख ही उसे न दिखाऊँ - यही मेरे लिये उचित होगा। मैं रानी का संग त्याग कर ही चली जाऊँगी। बस, एक बार उनसे क्षमा प्रार्थना कर लूँ। परन्तु उन्हें यह कैसे विश्वास होगा कि जो कुछ भी हुआ उसमें मेरी अपनी तनिक भी रुचि सर्वथा-सर्वथा ही नहीं थी। हाय ! प्रत्यक्षदर्शी साक्षी तो मेरा कोई हो ही नहीं सकता। पक्षीगण भी स्थूल क्रिया की ही साक्ष्य देंगे। भला, मेरे मन को अन्तर्यामी परमात्मा के अतिरिक्त कौन जान पावेगा ?

इसी प्रकार भावोच्छलन के आवर्त्तों में डूबती उतराती वे रानी के कुंज में चली आती हैं। अपने सिर पर रखी जमुना जल की गगरी रूप मंजरी को सौंप वे रानी के वक्षस्थल में सिर रखकर फफक-फफक कर रोने लगती हैं।

रानी की पारखी आँखें तत्क्षण ही अनुभव कर लेती हैं कि इस सरलमति निर्दोष बालिका को उनके छलिया प्रियतम ने इस परिताप की मन:स्थिति में पटक दिया है। प्रियतम ने इसके अंग-अंग का अनावृत श्रृंगार किया है। मंजुलीला के अणु-अणु में उन्हें अपने प्रियतम भरे दृष्टिगोचर होते हैं। उनके मानस में अपने प्राणवल्लभ का संकल्प भी उसी क्षण मूर्त्त हो उठता है। रानी को स्पष्ट अनुभव होता है कि यह उनकी सगी बहिन मंजुश्यामा ही है यह तो मात्र कुछ काल मंजुलीला का नाट्य मात्र कर रही है।

रानी के हृदय में मंजुलीला के प्रतिं कैसा रसमय वात्सल्य उमड़ता है इसे कोई क्या भाषा दे। रानी के हृदय में आत्मीयता की अभिनव उत्ताल लहरें उठ रही हैं।

मंजुलीला अति भावावेश में बोलती जा रही है। "मुझे नहीं चाहिये प्रियतम सुख । मेरा सब सुख मात्र रानी का सुख है। मेरा 'स्व' है ही

कहाँ ? मैं तो बिना मोल की क्रीत दासी हूँ, भला दासी का कोई 'स्व' संभव है। स्वामिनी ही तो उसकी सबकुछ होती है। मैं रानी की मात्र किंकरी हूँ। यावज्जीवन वही रहना चाहती हूँ। मैं उनकी दासियों की दासी हूँ। प्रियतम नीलम रे ..... मुझे क्षमा कर दो मेरे पास मेरा कुछ भी नहीं, सब मात्र रानी का है। इस विषय में तुम्हारी रुचि से मैं पृथक् ही रहूँगी। मैं अवश हूँ - मुझे क्षमा कर दो.... और रानी के नेत्रों से अविरल अश्रुधारा बह रही है जो मंजुलीला को अनवरत नेहस्नान से आर्द्र कर रही है।

मंजुलीला भाव

(प्रिया द्वारा श्रृंगार)

(यहाँ यह बात अच्छी प्रकार ध्यान में रखनी है कि ये सभी लीलायें इतनी उच्च कोटि के अधिकारियों के लिये है जिनका मन लोक और देह के लेशात्मक संस्कारों से सर्वथा परिशुद्ध एवं निर्मल हो चुका है। जहाँ ब्रह्मविद्या एवं वेद ऋचाओं की भी पहुँच नहीं है, उस पवित्रतम राज्य की ये लीलायें हैं। यहाँ का श्रृंगार लौकिक देह-जनित सर्वथा नहीं है। जब प्राणधन नीलसुन्दर मंजुलीला का श्रृंगार करते हैं तो वे उनके महाभाव विग्रह तन में प्रीति के परमोच्च, रति, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव और महाभाव-जन्य परमोच्च महारस तत्व का बीज ही वपन करते हैं। इन महाभाग्यवान् गोपियों के अंग कोई प्राकृत रमणी के अंग तो हैं नहीं यहाँ तो एक अनन्य चिन्मय रसतत्व ही, परम विशुद्धतम सत्व ही परस्पर आश्रय और विषय हुआ लीलारत है। अतः जब राधारानी उनका श्रृंगार करती हैं तब भी वे उस महाभाग्यवान् कृपापात्रा सखी को महाभावोदधि की मोहन-मादनादि अति उच्च महा-गंभीर लहरियों के अनुभव की योग्यता ही प्रदान करती हैं। यहाँ लौकिक रमणी-रमण भाव लाना तो घोर नरक पतन है। अतः रसज्ञ पाठक सदा ध्यान रखें कि विशुद्ध-रस कुरस अरस कदापि नहीं हो।)

तपन तनया के तट पर वृक्षों से चतुर्दिक घिरे और विमल पुष्पाभरणों से लदी लताओं से आच्छादित कुंज में नीलसुन्दर ने मंजुलीला का पूर्ण मनोयोग पूर्वक श्रृंगार किया है। रानी और प्रियतम कोई दो स्वतंत्र पृथक् भिन्न सत्ताएँ तो हैं नहीं। रानी प्राणवल्लभ की प्राणों की प्रतिमा हैं। प्रियतम नीलमणि रानी के प्राण-निवास हैं। रानी सर्वरूप में अपने राजा की हैं और राजा रानी

का - दोनों का यह मधुर परम रमणीय नित्य संबंध है। प्रियतम नीलमणि ही राधा रूप में प्रकट हैं और रासेश्वरी भानुकिशोरी ही श्रीकृष्ण नन्दतनय बनी हुईं हैं। वे किसी को भिन्न दिखें भले ही, भिन्न हैं तो कदापि नहीं। नित्य नवीन लीलाओं के निर्दोष रसास्वादन के क्षेत्र में नित्य भिन्न होते हुए भी, हैं तो नित्य अभिन्न ही। प्रियतम प्राणवल्लभ नीलसुन्दर का जीवन नित्य राधामय है और श्रीराधा का जीवन श्रीकृष्ण जीवन रूप है। प्रियतम में अपनी प्रिया के लिये परमोन्माद है और प्रिया में प्रियतम के लिये सीमारहित प्रेमोन्माद है। वे दोनों ही दोनों के मन के भावों का निर्विवाद अनुभव करते रहते हैं। इसीलिये परस्पर प्रेमी प्रेमास्पद बने हुए उसी भाव से एक दूसरे के मन की करते रहते हैं और दोनों में युगपत् एक दूसरे को सुख प्रदान करने का नया-नया चाव बढ़ता रहता है। दोनों का इस प्रकार संगरहित नित्य संग है। पता नहीं कब से प्रियतम प्रिया बने और प्रिया प्रियतम बनी इस प्रकार खेल कर रही हैं लीला हो रही है। यह नित्य अभिन्नता में नित्य भिन्नता कैसी मधुर और दिव्य है।

तो रानी की दृष्टि प्रियतम के हृदय के भीतरी भावों को आत्मगत कर लेती हैं। नील सुन्दर का मनोरथ रानी के हृत्पटल पर पूर्णतया स्पष्ट अंकित हो जाता है। नील सुन्दर किसी भी सखी, मंजरी दासी के भाव सौन्दर्य सुधा का आस्वादन करना चाहें - उसके भावोदधि से उद्भूत अमृत रस के पान की रुचि उनमें प्रकट हो जाय, रानी के लिये इतना सा संकेत पर्याप्त है।

ये सभी सखियाँ, दासियाँ, मंजरियाँ भी उनसे भिन्न थोड़े ही हैं। उनकी ही कायव्यूह रूपा ही तो हैं। फिर इस महाभाग्यवती मंजुलीला को तो यमुना जल लेने जाने पर उन्होंने वेणुवादन कर स्वयं आकर्षित किया है। उसका नाम ले लेकर आह्वान कर उसे आकर्षित किया है। फिर अपने कर-कमलों द्वारा श्रृंगारित करने के बहाने उसके अणु-अणु में, कण-कण में उन्होंने अपनी हृदयस्थ प्रीति पूर्ण रूप से उँड़ेल दी है। रानी मंजुलीला मंजरी के इस सौभाग्य को बिसार कैसे सकती हैं।

अत: अब प्रियतम श्रीकृष्ण ने जो कार्य अधूरा रखा है, उसे रानी को पूरा करना है। पुरुषोचित भाव के कारण जिन अंगों को प्रियतम रस-सिञ्चित नहीं कर पाये हैं, अथवा मंजुलीला नारी-जनित प्रधान लज्जा-भाव को न त्याग सकने के कारण जिन सुकोमल भावांगों को अवगुंठित रखे रही हैं, उन्हें रानी को रस-सज्जित कर देना है। तभी न मंजुलीला का निराविल

पूर्णमहाभाव रूप निखरेगा जिससे प्रियतम मंजुलीला पर पूर्णतया अपने को समर्पित कर पावेंगे। रसराज तो महाभाव समुद्र में ही समाहित होगा। अन्यथा तो वह इतना असमोर्घ्व है कि समग्र धाराओं को अपने में डुबा लेता है। उस अनन्त सीमाहीन तलहीन रसवारिधि को अपने में लीन करने की भला किसकी सामर्थ्य है ? अत: रानी को मंजुलीला में स्वयं को प्रतिमूर्त्त करके तब उसे प्रिय चरणों में समुपस्थित करना है।

वैसे तो व्रज की सभी रमणियाँ प्रेममयी हैं। उनकी समग्र वृत्तियाँ प्रियतम नीलमणि के चिदानन्दमय स्वरूप में ही रमण करती रहती हैं। इसी अर्थ में ही तो वे रमणी है। जो ऐसी रस गुणवती हो उठें कि सर्वभोक्ता सर्वरमण प्रियतम श्रीकृष्ण भी जिनके लिये रमणेच्छुक हो उठें, यही तो उन महा भाग्यवती गोपांगनाओं का रमणीपना है। उन समस्त ब्रजरमणियों में भी मंजुलीला को रानी द्वारा मुकुटमणि पद दिया जाना है।

हाँ, इधर तो रानी इस प्रीतिदान के महा उदार भाव में लहरा रही हैं और उधर मंजुलीला के अति निश्छल, निर्मल, पूर्ण समर्पणमय, स्वसुखवाञ्छा विरहित रानी की चरण-रेणु की कैंकर्य-स्पृहा से विभूषित चित्त में विपरीत भाव लहरियाँ उठ रहीं हैं। यही तो प्रीति जगत की वक्र गति है।

रानी श्रृंगार कक्ष में मंजुलीला को किसी न किसी बहाने से बुला लेती हैं। आनन्द अनुराग के आवर्त्त में डूबतीं, उतरातीं वे प्यार से सराबोर हुईं मंजुलीला की ओर निहारती हैं। रानी मंजुलीला के सुन्दरतम भावरूप को देखकर मुग्ध हो जाती हैं। रानी को लगता है यह तो प्रेम रस की उदधि है। अहा ! इस सर्व-सद्‌गुणमयी को अपने रस-गुण-गौरव की स्मृति का भी लेश नहीं है, न ही इस सौभाग्य का लेश-अभिमान ही है। अहा ! इसका संसार में रहना, चलना, इसके मन में उठने वाले भाव, विचार, चेहरे पर आने वाली भंगिमाएँ, सभी छोटी सी छोटी चेष्टाएँ भी प्रेम समुद्र की विविध विचित्र तरंगे ही तरंगे हैं। इसमें जो कुछ है सभी मात्र विशुद्ध प्रेमसागर का ही उच्छ्‌वास मात्र है। यह तो मेरे मन से ही मनवाली है, मेरे जीवन से ही इसका जीवन है, यह मेरे प्राणों से ही प्राणवाली है। इसके बिना मेरी और मेरे बिना इसकी भाव सत्ता ही नहीं है। रानी विधाता के प्रति कृतज्ञ हो उठती हैं कि मुझे कैसी असीम भाव सौन्दर्य शालिनी प्राण सहचरियाँ उसने प्रदान की हैं। अहा ! ये ही मेरी ऐसी अनमोल सम्पदायें हैं जिनसे मैं अपने प्राणधन की रस-लालसा की किंचिन्मात्र समर्चना कर सकती हूँ।

बलिहार है - इस मुख छबि पर जिसने प्राणरमण ब्रजेश-कुल-चन्द्र को अपने प्राणोन्मादी आकर्षण से प्रतिबद्ध कर दिया। और वे वेणुवादन द्वारा इसका नाम गायन करने को व्याकुल हो उठे।

रानी अपनी प्राण सखी मंजुलीला का सर्वांग श्रृंगार करने समुत्सुक हो उठीं। वे मंजुलीला को उस परमातिपरमोच्च भाव श्रृंगार से सुभूषित कर देना चाहती हैं जिससे उनके प्राण प्यारे की सर्व रस लालसा परितृप्त हो जाय। और वे उस पर पूर्णरूपेण रीझ जावें।

रानी इतनी भाव विभोर हैं कि सखी का श्रृंगार करने की उत्सुकता में उनका सर्वांग कलेवर ही कम्पायमान हो जाता है।

मंजुलीला रानी के इस मनोरथ को पहचान जाती हैं। वे रानी के चरणों में लिपट जाती हैं। उनके नयनों से झर-झर अश्रु प्रवाहित हो उठते हैं। हिचकियाँ बँध जाने के फलस्वरूप मंजुलीला विशुद्ध शब्दावली में बोल ही नहीं पाती :-

"मैं मेरी प्राणसखी मैं... म... महादोषी हूँ। मैंने भूल की बहिन ! बहुत ही अक्षम्य अपराध संघटित हो गया मुझसे। आज तक मैं कभी कलिन्द नन्दिनी की ओर एकाकिनी नहीं गयी थी। पूजार्थ जल लाने की तूने ही मुझे आज्ञा दी थी। मुझे एकाकिनी को कदापि नहीं जाना चाहिये था। सरोजनी, विमला, श्यामला, रस, रति, अशोक, गुण मेरे तनिक से संकेत पर कोई न कोई मेरे साथ अवश्य चल पड़तीं। परन्तु प्राणाधिके ! वह काल इतने प्रभात का था कि नन्दनन्दन नन्दभवन में शयन शय्या से उठे भी तो नहीं होंगे - यही मेरी परिकल्पना थी। स्वामिनी ! मुझ निगोड़ी ने न जाने किस बुरे मुहूर्त्त में यह सुनिश्चय कर लिया कि इस काल में मैं निर्बाध यमुना तट पहुँच जाऊँगी। इसी के फलस्वरूप इन उपरोक्त सभी सखियों को तेरी प्रात:कालीन स्नानादि सेवा में निरत पाकर मैं नितान्त एकाकिनी ही स्वर्ण गगरी लेकर सम्मोहन घाट की ओर निकल गयी।"

"मेरे कर्णपुटों में ज्यों ही मुरली रव प्रविष्ट हुआ, मुझे अपनी भूल समझ में आ गयी। परन्तु तब तक तो मैं निरुपाय थी। जब मुझे सुस्पष्ट ऐसा प्रतीत हुआ कि प्रियतम मेरा नाम लेकर मुरली में मुझे ही पुकार रहे हैं, उस समय भी बहन ! सच समझना मैंने यहीं अनुमान किया कि वे निरे प्रभात तुझे कोई संकेत-पत्र प्रेषित करने मेरा आमंत्रण कर रहे हैं। वे तेरे ही निमित्त से नन्दभवन से इतने शीघ्र उठकर आये होंगे। इसी मनोरथ को लेकर उस

मुरली वादन ध्वनि का अनुगमन मैंने दो चार क्षण ही किया होगा कि फिर तो वह इतना आकर्षक लगा कि मुझे अपने तन-मन की सुधि ही नहीं रही।"

"मेरे शत सहस्त्र प्राणों की रानी ! मुझे अपनी हेतुरहित कृपा का प्रकाश देकर जिस शुचितम अनुराग से तूने मेरा पालन-पोषण किया है - काल के प्रवाह में हाय री सखि ! मैं तेरी गरिमा और मर्यादा के योग्य आचरण नहीं कर सकी। सर्वथा सर्वांश में मैं तेरे द्वारा श्रृंगारित होने की पात्रा कदापि नहीं हूँ।"

"हे उदार चूड़ामणि ! मेरी प्राणोपमा सखी किशोरी ! मेरी स्वामिनी ! तू तो अपने अपार प्रेममय स्वभाव का ही परिचय दे रही है। मेरे तन के कण-कण में तू अपने आपको ही श्रृंगार के रूप में भर दे रही है। मुझे सुख देने के लिये तू अपना सर्वस्व मुझे दे रही है। मुझसे प्रियतम का पूर्ण मिलन हो - यह संयोग संकल्प भी तू कर चुकी है। और यह भी ठीक जानती हूँ कि तेरे संकल्प के उदय होते ही लीला विधातृ शक्ति भी तदनुरूप संयोग विधान संगठित कर चुकी है। और यह भी सत्य है कि प्रियतम का भी तन-मन सब तेरे भ्रू नर्त्तन के अनुरूप ही क्रियाशील होगा। परन्तु प्राण संजीवनी ! अपने वात्सल्य के प्रवाह में तुझे तो मेरे दोष दृष्टिगोचर नहीं होते, परन्तु हाय हतभागिनी मैं, मेरे इन स्वसुख लालसारत प्राणों को इस तन में जो तेरे द्वारा श्रृंगारित होगा रख पाऊँगी ? कदापि नहीं, कदापि नहीं।"

"मेरी प्राणाराध्या ! मैं मानती हूँ कि मेरे गर्हित आचरण ने मेरी प्रीति अपवित्र कर दी है, इसके उपरान्त भी इस हृदयहीनता भरे आचरण का परिचय पाकर भी तू नित्य निरन्तर मुझे अपने अनुरागपूर उरस्थल में रखे हुए है एवं अपने परम पावन पवित्रतम स्नेह से मुझे आप्यायित कर रही है। मैं तेरे चरणों में निम्न मुखी हुई, अपना मुख उठाकर तेरी आँख से भी अपनी दृष्टि कैसी मिलाऊँ ? मैं इस अधम जीवन को तेरे आश्रय में ड़ाले हुए हूँ - यही मेरी निर्लज्जता की पराकाष्ठा है।"

"जीवनेश्वरि ! तुम्हारे इस परम पवित्र प्रेम के सम्बन्ध में मैं क्या कहूँ। तुम्हारा निर्मलतम प्रेम तो सम्पूर्ण सुखों का उद्‌गम स्थल है। परन्तु बहन ! तू मेरे हृदय को अच्छी प्रकार टटोल ले। मुझमें कहीं भी रंचक मात्र भी प्रियतम से स्वसुख पाने की लालसा कभी भी रही हो और उससे प्रेरित होकर मेरे पैर, मन उनकी ओर बढ़े हों तो निश्चय ही तू मेरा श्रृंगार करके मुझे प्रियतम अंक शायिनी बना देना, परन्तु यदि यह सत्य न हो तो तेरे शुचितम

चरण सरोरुहों में ही मेरा स्थान एक रजकणिका के सदृश स्वीकार कर लेना, मुझे तेरे चरणों के आश्रय से एक क्षण मात्र के लिये भी मत हटाना।"

"मेरी प्राणों की रानी ! मेरी लाड़िली ! मुझ में इतनी सी भी योग्यता नहीं है कि मैं अपनी अलकों एवं पलकों से तेरी चरण रज कणिका को पौंछ भी सकूँ - परन्तु बहिन री ! मेरी इस अनधिकारिता को तेरे सिवा और कौन दूर कर पावेगा ? मेरी यह हृदय की अन्यतम साध क्या अधूरी ही रहेगी ? कदापि नहीं । तेरी अन्यतम हेतुरहित कृपा के बल पर ही यह कह रही हूँ कि मेरे नित्य निवास ये तेरे अरुण चरण ही निरवधि काल तक रहेंगे।"

मंजुलीला कहती जा रही थी और रानी के चरणों को इस प्रकार जकड़े हुए थी मानो किसी भी अवस्था में वह इन्हें नहीं ही छोड़ेगी।

रानी का अनुराग पूरित उरस्थल तपाये हुए सोने की भाँति सर्वथा तरल होकर अश्रुरूप में नेत्रों से झरने लगता है। नयनों की धारा से वे मंजुलीला को सिञ्चित करने लगती हैं। वे कह उठती हैं :-

सर बिनु सरसिज सरसिज बिनु सर
कि सरसिज बिनु सूरे, तन बिनु यौवन, यौवन बिनु तन
की यौवन पिये दूरे...... ।

"अरी बहिन तू ही बता, यदि किसी कासार में विकसित अरविन्द पुञ्जों का वन न हो तो भला उस कासार की कहीं कोई शोभा होगी और यदि सूर्य का अस्तित्व ही न हो तो उन अरविन्द पुञ्जों की शोभा को कोई निरख सकेगा ? इसी प्रकार यौवन हीन तन और तनहीन यौवन क्या अर्थ रखेंगे यदि पिय मिलन ही नहीं हो।

और सखि ! भुवन भास्कर के बिना दिवस निरर्थक ही है एवं चन्द्रदेव के बिना रजनी कैसी ?"

दिवसः को बिना सूर्य बिना चन्द्रेण का निशा
.................बिना कृष्णेन को व्रजः ।

"फिर प्रियतम नीलसुन्दर के बिना तो गोपी देह ही निरर्थक ही तो है। बहिन ! यदि प्राणवल्लभ नीलसुन्दर को यह यौवन समर्पित ही नहीं हुआ तो उसकी कृतकृत्यता ही कहाँ हुई ? मैं तो इसीलिये तेरा श्रृंगार कर रही थी कि

जिनके लिये तेरे अंग अंग में नव तारुण्य उमड़ रहा है, वे अपनी वस्तु को अंगीकार कर लें। सत्य बता बहन ! क्या तेरी तरुणाई के ग्राहक नन्दनन्दन नहीं है, तेरे यौवन का अणु-अणु प्रियतम प्राणरमण का आह्वान नहीं कर रहा है ? यह तेरी आजानुलम्बित वेणीबद्ध कृष्ण-कुंचित-कुन्तल राशि, कपोलों को संस्पर्शित करती अलकावलि और तेरा रोम-रोम प्राणवल्लभ प्राणवल्लभ की रट नहीं लगा रहा है ?"

रानी आगे कुछ भी कहे इसके पूर्व ही मंजुलीला ने रानी का मुख अपनी हथेलियों से बन्द कर दिया।

"बहना री ! मेरे असंख्य प्राण तुझ पर न्यौछावर हैं। परन्तु यह सब तो अति स्वाभाविक ही है। बोल बहिन ! यह कानन की धरा प्रियतम प्रियतम कह कर कृतकृत्य क्यों हो रही है ? प्रियतम जब अनावृत-चरण हुए कानन की धरा पर संचरण करते हैं तो उनके आगमन मात्र से यह कितनी धन्य-धन्य हो रही है। यह अनुक्षण प्रियतम के पाद पद्मों के स्पर्श से अतिशय सौभाग्य शालिनी हुई 'प्रियतम सुखी हों, प्रियतम सुखी हों'- यही रट लगा रही है।"

"केवल धरा ही नहीं धरा से सम्बद्ध सभी ये मरुत्, रवि, यह शशधर, यह अनन्त विस्तार लिये नभ - सभी के अन्तराल से - "मैं प्राणवल्लभ की, प्राणवल्लभ मेरे, मैं मात्र प्रियतम-सुखार्थ - प्रियतम मेरे" यही भाव तो प्रवाहित हो रहा है। ये क्षुद्र-से-क्षुद्र तृण-वीरुध, दूर्वा, कुश आदि भी मात्र जीवन्त हैं एक ही भाव से कि प्रियतम के चरण हमसे संस्पर्शित हो कर मात्र एक क्षण के लिये ही सुखानुभव कर लें। बोल बहिन ! ये द्रुम क्यों बारहों मास फलवान् हैं ? लतावल्लरियाँ सदा ही बिना ऋतु के ही क्यों पुष्प पल्लवों से लदी रही हैं ? यह तपन-तनया का मंलुल प्रवाह, यह बहता मानसी गंगा का शान्त स्रोत, यह सम्मुख अवस्थित गिरिराज गोवर्धन, और अन्य पर्वत मालाएँ, ये ऊपर, सामने, पीछे, दक्षिण वाम पार्श्व में उड़ते, आसीन, कलरव करते विहंगम कुल, सर्वत्र कानन में स्वच्छन्द विचरण करते पशु-समूह। ओह ! इन सर, गिरि, खग मृग सभी तो एक भाव से ही भावित हैं और यह भाव है हमारा अस्तित्व मात्र प्रियतम सुखार्थ है, मात्र प्रिया-प्रियतम सुखार्थ है, प्रिया प्रियतम सुख ही हमारा अस्तित्व है। फिर बहिन जब सभी पंचभूतात्मक इस ब्रजराज्य की सृष्टि ही प्रिया प्रियतम सुख में ही केन्द्रित है तो मेरा यौवन और अस्तित्व इस पावनतम इच्छा से विरहित कैसे रह पावेगा ? और इस सब सृष्टि में इस भावना का मूल स्रोत, मूल उद्गम कहाँ से स्फुटित हो रहा है ?

इस निर्मलतम प्रेम की मूल स्रोतस्विनी कौन है? मात्र तेरा प्रियतम प्रेम ही तो इस का मूल उद्गम स्रोत है। तेरे प्रियतम प्रेम की अगाध असीम लहरें ही तो इस समग्र सृष्टि में यह निर्मलतम प्रेम भाव प्रवाहित कर रही हैं।"

"तो बहन ! फिर मुझे पृथक् व्यक्तित्व क्यों दे रही हो ? कर श्रृंगार बहिन ! कर दे, पूर्ण श्रृंगार कर दे मेरा । परन्तु मेरे रोम-रोम में एक ही नाम का श्रृंगार हो और वह जो नाम अंकित हो - वह राधा का ही हो। मेरे समग्र रोम कूपों में तेरे कर कमलों से राधा नाम भर दे, मेरे अंग-अंग को राधा नाम से पूर्ण श्रृंगारित कर दे और फिर मुझे भेज दे प्राण प्रियतम के पास । उस समय प्रियतम की अंक शायिनी मैं नहीं होऊँगी। जिसका राधा नाम है, पंचभूतों का वह पुंज ही प्रियतम के पास जायगा। मुझे तेरा अनुग्रह शत-प्रतिशत स्वीकार्य है।"

और रानी के पास कुछ भी कहने को बचा ही कहाँ था। रानी तो मंजुलीला के अथाह अनाविल प्यार में अपनी अहंता को ही विस्मृत कर बैठी। वे अपने नयनों की प्रेमाश्रुधारा से मंजुलीला के अंग-अंग को सिंचित करती जातीं और तब अपनी कृष्ण तूलिका से कुंकुम भर कर उससे मंजुलीला के अंगों के रोम-रोम में राधा राधा अपना स्वनाम अंकित करने लगीं। उमड़ते अतिशय स्नेह भाव से रानी के द्वारा असम्बद्ध प्रलाप होने लग गया ।

और महाभाव समुद्र जब इतना उछलता है और उन्मादी हो उठता है तो मंजुलीला तट बचा कैसे रह सकता है ? "स्वर्ण को तपाया जाता है भला। रज के अणु की छाया भी न रहे पुरट पर, पुरट पात्र पर इसलिये।" किन्तु जब कनक कुन्दन का आभूषण हो ही जाता है तो फिर उस कुन्दन के आभूषण को तो रानी को अपने हृदय मन्दिर में संस्थापित करना ही है।

वैष्णवों ! समझ लो भाव राज्य में श्रृंगार कैसा होता है, एवं कौन करता है और जब श्रृंगार हो जाता है तो जिसका श्रृंगार हुआ वह क्या से क्या हो जाता है। रानी का प्रियतम निज हाथों नित्य श्रृंगार करते हैं, और प्रियतम का रानी नित्य श्रृंगार करती हैं - और वे नित्य नव नूतन रस सागर की उद्दाम लहरें बने लहराते हैं। जो वे पूर्व में थे, वे पुन: होकर कभी लौटते ही नहीं। समुद्र में एक लहर का प्रादुर्भाव हो जाता है, वह पुन: कभी नहीं आयेगी - दूसरे ही क्षण जो लहर उदित होगी वह नवीन, नित्य अभिनव नवीन होकर ही आवेगी। यही जलनिधि की शोभा है। इसी प्रकार यही भाव सिन्धु एवं रसनिधि की शोभा है -

कछुहै बासी होत न कबहूँ - नित नूतन रस बरसत।
देखत देखत नयन सिराने तऊ नयन नित तरसत।

देखो ! देखो पुन: महाभाव समुद्र उमड़ा। अरे वह अनन्त, अपरिसीम, असमोद्‌भव, नित्य सत्य संविन्मय महा समुद्र रानी के नेत्रों से टपकते अश्रु प्रवाह से, प्रेम जनित असम्बद्ध भाव-प्रलाप से उद्‌भूत हुआ और उसने मंजुलीला और उसके समग्र अस्तित्व को ही अपने रस में घोल लिया। अब तो मंजुलीला नाम एवं रूप जन्य आकृति एवं व्यक्तित्व ही घुलकर विलीन होगया उस महाभाव सिन्धु में और वह भाव सिन्धु उस समग्र को लेकर तिरोहित हो गया, रानी की नासा के अग्रभाम में स्थित बेसर में। और तब उस बेसर से प्रकट हो गयीं पुन: मंजुश्यामा, अनंगमंजरी रानी की अनुजा, राधानुजा।

वैष्णवों सत्य, परम सत्य मात्र महा भावसिन्धु है। जब मंजुलीला के व्यक्तित्व को पू. गुरुदेव पकड़े थे, उस व्यक्तित्व में पू. गुरुदेव की अस्मिता एकात्म थी, तब भी मंजुश्यामा, राधानुजा थीं। ये सभी भगवती श्री राधारानी की कायव्यूह स्वरूपा सखियाँ नित्य लीला की आवश्यकतम अंगस्वरूपा हैं। इनका न तो प्रादुर्भाव होता है, न ही विलय। परन्तु इनमें भिन्न-भिन्न महाभाग्यवान् साधक, गोपी भावापन्न जीवों की अस्मिता ही अपने-अपने भावों की विशुद्धि को लेकर प्रादुर्भूत हो उठती है। और उनका ही शनै: शनै: उच्चतर उच्चतम स्तरों में उन्नयन होता है। मंजुलीला मंजरी अनादि काल से हैं, अनन्त काल तक रहेंगी, परन्तु किस भाग्यवान् जीव को महाभावसिन्धु कब इन नित्य सिद्ध मंजरी लीला देहों में संयुक्त करेगा और कब एक सिद्ध देह से उस जीव को और उच्चतर लीला भूमिकाएँ प्रदान करता हुआ उच्चतम राधा भाव में प्रतिष्ठित कर देगा, इसका संचालन सूत्र तो भगवती श्री राधा रानी अथवा अघटना घटना पटीयसी भगवती आद्या महाशक्ति त्रिपुर सुन्दरी के ही कर कमलों में है। रंगमंच की सूत्रधार भी वे ही महाशक्ति हैं। किस पात्र को वे अपनी नाट्यशाला में किस भाव नाटिका के उपयुक्त चयन करें, सब उनका ही विधान है।

(भगवती श्री मंजुलीला मंजरी उत्कण्ठिता और विप्रलब्धा भावोच्छलन की प्रतीक हैं। पू. गुरुदेव मंजुलीला भाव में लगभग तीन वर्ष रहे।)

मंजुलीला भाव में
'राधा राधा' नामोच्चारण के पीछे की लीला-अनुभूति

पू० गुरुदेव का सन्यास लेने के पश्चात का नाम था श्रीमधुसूदनानन्द सरस्वती, परन्तु उन्होंने अपना यह नाम कभी किसी के सम्मुख प्रकट नहीं किया ।

एकबार श्रीपोद्दार महाराज के अनुयायी पं० श्रीगोवर्धनजी शर्मा रामायण-समिति के कार्य से गया जिले के दौरे पर गये थे । तब वे अरवल गये थे एवं जिज्ञासावश पू० गुरुदेव के जन्मस्थान फखरपुर ग्राम भी हो आये थे। उनके द्वारा ही सभी को पू० गुरुदेव का पूर्वाश्रम गृहस्थ का नाम चक्रधर मिश्र ज्ञात हुआ । तभी से उनका नाम स्वामी चक्रधरजी महाराज प्रचलित हो गया था ।

पू० गुरुदेव ने श्रीपोद्दार महाराज की रुचि से सर्वथा मौन ले लिया था । मौनावस्था में वे मात्र 'राधा-राधा' ही बोला करते थे । यदि कोई परमावश्यक संकेत उन्हें करना होता तब भी वे उसे स्लेट पट्टी पर लिखकर करते थे, परन्तु उस समय भी उनके मुख से उच्चारण 'राधा-राधा' शब्द ही हुआ करता था । मात्र 'राधा-राधा' बोलने से ही आगे जाकर वे 'राधाबाबा' नाम से विख्यात हो गये थे और लोग 'राधाबाबा' के नाम से उनसे देश-विदेश से पत्राचार भी करते थे ।

यह 'राधा-राधा' नामोच्चारण क्यों प्रारंभ हुआ, इसके पीछे एक परम चिन्मय दिव्यलीलानुभूति थी । यह दिव्यलीलानुभूति पू० गुरुदेव ने मुझे १९४८ ई० में बतलायी थी ।

सन् १९४० ई० से ही पू० गुरुदेव भाद्रपद शुक्ला अष्टमी एवं नवमी तिथि को श्रीराधाष्टमी महोत्सव मनाया करते थे । इस राधाजन्ममहोत्सव के उपलक्ष्य में दो दिवस राधा जन्म एवं दधिकर्दम उत्सव के पश्चात उद्दाम नाम-संकीर्तन हुआ करता था । इस संकीर्तन का संचालन १९५६ ई० तक पू० गुरुदेव स्वयं किया करते थे । सन् १९५६ ई० में जब उन्होंने काष्ठमौनव्रत ले लिया तब से यह संकीर्तन अन्य लोगों के द्वारा संचालित किया जाने लगा ।

श्रीकृष्ण जन्माष्टमीमहोत्सव में उद्दाम नाम-संकीर्तन श्रीरघुबरदयालजी गोयल और श्रीमुरलीधरजी दोनों गीताप्रेस के कर्मचारी ही प्रारंभ किया करते थे, परन्तु थोड़े ही काल पश्चात् जो कीर्तन **'जय हरिगोविन्द राधेगोविन्द'** की ध्वनि से प्रारंभ होता था, 'राधा-राधा' नाम में पर्यवसित हो जाया करता था और उसका सूत्र पू० गुरुदेव सम्हाल लेते थे ।

यह संकीर्तन इतना भावमय और तुमुल ध्वनि में हुआ करता था कि इसकी अवधि निश्चित नहीं थी । तीन-चार घण्टे के पूर्व तो कीर्तन के विराम का प्रश्न ही नहीं उठता था । घंटे, घड़ियाल, शंखध्वनि, झांझ, झालर, ढोलक एवं बंगाली मृदंग (खोल) के वादन और लय पर पू० गुरुदेव और सभी संकीर्तन करने वाले खड़े होकर भावनृत्य करते-करते 'राधा-राधा' नाम ध्वनि में इतने डूब जाते थे कि घड़ी की सूई कब पूरा चक्कर लगाकर एक घंटा व्यतीत हो गया बता रही है - किसी को पता ही नहीं चलता था । एक बार भावावेश में नेत्र बन्द होते और खुलते थे इतने में एक घण्टे का कालमान व्यतीत हो जाया करता था । खोल बजाने वाले की अँगुलियाँ अनभ्यासवश फट जाती थीं और रक्त से खोल लाल हो जाती थी । पू० गुरुदेव झालर हाथ में लिये बजाकर एवं पैरों से ताल देकर कीर्तन को मंद और तेज गति दिया करते थे । वे ही कीर्तन का नेतृत्व करते थे । इस कीर्तन में इतना आनन्दावेश होता था कि शरीर के श्रम की सुधि ही नहीं होती थी ।

इस उत्सव में किसी-किसी वर्ष श्रीपोद्दार महाराज भी सम्मिलित होते थे और तब श्रीराधा-विग्रहपूजन का कार्य उनके ही हाथों सम्पादित कराया जाता था । उन दिनों यह उत्सव पू० पोद्दार महाराज की निवास-स्थली के उस बड़े हाल में मनाया जाता था जिसमें कल्याण-कार्यालय भी था । यह उत्सव षष्ठी-उत्सव अर्थात् अष्टमी से त्रयोदशी तक लगातार चलता था और पच्चीस-तीस व्यक्ति इसमें उन दिनों प्रतिदिन सम्मिलित होते थे । पश्चात् तो इस उत्सव ने विराट रूप ले लिया और देश-विदेश से हजारों व्यक्ति इसमें सम्मिलित होने लगे । तब इसके विराट आयोजन को देखकर सन् १९५६ ई० में इसके लिये पृथक् रूप से विशाल पंडाल निर्माण कराया गया जो आज तक विद्यमान है । इसमें अब भी अखण्ड भगवन्नाम संकीर्तन चल रहा है ।

इसी उत्सव के एक वर्ष की घटना है; कीर्तन प्रारंभ करने का भार पू० गुरुदेव ने मुझे सौंप दिया । मेरे मन में भावोदय हुआ कि राधाजन्मोत्सव है

और राधाजी को **'कृष्ण'** नाम अतिशय प्रिय है, अतः आज तो **'कृष्ण-कृष्ण'** की ध्वनि ही होनी चाहिए । हाँ, कृष्णजन्माष्टमी के दिन 'राधा-राधा' नाम ध्वनि हो, यह तो उपयुक्त है । परन्तु राधाष्टमी के दिवस वृषभानुनृपमन्दिर में ही श्रीराधाजी की उपस्थिति में 'राधा-राधा' कीर्तन हो - यह मुझे भाव-संगत प्रतीत नहीं हो रहा था । अतः मैंने उस दिन महाप्रभु श्रीचैतन्यदेव के द्वारा कराये जाने वाला **'कृष्ण-कृष्ण-कृष्ण हे'** संकीर्तन प्रारंभ कर दिया ।

परन्तु पू० गुरुदेव ने उसे प्रारंभ होते ही स्थगित कर दिया । इतने में ही श्रीपोद्दार महाराज भी आ गये । उनके साथ उनके एक मित्र एवं अनुयायी श्रीबजरंगलालजी बजाज भी थे । श्रीबजरंगलालजी को लोग ढोलकियाजी कँहा करते थे । जब भी कहीं संकीर्तन होता तो ये गले में ढोलक बाँध लेते थे । अतः इनका नाम ही सर्वत्र 'ढोलकियाजी' प्रचलित हो गया था । वे श्रीपोद्दारजी से बहुत ही निस्संकोची थे । उन्होंने श्रीपोद्दार महाराज से कहा कि आज तो आप ही संकीर्तन कराइये । आश्चर्य, उस दिवस श्रीपोद्दार महाराज ने भी 'राधे-राधे' का कीर्तन प्रारंभ कर दिया । श्रीपोद्दार महाराज शरीर से वृद्ध एवं अशक्त थे, अतः बाद में तो कीर्तन का नेतृत्व पू० गुरुदेव ने ही सम्हाल लिया था। उस दिवस वह संकीर्तन ऐसा रंग लाया कि अभूतपूर्व आनन्द का समा ही बँध गया । श्रीमोतीजी पारीक नामक व्यक्ति तो भावावेश की चरमावस्था में पहुँच गये उस दिवस ऐसा लगने लगा था कि यदि संकीर्तन तत्क्षण स्थगित नहीं हुआ, तो संभव है श्रीमोतीजी महाराज महाभावावेश में परलोक-धाम ही नहीं चले जावें ।

कीर्तन के विराम होने के पश्चात् रात्रि में मैंने पू० गुरुदेव से प्रश्न कर दिया कि 'कृष्ण' नाम के प्रति आपके मन मे ऐसी उपेक्षा क्यों है ? जब उत्सव में कृष्ण-नाम-संकीर्तन प्रारंभ ही कर दिया गया था तो उसे विराम देकर 'राधा-राधा' संकीर्तन कराने के आप इतने आग्रही क्यों हो उठे ? उस पर उन्होंने मुसकाते हुए मुझे भगवती श्रीराधारानी की अति मधुरतम, दिव्य, परम अन्तरंग, चिन्मयी निम्नलिखित लीला श्रवण करायी थी । साथ ही यह भी कहा था कि इस लीला-दर्शन के पश्चात् उनका व्यक्तित्व इस भाव से इतना प्रभावित हुआ कि तभी से अन्य नामजप - यहाँ तक कि मंत्रजप के भी उनके सभी आग्रह बह गये और अधरों पर रह गया मात्र 'राधा' नाम । वह अनुभूत लीला नीचे उल्लिखित की जा रही है ।

सर्वत्र राधा—कृष्ण रूप दर्शन करते राधा बाबा

महाभाव दिनमणि
श्री राधाबाबा

चतुर्थ भाग

मालिन, नापित, रजक एवं हड्डिप कन्याओं की कथा
सारिका भाव एवं तृण भाव

परम पू० गुरुदेव को यह अनुभूति लगभग १९४० ई० में हुई थी । पू० गुरुदेव का चित्त उन दिनों जगत् को सर्वथा छोड देता था । वे रम जाते थे व्रज के अनोखे राज्य की रसमयी लीलाओं में । जब तक जगत्-प्रपंच की पूर्णतया निवृत्ति नहीं होती, लीलाजगत् का चित्तभूमि में अवतरण असंभव ही है । लीलाजगत् और विश्वप्रपंच दोनों एक साथ रहें; यह तो पूर्णतया अनहोनी सी ही बात है ।

लो, महा-महा रसिकशेखर पू० श्रीराधाबाबा का चिन्मय मानस किशोरीरानी के निकुंज दर्शन करता हुआ निष्पन्द है । अहा ! कैसा सुन्दर यह कदम्बतरु है ? कैसी निराली हरीतिमा है इसकी ? किसी भी महाभाग्यवान जीव के नयनों में मात्र एकबार ही यह दिव्य अप्राकृत हरीतिमा आ जाय, बस सदा-सदा के लिये विषम भवसागर की विष-ज्वाला प्रशमित हो जाय । यह तरुराज निरन्तर पुष्पसौरभ का संचार कर रहा है । कैसी निर्मल घ्राण है इसकी । काल के नियमों से अतीत इसमें कभी पतझड़ नहीं आती, न ही कभी यह पुष्परहित ही होता है । यह सदा एकरस मनोज्ञ एवं सुख-शीतल ही रहता है । पावस, शरद, हेमन्त, शिशिर, वसन्त और ग्रीष्म सभी ऋृतुओं में, बारहों मास एक रस सतत इसके अंग पुष्पभार से नमित ही रहते हैं । सदैव कुसुमित, इसकी शोभा से दसों दिशायें कैसी उद्भासित हो रही हैं । यह बड़भागी तरुराज इसीलिए ऐसा अलौकिक शोभासम्पन्न है क्योंकि इसकी छाया में, इसके स्वर्णिम रत्नजटित आलवाल पर, इसी वृक्ष के कुसुमों के आस्तरण पर आज नित्यनिकुंजेश्वरी भानुनन्दिनी, कृष्णप्रिया विराजित हैं । अपने कैशोर की मौज में भरी किशोरी की कैसी अप्रतिम शोभा है ? अहा ! प्राण-प्रिया किशोरी अचिन्त्य एवं अप्रतिम रूप राशि का उच्छलित महासमुद्र ही हैं ।

अहा ! गोलोक धाम में साक्षात् भगवतीलक्ष्मी जिनके चरणसरोजों की परिचर्या करती हैं, हंसवाहिनी सरस्वती जिन्हें निरन्तर वीणा श्रवण कराती हैं, और पार्वती व्यजन सेवा करती हैं, असमोर्ध्व ऐश्वर्यलक्ष्मी जिनकी नित्य सहचरी हैं, फिर भी जिस प्रकार साधारण प्राकृत गोपी किसी पक्षी के संग क्रीड़ाकौतुक कर रही हों, वे वन की इस सारिका पक्षी से वार्ता करतीं लीला-रस-पान में आत्म विस्मृत हैं ।

रानी की सुरभित श्वास-प्रश्वास से हिलोरें लेतीं उनकी नासा-बेसर उन के आननसरोज पर कैसी फब रही है ? अहा ! मन्दमलय समीर भी इन

प्रश्वासों की सहायिका हुई बेसर को चलायमान कर, रानी के होठों को अनुरंजित कर रही है । रानी के नयन-सरोजों में कैसा अप्रतिम शील है और रह-रह कर अकारण ही लज्जा का जो उन्मेष इन नयनों में हो उठता है, वह तो नेत्रों की शोभा को सहस्रगुनी कर दे रहा है । ये कर-कंकण कैसी मधुर ध्वनि मुखरित कर उठे । ओह ! इस चंचल सारिका ने रानी के कंकणों पर अपना आसन जो लगा लिया । अहा ! कैसी सुमधुर मुसकान रानी के अधरों पर नाच गयी । वे अपनी ग्रीवा को तनिक झुकाकर सारिका को कैसी प्यार और मनुहार भरी दृष्टि से निहार रही हैं । वामहस्त पर सारिका को बैठाये वे अपने दक्षिण कर-सरोरुह से उसकी पंखों भरी पीठ को शनैः शनैः सहलाने लगती हैं । फिर अतिशय प्यार से उससे वार्तालाप करती हुई प्रश्न करती हैं- “सारिके ! कुछ खाओगी ?” और पास ही रखे भाँण्ड से कुछ द्राक्षा निकालकर उसके विकसित मुख में दाहिने हाथ से खिलाने लगती हैं । और लो ! सारिका को इतना प्यार मिले तो शुक क्यों चूके ? वह भी अत्यंत उद्धत हुआ, बिना अनुमति लिये ही रानी के वाम-बाहुदंड पर ठीक सारिका के पार्श्व में ही आसीन होगया ।

अरे ! कमलनाल जैसी सुकोमलतम कंचनवर्णी रानी की भुजा तो कर-कंगनों के भार से ही बोझिल है, फिर इन पक्षीद्वय के बोझ से क्या दुखने नहीं लगेगी ? इन मूर्खों को तो इस भुजा पर बैठने में तनिक संकोच भी नहीं हुआ ? नहीं, नहीं, ये पक्षी इतने निर्भार हैं कि रानी को इन्हें अपने बाहु-दंड पर बैठाने में सुख ही अनुभव हो रहा है ।

अहा ! कैसी महोदार शिरोमणि हैं किशोरीरानी । वे शुक पक्षी की भी हरित्पीठ अतिशय प्रेमोद्रेक से सहलाने लगीं और उसके मुख को भी आग्रहपूर्वक विकसित करवा के उसमें अपने हाथों से बादाम , द्राक्षा और मिश्री देने लगीं । वात्सल्यजनित परम आनन्द की लहरें रानी में उठ रही हैं, एवं दोनों पक्षी ही, नहीं समस्त वन ही उसमें सतत बह रहा है ।

रानी के नेत्रों से अथाह प्रीतिसिन्धु उमड रहा है, इन दोनों वन-पक्षियों पर । मानों दो नेत्र नहीं, अतीत एवं अनागत की समस्त प्रीति सम्पदा को बहाने वाले निर्झर-द्वय हों। अहा ! रानी के ताम्बूल रंजित होठों से मधुस्यंदी वाणी मुखरित हो उठी। मानो मनोरम रस का उत्स ही फूट पड़ा हो -- “सारिके ! कुछ गान सुनाओ न ?” और इतना संकेत मिलते ही भला सारिका

शान्त रह पाती ? कदापि नहीं । उसने अपनी मधुर और सुरीली स्वर लहरी में गायन प्रारंभ कर दिया -

जय जय कृष्ण मनोहारिन् !

वाह री सारिका, कैसी सुरीली ध्वनि है तेरी ! क्या ही वाणी में लोच है, मुरक है, बार-बार स्वरों को तार और मन्द्र सप्तकों में घुमाती हुई वह एक ही पंक्ति का उच्चारण कर रही है --

'जय जय कृष्ण मनोहारिन् !'

और अब शुक भी कैसे शान्त रह पाता ? उसने सारिका के स्वर से भी अपने स्वर को अधिक परिष्कृत कर गायन प्रारंभ कर दिया --

जय वृन्दावन प्रियः . . .

और तब सारिका ने पुनः तान छेड़ी --

जय जय कुंकुम लिप्तांग . . .

और सारिका की स्वर लहरी थमे इसके पूर्व ही शुक ने छन्द पूरा कर दिया --

जय गोपी विमोहन : ।

और रानी के सम्मुख तो अपने प्रियतम की विलक्षण छवि नाच उठी- अहा ! प्रियतम प्राणसुन्दर कितने मनोहर हैं, सरसता में तो ये मेघमाला के सदृश हैं, इनसे मरकत मणि को हेय बनाने वाली कान्ति की किरणें फूट रहीं हैं, लावण्य और माधुर्य का अपरिसीम सागर जैसे लहरा रहा हो, नीलकमल के समान सुकोमल अंग-प्रत्यंग हैं । श्रीअंगों में पीताम्बर झलमला रहा है और वक्षस्थल पर रंगबिरंगी बनमाला झूल रही है । अंग-अंग पर प्रीति लहरा रही है । विविध प्रकार की रस-क्रीडा के वे अनुपम आकार हैं । अहा ! कैसी सुभग कृष्ण-कुंचित, घुंघराली अलकावलि है । केशपाश पुष्प मालाओं से अलंकृत हैं । कैसी मनमोहक चूड़ा की कान्ति है । चमकते हुए ललाट पर चन्दन की खौर अत्यन्त शोभा दे रही है । मध्य में गोरोचन का सुन्दर तिलक है और दोनों ओर अलकें झूल रही हैं। लीलायुक्त चढी हुई भौंहों के विलास से वे रानी का चित्त अपहरण कर रहे हैं । उनके झूमते हुए कमनीय नेत्र बीच में नीलकमल और प्रान्तों में लालकमलों की छटा धारण किये हुए हैं । गरुड़ की चौंच के समान नुकीली नासिका के अग्रभाग में मुक्ताफल लटक रहा है । इससे उनकी शोभा बढ़ गयी है ।

दोनों कान किसलय दल से कैसे मनोहर हैं ? पुष्पाभरण कुंडलों के रूप में शोभा पा रहे हैं । दर्पण सदृश श्यामल मनोहर कपोल हैं । लावण्ययुक्त मुखारविन्द कोटि-कोटि शशधरों की कान्ति बिखेर रहा है । ठोड़ी विविध हास्य रस की छटा से अत्यन्त मधुर एवं प्रकाशयुक्त प्रतीत हो रही है । कण्ठदेश में मुक्ताहार सुशोभित हैं । अहा ! कितना लावण्य भरा है इस कण्ठ में ! त्रिभंगी मुद्रा से खडे हुए वे त्रिलोकी को मोहित कर रहे हैं। ग्रीवा की मरोड़ अत्यन्त मधुर तथा आकर्षक है । वक्षस्थल तो मानो लावण्य का आकार ही है । रानी को परमानन्द दान करने के लिये कैसा उत्सुक हो रहा है यह, विद्युत् के समान चमचम करती मणिमालाएँ एवं मुक्तामाल उसकी शोभा को बढ़ा रही हैं और इनके मध्य मणिश्रेष्ठ कौस्तुभ तो बहुत ही आकर्षक लग रहा है । रक्त कमल से लाल-लाल करतल हैं । आजानुलम्बित भुजायें हैं । भुजाओं में केयूर एवं कंकण सब मात्र पुष्पों के हैं । रक्त कमल के से लाल-लाल करतल विविध चिन्हों से सुशोभित हैं । उदर अत्यंत मनोमोहक है, उस पर लावण्य अहर्निश क्रीड़ा करता रहता है । पृष्ठदेश और पार्श्वभाग भी अमृत के समान मधुर हैं । सभी अंग चिन्मय विहार करने के लिये रानी को आमंत्रण दे रहे हैं । बर्तुल नितम्बभाग सुधा-सम्भृत कमल के समान मादक है । इन्हें देखकर कंदर्प स्वयं मोहित है । दोनों उरु मनोहर कदली स्तंभों की शोभा को परास्त कर रहे हैं । इन्हें देखकर ऐसी कौन युवती है जिसका मन मुग्ध नहीं हो उठे । दोनों घुटने लावण्य युक्त मनोहर एवं चमकीले हैं । परम मनोहर चरण कमल रत्नजटित नूपुरों से मंडित हैं। लाल-लाल चरणतल चिन्हों से सुशोभित हैं। चरणों की अँगुलियों के नख चन्द्रमाओं के समान प्रतीत हो रहे हैं । प्रियतम, अपूर्व शोभामय विलक्षण प्रेम और आनन्दवर्षा करते रानी के नेत्रों के सम्मुख ललित त्रिभंगी में खड़े हो गये । रानी तो ध्यानस्थ होकर डूब गयी ।

अरे भाई ! यह सब तो होना ही है । जिन प्रियतम के पलकान्तर वियोग से ही रानी का एक-एक निमेष सौ-सौ युगों के समान प्रतीत होने लगता है, उन श्रीकृष्ण का गुणगान रानी सुने और उन का हृदयस्थ महाभाव सीमाबिन्दु तक न स्पर्श करले यह तो सर्वथा असंभव ही है । पूर्ण चन्द्र के दर्शन कर समुद में ज्वार न आवे - क्या यह संभव है ?

रानी को सुख-सिन्धु में डूबी देख शुक-सारिकाऐं अपने को कृत-कृत्य अनुभव करती हुई अप्रतिम आनन्दोच्छलन की ऊर्मियों में डूबने लगीं ।

देखो ! देखो ! भावाविष्ट हुए शुक एवं सारिका की दशा तो देखो ! इनके नेत्रों से झर-झर अश्रु बह रहे हैं और रोमाञ्च से इनके पंख उत्फुल्ल हैं । बार-बार इनमें कम्पोदय हो रहा है और स्वरभंग से वाणी स्वर-सीमा का उल्लंघन कर अपभ्रंश हो रही है । तदपि, बेसुरे फटे कण्ठ से भी जो माधुर्य झर रहा है, उसे कण्ठजन्य सुरीलापन स्पर्श ही नहीं कर सकता । इस तुरीय नादामृत में स्वयं सरस्वतीदेवी का ही अस्तित्वगत साफल्य निहित है । लो, आत्म विभोर शुक-सारिका कृष्ण-कृष्ण का नाम संकीर्तन करते हुए नृत्य करने लगे ।

परन्तु अरे, अरे, यह क्या ? यह कैसी भाव लहर आयी ? रानी तो इस गायन और नृत्य में विरक्ति प्रकाश कर रही हैं । वे तो सारिका की, शुक की चन्चु ही बन्द कर देने को उद्यत हो उठी हैं ।

जो रानी श्रीकृष्ण के लिये सोती हैं, जागती हैं; जिनकी सम्पूर्ण चेष्टाएँ ही संघटित होती हैं मात्र प्रियतम के सुख को केन्द्र बिन्दु बनाये रखकर ही; श्रीकृष्ण-सुख-सम्पादन की अदम्य लालसा ही जिनका अस्तित्व है, वे किशोरी रानी शुक-सारिका को कृष्ण-नाम-संकीर्तन से, कृष्ण-गुणगान से निवृत्त करें - यह तो महत्ती आश्चर्य ही है ।

परन्तु अनुपमेय है यह प्रेमतत्त्व । इसकी गति सीधी नही, परम वक्र है। इसका न तो कोई शास्त्र है, न ही यह किसी विधि-निषेध की मर्यादा में ही बँधा है ।

लो सुनो ! रानी क्या कह रही हैं, इन शुक-सारिका से । वे कह रही हैं - "सारिके बहिन ! तुम ने और हे कृष्णसखे शुकराज ! तुम दोनों ने मुझे असीम सुख-सिन्धु में डुबाने के लिये प्रियतम प्राणवल्लभ का नाम एवं गुण-गान सुनाया । अहा ! आनन्द सिन्धु की उछाल लेती तरंगों में मैं डूब गयी । मेरे सम्मुख तुम लोगों के अनुग्रह से प्राणवल्लभ की प्रत्यक्षवत् भावमूर्ति प्रकट हो गयी । उन्हें अपने सम्मुख पाकर सुख की ऊँची से ऊँची हिलोरों में मैं अनवरत डूबती रही । मैं तुम्हारा कैसे अभिनन्दन करूँ ? मेरे पास तुम्हारा ऋण चुकाने को कुछ भी तो नहीं है । हे मेरे प्राणसखा शुकराज ! तुम इसे सत्य मान लेना, भला । जब भी तुम कृष्ण-गुण-गान करते हो मेरे प्राणवल्लभ सर्वथा सत्यांश में मेरे पास आ ही जाते हैं । भले ही कोई उन्हें नहीं देख पावे, परन्तु जैसे ही कृष्ण नाम राधा के कानों में जाता है प्रियतम राधा के नेत्रों के सामने ही हो रहते हैं । वे कहीं भी हों,

किसी अवस्था में हों उन्हें मेरे सम्मुख आना ही पड़ता है परन्तु हे मेरी प्राणसखी सारिके ! प्रियतम को अपने नाम-गायन एवं श्रवण से वह सुख नहीं मिल पाता जो उन्हें राधानाम श्रवण एवं गुणगान से मिलता है । अतः मेरे प्राणप्यारे सखा, शुक ! तुम भी अपना क्रम बदलकर मुझे मात्र राधानाम और राधा-गुणगान ही सुनाया करो ।"

"यह सत्य है कि लोग मुझे मदगर्विता कहेंगे । तुम भी मुझे पगली, मूर्ख समझ सकते हो । सम्पूर्ण व्रजमण्डल में जो भी यह सुनेगा कि राधा अपने गृह-पक्षियों से अपना ही नाम-गुण-कीर्तन कराती है, वे सभी मुझे आत्मश्लाघालोलुपा समझेंगी, मानेंगी । सभी को यह उपहासास्पद लगना स्वाभाविक ही है । कोई भी प्रेमिका क्या स्वयं का नाम श्रवण करने में हर्षित हो सकती है ? वह अपने ही गुण-गान सुनने में रुचिं रखे क्या इस पर लोग आक्षेप नही लगावेंगे ? मेरी प्राणोपम सखियां मेरा अपयश होता देखकर तुम दोनों को ऐसा करने से मना भी कर सकती हैं । परन्तु मेरी प्यारी सारिके ! तुम उन सखियों का कहना सर्वथा मत मानना।"

"देखो ! मेरे हृदय के अन्तरंग से अन्तरंग भाव का तुम दोनों पर मैं प्रकाश कर दे रही हूं। सुनो, किसी को दिखे चाह नहीं दिखे, परन्तु वे मेरे प्राणवल्लभ मेरे चतुर्दिक सदैव ही निवास करते हैं। वे एक क्षण के शतांश काल में भी मुझे छोड़कर नहीं रह सकते । उन्हें मेरा नाम और मेरा गुणगान परम प्रिय लगता है, अतः मेरे चतुर्दिक वही होना चाहिये । तुम सभी अच्छी प्रकार जानते हो कि प्रियतम प्राणवल्लभ नीलसुन्दर का नाम मुझे अतिशय प्रिय है । वह मेरे कर्णपुटों में ही नहीं, श्रवणद्वारों से मेरे हृदय में उतरकर मेरे रोम-रोम में अमृत भर देता है। परन्तु क्या राधा निज सुख के लिये अपने प्राण-प्रियतम के सुख की उपेक्षा कर दे ? शुकराज ! मेरे लिये यह असह्य है । उनका सुख ही मेरे लिये सर्वोपरि है । बस तुम तो 'राधा-राधा' नाम और 'राधा-यश' का गान करो। वे सुनकर सुखी हों, मुझे यही अभीष्ट है।" यह कहते कहते रानी पुनः भाव-सिन्धु में डूब गयी । और रानी का आदेश पाकर शुक-सारिका उन्मत्त हुईं गान करने लगीं -

राधा करावचित पल्लव वल्लरीके
राधा पदांकविलसन्मधुरस्थलीके
राधा यशोमुखरमत्त खगावलीके
राधा विहार विपिने रमतां मनोमे ।

और भगवती राधारानी को अपने प्रियतम की प्रसन्नता उनके भाव-वपु के आनन-सरोज को प्रफुल्लित करती दृष्टिगोचर हो जाती है, इससे अधिक उन्हें चाहिए ही क्या ?

यह है राधा महाभाव - अतिशय रमणीय, परम पवित्र, प्रियतम-सुख सुखिया और दिव्यातिदिव्य स्वसुखवांछा की लेशात्मक भावना से भी सर्वथा सर्वांश में विरहित । मत्सुख की कल्पना के लेश से भी सर्वथा शून्य जिसका जीवन हो, वही इसमें प्रवेश करने का साहस और उत्साह करे ।

इस लीला दर्शन के पश्चात् पू० गुरुदेव सदा कभी उच्चस्वर में, कभी बोलचाल की भाषा में और कभी मन्द स्वर में 'राधा' नाम का ही उच्चारण अथवा गायन करते थे ।

एक आश्चर्य की घटना और हुई । पू० गुरुदेव को इस लीला की अनुभूति प्रातः काल ही हुई थी, और संध्या के समय श्रीपोद्दार महाराज अपने आप उनके पास आये । उन्हें भी ऐसी ही लीला का उन्मेष हुआ था । वे आकर कहने लगे- "स्वामीजी ! आज आपको मैं एक अति विचित्र बात बतला रहा हूँ । क्या यह भी कभी उचित लगेगा कि निकुंजेश्वरी श्रीराधारानी अपने निकुंज में शुक-पिक-सारिकादि को सतत राधा-राधा नाम रटने को कहें अथवा राधा-गुणगान करने की प्रेरणा स्वयं निजमुख से दें ।"

"यह तो स्पष्टतया आत्मश्लाघा ही कही जायगी एवं सज्जन मनुष्य भी ऐसा करना उचित नहीं मानते । परन्तु लोक-व्यवहार कुछ भी उचित-अनुचित कहे भगवती श्रीराधारानी अपने निकटतम विहंगमवृन्द को यही आग्रहपूर्वक प्रेरणा देती हैं कि वे उनके चतुर्दिक 'राधा-राधा' नाम ध्वनि ही किया करें अथवा राधायश-स्तुति पाठ करें । और इस कथन की प्रेरणा कैसी सुन्दर है कि क्योंकि उनके प्रियतम प्रकट-अप्रकट सदैव उनके चतुर्दिक विद्यमान रहते हैं अतः उनके सुख-विधान के लिये यही सर्वोत्तम है । अपने प्रियतम के सुख-विधान के लिये राधा को आत्मश्लाघा जैसा महागर्हित कार्य भी करने में परम उत्साह है ।"

श्रीपोद्दार महाराज के मुख से सायंकाल ही यह बात सुनकर पू० गुरुदेव को परम विस्मय हुआ । जो लीला पू० गुरुदेव नें प्रभातकाल में देखी थी, उस लीला को श्रीपोद्दार महाराज ने साररूप में सांयकाल उनके सम्मुख कैसे प्रकट करदी ? यही उनके लिये परम विस्मय का हेतु था । क्या श्रीपोद्दार गहाराज सर्वज्ञ हैं ? क्या ये मेरे मन में स्पन्दित होने वाले प्रत्येक भाव-विचार तक की

जानकारी रखते है। ? क्या मुझे जो भी दर्शन अनुभूति अथवा भाव-प्रकाश होता है, सभी के ये द्रष्टा, साक्षी रहते हैं ? क्या ये अन्तर्यामी हैं ?

पू० गुरुदेव ने अपनी सभी ऊहापोह श्रीपोद्दार महाराज के सम्मुख रख दीं। और यह भी प्रकट कर दिया कि प्रातःकाल ही इस लीला का उन्मेष उनके मानस में हुआ था । वे यह निश्चय भी कर चुके हैं कि भविष्य में अब वे मात्र 'राधा-राधा' ही बोला करेंगे ।

श्रीपोद्दार महाराज उस दिन प्रसन्न होकर चले गये परन्तु पश्चात् एक-दो दिन में आकर कहने लगे कि आप पहले षोड़शनामात्मक महामंत्र जपा करते थे । इसके पश्चात 'राधे कृष्ण राधे कृष्ण' नाम जपने लगे । अब आप कहते हैं कि मैं 'राधा राधा' जपूँगा सो आगे आप इसे भी मत छोड़ दीजियेगा।

पू० गुरुदेव श्रीपोद्दार महाराज की चेतावनी पर बहुत ही तुष्ट हुए । पू० गुरुदेव ने उत्तर दिया - "आप निश्चय मानिये यह 'राधा' नाम अब मुझसे देह रहते नहीं ही छूटेगा और यदि किसी कारण से छूट गया तो यह छूटना किसी अनन्त रसप्लावन की ही भूमिका का सृजन करेगा।"

मंजुलीला भाव : मालिन, नापित, गृहरजक, एवं हड्डिप-कन्याओं की सौभाग्य गाथायें

(मंजिष्ठा की कथा)

यह ब्रह्मपर्वत है । इसकी ही छाया में वृषभानुपुर अवस्थित है । इसके पार्श्व में ही रुद्रपर्वत फैला है जिसकी तलहटी में नन्दग्राम है और किंचित् दूरी पर गिरिराज नारायण पर्वत स्थित है । इन महाभाग्यवान तीनों पर्वतों की उपत्यकाएँ, इनके सम्पूर्ण गुहा-गह्वर, वन-प्रान्तर व्रजेन्द्रनन्दन के बिम्बारुण अधरों पर विराजित वेणु की महामोहन स्वरलहरी से सदा मुखरित होते रहते हैं ।

इसी ब्रह्मपर्वत से निस्सृत एक परम निर्मल गिरिस्रोत वृषभानुपुर के पार्श्व से बहता हुआ कानन में चला जाता है और सुदूर आगे जाकर यह यमुना में मिल जाता है । मानों यह ब्रह्मपर्वत अपने शोभाकोश की अपरिसीम रससम्पदा ही वृषभानुपुर के चरणों में समर्पित करने जा रहा हो, इस प्रकार स्वच्छ, शीतल, सुमिष्ट और भगवद्भक्त ब्रह्माजी के मानसतल के समान

निराविल जल से कल-कल, छल-छल निनाद करता, यह निर्झर स्रोत नित्य ही वृषभानुपुर ग्राम के चरण पखारता रहता है । इसी निर्झर में विकसित शोभाशाली पद्‌मों की गन्ध वहन करता मन्द समीर वृषभानुपुर के राजमहल में प्रवेश करता किशोरीरानी के श्रीअंगों का संस्पर्श पाकर कृतकृत्य होता रहता है । कितना भाग्यवान है यह निर्झर कि किशोरीरानी जब अपने महल की छत पर खड़ी होकर इसकी ओर अपनी दृष्टि घुमाती हैं तो इसके विकसित पद्‌मों की शोभा उनके नेत्रकोणों में समा जाती है । नानाविध कुसुमों के सुवास से उनकी घ्राणेन्द्रियाँ भर जाती हैं और इसकी कलकल निर्मल ध्वनि से उनके कान आनन्दित हो उठते हैं । यह गिरिस्रोत मानो वृषभानुजा कृष्णप्रिया किशोरी के कर्ण, त्वक् , रसना, दृगंचल एवं नासापुटों- सभी इन्द्रियों का आनन्द-संवर्धन करने के लिये ही ब्रह्मपर्वत से समस्त सामग्री लेकर अवतरित हुआ हो और सतत सेवा के उद्देश्य से निरन्तर प्रवहमान रहता हो ।

इसी गिरिस्रोत के किनारे नागरिक बस्ती से हटकर कुछ दूरी पर वनक्षेत्र में रजक बस्ती है । रजकों ने गिरिस्रोतों के किनारे-किनारे स्थान-स्थान पर प्रस्तर खण्ड आरोपित कर रखे हैं । यह स्थान रजकघाट करके ग्राम में प्रख्यात हैं । इस घाट की भी अपरिसीम शोभा है । सचमुच धन्य हैं ये कदम्ब, प्रियाल, पनस आदि वृक्षसमूह जिनके हृत्तलों में ऐसे दिव्य भावों की लहरें हैं । "श्री प्रियतम-प्रिया, वृषभानुजा किशोरीरानी के वस्त्रों को प्रक्षालन करने वाले रजकों को प्रणाम- इस गिरिस्रोत जिसमें रानी के वस्त्र स्वच्छ किये जाते हैं- के जल को प्रणाम । इन रानी के चिन्मय शोभास्वरूप वस्त्रों को भी शतशः प्रणाम ।" इस प्रकार ये सभी वृक्ष अपने शाखाग्ररूप मस्तकों पर विविध पुष्प-फलों की पूजोपचार सामग्री लिये झुकझुक कर सभी को प्रणाम निवेदन करते रहते हैं । ये अपने को कृतार्थ अनुभव कर रहे हैं । सभी वृक्ष फूले हैं, इनके विकसित पुष्पों पर भ्रमर झंकार कर रहे हैं ।

इन वृक्षों में अतिकमनीय पुरट तारों से खचित पट्ट डोरियाँ बँधी हैं। इन डोरियों में रजक गीले वस्त्र सुखा देते हैं । इन सभी वृक्ष समूहों की ऐसी पवित्रतम चर्या है कि जब रजक वस्त्र धोकर सुखाने इनके पास लाते हैं तब तो ये अपनी डालियाँ निम्न झुका देते हैं जिससे रजकों को वस्त्र सुखाने में कहीं कोई कठिनाई नहीं हो और जैसे ही पट्ट डोरियों में वस्त्र गिरे, ये डालियाँ उन्नत कर लेते हैं जिससे पवन पूर्णतया पूरे वेग से वस्त्रों को सुखा सके ।

क्यों न हो, ये अज्ञानी जड़ जो नहीं। अपितु ये तो इतने सौभाग्यशाली हैं कि इनके सौभाग्य के दर्शन-श्रवण करने वाले का भी अज्ञान-तिमिर सदा-सदा के लिये विनष्ट हो जाता है । अहो ! जिनके अन्तस्तल में रानी के स्वरूपभूत वस्त्रों की, उनको धोने वाले रजकों के चरण-सेवन की लालसा भरी है, उन्होंनें ही तो यथार्थ में ज्ञान के सारसिद्धान्त को हृदयंगम किया है । किशोरीरानी के सेवकों के चरण-सेवन परायण इन द्रुम समूहों में कहाँ है तम एवं अज्ञान का अंश । अपितु सेवा-समर्पण का आदर्श स्थापित कर, जगत् के तमोनाश अज्ञान निवारण के लिये ही इन्होंनें इस वृन्दावनधाम में वृक्षयोनि को अंगीकार किया है । यही सत्य है।

ग्रीष्म का उदय ही हुआ है । सचमुच वन की इस ग्रीष्म के समय भी कैसी निराली शोभा है । अगणित निर्झरों के झर-झर शब्दों में झींगुरों की झंकार आच्छादित हो गयी है। गिरिस्रोतों से, प्रपातों से असंख्य जलकण निरन्तर उच्छलित हो रहे हैं। उनसे सिक्त वनस्थली, स्निग्ध हुई समस्त तरुश्रेणी अद्भुत रूप से सुशोभित हो रही है । सर्वत्र हरित् तृणों का आस्तरण सा बिछा है । सरिता, सरोवरों और गिरिस्रोतों के शीतल जल से सिक्त वायु अत्यंत सुशीतल हो रही है।

कुमुद, पद्म, नीलोत्पल- अनेकानेक पुष्पों के किंजल्क को अपने अंचल में भरकर वन की, भानुपुर की परिक्रमा करती वायु प्रत्येक वनवासी का स्पर्श कर रही है । इसीलिये किसी भी काननवासी को ग्रीष्म के ताप की अनुभूति नहीं हुई है।

बाल रवि को उदय हुए किंचित् काल ही व्यतीत हुआ है। फिर भी रवि में तप्तता का प्रारंभ हो चुका है। थोड़े काल पश्चात तो रवि का प्रखर तेज भूमि को तपाने लगेगा। रजकिनी कन्या मंजिष्ठा तट पर अपनी सखी रंगरागा के साथ शीघ्रता पूर्वक वस्त्र धो रही है। रजकों के प्रमुख की कन्या मंजिष्ठा रानी की लाड़िली सखी भी है। और यह रंगरागा तो वस्त्रों के धूमिल हुए रंगों को इस प्रकार पुन: रँगकर चमकीला करती है कि यह पहचान ही नहीं हो पाती कि वस्त्र पुरातन हैं। रंगरागा के पिता ही वृषभानु बाबा के राजमहल के सभी वस्त्र कल्प एवं रंग करते हैं और मन्जिष्ठा के पिता इन्हें धोकर, मैलरहित स्वच्छ करते हैं। किशोरीरानी के वस्त्र तो ये ही दोनों सखियाँ सदा से स्वच्छ कर, रँग कर नित्य ही मंजुलीला को सौंप आती हैं। ये दोनों ही अपने पिता की इकलौती पुत्रियाँ हैं। हाँ, इनके भाई नन्दनन्दन के प्राणप्रिय

सखा हैं। परन्तु वे रजक का कार्य नहीं करते। उन्हें तो अपने सखा के संग आज यहाँ इस वन में, कल वहाँ उस वन में घूमने एवं क्रीड़ाएँ करने से ही अवकाश नहीं मिलता। ये दोनों सखियाँ वृषभानुराजदुहिता की विशेष सेविका मंजुलीला की भी अति विश्वासपात्रा सखियाँ हैं। अतः यदा-कदा मंजुलीला इन्हें प्रियतम नीलसुन्दर का पीत परिधान भी स्वच्छ करने को दे देती हैं। यह पीत-परिधान रानी निशाभिसार करते समय शीघ्रता से वस्त्र परिवर्तन करते हुए भूल से पहन कर चली आती हैं और रानी का नीलपरिधान प्रियतम पहन जाते हैं। इस प्रकार पलटे हुए इन वस्त्रों को मंजिष्ठा को तत्क्षण ही धोकर शीघ्रतापूर्वक सुखा कर देना होता है । क्योंकि रानी जब पाकरचनार्थ नन्दभवन जाती हैं तो यह वस्त्रसुबल पत्नी कुन्दलता को नन्दभवन में सौंपना होता है और उनसे रानी का नीलाम्बर लेना होता है। आज भी मंजुलीला ने उसे यह परिधान शीघ्रतापूर्वक स्वच्छ कर देने की सेवा सौंपी है। सूर्योदय हो चुका है और उसे अपने कार्य की अतिशय त्वरा है।

इस पीताम्बर में न जाने क्या विलक्षणता है, वह इसे ज्योंही स्पर्श करती है, न जाने कैसे परमनिर्मल प्रीति के भावों में वह खो जाती है। अनेक बार ऐसा हुआ है कि वह इस पीताम्बर को लेकर राजमहल से रजकिनी घाट की ओर चली है, परन्तु उसके पैर उसे भटकाकर ले गये हैं वन की किन-किन सुरम्य घाटियों में।

इस पीताम्बर को लिये जैसे ही वह किसी एकान्तस्थल में पहुँची नहीं कि इसमें से प्रकट हो जाते हैं, वे नीलसुन्दर वनमाली - प्रेम के परम देवता, और वे उसे अनियंत्रित लिये चले जाते हैं ब्रह्मपर्वत की उपत्यकाओं को पार कराते गिरि की परम सुरम्य पुष्पों से लदी महकती घाटियों में। यह तो मंजुलीला उसके पीछे टोहक पक्षी लगा देती है अन्यथा तो उसके लिये उसे ढूँढना ही असंभव हो जाय। और कठिनाई यही है कि ये पीताम्बर से प्रकटे नीलम किसी अन्य को दिखते भी नहीं, बस उसे ही दिखते हैं अतः यदि वह किसी से कहे भी कि उसका हाथ पकड़कर प्रियतम नीलम उसे ले गये थे तो लोग उसे पागल ही कहेंगे। जागतिक दृष्टि में तो वे प्रत्यक्ष रहते हैं अपने सखाओं के साथ ही। उसका सहोदर भ्राता भी यदि सुने तो उसके इस प्रलाप को झुठला देगा क्योंकि कन्हैया तो उसके साथ उस समय निरन्तर एकरस क्रीड़ा करता रहा है।

मंजुलीला उसकी सभी परिस्थिति को सही समझकर भी सामंजस्य कर लेती है। फिर भी काल तो व्यतीत हो ही जाता है और वस्त्र अनधुला ही रह जाता है। त्वरावश कभी-कभी तो मंजुलीला को ही वस्त्र धोना पड़ता है।

सेवा में प्रमाद तो बहुत ही बड़ा दोष है। सेवा तो सेवा है। यदि कोई भाव-सुख में डूब जाय तो वह सेवा के तो सर्वथा ही अयोग्य हो जाता है। सेवा तत्सुखार्थ है और भाव मत्सुखार्थ। अतः उसे तो भाव से बचकर सेवा में ही तत्पर रहना चाहिये, यही उचित है। वह भी अति सावधानीपूर्वक इस भावावेश से शत्रु की तरह बचना भी चाहती है। परन्तु वह अवश हो जाती है। पीताम्बर का स्पर्श ही उसे प्रियतम प्राणसुन्दर के स्पर्श के समान ही स्पन्दित जो कर देता है और तब वह पीताम्बरधारी की भावमूर्ति के साथ अनियंत्रित हुई चल पड़ती है सुरम्य वन-वीथियों की ओर। प्राणधन नन्दनन्दन उसके नयनों की काली पुतलियों को अपना निवास स्थान बना लेते हैं। वे उसके कर को अपने सरोरुह सदृश हाथों से पकड़ लेते हैं और खींचते से ले चलते हैं। वे गिरि उपत्यकाओं में चढते हैं, उस समय वह उनके स्कंधदेश को पकड़े रहती है। किसी घनेवृक्ष के नीचे बिछे पुष्पास्तरण पर वे दोनों बैठते हैं। वह थकी हुई होती है, नीलसुन्दर अपनी जंघाओं का तकिया लगाकर उसे लेट जाने को विवश कर देते हैं।

वह उनके अनिन्द्य सुन्दर आननसरोज से झरते रूप-लावण्य का पान करती रहती है। और तब वे अपनी कटि में खौंसी मुरली को निकालकर उसे अपने अधरों में रख लेते हैं। फिर तो ऐसा अमृतपूर का प्रवाह बह चलता है कि वह पूर्णतया उसमें निमग्न ही हो जाती है। कुछ क्षण के लिये तो उसकी चेतना ही विलुप्त हो जाती है। चेतना का प्रकाश भी होता है तो जड़ पुत्तलिका की भाँति वह अपलक नेत्रों से बस उनके मुख की ओर निहारती ही रह जाती है। अहा, कितने प्रेम के वे क्षण होते हैं !

वह तो युगों-युगों तक बिना व्यवधान इसी प्रकार उनका मुख ताकती रहे, परन्तु अचानक निगोड़े टोही पक्षी चीख उठते हैं- "मंजिष्ठा, मंजिष्ठा पीताम्बर....पीताम्बर....।" इन टोही पक्षियों की कर्कश ध्वनि से ही उसे अपनी सेवास्मरण हो आती है। इस सेवास्मरण के साथ ही वह आश्चर्यवती विस्फारित नेत्रों से देखती है कि वह तो इस वन में सर्वथा एकाकिनी ही है। प्रियतम नीलसुन्दर तो उसके साथ हैं ही नहीं। अब प्राणों में पश्चात्ताप की प्रबल अनुभूति लिये वह पुनः रजक घाट की ओर लौटने को उत्सुक होती है

परन्तु उसे तो पथ का अनुसंधान ही नहीं रहता। ये पक्षी ही किसी प्रकार उसे पथ-निर्देश करके घाट पहुँचाते हैं। किस कठिनाई से वह उस वस्त्र को स्वच्छ कर पाती है। और जब सुखाने की पारी आती है तो वे ही नीलसुन्दर उनके अपने ही पीताम्बर को उसके दोनों विपरीत छोर पकड़ कर उसे उसके साथ ही सुखाने लगते हैं।

अहा ! महाराज नन्द के लाड़िले सुपूत, यशोदारानी को मातृपदयश का दानकरने वाले, प्रतिवर्ष जन्मदिवस पर महामहोत्सव से रञ्जित होने वाले, अपनी विलक्षण लीलाओं से अपनी सभी प्रेमिका गोप-वधुओं को आनन्दित करने वाले, अपने स्पर्श मात्र से विषभरी पूतना को नष्ट करने वाले, दूसरों की त्रुटियों से सदा अनभिज्ञ रहने वाले, शकट के खण्डित होने पर भी उससे अक्षत बच निकलने वाले, गोकुल के महा-महा-पुण्य विशेष की मूर्त्ति, निरन्तर अपनी प्रिया किशोरीरानी का आनन्दवर्धन करने वाले, सम्पूर्ण वन-कानन को अपनी प्रेम-प्रीति की रंगशाला बनाने वाले, हृदय एवं चित्त को चुराने में शूरता दिखाने वाले, चर-अचर सबको अपने वंशी निनाद से विमोहित कर देने वाले, प्रियतम प्राणवल्लभ मानो उसके संगी रजक हों इस प्रकार अपरिसीम सुखदायिनी प्रेमलीला करते हुए अपना ही पीताम्बर सुखाने के लिये उसके विपरीत दोनों छोर पकड़ कर उसके नयनों में नयन डालकर कैसी मधुर मुसकान बिखेरते हैं - वह क्या कहे !

उस समय उसका प्रेमसुख अवर्णनीय हो जाता है । अपने प्रियतम की वह अविस्मरणीय मुख-छवि, वह अप्रतिम विलक्षण रूपराशि मंजिष्ठा को इतना मुग्ध कर देती है कि मंजुलीला को या तो स्वयं या अपनी किसी संदेश-वाहिका सखी को भेजकर ही वह पीताम्बर रजकघाट से मँगाना पड़ता है - अन्यथा तो उसकी सेवा सदा अपूर्ण ही रहे, और वह पीताम्बर सुखाने की लीला निर्बाध अनन्तकाल पर्यन्त चलती ही रहे। वह तो उसे देने वृषभानुपुर जा ही नहीं पावे।

अहा ! यह कैसा महाश्चर्य है कि इस प्रकार प्रति दिवस लगातार प्रमाद घटित होते रहने पर भी मंजुलीला उसी को वह पीताम्बर पुन: स्वच्छ कर लाने की सेवा प्रदान करती है। कितना असीम प्रेमानुग्रह है उस पर उसका; अन्यथा कोई अपने कार्य में ऐसा व्यवधान प्रतिदिन ही क्यों सहेगा ?

उसने मंजुलीला से अपनी असमर्थता और दशा रो-रोकर अनेक बार वर्णन की है, परन्तु वह उसके अपराध को मानती ही नहीं और मुसकाकर

उसके विषाद की उपेक्षा कर देती है । एक दिवस उसने अति साहस कर अपने मन का अतिशय गुप्त मनोरथ भी मंजुलीला को बताया था - "बहन ! क्या यह संभव है कि जब भी रानी का नन्दनन्दन के साथ परिणय महोत्सव हो, रानी की रजकिनी दासी के रूप में वृषभानुबाबा उसे भी दहेज में दे दें।" मंजु बहन ने उसका मनोरथ गंभीरतापूर्वक सुना था एवं रानी की स्वीकृति दिलाने का आश्वासन भी उसे दिया था। इसके पश्चात् तो उसने अपनी मैया से भी अनुनय-विनय कर यह बात मनवाली थी कि उसके विवाह की कल्पना ही त्याग दी जाये। उसे तो यावज्जीवन रानी की रजकिनी दासी ही रहना है। उसकी मैया ने उसका अत्यंत आग्रह देखकर यह बात उसके बाबा के सामने भी रख दी एवं उसके बाबा ने यह बात एक दिन एकान्त में महाराज वृषभानुजी से भी निवेदन कर दी। उनकी स्वीकृति पाकर जब उसके बाबा ने यह सूचना मैया द्वारा उसे दी तब तो उसके हर्ष का पारावार ही नहीं रहा। मानो उसे त्रिलोकी का निर्बाध एकछत्र स्वाराज्य सिंहासन ही मिल गया हो, अथवा अपुनर्भव गति ही प्राप्त हो गयी हो।

वृषभानुबाबा द्वारा स्वीकृति हो जाने की बात जब उसने मंजुलीला बहन को बतलायी तब तो मंजुलीला ने उससे बहुत ही तीखा विनोद किया था -"अरी तू कैसी दासी बनेगी री, तू तो जैसे ही नन्दनन्दन का कोई भी वस्त्र छूएगी, बस पगली होकर वन-पहाडों में दौड़ती फिरेगी। फिर वृषभानुजा तुझे ढूँढने में दिन रात भले ही एक करें। नन्दभवन के सभी पक्षियों का बस एक ही कार्य होगा कि तुझे ढूँढते फिरें। अवश्य ही तू दासी नहीं उनकी स्वामिनी बनने का मनोरथ पाले है ! प्रियतम नीलमणि तो रजक बने तेरे धोये कपड़े सुखावें और रानी तेरे जड़िमा भावग्रस्त अंगों का मर्दन-संवाहन करें। क्यों यही तेरा मनोरथ है न ? और वह खूब ठिठोली करती हँस रही थी।

रंगरागा की कथा

मंजुसखी की बातें सुनकर उसका हृदय लज्जा से भर जाता है और आज पुन: जैसे ही उसे मंजुसखी ने मुंसकाकर पीताम्बर शीघ्र स्वच्छ कर लाने का आदेश दिया है वह इस अपनी सखी रंगरागा को पकड़ लायी है। यह भी तो उसकी नाते की बहिन ही है, उसकी सखी है। यह रानी के वस्त्र कल्प करती है, रँगती है।

घाट में बैठ-बैठे उसने इसे अपनी सब दशा और व्यथा भी कह दी है। परन्तु हुआ तो सर्वथा विपरीत ही। रंगरागा तो उसकी कथा सुनते-सुनते ही अधीर होकर रोने लग जाती है - "अरी बहिन। मैं कैसी अभागी हूँ कि रात्रि-दिवस अनवरत अविराम 'कृष्ण-कृष्ण' रटती हूँ फिर भी वह सुधा-प्रवाह, वह प्रेमामृत निर्झर प्रियतम नीलमणि मेरे नयनगोचर ही नहीं होता। मैं रँगने के लिये लायी रानी की नीली साड़ी से मुख ढाँपे पड़ी रहती हूँ , कुन्तलराशि पीठ पर बिखरी रहती है, कभी भी वेणी रचना नहीं करती कि किसी दिवस जाग्रत में नहीं, तो स्वप्न में ही सही वे मेरी बिखरी केशराशि को स्पर्श कर लेंगे, परन्तु हाय री, मुझ अभागिन को तो उनका दर्शन ही नहीं मिल पाता, संस्पर्श की तो कल्पना ही कहाँ ?"

रंगरागा के नेत्र सजल हो उठते हैं, वाणी रुद्ध हो जाती है, वह थर-थर काँपने लगती है, मानो उस पर हिमपात हो उठा हो। उसके अँगो से भावावेशवश प्रस्वेद की धारा बह चलती है। वह पुन: सिसकियाँ लेती हुई कहती है - "एक दिवस नलिनी एवं सुगन्धा से जो रानी के अंगों में उबटन करके घर लौट रही थीं, मैंने रानी के अंगों से उतरी पूर्वचर्चित केसर माँग ली थी । रानी से पुरस्कार में मिली उनकी पूर्व पहनी नीली साड़ी, उनकी रक्तिम चोली, उनका लहँगा, सभी आभूषण जो उन्होंने मुझे यदा-कदा वार-त्यौहारों में दिये थे, मैंने अंगों में यथास्थान पहन लिये । वह केसर भी मैंने अपने अंगो-अंगों में मल ली । इस प्रकार सजी-धजी मैं दिवस-निशा पर्यन्त अष्टप्रहर बन-बन घूमती रही । कहीं कोई रानी की अंगचर्चित केसर की गंध से लुब्ध भ्रमर ही प्रियतम नीलमणि को रानी के वन-आगमन की मिथ्या सूचना ही दे दे और वे उस मिथ्या सूचना के वशीभूत हुए मेरे पास चले आवें, और रानी ही समझकर दो बोल प्यार के बोल जावें, बस, बहिन ! जन्मान्तरों की मेरी साध पूरी हो जावे, मैं उनके चरण पकड़ कर लिपट जाऊँ उनसे अपने पूर्वकृत अनन्त जन्मों के अपराधों की क्षमा माँग लूँ, उनके चरणों की रज से अपनी माँग भर लूँ, इस प्रकार चाहे छद्म से ही सही, बस जीवन में एक बार उनके अंगों से लग तो जाऊँ, बहिन री ! बस एक बार उनके सुकोमलतम चरण तालुओं को अपने सीमन्त पर रखकर सुहागिन हो जाऊँ री, फिर यावज्जीवन वे मुझे भले ही कभी न मिलें, कभी न दिखें, परन्तु हाय हतभाग्य। बहिन! कितनी ही बार यह सब छद्म करके भी उनकी मुझे एक भी प्रीति-झलक अब तक नहीं मिल पायी री ।"

"बहिन री ! 'कृष्ण-कृष्ण' आवृत्ति करती हुई मैं रातभर कदम्ब कुञ्जों में, वन में बैठी रहती हूँ । सोचती हूँ, अहा ! कभी तो वंशी बजेगी ? अहा ! कभी तो मेरे श्रवणरंध्रों में वंशीरव प्रवेश करेगा ही ? हाय ! जीवन में कभी तो मैं वंशीरव , उस सुधा प्रवाह, उस अमृत-निर्झर के उद्गम को भी देख पाऊँगी ? अहा ! वह न जाने कैसी मधुरध्वनि होगी ? और वे स्वयं न जाने कितने सुन्दर होंगे ? सखि री ! क्या मेरे जीवन में कभी वे क्षण भी आयेंगे ?"

रंगरागा के नेत्रों से झर-झर करता हुआ अनर्गल अश्रुप्रवाह बह उठता है । मंजिष्ठा अंचल से उसके अश्रुमार्जन करती है किन्तु उसकी आँखें तो मानो निर्झर ही हो उठी हों, पुनः अश्रुपूरित हो उठती हैं । अश्रुधारा बहने लगती है तो रुकती ही नहीं । मंजिष्ठा उसे ज्यों-ज्यों सान्त्वना दती है, परिणाम उलटा होता है, उसकी व्याकुलता और बढ़ जाती है ।

रंगरागा मंजिष्ठा के चरणों में लिपट जाती है - "इस पीताम्बर से वे तेरे सम्मुख प्रकट होते हैं तो आज उन्हें मेरे सम्मुख प्रकट कर दे न बहन ! मैं जन्म-जन्म की दासता का पट्टा तुझे लिख देती हूँ । मात्र एक बार ही उन्हें प्रकट कर दे । अहा एक बार, जीवन में मात्र एक बार उन महांमरकतद्युति अँगों से झरती शोभा के दर्शन करा दे, उस नवकैशोर का जीवन में बस एक बार समागम हो जाय, उस मोरमुकुटी मयूरपिच्छ-सुशोभित-भाल को एक बार मेरे दृष्टि पथ में ला दे री ! स्वप्न हो या जागरण, दिवस हो या रात्रि, बस एक बार ही वह श्यामज्योत्स्ना मेरे नयनों को उद्भासित कर दे, उस लहरें लेते रूपसागर में एक बार तो अवगाहन करादे, उन चंचल श्यामल लहरियों में नाचती-नाचती बस प्राण विसर्जन कर दूँ, यह कहती रंगरागा मूर्च्छित हो जाती है ।

अब मंजिष्ठा इस विरहिनी की क्या सहायता ले ? वह तो मंजिष्ठा को सम्हालना दूर उसे और उद्वेलित करना चाहती है, जिससे नन्दनन्दन प्रकट हो जावें और उसका उनसे मिलन हो जाये ।

भाग्यवती एवं पुण्यपुंजा की कथा

मंजिष्ठा की तो मात्र पांच-छः ही अन्तरंग सखियाँ हैं । अब इन हड्डिप-कन्याओं भाग्यवती एवं पुण्यपुञ्जा की वार्ता सुनो । ये दोनों तो सबसे

ही अधिक पगली हैं । इनमें भाग्यवती तो ऐसी भाग्यशालिनी है कि वह जहाँ भी जायेगी उसे नन्दनन्दन के चरण चिन्ह ही अंकित दृष्टिगोचर होते रहते हैं । वह स्वच्छता कार्य क्या करेगी ? कार्य करने के लिये जो बुद्धि की सजगता चाहिये, उसका तो उसमें सर्वथा ही अभाव हो गया है । उसकी बुद्धि नन्दनन्दन को छोड़कर जगत को पकडें तब न ? हाँ पवनदेव अवश्य उस पर कृपालु हैं जो सभी उपवन और बाग बगीचों की अस्वच्छता उड़ाकर एक दिशा में एकत्रित कर देते हैं और तब अग्निदेव की एक चिनगारी उन सब सूखे पत्तों को और कूडे कचरे को उन पत्तों के साथ जलाकर भस्म कर देती हैं । बस उसका कार्य तो प्रकृति ने ही कर दिया है।

हाँ, वह झाड़ू लेकर पुण्यपुञ्जा के साथ निरे प्रभात अरुणोदय के पूर्व ही सेवा के लिये नगर में चली अवश्य आती है । परन्तु ज्योंही अरुणोदय हुआ उसे नन्दनन्दन के चरण चिन्ह दिखने लग जाते हैं।

अब तो उसकी दशा देखने ही लायक हो जाती है । उसके तन के अणु अणु से आनन्द झरने लगता है। दिव्योन्माद के लक्षण उसमें प्रत्यक्ष परिलक्षित होने लगते हैं । कण्ठ गद्गद हो उठता है । जैसे वह अनन्त काल तक के लिये परितृप्त हो गयी हो, वह उस रज में लोटने लगती है, परन्तु उन चरण चिन्हों को बचाकर । उसकी उन्मत्तता उत्तरोत्तर बढती ही जाती है। यह दशा तो भाग्यवती की हुई ।

अब पुण्यपुञ्जा को देखो ! भाग्यवती के निर्देश से वह उपवन से पुष्प लाने जाती है । और जैसे ही वह मल्लिका के पार्श्व में पहुँचती है उसे नवीन नील-नीरद के समान नीलश्याम-कान्ति-वपु अपना जन्मों-जन्मों का कान्त नयनगोचर हो जाता है । वह किसी प्रकार दृष्टि फेरकर यूथी की लताओं की ओर दृष्टि पात करती है परन्तु वहाँ भी वह कृष्ण बन्धु अपनी सौन्दर्य-सुधा-वर्षिणी मन्द मुसकान से उसे मोहित करता खड़ा दिखता है । अब वह क्या करे, वैजयन्ती लता की ओर दौड़ती है, परन्तु उसकी सौन्दर्य-सुधामयी मुसकाती छबि वहाँ भी उसके दृष्टिपथ का भूषण हो उठती है । रक्त, पीत, हरिताभ जिन जिन पुष्प लताओं पर वह दृष्टिपात करती है सर्वत्र वे ही वे उसे अपने अंक में भरने को लालायित खड़े मुसकाते दिखते हैं। वहाँ से लौटती है तो भाग्यवती के पार्श्व में उसी स्थल पर जहाँ प्रथम बार उसे वे चरण चिन्ह दिखे थे, उसके प्राणों के प्राण खड़े दृष्टिगोचर हो जाते हैं ।

नवीन विद्युन्माला सा चमकीला मनोज्ञ पीताम्बर पहने, निर्मल शारदीय पूर्णचन्द्रमा सा समुज्ज्वल वदन और अधरों पर सुन्दर मुरली धारण किये, चंचल वायु द्वारा हिल्लोलित मयूर पिच्छ को मस्तक पर फहराते, घुँघराली अलकावलि से उसके चंचल चित्त को प्रीति बंधन में जकड़ते वे खड़े अपनी मुसकान बिखेर रहे होते हैं ।

इधर भाग्यवती को चैन कहाँ ? वह अपने झर झर बरसते नेत्रों से पहले तो उन चरण चिन्हों पर अर्घ्य, पाद्य समर्पित करती है और तब अपने वक्षस्थल सें चर्चित चन्दन उतार-उतारकर उसे अश्रुजल से आर्द्र कर उन पर लेप करना प्रारंभ कर देती है । अपनी वेणी में गुम्फित पुष्प उतार-उतार कर उन पर चढ़ाने लगती है ।

इधर अपने मुख से अस्फुट उच्चारण करती, प्रेमाश्रुओं के प्रवाह से अपना वक्षस्थल भिगोती वह पुण्य पुञ्जा भी लौट आती है । उसे तो चरण चिन्हों के स्थान पर वे स्वयं ही खड़े दृष्टिगोचर हो रहे हैं, अत: वह तो उन्मादिनीसी मानो उनके चरणो में गिर पड़ी हो, भूलुंठित हुई मूर्छित हो जाती है ।

नगर के लोग उनके माता पिता को सूचित कर देते हैं, परन्तु यह कोई एक दिवस की घटना तो है नहीं, प्रतिदिन ही ऐसा होता है । कभी-कभी तो उन्हें अपने निवास-कक्ष से सटी फुलवारी में ही नन्दनन्दन के चरण-चिन्ह दिख जाते हैं, बस उन्हें उसी क्षण आत्म विस्मृति हो जाती है । उनका अन्त: करण श्याम-प्रेम-पूरित हो उठता है और वे प्रेम-मंगल-घट बन जाती हैं । प्रीति छल-छल बहने लगती है उन दोनों के नेत्रद्वारों से । कुंचित अलकें बिखर जाती हैं उनके भाल पर । परिधान का भान नहीं रहता उन्हें । निर्निमेष विस्फारित नेत्रों से चारों ओर देखने लगती हैं, उन्हें तो चतुर्दिक सर्वत्र सब रूपों में प्रियतम ही प्रियतम दिखते हैं । अत: या तो वे भू लुण्ठित मूर्च्छित रहती हैं अथवा "प्रियतम ! प्राणवल्लभ!!" कहतीं, भुजा पसारकर उन्हें आवेष्टित कर लेने के उद्देश्य से दौड़ती-भागती रहती हैं, यही उनकी नित्य की दशा है ।

अनेक बार तो दोनों इतनी उन्मादिनी हो उठती हैं कि उनका अन्न, पानी और निद्रा सर्वथा लुप्त हो जाती है । जब पाँच-सात दिन जल भी ग्रहण नहीं होता तो घबरायी उनकी मातायें रानी को सूचित करती हैं । सभी सखियों सहित रानी उन्हें देखने आती हैं ।

रानी को देखते ही तो उनका आनन्द सहस्त्रगुना हो जाता है । वे दोनों ऐसा नृत्य करती हैं, जैसा सम्पूर्ण कलाओं की अधिष्ठात्री वाग्देवी भी नहीं कर पावें । फिर एक "प्राणेश्वर आये थे री, निशा में प्रियतम मेरे घर आये थे री, और दूसरी "मेरे भी - मेरे भी ..." की रट लगाती रानी का हाथ पकड़ भूमि में कोई-न-कोई चिन्ह दिखाने लगती हैं । भूमि में स्पष्टतया कोई चिन्ह उभरा न होने. पर भी उन्हें तो प्रियतम के दोनों चरणों के सभी चिन्ह वहाँ प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होते ही हैं । और यदि कोई भी व्यक्ति प्रतिवाद कर दे कि यहाँ भूमि की धूलि है,कोई पदचिन्ह नहीं है और उनकी भावदशा किसी भी हेतु से बदल जाय, फिर तो प्रिय-वियोग की ऐसी असह्य वेदना उनके हृदय में धधकती है कि उनका जीवन ही बचेगा या नहीं संदेह होने लगता है । अत: सभी, न दिखते हुए भी उनके दिखाये पदचिन्हों को देखने में ही उनकी जीवन रक्षा मानकर हाँ में हाँ मिलाते हैं । देखो ! दोनों बेसुध कटे कदली स्तंभ की तरह रानी की गोद में गिर पड़ी हैं । गंभीर मूर्च्छा में निमग्न उनके सिर पर रानी हाथ फेर रही हैं। एक का मस्तक रानी की एक गोद में और दूसरी का मस्तक दूसरी गोद में। अनेक उपचार प्रक्रियायें करने पर किसी प्रकार उनकी मूर्च्छा भंग हो पाती है ।

उनके माता-पिता भी क्या करें । अब नन्दनन्दन से उनके विवाह की तो कल्पना ही कैसे की जाय ? वृषभानुबाबा एवं किशोरी रानी से उनकी यही प्रार्थना होती है कि इन पगलियों को भी अपनी दासी,अनुदासी मानकर स्वीकार कर लें । संभव है नन्दभवन के वन-उपवनों की, नन्द बाबा की गोशाला के विशाल प्रांगण की स्वच्छता सेवा करती हुई ये दोनों चरणदासियाँ भी नन्दनन्दन की एकाध झाँकी पा लेंगीं और उस अखिल भुवन मोहिनी मुसकान से प्रभावित हुई अपने जीवन में संभव है किंचित् धैर्य धारण कर लें, किंचित् भी इनका भाव संवरित हो जावे। सेवा तो उन्हें यावज्जीवन करनी ही है, चाहे यहाँ करें, चाहे नन्दग्राम में करें । कोई हड्डिप युवक तो इनसे विवाह करने से रहा । ये ऐसी विलक्षण किशोरियाँ हैं कि यदि कोई युवक भूल से भी इनका अंग संस्पर्श कर ले तो उसे ऐसा अनुभव होता है मानो वज्रपात ही हो गया हो । उसके सर्वांग में ऐसा भीषण दाह हो उठता है कि वह मरणान्तक कष्ट से छटपटा जाता है । हां, कोई नारी भले ही इन्हें संस्पर्श करे । हड्डिप समाज में तो यह बात सर्वत्र बच्चों-बच्चों को ज्ञात है अत: इनके विवाह का समाज में तो प्रश्न ही नहीं है।

मणिकी की कथा

अब मंजिष्ठा की चौथी सखी माणिकी की वार्ता सुनो । वह भी अतिशय पगली है । यह मालिन कन्या माणिकी वन माला, वैजयन्ती, बाहुभूषण, अँगुलीयक, चरणभूषण, शिरोमुकुट, सभी आभूषण मात्र पुष्पों से ही निर्माण करती है । प्रत्येक आभूषण में उसकी सर्वोच्च एवं अभिनव मौलिक कला सृष्ट होती है । एक दिन भी पुनरावृत्ति नहीं, नित्य अभिनव नूतन छवि, नवीन कौशल से कलाकृतियाँ निर्मित होती हैं, कहीं किञ्चित् भी बासीपना नहीं ।

रानी के अंगों में उसके पुष्पाभरण जैसे फबते हैं, वैसे तो बहुमूल्य रत्नजटित स्वर्णाभरण भी नहीं फबते और प्रियतम के आनन्द का तो पार ही नहीं रहता जब रानी उसकी रचित वैजयन्ती तथा वनमाला उन्हें पहनाती है। नन्दभवन में भी अच्छे से अच्छे कलाकार माली परिवार हैं जिनका पीढियों से माला रचना करना ही व्रत है, परन्तु प्रतियोगिता में इस माणिकी की तुलना में कोई ठहर ही नहीं पाता । उसकी माला में जो भाव और सौन्दर्य, जो कला और सुघड़ता होती है, पुष्पों के चयन की जो प्रक्रिया होती है, पुष्पगंध का जो मेल होता है, वैसा अन्यत्र असंभव ही लगता है । अनेक मालियों ने उसकी वनमाला में गुँथे पुष्पों को ही उसी कला से रचना कर उसकी अनुकृति करने की भी चेष्टा की है, परन्तु वह भावसौन्दर्य उन मालाओं में आया ही नहीं जो उसके हाथों पुष्पों के गुँथने में आता है । जैसे पुष्प ही उसके सेवक हों, उसके कहने से ही गन्ध प्रसार करते हों, उसकी रुचि से रूप धरते हों, इतना अधिकार है उसका मालाकारी कला में ।

वह भी बहुत ही प्रेमहठी है । उसका हठ है कि पुरानी वनमाला उसे मिलनी ही चाहिये । अब नन्दनन्दन वनमाला पहनकर नन्दभवन चले गये और उनके सेवक उस वनमाला को इधर-उधर कर दें अथवा नन्दनन्दन ही किसी अन्य को वनमाला दे दें तो वह अनमनी हो जाती है । उसका यही प्रेम हठ है कि चाहे नन्दभवन में ही वनमाला परिवर्तित हो, यशोदा मैया ही श्रृंगार करें, चाहे सखागण वन में श्रृंगार करें वह उतारी वनमाला पुन: उसे ही मिल जाये । इसके उपरान्त कोई कितनी ही मालायें, कितने पुष्पाभरण ले जाये, वह टोकरियाँ भर-भर कर मालाएँ दे देती है ।

अतः मंजुलीला को नन्दभवन पुष्पाभरण भेजते समय पुरातन वनमालाएँ लौटाने का कड़ा निर्देश देना होता है । सुबल को भी यह निर्देश है कि वन में नवीन श्रृंगार करते समय पुरातन मालायें सम्हालकर उसे लौटा दे । इधर प्रियतम श्रीकृष्ण भी उसकी मालाओं के ही दीवाने हैं । सखागण अपनी रुचि से फूल भले ही उनकी चूडा में खौंस दें, पुष्पाभरण तो वे उसका निर्माण किया हुआ ही पहनते हैं । कोई अन्य माली द्वारा रचित माला उनके सम्मुख करके देख ले, वे तुरन्त ही पहचान लेते हैं कि यह माला माणिकी द्वारा विरचित है या नहीं । जिसे पिया माने, वही सुहागिन । इसीलिये रानी को पाक निर्माण के लिये निमंत्रित करने नन्दभवन से आते समय कुन्दलता देवी सभी पुरानी वनमालाएँ, पुराने पुष्पाभरण इस पगली माणिकी के लिये लेकर आती हैं और नवीन पुष्पाभरण, वैजयन्ती, वनमाला टोकरी भर कर ले जाती हैं । पुष्पों की भी वह विलक्षण पारखी है । चित्र-विचित्र अलौकिक सौरभयुक्त पुष्प वह कहाँ-कहाँ से एकत्रित करती है, और उनकी गंध एवं रंग -परियोजना करके जो वैजयन्ती एवं वनमाला वह बनाती है वह विलक्षण सौरभ-समन्वित होती है । उसका रूपालंकरण भी अलौकिक ही होता है ।

अब यह दूसरी बात है कि रानी एवं रानी के प्रियतम नीलसुन्दर स्वयं इतने असीम सुन्दर हों कि उनके रूप के सम्मुख, अथवा नन्दभवन की भगवान नारायण की प्रतिमा अथवा वृषभानुपुर की भगवती त्रिपुरसुन्दरी की प्रतिमा के सामने उसके पुष्पाभरण फीके लगें । फिर भी उसकी मालाओं के रचना-कौशल की अद्वितीयता पर कोई भी अँगुली नहीं उठा सकता ।

आओ देखें ! वह पुरानी पुष्प मालाओं का, पुष्पाभरणों का क्या करती है ?

अहा ! कैसा विलक्षण सुन्दर देश है यह ! यहाँ सदा ही शरद और वसन्त ऋतु ही रहते हैं । प्रपातों से असंख्य जलकण निरन्तर उच्छलित हो रहे हैं । अगणित निर्झरों के झर झर शब्द झींगुरों की कर्ण कटु झंकार को अपने भीतर आत्मसात् कर ले रहे हैं । इन असंख्य प्रपातों से उच्छलित जल कणों से पृथ्वी सिक्त होकर अति सौंधी-सौंधी भूमि गन्ध सर्वत्र प्रसरित कर रही है । चतुर्दिक हरित् तृणों का आस्तरण सा आस्तृत है । सरिता, सरोवर और प्रपातों की लहरों पर बहती हुई वायु अत्यंत शीतल हो रही है । वह कुमुद, पद्म, नीलोत्पल आदि अनेक पुष्पों के किंजल्क को अपने आँचल में भरकर वनदेवी की परिक्रमा कर रही है । विविध विचित्र विहंगमों का कलरव, मृगों

का मनोहारी संचरण, मयूरों का सुन्दर रव, भ्रमरों का मधुर गुंजन, कोकिलों एवं सारसों का कूजन, अप्रतिम श्री यहाँ अक्षय निवास करती है ।

इस वन में माणिकी एक पुष्पित कदम्ब के आलवाल पर आसीन है । चतुर्दिक तरुराजि राशि-राशि कुसमों के भार से नमित है। कण-कण से सौन्दर्य का स्रोत प्रसरित हो रहा है । उसके चारों ओर राशि-राशि मयूर पिच्छ पड़े हैं । नव पल्लव झुक झुक कर आह्वान कर रहे हैं - "आओ सखि माणिकी ! मुझे वृषभानुजा प्रिया किशोरी और उनके प्राण-प्रियतम वनचन्द्र के श्री अंगों पर स्थान देकर कृतार्थ कर दो न ? चयन किये सुमनों के ढेर लगे हैं । उनके रूप में द्रुम वल्लरियों के हृदय का आल्हाद, आल्हाद की बिखरी हुई लहरें मानों बाट देख रही हैं - अहा ! हमारे प्राणसारसर्वस्व नील सुन्दर हमें धारण कर अलंकृत होंगे । सौभाग्य ! महासौभाग्य !! न जाने कब अपनी रानी का श्रृंगार करने निकुञ्जेश्वर लालायित हो उठें ।

परन्तु अभी तो माणिकी का ध्यान पुष्पाभरण निर्माण करने की ओर है ही नहीं । वह तो अपने चतुर्दिक कल की उतारी हुई रानी की कुम्हलायी, रतिकाल में मर्दित, उलझी, टूटी, वन मालाओं, खण्डित पुष्पाभरणों के मध्य अपना चित्त डुबोये है । वह एक एक पुरानी पुष्प माला को अथवा आभरण को बहुत ही मनोयोगपूर्वक देख रही है ।

इन वनमालाओं में लगी कुंकुम एवं केसर, चन्दन एवं कस्तूरीपंक को उतार उतार कर संचित कर रही है, एक कटोरी में । वह प्रत्येक पंक को पहले सूँघती है, सूँघते ही उसे पता चल जाता है कि यह केसर पंक तो रानी के अंगों की है और यह नील सुन्दर प्राणप्रियतम की । साथ ही उसे यह भी ठीक अनुभव होता रहता है कि यह पंक दोनों के अंगों में लगकर युगपत् मिश्रित हो चुकी है । कौनसे वस्त्राभूषण में किधर प्रियतम के अंगों की गंध आ रही है और किधर प्रिया के अंगों की गंध, इसकी भी वह पूर्ण पूर्ण पारखी है । अतः वह वनमाला के प्रत्येक पुष्प से पंक संचित करती है । इस पंक को वह तीन पृथक् पृथक् कटोरियों में रखती जाती है । एक में रानी के अंगों की पंक को, दूसरी में प्रियतम की अंगों की पंक एवं तीसरी में दोनों की मिश्रित। फिर इसको वह अपनी सभी सखियों में वितरित करती है और इसकी सखियाँ कौन-कौन हैं, पता है ? ये मालती लतायें, ये बेला, चमेली, चम्पा, शंखालु, ये यूथी, वैजयन्ती, मल्लिका, रक्त पीत हरिताभ असंख्य पुष्प- लताएँ ही तो उसकी सखियाँ है । जानी-अनजानी सभी लताओं को वह इस चंदन

पंक से चर्चित करती है । फिर जो भी शेष बचता है उसे वह अपने अंग में चुपड़ती है। उस उन्मादिनी का यह पंक चुपड़ना भी विशिष्ट है । वह अपने दक्षिण अंग में तो नन्दनन्दन के अंगों की पंक चुपड़ती है और वाम अंग में रानी के अंगों की गंध चुपड़ती है । मध्य अंग में वह दोनों के अंगों के मिश्रण को लगा लेती है । ये लताएँ ही तो इसकी परम प्यारी सखियाँ हैं ये सभी इसके लिये तो पूर्णतया जीवन्त हैं । अब इन अपसारित वन-मालाओं को वह इन्हीं सबको पहना देती है । जैसे ही ये लताएँ इन मालाओं को पहनती हैं, मानो प्रसन्नता से खिल उठती हैं, सुरभित पुष्पों का विकास उनमें फूट पड़ता है ।

और देखो ! इस तमाल से वह लिपट गयी । इसे तो यह तमाल दिख ही नहीं रहा है। वह तो इसे अपना भाव-धन, प्राणवल्लभ नील सुन्दर ही समझ में आता है । उसके सामने त्रिभंगललित प्रियतम श्यामसुन्दर की मानस मूर्ति है, अश्रु झर रहे हैं, और वह अपने हृदय की बात अपने प्रियतम को सुना रही है ।

बंधु तुमि से आमार पराण ।
देह मन आदि तोमार सौंपेछि जाति कुल शील मान ।
भक्तेर आराध्य धन हे कालिये ! जोगीर जीवन धन ।
गोप गोपालिनि हय अति दीना ना जानि भजन पूजन ।
कलंकी बलिया डाके सब लोके ताहाते नाहिंक दुःख ।
तोमार लालागिया कलंकेर हार गलाय परिते सुख ।
सती वा असती तोमाते विदित भाल मंद नहिं जानि ।
हे प्राण प्रियतम पाप-पुण्य मम तोमार चरण खानि ।

"मेरे प्रियतम तुम मेरे प्राण हो । मैंने अपना सर्वस्व-देह, मन, जाति, कुल, शील एवं सम्मान सभी तुम्हारे चरणों में समर्पण कर दिया है । हे श्याम सुन्दर ! मैं भली प्रकार यह भी जानती हूँ कि आप भक्तों के परमाराध्य सर्वस्व निधि हैं और योगियों के जीवन निधि सर्वसिद्धि-स्वरूप हैं । हम गोप ग्वालिनियाँ तो अत्यन्त नगण्य दीन एवं अति तुच्छ हैं । हम न आपका पूजन ही करना जानती हैं, न ही हमें भजन पद्धति का ही कुछ ज्ञान है । सारे विश्व में हमारी पहचान कुल कलंकिनियों के रूप में है, परन्तु क्योंकि यह

कलंक मात्र आपको लेकर है अत: हमें इसका दु:ख तो सर्वथा ही नहीं है, अपितु यह हमारे गले में आभूषण के समान हमें सुखदायी ही लगता है । यह हमारे लिये शोभारूप है । हम सभी गोपांगनाएँ सती हैं अथवा असती हैं, यह आप भली प्रकार से जानते हो, हम तो अपना भला-बुरा कुछ भी नहीं जानतीं । हम तो इतना ही जानती हैं कि आप के चरणों में ही हमारे सब पाप-पुण्य विसर्जित हैं ।

कभी यह मन ही मन कहने लगती है :-

“नीलम रे ! सर्वथा नगण्या दीना हूँ मैं, रे। परन्तु बन्धु ! मेरे प्राणों के दो टुकडे हो चुके हैं, एक नीलद्युति तू और दूसरा पीतद्युति रानी । परन्तु मेरे प्राणवल्लभ ! कदाचित् मैं विक्षिप्त हो चुकी हूँ । क्षणार्ध में मुझे तुम दोनों दो भिन्न सत्ताओं के रूप में दिखते हो और दूसरे ही क्षण दोनों मात्र एक ही सत्ता हो जाते हो । रानी के यौवन का लास्य तुम्हारा मनोरंजन करता अवश्य है, परन्तु पृथक् सत्ता कहाँ है उसकी ? मुझे तो यही नित्य प्रतिभात होता है कि उस लास्य के रूप में भी तुम ही, तुम ही एकमेव लीलायमान हो। तुम्हारे नील एवं पीतद्युति कलेवरों पर मेरा सर्वथा अधिकार भले ही नहीं हो परन्तु प्राणवल्लभ ! तुम दोनों से जो अथाह ममता मेरी है, उस ममता के पश्चात् अधिकार अर्थ ही क्या रखता है ? तुम्हारें इस नीलकलेवर पर और तुम्हारे ही अंक में समाहित तड़िल्लता-सी रानी में मेरी तो सम्पूर्ण प्राणि-पदार्थ और परिस्थितियाँ आत्यन्तिक विलय को प्राप्त हो चुकी हैं । यह अनुभूति कभी भी मेरा साथ ही नहीं छोड़ती, प्राणरमण !”

अहा ! कैसी विशुद्ध राग से भरी है, यह । तभी न इसका नाम माणिकी है। प्राणसुन्दर नीलमणि एवं किशोरी रानी से वह कोई छुपी थोड़े ही है । वन-विहार करते वनचारी प्रियतम और वनदेवी प्रिया कभी किसी वनलता से, कभी तमाल से, अशोक से लिपटी उसे ढूँढ ही लेते हैं, उस समय दोनों निष्पन्द चुपचाप उसके पास चले आते हैं, फिर प्रियतम उसकी बिखरी कुन्तलराशि को अतिभाव से गुम्फन कर उसमें अपने हाथ का नीलकमल उसकी वेणी में खौंस देते हैं और प्रिया अपने सिन्दूर से उसकी माँग लाल कर देती हैं । फिर दोनों ही युगल दम्पति चुपचाप गहन वन में चले जाते हैं । अहा! उस दिन तो उसके आनन्दोन्माद का पार ही नहीं रहता । उस दिन वह इतनी मालायें गूँथती है कि चाहे सारे नन्दभवन को पुष्पमहल बना दो । मालायें गूँथने में उसे श्रम थोड़े ही होता है । वह तो वन में बैठी-बैठी

सुन्दर मालाओं का भाव भर करती है आभूषणों की सुन्दर, सुन्दरतर, सुन्दरतम आकृतियाँ ही अपने भावदृष्य में देखती है और लतायें ढ़ेरों पुष्प गिराती जाती हैं और स्वतः ही उसके भावानुसार पुष्प मालाकार रूप ग्रहण करते रहते हैं । वह पुष्पों में कभी भी छिद्र नहीं करती । पुष्पों के वृन्त अपने आप गुम्फित होते हैं और माला अपना रूप ग्रहण कर लेती है । इसी प्रकार सभी पुष्पाभरण निर्मित होते हैं ।

अब मंजिष्ठा भला इस पगली से क्या राय ले ? एक दिवस उसने अपनी समस्या उसके कानों में डाली तो पहले तो उन्मादिनी-सी वह बहुत काल तक उसके नेत्रों में नेत्र गड़ाये देखती रही, फिर अट्टहास कर हँस उठी । कहने लगी - "बहन ! मेरे नयनों में नयन डालकर देख ! ये मालती, ये कदम्ब, ये तमाल, यह चम्पा, यह जूही, यह चमेली, सभी अम्बर हैं री । भिन्न-भिन्न वस्त्रों को धारण किये मात्र वही तो हँस रहा है । वह स्वयं ही तो अपनी प्यारी के लिये गजरे बनता है, वही वैजयन्ती, वही वनमाला स्वयं ही बन जाता है । परन्तु मुझसे वह छुप थोड़े ही पाता है ? टोकरी भी वही होता है और मुझे दूती बनाकर कहता है तू मुझे रानी के कंठ से लगा दे, तू मुझे उसके चरणों में, बाहुओं में पुष्पाभरण बनाकर बाँध दे, वह असमोर्ध्व प्रेमी है । सर्वत्र ठगने के लिये नाम मेरा कर देता है ? माणिकी के पुष्पहार सर्वसुन्दर हैं ? अरे सर्ववंचक ! मात्र एकमेव तू ही तो सर्वसुन्दर है । तेरे अतिरिक्त जो है सब असुन्दर ही असुन्दर है । अरी ! यह पीताम्बर भी वनमाला ही है । वनमाला में फूल गुम्फित होते हैं और इसमें फूलों के तार गुम्फित हैं। कपास का पुष्प ही रूई होती है, इसी प्रकार रेशम का फूल रेशम हो जाता है, तो सर्वत्र एक मात्र वही, वही है री !"

"बस, तू मेरा एक कहना मानले बहिन ! तू पीताम्बर लेकर मेरे पास आजा और मैं तेरे सब गन्दे अहंकारभरे नारी वस्त्र तो उतार देती हूँ और पीताम्बर पहना देती हूँ । पीताम्बर पहनते ही तू हूबहू निर्विवाद नील सुन्दर हो जायगी । मेरे इन बड़े-बड़े नयनों के दर्पण में देख । तेरे रोम-रोम को मात्र वस्त्र बनाकर पहने, वह मेरा नीलम ही नीलम है । इसीलिये तो मेरी तेरी मिताई है, अन्यथा मेरा किसी धोपानी से क्या लेना-देना ?"

"अरी तो तू मेरा कहना मान ले । पीताम्बर पहन तो सही । फिर तो मैं तुझे पुष्पहारों से सजाकर रानी के पास भेज दूँगी । अरी सच कहती हूँ, रानी तुझे देखती ही रह जायेगी । फिर तू नन्दनन्दन बनी गायें चराती

रहना, मैं तेरा सखा हो जाऊँगी । और जब नीलम साक्षात् दूसरे जीवन्त नीलम को अपने सम्मुख ठीक प्रतिस्पर्द्धी के रूप में देखेगा तो वह चकित हो जायेगा । ऐसा सजा दूँगी कि स्वयं यशोदा एवं नन्दजी भी नहीं पहचान पावेंगे । और तब उसका अभिमान चूर चूर हो जायेगा । अभी तो वह एकाकी एकमेव है, तब न इतराता है । जैसे ही एक से दो हुए, जिन्हें भी उसने तड़पाया, रूलाया वे तेरी ओर आ जायेगीं । फिर सब अभिमान त्याग हम कहेंगीं वैसा ही वह करना प्रारंभ कर देगा और वह पगली गहनवन में अट्टहास करती चली जाती है । थोडी ही देर में उसका अत्यंत करुण स्वर सम्पूर्ण वन में निनादित हो उठता है। "नीलम रे ! प्राणवल्लभ रे !" गिरि उपत्यकाएँ उसके स्वर की तीव्रता से प्रतिध्वनि कर उठती हैं । उसकी वाणी में इतनी विरह-वेदना और आन्तरिक विकलता रहती है कि वृक्ष झर झर रो उठते हैं । कोई भले ही अपने में समाधान कर ले कि उसकी तीखी ध्वनि के स्पन्दन से वृक्षों के पत्रों में संचित ओस कण झरते हैं, परन्तु मध्याह्न में भी कहीं भला ओस-कण होते हैं ? और जहाँ वृक्ष होते ही नहीं, मात्र रसतरंगिणी यमुना अथवा गिरिस्रोत की सैकत ही सैकत सर्वत्र आस्तृत होती है, अथवा दूर्वा का विस्तृत चरागाह होता है, उस पगली का क्या, वह तो वहीं चीख उठती है :- "नीलमणि मेरे ! प्राण वल्लभ रे !! तो निरभ्र वियत् अश्रु बरसाने लगता है ।

अब मंजिष्ठा क्या उसकी बात मानकर पीताम्बर पहनकर श्यामसुन्दर बनी घूमती फिरे ? क्या कोई सद्कुलवती रजकिनी अपने यजमान के वस्त्र पहनेगी ? फिर राजकुल के रत्नजटित वस्त्र भला उन्हें कौन धोने देगा ?

पर उस पगली को इतनी बात कौन समझावे ?

प्रेमवती एवं नर्मदा की कथा

अब इसी माणिकी की दूसरी मालिन बहन प्रेमवती की कथा सुनो । देखो प्रेमवती क्या कर रही है ?

"यह विलक्षण देश है । यहाँ एक ही देश में एक भाग में ग्रीष्म है, तो दूसरे भाग में शरद है, एक भाग में वसन्त है तो पास के ही दूसरे भूखण्ड में यहाँ पावस है । यहाँ प्रभात में ग्रीष्म है तो उसी भूखण्ड में मध्याह्न में पावस

आ जाती है । सायंकाल शरद है तो निशा में शिशिर का प्रकोप हो जाता है ।

तो इस भूखण्ड में इस समय वर्षा ऋतु धरा को अलंकृत कर रही है । देखो ! दिक्सुन्दरियाँ सौदामिनी के अलंकार धारण किये पावस का अभिनन्दन स्वागत कर रही हैं । इसे सम्मान देने के लिये सूर्यदेव ने अपने चारों ओर वलय का निर्माण कर लिया है । आकाश बार-बार रह रहकर जैसे दुन्दुभी बजा रहा हो, नाद करके जयघोष कर रहा है । आनन्दमत्त पवन प्रत्येक कुंजद्वार पर गवाक्ष जालों के समीप राशि-राशि बूँदों की मुक्ता बिखेरकर अपना उल्लास व्यक्त कर रहा है । वृन्दाकानन को आकाश में वितान तानकर इसने विभूषित किया है ।

दिव्यातिदिव्य स्थान विशाखा कुञ्ज है । गिरिराज परिसर के आकाश में निविड़ नील अम्बुद राशि छायी हुई है । रह-रहकर विद्युत कौंध रही है और फिर मेघ गर्जन का तुमुल नाद परिव्याप्त हो जा रहा है । सखी प्रेमवती वन के सर्वसुन्दर भाग में पुष्प का झूला हिण्डोला निर्माण करने में दत्त-चित्त है।

निकुंज के उत्तर में पुष्पित कचनार महक रहे हैं। पूर्व में अगस्त्य और सहिजन के वृक्ष हैं। पश्चिम में अशोक की पंक्तियाँ हैं । मध्य में पारिजात का उन्नत शाखा किये वृक्ष है । यहाँ सभी वृक्षों पर लताएँ लिपटी हैं । ऐसा प्रतीत होता है मानों वृक्ष जाति ही वल्लारियों की दासता में सिर झुकाये नतमस्तक है। वल्लरियाँ पूर्णतया विकसित पुष्पावलियों के गुच्छों से लदी हैं ।

पारिजात वृक्ष पर ही प्रेमवती हिण्डोला डालने में दत्तचित्त है । पारिजात वृक्ष की एक स्थूलकाय डाल उत्तर की ओर फैली है । पारिजात के चतुर्दिक् दूर-दूर तक हरी-हरी दूर्वा का ऐसा सुभग आस्तरण है कि यही प्रतीत होता है, मानो अति सुन्दर परम सुकोमल हरी मखमल का आस्तरण बिछाया हुआ हो । प्रेमवती का दिवसपर्यन्त यही कार्य है, जहाँ भी उसके कोई सुन्दरतम भूखण्ड दृष्टिपथ में आया, वह झूला निर्माण करने में जुट जाती है । या तो वह हिण्डोला निर्माण करेगी, अथवा यदि उसे कोई चतुर्दिक् पुष्पों से लदा कुंज दीख आया तो उसके मध्य सुन्दर पुष्प शय्या निर्माण कर देगी ।

उसे स्पष्ट अनुभव है कि उसके प्राणरमण नीलमदेव, किशोरीरानी के संग जब झूले पर विराजित होगें तो सखियाँ उल्लासवश तेज झौंटा देंगी ही । और स्वाभाविक ही किशोरी अन्तर् से अनुपम उल्लसित होते हुए भी मृदुल-पीत कलेवरा होने से श्रम को सह नहीं पावेंगीं । उनके अरुणिम

कपोलों पर, भालदेश पर निश्चय ही उन्मिषित हो उठेंगीं अगणित प्रस्वेद कणावली ।

नील सुन्दर प्राणवल्लभ के नेत्र-सरोज अपनी प्रिया के इतने श्रमभार को सह लें यह भी सर्वथा-सर्वथा संभव नहीं है अतः वे अविलम्ब झूले से कूद पड़ेंगे और अपनी प्यारी रानी को भुजपाश में बाँध ही लेंगे । उस समय प्रियतम को झूले के निकट ही किसी न किसी पुष्प शय्या की निश्चय ही आवश्यकता होगी । अतः झूला निर्माण करते समय वह पार्श्व में ही पुष्प मन्दिर भी बनायेगी, क्योंकि परमोदार प्राणवल्लभ अपने पीताम्बर के छोर को स्वयं हाथों में लेकर किशोरी रानी का अतिशय प्यारपूर्वक स्वेद-मार्जन करेंगे । और स्वेद-मार्जन करते-करते वे कहीं रानी के बिम्बफल से ओष्ठाधरों पर, उनके रक्तपद्म जैसे द्युतिमान कपोलों पर प्रीतिचिन्ह अंकित कर दें तो .. इसीलिये उन्हें सखियों से किंचित् ओट की आवश्यकता होगी ही। इन सभी योजनाओं पर विचार करती उसने अपनी सखि नर्मदा का सहयोग लिया है और अहा, कैसा अप्रतिम सुन्दर झूला निर्माण किया है । पारिजात वृक्ष की डालियों से सुदूर वृक्षों तक मेघवर्णी पुष्पों का जाल बुनकर इन्द्रनील द्युति चन्द्रातप निर्माण किया है । मध्य में पीले कर्णिकार पुष्पों की ऐसी रेखायें निर्मित की हैं जिससे जीवन्त स्थिर विद्युत् का आभास हो । रचना में प्रधानता मात्र पुष्पों की है, परन्तु पुष्पवृन्तों में कुछ ज्योतिर्मयी मणियों को गुम्फित कर पुष्पों को ज्योतिर्मान् बनाने की चेष्टा हुई है । इस प्रकार झूले के चतुर्दिक् जैसे घनघोर घटा उमड़ी हो और तड़िल्लता कौंध रही हो ऐसा पुष्प वितान निर्माण किया है ।

पारिजात की डाल को पूर्णतया इन्द्रनील वर्णी पुष्पों से ढँक दिया गया है और जिन पुष्पों से डाल ढँकी है, वैसे ही पुष्पों की आकाश में भी आतप होने से डाल इस प्रकार एक वर्ण होकर व्योमातप से मिल गयी है कि ऐसा लगता है कि झूले की डोरियाँ अभ्राच्छादित व्योम से ही जुड़ी हों । झूले की डोरियाँ स्वर्णतंतुओं से गुँथी रेशम से निर्मित हैं और उसमें चतुर्दिक, माणक, नीलम एवं पुखराज, साथ ही वज्रमणियाँ भी इस प्रकार झमक रही हैं कि इनको आच्छादित करने वाले श्वेत, नील एवं रक्तवर्णी कमल जयोर्तिमान हो उठे हैं । डोरी के चतुर्दिक खिले कमलों का विलक्षण ज्योर्तिमान सुहास बिखर रहा है । यही प्रतीत होता है मानो कमल के पुष्पों को उनकी ही नालों से गूँथकर हिंडोरे की दंडी बनी है । हिंडोरे के आसन का अग्रभाग मयूर की

चंचु की तरह है और मयूर के पृष्ठ देश पर ही प्रियाप्रियतम के बैठने की चौकी है एवं पृष्ठ देश नृत्यमान ऊर्ध्व पुच्छ मयूर की तरह है । झूले की ठीक ऐसी शोभा है मानो श्वेत, रक्त और नील अरविन्दों की डोरी से किसी विशाल मयूर को बाँध कर अभ्राच्छादित नभ में उडा दिया गया हो और प्रिया प्रियतम का भार अपनी पीठ पर होने से वह धरती से किंचित ही ऊपर उठ पा रहा हो, उड़ने की चेष्टा कर रहा हो किन्तु अशक्त हो ।

यहाँ कोई पुष्पमन्दिर भी है, इसे संगुप्त रखने के लिये पुष्पमन्दिर और हिण्डोला के मध्य में एक विशाल पुष्प की पिछवाई हैं, इसमें भी पुष्पों के ही मेल से सुन्दर यमुना का चित्रण किया गया है । यमुना का सुदूर पर्यन्त प्रसरित रजत सैकत तट और नदी इतनी जीवन्त चित्रित है कि कोई पहचान ही नहीं पाता कि यह मात्र पुष्प खचित पिछवाई है । यमुना-नद में सुन्दर सहस्रदल पद्मों का विकास है और भ्रमरदल झंकार कर रहा है ।एक पद्मखण्ड को अपने मुख में लिये हंसिनी आगे संतरण कर रही है और पीछे हंस अपनी ग्रीवा उसकी शुभ्र शारदीय स्वच्छ पीठ पर डाले प्रीति में मुग्ध हो रहा है । कुछ हंसों की मात्र पिच्छ ही दृष्टिगोचर हो रही है क्योंकि अग्रभाग से उन्होंने जल में डुबकी लगायी हुई है। यह तो झूले की वाम भाग की पिछवाई है । इसी प्रकार झूले के पीछे के भाग में जो पुष्परचित पिछवाई है उसमें पुष्पों से ही निर्मित अति सुन्दर गिरि है, जिसके शिखर सुमेरु के समान स्वर्णिम हैं । गिरि की घाटियों में कल्पपादपों की असंख्य पंक्तियाँ हैं । धरा में कल्पप्रसूनों के अम्बार हैं । गिरि प्रांगण मणिमय है,जहाँ शिखर विशुद्ध कुन्दन द्युति से दमक रहे हैं, वहीं लघु पर्वतमाला मणिमयी है । अनेक पहाड़ वज्रमणि निर्मित हैं तो कुछ पर्वतश्रेणी माणिक्यमणि निर्मित हैं, अनेक नीलमणि के नग हैं तो कुछ पुखराजमणि के धरा पर अति सुन्दर हृद हैं जिनमें गजराज केलिरत हैं ।

दक्षिण पार्श्व की पिछवाई में तुलसी कानन की अभिनव सौन्दर्य राशि व्यक्त है । ऐसा प्रतीत होता है मानो वह शोभा प्रतिक्षण विस्तृत ही होती जायेगी । ऋतुराज वसन्त अपने दलबल सहित कानन को मानो पूर्णतया विजित कर चुका हो, पत्र-पत्र पर, प्रत्येक कुसुमों पर आधिपत्य जमाये वह निश्चिन्त निर्बाध सुखासीन है । शीतल, सुरभित मलय-मारुत नित्य नवीन भाव गरिमा के साथ मन्द-मन्द प्रवाहित हो रहा है । तरूश्रेणियाँ, वल्लरियाँ अपने पूर्ण सौन्दर्य में नवीन सज्जा के साथ परस्पर आलिंगित विराजित हैं ।

शतावधि पक्षीगण अपने जोड़ों सहित यहाँ-वहाँ वृक्षों पर कलरव कर रहे हैं । कुछ नरपक्षी अपनी प्रियाओं को रिझाने के लिये घूमर नृत्य करके उनकी परिक्रमा कर रहे हैं । अनेक पक्षी-युगल शुक-शुकी, सारिकाओं के सजातीय विहंगम अपनी चंचुओं को परस्पर मिलाये निराविल प्रीति का प्रकाश कर रहे हैं । जैसे शुचितम अनुराग का पयोनिधि ही उमड़ रहा हो । धरा पर हरी हरी सुकोमल प्रचुर घास का आस्तरण आस्तृत है, जिसमें चतुष्पाद नर-मादा पास-पास बैठे हैं । उनके नेत्रों में परस्पर प्रीति छलक रही है । इस पिछवाई में प्रीति के उद्दाम भावों का पशु-पक्षियों, वृक्ष-वल्लरियों, भ्रमर एवं पुष्पों के सजीव चित्रण के माध्यम से जीवन्तवत् प्रकाश किया गया है । सभी आनन्द विभोर हैं ।

इसी प्रकार हिन्डोले के वाम पार्श्व में पिछवाई से कुछ दूरी पर सखी नर्मदा ने पुष्प-मन्दिर निर्माण किया है । ऐसे सुरभित पुष्पों से यह मन्दिर निर्मित है कि मधु- लुब्ध भ्रमर उड़-उड़कर अनुपम मकरन्द का पान कर रहे हैं । इसके शिखर तो कांचन पुष्पों से रचित हैं । गुम्बद पीत और रक्ताभ पद्मों से निर्माण किये गये हैं । इसकी छत नील कमलों से निर्मित है और दीवारें श्वेत सुभग अरविन्दों से रचित हैं । इसके भीतर एक बहुत सुन्दर कक्ष में जहाँ पुष्पों की ही झालरें, फानूस लटक रहे हैं, पुष्पों की ही अतिशय सुकोमल परम रमणीय शय्या बिछी है । श्रृंगार रस की सभी सामग्रियाँ जैसे सुगन्धित पुष्पसार, आरसियाँ, मादक उत्तेजक पेय, नीलरसनिधि के भोग के लिये भिन्न-भिन्न फलों के रस सभी यथास्थान संचित हैं ।

इस प्रकार प्रेमवती एवं नर्मदा ने अतिशय सुभग हिन्डोला निर्माण कर दिया है । अपने प्रेमास्पद जीवनधन के सुख-संयोजन की योजना में अपने श्रम एवं सम्पूर्ण कौशल की इति कर देने पर भी जब तक इस के भोक्ता, रस के ग्राहक जीवनधन नील-पीत-द्युति दंपति, बृजराजदुलारे एवं भानुकिशोरी उसे भोगने नहीं पधारें तब तक तो रससमुद्र में ज्वार कहाँ ? उफान कहाँ ? मात्र स्पन्दन-शून्य प्रतीक्षा ही तो है । चरम उपलब्धि एवं प्राप्तव्य तो सभी के प्रिया-प्रियतम ही हैं ।

परन्तु विलक्षण स्वभाव है इस नीलद्युति प्रेमदेवता का । वह अपने प्रेमी के हृत्तल में वियोग वेदना की दाह उत्पन्न करता ही है । अनादि स्वभाव है यह उसका । प्रीति की लौ में अपने प्रेमी को जलता देखने में ही उसे रस आता है । वह अपने प्रेमी को भले ही क्षणार्द्ध का ही वियोग दे, परन्तु वह

क्षणार्द्ध ही प्रेमी के लिये तो युग-युग की कालावधि बन ही जाता है । वह जल से निष्कासित मीन की तरह तड़फड़ा उठता है ।

तो यही दशा हो रही थी प्रेमवती एवं नर्मदा की। उनके उरस्थल में रह-रहकर प्रियतम-प्रतीक्षा की मार्मिक व्यथा उमड़ रही है । उन्हें लगता था अब तो इन नील-पीत-द्युति दंपति का कमलमुख देखे बिना वे क्षण भर भी नहीं रह पावेंगीं । यह भावदशा उन दोनों की ही नहीं है, उन्होनें जो जीवन्त कलाकृतियाँ, ये पिछवाइयाँ एवं इनमें असंख्य जीव समुदायों की रचना की है उन सभी जींव समुदायों में भी अत्यन्त गहरी वियोग की स्फूर्ति हो उठती है । भाव की गति ही बडी वक्र है । विरह-विकल चेतन जीव समुदाय का ही नहीं इन पहाड़ एवं नदियों के भी हृदय विरहं से कण-कण टूट रहे हों, ऐसा प्रतीत होने लगता है ।

हिन्डोले के मयूर की वह जीवन्त पुष्पाकृति जैसे ही सम्पूर्ण हुई, उसने अपने पंख नृत्य मुद्रा में उच्च किये, पैरों में जैसे ही नृत्य गति आई, छोटे छोटे स्वर्ण के रत्नजटित नूपुर जैसे ही खनखनाये कि उस मयूर का रोम-रोम आकुल कंठ से पुकार उठा - "हे मेरे अप्रतिम सौन्दर्य-माधुय-निधि-प्रिया-प्रियतम ! तुम कहाँ हो ? आओ, आओ न ? मेरे रोम-रोम की प्रगाढ प्रगाढ़तर होती सुन्दरता पर एक दृष्टि तो डाल दो न ? तुम्हारे नेत्रों को तनिक-सा सुख हो जाय तभी न इन मालिन कन्याओं का यह अथक अनवरत श्रम उनकी कलात्मकता अपने साफल्यबिन्दु को संस्पर्श करेगी ? अत: मुझ पर कुछ ही देर सही, आसीन होओ न ? मयूर की प्रार्थना की इति हुई ही नहीं कि समग्र वन-वासन्ती जो उन पिछवाइयों में चित्रित एवं पुष्पांकित थी - गदगदाये कण्ठ से प्रार्थना कर उठी -"हे कोटि-कोटि-रति-अनंग मदहारी प्रिया-प्रियतम, मेरी इन कलाकृतियों में अभिव्यक्त यह अपूर्व अनाविल तरुणाई मात्र तुम्हें सुख देने के लिये ही व्यक्त हुई है ? नाथ ! समग्र प्रकृति में मेरा यह उत्तरोत्तर अभिवर्धित अभिनव सुन्दरतम रूप मात्र तुम्हारे सुख के लिये ही तो है, हे मेरी प्राणेश्वरी वृषभानुजा ! हे मेरे प्रियतम नीलमणि !! देखो ये नगराज, इनकी स्वर्णमयी चमचमाती सुमेरु सदृश शिखरश्रेणीयाँ, ये प्रपात, ये गिरि-परिसरगत-वनोद्यान, ये उपत्यकाएँ, ये गहन, गहनतम कानन, ये गिरिप्रपात, निर्झर, जल से पूर्णतया आप्लावित हद सरोवर, इनके किनारे आसीन सुन्दरतम असंख्य पक्षी समुदाय सभी तो आपको अपनी सुखदान-स्पृहा

से रिझाने परमाकुल प्रतीक्षारत हैं । नाथ ! इन सभी से अपने रूप दर्शन की स्पृहा बुझा लो न ?

अहा ! मानों नर्मदा और प्रेमवती साक्षात् चतुर्मुख वेदगर्भ ब्रह्मा हों, इनकी परछाइयों में पुष्प-अंकित वन ही नहीं व्योमपर्यन्त अणु-अणु विरह वेदना से व्याकुल हुआ चीत्कार कर उठता है- **प्रिया-प्रियतम, प्रिया-प्रियतम, प्रिया, प्रिया, प्रियतम, प्रियतम ।**

आओ ! आओ !! देखो, इस सहस्रदल कमल को तो देखो । अहा ! कैसा आह्लादपूर्ण इसका विकास है । इसमें निहित लावण्य,मधुरिमा, सरसता, सुकोमलता, स्निग्धता, कान्ति, सभी अवर्णनीय हैं । अहा ! इसके चतुर्दिक भ्रमर गुंज़ार कर रहे हैं । परन्तु देखो यह कंपित हो-होकर इन भ्रमरों को अपने ऊपर बैठने ही नहीं दे रहा है । यह स्पष्ट भ्रमरों को चेतावनी दे रहा है - "तुम्हें मेरे मकरन्द-सेवन का तबतक सर्वथा अधिकार नहीं है जबतक प्रिया-प्रियतम आकर मेरे सौन्दर्य को एक बार निरख नहीं लेते । यदि तुम मेरे मकरन्द का अनके आने के पूर्व ही पान कर गये, - फिर तो मेरी विकासगत निर्मल शोभा अवशिष्ट ही नहीं रहेगी । तब मेरे प्राणपति मुझे देखकर कैसे सुखी होंगे ? हाँ वे एक बार मेरे इस सौन्दर्य पर दृष्टि डाल लें फिर भले ही तुम मेरा समग्र मरकन्द पान कर जाना । मुझे फिर नवीन जीवन धारण करने तक इस वृद्ध, जर्जर, निरर्थक वपु को रखने में कोई रस भी तो नहीं रहेगा।" इसी प्रकार वह इन वराटी जलचरों को भी निषेध कर रहा है । कह रहा है-"देखो ! यदि तुम्हें मुझे नाल सहित उच्छेद भी करना हो तो तनिक ठहर जाओ, एक बार मेरे जीवन निधि मुझपर दृष्टिपात कर दें, मात्र एक दृष्टि ही डाल दें, फिर तुम मुझ समूचे को भले ही भक्ष कर जाना, परन्तु जबतक वे हिन्डोला-कक्ष में नहीं आवें, तबतक मुझसे दूर-दूर रहना भला ।"

और इन हरिणियों की ओर देखो । इनके आकर्ण विलम्बी दीर्घ नेत्र तीखी कोरयुक्त दृष्टि से कितनी आकुल प्रतीक्षा कर रहे हैं अपने प्रिया प्रियतम की । इनके मुख का ग्रास ज्यों का त्यों मुख में रखा है । ये उसे निगल ही नहीं पा रहे । और इनके नेत्रों में जो यह अनुपम रसमयता निखर रही है इसका कारण पता है तुम्हें ? अरे भाई, जीवनसर्वस्व प्राणनिधि भरे हैं इन सभी की नेत्र-दृष्टि में । देखा ! इनके नेत्रों की आकुलता कैसी असीम है ?

समग्र वन विकलता के अतिरेक में 'प्रियतम, प्रियतम' नामोच्चारण कर रहा हो, ऐसा सुरम्य वन-संगीत सर्वत्र गूँज रहा है । "हे विश्व-विमोहक जीवनसर्वस्व नीलमणि !, हे त्रिभुवन मनमोहिनी कीर्तिकुमारी !! हम पर बस एक दृष्टि डाल दो, कृतार्थ कर दो हमें ।" और वन में उठती इन आकुल भाव-ऊर्मियों को सुरभित समीर नर्तन करता हुआ ले चलता है, नन्दतनय एवं भानुनन्दिनी के श्रवण-रंध्रों में पहुँचाने ।

समीर किसी को भी बिना बताये परमोदार-स्वभावा किशोरीरानी के कर्णविवरों में इन सभी की आकुल पुकार उँडेल देता है । और रानी के अधर-पल्लवों में अनुमोदनभरी मधुरातिमधुर स्मिति नाच उठती है । समीर रानी की स्वीकृति पाकर आनन्द से परिपूरित हुआ वन में सभी को हर्षभरा संवाद दे देता है :- "हे वनचरों, हे शुक सारिकादि पक्षियों, हमारे राजा-रानी आ रहे हैं । उत्फुल्ल होओ, नृत्य करो, प्रमुदित होओ, गाओ, प्रसन्न होओ ।"

किशोरीरानी के रुख एवं संकेत को पल-पल निहारते रहने वाली और उसी के अनुसार समग्र लीला की संघटनकर्त्री तुलसी-कानन की अधिष्ठातृदेवी ने अपनी अभिनव रागिनी के मिस से सर्वत्र सभी लीलापात्रों को यथावश्यक संकेत दान कर दिया कि वनागत नीलपीतद्युति सौन्दर्यसार दंपति को झूला झुलाना है ।

और अब तो भानुनन्दिनी ने नूतन अनुराग समुद्र की लहरियों पर नर्तन करते हुए अपने प्रियतम पर झूला झूलने की समुत्सुकता भी व्यक्त कर दी । और फिर क्या था, सखियाँ प्रतिक्षण वर्द्धमान नव नव उल्लास से पूरित हुई चल पड़ीं, प्रिया-प्रियतम सहित, उसी संकेत स्थान की ओर जहाँ विशाखा कुंज के पिछवाड़े यह शुचि सुन्दरतम हिन्डोला प्रेमवती एवं सखी नर्मदा निर्माण कर चुकीं हैं ।

और, अब तो सखियों सहित प्रिया-प्रियतम भी व्यक्त हो उठे उस पारिजात वृक्ष के पार्श्व में ही । देखो, प्रिया अपने नेत्रों में अतिशय प्यार भरे हुए कभी तो प्रेमवती एवं नर्मदा की ओर निहारती हैं, कभी, अतिसूक्ष्मता से उनकी कृति को। जीवन्त अंकण को देख-देखकर प्रिया का पीत कलेवर प्यार के उदधि की तरह लहराने लगता है । प्रियतम का नील कलेवर भी संविन्मय आनन्द के आवेग से झूम उठता है । क्या ही जीवन्त प्रकृति का चित्रण है, परन्तु सब निर्माण है मात्र पुष्पों का । हिण्डोरे में मयूर के उड़ते दोनों ऊर्ध्व

पंख ही पीठ के वाम और दक्षिण किनारे हैं और उनके मध्य में विशाल मखमल का आसन है जिस पर प्रिया-प्रियतम अतिसुखपूर्वक विराजित हो सकते हैं । आसन के नीचे ही चरण रखने की चौकी है । सभी सुकोमल पुष्पों से आस्तृत हैं, परन्तु है सब पूर्णतया स्थिर एवं मजबूत । इसी प्रकार प्रिया-प्रियतम की पीठ को टिकाने के लिये पिछौरी, ऐसी प्रतीत होती है जैसे मयूर की ऊर्ध्वपिच्छ हो । परन्तु वह पिछौरी भी स्वर्ण-निर्मित रत्न एवं पुष्पों से जटित है । कथन का इतना ही मंतव्य है कि सम्पूर्ण निर्माण है पूर्णतया सुरक्षित, मजबूत किन्तु साथ ही सर्वतोभावेन, सुकोमल और ज्योतिर्मान ।

अहा ! प्रियतम तो मंजुलीला के कंधे पर हाथ रखकर अविलम्ब ही उस हिण्डोले पर आसीन हो गये हैं । परन्तु प्रेमवती और नर्मदा तो अपनी भावसमाधि में ही डूबी हैं । उन्हें कहाँ होश है ? उन्होंने तो प्रिया-प्रियतम के सुख के लिये हिण्डोरा निर्माण कर दिया, अब वे तो अपने भाव में कोई और अभिनव सुख-सृजन की रचना में संलग्न है । वे तो उसी सुखचित्र का ध्यान करतीं उसको प्रत्यक्ष सम्मुख देख रही है । उनके प्राण उसमें ही विजड़ित हो गये हैं ।

रानी ने एक मुसकानभरी दृष्टि उनके भावाविष्ट आनन पर डाली और तब तत्क्षण ही उन्होंने एक अतिशय प्रीति-गरिमा से भरा खेल करने का संकल्प कर लिया । सखियाँ रानी का संकेत समझ गयीं और उन्होंने इन दोनों मालिन कन्याओं- प्रेमवती और नर्मदा को प्रियतम के दक्षिण एवं वाम पार्श्व में झूले पर आसीन कर दिया । रानी तो अपने नेत्रों से सर्वत्र एवं अतिशय प्यार न्यौछावर करती मानो झूले में स्वयं अपने हाथों झौंटा लगावेंगी- ऐसा मनोरथ करतीं झूले की डोर पकड़े तृण संकुल धरा पर अवस्थित हो गयीं ।

'षडऋतु रहत सदा कर जोरे '

छहों ऋतुएँ तो निकुंजदेव एवं निकुंजदेवी की सेवा में उन्हें नवीन-नवीन सुखदान करने के लिये समुपस्थित रहती ही हैं दम्पति को जब भी जिस ऋतु से जितने काल सेवा लेनी हो किंचित् संकेत भर कर देने की आवश्यकता होती है ।

संकेत पाते ही पावस उमड़ पड़ी इस प्रदेश को रसवर्षण से आप्यायित कर देने के लिये । नील-अम्बुदराशि ने व्योम को उमड़-उमड़ कर आच्छादित कर दिया । दिशाओं में परिव्याप्त हो उठी घन-गर्जन की अनवरत

घन-घन ध्वनि । उल्लसित वीर बहूटी अलंकृत करने लगीं धरा के वक्षस्थल को ।

तो आज रसराज को इस प्रेमवती और नर्मदा को अपने स्वरूपगत चिन्मय आनन्द से आपाततः परिपूरित कर देना है । निज रस से लथपथ पूर्णरूपेण सिक्त स्नान करा देना है ।

आज झुलाने वाली हैं - निज सखियों के सहयोग से वृषभानुराजदुहिता और झूल रहे हैं - नील मयंक अपनी दो मालिन कन्या सखियों के साथ ।

अहा ! दोनों सखियों सहित प्रियतम की कैसी शोभा है ? मानो दोनों ओर, दो स्थिर तड़िल्लताओं के मध्य, नीलमेघ पवन वेग से हिलोरें ले रहा हो । प्रियतम के इन्द्रनीलद्युति अंगसंस्थानों पर पीत परिधान, ललितगात्र, इनके दर्शन मात्र से सखियाँ एवं कुंज का अणु-अणु आनन्दोल्लासित हो उठा था ।

निर्धारित कम से एक झौंटा ही लगा था कि प्रेमवती और नर्मदा की भावसमाधि टूट गयी । उनकी दृष्टि जैसे ही उन्मीलित हुई, उन दोनों ने ही अपने पार्श्व में पाया मयूरपिच्छगुम्फित मुकुटी को। जो अपने दोनों हाथों से उनको स्कंध देश से पकड़े था। उन्होंने सम्मुख देखा तो पाया कि सर्वत्र ओर-छोरविहीन सुषमा बिखेरती, अपने श्रीअंगों की मधुरिमाभरी आभा से सखियों की समग्र श्री को हतप्रभ करती, वृषभानुदुहिता सम्मुख झौंटा दे रही हैं ।

प्रियतम निरख रहे हैं, सतृष्ण नेत्रों से कभी प्रेमलता को, और कभी नर्मदा को साथ ही कभी सम्मुख झौंटा देती प्रिया को । प्रेमवती अनुभव कर रही थी प्यार की कूलविहीन स्रोतस्विनी उमड़ रही है उन दोनों के प्रति प्रिया और प्रियतम के हृदय में । प्रियतम तो उन दोनों पर अपने स्नेह का अपार वैभव अविरामरूप से न्यौछावर कर रहे हैं । प्रेमवती और नर्मदा दोनों के कमल से दीर्घ नयन उस छलकते प्यार से झर-झर टप-टप अश्रु टपकाने लगे । उन्हें तो जीवन में कभी भी ऐसे सौभाग्य की कल्पना ही नहीं थी कि प्रियतम के साथ वे झूला झूलेंगीं और प्रिया झौंटा देगीं । अनन्त कोटि मदन मदहारी प्रियतम उन महा अधमाओं, नीच मालिनों को इस प्रकार अपनी प्रिया के सम्मुख स्कंध देश से पकड़े अपने से सटाये बैठेंगे और इस प्रकार अतिशय तृष्णातुर उनकी रूपमदिरा का नयनप्यालों में भर-भर कर पान करेंगे ।

उन्हें यह निर्णय करने में एक क्षण भी नहीं लगा कि अति सुकुमार अंग किशोरी प्रिया के कपोलों पर, भाल देश पर, अगणित स्वेद-कणावली उन्मिषित हो गयी है, और मृदुल कनककलेवरा, वे इन दोनों वन पुष्पों की खोज में दौड़ने वाली हृष्ट-पुष्ट काया मालिनों को प्रियतम सहित झौंटा देने का अत्यधिक श्रमभार कैसे सह पावेंगीं ?

बस वे तुरन्त ही हिन्डोरे से कूद पड़ीं । उन दोनों ने अतिप्रेम से फूल जैसी सुकोमल प्रिया को सहज रूप से गोद में उठाया और विराजित कर दिया उस मृदुल सुमनों से सुशोभित झूले के मयूर आसन पर - प्राणवल्लभ नीलसुन्दर के साथ ही ।

देखो ! देखो !! व्योम को आच्छादित किये नील अम्बुदराशि के हृत्तल में विद्युलता कैसी शोभा दे रही है ? सर्व दिशायें इस परिव्याप्त शोभा से उल्लसित हो उठी हैं ।

और परमाश्चर्य, टँगी पिछवाइयों में चित्र रूप में अंकित असंख्य मयूरों के दल उन चित्रों से जीवन्त बाहर आ गये हैं और उन्मत्त होकर नृत्य करने लगे हैं । सम्पूर्ण वनक्षेत्र को उन्होंने अपनी सुमधुर केकाध्वनि से मुखरित कर दिया है । धरा के वक्षस्थल पर आनन्द के पुलक उठ रहे हैं और वे अतिशय सुख से हरी हो रही हैं ।

नीलसुन्दर ने अपनी प्राणों की रानी को अपनी वाम भुजा में भर लिया है । प्रीति की गरिमा से साँवर प्राणधन के लोचन छल-छल करने लगे हैं । परमोदार प्राणजीवन नन्दतनय अपनी प्राणप्रिया के मुख पर छलके स्वेद कणों को अपने पीताम्बर के छोर से स्वयं परिमार्जन करने लगे हैं ।

देखो ! ललिता ने वीणा लेकर उस पर स्वर भरने प्रारंभ कर दिये हैं । मेघ-मल्हार रागिनी स्वयं मूर्त्त हो उठी है । तुंगविद्या ने आलाप प्रारंभ कर दिया है , और विशाखा ने मृदंग पर अति सुरीली थाप देना प्रारंभ कर दिया है । अब तो गायन, वादन और नृत्य की इच्छा से सखियों के मन गुदगुदा गये ।

अहा ! रूप की किरणों से दिशायें उद्भासित हो रहीं हैं । नूपुरों और कटिकिंकिणियों के रव से रवितनया का कूल मुखरित होने लगा है । वन श्री की श्रवणेन्द्रियाँ उस अमृतमयी झंकार में ही डूबने लगीं । उस महामोहक रव की सत्ता के सम्मुख अन्य ज्ञान रहता भी कैसे ?

ओह ! अब तो ये नन्दतनय वंशी को संस्थापित कर रहे हैं अपने अधरों पर । क्या उसमें स्वर भरेंगे ? फिर तो प्राणोन्मादी वेणुवादन से सम्पूर्ण गिरिपरिसर ही निनादित हो उठेगा । अरे ! उस सर्वमोहक स्वर लहरी में तो सभी डूब जायेंगे, कोई बच ही नहीं पावेगा ?

सभी सखियाँ प्राणवल्लभ और प्रिया के झूले को चतुर्दिक घेरे खड़ी हो गयी हैं । देखो ! देखो !! रूप की किरणों से सर्व दिशायें उद्भासित हो रही हैं । विश्व सत्ता का सम्पूर्ण सौन्दर्य, जैसे उस पारिजात तरु के पत्तों पत्तों पर फूट पड़ा। सम्पूर्ण सुषमा मानो वहाँ स्वयं ही समुपस्थित हो गयी हो। प्राणवल्लभ नन्दतनय वंशी वादन जो करने जा रहे हैं । सम्पूर्ण रसिकता के उद्गमस्थल व्रजेन्द्र तनय अपनी वाम भाग में स्थित प्रिया पर कैसी महारसभरी दृष्टि निक्षिप्त कर रहे हैं । सखियों के नेत्र अपलक विस्फारित हैं । सामने विश्व चमत्कारी सौन्दर्यपूर द्विधा रूप में विभक्त खड़ा है । जिसके कण मात्र के सम्पर्क से आत्माराम योगीन्द्र-मुनीन्द्रगण विमोहित हो जाते हैं वे अपनी ब्रह्मज्ञानगत अखण्ड शान्ति को विस्मृत कर, उन्मादपूर्ण रसमयी परम व्याकुलता से जल-विहीन मत्स्य की तरह तड़पते रहते हैं। उस अनन्त, पारावारविहीन रूपसुधासमुद्र में अवगाहन करती सखियाँ ही नहीं, सभी जलचर-थलचर और चेतन-अचेतन, गिरि, प्रपात, निर्झर, भूखण्ड और सम्पूर्ण सत्ता ही विमुग्ध हुई किसी अनिर्वचनीय आनन्द में डूबी है ।

हिन्डोले पर विराजित झूलाझूलते नील-पीत-द्युति दंपति के सच्चिदानन्द सौन्दर्य-सुधा-सागर रूप को देखकर ललितादि सखियों को रहरह कर आनंद समाधि लग रही है ।

निर्धारित क्रम से झौंटे लग रहे हैं और संविन्मय स्वरूपविलास का समुद्र हिलोरें लेने लगता है । परस्पर रसमय हृदय की रसराशि का आस्वादन करने की उत्कण्ठा नव-नागरी एवं नव-नागर दोनों के प्राणों में जाग्रत है । दोनों के नील-पीत अंगसंस्थानों की मिश्रित द्युति से निकुंज देश सुख में हरा हो रहा है और दोनों के गात्र-सौरभ से अतिशय सौरभान्वित हो उठे हैं । झौंटे की गति तीव्र हो रही है और हिन्डोरे के आन्दोलन से गतिशील हुई समीर के झौंकों से सुमन झर-झर झर रहे हैं । मानो कुसुमावलि आत्मोत्सर्ग कर रही हो - इस द्विधा अप्रतिम रूपराशि पर ।

आनन्दपूर हास-विलासजन्य अद्भुत विह्वलता से प्रियाप्रियतम दोनों एक दूसरे के तन में इस प्रकार लिपटते हैं मानों परस्पर आत्मसात् हो रहे हों ।

प्रीतिरस का उच्छलन कितना एवं कैसा है, कौन बतावे ? इतना ही कहना संभव है कि हृत्तल की सीमा में वह अवरुद्ध नहीं हो पा रहा है ।

कृष्णेन आराध्यत इति राधा

नलिनी की कथा

आओ, अब चलें नापितकन्या नलिनी एवं सुगन्धा की सुधि लें । वे भी मंजिष्ठा की परम प्यारी सखियाँ हैं, उनकी निराली सौभाग्य गाथाएँ क्या हैं, अवगाहन तो करें ।

नलिनी, किशोरीरानी के कुन्दनद्युति अंगों में फुलेल मर्दन करती है । वह अपने घर से पारंपरिक रूप से निर्माण किया हुआ औषधियों का सारग्राही संपुट दिया हुआ अंगराग लाती है और रानी के अंगों में उबटन करती है ।

नलिनी को निरे प्रभात ही फुलेल-मर्दन करने वृषभानुभवन आना पड़ता है । रानी ज्यों ही निद्रा त्याग कर शय्या से उठती हैं ललिता नलिनी को पुकार लगाती है । अत: वह एकाकिनी ब्राह्ममुहूर्त होते ही अपने गृह से चल पड़ती है, वह अपने स्नान, श्रृंगारादि सभी कार्य वृषभानुपुर पहुँचकर वहीं सम्पन्न करती है । आज उसे कुछ विलम्ब हो गया है । पिछले दिवस उसे रानी का उबटन निर्माण करना था, पुरातन निर्माण समाप्त-प्राय: था । अत: दिवसपर्यन्त उपयोगी वनौषधियों का संचय करने वह वन में भटकती रही थी । जो औषधियाँ उसे इस उबटन में डालनी होती हैं, वे सभी नारायण गिरि में ही बहुलता से प्राप्त होती हैं, अत: उन्हें ढूँढकर लाने में उसे संपूर्ण दिवस वनों में भटकना पड़ता है । वनौषधियां इकठ्ठी करके उन्हें स्वच्छ कर उसने कूटकर, पीसकर, छानकर उनका चूर्ण बनाया है और तब दधिकी, मक्खन की, मलाई की शताधिक भावना देकर यह विलेप निर्मित हुआ है । उसका सम्पूर्ण दिवस इस उबटन लेप के निर्माण में ही लग गया था ।

संध्या समय वह अपने निवास की छत पर किंचित्काल घूमने आयी थी । वृषभानुबाबा ने उसके परिवार को रहने के लिये अपने उद्यान में ही निवास दे दिया है । वह निवास यथार्थत: तो उनके राजमहल का ही एक भाग है । भ्रमण करते हुए उसने लक्ष किया कि सर्वत्र पद्म गंध को धारण किये मलय पवन अति मन्द-मन्द प्रवहमान हो रहा है । न जाने क्यों छोटी-मोटी लतायें, गुल्म, वृक्ष सभी आज पुलकित हैं और साथ ही अति उल्लास में भी

भरे दृष्टिगोचर हो रहे हैं । उसे प्रतीत हुआ मानो किसी विशेष उत्साह से समग्र वन सुसज्जित हो रहा है । शोभा, जैसे वन के अणु-अणु से प्रस्फुटित हो रही है । उसे किंचित् आश्चर्य तो हुआ किंतु मन ही मन उसने समाधान कर लिया कि अवश्य ही रानी कुछ काल पूर्व इस उद्यान में भ्रमणार्थ आयी होंगीं । तभी समग्र वन उल्लसित एवं पुलकित-प्रफुल्लित है ।

कोकिला, शुकादि पक्षियों की मधुर ध्वनि सर्वत्र गुंजित है। आम्रवृक्ष बौरों से लदे हैं। सहसा उसकी दृष्टि में एक आश्चर्य प्रकट हुआ, उसने लक्ष्य किया कि नवीन पल्लवों और पुष्पों से अलंकृत सामने ही स्थित उस कुंजकुटीर के पीछे अमृतमयी उज्ज्वल, स्निग्ध एवं शीतल किरणें लहरा रही हैं। आज पूर्णिमा तो थी नहीं, जो चन्द्रोदय होता, फिर ये अनुपम किरणें तो भूमि स्थल पर ही हैं, व्योम से तो इनका संबंध ही नहीं है। अब उसे यह भी समझ में आया कि इसी ज्योतिपुंज के ही कारण आज सर्वत्र विशुद्ध सन्मय उल्लास हो रहा है। वह आश्चर्यचकित थी कि यह श्याम प्रभा तो सब अगजग को भुलानेवाली विलक्षण प्रेममयी है। अब तो उसका समग्र मन नेत्रों में ही एकाग्र हो गया । वह एक दीवार की ओट में हुई उधर ही दृष्टि स्थिर करके छुपकर बैठ गयी। अहा ! उस निर्मल प्रभा से शनैः शनैः अगणित शारदीय चन्द्रमाओं का मन हरण करने वाला मुखचन्द्र व्यक्त होने लगा। अरे ! अरे!! इस गोल मुखचन्द्र में तो पूर्ण चन्द्र व्यक्त होने जा रहा है। इसके मनोहर अतिशय विलासमद से बोझिल झुके-झुके दो विशाल नेत्र भी हैं। उसका आश्चर्य और बढ़ गया। वे नेत्र आकर्षण की खान थे; महान रस से भरपूर थे। और अब तो उस ज्योतिसुधा निधि से सौन्दर्य की परम मनोहारी तरंगें उठने लगीं। और वे तरंगें ही ललनाओं के चित्त को चुराने में अति शूरवीर समग्र अंगों के रूप में प्रकट होने लगीं।

नलिनी परम मुग्ध थी। कुछ बोल नहीं पा रही थी। उसकी सब अंगों की गति सहज ही रुक गयी। उसके हृदय में अपरिमित, अथाह, दिव्य प्रेमामृत समुद्र उमड़ उठा। वह देखती जा रही थी- शनैः शनैः उस सच्चिन्मयी नील-ज्योति से मयूरपिच्छगुम्फित मुकुटधारी सुन्दर सुख का कन्द मस्तक प्रकट हुआ, घुँघराली अलकावलि भी व्यक्त हो गयी। और तब प्रकट हुआ- वह परम प्रसन्न वदन-सरोज जो अलौकिक सौन्दर्य-माधुर्य से भरा छलकता सरोवर ही था।

उस नवीन जलद के समान धनश्यामकान्ति-वपु के ऊपर पीताम्बर लिपटा था। हृदयदेश में मालती और कमल पुष्पों की माला थी, जिनपर रसलोभी भ्रमर मँडरा रहे थे। समस्त अंग चन्दन से अनुलिप्त थे। काले घने केश थे। वह अपने मस्तक पर स्वर्ण खचित पाग पहने थे। मन्द-मन्द मृदु मुस्कान की छटा सर्वत्र बिखर रही थी। उसके एक हाथ में कीड़ा-कमल था, कटिफेंट में मुरली खौंसी हुई थी । नलिनी उस रूपोदधि को देखकर आनन्द में डूब गयी । नलिनी को यह भी ज्ञान नहीं रहा कि वह स्वयं कौन है, कहाँ जा रही है, क्यों जा रही है। उस करोड़ों-करोड़ों कामदेवों को लज्जित करने वाले रूप ने उसके मन को बलात् आकर्षित कर लिया । वह धीर- धीरे अति मन्द-मन्द पैर रखती निश्शब्द छत से नीचे आँगन में उतरी । उस निवास से बाहर आयी और आर्त्त विह्वल हुई उस ज्योति की ओर दौड़ पड़ी । वह ज्योति ज्यों की त्यों उस कुंज के सहारे खड़ी मधुर, मधुर मुसका रही थी । यदा-कदा उसके चरण नूपुर बहुत ही मधुर ध्वनि कर उठते थे । दोनों ने एक दूसरे को देखा । और तब नलिनी प्रेम-सुख-रस के समुद्र में डूब गयी । वह बेसुध हो गयी थी । उस समय उसमें अन्य कुछ भी अवशेष नहीं रहा था ; मात्र लीला-आस्वादन की वह यंत्र बन गयी थी । बाह्यज्ञान का सर्वथा अभाव होने से, लज्जा, भय, एवं मान कुछ भी व्यवधान उसके एवं उसके प्रियतम के मध्य नहीं रहा था । प्रेमसुधा में मत्त वह सहज सब कुछ त्याग, दौड़ पड़ी थी अपने प्रेमास्पद के पास ।

सारा जगत् ही उसके मन से हट गया था, और सभी विषय-सुख-समूहों की उसे विस्मृति हो गयी थी । उसके सारे अंग निश्चेष्ट थे, वाणी रुद्ध थी । उसे तो यही अनुभव हो रहा था कि मधुर, सुमधुर, उस मधुर से भी परम मधुर तथा उससे भी और मधुरतर-मधुरतम एक नीलज्योति उसके चतुर्दिक उसे अपने आलिंगन में बाँधे है । उस नीलज्योति के अंगों में नित्य, निरन्तर माधुर्य अभिवर्द्धित होता जा रहा है । और उस मधुरार्णव की लहरें उसे भी आत्मसात् कर उसके समस्त अंगों में माधुर्य उँडेल रहीं हैं । वह समस्त सौन्दर्य और माधुर्य का मूल-आधार, बीज, मूलस्रोत, नीलकमलरूप सुन्दर कलेवर अपार मधुर सुगन्ध से भी भरा है । उसी में दो नेत्र-कमल, एक मुख-कमल, एक नाभि-कमल, दो कर-कमल, दो चरण-कमल हैं जो तेज एवं शोभा के भण्डार हैं, जिनके पृथक्-पृथक् वर्ण हैं, एवं उन सभी में से भिन्न-भिन्न मधुर सुगन्ध भी प्रवाहित हो रही है । एक ज्योतिर्मान नीलकमल

में आठों विभिन्न वर्णों के कमल और नीलकमल की अपनी गन्ध के साथ इन आठों कमलों की विभिन्न विचित्र सुगन्ध, सबके संयोग से वह परम सुन्दर श्रेष्ठ अनुपम विलक्षण शोभा, जो उसके सम्मुख थी, वह उसमें उमड उमडक्र समा रही थी । उसके अंग-अंग मे वह शोभापूर भर रहा था । नलिनी छक गयी । न जाने कितने काल तक वह इस दशा में पड़ी रही। जब ब्राह्म मुहुर्त हो गया, प्राची दिशा में अरुणाई फूट पड़ी तब ही उसे बाह्यज्ञान हुआ, तब तक वहाँ अन्य कोई नहीं था । उसने इधर-उधर चतुर्दिक देखा । उद्यान पूर्ववत् था । वह कुंज के चतुर्दिक घूम आयी । कहीं उस नील चिज्ज्योति की उपस्थिति का कोई चिन्ह भी शेष नहीं मिला । वह विचार करने लगी - "वह कोटि-कोटि मनोजमनोहर, परम विलक्षण नीलश्याम कलेवर कौन था ? क्या वे ही किशोरीरानी के प्राणहरण नीलमणि हैं ? वे ही नन्दतनय क्या इस उद्यान में आये थे ? हाय, हाय ! कहाँ वह सुधामय सौन्दर्य, दिव्य रूप गुण की अनन्त निधि और कहाँ मैं अत्यंत कुत्सित मन और तन को धारण करने वाली कुरूपवती नापित कुमारी ? कहाँ वह प्रेम-सुधापूर आनन और कहाँ स्थान-स्थान पर शीतला के दाग के समान कुरूपता के चिन्हों से भरा मेरा कलूटा मुख ? हाय ! यह क्या कर बैठी मैं ? यों सोचते-सोचते नलिनी के सम्मुख उसके सारे दोष भयानक रूप में मूर्तिमान होकर प्रकट हो गये । वह उनको देख-देख कर काँपने लगी । वह डर गयी । अब रानी को अपना यह मुख मैं कैसे दिखाऊँगी ? इतनी भयानक दोषी एवं घोर पापिनी मैं प्रियतम नीलमणि के अंगों से लिपटने का साहस ही कैसे कर बैठी ? जिसके मन एवं शरीर की मलिनता का पार ही नहीं है, वह महानिर्लज्ज कदाचरण करने वाली अब किस मुख से रानी की चरणरज का जीवनव्यापी आश्रय चाहेगी ? वह, बुद्धि से तो यह सब विचार कर रही थी परन्तु उसका भीतरी मन अब भी उस रूप, शील, सौन्दर्य और सद्गुणों के समुद्र में डूब जाने को आतुर हो रहा था । वह, इस निर्लज्ज दशा का महावीभत्स चित्र रानी के सम्मुख रखने को व्याकुल हो उठी । उस महा-अधमा की निर्लज्जता की सीमा ही नहीं है । अहा ! कितने अनुपमेय और अतुलनीय गुणों के आगार कहाँ तो नीलसुन्दर, उसकी स्वामिनी के प्राणनाथ, और कहाँ महाघृणित दोषों से भरी वह कामुकी पामरी। उसके मन की प्रियतम से मिलने की इच्छा तो ऐसी ही थी जैसे घोर अन्धकार की प्रकाशमय सूर्य से मिलने की इच्छा हो जाय । उसके हृदय में अत्यन्त असह्य पीड़ा जाग उठी । वह लड़खड़ाते पैरों से किसी प्रकार रानी के

पास पहुँची तो सही, परन्तु पहुँचते-पहुँचते उसकी सम्पूर्ण बाह्य-चेतना लुप्त हो गयी, वह सारी सुध-बुध खोकर उनके चरणों में गिर पड़ी ।

किशोरीरानी ने उसे अपने अंगों में सटा कर अपने अंचल से उसका मुख मार्जन किया । पीयूषपूरित कण्ठ से वे बार-बार उसे "नलिनी ! नलिनी ! बहन क्या हो गया री तुझे, " कहकर जाग्रत करने की चेष्टा करने लगीं । किशोरी अतिशय प्यार से उसके मुख का चुम्बन किये जा रही थीं और उससे प्रश्न पर प्रश्न कर रही थीं :- "अरी बहिन री ! तू तो नित्य आनन्द में डूबी रहती थी, अद्भुत मधुर हास्य सदा ही तेरे मुखसरोज पर रह-रहकर नाचता ही रहता था । तेरे सम्पूर्ण अंगसंस्थान निरन्तर मानो सुख की ऊर्मियों पर ही संतरण करते रहते थे । हाय रे ! आज तुझे यह क्या हो गया री ? वही तेरा गात्र आज अचानक कृश क्यों हो गया री ? एक ही दिन में ऐसा परिवर्तन किस हेतु से री ? अरे ! अरे !! तू आकुल हुई रो रही है ? तेरे प्राणों में तो आजतक मैंने कभी यह व्याकुलता नहीं देखी ? तू मुझे इस सबका कारण सत्य, सत्य बतला दे री !"

इस प्रकार अनवरत प्रश्न करने पर भी जब नलिनी की मूर्च्छा नहीं भंग हुई तो रानी को सहसा भान हो गया कि अवश्य ही इस आकस्मिक परिवर्तन का हेतु उसके प्राणनाथ नीलसुन्दर ही हैं । उन्होंने ही इस पर कुछ अपनी कारस्तानी की है । निश्चय ही नलिनी के मर्मस्थल में उनकी ही बंकिम चितवन समा गयी है । रानी ने ललिता को पुकार कर नलिनी के उपचार की व्यवस्था करायी । कुछ क्षणों में ही ललितारानी के उपचार से नलिनी अर्द्धचेतन हुई - परन्तु यह क्या ? नलिनी पुनः रानी के चरणों में गिर गयी । ललिता एवं मंजुलीला आदि सखियाँ उस पर व्यजन कर रही थीं, फिर भी वह सिसकियाँ लेती रुदन करती ही जा रही थी - "अरी ! बहिन, कैसे हटा दूँ री, तू ही बता ? मेरा तो मन उस मोहन की मोहिनी छवि पर जाकर अटक गया है । हाय री ! बहिन, न तो मुझमें उनकी सेवा करने की शक्ति है, न सेवा की योग्यता ही, न सेवा के योग्य कोई पदार्थ ही है मेरे पास; मैं तो मात्र तेरी अकिंचन चरण-रज-दासी हूँ री ! मुझ में उनकी सेवा का भाव भी नहीं है, न ही तनिक-सा भी त्याग है । मेरा तो समस्त जीवन ही नीच स्वार्थ से पूर्ण, धिक्कार के योग्य है । तभी न बहिन ! यह अनुमान हो जाने पर भी कि वे तेरे प्राणपति हैं, मैं उनके अंग में समागयी । आज जब उनके मिलन का मुझे अभाव है,- मेरा मन चिरकाल से चित्त में अंकित-

उस श्यामचंद्र के दर्शन के लिये परम विकल है । देख न, बहिन ! मेरी हृदय-यंत्रणा असीम रूप में बढती ही जा रही है । मेरे हृदय-रस-समुद्र में भयंकर अग्नि जल उठी है । हृदय में प्रचण्ड पीड़ा उठ खड़ी हुई है । एक-एक पल युगों के समान हो गया री ! तनिक भी धैर्य और विवेक नहीं रहा । देख, बहिन ! मैं कैसी निर्लज्जतापूर्वक तेरे ही सम्मुख उनसे मिलन की अपनी टेक व्यक्त कर रही हूँ। कहाँ है मुझमें तत्सुखिया भाव ! क्या मैं अतिशय कुरूपा, सर्वतोभावेन मलिन हृदया, अधम जाति-कुल की नाइन उनका सुख विधान कर सकूँगी ? कदापि नहीं । फिर मात्र मत्सुख की पापाग्नि ही तो मुझे भीषण रूप में जला रही है ?"

"परन्तु मेरी बहना ! उस रूपराशिं को - जो सौन्दर्य का अतल समुद्र है, जिसमें अनन्त अतुलनीय प्रीति-गुणों की तरंगें उठती हैं, जिसके एक-एक कण पर अपरिमित कामदेव न्यौछावर हैं, भला कौन ऐसी नारी संभव है जो उन अंगों की मोहिनी को देखकर अपना मन संवरित रख सके ? बहिन ! मेरे लिये तो लाख चेष्टा करने पर भी, अपने को बुद्धि से अनेक बार धिक्कारने पर भी धैर्य धारण करना असंभव हो गया री ! मैंने जितने भी बाँध लगाये, सब टूट गये; मेरे मन ने बुद्धि को दुत्कार कर पूर्ण मिलन की मनोहर इच्छा करली। बहन ! अब तू चाहे मुझे घोर नरकयंत्रणा का दण्ड भले ही दे, मेरी जो दशा है वह निष्कपट मैंने तेरे सम्मुख रख दी।"

सारा सखी-समाज इकठ्ठा हो गया है । नलिनी कभी कातर होकर करुणापूर्ण क्रन्दन करती रानी के चरणों में अपना मस्तक रगड़ने लगती है, कभी अपलक नेत्रों से उन्मादिनी की तरह आकाश की ओर देखती -"हा प्रियतम ! हा, हा नन्द किशोर !" पुकारने लगती है । कभी वह ध्यानस्थ होकर बैठ जाती हैं । तब उसकी दोनों आँखें बन्द हो जाती है । उसे समस्त योगिक समाधियों से विलक्षण प्रेमसमाधि लग जाती है । उसके सारे अंग स्पन्दनरहित हो जाते हैं । सारी सखियाँ उसकी विलक्षण प्रेम दशा से चमत्कृत हो रही हैं । वह पुन: कहने लगती हैं - "इसीलिये बहिन, मैं सदा ही उनसे छुपी ही रही । तेरे ही द्वारा प्रदान किये गये निवास से तुझे उबटन लगाने महल में आना और भानुमहल से पुन: अपने निवास पर चले जाने के अतिरिक्त मैं कभी वनोद्यानों में भी नहीं गयी । मैं सदा ही ध्यान रखती थी कि उनके सम्मुख कभी भी नहीं आऊँ ? परन्तु, मेरे समस्त संगुप्त रहने के

प्रयास के उपरांत भी बहिन ! वे मेरे निवास के पार्श्व के उपवन में पिछली रात्रि चले आये री !"

"बहिन ! मैं तुम्हारी यह पवित्र, अनुपम, अनूठी, अभिमानरहित, आत्यंतिक उदार और अपनी नीच परिस्थिति को देखकर लज्जा के मारे गड़ जाती हूँ । परन्तु बहिन, मैं अवश थी । उनका मुखचंद्र निरखकर मेरा यह जन्म, मेरा जीवन सार्थक हो गया री ! मैं धन्य हो गयी । मेरे दोनों नेत्र सफल हो गये । मेरे पंचप्राण प्रेमरस से आर्द्र हो गये री ! उन्होंने अपनी अहैतुकी पीयूषवर्षिणी दृष्टि डालकर, मेरे अन्तस् में शीतल, सुखद, असीम सुधासागर भर दिया । उनके साथ चाहे मैं मात्र दस क्षण ही रही, परन्तु उनके सान्निध्य में, मैं शिवबीजा, शिवस्वरूपा, सुमतिमयी बनी रही । परन्तु उनके बिछुड़ते ही मुझ में पश्चात्ताप की भयंकर अग्नि जल उठी । उनके बिदा होते ही मेरी पवित्रता, सुषमा, सुन्दरता सभी जाती रही । अब तो बहिन, तेरे चरणों में यह शरीर शव की तरह पड़ा है । मैं अत्यन्त दीन, दारुण दुखमयी, व्याकुल और अधीर हुई तेरी चरण रज की शरण हूँ। बहिन ! जो चाहे सो दण्ड दे, मैं तेरी घोर अपराधिनी हूँ । हे परम उदार बहिन ! अब तू जैसे चाहे, वैसे अपनी प्रीति की टेक निर्वाह कर ।"

नलिनी की प्रेम तथा दैन्य से भरी वार्त्ता सुनकर रानी के दोनों नेत्र छलछला आये । सखियों की भी सिसकियाँ बँध गयीं । रानी ने नलिनी को अपने प्रेम आलिंगन में बाँध लिया । वे प्रेमाश्रुओं से उसे भिगोती जा रहीं थीं एवं कह रही थीं -- "बहिन ! नलिनी री ! तुम एवं सभी सखियाँ मुझ से पूर्णतया अभिन्न हो री ! यह तुम्हारा मात्र शील ही है कि तुम सभी ने मुझ-तुम्हारी एक तुच्छ सेविका को स्वामिनीपद दे दिया है । परन्तु मैं सत्य, सत्य कहती हूँ कि मैं रूप में, गुणों में, प्रीति में, कला-कौशल में, सेवा में तुम सभी के सम्मुख निज को सदा परम तुच्छ ही अनुभव करती रहती हूँ।"

"तुम सब से रहित हो जाने की स्थिति में तो मेरी कोई सत्ता ही कहीं नहीं रहती है री ! तुम सब मेरी अक्षय प्रीति और सौन्दर्य की कोश हो, जिनसे मैं अपने प्राणप्रियतम नीलसुन्दर की एक कणमात्र रसलालसा परितृप्त कर पाती हूँ। बहिन ! मैं तो तुम्हारे बिना कोई वस्तु ही नहीं हूँ ।"

"बहिन ! मैं सत्य, सत्य, सर्वथा सत्य कह रही हूँ कि तू अपना यह सभी दैन्य एवं विषाद मेरे प्रेमाश्रुओं में बहा दे । तू तो मेरा द्वितीय रसमय रूप है । तुझमें मुझमें कोई द्वैत-भेद है ही नहीं । बहिन ! तू राधा की प्राणों की

प्रतिमा है । और वे मेरे प्राणनिवास हैं । अतः वे तुझसे तुझमें मुझको ही देखकर मिल पाये होंगे री ! बहिन ! तू मेरे आलिंगन में गुँथी है, मेरे चरणों में लिपटी है, उसी प्रकार रात्रि में तेरे पास उनके रूप में भी मैं ही आयी थी री ! राधा और प्रियतम दो पृथक् सत्ताएँ सर्वथा, सर्वांश में नहीं हैं । नयी नयी लीलाओं के निर्दोष रसास्वादन के क्षेत्र में नित्य भिन्न प्रतीत होते हुए भी बहिन ! यही परम एवं चरम सत्य है कि हम दोनों नित्य अभिन्न हैं । "

"बहिन री ! तू पूर्ण प्रसन्न हो जा । बहिन, मुझे शीघ्र नन्दभवन जाना है । कुन्दलता आने ही वाली होगी और देख, यह सुगन्धा भी केश रचना करने आ गयी । अभी तो मैंने स्नान ही नहीं किया री ! तू शीघ्र उबटन और तैलमर्दन कर दे । बस, मैं स्नान कर लूँ ।" यह कहते-कहते रानी ने न जाने क्या किया कि एक अभूतपूर्व ही घटित हो गया । अहा ! नलिनी की दृष्टि ही बदल गयी । उसे रानी के एक-एक अंगों एवं अवयवों में सुन्दर श्रृंगार से सजे प्रियतम दिखने लगे । वह मन से अतीत, बुद्धि से अगोचर प्रियतमतत्व को रानी के रोम-रोम में निहित प्रत्यक्ष देखने लगी । उसके हाथ ही मात्र तैलमर्दन एवं उबटन की क्रिया सम्पादित कर रहे थे । परन्तु मन तो विलक्षण भावदशा में न जाने कहाँ विचरण कर रहा था । हाथ, उसके अपने पूर्व स्वभाव से ही वशीकृत से उबटन कार्य करते जा रहे थे । प्रियतम के दिव्य रससाररूप के दर्शन जो आज उसे प्रिया के रोम-रोम एवं अंग-अंग में भरे -- हो रहे थे वैसे तो कल उसे निशा में भी नहीं हुए थे । तीनों कालों में एवं तीनों लोकों में भी ऐसी सम्पदा -- जो उसे आज अपनी रानी के अंगसंवाहन के पारितोषक के रूप में प्राप्त हो रही थी, किसी को कभी न तो मिली थी, न मिली है, एवं नहीं मिल पावेगी ? नलिनी पूर्णतया परितृप्त हो गयी थी । उसके सम्मुख यह तत्व भी ठीक-ठीक प्रकट हो चुका था कि रानी एवं प्रियतम भिन्न दो पृथक् सत्तायें न थे, न हैं, एवं न ही किसी भी काल एवं अवस्था में होने ही संभव हैं । रानी ही प्रियतम हैं एवं प्रियतम ही रानी हैं ।

(पू० गुरूदेव ने यह लीला सुनाते हुए यह रहस्य भी मेरे सम्मुख खोल दिया था कि इस दिव्य लीला का प्रकाश एवं अनुभूति उनके चित्त में भक्तराज रामराय प्रभु के -**"पाछली रात परछाहीं द्रुमपातन की लालजी डोलत रँग भीने द्रुम-द्रुम तरन"** पद को श्रवण करते-करते हुई थी । यह पद श्री वल्लभलालजी गोस्वामी - लेखक के पूर्वाश्रम के पिता उन्हें सुनाया करते थे ।

पू० गुरुदेव, उनसे - जब भी वे पू० गुरुदेव के निकट होते - बारह-बारह घंटे पदगायन सुना करते थे । हजारों ही पद उन्होंने पू० गुरुदेव को सुनाये थे और पू० गुरुदेव अपने लीलाराज्य में उन पदों में बीज रूप में निहित लीलाओं का दिव्य दर्शन करते, विलक्षण अप्राकृत चिन्मय जगत् में विचरण करते रहते थे । यहाँ आगे यह पद भी पूरा दिया जा रहा है ।)

भक्तराज रामराय प्रभु का उपरोक्त पद-

पाछली रात परछाहीं द्रुम पातन की,
लालजू डोलत रँग भीने द्रुम-द्रुम तरन !! १ !!
बने देखत बने, लगत अद्भुत मने,
ज्योति की स्रोत में निकस रही सब घरन !! २ !!
कृष्ण के दरस कौं, अंग के परस कौं
महाआरति मान चली मज्जन करन !! ३ !!
नूपुर धुनि सुनत चक्रत है थकि रही,
परि गयौ दृष्टि गोपाल श्यामल बरन !! ४ !!
जरग सी पाग पर मोर चन्द्रिका बनी,
कमल-दल-नयन भ्रुव-बंक छबि मन हरन !! ५ !!
धाई सब गहन कौं, रसवचन कहन कौं,
भामिनी बनी अति छबि सुधारत चरन !! ६ !!
रोम-रोम रमि रह्यौ मेरो मन बस भयौ
नाहिं बिसरत वाकी झुकन में भुज भरन !! ७ !!
कहै भगवान हित रामराय प्रभुसौं मिलि,
लोकलाज भाज गयी प्रान परबस परन !! ८ !!

पद का अर्थ

अरी सखी ! तुझे पिछली रात की, विगत निशा की बात बताती हूँ - वे लालजू श्रीकृष्ण अत्यन्त रंगभीने मेरे पिछवाड़े द्रुमों, द्रुमों के नीचे उनके पत्तों की परछाँही में डोल रहे थे । अहा ! मैंने उन्हें छुपकर देखा था। वे देखते ही बनते थे। उनकी छबि का वर्णन शब्दों से असंभव ही है। मेरे मन को उनका सौन्दर्य परम अद्भुत लग रहा था । एक विलक्षण सच्चिन्मयी

नीलज्योत्स्ना का कोई उद्‌गम स्थल हो, झरना हो, इस प्रकार उस नीली ज्योति के स्रोत में ही उनके अंग-अंग प्रकट हो रहे थे । मैं उन परम प्रियतम श्रीकृष्ण के अच्छी प्रकार से दर्शन करने को, उनके परम पावनतम अंगों का संस्पर्श प्राप्त करने को - जैसे कोई देवमंदिर में भगवद्विग्रह की महा आरती में जा रही हो, इस पवित्र भाव से चल पड़ी । मैं उन्हें उस वनोद्यान में खोजने लगी । सहसा उनके नूपुरों की ध्वनि ने उनका पता मुझे बतला दिया। मैं उनके नूपुरों की ध्वनि सुनते ही चकित हो उठी और उनका अथाह सुन्दर रूप देखती-देखती थक गयी, उनके रूप सौन्दर्य का कहीं न अथ था नहीं इति थी । वह घनश्याम-श्यामलवर्ण किशोर मेरी दृष्टि के सम्मुख था । अहा ! कैसा विलक्षण रूप था उसका - सिर पर स्वर्णखचित जरी की पाग थी, उस पर मयूर की चन्द्रिका वह लगाये था, कमलदलों के समान उसके विशाल नेत्र थे, भौंहें टेढ़ी बाँकी थीं और उसकी शोभा मन को वशीकृत कर लेती थी। मैं उस शोभा-वैभव को समग्ररूप में ग्रहण कर लेने को उतावली हो उठी और दौड़ पड़ी, उससे रसालाप करने को भी मन उतावला हो रहा था । मैं युवती, अपने चरणों की गति की सुन्दरता को सुधारती हुई चल रही थी । सखिरी ! मैं क्या कहूँ, मेरा रोम-रोम उस सुकुमार सौन्दर्य में रम गया री, और मन उसने हर लिया, अब वह उसके ही वशीभूत हो गया री। ज्योंही मैं उसके पास पहुँची, उसने मुझे झुककर अपनी भुजाओं में भर लिया । उसकी भुजाओं में भरने की भंगिमा मैं भूल ही नहीं पा रही हूँ । श्रीभगवानहित रामराय प्रभु कहते हैं कि मेरी सब लोक-लज्जा भाग गयी, मेरे सब अंग मनमोहन किशोर के परवश हो गये और मैं उससे सदा-सदा के लिये जा मिली ।

सुगन्धा की कथा

रानी की अत्यन्त कमनीय चित्तहारी केशराशि की सज्जा सुगन्धा प्रतिदिन करती है । सर्वप्रथम वह उस केशराशि को वेणी-बंधन से मुक्त कर, उनकी कुन्दनद्युति पीठ पर लहरा देती है । इस केशराशि से घिरा रानी का मुख खिले अरविन्द के सदृश शोभा पाने लगता है । मानो उमड़ती घटाओं के मध्य पूर्ण द्युतिमान शारदीय राकाचन्द्र समुदित हो उठा हो । केशराशि से सौरभ के आवर्त-पर-आवर्त हिल्लोलित हो उठते हैं। वातावरण का अणु-अणु विलक्षण अप्राकृत महक से भर जाता है । कैसी सौभाग्यवती है सुगन्धा कि

उसे इस प्रफुल्लित मुख सरसिज का दर्शन करने का सौभाग्य प्रतिदिवस प्रातः प्राप्त होता है । इस विलक्षण सौन्दर्य-माधुर्य से छलकते पद्म के मधु से नित्य परितृप्त इस नाइन के लोचनचंचरीक अति विशाल आकर्ण-विलम्बी आकृति धारण कर लेते हैं और अपने सौभाग्य का वर्णन छिन-छिन कानों की तरफ जा-जाकर उन्हें सुनाते रहते हैं । कैसा विलक्षण है राधा-मुख दर्शन का यह अमित आनन्दवैभव कि इस अक्षय कोष को प्रतिदिवस भरपूर प्राप्त करके भी नापित कन्या सुगन्धा मद एवं गर्व से युक्त नहीं होती, अपितु इस आनन्दवैभव से बोझिल हुए उसके नेत्र सदा विनीत, निम्न एवं दूसरों के चरणों में झुके ही रहते हैं ।

नलिनी की तरह दिवस में तो उसे भी नारायण गिरि की घाटियों में भटकना पड़ता है, क्योंकि जहाँ नलिनी, रानी के उबटन के लिये औषधियों की खोज करती है, वहाँ सुगन्धा को रानी का तैल निर्माण करने के लिये औषधियाँ एकत्रित करनी पड़ती हैं । वहीं नारायण गिरि पर्वत पर सूखी औषधियाँ बीनते-बीनते दोनों परस्पर सख्यचर्चा में संलग्न हो जाती हैं । दोनों की चर्चा का विषय तो एक ही है, या तो नलिनी रानी के अंगों की मादकता, सुकुमारता और सुघड़ता का वर्णन करने लगे अथवा सुगन्धा उनकी केशराशि की शोभा का वर्णन करे ।

सुगन्धा की सबसे निराली दृष्टि है, उसे तो रानी के केशों में प्रियतम श्यामसुन्दर भरे दृष्टिगोचर होते हैं । यह रहस्य वह भला किसे और कैसे बताये कि रानी की कांचनवर्णी पीठ पर छितरे केश सुगन्धा की दृष्टि में बाल नहीं- श्याम कज्जलवर्ण, नवकिशोर, नीलम प्रियतम हैं- जो उस पृष्ठदेश के सौन्दर्य से विमुग्ध उससे लिपटे हैं । अहा ! उनका प्रीतिदर्शन पाकर परमानन्द सिन्धु उछल उठता है- सुगन्धा के हृद्देश में । सुगन्धा नलिनी से मादक मुसकान से युक्त हुई लजायी-लजायी अपनी अनुभूति बताती है- “बहिन नलिनी ! मेरी रानी के प्राणधन कैसे हैं, यह तुझे किस भाँति बताऊँ, री । यह तो अनुभूति का ही विषय है, मात्र स्वसंवेद्य है- सब कुछ । अरी तूने तो मात्र एक रात्रि ही उन्हें अपने निवास के पिछवाड़े देखा, बस, दीवानी हो गयी और मैं तो प्रतिदिन ही उन्हें देखती हूँ । खूब देखती हूँ । मेरे प्रियतम तो रानी की केशराशि हैं .... और वह पागल की तरह हँसने लगती हैं । अरी सखी ! मेरे प्रियतम अभिनव सुन्दर प्रतीत होते हैं री ! उनके सौन्दर्य की मधुरिमा नव-नव लीलाविलास की अप्रतिम सुन्दर भंगिमाओं से सदा विभूषित

होती रहती है। उनकी गुणगरिमा नित्य परिवर्द्धित होती ही रहती है । दो तीन निमेष का कालमान व्यतीत होते न होते- नवीन उमंग की लहरें आत्मसात् कर लेती हैं- पूर्व तरंगों को ।

"अरी नलिनी ! षट्पदश्रेणी को बहुत ही गर्व था अपनी सुन्दरता का, परन्तु मेरी स्वामिनी के मस्तक पर सदा विराजित मेरे प्रियतम की शोभा ने, मेरी रानी के अलकजाल की शोभा ने उनका गर्व चूर्ण-विचूर्ण कर दिया; लज्जा के घने आवरण में अलिकुल ने अपना मुख छुपा लिया ।"

"अरी नलिनी ! सच बताना, मेरे प्रियतम (रानी की केशराशि) के जैसे सुन्दर अंगसंस्थान हैं, वैसे क्या तेरे नीलमणि के अंग हैं ? तू तो उनके अंग अंग से लिपटी हैं न, और मेरी तो मात्र अंगुलियाँ ही उनसे लिपट पाती हैं ? हाँ ! कभी-कभी बयार छेडखानी कर, मेरे प्रियतम को मेरे कपोलों पर उड़ाकर ले आती है । अरी, मेरा तो विश्वास है, मेरे प्रियतम जैसे मृदुल तेरे प्रियतम हो ही नहीं सकते । अरी मेरी अंगुलियाँ जब उनसे उलझती हैं, उस समय मुझे तो वह मृदुलता भी प्रतिक्षण नित्य नव-नूतन बढती ही प्रतीत होती है और मेरे प्राणों को अपार आकर्षित करती चली जाती है।"

"ओह ! जब मेरे (प्रियतम रानी की केशराशि) लोक एवं वेद की मर्यादा छिन्न-भिन्न कर बंधन मुक्त हुए (विणी-बंध मुक्त हुए) मेरी अंगुलियों को अपने सुकोमलतम हाथों में गूँथकर लहराते हैं, सौरभ से दसों दिशायें सुरभित हो उठती हैं । अरी, इस गिरि परिसर में, इस समूचे वृन्दावन में जो सुवास तेरी घ्राणेन्द्रिय सूँघ रही हैं, वह सब मेरे प्रियतम के श्रीअंगों का ही सुवास तो है- जो सर्वत्र मादकता भर रहा है । अरी नलिनी ! तू तो यही अनुभव करती है कि यह गुलाब की सुगंध है, यह मोगरा की और यह बेले की । कदाचित् किसी अचिन्त्य कृपा के प्रकाश से तेरी घ्राणेन्द्रियों में यह शक्ति आ जाय, तभी तू समझ सकेगी कि सर्वत्र विश्व में कहीं भी कुछ भी सुखद, सुन्दर, सुमधुर गंध है, वह सब मात्र मेरे प्रियतम (रानी की केशराशि) से ही उद्भूत हो रही है ।"

"और देखरी, मेरे प्रियतम (रानी की केशराशि) जब झूमते चलते हैं तो उनकी कमनीयता में मादक अभिनव आकर्षण होता है । पलक पड़ते-न-पड़ते उनके सुधामय अंगों से अप्रतिम शोभा की वेगवती सरिता निर्मित हो जाती है; अरी, वाणी से क्या बताऊँ मेरी बहना ! तू उनके विशाल, उन्मुक्त, बंकिम, नित-नूतन-शोभामय, प्रतिपल नवीन-नवीनतर दृष्टिगोचर होने वाले, सर्वत्र

रससुधा की सरिता बहाते रूप को देख तो सही, तब तुझे पता चलेगा कि उनकी तरुणाई और ललित लावण्य का विकास कैसा है ? अहा, उनके अंगों से कैसी दिव्य ज्योति प्रतिक्षण प्रसरित होती रहती है ? अरी, वे मात्र कृष्ण-कज्जल प्रतीत होते हैं, परन्तु सार की बात तो यही है कि दिनकर की रश्मियों में जो रंग हैं, वे इसी केशराशि के सुन्दरतम वर्णों की छाया की छाया ही तो हैं ।"

"तनिक सी म्लानता का लेश भी कदापि स्पर्श नहीं करता- मेरे प्रियतम (रानी की केशराशि) की ज्योति को । यह ज्योति ऐसी विलक्षण है कि अपनी आस्वादनीयता के गुण का कभी परित्याग नहीं करती । अपितु इनकी रमणीयता उत्तरोत्तर परिवर्द्धित होती रहती है । नित्य नवीन रससुधा का संचार करती रहती है , यह । निरवधि अपलक निहारते रहने पर भी नयन तृप्त नहीं होते । नित्य तरसते ही रहते हैं- पुनः पुनः दर्शन के लिये।"

"अरी बहिन ! मेरी आत्मा के आत्मा ये मेरी रानी के केश ही तो हैं । ये काले-काले कृष्णकुंतल मेरे असंख्य प्राणों के प्राण हैं । मेरे प्राणसारसर्वस्व, प्राणाराम, प्राणवल्लभ, चतुर चूड़ामणि, मेरे ये ही श्यामल सर्वस्व हैं।"

"देख बहिन ! तू अत्यन्त बुद्धिमान है री, ज्ञानगरिमा के आलोक में तूने अपने प्रिय का निर्धारण किस महाभाग्यवान को किया है, यह तू ही जाने। मैं तो अपना हृदय खोलकर तेरे सम्मुख रख गयी हूँ । मैं तो सचमुच यही अनुभव करती हूँ- अपने हृत्तल में प्रत्यक्ष देखती हूँ - ये मेरे प्रियतम नित्य नूतन रस से भरे ही रहते हैं।"

"अरी बहिन नलिनी ! मेरी एक अन्तिम प्रार्थना मान ले ! तेरे प्रिय से मुझे मिलाना तो तेरे वश की बात है नहीं और उनसे मिलने पर न जाने कैसी बेहोशी, मूर्च्छा, प्रलाप, सिसकियाँ, सखियों के सम्मुख प्रहसन, लोक-कुल का अपयश, आत्म-धिक्कृति -- न जाने क्या-क्या मेरी दुर्दशा होगी, परन्तु मेरे प्रियतम के तनिक से दर्शन तू सहज रुप में एक बार कर तो ले । मैं शपथपूर्वक कहती हूँ, बहन ! उन जादू भरे मेरे प्रियतम के नील श्रीअंग को देख लेने के अनन्तर तू अन्य सब को देखना ही स्थगित कर बस नेत्र मूँदे ही रह जायेगी । उनकी बंकिम छटा तो बस ऐसी ही निराली है री !"

यों कहती-कहती सुगंधा नलिनी से लिपट जाती है । फिर दोनों अपने-अपने कार्य -- सूखी औषधि बटोरने में लग जाती हैं ।

हाँ, तो उस दिवस नलिनी तो शीघ्रतापूर्वक अपनी आवश्यक सूखी काष्ठ औषधियाँ लेकर चली गयी थी, एकाकिनी सुगन्धा ही वनपथ से अपने निवास लौट रही थी । उसे सम्मुख ही नलिनीके प्रियतम नीलमणि मिल जाते हैं ।

उनके नवनीरदवर्ण श्रीअंगों पर पिंगल दुकूल झलमला रहा होता है । गुञ्जा की माला कण्ठ देश को विभूषित कर रही होती है । मस्तक पर मणिमय मुकुट, उस पर गुम्फित मयूरपिच्छ, कुञ्चित केशराशि, भाल पर विराजित मृगमद का बडासा बेंदा, उस नील मुखमण्डल का लावण्य, मधुरिमा, सरसता, कोमलता, कान्ति को देखकर सुगन्धा ठगी-सी रह जाती है ।

उनकी आँखों में असीम अनुराग भरा रहता है, सुगंधा के प्रति । उनके हाव-भाव मुख-मुद्रा से ऐसा प्रतीत होता है, मानो वे उस पर प्राण न्यौछावर कर रहे हों । उनके हृत्तल में हिलोरें लेती अनुराग की ऊर्मियाँ ऐसी मनोहर होती हैं मानो उसे अपने हृदयमंदिर में संस्थापित कर लेने के लिये वे व्याकुलता की सीमा लाँघ रहे हों । सुगन्धा पर प्राण न्यौछावर करते वे वहीं पथ पर बैठ जाते हैं ।

अब भला वह नापित कन्या क्या करे ? वह तो अतिशय संकोच में गड़ जाती है । वे रानी के, उसकी स्वामिनी के प्राणवल्लभ हैं, उसके तन का कण-कण अनन्त कृतज्ञ है उनका । वह तो बिना मोल की दासी है उनकी । "हाय ! मुझ नीच जाति की दासियों की दासी से वे यह कैसा व्यवहार कर रहे हैं ?"

"परन्तु हाय ! कैसी विचित्र दशा है इनकी ? उन्मादी हो गये हैं, ये । कुञ्चित अलकें बिखर गयी हैं इनके भाल पर ; निर्निमेष विस्फारित नेत्रों से चारों ओर देख रहे हैं वे । इनको अपने तन की सुधि ही नहीं रह गयी है । परिधान का भी भान नहीं है इन्हें । ऊँच-नीच का भेदज्ञान भी अवशिष्ट नहीं रह गया है इनके मन में । फिर वेष-भूषा कहाँ, कैसी हो गयी है इनकी, इसे कौन सँभाले ?"

सचमुच ही प्रीति का पथ निराला है - सबसे पृथक् सर्वत्र स्वतंत्र है यह। यहां न नीतिगत बंधन है, न ही ज़ातिगत मर्यादा, न ही लोकगत, वेदगत कोई अनुशासन ही । यहाँ न कोई ऊँचा है, न ही नीचा । चरित्रहीन अथवा चरित्रवान, पुण्यात्मा अथवा पापी ये सब शब्द ही यहाँ के भाषाशास्त्र में हैं ही नहीं । यहाँ तो, प्रीति की उद्गमस्थली वृषभानुजा से बस एकात्मताजन्य योग होना चाहिये । बस, यह निराविल योग होते ही ब्रजेन्द्रनन्दन अपने आप इस

प्रीति-धरा में, उसकी नवीन-नवीन दिव्य ऊर्मियों में उच्छलन उत्पन्न करने आ पहुँचते हैं । वे स्वच्छन्द खूब स्नान करते हैं इसमें । बस उस जुड़े हुए, जुड़ी हुई के प्राण, मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ सब कुछ वे जब तक निमग्न नहीं कर देते उछालते ही रहते हैं इन ऊर्मियों को । वे उस महाभाग्यवान गोपी को- गोपी तो उन्हें दिखती ही नहीं, उन्हें तो सर्वत्र उनके प्राणों की कोर, हृदय की प्रेम हिलोर वृशभानुजा ही भिन्न-भिन्न नाम एवं रूप ग्रहण किये दिखाई पड़ती हैं- अपने से पूर्ण एकात्म कर लेते हैं ।

वे, उसके श्रवण पुटों में अपनी मनोहारिणी गिरा भर देते हैं । बस, अब तो उसके कानों में या तो निरन्तर उनकी कोई रसभरी वाणी गूँजती रहेगी, अथवा उनकी मधुस्यंदी मुरली की तान । उनके इस मुरली रव और अधरों से निस्सृत स्वर की झंकृति के अतिरिक्त वह कुछ सुन ही नहीं पाती । अन्य सम्पूर्ण शब्दघोष के लिये उसके कान बहरे हो जाते हैं ।

तो लो, सुगन्धा के कानों में उन प्राणधन नीलसुन्दर की अमृतमयी प्रीतिवाणी भरने लगी - "सुगन्धे ! मेरी जीवन सर्वस्व !! अहा तू कितनी सुन्दर है, मैं तुझे अपनी आँखों की काली पुतलियों में छुपाकर रख लूँ । प्यारी! मेरे रोम-रोम की यह उत्कट अभिलाषा है । प्राणाधिके ! इतना ही नहीं, इन नयनों के सुगुप्त पथ से मैं तुम्हें ले जाऊँगा अपने उरस्थल के देश में और फिर अनुराग-रज्जु से बाँध लूँगा तेरे चरण-सरोरुहों को- अनन्त काल तक के लिये वहीं अपने हृदय में । फिर मेरी अप्रतिम सुन्दर निधि ! तुम निरवधि सदा सदा वहीं रहना ।"

अब सुगन्धा करे तो क्या करे ? उसके नयनों की काली पुतलियों में तो उनकी अनिन्द्य रूप-राशि पूरी की पूरी भर गयी है । उसके नेत्र उस रूपजाल में ऐसे फँसे हैं कि निकल ही नहीं पा रहे । यदि यही दशा उसकी जो अभी वर्तमान में है, नित्य निरन्तर बनी रही तब तो वह अन्य किसी वस्तु को भविष्य में कभी देख ही नहीं पावेगी । फिर तो केवल यही त्रिभुवनमोहनरूप ही उसका दृश्य अवशेष रह जायेगा । सकल दृश्य प्रपंच के लिये वह सर्वथा अंधी हो जायेगी ।

अहा ! इनके चरण कितने सुकोमल हैं - इन्हें तो रानी के बालों का आस्तरण बिछाकर, तब धरा पर अवतरित कराया जाये । इसीलिये तो रानी अपने तन के सुकोमलतम भाग- उरोजों पर भी इन्हें रखती सकुचातीं हैं, इस संकोचवश कि कहीं उनके उरोजों की कुचकर्णिका इन चरणों में गड़ नहीं

जाये । वे प्राणधन, अरे ! वे ही इस वनपथ में खड़े हैं । अहा ! कैसी दीन मुख-मुद्रा बनाकर वे उस एक साधारण दासियों की भी दासी नापित कन्या से याचकवत् प्रेम की भिक्षा माँग रहे हैं । उसका मन, बुद्धि के शासन से विद्रोह कर उठता है और चाहता है कि दौड़कर अपने प्राणधन को अपनी बाहुओं में बाँध ले । परन्तु उसकी हिचक यही है कि उसका यह व्यवहार किशोरीरानी की मानमर्यादा के सर्वथा अनुकूल नहीं होगा ।

ये रानी के प्राणपति हैं, उसकी स्वामिनी के जीवनसर्वस्व हैं, उसे तो मात्र उनके चरण-रज की सेवा का ही अधिकार है । इनके अंगों में रानी की अनुज्ञा लेकर वह तैल-मर्दन कर दे, चरण-संवाहन कर दे - यह तो उसका कर्तव्य हो सकता है, परन्तु अपनी स्वामिनी के प्राणनिकेत का प्रेम निवेदन वह कैसे स्वीकार करे ? ये राजाधिराज वृषभानुमहाराज के जामाता हैं, ये कुछ भी बोलें, कहें, करें, इन्हें सब क्षम्य है । वह तो इनकी बिना मोल की दासी है, उसके रक्त के कण-कण पर इनका अधिकार है, ये उसे कुछ भी कह सकते हैं, परन्तु वह इनकी प्रणयिनी हो - यह तो कल्पना भी वह नहीं कर सकती । अत: सुगन्धा धरती में गड़ी जा रही है । वह आकुल कण्ठ से मन ही मन प्रार्थना कर रही है :-

"हे धरती माता । मेरी रानी की मर्यादा में मैं कलंक लगाने वाली नहीं होऊँ । अभी तू फटकर मुझे अपने भीतर समाहित करले । मैं इस मर्यादाहीन लज्जास्पद स्थिति से किसी भी प्रकार बचना चाहती हूँ ।"

परन्तु हाय ! न तो भूमिदेवी ही उसकी प्रार्थना पर किञ्चित् विचार कर रही हैं, न ही ये नीलसुन्दर ही अपनी हठधर्मिता को त्याग रहे हैं । अहा ! उनकी कैसी प्रेममयी वाणी है । कितना रसामृत घुला है उसमें !

"प्राण प्रियतमे ! तुम ही तो मेरे शतसहस्र प्राणों की अधिदेवी हो, मेरे असंख्य प्राणों की एक मात्र प्रतिष्ठा हो । जीवनेश्वरि ! अपनी अहैतुकी कृपा का प्रकाश कर मुझे एक वस्तु का दान दे दो- चिर अभिलाषा सँजोये मैं प्रतीक्षा कर रहा हूँ । मेरे उद्विग्न प्राणों की लालसा यही है, इतनी ही है कि मेरी आँखें अपलक निहारती रहें केवल, केवल, तुम्हें निरवधि । मेरे मन के कण-कण में मेरे प्राणों के अणु-अणु, परमाणु-परमाणु में नित्य विराजित रहे तुम्हारा, बस तुम्हारा ही यह मुखचन्द्र । करुणामगि ! अपरिसीम करुणा का प्रवाह तुम्हारे इन लोल लोचनों से नित्य निरन्तर प्रसरित होता रहता है । उस प्रवाह की एक कणिका मात्र मुझे दान कर दो ! बस 'एवमस्तु' कह दो।"

यह कहते हुए लो, वे आगे बढ चले ।

"नहीं, नहीं, मुझ मलिन देह, अधम-प्राण, निकृष्ट कामुक-मना नाइन को आप स्पर्श नहीं करें," कहती हुई सुगन्धा का रोम-रोम निषेध की ज्वाला से दहक उठा । उसके नेत्र बरस उठे । वह अति मधुर स्वर में बोल उठी - "मेरे नीलचन्द्र ! मैंने आजतक रानी के सौदामिनी-सदृश कंचन वर्ण पद-द्वय ही अपने हृदय में विजड़ित रखे हैं । उनके अतिरिक्त अन्य किसी को भी अपने हृदय में स्थान दिया ही नहीं । रानी की कुंचित केशराशि की सेवा के अतिरिक्त मैंनें कुछ देखा नहीं, जाना नहीं ; और भविष्य में भी किंचित् भी देखना-जानना चाहती भी नहीं । साथ ही यह भी सत्य है कि मुझ कुरूपा, कुलच्छना, कुजाति की नाइन के लिए इसके सिवा सोचने-समझने को हो भी क्या सकता है ?"

"कथन मात्र के लिये 'स्व' के रूप में मुझ से सम्बद्ध जो भी था एवं है, उस सर्वस्व को तो सहज ही आत्यंतिक उल्लास के साथ मैं रानी को समर्पित कर चुकी हूँ । फिर आप मुझ से कुछ भी माँगे मेरे पास, आप रानी के प्राणवल्लभ हैं - इस नाते अदेय हो भी क्या सकता है ? परन्तु प्राणसुन्दर ! मुझ किंकरी को किंकरी ही रहने दीजिये । चरण-धूलि का स्थान चरण-स्थल ही है । वह मस्तक पर यदि उड़कर चढ भी जाये तो उसे परिचारिकाएँ झाड़ देंगी ? झाड़कर, कंघी से, स्नान से, उबटन से उसका निवारण और परिमार्जन कर दिया जाना ही अवश्यंभवी विधान है ।"

"मेरे स्वामी । मुझ निम्न घृणित जाति की, नीच कर्म करने वाली महामलिन नाइन देह का स्पर्श कदापि मत करिये, कहीं मेरे मलिन पापकर्मों की छाया आपका अमंगल नहीं कर दे, मैं भयभीत हूँ , मेरे नाथ ! मैं आपके द्वारा ऐसे सम्बोधनों की अधिकारिणी कदापि नहीं हूँ - फिर इस भाव से स्पर्श की जाऊँ यह तो कल्पनातीत बात है । मैं आपकी दासियों की दासियों की भी अनुदासी हूँ, मुझे अपनी स्थिति में ही रहने दीजिये । बस, बस, क्षमा करें स्वामी !"

नीलमणि, मूर्च्छित सुगन्धा को अंक में भर कर घने वृक्षों के कुञ्ज में ले जाते हैं । झर-झर नेत्र बरसाते वे उसे अपनी निराविल प्रीति में स्नान कराते हैं । सुगन्धा ज्यों ही दो क्षण के लिये स्मृतियुक्त होती हैं, तो यही पाती है कि नीलसुन्दर का परम सुखद, मादक स्पर्श सर्वथा व्यवधानरहित होकर उसकी त्वगिन्द्रियों में मूर्त्त हो रहा है । किसी अन्य संस्पर्श की क्षीणतम स्मृति

भी नहीं बची है उसके चित्त में । एक मात्र उनका ही स्पर्श उसके गात्र में अवशिष्ट रह जाता है । इतना ही नहीं, उसकी रसना भी नीलमणि के अधरपल्लवों से झरते मधुमय सुधारस से परिपूरित हो उठती है । अब बुद्धि के निषेध से मन कब तक वर्जित रहे । महारस-सिन्धु के उद्वेलन को तट चाहे कितना ही सुस्थिर हो, कबतके झेलता रहेगा, अन्ततः ढह ही जायगा। अतः प्रियतम के झुके सुधारस-परिपूरित अधर, कमनीय, अरुणिम गोल कपोल, रसीले नेत्र, बंकिम भ्रू-विलास, इसे मन्मथमथन के प्रेमजाल में उलझा ही देते हैं ।

वृजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र की मन्द स्मिति, कितनी मोहक है कैसी मादकता भरी है इसमें, इसका अनुभव वही कर सकता है, जिसे वे कराना चाहें । परन्तु जिस महाभाग्यवती अथवा महाभाग्यवान का ऐसा सौभाग्य संघटित हो जाता है, उसका अभिमान चूर-चूर हो जाता है, सम्पूर्ण बाह्यज्ञान निवृत्त हो जाता है, उसकी स्वतंत्र सत्ता रहती ही नहीं । बिचारी नापित कन्या सुगन्धा की तो बिसात ही क्या, मुनीन्द्र, अमरेन्द्र, मानवेन्द्र, दानवेन्द्र, खग, मृग, जरायुज, अण्डज, स्वेदज, उद्भिज, कोई भी देहधारी आज तक तो दृष्टिगोचर हो न सका जिसकी अहंता इस मुसकान के दर्शन के अनन्तर भी जाग्रत् रही हो, सचेत रह सकी हो । सम्पूर्ण इन्द्रियों को जीतकर साधन की चरमोत्कृष्ट दशा में अवस्थित योगीगण, कायिक, वाचिक, मानसिक तपःपूत तपस्वीगण, ज्ञान की गरिमा में पूर्ण-प्रतिष्ठित, तमोगुणजनित अज्ञता से सर्वथा दूर रहने वाले ज्ञानीवृन्द, त्याग की जीवन्त प्रतिमा, सुख की भ्रान्ति सृजन करने वाले जागतिक भोगों को चित्त से सर्वथा बहिष्कृत कर देने वाले त्यागी, ये सभी बिक जाते हैं नंददुलारे के कोटि-कोटि शशघरों की कान्ति बिखेरने वाले लावण्ययुक्त मुखमण्डल की हास्य छटा को देखकर ।

फिर यह साधारण राधा-दासी सुगन्धा कैसे प्राणसुन्दर नीलमणि के सभी आयुधों के प्रहार सह पा रही है ? इसका उत्तर यही है कि रानी के प्रति इसके अगाध समर्पण ने इसके हृदय में तत्सुख-भाव इतना सुदृढ़ कर दिया है कि तत्सुख-भाव-भावित हुई यह प्रियतम का सुखानुसंधान करने में ही पूर्णतया निरत है । स्वभोग लालसा की छाया भी इसे स्पर्श नहीं कर पा रही है ।

इसीलिये सुगन्धा के विचार इसी केन्द्र-बिन्दु पर उमड़-घुमड़ रहे हैं । "हाय ! मेरे प्रियतम को यह क्या हो गया है ? कैसे व्यामोह में ये पड़ गये हैं ? मुझ महाकुरूपा में निश्चय ही इन्हें रानी की मुखशोभा दिख रही है ।

इसी से ये उन्मादग्रस्त हुए इस प्रकार का अनर्गल, असंगत प्रलाप कर रहे हैं। "सुगन्धा प्रियतम के बाहु बँधन में बँधी रोम-रोम की आकुलता से अपनी स्वामिनी किशोरीरानी को पुकारने लगती है ।

"हे मेरी स्वामिनी ! मेरे रोम-रोम की आकुल पुकार सुन ले री ! मैं तेरे जीवनधन इस नीलमणि को कैसे समझाऊं ? ये तेरी प्रीति में उन्मादी हुए मेरे तन में तेरी रूपगरिमा भरी देख रहे हैं । मुझ सी सर्वथा अयोग्य को अपना अनाविल प्यार दान देकर ये अपार दुःखराशि को आमंत्रण दे रहे हैं । और हाय रे ! उसी को अप्रतिम सुख भी मान बैठे हैं वे ।

"ओह ! मेरी प्राणसहचरी ! तू ही कोई उपाय कर जिससे इनकी यह अतिशय दुस्साध्य व्याधि दूर हो सके । इनका यह मोह रोग मिटाना मेरे तो सर्वथा वश का नहीं है । आज न जाने कौन से विपरीत ग्रहों की छाया मेरे इन प्रियतम पर पड़ गयी है । अहा ! कैसा भीषण व्यामोह है कि चराचर के समस्त सुखों के सर्वथा उत्सरूप मेरे प्रियतम मेरे कारण अपार सुखों से सर्वथा वंचित हो जावेंगे । अब मैं क्या करूँ ? मेरे वश में तो कुछ भी रहा नहीं है। मेरे अन्तस्तल में तो जैसे शूल चुभ रहा हो, शूलभेदन जैसी पीड़ा हो रही है मेरे रोम-रोम में । हाय ! ललितारानी को जैसे ही पता चलेगा - इस नापित कन्या से प्रियतम ने रमण किया है, वह तो फिर इन्हें रानी के कुंज में प्रवेश ही नहीं करने देगी ? वे अतिशय कोपवती हुई मुझे रानी की सेवा से ही वंचित कर देंगीं । मेरा तो चाहे जो हो, परन्तु ये परम रसमर्मज्ञा, सर्वसुखदान में अतिशय निपुणा, अप्रतिम सुन्दरीरानी के बिना भला कैसे सुखी हो सकेंगे ? कदापि नहीं । हाय ! मुझे तो इनका सुख इसमें ही दिखाई पड़ रहा है कि शीघ्र से शीघ्र इनका यह भयंकर व्यामोह दूर हो जाय।"

और इसी समय एक विलक्षण संयोग संघटित होता है । आज रानी नन्दभवन पाक रचनार्थ जाने के पूर्व सुगन्धा के गृह जाने की इच्छा कर लेती हैं । उनमें सुगन्धा को कोई अलंकार उपहार देने की इच्छा परम प्रबल हो उठती है । अतः वे सुगन्धा को ढूंढने उसके गृह की ओर जाने वाले वन की ओर चल निकली हैं । पथ में ही उन्हें सुगन्धा के पद चिन्ह यहां से सघन वन में वृक्षों की ओर गये दृष्टिगोचर हो जाते हैं ।

अहा ! कानन की धरा को प्रिया श्रीराधाकिशोरी ने किस अद्भुत कृपा प्रसाद का दान किया है । प्रियारानी के आगमन से वह धन्य-धन्य हो रही है। रानी के मृदुल सुकोमल अनावृत चरणतल कानन की धरा पर संचरण

करें, धरा क्या, धरा से सम्बद्ध सभी तृण-वीरुध, दूर्वा, कुश आदि भी धन्य-धन्य हो रहे हैं । रानी कुछ दूर ही वन में आगे बढ़ी होंगी कि प्रियतम नील सुन्दर के चरण चिह्न भी दृष्टि में पड़ जाते है । रानी के साथ ललिता, मंजुश्यामा, मंजुलीला, विशाखादि सभी सखियाँ हैं साथ ही मंजिष्ठा घोपानी भी है। रानी के मुख पर प्रियतम के चरण-चिन्ह देखकर मन्द मुसकान आ जाती है । ललितारानी की आँखों में अभिनव मनोरम-कौटिल्य तो नित्य समाया रहता ही है, थोडी नेत्रों में लालिमा और बढ़ जाती है । उनके आनन-सरोज में विराजित अनुपम रसमयता में मिश्रित हो जाता है-विलक्षण मानजन्य प्रिय को अनुशासित करने का भाव ।

किन्तु किशोरी के प्राणों में तो विलक्षण प्रीति का संचार हो रहा है । वे सोच रही है - "कोई भी हो, कैसी भी हो, जो एक बार भी मुझसे जुड़ चुकी है, उसे तो प्राणवल्लभ अपनायेंगे ही । उससे उपरत वे हो ही नहीं सकते । अहा ! सुगन्धा प्राणों में कैसी उत्कण्ठा संजोये मुझसे जुडी है । फिर सांवर मेरे प्राणप्रियतम जो एक मात्र मेरी ही निधि हैं, मेरी ही वस्तु हैं वे उसे क्यों कर कण्ठ नहीं लगावेंगे । वे तो सुगन्धा में मुझे ही देख रहे हैं । जिसने मेरे चरणों को थाम लिया, उस सुगन्धा में उन श्यामल चंचरीक ने मुझ चम्पा की ही गन्ध तो पायी है, फिर वह उस पर समाकृष्ट क्यों नहीं होगा ? और सुगन्धा तो अतिशय मृदुल हृदया है, अभिमान, गर्व तो उसे छूकर ही नहीं गया है, कितना समुज्ज्वल हृदय है उसका । वह तो सर्वथा सर्वांश में मेरे मुख पर सदा सर्वस्व न्यौछावर करती है फिर मेरे प्राणवल्लभ, प्राणरमण राधा दासी सुगन्धा की अप्रतिम निष्ठा का पुरस्कार न दें, यह कैसे संभव है ? वे उसे कभी भी विसार नहीं सकते ? रानी गुन गुना रही हैं -

प्रीतम प्रीति ही तैं पइयै ।
यद्यपि रूप गुण शील सुघड़ता इन बातन न रिझैयें ।
सतकुल जन्म कर्म शुभ लक्षण वेद पुरान पढैयें ।
गोविन्द बिना नेह सौं आली, रसना कहा नचैये ।

रानी के मन में मधु का स्रोत उमड़ चला है । उसके भाव में उसे उसके प्रियतम अतिशय कृतज्ञता प्रकाश करते कह रहे हैं - "प्राणवल्लभे ! तुम्हारे चरणों में सर्वस्व समर्पण करने वाली ये किंकरियाँ जो अभिमान-मद

को सर्वथा गलाकर रज:कणिकाओं की तरह तुम्हारे चरणों में संलग्न हैं, मुझे तो प्राणों से भी अधिक प्रिय हैं । हे दयामयि ! चाहे वे नापित हों, चाण्डालिनी हों, रजकिनी हों, मालिन हों, हड्डिप कुल में जन्मी हों, जब तुमने इन्हें अपनी नित्य सेवा-सन्निधि प्रदान कर दी, तब मैं इन्हें कैसे त्याग सकता हूँ । तुम्हारे चरणों से जुड़ते ही इनका निवास तो मेरे हृदय आसन पर हो ही गया। क्योंकि तुम्हारे युगल चरण अनादि काल से मेरे हृदय के ही अलंकार थे, हैं और निरवधि रहेंगें । मेरे प्राणों की रानी ! फिर इस सुगन्धा के पवित्र हृदय को तो तुम स्वयं जाँच लो, परख लो । यह महा महिमामयी तो, हे, मेरी प्राण संजीवनी ! तुम्हारे चरणों को सर्वथा एक निष्ठ अपने हृदय में स्थापित किये है । मैं तो इसका निरवधि ऋणिया हूँ ।" अपने प्रियतम की परम प्रेममयी भाववाणी सुनते-सुनते रानी के नेत्र अनर्गल अश्रु प्रवाहित करने लगते हैं । वे ललिता के कंधे का सहारा लेकर उस सघन वृक्ष कुंज के भीतर प्रवेश कर जाती हैं ।

रानी और सभी सखीमंडली के सम्मुख कुंज के भीतर का दृश्य उजागर हो उठता है । सुगन्धा की आकुल प्रार्थना-शब्दावली रानी के कर्ण विवरों में सुधा प्रवाहित कर देती है:-"मेरी स्वामिनी ! मेरे रोम-रोम की आकुल पुकार सुन ले री । मैं इन नीलमणि, तेरे जीवनधन को कैसे समझाऊँ ? वे तेरी प्रीति में उन्मादी हुए मेरे तन में तेरी प्रीति-गरिमा भरी देख रहे हैं । मुझ सी सर्वथा अनधिकारिणी को ये अपना अनाविल प्यार दान देकर अपार दुःखराशि को आमंत्रित कर रहे हैं ।"

रानी के आवेग को सखियाँ रोक नहीं सकीं । वे लताजाल को चीरकर कुंज के भीतर प्रविष्ट हो जाती हैं । वे दौड़कर सुगन्धा को अपनी गोद में ले लेती हैं । उनके नेत्र प्रेमाश्रुओं से झरते सुगन्धा के मस्तक को भिगो रहे हैं। रानी की बाहुओं में बँधी सुगन्धा सर्वथा बेसुध-विमुग्ध है । उसकी दोनों भुजायें बद्धाञ्जलि की मुद्रा धारण किये है । उसका रोम-रोम उद्घोष कर रहा है ।

"जिसमें मेरी रानी के प्रियतम प्राणनाथ नीलसुन्दर निरवधि सुखी रहें बस वही विधान हो, हे भगवान् नारायण ! मैं आपकी शरण हूं, मेरी रानी के जीवनसर्वस्व के सम्मुख अनन्त अपरिसीम अनुपम सम्पूर्ण सुख नित्य अभिव्यक्त रहे । हे प्रभो ! हे विधाता ! मेरी यह लालसा पूर्ण हो । हो गयी, हो गयी, हो ही गयी ।"

"हाय ! यह सुगन्धा कैसी गंगा-यमुना सी पवित्र है । धन्य है इसकी माता सुधर्मा, धन्य, धन्य हैं इसके पिता नापितराज सुबोधनजी और धन्य है इसका कुल ।" सभी सखियों के नेत्र प्रेमाश्रुप्रवाह से झर-झर बरस रहे हैं । रानी ने बाह्य-ज्ञान-शून्य पाटला को गोद में ले लिया है । रानी के प्रेमाश्रुप्रवाह से पाटला का वक्षस्थल भीग गया है । ललितारानी के नेत्र भी झर-झर बरस रहे हैं । एक कोने में खड़ी मंजुलीला सुबक रही है । मंजुश्यामा, रानी को सम्हालती हुई एक ओर रो रही हैं । उनके हिचकी बँध गयी है । प्रियतम अपना उपरैना शीतल जल से गीला कर लाये हैं और निचोड़ रहे हैं पाटला के मुग्ध नेत्र-मुँदे आनन पर ।

रह-रहकर सुगन्धा के ओठ बुदबुदा रहे हैं - "मेरे प्राण रौरवादि नरकों में भले ही जलते रहें । हाय ! ललितारानी जैसे ही जानेंगी कि इस कलमुँहीं नाइन से प्रियतम ने रमण किया है, वे अतिशय कोपवती हुईं इनको रानी के निकुंज में ही प्रवेश नहीं करने देंगीं । हे विधाता ! ये रानी से विहीन कुम्हलाऐ कमल से क्लान्त मुख, निकुंज के द्वार के बाहर निम्नग्रीवा आसीन हुए होंगे - उस समय मेरे प्राण उस अथाह ग्लानि को कैसे सह पावेंगे ? हे विधाता, ऐसा विधान करो जिससे इन नीलसुन्दर को अपार अनन्त निरवधि सुख सौभाग्य मिले । हे धरादेवी ! फट पड़ो और मुझे अपने गर्भ में निहित कर लो ।"

रानी सुगन्धा का मुख बन्द कर देती हैं । रानी के द्वारा मुख बन्द किये जाने पर सुगन्धा नेत्र खोल देती है । वह रानी का मुखारविन्द अपने पर झुका हुआ पाकर विस्मय से भर जाती है । अहा ! पूर्ण विकसित अरविन्द के समान रानी का आनन कैसी वात्सल्यराशि सुगन्धा पर वर्षा कर रहा है- इसे कैसे भाषा दी जा सकती है ? सौरभ का पुंज उसके कण-कण से झर रहा है। बदन सरोज में अभिनव प्रेमामृत मधुर-मधु परिपूरित है ।

इस प्रफुल्लित सुखसरसिज की अपनी सखी पर ऐसी निरुपम वात्सल्य वर्षा देखकर सभी सखियाँ प्रफुल्लित हो उठी हैं । इस विलक्षण शोभामय मुखसरोज के मधु से आकृष्ट प्रियतम के लोचन चञ्चरीक मतवाले हो उठे हैं। वे अतिशय व्यग्रता तथा परम उत्कण्ठा लेकर इस सरोज के मधुपान में सर्वलज्जा त्याग संलग्न हो उठते हैं । किन्तु इन मधुलोलुप को भला तृप्ति कहां ? अपितु इनकी मधुपान-लालसा प्रतिक्षण बढ़ती ही चली जा रही है ।

सुगन्धा को विश्वास ही नहीं हो पाता कि वह रानी की गोद में हैं । उसे क्षणभर प्रियतम का मुख दिखता है फिर रानी का । वह बिलख उठती है- "तुम स्वामिनी हो कि प्रियतम, मैं निर्धारित नहीं कर पा रही हूँ । परन्तु क्या सच, मेरी स्वामिनी ! तुम मुझ अधमा की पुकार पर खिंची आयी ? क्या मेरी व्याकुल प्रार्थना ने तुमको मुझ तक पहुँचा दिया ? मेरी हृदयेश्वरी ! अपने इन हृदयेश्वर को सँभालो" - यह कहती सुगन्धा ने पास ही आसीन श्यामसुन्दर का हाथ पकड़कर रानी के कर-सरोज में विधृत करा दिया । और स्वयं प्रेमावेशवश मूर्च्छित हुई लुढ़क जाती है, रानी की गोद में ?

अब भला इस दशा को प्राप्त सुगन्धा भी मंजिष्ठा की क्या सहायता करेगी? स्वयं अंधा, अंधों को मार्ग दर्शन नहीं ही करा सकता ? परन्तु एक दिवस इस सुगंधा के सम्मुख भी मंजिष्ठा अपनी समस्या रख देती है । सुगन्धा तो मंजिष्ठा के चरणों में ही गिर जाती है । उसके चरणों की धूलि वह अपने मस्तक पर धारण करने लगती है । कहती है - "बहन ! तेरे पास प्रियतम का पीताम्बर मंजुलीला बहन प्रतिदिन स्वच्छ करने भेजती है, इस पीताम्बर को साधारण अम्बर कदापि मत मान लेना ? अरी रानी के अंगों का वर्ण और रानी भिन्न थोडे ही हैं । रानी का राधा नाम, रानी का रूप, रानी के गुण, रानी के निवास महल, रानी का ग्राम-धाम सब पूर्णतया रानी, साक्षात् हमारी प्यारी रानी ही हैं । अरी मूर्खा ! इन्हें कहीं कूटती-पीटती तो नहीं है ? अरी इन सबमें यदि तुझे कुंकुम पंक लगी मिल जाय तो उसे धोकर फेंक मत देना, मुझे बुलाकर दे देना । मैं अपनी सखी माणिकी को वह दे दूंगी । और सुगन्धा दौडी-दौड़ी सचमुच ही माणिकी को पकड़कर न जाने कहां से ले भी आयी । माणिकी के साथ प्रेमवती और नलिनी भी चली आयीं । टोकरों में असंख्य रँगों के विलक्षण सौरभ-प्रवाह से सम्पूर्ण क्षेत्र को मह-मह महकाते पुष्प भी आ गये ।

सभी सखियों की समवेत लीला

अब तो सुगन्धा गुरु बन गयी । नलिनी ने सुन्दर पुष्प मन्दिर निर्माण कर दिया और प्रेमवती एवं माणिकी पुष्पासन, पुष्प शय्या, पुष्पालंकार बनाती बनाती पगली ही हो रही थीं । सुगन्धा ने मंजिष्ठा से रानी के नीले वस्त्र और पीताम्बर उस पुष्पासन पर विराजित कर दिये और रंगरागा की प्रियदर्शन की लालसा तो असीम हो उठी । और जब किसी की भी यह

लालसा असीम हो उठती है तो उसे प्रियदर्शन होते ही हैं । भाग्यवती और पुण्यपुञ्जा नृत्य करने लगीं । सुगन्धा रंगरागा से कहती है - "अरी निगोडी मेरी आँखों को अपनी आँख बनाकर देख, कुछ दिखा ? बस, रंगरागा उन्मादिनी हो जाती है, वह तो एक ही रट लगा रही है -"दिख गये री, दिख गये, मिल गये री, मिल गये ।" मंजिष्ठा भी नृत्य करने लगी । सबके पैरों मे न ज़ाने कहाँ से घुंघरू विजड़ित हो गये हैं । घुंघरू झँकार कर रहे हैं।

इन सभी पगलियों, उन्मादिनियों को होश कहाँ है । अनवरत नृत्य-गान चल रहा है । न दिन का पता है, न रात का । सबकी ऐसी विलक्षण दशा है कि यदि कोई बाहर का व्यक्ति इनमें से किसी एक को भी स्पर्श कर ले तो निश्चय ही ऐसा भाव का वेग उसमें जाग उठता है कि वह भी नृत्य करने लगता है । सम्पूर्ण रजक, मालिन, नापित एवं हड्डिप परिवार सब का सब रानी के पास चला आता है । सभी सखियों सहित रानी आकर उस पुष्पासन पर विराजित हो जाती हैं । नीलसुन्दर देव तो ऐसे अवसर खोजते ही रहते हैं। वे भी रानी के पार्श्व में ही आ विराजतें हैं । ललितारानी ने वीणा सम्हाल ली है । तुंगविद्याजी ने गायन प्रारंभ कर दिया है । विशाखा मृदंग बजा रही हैं । क्या ही भावावेश है सभी को ? जो भी होशरहित हुई जैसे ही गिरने लगती है, रानी अथवा प्रियतम सम्हाल लेते हैं उसे । रानी का अंक सभी का प्रेमाश्रय जो है । नदियाँ सिन्धु-गर्भ में ही तो समाहित होंगी ? समग्र वृषभानुपुर रानी का ही तो कायव्यूह रूप है । जहाँ से जिसका उद्‌भव है, वहीं तो वह विलय होगा । महाभाव-सिन्धु की कैसी विलक्षण तरंगें हैं ।

इन तरंगों में डूबते-उतराने का क़भी हम पामर जीवों का भी सौभाग्य होगा - निश्चय, निश्चय, निश्चय ही- रानी की चरणधूलि का आश्रय लेने वाले कृतार्थ होगें ही ।

सारिका प्रसंग

(यहाँ इस परिच्छेद में उन लीलाओं का अनुशीलन है जो, पू० गुरुदेव जब सारिका भाव में स्थित थे- उस समय उनके अनुभव में आयी थीं । पू० गुरुदेव श्रीराधाबाबा तो लीला-महासिन्धु थे। उनकी हेतुरहित महाकृपा इस महाअधम पामर जीव पर थी, जिस कृपा के वशीभूत हुए वे परम अनधिकारी मानते हुए भी यदा-कदा लीला-महासिन्धु की एकाध ऊर्मि के छींटे इस अधम जीव पर डाल देते थे । उन दो-चार ऊर्मियों का ही यहाँ पाठकों के लिये उल्लेख है । वैष्णवजन इनका अवगाहन कर अवश्य कृतकृत्य होंगे ।

पू० गुरुदेव लगभग दो-तीन मास सारिका भाव में रहे । उन्होंने मुझे अपनी तृण-भाव में जब वे वृन्दावन में थे, उस समय की भी एक लीला सुनाई थी, उस लीला का भी आगे प्रकाश किया गया है ।)

सारिका प्रसंग: प्रथम लीला

सारिका का प्रादुर्भाव

अहा-देखो ! भगवती श्रीराधारानी स्नान करने जा रही हैं । निकुञ्ज महल के चतुर्दिक् सघन कदम्ब वृक्षावली हैं । मंजरियाँ एवं सखियाँ विभिन्न कार्यों में व्यस्त हैं । कोई उबटन तैयार कर रही है, कोई चन्दन घिस रही है । कोई छोटी-मोटी कटोरियों में विभिन्न फुलेल डाल रही है । कोई श्रीप्रिया के पहनने के वस्त्राभूषणों को निकाल कर सजा रही है ।

सम्मुख कुछ ही दूरी पर गिरिस्रोत बह रहा है । घाट परम मनोरम हैं। कुछ सखियाँ रानी के पूर्व ही स्नान कर चुकीं हैं। वे घाट से लौट रही हैं। कुछ मंजरियाँ एवं सखियाँ अपना स्नानादि कार्य प्रिया से पूर्व ही सम्पन्न कर लेना चाहती हैं । वे अपने वस्त्र अपने साथ ही लिये घाट की ओर जा रही हैं । घाट तक पथ में आवागमन का ताँता लग रहा है । कोई अपने केशों में कंघी कर रही है, कोई शीघ्रता से वेणीबंधन कर रही है, कोई अपने सुन्दर रेशमी वस्त्रों को सूखने के लिय फैला रही है, कोई अपने नेत्रों में अंजन कर रही है ।

सघन कदम्ब वृक्षावली के पश्चात् जामुन वृक्षों की पंक्तियाँ हैं । जामुन के पीछे बिल्व वृक्ष लगे हैं, इधर दक्षिण में बेर हैं और आगे दाड़िम के अति मनोहारी वृक्ष हैं । पथ के दोनों ओर दाड़िम वृक्षों की शोभा विलक्षण है । आगे कदली वन हैं । सभी वृक्ष पुष्पित हैं और उनमें भ्रमर गुंजार कर रहे हैं।

इन वृक्षावलियों को चतुर्दिक् घेरे जो क्षुप्, वीरुध-श्रेणियाँ एवं लता वल्लरियाँ हैं, वे मनोहारी कोमलकिसलय समूह से घिरी हैं, और उनमें विकसित, उल्लसित एवं सुरभित, सुमन सर्वत्र आनन्द प्रवाहित कर रहे हैं ।

भावसमुद्र का अनिर्वचनीय नित्य अभिनव उच्छलन वनस्थल के वृक्ष-वृक्ष मे लता-वल्लरियों में, सुमन-सुमन में हो रहा है फिर भला रानी पार्श्व में ही

स्थित रहकर इस प्लावन का, इस भाव-प्रवाह का अनुभव न करें, यह कैसे संभव है ?

रानी अपने भाव में डूबी हैं । वे देख रही हैं - परम रमणीय वृन्दावन है । अहो, कैसी अद्‌भुत बात है कि उन की जिधर दृष्टि जाती है, उधर ही अप्रतिम अनुराग के निर्झर झर रहे हैं । सर्वत्र अप्राकृत भावोच्छ्वास की उन्मत्त पयस्विनियाँ प्रसरित हो रही हैं । वे अनुभव करती हैं कि उनके इस दृश्य जगत् के समस्त अधिवासियों की सम्पूर्ण वृत्तियां केन्द्रित हैं पूर्णतया व्रजमयंक पर ही । वृक्ष-लता-वल्लरियाँ, कीट-भृंग, स्थावर-जंगम, सबके सब अनुप्राणित हैं उनके नीलम के प्राणों से ही । सभी के प्राणों की एक ही चिर साध है - "ब्रज के चन्द्रमा ! सुखी रहो तुम ! तुम्हारे सुख-संवर्धन की भूमिका का निर्माण ही सदा हम सभी के द्वारा हो । कभी स्वप्न में भी तुम्हारे सुख का विघातक कोई भी नहीं बने ।" किशोरी विचार करने लगती है-"हाय ! इस वन में तृणों में भी जब मेरे प्रीतम नीलम के प्रति ऐसी अगाध निर्मल प्रीति है, फिर विधाता ने मुझे ऐसी कठोर वज्र के समान हृदय वाली क्यों बनाया है ? देखो ! देखो ! इन वृक्षावलियों पर बैठे शुक, सारिका, कपोत, कपोती सभी तो मुझसे श्रेष्ठ हैं, ये सभी प्राणरमण नीलमणि को अपने नेत्रों की पुतरियों में बसाये हैं । ये पक्षी ही नहीं, ये ऋतुएँ भी राशि-राशि कमलों का उपहार देने उमड़ पड़ती हैं । इन ऋतुओं की यहाँ कोई कालावधि ही नहीं है । एक भूखण्ड में प्राणवल्लभ चरण रखें तो शरद सोलह श्रृंगार किये समुपस्थित हो जाती है । तत्क्षण ही दूसरे पार्श्व के भूखण्ड पर उनके चरण रखते ही हेमन्त नवधान्यों का अम्बार लगाकर प्राणसुन्दर की अर्चना करने को अति समुत्सुक खड़ी दृष्टिगोचर हो जाती है । देखो ! नन्दनन्दन यदि मुसका उठें तो शिशिर क्यों चूके भला, वह ओसकणों की मुक्ताओं की असंख्य मालायें पिरोकर प्राणवल्लभ का पथ सजाती सम्मुख उपस्थित हो ही जाती है । और वसन्त तो उनके नेत्रों में काजल-सी सदा लगी ही रहती है । वे जिधर भी दृष्टि डालें वह कुसुमित वल्लरियों का, मुकुलित आम्र शाखाओं का वितान निर्मित कर आकुल हृदय से पुकार उठती है -"हे प्राणरमण ! हे मेरे जीवननिधि !! हे हृदयधन !!! इस आस्तृत सुमन शैया पर एक क्षण विश्राम कर लो । देखो, मैं मलय-मारुतरूप व्यजन तुम पर अपने हाथों डुलाऊँगी । इस ग्रीष्म ने जो भी श्रान्ति देकर तुम्हारा स्वेद बहाया है, वह सब श्रान्ति मैं हर लूँगी । देखो, मेरे हृदयधन ! मैं कोकिला के परम मधुर सुरीले कंठ के

'कुहू-कुहू' गान से तुम्हारा मनोभिनन्दन करूँगी । और लो ! ग्रीष्म इस एक भूखण्ड में डेरा जमाये शान्त प्रतिवाद कर रहा है । कहता है - "प्राकृत शरीरधारी मेरे स्पर्श से भले ही जलें, उन्हें मैं भले ही प्रिय नहीं लगूँ परन्तु हे, मेरे प्राणवल्लभ ! मेरे जीवनसर्वस्व !! तुम्हारे लिये तो मैं सर्वथा-सर्वथा अपना स्वभाव बदल चुका हूँ। मैने अपने तपनशील ज्वालामय वस्त्रालंकारों को अन्यत्र सुदूर दूसरे प्राकृत स्थानों में फेंककर ही तुम्हारे इस मनोरम वृन्दावन में अपने चरण रखे हैं । प्राणवल्लभ ! कालमान से गणना करके कोई भले ही कह दे कि यह ग्रीष्म है, परन्तु तुम्हारे समीप हे व्रजसुन्दर ! मेरे दाहक गुण कदापि-कदापि व्यक्त नहीं हो सकते । मेरे समस्त अस्तित्व में ही मेरे सर्वस्व ! तुम्हें वसन्त की सुषमा को भी तिरस्कृत करने वाली मनोरमता मिलेगी ।" किशोरी देख रहीं हैं - सचमुच ही ग्रीष्म ने अपने वनभाग की निराली शोभा बना दी है । अगणित निर्झरों के झर-झर शब्दों में झींगुरों की कर्णकटु ध्वनि सर्वथा दब गयी है । अहा ! ये प्रपात भी असंख्य जलकण निरन्तर उच्छलित कर, मेरे प्राणधन नीलमणि की कैसी आनन्ददायिनी सेवा करने को समुत्सुक हैं । सम्पूर्ण वनस्थली ही इन निर्झरों से सिक्त हो उठी है। मेरे प्राणप्यारे के चरणों को सुशीतलता देने के लिये हरित दूर्वा का आस्तरण सर्वत्र आस्तृत है । देखो, देखो ! ये सरितायें, ये सरोवर, ये प्रपात और कुछ भी सेवा नहीं कर सकें तो इस मलय मारुत को अपने स्पर्श से अति शीतल कर मेरे प्रियतम को सुख देने की अपनी स्पृहा तो अवश्य ही प्रकट कर दे रहे हैं । देखो ! ये पद्म, नीलोत्पल, कुमुद अपनी मकरन्द इस व्रजपुर की परिक्रमा करती वायु को सौंपकर सुना क्या निवेदन कर रहे हैं, तनिक सुनो तो - "हे सखि समीर ! तुम तो बहिन ! अमृत सहोदरा हो, तुम अपनी मन्द मन्थर गति से झुर-झुर रव उत्पन्न करती प्रत्येक वृन्दावनवासी को सुधास्पर्श कर सुखदान करती रहती हो । इसीलिये किसी भी काननवासी को ग्रीष्मकालीन सूर्य की अग्नि के ताप की अनुभूति ही नहीं होती । एक तुच्छ सी सेवा हमारी भी कर दो, न ? हमारे प्यारे नन्दनन्दन जहाँ भी हो, हमारी यह किंजल्क तुम अपने आँचल में भर कर ले जाओ और उनके चरण सरोजों में समर्पित कर देना और यदि तुम्हारा ऐसा साहस नहीं ही हो सके तो उनके चतुर्दिक् ही इसे उड़ा देना ।"

देखो ! न इन प्रपातों के प्रेम प्रयास के कारण घोर निदाघ में भी रवि की रश्मियाँ कानन के धरातल का रस-शोषण नहीं कर सकीं । सर्वत्र

हरियाली ज्यों की त्यों बनी है । यहाँ की तरुराशि, लताएँ वैसी-की-वैसी राशि-राशि कुसुमों के भार से अभी भी नमित हैं । कण-कण से सौन्दर्य का स्रोत वैसे-के-वैसे प्रसरित हो रहा है ।

देखो । ये कलरव करते विहंगम, ये मनोहर संचरण करते मृग, अपने केकारव द्वारा नीलघन को निरन्तर पुकारते मयूर, मधुर गुञ्जन करते भ्रमर, कूजन करती कोकिल, सभी तो नीलसुन्दर को अपने हृदय में बसाये हैं । इन सभी के हृदय में भले कोई भी झाँककर देख ले, सभी को विलक्षण अनुराग रज्जु में बँधे मेरे प्राणधन नीलमणि के चरणसरोरुह ही दृष्टिगोचर होंगे । इनके हृदयों में ही नहीं इनके रोम-रोम में अनन्त काल तक के लिये मेरे नीलम ने प्रेम-परवश होकर नित्य वास कर लिया है ।

"मेरे प्यार के निस्सीम कोश- मेरे प्रियतम को, मेरी अप्रतिम सुन्दर निधि को ये सभी अपने अन्तःकरणों में निरुद्ध कर चुके हैं और हाय ! मेरा जीवन कैसा वीभत्स है कि उसमें मात्र स्वसुख लालसा ही स्वसुख लालसा, आत्मपूजा ही आत्मपूजा परिपूर्ण है।"

"हाय कैसी कठोर हूँ मैं । वज्रमणि भी ऐसी नीरस एवं कठोर तो नहीं ही होती होगी । वज्रमणि को वज्रमणि से तो चूर्ण-चूर्ण किया ही जा सकता है। मेरे हृदय में लबालब भरे घोर अहंकार का तो सर्वत्र वर्धन ही वर्धन होता है, वह तो किसी भी प्रकार चूर्ण हत, होता ही नहीं । फिर ऐसे कठोर गर्व- भरे, मदयुक्त अहं को प्रीति जैसी सरस, सुकोमल भावराशि भला कैसे मसृण कर पावे ।"

वे मन ही मन अपने प्राणवल्लभ से अपने मन की वार्ता निवेदन कर उठती हैं । नित्य सुन्दर जीवनधन ही तो उसके निजस्व हैं । यह नवजलधर-श्यामल रूप ही तो उनके अणु-अणु की ऊर्जा है । नव-मेघश्यामल तत्व से ही तो उसका अणु-अणु सिक्त है । वे मन ही मन अपनी दैन्य भरी प्रार्थना अपने प्रियतम के चरणों में निवेदन करने लगती हैं - "नीलम रे ! मेरे हृदय में तो मात्र मेरा अहंकार ही अहंकार सक्रिय है । फिर भला वहाँ तुम्हें स्थान कैसे मिल पावे ? मेरा चित्त इतना मलिन है कि प्राणवल्लभ ! तुम्हारी स्मृति मेरे चित्त को छू ही नहीं पाती । बहुत प्रयास से किसी प्रकार तुम्हारी स्मृति करती हूँ, तो वह स्थिर नहीं रह पाती ! भोग-वासनाओं की चंचलता उस स्मृति को, स्मृतिरूप तुम्हारे इन महामरकतद्युति अंगों को, तुम्हारी श्यामल सुकुमार छवि को मेरे हृदय देश में अंकित ही नहीं होने

देती। प्राणाराम ! अब बोलो ! मुझ महातुच्छा महा-महानगण्या के पास तुम्हें देने को बचा ही क्या है ? हाय ! हाय !! तुम्हारी स्मृति और तुम्हारे चिन्तन से शून्य मेरे जीवन को धिक्कार है।"

"मेरे नेत्रों में जब तुम्हारी मूर्ति ही नहीं ठहर पाती है तो ये निरर्थक नेत्र फिर जलनिधि में रहने वाली सीपी नामक जीव के शव ही तो हैं, जब मेरे श्रवणरंध्रों में तुम्हारा वेणुरव, तुम्हारी मधुस्यन्दिनी गिरा ही प्रवेश नहीं कर पाती तो इन श्रवणेन्द्रियरूप विषम गह्वरों को तप्त तैल से सम्पूरित कर देना ही तो उचित है । तुम्हारे अधर-सुधा-सिक्त प्रसाद से शून्य पदार्थों से तृप्त होती मेरी जिह्वा, मात्र प्रेत भोजन से ही तो इस उदर कुण्ड को भरती है। तुम्हारे जैसे अप्रतिम नील कल्पतरु के आश्रय से हीन मेरा जीवन सत्य ही दारुण नरकों की भट्टी में तपाने योग्य है । ये सब शुक, सारिका, भृंग, कीट, पशु, द्रुम, लताएँ ही मुझसे तो श्रेष्ठ, श्रेष्ठतर हैं । अहा ! यदि मैं सारिका ही हो जाती और वन-वन डोलकर तुम्हारी मुखश्री देखती रहती तो भी कितना अच्छा होता ? यह सारिका सचमुच ही धन्य है जो निरन्तर इधर-उधर फुदकती यावद्दिवा-निशा **'साँवर, साँवर, नीलमणि, नीलमणि'** रटती रहती है। इसकी वाणी प्रिय के नामस्मरण से क्षणार्द्ध के लिये भी विरत नहीं होती । यह न तो अन्य भाषण जानती है, न ही अन्य कुछ भी देखना-सुनना । इसके नेत्र सदा ही अर्द्धनिमीलित रहते हैं । क्योंकि वे प्रियतम श्यामसुन्दर की छवि से भरे छलकते रहते हैं । अहो ! सारिके, तू धन्य है ! तू सचमुच ही धन्य है।"

रानी **"अहो सारिके तू धन्य है, तू सचमुच धन्य है"** रटती-रटती बाह्यज्ञानरहित हो जाती है । वे गहन प्रेमसमाधि में प्रवेश कर जाती हैं । उसी समय एक विलक्षण घटित होता है । रानी की उन्मुक्त-वेणी, बिखरी घुँघराली श्यामल केशराशि से एक सारिका प्रकट हो जाती है । वह रानी के सम्मुख ही एक स्वर्ण चौकी पर आसीन हो जाती है । वह विस्फारित नेत्रों से रानी की स्तुति करने लगती है :-

"धन्य ! धन्य !! हे महाभागवत विलक्षण-दैन्य-सुभूषित-मूर्ति प्रियतमे वृषभानुतनये, तुम्हारी चरणरज को कोटि-कोटिशः वंदन । हे महाभाव जीवने! तुम्हें पुनः पुनः अनन्तशः नमन ।" यह कहती हुई वह रानी की चरणधूलि को अपने सम्पूर्ण अंगों में अपने पंखों से उछाल-उछाल कर डालती है । फिर अतिशय सुमधुर सरस वाणी में बोल उठती है :-

"मेरी प्राणेश्वरी ! मैं तो तुम्हारी ही रोमावली से प्रकटी तुम्हारी ही मानसस्परुपभूता हूँ । अतः ढूँढने जा रही हूँ, तुम्हारे पीत कलेवर के ग्राहक को । अवश्यमेव वह होगा यहीं कहीं अवगुण्ठित । अपनी प्राणप्रिया के भावामृत का पान-लोलुप - वह कहीं सुदूर प्रस्थान कर ही नहीं सकता ।

"प्रिये ! जैसी विलक्षण भावमयी तुम हो, वैसा ही अप्रतिम रसराज वह तुम्हारा प्रियतम भी है । अवश्यमेव वह भी यहीं कहीं किसी एकान्त कुञ्ज कुटीर में दैन्योक्तियों से अपने चित्त का प्रेमामृत अपसारित कर रहा होगा। तुम्हारी चरणरज की वन्दना करता वह भी अवश्यमेव अपने को दीन, नगण्य, मलिनता का पुञ्ज अनुभव करता हुआ तुम्हारी असमोर्ध्व करुणा की भिक्षा माँग रहा होगा । अपने को असहाय सर्वदोषों की प्रतिमा समझता हुआ वह मुझे अवश्य यहीं-कहीं तेरे आश्र्व-पार्श्व में ही उपलब्ध होगा, मैं उसे ही लेने जा रही हूँ और तेरे सम्मुख उपस्थित कर दे रही हूँ, उसे सम्हालना और अपने प्राणों में बसा लेना । मैं तो तुम दोनों की ही चरणदासी हूँ, तुम्हारे दुलारभरे संरक्षण की आकांक्षिणी हूँ । अपनी चरण कञ्ज-किंजल्क-कणिका से निरवधि अभिषिक्त करती रहना मुझे ।"

यह कहती वह सारिका रानी की स्मृति को हृदय में बसायें, रानी की परिक्रमा कर सुदूर वन में उड़ गयी। यह सारिका कौन है ? पहचानते हो ? यही हैं परम पू० गुरुदेव - श्रीराधाबाबा जो पूज्यों के सर्वपूज्य श्रीपोद्दार महाराज की चरण-रज-कणिका की कृपा पाकर कैसे विलक्षण सौभाग्य का वरण कर चुके हैं । उनका हृदय-देश अतिमनोरम प्रीति-संसार के दृश्य देखता हुआ महाभावजन्य आवर्तों के स्पंदन में निरन्तर धड़कता रहता है । धन्य ! धन्य !! धन्य !!!

सखी चन्द्रावली के कुञ्ज में

सारिका के रूप में प० पू० गुरुदेव उड़ते जा रहे हैं। कहाँ जायेंगे अन्ततः। जीव-समुदाय की अन्तिम गति नन्दनन्दन ही तो हैं। पू० गुरुदेव सारिका के रूप में उड़ते हुए विचार करते जा रहे हैं। उन्हें प्रियतम नन्दनन्दन के लीला-विलास की आड़ में दो वस्तुओं के दर्शन हो रहे हैं। सारिका बने वे, व्रजराजकुमार के असमोर्ध्व ऐश्वर्य एवं माधुर्य में झूलने लगते

हैं -" एक ओर तो आप सर्वकारण कारण हों; पर साथ ही उसी समय इस व्रजवृन्दावन में आप मेरी प्राणप्यारी किशोरीरानी के प्राणवल्लभ भी हो। आप सर्वथा सर्वविकार रहित हो; पूर्णतया सच्चिदानन्द विग्रह हो आप। परन्तु ओह ! विरह की वेदना से अभिभूत होकर क्रन्दन करते हुए किस प्रकार दीन हुए आप अपनी प्राणप्रिया की पावन चरणरेणु के याचक भी हो उठते हो।"

"यह भी सत्य है, प्रपंञ्च के दोषों की गन्ध भी आप में नहीं है। परम विशुद्ध हो आप ! फिर भी निजप्रिया के तनिक से मान में आप इतने काम-व्यथा से पीड़ित हो उठते हो, और चरम दैन्यावेश को ग्रहण कर लेते हो कि यदि कोई आपकों साधारण जीव मान ले इसमें आश्चर्य ही क्या है। एक किशोर युवक की ही तरह जागतिक प्रणयभाव के अनुरूप ही आप सदा अपने लीला विलास का विस्तार करते रहते हो। जागतिक भावों के स्रोत से ही संगमित आपकी लीला-मन्दाकिनी निरन्तर प्रसरित होती रहती है। यद्यपि यह जागतिक स्थिति भी है अप्राकृत ही। आपका स्वरूप, ऐश्वर्य, माधुर्य, लीला-विलास सभी अचिंत्य एवं अतर्क्य है प्रियतम। आपको मन-बुद्धि के द्वारा कोई कुछ भी जान ले, यह सर्वथा असंभव है। आपका नित्य प्रत्यक्ष दर्शन पा लेने पर भी मेरी चक्षु आदि इन्द्रियों के लिये आप सदा अगोचर ही बने रहते हैं।"

इस प्रकार विचार करती सारिका विशाल तपनतनया के तट पर पहुँच जाती है। अहा ! कालिन्दी का कर्पूर-धूलि-पटल सदृश कैसा निर्मल तट प्रदेश है। इन दोनों तटों के मध्य कैसी गंभीर धारा में कालिन्दी बह रही है। सारिका दोनों तटों के किनारे-किनारे उड़ती चली जा रही है। और लो ! सारिका पहुँच गयी सखी चन्द्रावली के कुंज में।

नव-नव शोभा धारण करने वाले, अत्यन्त रहस्यपूर्ण इस कुंज का कहना ही क्या है , जिधर दृष्टि जाती है, उधर ही शोभा की राशि बिखर रही है। सारिका सोच रही है कवि की कल्पना आज सत्य ही हो गयी है। कवि की अभिव्यंजना का काल्पनिक रूप आज यहाँ प्रत्यक्ष मूर्त्त है। कवि जब कभी शुक-पिक आदि कलकण्ठ वन-विहंगमों की काकली सुन पाता है तो उसे कल्पना राज्य में अनुभूति होती है, यह काकली नहीं यह तो संगीत की स्वरलहरी है। उसके नेत्र मन्द समीर-संचालित लता-वल्लरियों के स्पन्दन को नृत्य के रूप में ही अनुभव करते हैं। मेघ के समागम से पृथ्वी पर उठी हुई अंकुर राशि को देखकर कवि को यह भान होता है कि ये अंकुर नहीं, यह तो

हर्षवश धरासुन्दरी को रोमाञ्च होने लग गया है। अपनी इस अनुभूति को वह काव्य में गुम्फित कर देता है। परन्तु उसकी यह अनुभूति सार्वजनीन नहीं हो पाती। जन-साधारण के लिये विहंगम-काकली, लता-स्पन्दन, भूमि का अंकुरोद्गम - सभी ज्यों के त्यों बने रहते हैं। किसी को इनमें गान, नृत्य एवं रोमाञ्च का अनुभव कदापि नहीं होता। कवि की कल्पनाएँ कागद पर मात्र मसिचित्र ही बनकर रह जाती हैं- ये सत्य बनकर प्रकट नहीं होतीं। किन्तु कदाचित् किसी के नेत्र प्राकृत जगत से ऊपर उठ जाते, वाग्वादिनी भी कमलयोनि द्वारा सृष्ट जगत को भूलकर कहीं नित्य चिन्मय वृन्दावन को देखने लग जाती, इस समय सारिका के साथ इस चन्द्रावली कुंज के दर्शन कर लेती, और वीणधारिणी के नेत्रों में नेत्र मिलाकर कवि भी, और उसके साथ ही साधारण पाठक, श्रोता भी कहीं इस चन्द्रावली कुञ्ज के एक भूखण्ड को ही देख पाते, तो वे सभी यही कहते कि यह कवि की कल्पना नहीं सत्य का मात्र एक क्षुद्र अंश ही है।

यहाँ इस चन्द्रावली कुंज में विहंगमों की काकली, काकली नहीं रही है। यथार्थतः ही वह संगीत की मधुर रागिणी ही बन गयी है। आज तरु शाखाओं से लिपटी लता-वल्लरियाँ पवन-संचरित होकर स्पन्दित हो रही हों - यह बात नहीं, अपितु वे प्रियतम प्राणवल्लभ को पाकर उनके दर्शन से समुल्लसित हुई सचमुच ही नृत्य कर रही हैं। भूमि पर अंकुर राशि उग आयी हो, सो बात नहीं, सत्य, सत्य ही वृन्दा कानन को धारण करने वाली धरा की अधिष्ठातृ श्रीकृष्णचन्द्र के चरण-स्पर्श से रोमाञ्चित ही हो रही हैं। ये गायन, नर्तन, पुलकोद्गम कवि की कल्पना नहीं काव्यशास्त्र के रूपक, अलंकार भर नहीं, ये तो चिदानन्द-परब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीकृष्णचन्द्र के वृन्दावन में पदार्पण से व्यक्त होने वाले स्वाभाविक परम सत्य परिणाम हैं। प्राकृत नेत्र, मन इन्हें भले ही नहीं देख सकें इनका अनुभव नही कर पावें किन्तु श्रीकृष्णचन्द्र के कृपा-कण से पूत हुए दिव्यशक्ति विशिष्ट नेत्रों के लिये तो ये नित्य सत्य हैं।

यह चन्द्रावली कुंजस्थली सचमुच ही इस समय एक अभिनव गान, नृत्य, एवं पुलकोद्गम आदि अगणित आनन्द अनुभावों से परिपूर्ण हो गयी है। अरण्य का अणु-अणु अपने में न समाते हुए आनन्द को विभिन्न अनुभावों से व्यक्त कर रहा है।

तो इस चन्द्रावली कुंज में क्या प्राणवल्लभ भी हैं ? सारिका मन-ही-मन जिज्ञासा करती है। सारिका को जिज्ञासातुर पाकर एक हरिणी अपने नेत्रों के कोण से संकेत कर देती है । लो, ये रहे प्राणजीवन नन्दतनूज। प्राणवल्लभ अपनी प्राणप्रिया चन्द्रावली को उसके ही कुंज के एक-से-एक सुन्दर स्थानों का दर्शन करा रहे हैं। देखों ! इनके दक्षिण भाग में सटी-सटी चन्द्रवली कैसी शोभाशालिनी बनी फब रही हैं ? मानों इस निकुंज के अधिपति वे ही हों, उनका ही वह कुंज हो, इस प्रकार यहाँ के अण-अणु से प्रियतम अपना परिचय प्रकट कर रहे हैं। प्रियतम अपनी प्रिया चन्द्रावली के दक्षिण स्कंध को छूते हुए नव-नव निकुंजस्थली की ओर, लता-पल्लव जाल से आवृत सुरम्य वनस्थली की ओर संकेत करके ले जाते हैं एवं उसे यहाँ वहाँ सूक्ष्मता से सभी स्थानों की शोभा दिखलाते हुए अतिशय हर्षित हो रहे हैं। दल के दल मयूर, मृग, अपनी भंगिमा से शुभ शकुन की सूचना देते हुए प्रियतम के सम्मुख आते हैं, ललक भरे नेत्रों से उनकी ओर देखते हैं, कुछ क्षण ठगे-से देखते ही रह जाते हैं, फिर अपने दूसरे सहजनों को सूचना देने, मानो चौकड़ी भरते, नृत्य करते सघन वन की ओट में छिप जाते हैं।

लो ! चन्द्रवली की परिचारिकाएँ आ गयीं। ये प्रियतम को पुष्पकुंज में ले जाना चाहती हैं। अहा, क्या ही सुन्दर पुष्पकुंज निर्माण किया गया है सम्पूर्ण कुञ्ज ही चम्पा, चमेली, बेला एवं मोगरा पुष्पों से ही बना है। अहा, मध्य-मध्य में नीलकमल, रक्तपद्म, पीत सरसिजों को अतिशय कलात्मकता से विजड़ित कर इस कुंज को अभिनव सुन्दर सज्जित किया गया है। अहा ! इस पुष्पकुंज के मध्य कैसी मनोहर पद्म शय्या है। लो ! नीलमणि प्राणाराम आते ही इस पद्मपर्यंक में विराजित हो गये। इनके चरणप्रान्त में आसीन हो गयी चन्द्रावली।

सारिका अपने बैठने के उपयुक्त स्थान की खोज में पुष्पकुंज की एक परिक्रमा करती है। अन्ततः उसे एक गवाक्षिका उपयुक्त समझ में आती है और वह चुपचाप अपने नेत्रों को नचाती-घुमाती, सब कुछ देखती, वहाँ निस्पन्द बैठ जाती है। गवाक्षिका खुली है और वहाँ से पुष्पकुंज के भीतर का सब दृश्य उसे दिखाई पड़ता है। सारिका के कान इतने संवेदनशील हैं कि शब्द चाहे कितनी ही मन्द ध्वनि से बोले जावें, उसे सुनाई पड़ ही जाते हैं।

परिचारिकाओं के अनुरोध से बाध्य होकर, शैव्यादि सखियों की मनुहार से द्रवित होकर प्रियतम चन्द्रावली के सहित इस पुष्पकुंज में आ तो गये परन्तु, उनकी दृष्टि एवं मन तो बार-बार जा रहा है - गिरि गोवर्धन के चरणप्रान्त में जानेवाले तरु-लता-मण्डित सुरम्य पथ की ओर ही। गिरि गोवर्धन को देखकर उन्हें उसके सुन्दर परिसर में स्थित अपनी प्रिया के नामधारी कुंड की स्मृति हो आती है और तब अपनी अति सरल, मुग्धा प्रिया की स्मृति में वे डूब ही जाते हैं। परम तीव्र गतिशील मृगशावक की तरह उनका चंचल मन उस अतिशय आकर्षक भूधर परिसर में जाकर वहाँ रम जाता है।

प्रिया राधा की स्मृति में तल्लीनता एवं विरह-क्रन्दन

अरे भाई ! प्राणवल्लभ नीलसुन्दर तो अपनी प्रिया के कुंडों की स्मृति में ऐसे रम गये कि मानों किसी योगी ने समाधि ही लगा ली हो। देखो, देखो, कैसी स्थिर दृष्टि कर ली है उनके नयनों ने। श्वास-प्रश्वास कितनी मन्दगति सें चल रहा है। सखी चन्द्रावली के तो प्राण ही सूख गये हैं। हाय, हाय ! उसकी अति सुन्दर विकसित पद्म के समान मुख शोभा को तो मानों खग्रास -ग्रहण ही लग गया हो। शैव्या प्रियतम के उपचार में रत है। लो, प्रियतम दीर्घ निश्वास छोड़ने लगे। उनके नेत्र भी अश्रु-मोचन करने लगे। चलो, समाधि शिथिल तो हुई। उस समय तो ऐसा भय उपस्थित हो गया था कहीं यह समाधि महासमाधि में परिवर्तित नहीं हो जाय। खुली गवाक्षिका से दृश्य देखती, एकबार तो सारिका भी ललिता रानी को सूचित करने को उद्यत हो उठी थी।

"अरे ! अरे ! प्राणवल्लभ तो करुण रुदन करने लगे। क्या हो गया है इन्हें। इनके नेत्रों से अश्रुका प्रवाह बह चला है।" सारिका के हृदय के लिये यह पीड़ा असह्य होती जा रही है। उसकी बुद्धि का संतुलन नष्ट हो रहा है। सँभलने की शक्ति ही उसमें नहीं रह पा रही है। उसका तो सर्वस्व समर्पित है - मात्र प्रियतम के लिये।

इधर चन्द्रावली, शैव्या आदि सखियाँ भी परम विकल हैं। प्रियतम सुख ही तो इन सबकी भी साध है। इनकी सब चेष्टाएँ हैं तो मात्र प्रिय-सुख के ही लिये। इनके धन हैं केवल प्रियतम, इनका तन है मात्र प्रियतम-सुख

-सेवा-सामग्री। इनके कुञ्ज, श्रृंगार, प्रसाधन, इनका हास-विलास, इन्द्रिय-सुख के लिये तो सर्वथा-सर्वथा नहीं है। प्रियतम के सर्वाधिक सुख-दान के उपकरण मात्र ही तो हैं ये सब। इनमें तो अन्य कोई भी इच्छा नहीं, वासना नहीं, स्वसुख की कोई रुचि नहीं, कोई कल्पना हीं नहीं - फिर निज अभिलाषा का तो प्रश्न ही नहीं उठता। उनकी भीतिभरी आँखें लगी हैं प्रियतम के अति विषादपूर्ण मुख की ओर। आखिर इन्हें हो क्या गया है? अभी-अभी तो ये परम प्रसन्न एवं आनन्दित थे। हँसत-मुसकाते ही तो कुंजभवन के पुष्पमन्दिर में प्रवेश किया था, इन्होंने। कितने उल्लसित थे, जब सर्वत्र भ्रमण करते हुए वनदर्शन कर रहे थे। अचानक ही इनके नेत्र निमीलित हुए, तब स्पन्दहीन और शान्त हो गये थे।

कुञ्ज के पशु-मृग-मृगी, आदि भी प्रियतम की करुण-क्रन्दन ध्वनि सुनकर एकत्रित हो गये। विहंगमों के समूह ने भी कलरव करना स्थगित कर, वृक्षों पर अपना आसन जमा लिया, फुदकना भी उनका कुछ काल के लिये तो विरमित ही हो गया है। मानों कुंज के सभी स्थावर-जंगम जीवों के उल्लास और आनन्द का अवसान ही हो गया हो।

सारिका अपने प्राणवल्लभ की अति वेदना-भरी वाणी सुन रही है। उसका हृदय फट नहीं पड़ता, शेष कुछ भी बचा नहीं है। प्राणों ने सम्पूर्ण शरीर से चेतना हटा ली है। समस्त चेतना सिमटकर कर्णेन्द्रियों में आगयी है। कुछ थोड़ी चेतना नेत्रेन्द्रियों में केन्द्रित है, जिससे नीलसुन्दर - उसके प्रियतम का वेदनाभरा मुख दिखाई पड़ता रहे। सारिका के श्रवण अपने प्रियतम की वाणी सुन रहे हैं-

"प्राणेश्वरी ! मेरे प्राणों की प्राण ! मेरी जीवन सर्वस्व !! तुम कहाँ हो ? हाय ! मुझे छोड़कर क्यों एवं कहाँ चली गयी हो तुम? अरी ललिते ! ओह विशाखे !! हे चित्रे !!! अहो चम्पकलते !!!! अरी गुण, ओ रंग, अहो रूप, रति, अशोक !!!!! कोई उपाय करो, मेरी प्राणों की रानी राधा को शीघ्रातिशीघ्र मुझसे मिलाओ। मैं निरवधि तुम्हारा ऋणी, दास, सेवक रहूँगा।"

"रे शुक ! अहो सारिके !! हे कोकिल !!! तुम ही उठो, जाओ, मेरी रानी को मेरी विरह दशा सूचित करो, उसे शीघ्रतापूर्वक यहाँ ले आओ। यदि वह नहीं आवे तो मेरे प्राणों को इस तन से पृथक् कर उसके पार्श्व में पहुँचा दो। हाय ! कैसी विषम भयावह पीड़ा मेरे प्राणों को मथ रही है। अहो प्राणेश्वरी, तुम कहाँ हो ?" प्रियतम इतना करुण प्रलाप कर रहे हैं कि उनकी

वाणी से हाहाकार का रव निःसृत होकर बाह्य परिवेश को भी विकल कर रहा है। उनके नेत्रों से अनर्गल अश्रु-प्रवाह विसर्जित हो रहा है।

इधर सखी चन्द्रावली में शान्ति का लेश भी नहीं रहा है। वे बाहर से भीतर, भीतर से बाहर आती-जाती कभी शैब्या, कभी किसी अन्य सखी को पुकारती हैं। वे महिष-श्रृंग के वर्ण के समान काली पड़ गयी हैं। सहस्रों राकाशशि की आभावाला उनका मुख सर्वथा निस्तेज हो गया है। कृष्णगतप्राणा, कृष्णाविष्टहृदया चन्द्रावली परमाकुल हैं। उनमें तो सदा प्रणयसिन्धु ही उद्वेलित होता रहता है। पारावारविहीन प्रणयसागर में ही, उसकी उत्ताल लहरियों में ही वे अब तक अवगाहन करती रहीं हैं। अपना सर्वस्व न्यौछावर करते हुए अपने प्राणप्रियतम की सुख कामना करती रहना ही तो उनका जीवन है। एक साथ दुःख, ग्लानि, प्रेमहीनता, शोक आदि भावों के भार से अभिभूत हुईं वे प्रकृतिस्थ रह सकें यह कैसे संभव है ?

वे अपने प्रियतम-प्राणवल्लभ को धैर्य दिलाने, उनका चित्त अपने रूप, सौन्दर्य और प्रेम से आकृष्ट करने का अनवरत प्रयत्न करने पर भी इस समय सर्वथा असफल ही हो रही हैं। सभी सखियाँ प्रियतम की ऐसी विकल दशा देखकर अतिशय व्यग्र हो उठी हैं।

"हाय रे विधाता ! तू कितना क्रूर है। हमारे प्राणनाथ को यह क्या व्यथा इस सुख अवसर पर हो गयी ? सचमुच ही विक्षिप्त चित्त हो उठे हैं ये। चिन्ता का तार बँध गया है सबके मन में। सबके नेत्र अश्रु से भीगे हैं।

परन्तु प्राणमोहन के कर्णपुटों में तो किसी का कोई स्वर प्रवेश ही नहीं कर पा रहा है। वे तो अविराम 'राधा-राधा-राधा' की रट लगाये हुए हैं। उन्हें तो इस समय यही प्रतीत हो रहा है जैसे उनके वस्त्र, आभूषण, उनका मुकुट, हार सभी मात्र श्रीराधारानी ही हैं। वे ही उनके अंग अंग में सजी हैं। राधारानी ही कर्त्ता हैं और वे ही उनके कर्म हैं। राधारानी ही उनकी तन-मन-धन सब कुछ हैं और वे ही उनकी मात्र धर्म हैं। रानी ही उनकी श्वास-प्रश्वास एवं प्राण हैं। रानी ही उनकी मन हैं, मन के सम्पूर्ण मनोरथ हैं, रानी ही उनकी भूत, भविष्य एवं वर्त्तमान की परम एवं चरम वांछित विभूति हैं। वे ही उनका लोक-परलोक हैं, वे ही उनकी अन्तिम एवं परम गति हैं।

चित्रपट दर्शन से विरह शान्ति

लो, चन्द्रावली सखि के संकेत से धनिष्ठा दौड़कर किशोरीरानी का चित्रपट उठा लाती हैं। चन्द्रावली सखी बरसते नेत्रों से रानी के चित्र को प्रणाम करती हैं, हृदय से लगाती हैं और उस चित्र को प्रियतम-प्राणवल्लभ नीलसुन्दर के सम्मुख, उनके नेत्रों के समक्ष कर देती हैं।

अहा ! उस चित्र के नेत्रों के सम्मुख होते ही प्रियतम कैसे आनन्द-विह्वल हो उठते हैं। विरहानल से संतप्त प्राणप्रियतम की सम्पूर्ण इन्द्रियाँ समवेत हुई समुदित शशधर की रूपसुधा का पान करने नेत्रद्वारों में एकत्रित हो जाती हैं; मानो प्रेमिल चातक नवघन को सहसा सम्मुख पाकर हर्ष-स्तम्भित हो उठा हो। अहा ! प्रियतम आनन्दनिमग्न हो जाते हैं। परम सुखद, अतिशय शीतल, शंतम, सौन्दर्य-सुधासिन्धु में प्राणवल्लभ अवगाहन करने लगते हैं। उनके अवगाहन की कल्पना तो वही महाभाग्यवान कर सकता है जिसके नयनों में, सौभाग्यवश कभी वह अचिन्त्य रूपसुधोदधि उच्छलित हो उठा हो। प्रियतम-प्राणवल्लभ प्राणरमण के तन-मन की सम्पूर्ण ज्वाला पलक पड़ते-न-पड़ते प्रशमित हो जाती है -- उनकी असह्य, अथाह विरह वेदना, सदा सदा के लिये जैसे विलीन ही हो गयी हो। मूर्त्त प्रेमानन्दस्वरूपा, प्रिया राधारानी के मात्र चित्रपट का ही संस्पर्श पाकर उनके हृत्तल का अनुरागसिन्धु अनन्त, अपरिसीम, ऊर्मियों से परिपूरित हो उठता है। जैसे उनकी सम्पूर्ण साध पूरी हो गयी हो। वे अतिशय आतुरता से उस चित्रपट को अपने हाथों में ले लेते हैं एवं उसे अपने उरस्थल से सटा लेते हैं। दो चार पल बीतते न बीतते उनके होठों से मधुर स्वर निःसृत होने लगता है- "प्राणों की रानी ! तुम अहर्निश यों ही मेरे हृत्तल में निवास करती रहना। प्राणसंजीवनी हे ! कभी क्षणभर भी मेरा परित्याग करके मत जाना। मुझसे कभी पृथक् मत होना भला।"

विस्मय-विस्फारित नेत्रों से देख रहीं हैं, चन्द्रावली एवं उनकी सहचरियाँ, शैब्या, धनिष्ठादि-प्रियतम के प्रिया-प्रेम को। उनके उरस्थल में ग्लानि का घटाटोप तमस् छा जाता है; सभी प्रिया राधारानी के सम्मुख अपने प्रेम-प्यार को सर्वथा तुच्छ हेय अनुभव करने लगती हैं। सभी मन ही मन अपने को धिक्कृत करने लगती हैं।

लो, क्षण बीतते-न-बीतते नीलचन्द्रदेव, प्राणरमण प्रकृतिस्थ हो गये। अपने कपोलों पर बहती मृदुलारुण नयनों की प्रेमाश्रुजलधारा का मार्जन किया उन्होंने अपने पीत दुकूल से।

चन्द्रावली एवं शैब्यादि उनकी प्राणसखियाँ भी बिलखती उनके चरणों में आ गिरीं। आत्यन्तिक औदास्य की छाया सुव्यक्त थी उन सबके मुखमंडलों पर।

आश्वासन-दान

लो, परम रसज्ञ, रसिकशेखर, रसविद् प्रियतम-प्राणवल्लभ का अब तो व्यावहारिक ज्ञान भी क्रियाशील हो उठा। यथाकाल, यथापरिस्थिति उन्होंने अपनी प्रियाओं को अपने निराविल स्नेह का दान भी कराया। आश्वासन-दान में कोई भी त्रुटि नहीं रही। मृदुल हास्य का पुट देकर वे कहने लगे -- "अरी मेरी प्राणप्रिया चन्द्रावली ! मैं तुम्हें सदा अपने नेत्रों में ही बसाये रखता हूँ। तुम मेरी अप्रतिम सुन्दर निधि हो। इस व्रजमंडल में तुम्हारे समान रूपवती अन्य कोई भी युवती नहीं है। परन्तु इस रहस्य को मैं अन्य किसी के भी सम्मुख प्रकट करना नहीं चाहता। किसी अनमोल वस्तु के स्वामित्व को प्रकट करना भयप्रद होता है री ! उसके छिन जाने की संभावना हो जाती है। इसीलिये तुम्हारे प्रति मेरे प्रेम की, मैं किसी को गन्ध भी नहीं लगने दूँ - ऐसी मेरी प्राणों की लालसा मुझमें नित्य भरी रहती है। परन्तु मेरी प्यारी चन्द्रावली, तुम सदा ही विश्वस्त रहना तुम मेरे हृद्देश में नित्य विराजित थीं विराजित हो एवं सदा ही एकछत्र विराजित रहोगी।"

"अरी मेरी प्राणप्रिया चन्द्रावली ! मैं तुम्हारा ही प्राणनाथ हूँ। तुम सभी तनिक भी संकोच मत करना री ! चिन्ता का सर्वथा परित्याग कर देना। देखो ! मैं एक दिवा-स्वप्न देखने लगा था। यह सब व्याकुलता उस दिवा-स्वप्न का ही परिणाम थी और उस क्षण मुझे शरीर की सुधि भी नहीं रही थी। देख री ! इस पुष्पकुंज-मन्दिर में प्रवेश करते ही एक अभिनव रस-महासमुद्र में मेरी बुद्धि का अध्यवसाय ही निमज्जित हो गया। तेरे मुखचन्द्र के सौन्दर्य ने मेरे चित्त को बरबस उसमें डुबो दिया फिर तो मेरी सम्पूर्ण अहंता ही डूब गयी -- विश्वविमोहन तेरे राका-शशधर-मुख की निर्मल शीतल चन्द्रिका में।"

"क्योंकि तेरा परम प्रेममय नाम तो मेरे हृदय मन्दिर से, उसके परम सुगुप्ततम कोषागार से - प्रेम-कपाटों के विजड़ित रहने के कारण - बाहर आ नहीं पाया, अतः मैं तुझे ही 'राधा-राधा' कहता पुकार रहा था। सत्य ही चन्द्रावली ! मेरे नयनों की श्याम पुतलियाँ राधा के अणु-अणु में तेरी अनिंद्य सुन्दर रूप-राशि ही भरी देखती हैं। वे कहीं भी, किसी में भी तेरे सिवा अन्य किसी भी वस्तु को देख सकें ऐसी स्थिति उनकी रही ही नहीं। केवल तेरा ही त्रिभुवनमोहन रूप प्रतिबिम्बित रहता है वहाँ।"

"प्यारी चन्द्रावली ! मेरे जीवन का क्या रूप हो गया है री ! कैसी दशा कर दी है तेरे प्रेम ने मेरी, क्या बताऊँ ? तूने मेरे श्रवणपुटों में अपनी मनोहारिणी गिरा भर दी है। तेरे अधरों से निःसृत स्वर की झंकृति के अतिरिक्त, मैं अन्य कुछ सुन ही नहीं पाता।"

"मेरे नासारन्ध्रों में सदा तेरे श्रीअंगों का सौरभ ही परिव्याप्त रहता है; अन्य समस्त सौरभ सारहीन हो गये हैं ! परिणाम यह होता है कि तेरी सन्निधि में मैं सचमुच विवेक खो बैठता हूँ। और तेरे प्रेम की अनमोल निधि को सुगुप्त रखने की चेष्टा में व्याकुल हुआ 'राधा-राधा' पुकार कर उठता हूँ। तुम भली प्रकार जानती हो कि यह सब तभी होता है जब मुझे शरीर की सुधि नहीं रहती है। तुम विश्वास करना, भला। मैं तुम्हारी अपनी से अपनी वस्तु हूँ। मैं तुम्हारा प्राणनाथ हूँ और तुम सभी मेरी प्राणप्रियतमा हो।"

इस प्रकार प्रियतम नीलमणि किञ्चित् कपट सत्य का प्रयोग करते हुए शैव्या, धनिष्ठादि सभी सखियों को आश्वस्त करने की चेष्टा करते हैं। परन्तु उनके इस चतुर वाग्जाल का प्रभाव क्या चन्द्रावली आदि साखियों के हृदय में पड़ता है ? कदापि नहीं।

शैव्या द्वारा प्रिया राधारानी के प्रेम-दर्शन का आग्रह

और शैब्या तो प्रियतम नीलमणि से प्रश्न ही कर उठती है- "यह अकाटय अखण्ड सत्य है कि प्राणवल्लभ, तुम प्राणप्रिया राधा से ही सर्वाधिक स्नेह करते हो। उनके प्रेम की तुलना में हम सभी भानु के सम्मुख खद्योत की तरह सर्वथा नगण्य, तुच्छ ही हैं। हम उनकी अतिशय प्रेमगरिमा से सचमुच सत्यांश में अभिभूत हैं। निश्चय ही वे तुम्हें अतिशय सुखदायिनी हैं, तभी न तुम्हारा उनके प्रति ऐसा असमोर्ध्व अनुराग है। परन्तु प्राणवल्लभ,

तुम्हारे प्रति उनके सर्वत्यागमय प्रेम के हमें दर्शन तो कराओ, एक झाँकी तो उनके प्रेम-स्वरूप की हमें भी हो, जिससे उस महा-महात्यागमय प्रेम को हम सभी अपने जीवन में उतारने की चेष्टा तो करें। उनके उस रस-महासमुद्र में अवगाहन तो हमारा प्रारब्ध नहीं ही है, हम मात्र उसके दर्शन तो प्राप्त कर सकें, उसकी एक निर्मल झाँकी तो हमें मिलसके, जिसके फलस्वरूप तुम उसके इतने वशवर्त्ती हो रहे हो।"

और, प्राणवल्लभ क्या उत्तर दें -- वे मात्र मुसका उठते हैं।

अपनी प्रिया चन्द्रावली की ग्लानि और उसके चित्त में जड़ीभूत हुए विषाद को दूर करने के लिये वे निर्णय कर लेते हैं कि कुछ दिवस वे अपनी प्रिया से मिलेंगे नहीं। यद्यपि उन्हें इस अभिनीत आचरण से असीम प्राणान्तक कष्ट होगा, परन्तु असमोर्ध्व प्रेमी स्वभाव जो है, उनका।

विलक्षण है प्रियतम-प्राणवल्लभ का प्रेम स्वभाव। अपनी प्रियाओं की घनीभूत प्रेमप्रतिमा ही तो वे हैं। अपनी प्रियतमाओं की नित्य-नवीन-सुख-सामग्री बने रहने की लालसा ही उनके हृत्तल को प्रतिक्षण आलोड़ित किये रहती है। उनका चित्त चञ्चल रहता है अपनी प्रियाओं के सुखसम्पादन में ही। अपनी प्रिया चन्द्रावली को सुखानुभूति हो जाय और उसका यह सुखानुभव प्रियतम प्राणसुन्दर के लिये अनन्त दु:ख का सृजन कर रहा हो, तो उस परिस्थिति में भी उस दु:ख को हँसते-हँसते वरण कर लेना प्राणवल्लभ का नित्य स्वभाव है। वह दु:ख उन्हें परम सुखमय अनुभूत होता है, उस अपार दु:खोदधि में वे चिरन्तन अप्रतिम सुख का अनुभव करते हैं। स्वसुखवाञ्छा की कलुषित छाया उनके मानस में क्षणांश के लिये भी कभी प्रवेश नहीं कर पाती। काम की सामर्थ्य ही कहाँ जो उन्हें संस्पर्श कर सके। मन्मथमथन जो वे ठहरे। मनोज दूर खड़ा भले ही अपना हतभाग्य समझता रहे। त्याग का बाह्याडंबर नहीं है, उनमें। उन की प्रिया यदि उन्हें सुखोपभोग की, विलास की, रति की असंख्य सामग्रियाँ समर्पित करे, और उन्हें सुखी करना चाहें, उनके सुख से स्वयं सुखी हो तो वह सुख उन्हें सहर्ष स्वीकार है। उनकी तो नासा-समीर ही है -- प्रिया-सुखेच्छा। प्रिय सुख-सम्पादन की अभिलाषा ही उनके प्राणों की सत्ता हैं।

बस, प्रियतम नीलसुन्दर इस चन्द्रावली कुंज को ही अपना सुगुप्त आवास बना लेते हैं।

इधर, प्रिया किशोरीरानी की क्या दशा है, देखें ! जब उन्हें सारिका छोड़कर आयी थी उस समय तो वे विलक्षण महाभावगत दैन्य में अभिभूत थीं। अब उनकी क्या स्थिति है ? सारिका को अपनी प्रिया की चिन्ता हो जाती है। वह अपने को चन्द्रावली कुंज में निहित नहीं रख पा रही है। उसके पंख पुन: उड़ चलते है। और वह दूसरे ही क्षण अपने आपको राधाकुण्ड स्थित सर्वसौभाग्यप्रद कुंज में पाती है।

रानी अपने महल के पीछे की वाटिका में एक कक्ष में लेटी हैं। उनके मुख से ही नहीं, रोम रोम से अनवरत 'कृष्ण-कृष्ण' नाम की ध्वनि हो रही है। वे विचार कर रही हैं - न जाने कौन - से ऐसे कारण हो गये हैं कि उन्हें विगत तीन दिवसों से प्राणरमण दर्शन ही नहीं दे रहे हैं।

रानी की विरह दशा एवं शैब्यादासी होकर रहने का संकल्प

रानी पाक-रचनार्थ नन्दभवन भी नित्य जा रही हैं, परन्तु वहाँ भी उन्हें प्रियतम की झलक नहीं मिली। दर्शन तो दूर, वहाँ उन्हें उनकी भोजन करते समय सखाओं के संग की सख्यवार्त्ता भी सुनने को नहीं मिली ! प्रतिदिन तो वे प्रसाद-निर्माणशाला के पार्श्व में ही स्थित भोजनकक्ष में भोजन करते थे, परन्तु अब न जाने क्यों उन्होंने नियम ही बना लिया है कि वे अपनी माता यशोदा के कक्ष में ही भोजन करते हैं। पूर्वतया रानी विश्रामकक्ष में विश्रामकाल में उनके आरसी में दर्शन कर लेती थी परन्तु अब तो वे अपनी माता यशोदा के ही कक्ष में भोजन कर, वहीं विश्राम भी कर लेते हैं, अत: अब तो यह आरसी-दर्शन भी सुदुर्लभ हो गया है।

अपने प्रियतम की छबि-दर्शन के अभाव में आज तो रानी का हृदय धैर्य ही त्याग दे रहा है। उन्हें ऐसा अनुभव हो रहा है मानो वे श्याममुखकमल देखे बिना अब तो क्षणार्द्ध भी जीवित नहीं रह पावेंगीं। उनका एक-एक पल युगों के समान व्यतीत हो रहा है। उनके मुख से जो अनवरत 'कृष्ण-कृष्ण' नामोच्चारण हो रहा है, इसी के सहारे ही उनके प्राण शरीर-त्याग नहीं कर रहे हैं। अन्यथा तो, वे प्राण कभी के ही उनके शरीर का परित्याग कर प्रियतमानुसंधान में चले जाते; उनसे मिलकर तद्रूप ही हो जाते।

अहा ! कृष्ण-नाम की पीयूषधारा ने ही रानी को विरहव्याल के विष से बचा रखा है। अतिशय विलक्षण है, यह पीयूषधारा। यह, बस किसी भी

प्रकार से -- भाव, कुभाव, आलस्यवश ही सही, एक बार जिह्वा पर तनिक-सी लग जाये, फिर तो मायाजन्य जड़ता नष्ट होकर ही रहती है। आत्मस्वरूप की स्मृति हो जाती है एवं तब एक और विलक्षण संघटित होता है। यह आत्मस्वरूपता की ज्ञप्ति पर्यवसित हो जाती है -- महामरकत-श्यामल-ज्योत्स्ना के दर्शन में, तत्पश्चात् वह श्यामल-ज्योत्स्ना एक अभिनव सुन्दर साकारविग्रह रूप ग्रहण कर लेती है। वह ऐसा विलक्षण रूप सौन्दर्य होता है -- जिसके दर्शनमात्र से दृश्यप्रपंच की सम्पूर्ण मायिक सत्ता बीजसहित विलुप्त हो जाती है। इस मयूर-पिच्छ-परिशोभित मुखाकृति की छटा माया नटी का सम्पूर्ण नाट्यकौशल ही अस्तित्वविहीन कर देती है। फिर यह त्रिभुवनमोहन श्यामाकृति अपने अरुणिम अधर-पल्लवों पर मन्द मुसकान की स्फुट रेखा व्यक्त कर देती है। बस, फिर तो वह महाभाग्यवान् द्रष्टा एक ही अनाविल कामना से जाज्वल्यमान स्फुल्लिंग की तरह धधकने लगता है।

"ओह ! प्राणाधिक कुछ नहीं चाहिये, मुझे। बस ! मात्र तुम मेरे हृदयमन्दिर में नित्य विराजित रहना।"

इस अनाविल हास्य के दर्शन कर लेने पर द्रष्टा अपना सर्वस्व खो बैठता है, सर्वथा निमग्न हो जाता है साक्षात् उसका मन वृन्दाकानन ही बन जाता है।

और तब वंशीरव से उसके हृद्देश का अणु-अणु निनादित हो उठता है। द्रष्टा को स्पष्ट भान होता है कि नीलसुन्दर उस अमृत-निनाद में उसका ही नाम ले-लेकर उसे ही पुकार रहे हैं। बस, तब तो वह श्रोता उस रव के पीछे तत्क्षण ही चल पड़ता है, चल पड़ती है। जिस अवस्था में जहाँ था वहीं से उसके चरण निर्बाध दौड़ पड़ते हैं -- उस मुरली ध्वनि की दिशा की ओर ही। उसे अपने तनकी स्मृति नहीं रहती, मन कहाँ है, क्या हुआ मन का, कौन बतावे ? सच्चिन्मयी नील-ज्योति के साथ, नील मयंकदेव के साथ तादात्म्य हो जाता है उसके मन का। बस, यही कहा जा सकता है।

तो रानी ने भी अपने प्राणरमण के दर्शन के अभाव में इसी अमोघ रक्षाकवच 'कृष्ण' नाम का ही आश्रय लिया। और इस 'कृष्ण' नाम ने उनके विरह-व्याकुल हृदय में अपने प्रियतम की जीवन्त भावमूर्ति खड़ी कर दी है। वे मन-ही-मन अपने प्रियतम को अपने सम्मुख देखती हुई अपने हृदय की व्यथा उनके ही सम्मुख व्यक्त करने लगती हैं।

"प्राण हे ! तुम तो मेरे हृदय के प्रेममन्दिर में ही नित्य निवास करते हो। अत: तुमसे तो मेरा कुछ भी अप्रकट नहीं है। तुम मेरे जीवन के जीवन हो। तुम मुझसे पृथक् होकर किसी भी रमणी के पास जाओ, रहो,- बस सुखी रहो, यही तो मेरे उर के अन्तरतम की एकान्त कामना है। अत: प्राण, तुम जहाँ भी हो, सुखी हो, मात्र बस यह संवाद तो मुझे दे दो। मेरे उरस्थल में तुम्हारे वियोग की धू-धू कर भीषण अग्नि प्रज्वलित है। मेरी इस आग की ज्वाला को कोई बिना अनुभव किये भला कैसे जान सकता है ? मेरी ये भीषण विरहाग्नि शान्त हो, इस कामना से मैं तुमको कुछ भी प्रतिबद्ध नहीं करती, तुम्हारे सुख में किन्चिमात्र भी मैं व्यवधान नहीं डालना चाहती। मैं तो यही चाहती हूँ कि मुझे मात्र यह संवाद प्राप्त हो जाय कि तुम जहाँ हो, वहाँ पूर्णतया सुखी हो।"

और लो, सारिका ने ललिता के सम्मुख प्रियतम का चन्द्रावली कुंज में होने का समस्त संवाद दे दिया। प्रियतम चन्द्रावली के प्रति अपना एकांगी प्रेम प्रकट कर रहे हैं, यह भी उसने ललिता को सुना दिया।

और ललिता यह सब संवाद सारिका के मुख से सुनकर अति कुपित हो उठी है। उसने प्रिया की सब दशा लिखकर एक पत्र देकर सारिका को पुन: चन्द्रावली कुंज में भेजा है। परन्तु प्रियतम ने वह ललिता का पत्र पढ़ा ही नहीं है। बिना पढ़े ही सारिका को वह पत्र लौटा दिया है। उन्होंने सारिका को कुछ भी संकेत नहीं किया कि वे कब प्रिया के पास उनके कुंज में आ रहे हैं। उन्होंने प्रिया के प्रति अपना अनुराग भी प्रकट नहीं किया। सारिका प्रियतम के इस उदासीन व्यवहार से अत्यंत क्षुब्ध लौट आयी है। अतिशय व्यथित है, वह। सारिका प्रिया के सम्मुख संकोचवश जा ही नहीं पा रही है।

एकान्त में ललिता के सम्मुख उसका कलेजा हाहाकार करता फूट पड़ता है। ललिता सारिका को किसी प्रकार समझा-बुझाकर प्रिया के पास भेजती है। और प्रिया, जैसे सभी घटना का उन्हें ज्यों का त्यों पूर्वज्ञान हो अत्यंत भावावेश से उसे अपने अंक में भर लेती हैं। वे अपना समग्रप्रेम सारिका पर न्यौछावर कर देती हैं। अति भावावेश में वे सारिका से वार्त्ता करने लगती हैं -- "क्यों दुखी होती हो बहिन ? प्रियतम ने मेरा तिरस्कार कर दिया उन्होंने मेरे प्रीतिसंवाद को भी निरादृत किया, तुमसे अति नीरस व्यवहार किया, बस, इसीलिये न तुम दुखी हो। वे सुखी हैं, न ! मैं इतना ही

जानना चाहती थी। तुम्हें पत्र सहित भेजने का इतना ही तो मेरा प्रयोजन था। मुझे विस्मृत कर वे परम सुखी हैं, यही संवाद मैं चाहती थी। अब मेरा कार्य तो तू कर ही आयी।"

अपनी प्राणसखी के ऐसे निर्मल एकांगी प्रेम को देखकर सारिका का प्रियतम पर प्रणयकोप और अधिक बढ़ जाता है। परन्तु प्रिया को बाह्य ज्ञान कहाँ ? वे तो बोलती ही जाती हैं- "सद्गुणनिधि ! तुम ही तो मेरी अमूल्य विभूति हो। मेरी एकमेव सम्पदा हो। मेरे हृदय का पवित्रतम सुख तुम ही हो। तुम ही मेरे सब सम्मान हो। तुम स्वतंत्र रहो, स्वाधीन रहो, अपनी रुचि का निस्संकोच जीवन विहरो। मेरी रुचि-अरुचि का सर्वथा ध्यान नहीं रखकर, पूर्ण स्वतंत्र आचरण करो। यही तो मेरा सर्वाधिक सत्कार है, नाथ। तुम मुझसे शंकित होओ, संकोच करो, पराधीन होओ यह भला मैं कैसे चाहूँगी ? जिसे चाहो उसे भोगो, जहाँ रुचि हो वहाँ जाओ, जैसे रुचि हो पूर्ण स्वच्छन्दता से विलसो। तुम्हारी प्रसन्नता ही मेरा संपूर्ण मनोरथ है। नाथ ! तुम मेरे कभी मत रहो; बस मैं तुम्हारी ही सदा रहूँ, यही वरदान दे दो। हे मेरे प्राणरत्न ! तुम सुखी रहो, तुम स्वच्छन्द-स्वतंत्र रहो, मात्र मेरी यही अभिलाषा है।" प्रिया के नेत्र झर-झर बरसने लगे। वे बाह्य-ज्ञान-शून्य हो गयीं।

रानी की दशा अति विचित्र है। उन्होंने विगत तीन दिवसों से अन्नजल भी नहीं ग्रहण किया है। प्रियतम-स्मृति की अतिशय प्रगाढ़ता में वे निरन्तर डूबी रहती हैं। अविरत प्रगाढ़ भाव में रहने से तन की नित्यक्रिया-स्नानादि का भी ध्यान उन्हें नहीं रहता। ललिता, गुणमंजरी आदि अन्य सखियों की सहायता से किसी तरह तन पर जल डालकर स्नान सम्पन्न करा देती हैं। अपनी प्राणसखी के स्वयं अंगुली डालकर दाँत माँजती हैं, और वस्त्र बदल देती हैं। देशका, कुलका, कालका, लोकका, शास्त्रका कुछ भी ज्ञान नहीं हैं-उन्हें। लोक-लज्जा बनी नहीं रह पाती है। सम्मुख गुरुजन हैं, कि बालक हैं, वे किसी को भी पहचानती नहीं। उनके सम्मुख तो सदा अखण्ड एक ही श्यामल छबि विद्यमान रहती है।

नीलसुन्दर परमाह्लाद में भरे अपने सौन्दर्यपूर की किरणें सर्वत्र बिखेरते हुए वृन्दाकानन में भ्रमण कर रहे हैं। अनन्त पारावारविहीन रसोदधि उछल रहा है। ऐसी प्रतीति हो रही है, मानो घनी श्याम-अम्बुदराशि रस-वर्षा करती धरा को पल्लवित करती जा रही है। आनन्द-अनुराग के आवर्त उनके

रोम-रोम से उत्थित हो रहे हैं। उनकी रसमत्तता, उनके नयनों की गति, उनकें अंग-संस्थानों का स्पन्दन -- ओह ! कैसा प्राणोन्मादी है। इन रसदानी का यह रस-वितरण-अभिनव विमोहन का जाल सर्वत्र विस्तारित कर रहा है। उनसे एकान्तिक भाव से जुड़े हुए, अपने प्राणों का उनसे ही तादात्म्य स्थापित किये हुए विहंगम श्रेणी में, चतुष्पाद समूह में, तरु-वल्लरियों में, ह्रदों में, कासारों में, कल्लोलिनी में उनके अन्तस्तल में प्रवाहित रस की धारा का प्रपात हो रहा है। अतएव एक अननुभूत आनन्दजन्य जड़िमा व्यक्त हो गयी है, इन सबमें।

वृन्दाकानन की वसुधा तो अपने आप में नित्य पुलकित है ही। इस समय उसमें परम प्रियतम नीलमणि के चरण संलालन से एक अभिनव कम्पन का सृजन हो गया है। अहा ! तृणावली कैसी उन्मत्त सी नाच रही है। दल के दल मयूर हंसादि विविधि विहंगम आकर बार बार घेर लेते हैं प्रियतम को। कुछ क्षण पंख प्रसारित कर कल कलरव से वन प्रदेश को मुखरित करते हैं फिर चञ्चु से चञ्चु संलग्न कर थिरक उठते हैं। कुरंगी-कुरंग नयनों में नील सुन्दर की छटा भरकर नयन निमीलित कर लेते हैं। देखो, देखो ! उन्मत्त हुए से वे एक दूसरी पर अपनी ग्रीवा को झुलाकर यंत्रचालित से कभी दाहिनी ओर, कभी बांयी ओर, दोलित हो रहे हैं। अन्य चतुष्पादों में भी ऐसी ही सुख मत्तता व्यक्त हो रही है। तरुशाखाएँ, तरुवल्लरियाँ झूम रही हैं, और ह्रद सरोवर फेनिल होकर अपने अपने कूल की तृण राशि को आर्द्र कर रहे हैं। नील कल्लोलिनी क्षण-क्षण में नव-नव आवर्त्तों का निर्माण कर रही है। लावण्य की शतसहस्त्र उर्मियों का विस्तार करते हुए प्रियतम नील सुन्दर रस क्रीड़ा में उत्तरोत्तर विभोर होते जा रहे हैं।

रानी इस चिद्विलास में आपाततः डूबी हूई हैं। उनकी प्रियतम-रति वेगपूर्वक सब दिशाओं में बिना ओर-छोर के प्रवाहित हो रही है। अपने चित्त के नित्य अभिवर्द्धनशील चाव में वे निर्बाध मिल रहीं हैं, अपने प्राण-सार सर्वस्व से। वे सर्वथा-सर्वांश में निरपेक्ष हैं। प्रियतम चाहे राधा नाम्नी किसी गोपी को भले ही जानें-पहचानें भी नहीं।

यद्यपि सखियाँ अपनी ओर से प्रियतम से विनय पर विनय करती हैं, पत्र पर पत्र भेजकर प्रिया का संवाद उनतक पहुँचाती हैं, परन्तु कोई पत्र खोलकर देखे तब। प्रियतम के इतने उपेक्षापूर्ण विपरीत व्यवहार का रानी को जैसे कुछ ज्ञान ही नहीं। इस विपरीताचरण-जनित प्रतिकूलता की एक रेखा

भी रानी के मानस पर अंकित नहीं हो पाती। वे तो अपने भाव में निर्बाध मिल रही हैं अपने प्राण-सार-सर्वस्व से। उनके चित्त का नित नूतन चाव क्षण-क्षण असीम वेग से अभिवर्द्धित ही होता जा रहा है।

प्रिया ललिता को सम्बोधित कर भावावेश में ही बोल पड़ती हैं -- "क्यों कठोर हो रही हो बहिन ! तुम क्या चाहती हो ? प्राणवल्लभ नीलसुन्दर से मैं मान करूँ ? रसिकशेखर को शिक्षा दूँ ? क्या अपराध है उनका ? अपनी रुचि का आचरण करना, चन्द्रावली के कुंज में स्वाधीनतापूर्वक कुछ काल रह जाना, यही अपराध है न उनका ? बोल मेरी बहन, ललिता बोल ? उनको अपने पराधीन बनाकर रखना, फिर मान करके भयग्रस्त करना, यही क्या प्रेम है ? वे मेरे मन की ही करते रहें, अपने मन की कुछ भी स्वाधीनतापूर्वक नहीं करें ऐसी बाध्यता उन पर थोपना क्या प्रेम है ? क्या देखा है सारिका ने ? "वे चन्द्रावली को अपनी एकमेव प्रियतमा कह रहे थे, शैब्या के हाथों मधु पी रहे थे; पुष्पमन्दिर में चन्द्रावली के साथ एक शय्या में आसीन थे। तो इसमें क्रोध करने की बात ही क्या है? बहन ! उन्होंने स्वच्छन्द सुखाचरण किया, यह सुनकर तो मेरा हृदय सुख-समुद्र में डूब गया। ललिता री ! आज मैं जितनी सुखी हूँ, उतनी तो जीवनपर्यन्त कभी नहीं हुई। मेरा रोम-रोम आनन्द से नृत्य कर रहा है। इतने दिवसों में प्रियतम-प्राणवल्लभ के स्वच्छंद सुखाचरण का सुसंवाद मुझे आज मिला है। मेरे आनन्द की सीमा नहीं है।"

"ललिते ! मुझे रोकना मत। मैं शैब्या की दासी बनने, उसके कुञ्ज में जा रहीं हूँ। वहाँ मैं अपने प्रियतम का मोहन मुख अपने नेत्रों से देख तो पाऊँगी। अरी, मेरा अपयश ही तो होगा। शैब्यादासी होने से मेरी राजनन्दिनी की मर्यादा नष्ट हो जायगी। मैं चन्द्रावली-सेविका ही सही। मेरा मान-सम्मान अभिमान ही तो नष्ट होगा ? मैने अपनी प्रीति तो विनष्ट नहीं की। वे ही वे मेरे पास सदा आवें, क्या यही प्रीति-मर्यादा है। आज यदि बिना निमंत्रण के ही मैं उनके पास चली गयी तो अपने प्राणपति के चरणों में ही तो जा रही हूँ। मैं दासी-जीवन का क्लेश भोग लूँगी अपने प्राणवल्लभ का सुख-सदन मुख निहारकर अपने प्राणों को तो सुखी कर लूँगी। मेरा अहंकार चूर-चूर हो जायेगा, मुझसे शैब्या दासीवत् कार्य करायेगी, मैं उसकी पान-पीकदानी स्वच्छ करूँगी, उसकी सेज सँवारूँगी; ऐसा भी संभव है, वह मुझे अपने कुञ्ज में प्रवेश ही नहीं करने दे, तो भी मैं उसके चरणों में गिर

पड़ूँगी। उनका सुख एवं आनन्दभरा मुख मात्र एक बार ही सही, देख तो पाऊँगी।"

और सचमुच ही प्रिया शैब्या के कुंज की ओर चल पड़ती हैं। प्रिया उन्मादिनी हो गयी हैं। सखियाँ चीत्कार करतीं उनके पीछे दौड़ रहीं हैं। प्रिया को न ही तन की सुधि है और न ही वसन की। उनके नयन अपलक स्थिर हैं। सिर के केश बिखरे हैं। उन्हें बाह्य ज्ञान ही नहीं है। वे, हा, प्राणनिकेत!! कहती दौड़ी जा रही हैं। उनको सँभालने उनके पीछे ललितादि सखियाँ चली आ रही हैं। प्रिया की गति इतनी तीव्र है कि सखियाँ प्रिया के साथ चल ही नहीं पातीं।

प्रिया मन ही मन मन्द स्वर में बोले जा रही है - "प्राणवल्लभ राग ही राग करें, वैराग्य करने का उनका कोई अधिकार ही नहीं है ? प्रियतम मुझसे मिले ही मिले रहें, उन्हें मुझे त्यागने का अधिकार ही नहीं है क्या। नहीं, नहीं, वे पूर्ण स्वाधीन हैं। उनको मैं अपनें पराधीन रखकर कैसे सुखी रह पाऊँगी ? उनके प्राण किसी अन्य से सुख पाने को तरसते रहें और वे मात्र प्रतिबद्धता से मेरे पास बने रहें, इसमें मुझे कौनसा सुख है ? उनके प्राणों को जहाँ भी, जिसमें भी सुख है, वे वहीं जायें, वहीं रहें। मैं तो उनके सुख से पूरी सुखी हूँ। मेरा अपना स्वयं का क्या मान और क्या अपमान ? प्रियतम ही मेरे सभी मान सम्मान हैं; और वे पुकार उठती हैं -- "हा प्राणनिकेत ! हे प्राणवल्लभ !! हा ज़ीवन सर्वस्व !!! हे गुणनिधि ! हे मधुर ! हे मोहन ! हे स्पर्शमणि ! हे राधाधन ! हे सुखार्णव ! हे परमाह्लाद।" वे चन्द्रावली कुंज के द्वार पर पहुँच कर भावसमाधि में सुधि-बुधिहीन हुई भूलुंठित गिर पड़ती हैं।

रानी का चन्द्रावली, शैब्या एवं प्रियतम से मिलाप

और चन्द्रावली कुंज के द्वार पर ही प्रियतम, प्रिया का स्वागत करने खड़े मिलते हैं। चन्द्रावली और शैब्या दोनों ही स्वागत में दौड़ती हुई रानी के चरणों में गिर पड़ती हैं। उनके नयनों से बहते अश्रु थम ही नहीं पाते। धारा की तरह उनके नेत्र अश्रु प्रवाहित कर रहे हैं। चन्द्रावली की हिचकी बँध गयी है। रानी उसे अपने वक्षस्थल में कसकर आलिंगन कर लेती हैं

मानो रानी और चन्द्रावली प्रियतमप्रेम से भरी दो देह किन्तु मात्र एक प्राण हों।

"सब कुछ मेरा अपराध है, बहिन; सब मेरा अपराध है। मैं तुम्हारे प्रियतमप्रेम की अगाधता देखना चाहती थी। चलो बहिन, कुंज में चलो। मेरा कुंज तुम्हारी चरण-धूलि से पवित्र हो गया। तुम्हें देखकर मेरे कुंज का पत्र-पत्र उसकी भूमि का कण-कण, विशुद्ध एवं सच्ची प्रीति से सिक्त हो जायेगा।"

"तुम प्रीति की साक्षात् प्रतिमा हो। मैं तो तुम्हारी दासी की भी दासी होने के योग्य नहीं।" यह कहती शैब्या, ललितादि सभी सखियों को अपने कुञ्ज भवन में ले चलती हैं। किन्तु प्रिया तो इस आदर-भक्ति से सर्वथा निरपेक्ष हैं। वे तो अपने नीलमणि प्राणरमण का सुख-निकेत मुख देखकर अपने स्वरूपगत भाव-समुद्र में डूब गयी हैं। उन्हें तो सर्वत्र कुंज में, कुंज के पत्र-पत्र में, ललिता में, शैब्या में, चन्द्रावली में, सखियों में, सर्वत्र सभी में उसके प्राणनाथ ही भरे दृष्टिगोचर हो रहे हैं।

और प्रियतमप्राणसुन्दर नीलमणि की कैसी विलक्षण दशा है ? वे तो अपनी प्रिया के मुखचन्द्र की पिंगलद्युति निहारकर सर्वथा विह्वल हो रहे हैं। उनके हृत्तल में अनुराग का सागर अथाह हिलोरें ले रहा है। शरच्चन्द्र को भी हेय बना देने वाले अपने प्रिया के सुन्दर मुखाविन्द पर दृष्टि पड़ते न पड़ते व्रजराजकिशोर की विचित्र-सी दशा हो जाती है, अपनी प्रिया के प्रेमामृतवर्षी चित्ताकर्षक मुख के जादू ने नीलसुन्दर के नील-कलेवर में अष्ट सात्विक विकारों का उन्मेष कर दिया है। मधुरस्मित-विभूषित अधरों से दीप्तिमान् नील-कलेवर रोमाञ्चित हो उठा है।

रोमाञ्च के अन्तराल से सुस्पष्ट परिलक्षित होता है कि प्रियतम नीलमणि की हृदय रसधारा गंभीर, गंभीरतर होती जा रही है। चपल-लोचनों की बंकिम चितवन अपलक निहार रही है - अपनी प्रिया को। वे उस अप्रतिम अनिंद्य सौन्दर्य की साकार प्रतिमा के सम्मुख ठिठककर अविचलित खड़े हैं। नेत्रों से अनर्गल वारि-धारा प्रसरित हो रही है। आनन्दातिरेक से छलके इन वारि-बिन्दुओं में अद्भुत शैत्य अभिव्यक्त हो रहा है। उनके चतुर्दिक् आनन्दानुभव का प्रवाह प्रवहमान है। नेत्रों के कज्जल से मिश्रित यह अश्रु-प्रवाह उनके दीप्त अरुणिम कपोलों को आर्द्र कर दे रहा है। किसी भी

प्रकार रुद्ध ही नहीं हो रहा है - यह प्रवाह। उनका कण्ठ रुद्ध हो गया है। वाणी निस्सृत नहीं हो पा रही है; सर्वथा विह्वल हैं, वे।

अपनी प्राणधिका किशोरी की अनुपम प्रीतिराशि पर नित्य-विमुग्ध नीलसुन्दर के प्राणों में आज तो एक अभिनव उद्दाम भावोच्छलन हो रहा है। वे अपनी प्राणाधिका किशोरी से याचना में दीन हुए अपनी अभिलाषा रखने को समुत्सुक हैं। यद्यपि किशोरीरानी के लिये अपने प्रियतम को कुछ भी अदेय नहीं है,परन्तु फिर भी अभिलाषाभरी मधुस्यन्दी गिरा - अपनी बाह्य अभिव्यक्ति इस रूप में कर ही उठती है।

"प्राणप्रियतमे ! तुम ही तो मेरे शतसहस्र प्राणों की अधिदेवी हो, मेरे असंख्य प्राणों की प्रतिष्ठा हो। जीवनेश्वरि ! अपनी हेतुरहित कृपा का प्रकाश कर मुझे भी एक वस्तु का दान दे दो - चिर-अभिलाषा सँजोये मैं प्रतीक्षा कर रहा हूँ। मेरे उद्विग्न प्राणों की लालसा यही है, इतनी ही है-- "मेरे नयन अपलक विजड़ित रहें केवल, केवल,केवल तुम्हारे मुख पर। वे निरवधि मात्र तुम्हें निहारतें रहें। मेरे मन के कण-कण में, मेरे प्राणों के अणु-अणु, परमाणु-परमाणु में नित्य विराजित रहे तुम्हारा, बस, तुम्हारा ही, यह मुखचन्द्र। प्रेममयी ! अपरिसीम प्रीति का प्रवाह तुम्हारे इन अरुण लोचनों में सहज नित्य निरन्तर प्रसरित रहता है। उस प्रवाह की एक कणिकामात्र मुझे दान कर दो। बस, एवमस्तु कह दो मेरी प्राणप्रिये !"

चतुर्दिक् रस-समुद्र ही रस-समुद्र हिलोरें ले रहा है। एक लहर आती है, दूसरी उससे भी उच्चतर और तीसरी उससे भी और तीव्र एवं उद्दाम आती है।

सारिका बने, पू० गुरुदेव श्रीराधाबावा का सम्पूर्ण अंग-अंग स्वेद से श्लथ है। रतनगढ़ ग्राम में रेत के ऊँचे-ऊँचे पहाड़ नुमे धोरों के कारण तापमान सर्वाधिक न्यून रहता है। परन्तु पू० गुरुदेव इतनी शीत में भी स्वेद से लथ-पथ हैं, सारिका का अंग अंग रोमाञ्च से उत्फुल्ल हो गया है। रोमाञ्चवश उत्फुल्ल-पंख होने से उसकी आकृति कुक्कुट की तरह विशाल हो गयी है। वह भरे कण्ठ से गा रही है-

काले को लेकर मन मेरा हो गया निपट काला प्रियतम !
कुछ भी संकल्प करूँ, काला होकर वह निकलेगा प्रियतम !
वह असित रंग घन घनतर अब होगा क्रमशः आगे प्रियतम !
है अतः अनन्तकाल तक ही जीवित रहकर रोना प्रियतम !

सारिका प्रसंग : दूसरी लीला
नन्दभवन दर्शन

अभी ब्राह्म मुहुर्त हुआ नहीं है । सारिका उड़ रही है नन्दप्रासाद की ओर । लो, दिखाई पड़ गयी व्रजेन्द्रपुरी । सारिका स्पष्टतया अनुभव कर रही है कि उसकी प्रिया राधारानी की ही सखी - वृन्दा (संधिनी शक्ति) की ही नित्य परिणति है, यह । वृन्दारण्य के कुञ्ज, निकुञ्ज, गिरि, सरोवर एवं वन-उपवनों की तरह यह पुरी भी परम विभु, नित्य चिन्मय है । प्रिया-प्रियतम की चिदानन्दमयी लीला के प्रकाश के साथ ही यह पुरी भी आविर्भूत होती है और जब लीला का अन्तर्द्धान हो जाता है तो यह पुरी भी अन्तर्हित हो जाती है । हाँ, जिनके नेत्रों में प्रिया-प्रियतम की चरण-नख-चन्द्रिका भरी है, उनके लिये तो, यह पुरी अनादि, अनन्त निरवधिकाल सदा वर्त्तमान ही रहती है, वृन्दाकानन उनके नेत्रों में सदा भरा रहता है । किसी भी कवि की रसना में कहाँ ऐसी सामर्थ्य है कि इसके विचित्र वैभव के किसी एक अंश का भी चित्रण कर सके । सारिका, व्रजेन्द्रपुरी की अप्रतिम शोभा की स्तुति में बस, यही बोल पाती है :-

क्वचिन्मरकतस्थली कनकगुल्मवीरुद् द्रुमा:
क्वचित्कनकवीथिका मरकतस्य वल्ल्यादय: ।
क्वचित्कमलरागभू: स्फटिकगुल्मवीरुद्द्रुमा:
क्वचित्स्फटिकवाटिका कमलरागवल्ल्यादय: ।।
क्वचिन्मरकतद्रुमा: कनकवल्लिभिर्वेल्लिता:
क्वचित्कनकपादपा मरकतस्य वल्लीजुष:
क्वचित्स्फटिकभूरुहा:कमलराग वल्लीभृतो
द्रुमा: कमलरागजा : स्फटिकवल्लिभाज: क्वचित् ।।

कहीं तो मरकतमणिमय अकृत्रिम भूमि है । उस भूमि पर स्वर्णमय गुल्मलतायें एवं द्रुमसमूह परिशोभित हैं, कहीं स्वर्ण की गलियाँ, वीथियाँ बनी हैं । सर्वत्र स्वर्ण ही स्वर्ण आस्तृत है, मृत्तिका का लेश भी नहीं । और इस स्वर्णभूमि में मरकतमणिमय वल्लरियों की, गुल्मतरु पंक्तियों की छटा फैल रही

है । कहीं पद्मरागरचित भूमि है, उस पर स्फटिक-निर्मित गुल्मलता वृक्ष-समूह विराजित हैं और कहीं स्फटिक की वाटिका बनी है तो उसमें पद्मराग की लतायें, गुल्म तरुराजि झूम रही हैं ।

कहीं तो मरकत द्रुमसमूह कनकलताओं से परिव्याप्त हैं एवं कहीं स्वर्ण-पादपश्रेणी मरकत की बनी वल्लरियों से सुमण्डित हो रही है तथा कहीं वृक्षों की अवलि स्फटिक की है, जो पद्मराग मणि की लताओं से उद्भासित हो रही है; और कहीं स्फटिक के लताजाल से पद्मराग के वृक्ष समुज्ज्वल हो रहे हैं ।

यहाँ जितने वृक्ष हैं, सभी कल्पतरु हैं एवं जितनी वल्लरियाँ हैं सभी कल्पलतिकाएँ हैं । शाल, तमाल, ताल, अश्वत्थ, कपित्थ, बकुल, नारिकेल, रसाल, प्रियाल, श्रीफल, करील, कोविदार, देवदारु, मन्दार, जम्बीर, चन्दन, अशोक, कदम्ब, गुग्गुल, पीलू, गन्धपिप्पली, गजपिप्पली, आदि जितने वृक्ष हैं सभी कल्पपादप हैं । वासन्ती, वनमल्लिका, स्वर्णयूथी, जाती, यूथी, मल्लिका, मुद्गरा, अपराजिता, गुञ्जा, शतमूली, बिम्बफललता, लवंगलता आदि जितनी लतायें हैं, सभी कल्पवल्लरियाँ हैं । नन्दनकानन में कल्पपादप नहीं, उससे सर्वथा विलक्षण ! प्राकृत कल्पवल्लरियाँ नहीं, उससे सर्वथा भिन्न ! ये तो स्वयं भगवान् व्रजेन्द्र नन्दन के चिन्मय धाम के चिन्मय तत्व से गठित हैं ।

सारिका उड़ती हुई देख रही है - वृजेन्द्रपुरी के समान ही वैभवशालिनी यहाँ सभी गोपों की न जाने कितनी ही पुरियाँ हैं । वह आश्चर्यचकित विस्फारित नेत्रों देख रही है । यहाँ के कण-कण से एक परम दिव्य ज्योति झर रही है । ऐसी उज्ज्वल ज्योति, जो प्राकृत जगत के कोटि-कोटि सूर्यों में भी संभव नहीं है, परन्तु साथ ही ऐसी शीतल, सुखद जैसी प्रपंच के कोटि चन्द्रों की पुंजीभूत किरणों में भी नहीं । यहाँ भी एक सूर्य तो है, परन्तु प्राकृत विश्व का सूर्य नहीं । एक पीयूषवर्षी चन्द्र भी है, परन्तु वह प्राकृत चन्द्र नहीं । यहाँ भी सुनील गगन है; गगन में मंगल, बुध, वृहस्पति, शुक्र, शनि, केतु, राहु असंख्य तारक - रमणीय, परम तेजोमय, अत्यन्त विलक्षण, परम सुन्दर, शोभन, अतिशय सुषमाशाली - सब कुछ अप्राकृत चिन्मय हैं ।

सारिका इस व्रजेन्द्रपुरी की ओर-छोर विहीन महिमा को देखकर विस्फारित-नेत्र बस, - उड़ रही है, सर्वत्र फुदक-फुदक कर बैठ रही है और परमानन्द में डूबी है ।

सारिका यह भी स्पष्ट देख रही है कि जो कुछ श्रुतियों में उल्लिखित है -

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र तारक:
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्नि: ।।
तमेवभान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।।

वहाँ न तो सूर्य प्रकाशित होता है, न चन्द्र एवं न तारक समुदाय ही प्रकाशित होता है और न विद्युत् ही प्रकाश करती है । फिर, वहाँ अग्नि का प्रकाश तो संभव ही कहाँ है ? क्योंकि उसके नित्य प्रकाश से ही तो इन सूर्य चन्द्र आदि में प्रकाश का संचार होता है; उसके आंशिक प्रकाश को पाकर ही तो ये प्रकाशित होते हैं, सारा जगत भी उसी के क्षुद्रतम अंश से ही प्रकाशित हो रहा है ।

सारिका को स्पष्ट-स्पष्ट यह तत्व उजागर हो रहा है कि श्रुति-प्रतिपादित यह धाम और व्रजेन्द्रपुरी कोई दो पृथक् सत्ता नहीं हैं । परन्तु, फिर भी व्रजेन्द्रपुरी में यह श्रुति-प्रतिपादित तत्व ही सूर्य, चन्द्र, सभी नक्षत्र, साथ ही भूमि-भवन बना प्राकृत ग्रहों से सर्वथा भिन्न प्रकाशित हो रहा है ।

यह बात भी नहीं कि ऊपरवर्णित, वृक्ष, वल्लरी, भूमि, गृह, आदि वस्तुओं का कोई इत्थंभूत रूप है। इतना है, ऐसे है, ऐसे नहीं है - इस प्रकार इनके लिये कोई सीमा भी नहीं बाँधी जा सकती । जड़ वस्तु की तरह इनके रूप, रंग, आकार, प्रकार, स्थिति, गुण, चेष्टा भाव आदि की इयत्ता नहीं । ये तो प्रियतमप्राणवल्लभ नीलमणि की अचिन्त्य लीला महाशक्ति का निरन्तर अनुसरण करते हैं । प्रिया-प्रियतम की जब, जैसी लीला का प्रकाश होता है, उसके लिये जो, जैसी जितनी सामग्री चाहिये, उसी रूप में इनका प्रकाश यहाँ होता रहता है ।

सारिका व्रजेन्द्रपुरी के असंख्य रत्नों से खचित स्वर्ण-पत्तरों के आवरित शक्तिशाली काष्ठ के विशाल मुख्यद्वार के समीप आ गयी । अरे, कैसे सच्चिन्मय हैं ये ? सारिका को देखकर ये द्वार - इनको संभालने वाले दो चमचमाते नीलमणि के तुंगाकार स्तंभों के सहित - जीवन्तवत् प्यार से स्वागत में बोल उठे :- "आओ प्यारी सारिके ! तुम्हारा व्रजेन्द्रपुरीस्थित नन्दभवन स्वागत करता है । हे आकाशचारिणी ! यदि हम तुम्हें अनुमति न दें तो तुम

इस भवन में अपने पंखों के बल कदापि प्रवेश नहीं पा सकती; क्योंकि हमारी उत्तुंगता हम उस समय नभस्पर्शी कर सकते हैं, परन्तु तुम तो हमारे नन्दनन्दन की दुलारी हो, तुम्हारा स्वागत, प्यार भरा स्वागत !"

सारिका ने मानो इस प्राचीर और विशाल प्रवेशद्वारों की स्वागत वाणी सुनली हो उसने भी इनको मन ही मन प्रणाम किया । उसे अपनी भूल समझ में आ गयी थी, उसे पूर्वत: ही इनको पहले प्रणाम कर, तब भीतर प्रवेश की अनुमति माँगनी चाहिये थी ।

अहा ! कैसे भीमकाय विशाल स्वर्णावरित स्तंभ हैं । इनके स्वर्णपत्रों पर रत्नों की ही बेलें विजड़ित हैं और बेलों में रत्नों के वृहत् प्रस्फुटित पुष्प हैं । इन भीमकाय स्तंभों के नीचे सूँड उठाये दो विशाल गजराज हैं, मानो इन गजराज-द्वय की सूँडों पर ही यह पुरी का गजद्वार खड़ा हो । जिन रत्नों से इन गजराजों की आकृतियाँ निर्मित हैं, वे अतिशय रसमय प्रकाश प्रसरित करते हैं एवं इतनी जीवंतता व्यक्त कर रहे हैं जिससे स्पष्ट परिलक्षित होता है मानो आद्याशक्ति भगवती महालक्ष्मी के वाहन गज ही इस पुरी के द्वारदेश में स्थित हों ।

इन स्तंभों के ऊपर उलटा अर्द्ध-चन्द्राकार, रत्नजटित छत्र है जिसके मध्य में भगवान् गणाधिपति की सिन्दूरवर्णी प्रतिमा अंकित है। उसके दोनों ओर सूर्यदेव एवं चन्द्रदेव की दो रथ-चढ़ी प्रतिमाएँ हैं । इसी प्रस्तर खण्ड के सर्वोपरि शीर्ष में नीलमणि रत्न की शंख, चक्र, गदा, पद्मधारी चतुर्भुज नारायण की विशाल, शान्त रसप्रसरित करती, अति सौम्य अर्द्ध-निमीलित-नेत्र प्रतिमा है । मूर्त्ति का मुख मन्द-मन्द हास्य से युक्त है एवं इतना आनन्दमय है मानो सभी आगन्तुकों को उपदेश दे रहा हो-**आनन्दोऽहं, आनन्दोऽहं**। नन्दभवन के चतुर्दिक् बहुत ही ऊँची स्वर्णिम दीवार है । मध्य में सुन्दर मजबूत खंभे हैं; प्रत्येक स्तंभ पर चतुष्पाद छतरियाँ हैं । मुख्य-मुख्य स्थानों पर षट्पाद एवं अष्टपाद छतरियाँ भी हैं । नन्दभवन के भीतर इस दीवार से लगे बहुत ही सुन्दर रत्नमय परिचारकों के आवास हैं ।

इन गोपालकों एवं परिचालकों के आवासों के आगे बहुत ही सुन्दर स्फटिकशिला निर्मित मार्ग है, जिसके दोनों ओर बहुत सुन्दर कदम्ब वृक्ष सुपुष्पित रहते हैं । इनकें विकसित पुष्पों की सुगन्ध से सारा नन्दभवन महकता रहता है । परिचारकों के आवासों के आगे मेंहदी की अति सुन्दर बाड़ है जिसमें मेंहदी को ही काटकर मयूर, हाथी, हरिण आदि जीवन्त

आकृतियाँ सृजित की गई हैं । मुख्यद्वार और नन्दमहल के मध्य बहुत ही गोलाकार सुन्दर उपवन है। इसके मध्य में रत्नमय फव्वारा लगा है । नन्दभवन के दोनों ओर सटी अति विशाल गोशालाएँ हैं । इनके आगे राजमार्ग है और पीछे यमुना के सुन्दर गौघाट हैं । नन्दभ्वन के पीछे यमुना बहती है । नन्दभवन पूर्वाभिमुख है । सुदूर पूर्व में गिरिराज का विशाल पर्वत है और इस पर्वत और नन्दभवन के मध्य गहन वन है । नन्दभवन के उत्तर में गोशाला से सटा संनन्द जी का ऐसा ही विशाल सुन्दर भवन है और दक्षिण में गोशाला से सटा इतना ही सुन्दर उपनन्दजी का भवन है । सभी भवनों के पार्श्व में ऐसी ही विशाल गोशालायें है तथा गोशालाओं के पार्श्व में गोपों के आवास हैं ।

यमुना उत्तर से दक्षिण की ओर बहती है । वह कुछ दूर दक्षिण में जाती है तब पूर्व की ओर मोड़ ले लेती है । फिर पूर्व की ओर, बहुत दूर तक बहती हुई पुनः दक्षिण में मुड़ जाती है । राजमार्ग भी इस प्रकार उत्तर से दक्षिण और तब पूर्व की ओर मुड़ जाता है । पूर्व से होता हुआ यह राजमार्ग आगे वन में पगडंडियों में परिवर्तित हो जाता है । वन आगे गहन, गहनतर होता हुआ अति गहन हो जाता है । अति गहन होता हुआ यह वन गिरिराज परिसर तक चला जाता है ।

नन्दभवन और सिंहद्वार के मध्य गोलाकार उपवन में इतने सुन्दर सुरभित पुष्प विकसित हैं कि उनकी महक सम्पूर्ण नन्दभवन को सुवासित कर रही है । यह बयार भी विलक्षण स्वभाव वाली है - जिधर श्री कृष्ण होते हैं बयार की दिशा उधर ही हो जाती है। मानो निरन्तर उनके ही चतुर्दिक् उनकी ही परिक्रमा करती वह प्रवहमान रहती हुई कभी किसी दिशा से उत्तमोत्तम पुष्प-गंध लाती है और कभी किसी दिशा से ।

सारिका गिरि परिसर से उड़ती हुई नन्दभवन पहुँची है । वह समग्र व्रजेन्द्रपुरी की परिक्रमा करती है । अहा ! नन्दभवन के पीछे भी अति सुखद उपवन है, जो यमुना घाट तक गया है । घाट भी अतिशय मनोरम हैं । सभी गोपावासों और गोशालाओं के पीछे अति सुखद उपवन हैं और तत्पश्चात् यमुना पर परम रमणीक स्वर्णिम रत्नों से खचित एक-से-एक मनोरम घाट हैं । यशोदादि गोपियाँ अपने भवनों के पिछवाड़े से इस विस्तृत उपवन के मध्य होती हुई इन घाटों पर स्नानार्थ जाती हैं । महाराज नन्दादि पुरुषों के लिये पृथक् घाट हैं और स्त्रियों के लिये पृथक् घाट हैं । वस्त्रादि बदलने के

लिये घाटों पर अलग-अलग कक्ष बने हैं । घाटों पर भी वृक्षों की घनी सुखद छाया रहती है तथा सुन्दर विकसित सुमनों से लदी हुई लताएँ, वल्लरियाँ इन घाटों के स्वर्ण खंभों को अपने आलिंगन में बाँधें रखती हैं । अतः घाट रत्नखचित स्वर्णिम शिलाओं से निर्मित होते हुए भी इन लताओं से और उनके पुष्पों से सदा लदे रहते हैं ।

अहा, यमुना की भी कैसी विलक्षण शोभा है ? अपने प्रियतम नन्दनन्दन के नेत्रों को सुख देने के लिये यमुना प्रतिपल नित नूतन अरविन्दों से अपने को सजाती है । आश्चर्य है कि अति गंभीर निर्मलतम जल से सदा भरी रहने पर भी वह पद्मों से पूर्णतया भरी रहती है । गहरे जल एवं फिर प्रवाह में तो पद्मों का होना और विकसित होना, असंभव-सा ही है। पद्मों के लिये तो पंक होना परम अनिवार्य है, परन्तु विरजा, जिसके जल में रज एवं पंक है ही नहीं, उसका शतदल सरोरुहों से परिव्याप्त रहना महती आश्चर्य ही तो है, किन्तु यहाँ तो चतुर्दिक् एक नहीं, असंख्य आश्चर्य ही आश्चर्य, विलक्षणताएँ ही विलक्षणताएँ सर्वत्र भरी हैं ।

यमुना के पश्चिमी किनारे पर भी सुन्दर घाटों की पंक्तियाँ हैं । स्थान-स्थान पर स्वर्णशिलाओं से बने घाटों पर रत्नमयी सीढ़ियाँ बनी हैं । सुन्दर चन्दन काष्ठ से निर्मित रत्नों से खचित नौकाएँ इन घाटों में पंक्तिबद्ध बँधी हैं, इनमें हलकी रत्नमयी पतवारें हैं । इन नावों से प्रायः गोप गोपियाँ यमुना संतरण कर यमुना पारवर्ती गाँवों की ओर जाती-आती हैं ।

तो लो, सारिका नन्दभवन पहुँच गयी है । सारिका भावदेह में गुरुदेव को नन्दमहल, वृषभानुमहल एवं सभी उपनन्द, संनन्द आदि प्रमुख गोपों के विलक्षण शोभामय भवनों का दर्शन हो रहा है । उनकी प्रसन्नता की सीमा ही नहीं है ।

"जो खग हौं तो बसेरो करौं, नित कालिन्दी कूल कदम्ब की डारन" के भाव से भरे पू० गुरुदेव सारिका वेश में कभी नन्दभवन के सुन्दर-सुन्दर कँगूरों में बैठते हैं, कभी प्राचीरों पर एवं कभी उपवन के पुष्पित वृक्षों पर । अत्यन्त प्रसन्नता भरे वे फुदक-फुदक कर चहकते अपनी प्रसन्नता व्यक्त कर रहे हैं। राजमार्ग के दोनों ओर विकसित पुष्पों से लदे कदम्ब, अनार, बिल्वादि के वृक्ष हैं । ये सभी वृक्ष राजमार्ग को अलौकिक शोभा सम्पन्नता प्रदान कर रहे हैं ।

गोदोहन एवं यश गायन

सभी गोशालाएँ वृक्षों से लदी हैं । इनके मुख्यद्वार राजमार्ग में खुलते हैं। गौओं के लिये अति हवादार स्वच्छ आवास बने हैं, जिनमें गोप गौओं की सेवा में निरत हैं ।

रात्रि के तृतीय प्रहर से ही गोप गौओं की सेवा में संलग्न हो जाते हैं । ब्राह्ममुहूर्त्त में तो गोदोहन ही प्रारंभ हो जाता है । गोदोहन की अति सुमधुर ध्वनि से सम्पूर्ण नन्दग्राम गूँजने लगता है । गोदोहन करते गोपालक नन्दनन्दन की सुन्दर लीलाओं का गायन करते हैं ।

गोदोहन आरम्भ होते ही गोपालों में प्रेमावेश का आरंभ हो जाता है । आजतक यशोदानन्दन ने जितनी लीलाएँ की हैं, सबकी सब गोपालकों के एवं गोपियों के हृदय-मन्दिर में अंकित हैं । गोपालकों के स्मृतिपथ में ये लीलाएँ मानो अभी हो रही हों - इस प्रकार जीवन्त उदय होने लगती हैं । हृदय में रससिन्धु उमड़ने लगता है । सभी गोपालकों के मसृण चित्त में इतना स्थान कहाँ कि वे सभी लीलायें रुद्ध हो सकें । अतः उच्छलित होकर यह रसधारा गीत के रूप में गोपालकों के मुख से निस्सृत होने लगती हैं । दोहन की ध्वनि में मिले हुए कण्ठ से गोपालकों के गीतों में नीलमणि के विविध चरित्र जीवन्त चित्रित होते हैं । गोपालकों के हाथ तो अपने प्रियतम प्राणवल्लभ नीलसुन्दर के लिये दुग्ध-दोहन कर रहे हैं, मुख से नीलमणि प्राणजीवन की रसमयी लीलाओं का गायन हो रहा है और उन सबकी चित्तभूमि में इन विविध लीलाओं के अनुरूप क्षण-क्षण में नव-नव वेष से विभूषित हुए नीलमणि नृत्य कर रहे हैं । इस प्रकार सभी गोपालक, परिचारक, परिचारिकाएँ कायमनोवाक्य से श्रीकृष्णचन्द्र प्राणवल्लभ में तन्मय हो रही हैं । और यही दशा गौओं की है । वे भी दिवसपर्यन्त अपने प्राणसुन्दर को निहारती ही रही हैं, संध्या में भी उन्होंने तभी दोहन करवाया है जब नन्दतनय उनके सम्मुख नेत्रों में प्रत्यक्ष रहे हैं । निशापर्यन्त सभी गौओं ने अपने नीलसुन्दर के ही स्वप्न देखे हैं । और अब तक वे उन्हीं के दर्शन में इतनी तन्मय हैं कि उन्हें पता ही नहीं है कि कब निशा व्यतीत हो गयी है और ब्राह्ममुहूर्त्त का प्रभाती दुग्ध-दोहन होने जा रहा है । उनकी भावना में तो नीलमणि पर्यंक में सोने गये ही नहीं है, वे उनके ही दृष्टिपथ में उनके

चतुर्दिक् ही थे, हैं, एवं रहेंगे । उनकी भावना में तो रह-रहकर नीलमणि उनके सामने आ जाते हैं और वे अपनी मूकभाषा में उनसे वार्त्ता करती रहती हैं ।

"रे ! व्रजराजकुलके तिलक ! तूने एक से एक बढ़कर परम मनोहर, सन्दर पवित्र लीलाएँ की हैं । परन्तु ओह ! पशुयोनि-जीवधारी हम गौओं पर भी तुम्हारी कैसी कृपा है कि उन सभीको तुमनें हमारी ही साक्षी में सम्पन्न की हैं । तुम हमको लीलासुख देकर किस प्रकार कृतार्थ कर रहे हो, हम तुम्हारे इस हेतुरहित प्रेम का क्या कहकर सत्कार करें । "

"अहा ! शकट-भंजन, पूतना-उद्धार, तृणावर्त-उद्धार, मृद्भक्षण, माखन चोरी, ऊखल-बंधन, वंशीध्वनि की भुवनमोहिनी का विस्तार, वत्सासुर उद्धार, बकासुर-संहार, व्योमासुरवध, अघासुर-संहार, वन-भोजन, ब्रह्म-सम्मोहन लीला आदि समस्त लीलाओं में तुम्हारी जिस-जिस माधुरी का विकास हुआ है, वह सब असमोर्ध्व है ।

इधर गोपियाँ भी नन्दनन्दन की मधुर रिंगण, विविध क्रीड़न, नर्तन, गोवत्सपुच्छधारण, उनके नवनीतहरण, आदि लीलाओं का अपने गीत-गायन में सजीव चित्रण कर रही हैं ।

अहा ! गोप गोपियों के अंगों की शोभा भी देखने योग्य है । गोपों के कटिदेश में सुकोमल रेशम की फेंट कसी है । वे छोटे-छोटे रत्नों से जटित सुन्दर बगलबन्दी पहने हैं । सिर पर उनके पगड़ियाँ हैं । गोपियों के लहँगा, कंचुकी, और रंगबिरंगी ओढ़नियाँ हैं । सभी में स्वेद, कम्प, अश्रुप्रवाह, स्वरभंग आदि सात्विक विकार व्यक्त हो रहे हैं । गोपों के अंगों में भी रह रहकर प्रकम्पन हो उठता है। यही दशा गौओं की है । गोपियों के हाथों को अलंकृत करने वाले कंकण, एवं कानों को विभूषित करने वाले कुण्डल-युग्म चंचल हो रहे हैं । गोपियों के अंगों में निरन्तर गति रहने से अंचल सिर से उतर आया है, वेणी-बंधन शिथिल हो गया है, वेणी में ग्रथित मालती पुष्प झरने लगे हैं एवं झर-झर कर चरणों का संस्पर्श कर रहे हैं। सभी गोप एवं गोपियों के प्रेमावेश के कारण प्रस्वेदकण भाल पर, कपोलों पर चिबुक पर, झलमल कर रहे हैं। इन गोप-गोपियों का प्रेमावेश के कारण बाह्य ज्ञान लुप्तप्राय: है फिर भी अपने प्राणसार सर्वस्व नीलमणि को दुग्धपान कराने की वासना के चिर जाग्रत रहने से उनकी दुग्ध-दोहन क्रिया में कोई व्यतिक्रम नहीं है । इसी प्रकार गौएं भी - नीलमणि हमारा दुग्ध पान करेगा, इस

संस्कार के बने रहने से पर्याप्त दूध दे रहीं हैं । गोपों को, गोपियों को दोहन एवं अन्य गोशालाजन्य कार्य करते हुए भी ऐसा रह-रहकर ध्यान होता है मानो शयनगृह के पर्यंक से उठकर प्रियतम नीलसुन्दर गोशाला आ गये हैं अतः क्षण-क्षण उनकी दृष्टि दायें-बायें चंचल हो रही है । इस चंचल दृष्टि से उनकी भौहों की बंकिमता परम मनोहारी हो उठी है ।

सारिका उड़-उड़कर सर्वत्र सबका प्रीतिमय व्यवहार देख-देखकर परम मुग्ध हो रही है । पक्षी होने के नाते इसका निर्बाध सर्वत्र प्रवेश जो है।

सारिका देखती है कि रजनी समाप्त हो गयी, उषा भी आकर चली गयी, अरुणोदय भी हो गया, किन्तु जननी को समय का ज्ञान ही नहीं है। वे तो अपने नीलसुन्दर की स्मृति में पूर्णतया तन्मय हैं।

महात्मा नन्दराय अपने भवन के पिछवाड़े के उपवन से होते हुए यमुना घाट पर स्नान को गये हैं। अहा ! श्वेतश्मश्रु, दीर्घ, लम्बी, शुभ्र केशराशि, वे नारायण का नामोच्चारण करते यमुना स्नान कर रहे हैं ।

सारिका उड़ती-उड़ती नन्दभवन के एक विशेष कक्ष में गवाक्षिका से झाँकती है । "अरे, अरे यह क्या हुआ ? क्या प्राणवल्लभ नन्दनन्दन अब तक निकुंज से नन्दभवन नहीं लौटे ? अरे ! उनका शयनपर्यंक तो रिक्त है ?

यह सत्य है कि नन्दबाबा एवं व्रजरानी यशोदा तथा परिचारकगणों में से कोई भी सूर्योदय से एक घड़ी पश्चात् तक इधर सर्वथा नहीं झाँकेंगे । सारिका को यह बात भली प्रकार से ज्ञात है कि महाराज नन्दराय ने एक दिवस, भगवान गर्गाचार्य, महर्षि भागुरि महातपोमूर्ति पौर्णमासी देवी, सभी से जब नन्दनन्दन की आसुरी विपदाओं से रक्षा का आश्वासन माँगा था तो उनका स्पष्ट आदेश हुआ था कि यदि इस नन्दतनूज को आसुरी विपत्तियों से पूर्णतया कुशल रखना है तो रात्रि के प्रथम प्रहर के पूर्व ही इसके शयन की व्यवस्था कर दी जाये और इसे निशा में निर्बाध एकाकी ही रहने दिया जाय । यहाँ तक कि इसके शयन कक्ष में भूलकर भी न तो नन्दबाबा, न ही यशोदा मैया, रोहिणी आदि कोई भी मातृवर्ग की गोपी प्रवेश करे, न ही ताक-झाँक करे । सूर्योदय के पश्चात् जब यह स्वयं ही, निद्रा भंग हो जाने पर 'मैया मैया' पुकार लगावे तभी कोई इसके शयन कक्ष में प्रवेश करे । तभी से यह कठोर अनुशासन ही हो गया है कि नन्दनन्दन के इस शयनकक्ष को कोई निशाप्रहरी भी नहीं झाँकता । हाँ, केवल इसमें यदि कोई अपवाद है तो वह

सुबलपत्नी कुन्दलता है । वह निशा में भी इन्हें सँभालने इस कक्ष में आ-जा सकती हैं । वे ही निशा में इनकी कुशलता का निरीक्षण करती हैं।

तो सारिका अपने प्राणवल्लभ को उनके शयनकक्ष में न पाकर पुनः तीव्रगति से यमुना की ओर उड़ चलती है। अहा ! पू० गुरुदेव के सारिकारूप में पंखों में मानो मनोगति आ गयी हो। वे अतिशय त्वरा से उड़ रहे हैं। भगवान नारायण का वाहन गरुड़ भी इस समय अनकी गति को स्पर्द्धा में विजित नहीं कर पावेगा । इतनी तीव्रगति से वे नन्दभवन के पिछवाड़े से उपवन को पारकर यमुना घाट पहुँचते है। वे यमुना में स्नान करते महाराज नन्दराय को प्रणाम करते हैं और यमुना पार कर के किनारे-किनारे दक्षिण दिशा की ओर उड़ते चले जाते हैं। जब यमुना लम्बा बहाव लेकर पूर्व की ओर मुड़ जाती है तो ये यमुना तट को छोड़कर दक्षिण-पूर्व के मध्य तिकोना कोण लेकर उड़ने लगते हैं। सीधे लम्बी दूरी तक उड़ने पर इन्हें यमुना पुनः मिल जाती है। ये यमुना पार कर पगडंडी के ऊपर उड़ते सीधे गिरिराज परिसर में पहुँच जाते हैं। यहाँ आकर वे सर्वसौभाग्यप्रद कुञ्ज में झाँकते हैं।

निभृत निकुंज : लीला दर्शन

सारिका आश्चर्यचकित है । यह गिरिराज परिसर भी विलक्षण अप्राकृत सौन्दर्ययुक्त है। लीला परिकरों की सुख-सुविधा के लिये, उन्हें भाँति-भाँति के उपकरण दे-देकर उनका प्रीति-विधान करने के लिये, प्रिया-प्रियतम की लीला को मधुरातिमधुर बनाने के लिये, उन्हें अभिनव रसपान कराकर क्षण-क्षण में आनन्दसिन्धु में निमग्न कर देने के लिये अहा ! यह भूमि प्रतिक्षण अपना रूप नव-नव सुन्दर परिवर्तन कर लेती है । जो एक क्षण सौन्दर्य अभिव्यक्त होता है, दूसरे क्षण उसका रूप दूसरा ही परिवर्तित हो जाता है । सर्व-सौभाग्यप्रद कुंज को सारिका ने कितनी ही बार देखा है, यहीं से तो उड़कर वह नन्दभवन गयी थी । वैसे, नन्दभवन से गिरिपरिसर की दूरी सोलह कोस है, परन्तु यदि प्रिया-प्रियतम को अपने निवास में वृन्दावन में अभी पहुँचना है तो इस विलक्षण भूमि में यह दूरी ठीक उतने ही समय के अनुरूप यात्रा के योग्य हो जाती है । यहाँ ऐश्वर्यशक्ति की सहायता से चमत्कार सर्वथा नहीं होता, यहाँ तो बाहर से तनिक भी, कुछ भी गन्ध न देकर, किसी भी अस्वाभाविकता का तनिक भी प्रकाश न करके अचिन्त्य लीलाशक्ति इस भूमि को तत्क्षण ही यात्रा के योग्य रूप दे देती है । न तो लीला परिकर को यह ज्ञान होता है

कि भूमि संकुचित हो गयी है, न स्वयं उस भूमि को ही यह भान है कि उसने अपना रूप संकुचित किया है । इसी प्रकार यह रूपसौन्दर्य में भी नवीन नवीनतर सुभग सज्जाओं से सज्जित हो जाती है । इसे स्वयं को ही पता नहीं लगता कि कदम्ब के स्थान पर चमेली की बेला कैसे परिवर्तित हो गयी।

एक क्षण पूर्व जहाँ कदम्ब था यदि प्रिया-प्रियतम को चमेली के पुष्पों की आवश्यकता हो जाय तो वही कदम्ब तत्क्षण ही चमेली में परिवर्तित हो जाता है। बात यह है कि कदम्ब बना हुआ लीला परिकर स्वयं लीला का संविन्मय जीवन्त अंग है । वह प्रिया-प्रियतम को सुख देने की लालसा से तत्क्षण ही दूसरा रूप ग्रहण कर लेता है। इन्द्र-नीलमणि-तरु लीला में योगदान करने के लिये आवश्यकता होने पर जल का ह्रद हो जाता है । जल का ह्रद मणिमय सुभगतटों से युक्त हो जाता है । फिर किसी भी परिकर की इच्छा, संकल्प होते ही मनोहर सौरभपूर्ण सुन्दरातिसुन्दर, पर देखने में प्राकृत कदम्ब जैसे ही पुष्पदान कर सकता है । पद्मराग का अशोक प्राकृत की भाँति अथवा ज्यों का त्यों रहकर कर्णाभरण के लिये गोप सुन्दरियों के हस्त कमल पर सुन्दर स्तबक-गुच्छ एवं साथ साथ ही प्राकृत अशोक कुसुम के समान ही दर्शनीय कुसुम-गुच्छ देकर लीला की धारा को अक्षुण्ण बनाये रह सकता है। अहा ! सारिका के वेष में पू० गुरुदेव चकित हैं । वे स्पष्ट देख रहे हैं, एक क्षण जो मणिमय रसाल है वही सुस्वादु आम्रफलों की वर्षा कर रहा है । सम्पूर्ण गिरिपरिसर का क्षेत्र प्रिया-प्रियतम की इच्छानुसार प्राकृत-सा बनकर रसपोषण में अपना योगदान कर रहा है । जो चिन्तामणिमय उद्यान है, जहाँ एक क्षण पूर्व यमुना नदी एवं उसके तट की परिकल्पना ही नहीं, वही मणिमय उद्यान, सुरम्य यमुना तट बनकर बालुका राशि से युक्त हो जाता है । विलक्षण देश है यह -- जहाँ जो चाहिये, जब चाहिये, वही प्रस्तुत हो जाता है । लीला की मधुमयी धारा निर्दिष्ट क्रम का अनुसारण करती आगे से आगे प्रसरित होती रहती है ।

सारिका की आँखों में न जाने किस अचिन्त्य सौभाग्य से, प्रियाप्रियतम की चरणरेणु की कृपा से निभृत निकुंजलीला की एक झाँकी प्रकट हो गयी । अहा ! वृन्दावनेश्वर और वृन्दावनेश्वरी का कैसा सुन्दर विहारमन्दिर है यह । अहा ! इस में राधा-माधव के स्वरूपानन्द से चिन्मय अनादि-अनन्त रस की स्रोतस्विनी बह रही है । अहा ! कैसी अनमोल निधि है यह नील-पीत-द्युति।

इन नील-पीत-द्युति के लिये पद्मोदभव पितामह भी तरसते हैं। नारद-सनकादि ऋषियों की वैकुण्ठ, कैलाश और ब्रह्मलोक में निर्बाध गति भले हो, व्रजपुर का अनिर्वचनीय आनन्द इनके लिये सुदुर्लभ है फिर इस निभृत-निकुंज में प्रवेश का तो प्रश्न ही नहीं है । फिर यह सारिका साधारण पक्षी, जो एक ब्राह्मण सन्यासी मानव का भावदेह है ऐसा महाभाग्यवान कैसे हो गया कि शिव-सनकादि-सुदुर्लभ-गति में इसका प्रवेश निर्बाध हो रहा है । यह पक्षी व्रजपुर स्थित नन्दभवन में निर्बाध सर्वत्र विचरण कर आया है, वहाँ गोप-गोपियों, यशोदा-नन्दादि महामहिम स्वरूपों के दर्शन और प्रीति भावों में अवगाहन कर आया है और अब इसे व्रजमंडल के सर्वलीलामुकुटमणि इस राधा कुण्ड के भी दर्शन हो रहे हैं। अरे, अरे ! यह सर्वसौभाग्यप्रद इस निकुंज में ही नहीं इसके निभृत में स्थित प्रियाप्रियतम के शयन कक्ष में भी झाँक रहा है। यह कैसे संभव हो गया ? यह तो महती आश्चर्य ही है । अरे भाई ! इसे साधारण पक्षी मत मान लेना । इसने नीलसुन्दर एवं भानुकिशोरी के स्वरूप-विलास में अपने चित्त का सर्वथा, सर्वांश में विलय कर लिया है । इसके मन से अन्य किसी जगत की, प्राकृत लोकों की स्फूर्ति सर्वथा, सर्वांश में ही समाप्त हो गयी है । इसे तो सर्वत्र सर्वरूपों में मात्र सच्चिन्मयी नील-पीत-द्युतिही भरी दृष्टिगोचर होती है । इसने नीलसुन्दर की अहैतुकी कृपा का अवलम्बन लेकर इस नील-पीत-द्युति को अपने उरस्थल में इस प्रकार विजड़ित कर लिया है कि इसके लिये देवाधिदेव इन्द्रपद ही नहीं, वैकुण्ठ एवं कैलाश के सुख तो काकविष्ठावत् हेय हो ही गये हैं, मोक्षपद और अपुनर्भव सुख भी तृणवत् त्याज्य हो गये हैं । अत: इसके पीछे लौटने की तो अब संभावना ही सर्वथा समाप्तप्राय: है । तभी न इसके पंखों में नीलसुन्दर की नित्य लीलास्थली व्रजपुर की ओर उड़ने की स्पृहा जाग्रत हुई है । तभी न इसका प्रादुर्भाव भगवती निकुञ्जेश्वरी किशोरीरानी के कृष्ण-कुन्तलों से संभव हुआ है ।

तो देखो ! सारिका अपने चक्षुओं से निहार रही है । उसके नेत्र अर्द्धनिमीलित हैं। वह मणिमय निकुंज की गवाक्षिका से निकुञ्ज-कक्ष में शयित नराकृति परब्रह्म और उसकी ह्लादिनीशक्ति की झाँकी कर रही है । शयनागार अभिनव चिन्मय रस से प्लावित हो रहा है । प्रियतम के तन का अणु-अणु अपनी किशोरीरानी के रस में निमग्न है और रानी चिन्मय भाव समाधि में डूबी है ।

रानी के बाहुपाश में निबद्ध प्रियतम का अप्रतिम अनिंद्य सौन्दर्य-माधुर्य ऐसा विलक्षण है जैसा आजतक बाल्य, पौगण्ड -- किसी अवस्था में कभी किसी के अनुभव में नहीं आया । अहा ! पीतद्युति कनकवर्णी अभूतपूर्व कमलिनी पद्मा एक अद्भुत अपूर्व नवीनतम नीलपद्म से गुँथी हुई है । अहा ! कैसे विलक्षण अरविन्द-द्वय हैं ये, जिनका आघ्राण इससे पूर्व के अवतारों में तो भक्तों ने अनुभव किया ही नहीं, इस कृष्णावतार की किसी अवस्था में भी किसी गोपी को ऐसी झाँकी कभी भी नहीं हुई । ऐसी अतुलनीय सुन्दर, मधुर, मनोहर युगल रूप की जो झाँकी सारिका को इस समय हो रही थी, वह त्रिगुण से सर्वथा, सर्वथा परे की थी । सारिका निर्निमेष नयनों से देखती ही रह जाती है । अनन्त रससागर में वह डूब ही जाती है । बाह्य-ज्ञान खोकर वह अन्तःश्चेतना के जगत में जा पहुँचती है । वह अनुभव कर रही है कि सम्पूर्ण व्यवधानों को सर्वथा अपसारित कर, प्रियतम नीलरमण अपनी प्रिया के भुजपाश में बँधें हैं । दो अरुणिम नवल पल्लवों से प्रिया के चित् पीयूष का वे पान कर रहे हैं । दोनों युगल दंपति का परिरंभण इतना सुदृढ़ है कि जिसे विश्लेष कभी स्पर्श कर ही नहीं सकता । और इस रसपान में विराम का प्रश्न ही नहीं है । कालातीत निर्बाध, अखण्ड, असीम रसप्रवाह उच्छलित हो रहा है ।

परन्तु यह क्या ? अब तो प्रभात हो रहा है । चन्द्रमा पश्चिम गगन में भागा जा रहा है । देखो, देखो, तब ? क्या इनको पृथक् होना पड़ेगा ? परन्तु इन दोनों के अंग-अंग प्यार से इतने भरे हैं कि ये तो मानो किसी भी परिस्थिति में कभी भी पृथक् किये ही नहीं जा सकेंगे । क्या इनकी यह प्रेमनिद्रा हर लेने की सामर्थ्य किसी में है ? कौन ऐसे अचिन्त्य रस-सुख में डूबे इनको जाग्रत करने का दुस्साहस कर पावेगा ?

परन्तु यह क्या, एक वनकुक्कुट के मुख में इन युगल रसिक दंपति की निद्रा हर लेने की सामर्थ्य प्रदान कर स्वयं अचिन्त्य योगमाया महाशक्ति मानो इन वृन्दावनेश्वर, वृन्दावनेश्वरी के कमनीय श्रीअंगों में विलीन हो जाती हैं । बडभागी विहंगम पहरुआ खग जोर-जोर से बांग देने लगता है । और फिर तो सभी पक्षियों का वह तुमुल कोलाहल प्रारंभ हो जाता है जिसकी तुलना ही नहीं । चकवा-चकवी रसमयी वार्ता करने लगते है । चातक पुकार उठते हैं । कपोत-कपोती भी अपनी घुत्-घुत् ध्वनि में ताल देने लगते हैं। कोकिल गायन करने लगती हैं ।

परन्तु सारिका इन युगल दंपति के विरह की आशंका से असह्य वेदना में भर उठती है । उसकी वेदना इतनी अथाह हो उठती है, मानो उसका प्रशमन हो ही नहीं पावेगा ? परन्तु ज्योंही वह वेदना सहनशक्ति-सीमा का उल्लंघन करती है एक विलक्षण नवीन सत्य सारिका के सम्मुख उजागर हो जाता है।

नहीं, नहीं, इनका विलगता संभव नहीं है। इनमे वियोग हो ही नहीं सकता । इनका मिलन संयोग-वियोग इस द्वंद्व की परिधि के परे का है ।

सारिका अनुभव करने लगती है, अरे ! अभी तो ये प्रकट-विलास में लीलायमान हैं, परन्तु ज्योंही इन युगल दम्पति के अंग-अंग विलग होंगे इनका गोपन भाव-विलास प्रारंभ हो जायगा । प्रियतम प्रिया के उरस्थल में विलीन हो जायेंगे और प्रिया प्रियतम के उरस्थल में समाहित हो रहेंगी । और तब इनका एक दूसरे के परस्पर हृदयों को अपना निलय बनाकर, वहीं प्रतिष्ठित रहकर लीला कल्लोलिनी का सृजन प्रारंभ हो जायेगा । सारिका स्पष्ट अनुभव करती है कि जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति, सभी काल, सभी देश में प्रिया प्रियतम नित्ययुगल ही रहते हैं, कभी ये दो से एक होते ही नहीं । इनका नित्य द्वैत ही एकत्व है । और एकत्व ही नित्य द्वैत है । यह पीत-कलेवर नीलकलेवर को एवं नीलकलेवर पीतद्युति को, महारस-विलास की ऊर्मियों से आप्यायित करता ही रहता है ।

सारिका इस भाव तरंग में परिस्नात हुई बोल उठती है :-"अहा ! मेरे प्राणवल्लभ का अपनी प्रिया से नित्य मिलन है । इन्हें परस्पर वियोग की छाया छू ही नहीं सकती ।"

सारिका नाच रही है -"नित्य मिलन ! नित्य मिलन !! अखण्ड मिलन!!! मिलन ही मिलन !!!!" और सारिका के स्वर में स्वर मिलाकर वन के सभी विहंगम बोल उठते है- "निर्बाध मिलन, निर्बाध मिलन ।"

और कौन कहे, भविष्य में यह सारिका आगे क्या-क्या नित्य अभिनव नूतन देखेगी और महा आनन्द सिन्धु में नाचती रहेगी ।

दिशि दिशि शुकसारी मण्डलैर्गूढलीला
प्रकट मनु पद्दभिर्निर्मिताश्चर्यपूर : ।
तदति रहसि वृत्तं प्रेयसी कर्णमूल
स्मितमुखमभिमन्यं भाति कुंजे बिहारी ।।

सारिका प्रसंग : तृतीय लीला

रूपदर्शन

लो, गिरिराज परिसर से उड़ती हुई सारिका पुनः नन्दभवन में आ गयी । पुनः सारिका ने अपने प्राणपति नीलसुन्दर के शयनकक्ष की ओर प्रस्थान किया और गवाक्षिका से उसके भीतर दृष्टि डाली । देखते ही उसे प्रतीत हुआ मानो स्रष्टा ने विश्वातीत सुन्दर श्यामघन किशोर के विचित्र रूप का निर्माण किया है । सारिका ऐसे सुन्दर रूप को देखकर फूली नहीं समा रही थी । अतृप्त नयनों से वह शयित नवघन-सुन्दर अपने प्राणपति का सौन्दर्य निहारती हुई वहीं उसी गवाक्षिका में नृत्य करने लगी । उसके मुख से संगीत झरने लगा। सारिका गायन करने लगी :-

जहँ जहँ नयना लगत, तहँ तहँ तासौं खगत
अंग अंग माधुरी बरनी न जाई !!
सुन्दर भाल कपोल मोहन मधुरे बोल
नासिका चिबुक अधर मन रह्यौ है लुभायी ।
हसन दसन ललन मुख की लुनाई
यह छवि निरखन कहा कहौं, दौरी हौं आयी ।
गोविन्द प्रभु की सुन्दर बानिक पर रसिक जन बलि बलि
बलि बलि जायी ।

नाचते-गाते सारिका के मन में आया - एक बार अपने प्राणपति से सर्वथा मिल जाऊँ । उनके अहा ! परम प्रेमास्पद अंगों का निकटतम स्पर्श पाकर कृतार्थ हो जाऊँ । साथ ही इनकी श्यामता की एक पुट मेरे अंगों में भी लग जाय ; अहो ! इन मेरे प्रियतम का मुख तो एक प्रस्फुटित अरविन्द है । दोनों नेत्र दो उत्फुल्ल कोरक हैं । ये दोनो चरण तो पूर्ण विकसित पंकज हैं । सारिका इस सौन्दर्य को देखकर स्तब्ध है । अहा ! जिस अंग पर दृष्टि डालो वहीं-वहीं उसकी दृष्टि सुस्थिर हो जाती है। उसके मन, प्राण ही नहीं रोम-रोम विमोहित हो रहे हैं ।

यमुना दर्शन एवं स्तुति

सारिका बहुत काल तक इस रूप छबि को हृदय में अंकित कर पुनः फुर्र उड़ चलती है । वह उड़ती हुई सुभग यमुना तट पर आ जाती है। वह यमुना महारानी के दर्शन करती है । उसके प्रियतम श्यामसुन्दर के अंगों की अद्भुत श्यामलता जैसे यमुना महारानी ने चुरा ली हो - वह देखती ही रह जाती है। वह अपने प्राणपति के अंगों की तुलना यमुना के स्वरूप से कर बैठती है । उसे आश्चर्य होता है कि ऐसी श्यामलता यह कलिन्दनन्दिनी कहाँ से प्राप्त कर पायी ? वह विचार करने लगती है :- "क्योंकि प्रियतम सखियों सहित इसमें जल विहार करते हैं, क्या उस समय श्याम रंग रञ्जित अपने अंगों को धोने से यह यमुनाजल श्यामवारि हो गया है ?" श्रीमती यमुनादेवी के दर्शन मात्र से सारिका का अंग-अंग पुलकित हो उठता है। उसे अपने रसमयी जन्म की स्मृति हो आती है जब यमुना सखी प्रतिदिन प्यार में भरकर उसे प्रिय पूजा के लिये नित्य नवीन रसपूर्ण सामग्री, वस्त्र एवं अलंकार प्रदान करती थी । ये यमुना ही प्रिय-विरह-काल में उसे मिलन की आशा बँधाती थीं। आज भी यमुना उसे जैसे प्रकट होकर कह रही थी:-"बहिन ! सारिके !! वे हमारे प्राणवल्लभ विलक्षण प्रेम-दानी हैं । जो इनका मात्र ध्यान, स्मरण-चिन्तन भर कर लेता है उसे ही अपना स्वरूप दान कर देते हैं। देख, न ! मुझ जड़ नदी पर इनकी कैसी अद्भुत कृपा है। इन्होंने मुझे अपने श्यामल अंगों की आभा प्रदान कर यत्किञ्चित् अपनी तुलना की सामग्री बना ली है । इतना ही नहीं इन्होंने मुझे तो अपना प्रिया-पद देकर श्यामा नाम ही प्रदान कर दिया है । अपनी प्राणप्रिया किशोरीरानी सहित ये मेरे सँग नित्य विहार करते हैं ।" सारिका आनन्द में मत्त हुई यमुना महारानी की स्तुति करने लगती है:-

"नमो तरणितनया, परम पुनीत जग पावनी कृष्ण मन भावनी
रुचिर नामा ।।
अखिल सुखदायिनी सर्वसिद्धि हेतु श्रीराधिकारमण रतिकरण श्यामा
विमल जल सुमन कानन मोदयुत पुलिन अतिरम्य प्रिय ब्रजकिशोरा।
गोप गोपी नवल प्रेम रति बंदिता तट मुदित रहत जैसे चकोरा।

लहर भाव लालित बालुका सुभग व्रजबाल व्रत पूरण रास फलदा।
ललित गिरिवरधरण प्रिय कलिन्दनन्दिनी निकट कृष्णदास विहरत
प्रबलदा ।।"

"अरी, बहिन रवितनये ! तू तो महाभाव की साक्षात् मूर्ति है । रसिकशेखर रसराज नीलसुन्दर जो पुनीतों को पुनीत करने वाले हैं, उनके लीला जगत् - इस ब्रजप्रदेश को तू सदा अपनी प्रीतिरसरूप जलप्लावन से सिञ्चित कर परम पावन करती रहती है । तेरा नाम श्रीकृष्णप्रिया राधा से समत्व करता है। श्री किशोरीरानी वृषभानुतनया हैं और तू भानुतनया है । इस साम्यता के कारण प्रियतम प्राणवल्लभ नीलमणि को तेरा नाम परम रुचिर लगता है और तू उनके मन को निरन्तर मोहित करने वाली, उन्हें परम मन-भावन लगती है ।

"बताओ बहिन ! अखिल विश्व तो तेरे प्राणवल्लभ के एक रोम के कोट्यंश में ही स्थित है । हे कलिन्दनन्दिनी ! जब वे तेरे तट पर सुरभित सुमनों से आच्छादित कानन में पहुँचते हैं, तभी न उनकी चित्तभूमि में रस संवर्द्धन होता है । और उन नीलमयंक देव के ओठों पर ज्योंही स्मित विराजित होती है, अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड युगपत् एक साथ सुख समुद्र में परिस्नात हो जाते हैं। बहिन ! सब सिद्धियों की हेतु तो नन्दनन्दन की मन्द मुसकान ही है। और प्राण प्रियतम के मन्द मुसकाते अधरों पर वंशी केवल तेरे तट पर ही स्थापित होती है ।"

"हे तरणितनये ! ज्योंही ये प्रियतम तेरे तट पर बहती समीर का संस्पर्श पाते हैं, उनके कर स्वतः ही अपने अधर पल्लवों पर वेणु संस्थापित कर लेते हैं । अनन्त रससमुद्र हिलोरें लेने लगता है । अपनी प्रिया के अगणित यश एवं नामों के गायन में वे मुग्ध हो जाते हैं । विश्व में ह्लादिनी-सार-सर्वस्व भगवती श्रीराधा और उनकी कायव्यूहरूपा गोपियों के सिवा और सिद्धि हो ही क्या सकती है ? उन्मद वेणुनाद के श्रवणगत होते ही कोटि-कोटि रमा-रति-वन्दिता गोपांगनाएँ तेरे तट पर अति प्रमुदित आकर्षित हुई चली आती हैं । और जैसे चकोर अनन्त लालसा से अपने प्रियतम चन्द्रमा को निहारता है, वे अपने नीलमयंक को अपलक निहारने लगती हैं । तेरे तट के दोनों ओर सुमनों से लदा परम सुरभित कानन है जो प्राणवल्लभ को अतिशय रमणीय है । वह अपार प्रेम बढ़ाने वाला है । अहा ! तेरा जल भी परम

निराविल निर्मल है । हे यमुने ! तेरे तट पर रजत चूर्ण सी अनमोल बालुका परम सुभग है । गोपियों को अपनी सम्पूर्ण प्रीति साधना का प्रत्यक्ष फल प्रियतम श्यामसुन्दर का अंग-संग वहीं प्रथमतः रास के समय प्राप्त हुआ था।"

"अहा ! वह कैसा सुभग काल था जब सुदक्ष चकोरी श्रेणी-सी गोपियाँ कृष्ण शशधर को देखकर तेरे बालुका प्रदेश में एक सुभगस्थल पर एकत्रित हो गयी थीं । श्याममयंक के चतुर्दिक समवेत (एकत्र) हुईं विरहानल से संतप्त उन व्रज ललनाओं की कैसी झाँकी थी । अहा ! प्रियतम श्याममयंक के परम सुखद शीतल, शंतम सौन्दर्यसिन्धु का वह अवगाहन कैसा मादक था ? इसे भला कौन वाणी दे सकता है ? इसे तो गूंगे के गुड़-स्वाद की तरह वही केवल अनुभव कर सकता है जिसके नयनों में वह रूप सुधोदधि कभी अचिन्त्य सौभाग्यवश उच्छलित हो उठा हो ।

"महाभागा गोपियों की तन-मन की सम्पूर्ण ज्वाला पलक पड़ते न पड़ते प्रशमित हो जाती है । उनके अनादि अनन्त दुखों का सदा के लिये अवसान हो जाता है। उनके हृत्तल का अनुरागसिन्धु अनन्त ऊर्मियों से परिपूरित हो उठता है। उन्हें अपने प्रियतम के संग महारास फल की प्राप्त हो जाती है।"

"अहो, मेरे प्राणवल्लभ गिरिवरधारी की प्रिया कलिन्दनन्दिनी ! यह कृष्णदास भी तेरे निकट इसी प्रबल इच्छा की पूर्ति के लिये निवास कर रहा है।"

सारिका यमुना महारानी की स्तुति कर रही थी कि उसकी दृष्टि वहीं विचरते प्रियतम नीलसुन्दर पर पड़ जाती है । "अरे ! क्या ये शयन कक्ष से उत्थित होकर यमुना तट पर आ गये ?" वह आश्चर्य कर उठती है और देखती है कि एक पुष्पित कदंब के नीचे उसके प्रियतम खड़े हो गये हैं ।

अहा ! प्रियतम श्याम सुन्दर को अपने तट पर देखते ही कलिन्दनन्दिनी में कैसा उद्दाम अनुराग उमड़ पड़ा है । स्वप्न में भी प्रकृति ने ऐसे पद्मों की कल्पना नहीं की होगी जैसे वहाँ खिल रहे हैं। रवितनया ने अपने अञ्चल के अनन्त पद्मों में से कुछ सुन्दरतम पद्म एकत्रित किये और इस ढ़ेर में अपने कोष की श्री भी मिला दी, फिर इस ढ़ेर को उसने नन्दनन्दन के चरणों में पुष्पांजलि के रूप में समर्पित कर दिया । अहा ! एक से एक अप्राकृत सुन्दर पद्म भी पद्मावल्लभ प्राणप्रियतम नीलमयंकदेव की शोभा के सम्मुख तुच्छातितुच्छ अनुभूत हो रहे हैं। स्तब्ध होकर तरणितनया अपने प्रियतम को निरखने लगी । वह अपलक नेत्रों से प्रियतम को निहारती रही ।

तरणितनया की इच्छा हो रही है कि वह अपने प्राणसुन्दर के शीतल शंतम चरणों में सदा-सदा के लिये समाहित हो जाये।

रूप-शील गर्विता गोपी

और देखो ! देखो !! यह कौन गोपांगना है जो एक युवक के साथ घाट पर बँधी नाव पर आकर विराजित हो गयी है। संभव है, यह यमुना संतरण का मनोरथ किये है । अहा ! रत्नजटित मयूराकृति नाव पर इस गोपसुन्दरी का सौन्दर्य विलक्षण शोभा प्रसार कर रहा है ।

परन्तु क्या किसी ने उसे समझाया नहीं है कि यमुना तट पर निश्शंक आना-जाना सापद है । इस मार्ग में मयूर मुकुट धारण किये, पिंगल दुकूल पहने, अपने श्यामल सुन्दर तन में केसर युक्त चन्दन चर्चित किये हुए एक सुन्दर बालक घूमता रहता है । उसकी अंगकान्ति इतनी कमनीय है किं उस पर बस दृष्टि ही पड़नी चाहिये, फिर तो उसे देखते रहने में एक क्षण का भी व्यवधान इन नेत्रों को सहन नहीं होता । उसकी माधुरी के सम्मुख जब स्वयं मन्मथ भी लज्जित हो उठता है तो इन अबला गोपांगनाओं की बात ही क्या है ?

निश्चय ही इसको इसकी ननद ने बहुतेरा समझाया है । परन्तु यह रूप-गर्विता ही नहीं, अतिशय शील-गर्विता भी है । इसने नेत्रों में रोष भरकर अपनी ननद को बहुत धिक्कारा है ।

"तुम सभी व्रजेन्द्रपुरी की बनिताएँ अपने कर्तव्य, अकर्तव्य, धर्म, शील और ज्ञान को भी विस्मृत कर चुकी हो । तुम सभी ने व्रजेश के उस श्यामल किशोर को न जाने क्या से क्या मान लिया है ? तुम सभी अकारण ही इस किशोर के पीछे अपनी सम्पूर्ण मर्यादा, कुल-कीर्ति, लोक-लज्जा एवं स्वाभिमान तक को तिलांजलि दे चुकी हो । घर-द्वार की सब मर्यादा त्याग कर तुम अकारण उसके पीछे उन्मादिनी हो गयी हो।"

अपनी ननद को इस प्रकार कटूक्तियों से आहत करके ही यह अपने सहोदर भाई के संग यमुना-पार अपने पीहर जाने के लिये यहाँ घाट पर लगी नाव पर बैठी है । यह यमुना पार जाना चाहती है। इसे पता नहीं इस नीलमयंकदेव पर जब तक किसी की दृष्टि नहीं पड़ती तभी तक वह भले ही सयानापन बरत ले।

लो, विलक्षण रसिक नीलसुन्दर की दृष्टि इस गोपी पर पड़ ही गयी । धूँए का वितान तानकर यद्यपि हेमन्त ने इसे नन्दनन्दन की दृष्टि से बचाने की बहुत चेष्टा भी की । संभव है यशोदामैया अपने नीलमणि को हेमन्त के प्रकोप से बचाने वस्त्रों में ही छुपाये रखे एवं सूर्य ऊपर उठने तक बाहर न निकलने दे, इस प्रकार यह गोपी सकुशल यमुना पारकर अपने पीहर चली जाय--हेमन्त की योजना सर्वथा असफल हो गयी। हेमन्त की आँखों के सम्मुख ही नीलसुन्दर काली कमली ओढ़े नन्दभवन से बाहर निकल आये और पलक झपकते ही अपनी स्वाभाविक विश्वविमोहक ललित त्रिभंगी छबि धारण कर यमुनाघाट पर इस कदम्ब के नीचे खड़े हो गये । हेमन्त ने इस अभिमानिनी गोपी की दशा का अनुमान कर राशि-राशि ओस-कणों के रूप में अपने अश्रु-बिन्दु बिखेर दिये ।

सारिका हेमन्त के सभी प्रयासों को देख रही थी । वह जोर से बोल उठी -

सुनती हो कहा, भजि जाओ घरै
बिंध जाओगी नैन के बानन ते ।

परन्तु सारिका की उच्चस्वर में दी गयी चेतावनी को भी गोपी अनसुनी कर गयी । लो अब इस चापल्यसीम की चपलता देखो । यह रसिकशेखर नाव पर पहुँच गया है। देखो, गोपी ने अपनी ओढ़नी से नाभितक नीचा घूँघट खींच लिया । परन्तु इस नीलमणि की झाँकी उसे मिल ही गयी ।

अरे ! अरे !! गोपी के नयनों में श्याम रूपसुधा भर गयी । उसी समय 'कुहू' 'कुहू' करती कोकिला पुकार उठी । परन्तु अहा ! गोपी के श्रवणों में जो नीलसुन्दर ने अपनी रसमयी वाणी -"अरी, तू कौन की बेटी है, कौन गाँव से आयी है री ? - से मधुधारा बहा दी, कोकिल में कहाँ सामर्थ्य है कि उससे स्पर्द्धा कर सके । अरे, अरे, पवन ने श्रीकृष्णअंगों को छूकर गोपी के नासापुटों में एक विलक्षण सुरभि भर दी । ठीक इसी समय श्री कृष्ण के मुख कमल पर मन्द मुसकान छा गयी । अब तो गोपी की सभी इन्द्रियाँ चिपक गयीं इस सलोने श्याम शशधर पर । लो ! गोपी अपनी जन्म-जन्म की अर्जित अनन्त पुण्यराशि का फल पा गयी । योगीन्द्र-मुनीन्द्र-वशकारी मुसकान में मिलकर वह तन्मय हो गयी ।

अरे, नीली शैवालिनी के तट पर भीड़ लग गयी है । नख-शिख आभूषणों से सजी, नवीन परिधान पहने अपने भाई के साथ पीहर जाने को उद्यत नाव पर आसीन गोपी बाह्यज्ञानशून्य हो गयी है । उसका तपाये स्वर्ण-सा पिगंल सुन्दर कलेवर काँप रहा है । उसे कुछ भी सुध-बुध नहीं है। भावों की ऐसी उद्दाम आँधी उसके मानस में आ रही है कि उसे न गृह-ज्ञान है, न कुल-मर्यादा का । उसका सम्पूर्ण अस्तित्व ही कृष्णमय हो गया है; फिर भला वस्त्रों की किसे सुधि हो ? उसके सब परिवार के लोग इकठ्ठे हैं । वह अपनी ननद के गले लिपट गयी है । उसके नेत्र फव्वारों की तरह अश्रु-वर्षा कर रहे हैं । वह अति मंद स्वर में अपनी ननद को गीत सुना रही है:-

सजनी मोते नयन गये ।
अब तो आस नहीं आवन की हरि के अंग छ्ये ।
जबते कमल नयन उन निरखे छिन महिं और भये ।
मिले जात हरदी चूना ज्यौं एक हि रंग रये ।
मोकौं तज भये आप स्वारथी बिसर सुमत्त भये ।
सूरश्याम के रूप समाने मानो बूँद तये ।

"अरी मेरी बहना ! क्या हुआ था मेरे साथ, तू सुन ले री ! मैं तो नीली शैवालिनी के तट पर लगी नाव पर आसीन केवट की प्रतीक्षा कर रही थी । अरी ! मुझे क्या पता, वहीं द्रुमजालों मे निलीन यह नन्दतनय भी वहीं खड़ा था । जैसे ही मुझे उसकी किंचित-सी झाँकी मिली मैंने अपनी नाभि तक लम्बा घूँघट निकाल अपने मुख को ढाँप लिया । नयन नाव की थली पर चिपका लिये । निम्न मुख कर लिया । परन्तु अरी ! इस नीलसुन्दर के श्रीअंगों से ऐसी अप्रतिम अमृतरस की धारा प्रसरित हो रही थी उसने सम्पूर्ण नौका को ही नीलमणि बना दिया । मेरा सहोदर ही नहीं, सम्पूर्ण प्रपंच ही मेरी दृष्टि से ओझल हो गया । मुझे तो यही प्रतीत हो रहा था-- मैं इस नीलमणि में डूब रही हूँ। यह एक अभिनव रसामृत वारिधारा है और मैं इसमें घुल रही हूँ।"

"अब तो बहिन ! मुझे कुछ भी नहीं दिखता । मुझे क्या हो गया है री ? तू भी मुझे मात्र एक पल धूमिल-धूमिल दिखती है, शेष सर्वत्र बस मेरे चतुर्दिक एक ही नीली श्यामल छबि भर गयी है।

"अरे ! अरे ! भाई ! मेरी ओर क्या देख रहे हो ? इसे देखो न। तुम्हारा अस्तित्व सफल हो जायगा। अरे, तुम सब भी इसकी मुसकान में मिलकर तन्मय हो जाओ न ? देखो, देखो ! चंचल अरुणिम नेत्रों की बंकिम चितवन से प्रीतिरस का परम मधुर निर्झर झर रहा है । कोटि-कोटि कंदर्पों को लज्जा के घन-आवरण में आवृत कर देने वाला अतुल सौन्दर्य इसके रोम रोम से प्रस्फोट हो रहा है । अरे ! शिरीष पुष्पों को अपनी सुभग चूड़ा में विजड़ित किये, मल्लिका पुष्पों की माला पहने विलक्षण सरसता का पुञ्ज वह जहाँ जाता है, शोभा बिखेरता जाता है ।"

"उसके सम्मुख मैं अवश हो गयी - इसमें मेरा दोष ही क्या है ? अरे इस नील-कमल-मुख की शोभा का क्या वर्णन करूँ ? कैसी मुनिमनमोहन इसकी छबि है । घन-कृष्ण-कुंचित-कुन्तलराशि-मण्डित इसके मस्तक पर मयूरपिच्छ-गुम्फित आभूषण धारण किया हुआ है । अरे, उस आभूषण पर पाटल पुष्पों की शोभा तो देखते ही बनती है । अहा, उसकी नीलग्रीवा में मुक्तामाल लहरा रही है । उसने बरबस मुझे अपने अंक में भर लिया री !"

"अरी बहिन ! अब तो मैं सर्वथा अंधी हूँ । मेरे नेत्र उसके मनोहारी परम रसमय रूप में डूब गये हैं । उनके अब लौटने की कोई आशा ही नहीं रही है । वे तो योगीन्द्र-मुनीन्द्र-विमोहन हरि के अंगों में ही चिपक गये हैं । जैसे हरदी चूना मिलकर रोली हो जाती है । वैसे ही अब वे कुछ और ही हो गये हैं । मुझे उन्होंने मतवाले होकर सर्वथा त्याग दिया है । जलते तवे पर जल की बूँद जैसे गिरते ही विलीन हो जाती है, वैसे ही मेरी अस्मिता उसके सुभग सुन्दरतम अंगों में मिलकर विलीन हो गयी है ।"

"अरी बहिन ! अब तो केवल एक ही लालसा शेष है । नेत्र भर कर मन्मथमथन अपने जीवनधन को बस निरन्तर निहारती रहूँ और उसके मनहरण संस्पर्श में यावज्जीवन गुँथी रहूँ ।"

और सारिका उन्मादिनी हुई एक ही रट, एक ही छन्द निरन्तर उच्चारित कर रही है । उसके लिये यह छन्द महामंत्र हो गया है।

सुनती हो कहा, भजिजाओ घरै, बिँध जाओगी नैन के बाननते ।।

और उसके पीछे सभी पक्षी यही गान कर रहे हैं । गोपावासों में अट्टालिकाओं में, गोशालाओं में, महलों-महलों में, यमुना के तट में, सरोवरों में, सर्वत्र एक ही गीत गुंजरित हो रहा है - **"सुनती हो कहा,भजि जाओ घरै, बिँध जाओगी नैन के बाननते ।**

सारिका प्रसंग : चौथी लीला
लीला लोक: नावलीला के दर्शन

सारिका पुन: उड़ चली। अतिशय सौभाग्यवती है, यह पक्षी । विलक्षण पंख हैं इसके । ये जब उड़ते है तो 'कृष्ण', 'कृष्ण' ध्वनि करते उड़ते हैं । इसके नेत्र सभी अवस्थाओं में सर्वत्र, स्वप्न-जागरण में ही नहीं, यहाँ तक सुषुप्ति में भी-- दर्शन करते रहते है। अपने प्रियतम नीलसुन्दर के चरण-सरोरुहों के। अहा ! अपने प्राणवल्लभ की नख-चन्द्रिका से उद्‌भासित होता रहता है सदा इसका हृदयदेश । इसका रोम-रोम प्रियतम प्राणवल्लभ के कमल-सदृश चरणों की अँगुलियों के सुकोमल संस्पर्श से रोमाञ्चित रहता है। सुघड़ नासा, सुन्दर भौंहें, झलमल करते कर्ण-कुंडल, बिम्ब-विडम्बी अधरों की कान्ति, सर्वव्यथाहारी स्मिति -- इन सबसे मंडित प्रियतम का मनोहारी मुखारविन्द इसके चित्त में अलंकार की तरह विजड़ित है । कदम्ब-किंजल्क के समान सुन्दर पीतवस्त्र-परिशोभित उनका नितम्बदेश और उस पर मेखला की सुखद रुनझुन ध्वनि से इसकी श्रवणेन्द्रियाँ निनादित होती रहती हैं ।

देखो ! वन के वृक्ष, उन पर आसीन शुक, पिक, कपोत, मयूर, चातक आदि विहंगम इसको उड़ती देख, इसके निर्मल पंखों से निकलती 'कृष्ण', 'कृष्ण' ध्वनि का अनाविल नाद सुनकर 'राधा', 'राधा' कह कर उच्च कण्ठस्वर से इसका अभिवादन करने लगते हैं ।

अहा ! इस 'राधा', 'राधा' नाम के सारिका के श्रवणपुटों में स्पर्श होते ही प्रिया की उत्कंठाभरी स्मृति ने सारिका को विह्वल कर दिया । अहा ! सारिका के तन-मन के अणु-अणु में पीयूष-कल्लोलिनी प्रवाहित हो उठी । सारिका की मन:स्थिति ऐसी हो गयी जैसे इसी क्षण रानी की अमृतमयी गोद में जाकर पंखहीन शावक की तरह गिर जाय ।

अहा ! सारिका के भीतर अमिलन की वेदना का वह बिन्दु सृष्ट हो गया, जहाँ आराध्य को मूर्त्त होना ही पड़ता है । फिर किशोरीरानी तो अनन्त वात्सल्यमयी हैं । उन्हें कोई उत्कंठातुर स्मरण करे और वे अभिव्यक्त नहीं हों, यह असंभव है । प्रीति के आह्वान की वे उपेक्षा भला कैसे कर सकती हैं?

सारिका प्रिया के लीला-लोक में पहुँच ही गयी ।

"अहा आश्विन मास है । शारदीय रजनी की शुभ्र ज्योत्स्ना वन-प्रान्तर को उद्‌भासित कर रही है । किञ्चित शैत्य का पुट लग गया है-- अरण्यस्थली पर । सारिका के उड़ते पंख थम गये हैं । वह पहुँच गयी है गिरिराज परिसर-स्थित मानसी गंगा में । राकाचन्द्र की ज्योत्स्ना प्राणाराध्या किशोरीरानी एवं प्राणसारसर्वस्व नीलचन्द्र में जल-केलिकी उत्सुकता जाग्रत कर देती है ।

कानन नें अपने कोश की अपरिसीम शोभा-सम्पदा प्रिया-प्रियतम के चरण-सरोजों में समर्पित कर दी । अपने अधिकृत समस्त चर-अचर-सहित वह उन युगल चरणों में स्वयं प्रतिपल न्यौछावर जो है । रसमत्त भ्रमरों की मधुर गुंजार, विहंगमों का अव्यक्त सुमधुर रव, मानसी गंगा का निराविल स्वच्छ शीतल सुमिष्ट जल, शीतल पद्‌म गंधवासित समीर का मन्द-मन्द प्रवहन - कानन ने प्रिया-प्रियतम के सम्मुख एक साथ समस्त उपकरण रख दिये । विकसित पद्‌मों की शोभा उनके नेत्रों में समा गयी । भ्रमरों के मञ्जुघोष से कर्णपुट पूरित हो उठे । सुखद अनिल ने उनके श्रीअंगों को शीतल सुस्पर्श दान किया । मानसी गंगा के स्वच्छ सलिल की मधुरिमा उनकी रसना में जा मिली। मानसी गंगा के चतुर्दिक स्थित वन, कुसुमों के अम्बार से लदा था । कल्प-पादपों की श्रेणी की श्रेणी सुवर्णलताओं से पूर्णतया समाच्छादित थी। चतुर्दिक पुष्प-वर्षा की होड़ लग रही थी । नानाविध कुसुमों का सुवास युगल दंपति की घ्राणेन्द्रियों में संचित हो उठा । राकाचन्द्र की ज्योत्स्ना उद्दीपन का सर्वत्र वातावरण निर्माण कर रही थी । प्रिया-प्रियतम इस रसमयता से प्रतिभावित हो उठे ।

प्रियतम अपनी प्राणेश्वरी किशोरीरानी को वन-शोभा दिखाते हुए उसे सम्बोधित कर उठे - "प्रिये !" वृन्दावनेश्वर ने अति रसोत्फुल्ल चित्त से अपनी प्राणप्यारी का ध्यान आकृष्ट किया । "प्राणप्रिये ! देखो !! अरुणवर्ण कोमल पल्लवजाल से मण्डित हो रहे हैं, ये वृक्ष समूह । ये अगणित फल-समूहों एवं पुष्प-गुच्छों सहित अवनत होकर तुम्हारी चरणवन्दना कर रहे

हैं। तुम्हारे आगमन से यह सर्वसहा वसुधा भी कितनी उत्फुल्ल है? अपने भवन में आयी तुम्हारा शुभ दर्शन पाकर ये वृक्षगण अपने मस्तक पर सँजोये पूजोपहार फल-पुष्पों को उतार-उतार कर तुम्हारे चरणसरोजों में निवेदन कर रहे हैं । नमित होकर अपनी शाखावली से तुम्हारे संनिकट धरा का स्पर्श करते हुए ये मूक संकेत कर रहे हैं -'आओ ! हमारी प्राणप्यारी आराध्या हमारा उपहार स्वीकार करो ।'

जो हो, प्रियतम की ये प्रेमोक्तियाँ और मानसीगंगा के चतुर्दिक की मनोहर वनशोभा प्रिया किशोरीरानी में एक अनिवर्चनीय हर्ष का संचार कर देती है । उनके अरुणिम अधरों पर मृदु मधुर हास्य उभर आता है ।

"प्यारे ! तुम अपने अरुणिम अधर-पल्लवों पर यह तुम्हारी सर्वविमोहिनी वेणु संस्थापित कर लो और इसके छिद्रों में मधुरातिमधुर स्वर भरो । कोई परम सुरीली प्रीतिभरी तान मुझे सुनाओ ।"

"अहो प्राणरमण ! इस तरणी को तो मैं अपने हाथों संचालित कर लूँगी । मेरे प्राण तुम्हारे इस वेणुवादन के श्रवण में संलग्न होंगे और मेरे नयन-चञ्चरीक तुम्हारे नीलघन-सदृश वदनसरोज के रस का अमृतपान करते रहेंगे ।" और प्राणप्रिया रानी ने अपनी उक्ति समाप्त करते-न-करते नाव की डाँड को अपने हाथों में ले लिया । करस्पर्श मात्र से डाँड स्वाभाविक ही स्पंदित होने लगी और वह परम सुभगा तरणी हिल्लोलित होकर चलायमान हो उठी । सखियों ने तत्क्षण ही नाव की डाँड प्रिया के हाथों से छीन ली और स्वयं संतरण करने लगीं । अहा - प्रियाप्रियतम एवं सखियों को नौका-रमण करते देख उनके दर्शन से आनन्दविवश मयूर नर्तन-रत हो उठे । तटों पर दल की दल हरिणियाँ निर्निमेष नयनों से एकमात्र युगल दंपति को देखने एकत्रित हो गयीं । उधर आम्रशाखाओं पर कोकिल-कण्ठ का पंचमस्वर प्राणों में अतिशय रस भरता प्रिया-प्रियतम का गुणगान करने लगता है ।

वेणु निनाद एवं नृत्य

अहा ! कैसी सुखद नाव है, यह । मुक्ताओं का तो इस पर चन्द्रातप तना है, स्फटिक के खंभे हैं और नीलमणि का सिंहासन है । नाव की भूमि सब स्वर्णिम है । इसमें माणिक्य की पीठिकाएँ हैं जिनमें सखियाँ आसीन हैं। नीलमणि के सिंहासन में पुखराज की पीठ है, पैर रखने की पीठिका हरितमणि

से बनी है । मखमल का अति सुखद आसन है, दोनों ओर के बाजू मयूराकृति के हैं । इस सुन्दर, सुभग सिंहासन पर प्रिया-प्रियतम विराजित हैं । पार्श्व में ही माणिक्य की पीठ पर ललिता रानी वीणा लिये विराजित है । उनके सम्मुख ही विशाखा मृदंग लिये दूसरी ओर माणिक्य पीठ पर विराजित है । मृदंग रखने के लिये सुन्दर तदनुरूप एक रत्नमयी पीठिका है, जिसमें मृदंग सुस्थिर रखी है । पार्श्व में तुंगविद्या तानपूरा लेकर विराजित हैं । ललिता के हाथ में रुद्रवीणा है, मधुमती सरस्वतीवीणा लिये विशाखा के पार्श्व में विराजित हैं । इन्दुलेखा पैरों में घुँघरू बाँध रही हैं । कुछ सखियाँ अति सुरीली झाँझ लिये हैं । संविन्मय रसावेश चतुर्दिक व्याप्त है । आनन्द लहरियों के आवर्त पर आवर्त उठ रहे हैं ।

नाव के मुक्ता आतप पर, रत्नमय खंभों पर ध्वजा एवं पताकाएँ फहरा रही हैं । चन्द्रातप पर स्थान-स्थान पर रत्नमय झाड़फानूस लटक रहे हैं । प्रिया-प्रियतम के वदनसरोजों पर सखियों की दृष्टि स्थिर है और वे उनके आनन पर उठते किसी लीला संकेत की प्रतीक्षा कर रही हैं । लो ! अपनी प्रिया के मुख सरोज की ओर निहारते नन्दकुलचन्द्रमा ने मुरली में एक अति मधुर तान छेड़ी । बस, एक स्वर ही गूंजा था कि मानसी गंगा के चतुर्दिक तरुजाल में निलीन प्रिया-प्रियतम का एकटक दर्शन करते विविध विहंगम नेत्र निमीलित कर समाधिस्थ हो गये । मधुलुब्ध भ्रमर जो चतुर्दिक प्रसरित दिव्य सुमनों की प्राणोन्मादी सौरभ को त्याग कर प्रिया प्रियतम के चतुर्दिक उनकी अंगगंध के मतवाले हो रहे थे, चन्द्रातप में विजड़ित मणिमय पुष्पालंकारों में शान्त आसीन हो गये । सहस्त्रों मयूर, जो तटों पर आनन्द विह्वल नृत्य कर रहे थे, आनन्द विभोर स्तंभित चित्रांकितवत् रह गये । मानसी गंगा में नाव के चतुर्दिक तैरते मराल-मराली भी नेत्र निमीलित वंशीनिनाद की माधुरी में डूब गये ।

ललिता एवं मधुमती की कोमल कुन्दनद्युति अँगुलियां वीणा के तारों को एक सुमधुर वंशी-स्वर की संगत में झंकृत कर उठीं । विशाखा की कमल-दल सी हथेलियाँ और कोमल किसलय-सी अँगुलियाँ मृदंग पर एक सम की थाप लगा गयीं । इन्दुलेखा के चरण भी घुँघुरुओं की एक झंकार लहरी दे गये । सारिका इस रसमयी मधुरध्वनि में डूब गयी । अपनी-अपनी भाषा में दम्पति की रस-केलि की चर्चा करते शुक-शुकी अपने सभी सजातीय विहंगमों सहित आनन्द विभोर हो उठते हैं ।

स्नेह की बाढ़ से सभी सखियों के नेत्र निमीलित हैं । प्रियतम ने पुनः मुरली में एक बार स्वर दे दिया । ध्वनि प्रसरित होने लगी -- वनस्थली के सब अंशों में । प्रिया के नेत्र मुकुलित हो गये । इस बार मुरली ने ऐसा महादिव्योन्माद प्रकट किया, कि सखियों के लिये भी सह सकना असंभव हो गया । प्रियतम मुरली वादन करें और इसके प्रभाव को कोई सह जाये, यह संभव ही कहाँ है ? चर-अचर, सभी वनवासी विमोहित होने लगे । सबके कर्णपुटों के पथ से हत्तल में एक अनिर्वचनीय सुधा-कल्लोलिनी उमड़ उठी और दृग भर गये, उस मुरलीधर की महामरकत श्यामल छबि से । औरों की तो बात ही क्या स्वयं प्रिया और मुरलीवादनरत प्रियतम भी आनन्दविवश झूमने लगे । चित्रारानी का परम मनोहर नृत्य और सखियों का संगीत-प्रवाह भी रसमय स्वर लहरियों में प्रवाहित हो उठा ।

नृत्य की शास्त्रीय प्रथा यह है कि प्रमुख नर्तक या नर्तकी नृत्य से पूर्व नृत्यस्थल में सुगन्धित वस्तु पहले बिखेरता है । प्रमुख नृत्य-नायक तो थे प्रियतम श्यामसुन्दर ही, अतः उन्होंने अपनी नीलकमल जैसी सुकोमल अञ्जलि में पूरित अतिशय सुरभित लघु-लघु वन्यकुसुमों को नाव पर बने नृत्य मंच पर बिखेर दिया । फिर तत्क्षण ही इन्दुलेखा के नेतृत्व में गोपांगनाओं ने विलक्षण प्रेम-भंगिमाओं और हाव-भाव से नृत्य करना प्रारंभ कर दिया । इन गोपांगनाओं के अंगों से व्यक्त होती कला इतनी उत्कृष्ट थी कि प्रिया-प्रियतम उन्मुक्त कण्ठ से वाह-वाह कर उठे । अब सखियों ने घेरा बना लिया और प्रिया-प्रियतम दोनो 'चालक' एवं 'चारी' नृत्य प्रस्तुत करने लगे।

इन्दुलेखा जी एवं सखियाँ अपने को अत्यंत तुच्छ एवं हेय समझने लगीं -- वे मन ही मन सोचने लगीं नृत्यज्ञ होने का मिथ्या अभिमान ही हम में है, वास्तव में नृत्य तो परिसीमित है -- इन नीलपीतद्युति दम्पति में ही । अहा ! उल्लास में भरकर जब प्रिया राग-रागिनियों के विभिन्न स्वर आलापने लगती हैं, उस समय ठीक अनुभव होता है मानो शैलेन्द्रनन्दिनी के रागसृजन का समस्त कौशल मूर्त्त हो उठा है -- किशोरीरानी के कण्ठ में ही । श्रुतिमनोहर श्रृंगारमयी कल्लोलिनी की कल-कल धारा सर्वत्र बह उठती है ।

यह संगीतोत्सव, नृत्योत्सव कितने काल तक चलता रहा, कौन निर्णय करे ? इस उत्सव के मध्य में तो अनादि, अनन्त कालप्रवाह भी स्तब्ध एवं स्थगित हो संगीत-श्रवण एवं नृत्यदर्शन में मुग्ध हो गया था ।

लो ! नवकैशोर से विभूषित व्रजराजदुलारे में अनुराग की अभिनव नूतन लीला करने की प्रेरणा जाग गई । क्षण-क्षण में नये-नये कौतुक करना तो इनका नित्यसिद्ध स्वभाव ही है ।

श्रान्ति एवं शयन

ज्योंही इस संगीतोत्सव का विराम हुआ, प्राणवल्लभ ने प्रसूनों का आस्तरण आस्तृत करने का संकल्प कर लिया । उनके नयनों ने इस नृत्योत्सव कें मध्य ही यह अनुभव कर लिया था कि नृत्य करतीं प्रिया अतिशय श्रान्त हो उठी हैं। यथार्थत: ही प्रिया की कुंचित वेणी शिथिल हो जाने से केशराशि अस्त-व्यस्त हुई बिखर गयी थी । उनका सम्पूर्ण कुन्दन कलेवर घर्माक्त हो चुका था । श्वास-प्रश्वास की गति श्रान्तिवश पर्याप्त तीव्र हो उठी थी- यह तथ्य भी किसी से गोपनीय नहीं था । अब तो समस्त सखियों के भी प्राण तड़फड़ा उठे। सभी सखियाँ यही विचार करने लगीं कि कैसे प्रिया की सम्पूर्ण श्रान्ति एक क्षण में ही हर ली जाये । ललिता के संकेत से नाव तट पर स्थित चन्दन, कुन्द एवं कलिन्द आदि वृक्षों के नीचे रोक दी गयी । क्षणों में ही राशि-राशि वृन्तहीन पुष्पदलों की शय्या कदम्ब वृक्ष के नीचे निर्मित हो गयी । सखियों ने उस उत्तुंग तरुवर के मूल देश में उन पुष्पदलों और सुकोमल नवपल्लवों से अतिशय सुन्दर पुष्पमन्दिर भी निर्माण कर दिया । पुष्पों का ही सुन्दर-सा उपधान (तकिया) भी सखियों ने प्रस्तुत कर दिया । परन्तु नीलसुन्दर को अपनी गोद उस उपधान से अधिक सुखप्रद प्रतीत हो रही थी ।

अहा ! प्रिया प्रियतम की गोद में अपना मस्तक स्थापित कर नेत्र निमीलित किये शयित हैं और प्रियतम उनके मुख पर मन्द-मन्द व्यजन कर रहे हैं ।

इधर सखियों को यह भी अनुभव हुआ कि प्रियतम भी पर्याप्त श्रान्त हो चुके हैं। अत: सभी ने अगणित तरुओं के नीचे भिन्न-भिन्न स्थानों में पुष्प-पल्लव-तल्प निर्मित कर दिये। सबका मनोरथ पूर्ण करने के लिये प्रियतम प्राणवल्लभ नीलसुन्दर अगणित रूपों में अगणित सखियों के साथ अगणित तल्पों में शयन कर रहे हैं । कहीं, ललिता उनके चरण संवाहन कर रही है और कहीं विशाखा की गोद में प्रियतम का मस्तक शोभित है । सबका

मनोरथ एक साथ पूर्ण हो रहो है । सबकी प्रीति का उपहार अनन्त माधुर्यनिकेतन अपने प्रेम-ऐश्वर्य से स्वीकार कर ले रहे हैं। प्रीति के परम देवता नन्दनन्दन अगणित आत्मप्रकाश के द्वारा यह विश्राम की विहार-लीला सम्पादन कर रहे हैं । अवश्य ही किसी भी सखी को किञ्चित् मात्र भी भान नहीं है कि यहाँ कोई आश्चर्यमयी घटना घट रही है । यह भान हो जाय फिर तो आनन्द ही जाता रहे । एक साथ सभी सखियों एवं प्रिया को समान आनन्द दान करने के लिये ही प्रियतम नीलमणि की यह अभिनव लीला प्रकाशित हो रही है ।

"मैंने जिस पुष्प शय्या की रचना की है, उसी पर मेरे प्राणवल्लभ नीलम मेरे एकान्त संगी हुए शयन कर रहे हैं"-यही सबकी एकमेव प्रतीति है । परन्तु, सत्य तो यह है कि एक प्राणवल्लभ नीलमणि एक ही समय में अगणित वृक्षमूलों के नीचे सखियों द्वारा आस्तृत पुष्पशय्याओं में उनके संग शयन विहार कर रहे हैं ।

लो, अब अपरिच्छिन्नस्वरूप प्रियतम की चरण-सेवा प्रारंभ हुई । सारिका के सम्मुख प्रियतम की यह ऐश्वर्य प्रेमलीला स्पष्टतया व्यक्त हो रही है । धन्य है माहभाग सारिके !

कभी पुष्पमन्दिर में सर्वथा एकान्त में प्रियतम अतिशय लाड़ से अपनी प्रिया के चरण-सरोजों को अपने क्रोड़ में धारण कर लेते हैं, तब, अपनी सुकोमलतम अँगुलियों से स्पर्श करके मन्द-मन्द, अत्यंत सुखद भाव से उन चरणों को दबाकर अपनी प्रिया को सुख-प्रदान करतें हैं, फिर अपनी प्रिया के मुख पर श्रम-सीकर, स्वेद-कण देखकर विकल हो जाते हैं और नवपल्लव एवं पुष्परचित आर्द्र व्यजन लेकर उनके कनक-सरोरुह से विकसित मुख पर तथा कुन्दनद्युति श्रीअंगों पर शीतल मन्द सुगन्ध बयार करने की सेवा करने लग जाते हैं।

इसी प्रकार, उन्नत शाखा अगणित कदम्ब वृक्षों के नीचे स्वनिर्मित पुष्प-तल्पों पर कहीं कोई सखी एवं कहीं कोई सखी अपने प्रियतम के स्कंधों को, भुजाओं को, करपल्लवों को मधुर रुचिकर सम्मर्दन के भाव से आलिंगन किये उनकी सम्पूर्ण श्रान्ति एक क्षण में ही मिटा देने की चेष्टा में संलग्न है ।

विहार : तत्व-रहस्य

सारिका के नेत्रों में यह सत्य भी पूर्णतया स्पष्ट हो रहा है कि इन प्रिया-प्रियतम दोनों के ही सच्चिदानन्दमय शरीरों में श्रान्ति, व्यथा, आमय के लिये तनिक भी कहीं त्रिकाल में भी अवकाश नहीं । प्रकृति एवं काल से परे की वस्तु हैं -- इन दोनों की सर्वांग सुन्दर, परम सुकोमल देहें, साथ ही सभी सखियों की, पशु-पक्षियों एवं वहाँ इस राज्य के चर-अचर सभी प्राणियों की सत्ताएँ भी। परन्तु यह ज्ञान इन परम अमल, हतपाप्मा लोगों की समझ से परे की वस्तु है। इस सत्य को इस व्रजराज्य में एक तृण भी धारण नहीं कर सकता । एक तृणचारी पशु भी यह ज्ञान अपने आर्श्व-पार्श्व में भी फटकने नहीं देगा। वैसे इनके समान निर्मल तो साक्षात् वेदनिधि का मन भी नहीं है । अनादि काल से इनके मानस-तल में स्वसुख वासना का कलुष - (पापबीज) अंकुरित होता ही नहीं, फिर भी इतने नित्य अमल होने पर भी अपने एवं अपने प्राणवल्लभ के देहतत्व के ज्ञान को ये सभी ग्रहण कर ही नहीं सकते। स्वयं प्राणवल्लभ भी इस तत्वज्ञान को धारण कर सकें ऐसी, इस अवधि में तो उनकी स्थिति सर्वथा नहीं है। सारिका स्पष्ट अनुभव कर रही है कि इस समय यदि सर्वज्ञाननिधान प्राणवल्लभ नीलमणि में वैसी सच्चिदानन्दमयता की स्फूर्ति हो जाय तो -"मेरी प्रिया के अपार अनन्त सुख का मैं किसी भी प्रकार हेतु बन जाऊँ" -इस रस-निर्यास का द्वार ही रुद्ध हो जाय। इस सम्पूर्ण व्रजप्रदेश में प्राणतन्तुओं के साथ जो यह अमिट भावना जन-जन में है, पत्र-पत्र, कीट-पतंग, पशु-पक्षी -- यहाँ तक कि तृण गुल्मादि में भी पूर्णतया लबालब भरी है कि मेरा अस्तित्व इन युगल दम्पति के सुखार्थ ही है - इस रस का उद्‌गम ही फिर तो सर्वथा सूख जायगा। तब तो सबके मनोरथ ही अपूर्ण रह जायेंगे। साथ ही लीलाविहारी वृन्दावनेश्वर और वृन्दावनेश्वरी का प्रणयरस-निर्झर ही सूख जायगा, जो अनादि काल से अवस्थित हैं और अनन्त काल तक अवस्थित रहेंगे अपने इस स्वरूपभूत नित्य लीला-रस-सुधा को, महाभाव-लीलामृत को नित्य अतृप्त भाव से पीते रहने के लिये।

अहा ! असंख्य सखियाँ अपने क्रोड़ में प्रियतम को सुलाये उनकी सेवा कर रही हैं, फिर भी वन में कैसा शान्त वातावरण है। वन-विहंगमों ने भी जैसे नीरव रहने का व्रत ले लिया है। क्योंकि अपने प्रियतम की क्रोड़ में

निमीलित-नेत्र प्रिया शान्त शयित हैं। एक वन का झींगुर भी इस समय पूर्णतया सजग है। कहीं तनिक-सा बोलते ही उसकी प्राणसारसर्वस्वा रानी सो नहीं पायी तो ? उनके विश्राम में कहीं कोई व्यवधान हो गया तो ? यह प्रेम-जनित भय सबके मन में भरा है। अद्भुत नीरवता के बीच सभी सेवायें सम्पन्न हो रही हैं। किसी सखी के हिलने-डुलने से कहीं कोई आभूषण की खनक भी नहीं हो, शुष्क पत्रों की मर्मर ध्वनि भी नहीं हो पाये -- सब सखियों और प्रियतम के द्वारा इतनी सावधानी बरती जा रही है।

रानी के स्वप्नदेश में सारिका

लो, प्रिया सचमुच ही चाहे क्षण भर ही सही निद्राभाव को ग्रहण कर लेती हैं। उनकी श्वास-प्रश्वास स्पष्ट निर्देश दे रही है कि प्रिया निद्रित हो रही हैं। और लो, महाभाग्यवती सारिका, उनके निद्रादेश में भी पदार्पण कर गयी। सारिका देखने लगी -"प्रिया निद्रा लेती-लेती स्वप्न देख रही हैं। स्वप्न में प्रिया-प्रियतम इसी प्रकार नाव में विराजित हैं और प्रियतम वंशीवादन कर रहे हैं। वंशी में प्रियतम लोकोत्तर स्वर रचना कर रहे हैं। यह वन के सम्पूर्ण जीव-समुदाय को भली प्रकार ज्ञात है कि जब भी प्राणवल्लभ अपने अधरों पर वंशी रखें, उस समय कोई भी काकली, कोई भी रव-सर्वथा किसी के भी द्वारा न हो। क्योंकि तनिक भी ध्यान इधर-उधर हो जाने पर इस वंशी-श्रवण के सुख से वे वंचित हो जायेंगे। अतः, सब वातावरण स्तब्ध हो रहा है। प्रियतम तो प्रियतम ही हैं। इनके सर्वांग जैसे चंचल हैं, वैसे ही इनका मन भी तो परम चंचल है। एक भाव में बहुत समय तक ये स्थिर रह पावें, यह इनके लिये कहाँ संभव है ? सो, भाव परिवर्तन हो ही गया। श्रृंगारमयी वंशीध्वनि की श्रुतिमनोहर रसधारा रौद्ररस के प्रवाह में विलय हो गयी। मानो वसन्त की मन्द बयार बहते-बहते ही पावस की घन-गर्जना होने लगी हो। प्रियतम ने वंशीनिनाद स्थगित कर, तरणी की डाँडें अपने करकमलों में ग्रहण कर लीं। वे डाँड खेने भी लगे और अपनी प्रिया की नवनवायमान होती मनोहर रूपछटा भी निहारने लगे ।

और अरे, प्रियतम नीलसुन्दर ने तो विनोद-विनोद में ही तरणी संचालन इतना वेग-पूर्वक कर दिया कि प्रिया भयभीत हो उठीं। तरणी की गति तो और भी वेग ग्रहण कर लेती - परन्तु प्रिया निषेध की मुद्रा में प्रियतम के

नौकाचालन करते हाथों को अपने सुकोमलतम हाथों में ग्रहण कर, निषेध कर उठीं। वे अब तक तो प्रियतम से लज्जावश किंचित् दूरी रखे थीं, और अपने सुदीर्घ आकर्णविलम्बी नेत्रों की कोर से प्रियतम की रूप-सुधा का पान कर रहीं थीं, किन्तु अब तो वे उनके क्रोड़में उनसे सर्वथा ही सटकर आसीन हो गयीं। अरे, अरे ! डाँड खेने की चतुराई से प्रियतम ने नाव को डगमगा दिया। प्राणप्रिया में अपनी सुरक्षा का भाव तो नहीं आया, प्रियतम की सुरक्षा का ऐसा भाव उठा कि वे स्वप्न में चीख उठीं। उनकी स्वप्न की इस भय-मुद्रा और चीखने की क्रिया ने उनका स्वप्न तोड़ दिया।

देखो, देखो ! जागकर प्रिया यथार्थत: ही अपने प्रियतम को असुरक्षित समझ प्रगाढ़ आलिंगन में भर लेती हैं। वे भावमयी, सर्वथा लज्जाशून्या हुई प्रियतम को इस प्रकार अपने बाहुओं और अंग-अंग में प्रगाढ़ रूप से भर लेती हैं, मानो उन्हें आत्मसात् ही करने जा रही हों। सविन्मय विलास की इस ऊर्मि ने कोटि-कोटि कंदर्पों के नायक को विलय बिन्दु की ओर अग्रसर कर दिया। सचमुच ही अतनु प्राणहीन ही हो जाता। हाय, हाय ! न जाने किस अहैतुकी कृपावश तो उसे मात्र क्षणार्द्ध के लिये इस महारस प्रदेश में प्रवेश प्राप्त हुआ था और इस विलयजन्य वज्रपात ने तो उसे इस परम दुर्लभ रस-दर्शन से भी विलग कर दिया, मूर्च्छित कर दिया।

अहा ! अपने सकल अंगों को भयवृत्ति में डुबाती प्रिया कितनी मनोहारिणी लग रही है । उनके कंचुकीबंध अपने आप ही मुक्त हो गये हैं, और नीवी बंधन शिथिल । परम निस्संकोच, वे प्रियतम को अपने अंगों में भर रही हैं। प्रियतम तो सदा से ही इस भावोच्छलन का स्वागत करने नित्य उत्सुक, सन्नद्ध एवं तत्पर रहते ही हैं। युगल दंपति प्रणय-रस-सिन्धु की लहरियों में डूबने उतराने लगे। सारिका इस रसमयी छवि को निहारती सर्व सौभाग्य में निमग्न हो रही है। तटवर्ती सभी नर-पशु-पक्षी जो भी इस शोभामयी रस-राशि का दर्शन कर रहे हैं सब में नारीत्व के चिन्ह एवं नारी-भाव स्वत: ही प्रकट हो जाता है। अरे ! अरे!! अपनी प्रिया के नवपल्लवों सदृश अधरों का चित्पीयूष प्रियतम पान करने लगे। अब तो वे अपनी प्रिया को निर्बाध भुजपाश में आलिंगित कर रहे हैं। विलास-रस-सिन्धु के अतल तल में समाये हुए उन्हीं भावों से प्रतिभावित हुए दोनों युगल दंपति तदनुरूप महारस समुद्र में डूबने-उतराने लगे। इस अलौकिक शोभा का आस्वादन कोई सारिका-जैसा बड़भागी जीव ही कर सकता है।

धन्य ! धन्य ! परम धन्य ! परमाति परम धन्य ! सारिका रूपधारी पूज्य गुरुदेव और पूज्य गुरुदेव के गुरुदेव श्रीपोद्दार महाराज - जो इस कपटरहित कृष्ण प्रेम का निरन्तर अवगाहन करते रहते थे । इस परम सुदुर्लभ भाव का परोक्ष दर्शन ही प्रथम तो इस जगत् में किसी को नहीं होता, फिर अपरोक्ष आविर्भाव होने का तो प्रश्न ही नहीं। किसी महासौभाग्यवान प्राणी को अपरोक्ष दर्शन हो पावे तो उसके प्राण प्राकृत शरीर में रह नहीं सकते । जो यावज्जीवन इसे अनुभव करते हुए देह धारण किये रहे वे महा-महा प्रेमावतार परम भागवत तो अनन्तशः वंदन ही वंदन के पात्र हैं।

सारिका प्रसंग : पांचवी लीला
गह्वरवन वर्णन

सारिका उड़ती हुई पहुँच गयी है यमुना के उस पार। कैसा विलक्षण है यह व्रजप्रदेश। इस देव-दुर्लभ सुरम्य प्रदेश में तीस अतिशय मनोहर रमणीय वन हैं - एक से एक अभिनव सुन्दर और परम रसमय। इन वनों की राजि में प्रिया-प्रियतम नीलमणि और किशोरीरानी की स्वरूपानन्दमयी चिन्मयी रस-स्रोतस्विनी निरन्तर अक्षुण्ण प्रवाहित होती रहती है। अहा ! कैसा विलक्षण देश है, जिसके रस के एक कण से सिक्त होने के लिये योगीन्द्र-मुनीन्द्रगण निरन्तर लालायित होते रहते हैं - वहाँ इन तीसों वनों में नित्य निकुंजेश्वर एवं निकुंजेश्वरी के असंख्य विहार-निकुंज है, जो सबके सब यत्परोनास्ति सुभग हैं।

तो, सारिका के नेत्रों के सम्मुख गह्वरवन का विलक्षण रसप्रदेश आविर्भूत हो रहा है। चतुर्दिक अगणित हरित् लताएँ द्रुमों से लिपटी हैं। कुसुमों से भरे लताजालों में असंख्य विहंगम क्रीड़ारत हैं। एक ओर गुच्छ के गुच्छ पुष्पों का भार है इन पर, और दूसरी ओर विहंगमों के दल झूल रहे हैं, इनकी टहनियों पर। इस प्रकार ये वल्लरियाँ अत्यन्त नमित हो गयी हैं। ये अति नमित हुई मानो धरादेवी को नमन कर रही हों, इस प्रकार भूमि पर प्रसरित हैं।

वृक्षों की शाखायें फलों से लदी हैं। फलों का भार भी इतना अधिक है कि पादपों को झुककर पृथ्वी पर नमित हो कर फैलना पड़ रहा है। धरा का

वक्षस्थल तो पहले ही गुच्छ के गुच्छ पुष्पों से लदी लताओं से आच्छादित था ही, अब इन पादप-शाखाओं के नमित होकर प्रसरित हो जाने पर तो, भूमि सर्वथा आच्छादित ही हो गयी है। भिन्न-भिन्न पुष्पों की विलक्षण महक इतनी व्यापक और घनी है कि वन ही नहीं गिरिवर की गुफायें तक सौरभ से भर गयी हैं। भ्रमरावली मधुपान से छक कर मत्त हुई मौन हो गयी है, किन्तु विहंगमों को काकली से विराम कहां ? वे अपने सुमधुर, सरस स्वर से वन को सर्व ओर से निनादित कर रहे हैं।

सारिका के प्राण उत्कंठित हैं प्रिया-प्रियतम को ढूँढ़ने में। उसे कोकिला ने यही सूचना दी थी कि प्रिया को प्रियतम वनदर्शन कराने गह्वर वन की ओर लाये हैं। सारिका ने पीत-झिण्टी पुष्पों की झुरमुट में झंकार करते आनन्द कोलाहल में मत्त भ्रमरों से पूछा कि उन्होंने कहीं किसी दिशा में प्रिया प्रियतम की अंग-गंध प्राप्त की है ? भ्रमरों ने इतना ही संकेत किया कि यमुना तट से प्रस्फुटित पद्मों से मिली वह गंध अवश्य आती प्रतीत हो रही है। यह कह कर वे उड़ चलते हैं। अब सारिका इतने विस्तृत यमुना-तट पर कहाँ-कहाँ अपने पंखों को गति दे। अपलक नेत्रों से जड़-पुत्तलिका की तरह वह प्रिया की हेतुरहित कृपा का अवलंबन लेकर, वहीं एक ओर दृष्टि निहित कर देखती रह जाती है। सारिका के सम्मुख एक सुन्दर सरोवर है । सारिका देख रही है - एक हंस हंसिनी के चरण प्रान्त में अपना सिर झुकाये आसीन है। उसके मन में अथाह प्रीति की ऊर्मियाँ हिल्लोलित हो रही हैं। भाव की उमड़ती तरंगों से उसके रोम-रोम उत्फुल्ल एवं रोमाञ्चित हो रहे हैं। वे उसके पंखों के ऊपर, नीचे, दाहिने एवं बाँये बिखर-सी रही हैं।

जलधारा से सम्बद्ध मेदिनी पर चतुष्पादों का निर्भय होकर विचरना बहुत ही सुहावना प्रतीत हो रहा है। वे चतुष्पाद कुछ चलकर रुक जाते हैं। सुख-सिन्धु के प्रवाह में डूबकर अपने नयन मूँद लेते हैं, फिर निष्पंद हो जाते हैं; - फिर उन्मत्त हुए-से आगे की ओर चल पड़ते हैं। इन सभी के हृदयों में व्यक्त होनेवाले प्रीतिभावों के दृश्यों से किसी भी भाग्यवान् का तादात्म्य हो, तब न उनकी इन सब क्रियाओं का रहस्य उसे समझ में आवे । सारिका इतनी भाग्यवान् है कि वह सबके हृदयों में उफनते किसी भी प्रीति दृश्य की साक्षी हो जाती है; अत: वह ठीक जान रही है कि इनको अपने सम्मुख अपरिसीम शोभा का प्रवाह उच्छलित करते प्रिया-प्रियतम दीख जाते हैं तभी ये सुखसिन्धु में डूबकर नयन मूँद लेते हैं, निष्पन्द हो जाते हैं। ये उस परम

मोहक छबि को अपने हृदय में, रोम-रोम में भरने लगते हैं। फिर बाह्यवृत्ति के उदय होने पर ये अपने नयन पुन: विकसित करते हैं ; पुन: प्रिया-प्रियतम को किसी कदम्ब वृक्ष के नीचे दूर खड़े पाते हैं तो उन्मत्त हुए-से उनकी ओर दौड़ पड़ते हैं। यही इनकी चेष्टा का रहस्य है।

सारिका शान्त चुपचाप बैठ गयी। किसी तपोनिष्ट ब्रह्मज्ञानी सन्यासी का मन ही तो इसका मन है - प० पू० गुरुदेव की भाव देह जो ठहरी। तब यह अन्य पक्षियों की तरह कलह-कलख में निरत और चंचल कैसे होगी ? सत्वमयी शान्ति तो इसके चित्त का भूषण होगी ही; इसमें कुछ तो असाधारणता दिखाई पड़ेगी ही।

व्रज जगत का तत्व रहस्य

अहा, इस विशाल कदम्ब वृक्ष पर आसीन इस सारिका की शोभा कैसी सुन्दर है, इसकी सुन्दरता भी परम सात्विक है मानो कोई तपोमूर्ति बैठी हो। सारिका की अपनी सहज अनुभूति है। वह देखती है कि यहाँ इस व्रज जगत् की सृष्टि विश्वस्रष्टा द्वारा कल्पित नहीं है। यहाँ तो अनन्त विश्व सृष्टि के नियामक प्रियतम श्रीकृष्णचन्द्र ही सूर्य, चन्द्र, गगन, पवन, ग्रह, नक्षत्र, अशेष तारक पंक्ति बने हैं। वे ही इस व्रजजगत् के निमित्त भी हैं और उपादान भी हैं। लौकिक सृष्टि तो चिदाभासजन्य मिथ्या प्रतीति है, परन्तु यह सृष्टि चिदानन्दमयी संघिनी शक्ति की परिणति है, अत: सत्य है। यहाँ जिस सच्चिन्मयी नीलिमा से नन्दनन्दन का आत्मप्रकाशरूप देह है, ठीक वैसा ही उनका ही आत्मप्रकाशमय रूप व्रज में यमुना, धरा, गिरिश्रेणी, वृक्ष, गुल्म, लतायें, एवं चर-अचर, अनन्त जीव समुदाय है। सारिका यह भी ठीक जान रही है इस व्रज में प्रिया-प्रियतम के आत्मप्रकाश की रूप-रेखा को रंचकमात्र भी वह किसी को हृदयंगम करा सके यह असंभव है। क्योंकि यहां प्रापंचिक सृष्टि जैसी कोई वस्तु है ही नहीं, जो नियमों की परिधि में समा सके। यह तो प्रिया-प्रियतम के अपने आप द्वारा सम्पादित एक विलक्षण स्वतंत्र विश्व है। यह आनन्दात्मक है, चिदात्मक है। इसकी समस्त परिणति सर्वथा विशुद्ध है। इसके कारण मात्र प्रिया-प्रियतम हैं और यह उनसे सर्वथा अभिन्न है। तथापि यह लीला की संघटना के उद्देश्य से है, इसलिये उन लीला परिकारों के स्वभाव का इसमें उन्मेष हो गया है । इसी कारण यह विभिन्न रूपों में

प्रतिभासित हो रही है। वाणी इसकी रूप-रेखा का निर्देश कर ही नहीं सकती, यह अनिर्वचनीय है। बस, यह अद्भुत है। यदि इसे सृष्टि कहें तो यह सृजन का उत्कृष्टतम रूप है, सबसे विलक्षण है।

अतः सारिका देख रही है सम्पूर्ण दृश्यप्रपंच सर्वथा, सर्वांश में प्रिया-प्रियतमंमय है। वह स्वयं में भी प्रिया-प्रियतम को पूर्ण लबालब भरा देखती हुई ध्यानस्थ बैठी है। वह अपने आपको सर्वथा विस्मृत कर अपने परम प्रेष्ठ प्रिया-प्रियतम के ध्यान में आपाततः डूब गयी है। अन्य-स्मृति-शून्य हो रही है उसकी दशा ।

लो ! रानी अपने प्राणवल्लभ नीलमणि सहित वन विहार करती चली आयीं, उसी स्थल पर जहाँ सारिका कदम्ब की डाली पर आसीन ध्यानस्थ है। सखियों सहित प्रिया-प्रियतम सारिका की बाह्य-ज्ञान-शून्य दशा को देखकर अति आनन्दित हो उठते हैं। जो प्रीति समाधि के लक्षण बड़े-बड़े ऋषियों मुनियों में प्रकट नहीं होते, वे प्रेमभावसमाधि के लक्षण इस पक्षी में सहज प्रकट देखकर सभी उस पक्षी की भावदशा की सराहना करते हैं।

प्रियतम न जाने क्या चमत्कार करते हैं कि सारिका के हृदय में व्यक्त प्रिया-प्रियतम की रूप छबि अकस्मात् अन्तर्द्धान हो जाती हैं। सारिका अतिशय विकल हुई अपने नेत्र खोल देती है। प्रिया-प्रियतम को सखियों सहित साक्षात् अपने सम्मुख पाकर उसके नेत्र प्रेम से छल-छला उठते हैं; उसे तीव्र रोमाञ्च हो आता है।

प्रियतम एवं रानी के स्नेह की जय

रानी अतिशय प्यार से सारिका को अपने कोमलतम कर सरोजों में उठा लेती है। वे उसके पंखों पर अपने सुकोमलतम हाथों को फेर-फेर कर उसे अपने उमड़ते स्नेह सिन्धु की ऊर्मियों से नहला देती हैं। उसे अपने वक्षस्थल से लगाती हैं और अपने कपोलों से सटा लेती हैं। उसके रोम-रोम को अपने सुकोमलतम पद्म-पल्लवों-सदृश अधरों से प्रीतिदान करती हैं। और तब अपने प्राणपति नीलसुन्दर को सौंप देती हैं। प्रियतम भी अतिशय प्यार से उसके पंखों को हाथों से सहलाते हैं और पूछते है -"सारिके ! भूख लगी है, कुछ खाओगी ? और तब अपने एवं किशोरी रानी के अधरामृत से सिक्त सुमधुर फल उसकी चौंच में भर देते हैं ? सारिका के रोम-रोम में प्रेमामृत संचारित

हो उठता है। भाव की तरंगों में वह बह चलती है । वह कभी अतिशय प्यार से प्रियतम की ओर देखती है और कभी प्रिया की ओर, एवं तब दिये हुए कौर को किसी प्रकार निगल पाती है। अब प्रिया-प्रियतम दोनो अपने अपने मुखों का चर्वित ताम्बूल इसकी चौंच में देते हैं। फिर दोनों ही प्यार से मुसका पड़ते हैं। सारी भावाविष्ट हो जाती है। वह अपनी प्राणप्यारी रानी और परमप्रेष्ठ प्रियतम को सम्बोधित कर बोलने लगती है :-

"प्राणवल्लभ ! रजोगुणी पक्षी-जाति में जन्मी, महामलिनता की पुञ्ज सर्वथा तुच्छ, नगण्या हूँ मैं। मुझ सर्वदोषनिधान की भी अवहेलना न कर आप जो निराविल प्यार मुझे दे रहे हैं, हे, करुणावरुणालय ! आपकी असमोर्ध्व, हेतुरहित कृपा की निरवधि जय, जय, सदा ही जय हो । मैं महामलिन तुच्छातितुच्छा, आपकी दासियों की दासियों की अनुदासीतुल्य भी नहीं हूँ। हे, नील सुन्दर ! आप मुझे दुलारते हैं, संरक्षण देते हैं, आपकी महानुभावता की बलिहारी है। मेरा यह शिरोभाग आपके चरणों की धूलि से सदा ही धूसरित रहे, और आपकी कृपा निरन्तर मुझ पर बनी रहे।"

प्रिया-प्रियतम की प्यारभरी छबि हृदय में सँजोये सारिका--"मेरी प्राणवल्लभा की जय ! मेरे प्राणसारसर्वस्व की जय" इस प्रकार जय-जयकार करती, नाचती बेसुध हो जाती है। प्रिया-प्रियतम कदम्बवृक्ष की एक डाली पर उसे आसीन कर देते हैं और सखियों के साथ निकुंज में प्रवेश कर जाते हैं।

लो, सारिका फिर उड़ चली नील गगन में। अति विस्तृत नीलगगन में वह उड़ती जा रही हैं। सारिका के मन में, अन्तःकरण में पूरम्पूर भरे हैं- महामरकत-श्यामल, सुकुमार-अंग प्रियतम और पिंगलवर्णी स्वर्णलता-सी सुन्दरी प्राणेश्वरी किशोरीरानी। इनकी विशुद्ध सत्वमयी शक्ति से ही सदा संचारित होते रहते हैं -- उसके प्राण और इन्द्रियाँ । सारिका का कथन मात्र का 'स्व' और 'स्व' से सम्बद्ध उसका सर्वस्व, इन युगल दंपति के चरणों में आत्यंतिक उल्लास के साथ समर्पित है। प्रिया-प्रियतम की अखण्ड स्मृति और उसका निरवधि चिन्तन ही तो अब उसका जीवन है। उनकी नित्य सन्निधि का अनुभव करते रहना ही उसका ज्ञान, ध्यान एवं परमार्थ है। उसे यही अनुभव होता रहता है कि वे ही उसकी आँखों से देखते हैं, वे ही वाणी से बोलते हैं, और वे ही उसकी श्रवणेन्द्रियों से सुनते हैं। उसे यही स्पष्ट अनुभूति है कि सम्पूर्ण दृश्य-प्रपंच के व्यवहार में ये युगल ही सर्वत्र क्रियाशील हैं।

गोपराज के ग्राम में

लो, दूर-दूर उड़ती, चली आयी सारिका नन्दग्राम से कुछ दूर स्थित एक ग्राम में। एक छोटा-सा परम शान्त, सौम्य, सुन्दर ग्राम है यह। यमुना इसके पास से ही बहती है । चतुर्दिक् सुन्दर वन से घिरा है, यह। असंख्य पक्षियों के कलरव से निनादित रहता है। सारिका ग्राम की चतुर्दिक् परिक्रमा करती है एवं एक धर्मनिष्ठ, सम्पन्न गोप के घर में प्रवेश कर जाती है।

बहुत ही कट्टर मर्यादावादी ये गोपराज हैं। सम्पूर्ण घर के गृहजनों पर इनका कड़ा अनुशासन है। इस घर की कुलवधुएँ कहीं बाहर आ-जा नहीं सकतीं। किसी से वार्त्ता करना भी पूर्णतया निषिद्ध है, इनके घर में। ऐसे गृह की कुलवधू है, यह गोपी। इसका पीहर भी ऐसा ही कट्टर मर्यादावादी है। गुरुजनों का निरे बालकपन से ही घना कट्टर शासन रहा है, इस पर। स्वभावतः चंचला होने से इसकी दृष्टि उठती तो है परन्तु तत्क्षण ही घूँघट की ओट में चली जाती है, लज्जावश।

गोपी हृदय में प्रेमदीप

हाँ, इसके गृह के पीछे यमुना के घाट पर से थोड़ी ही दूर हटकर इसकी एक पर्णशाला है। पर्णशाला के चतुर्दिक् अति मनोरम एक उद्यान है। यह पर्णशाला ही इसका एकान्त विश्रामस्थल है। गृहकार्य सम्पन्न कर वह यहीं विश्राम करती है; इसका रूप सचमुच ही हृदयग्राही मनोमोहक है । नन्दरानी के निमंत्रण पर एक दिवस यह किसी उत्सव में नन्दभवन गयी थी। वहीं उसने नन्दनन्दन को भी देखा था। बस, प्रथम दृष्टि में देखते ही इसके हृदय में उनकी प्रीति का दीपक तो जल ही उठा था। या यों कहें, अनादिकाल से दीपक, बाती और तेल वह सँजोये हुए थी और इस प्रथम दृष्ट्या रूपदर्शन ने एक चिनगारी का कार्य किया और दीपक झक्-झक् जल उठा। परन्तु अभी तक इसके हृदयमन्दिर के सभी छिद्र बन्द रहने से समीर का तेज झौंका वहाँ नहीं प्रवेश कर पाया था। सर्वथा निर्वात हृदयस्थल में विराजित रहकर दीपक की लौ रञ्चमात्र हिली भी नहीं थी। फिर उसके ज्वाला बनकर सर्वदाही हो जाने की संभावना कैसे हो पाती ?

मध्याह्न में जब सब गृह कार्य निवृत्त हो जाता है, तो यह गोपी इस पर्णशाला में आकर बैठ जाती है। ये इसके एकान्त क्षण परम प्यार के होते हैं। इस समय इसके चित्त से जगत का चित्र-विचित्र-रंगभरा दुकूल (परदा) सर्वथा हट जाता है। एक अद्‌भुत, सच्चिन्मयी, नीलद्युतियुक्त आलोकमाला-सी चतुर्दिक फैल जाती है। इसकी पर्णशाला इस नील ज्योत्स्ना से उद्‌भासित हो उठती है। इस नीलद्युति के दर्शन से रविकिरणों का स्पर्श पाकर विकसित हुए कमलों की भाँति इस गोपी का रोम-रोम हर्ष से खिल उठता है। हृदय में आनन्द की सरिता बह चलती है। यह निर्निमेष नयनों से उस सच्चिन्मयी नीलद्युति में प्रकट होते अरविन्द-सदृश मुख की ओर टकटकी लगाकर देखने लग जाती है। फिर यह नीलद्युति आकृति शनै शनैः और स्पष्ट होने लगती है। गोपी देखने लगती है -- सुन्दर मयूर-पिच्छ से मस्तक की कुञ्चित अलकावलि परिभूषित है। उन्नत चमकते ललाट पर मृगमद-मिश्रित चन्दन की खौर सुशोभित है। गले में वन्य-प्रसून-गुम्फित तुलसीमाला झूल रही है। सम्पूर्ण सुषमा का आकर, विशाल वक्षस्थल श्रेष्ठ कौस्तुभमणि से विभूषित है। अहा ! कैसे सुन्दर कमलदल के समान अधर-पल्लव हैं और उन पर मन्द मुसकान की छटा नित्य व्यक्त रहती है। गोपी के नेत्रों में, कानों में, प्राणों में, मन में, उसकी बुद्धि में, उसकी आत्मा में, वह किशोर मूर्त्ति भर जाती है। उसे उस समय यही अनुभव होता है कि उसका जो कुछ वर्तमान, भूत एवं भविष्य है, सब का सब यह श्यामवर्ण किशोर ही है। यह गोपी इसी छबि के ध्यान में तबतक डूबी रहती है जबतक इसे इसकी सास का किसी गृहकार्य के लिये पुनः बुलावा नहीं आ जाता। परन्तु, यंत्रचालित-से ही इसके हाथ गृह-कार्य में लगे रहते हैं, इसका चित्त तो इसी श्याम ज्योत्स्नापुरुष में ही खोया रहता है।

कभी-कभी इसकी अनेक ग्राम्य सखियाँ आ जाती हैं। परन्तु उस समय इन गोपांगनाओं से भी इसकी वार्त्ता इस श्यामल नीलचन्द्र को लेकर ही होती है। ये सभी स्वर्ण कलशी लेकर यमुना तट से जल लेने चल पड़ती हैं । ये हँस हँस कर परस्पर वार्त्ता तो करती ही हैं, परन्तु सचकित, शंकित नेत्रों से इधर उधर देखती भी जाती हैं। अहा ! इन सबका उस समय कैसा नयनाभिराम रूप-सौन्दर्य छलक उठता है । उनके स्थूल कटिदेश में सुकोमल क्षौम (रेशमी) तंतुओं से निर्मित लहँगा सुशोभित है । प्रियतम नीलमणि की मधुरातिमधुर स्मृति से प्रणय-स्नेह-सिन्धु के उद्वेलित हो उठने से इनके स्तन

अतिशय उत्तुंग हो उठे हैं। साथ ही रह रहकर चित्त के उद्वेलित हो उठने से ये प्रकम्पित भी हो रहे हैं। हाथों को अलंकृत करने वाले कंकण, कानों को विभूषित करने वाले कुण्डल-युग्म भी अतिशय चञ्चल हो रहे हैं। प्रेमावेश के कारण प्रस्वेद-कण भाल पर, कपोलों पर, चिबुक पर झलमल कर रहे हैं। अंगों में निरन्तर गति रहने से अञ्चल सिर से उतर आया है। वेणीबन्धन भी शिथिल हो गया है। वेणी में ग्रथित मालती पुष्प झरने लगे हैं। झर-झरकर वे चरणों का संस्पर्श कर रहे हैं। मानो कबरी के ये पुष्प इन गोपियों के चरणों में गिरकर इन्हें एक सत्य सिद्धान्त का संकेत कर रहे हों - "अरी ! तुम्हारे परिवारजन, अभी जो तुम्हारे मस्तक पर आसीन हैं, वे तुम्हारे प्रियतम श्रीकृष्ण में तन्मय होते ही तुम्हारे चरणों में आश्रय लेने लगेंगे, तुम चिन्ता मत करो। प्रेमावेश के कारण इन सबका बाह्यज्ञान यद्यपि लुप्तप्राय: ही है, तथापि अन्तश्चेतना में यमुना तट जाने, जल भर कर लाने की वासना के चिर जाग्रत रहने से चरणों की गति तथा कलशी-ग्रहण में कोई व्यतिक्रम नहीं है। क्षण-क्षण इन्हें आभास हो उठता है कि इस वृक्ष के नीचे नन्दनन्दन खड़े हैं। इस झुरमुट में से लो वे निकल आये -- अत: दृष्टि के सशंक सञ्चालन से इनके भ्रू-युगल अतिशय बंकिम बन गये हैं। ये नयन बहुत ही सुन्दर दीख रहे हैं। इस प्रकार गोपियाँ प्रणय-महोदधि में डूबती-उतराती चञ्चल सौन्दर्य की प्रतिमा-सी बनी यमुना तट की ओर अग्रसर हो रही हैं।

परस्पर रस चर्चा

लो, अपने सिर पर स्वर्ण कलशी रखे यह गोपी अपनी सखियों से क्या कह रही है ? जरा सुनो तो - "अरी बहनों ! मुझ पर तो मेरे गुरुजनों का अनुशासन इतना कड़ा है कि मैं तो नीलरमण की एक झाँकी भी नहीं पा सकती। बस, मात्र एक दिवस यमुना घाट पर कार्तिक अमावस्या के दिन अपनी सास के संग दीपदान करने गयी थी। अहा ! हजारों गोप गोपियाँ यमुना में दीपदान कर रहे थे। उस उत्सव में व्रजराज एवं व्रजरानी भी दीपदान करने अपने पुत्रसहित आये थे । अहा ! बस, उसी दिन एक झाँकी हुई थी नन्दतनय की।"

"अहा नवकमल जैसी विशाल नेत्रों की शोभा थी । बिम्बफलके सदृश लाल-लाल परम सुकोमल किसलयदल से अधर थे। उन पर मन्द मुसकान

छायी हुई थी। सजल जलद की-सी अंगों की कान्ति थी। अत्यन्त सुन्दर किशोर वेष था। मधुर, सुन्दर, मन्द गति से वे चलते थे, चरणों में मञ्जीर एवं नूपुर सुशोभित थे। कटिदेश में नवरत्न काञ्ची सुशोभित थी। काञ्ची से रुनझुन-रुनझुन शब्द हो रहा था। गले में सुन्दर हार था। यमुनातट पर सखाओं के साथ वे दीपदान कर रहे थे। पूर्ण शशधर जैसे मुख पर कुञ्चित केश कलाप सुशोभित थे।"

"अरी बहिन ! इस निगोड़ी लज्जा ने मेरे नेत्रों को इस प्रकार नीचे धरा पर गड़ा दिया कि अरी, मैं पूरा मुख उठाकर उन्हें देख भी नहीं पायी। फिर मेरी सास भी मेरे संग थी, वह बार-बार मुझ पर दृष्टि गड़ाती थी। मुझे धरती पर नेत्र गड़ाये देखकर उसे बहुत ही सान्त्वना हो रही थी। परन्तु मेरे हृदय पर तो वज्राघात हो रहा था री !"

लो, दूसरी सखी अपनी बात कहती है - "अरी बहिन ! जाग्रत में तो उन्हें देखने का प्रश्न ही नहीं बनता । परन्तु यह भी कैसे कहूँ कि वह स्वप्न था। इतना ही ज्ञान है कि वह निशा परम मनोहारी थी। चन्द्रमा पूर्ण विकसित था, और चतुर्दिक् चाँदनी भरपूर छायी थी। शरद ऋतु थी और मौसम इतना सुहावना था, मानो नभ से रजत चूर्ण ही बरस रहा हो।" अहा ! जब यह गोपी अपनी वार्त्ता कर रही थी, सारिका के चित्त में द्विविधा खड़ी हो गयी थी। वह गोपी की रसपूर्ण वार्त्ता सुने कि उस गोपी के अत्यंत चित्ताकर्षक, घने कृष्ण-कज्जल-अनुरंजित, बड़े-बड़े नयनों की शोभा देखे। गोपी बोलती थी तो उसके मुख पर उसकी धवल दंतपंक्ति मुक्तामणियों के सदृश चमक जाती थी और उसके अन्तराल से उसकी अनुपम रसमय वार्त्ता बहिर्गत होती थी। तो गोपी अपनी वार्त्ता आगे बढ़ाती है :- "मन्द-मन्द, अति शैत्य का पुट लिये समीर मेरे तन को उस समय अतिशय सुखद लग रहा था । अरी सखि ! मैं नदी-तट की पगडंडी पकड़े अकेली ही सघन वन की शोभा निरखती चल पड़ी। जहाँ तहाँ नदी का पाट छिछला था और वहाँ असंख्य, लाल, पीली, एवं नीले रंग की पद्मिनियाँ खिल रही थीं। निशा में भी भ्रमरों की झंकार चतुर्दिक् सघन रूप में हो रही थी।"

"अहा सखि ! जिनके मंगलमय नाम को सुन लेने मात्र से प्राणी सदा-सदा के लिये परम निर्मल हो जाते हैं, मैंने देखा वे एक कदम्ब के मूल में बैठे प्यारी बाँसुरि बजा रहे थे। अहा, मेरे चरण अपने वश में नहीं रहे। वे खिंचे, चल पड़े बरबस उसी ओर। अरी बहिन, मनोहारी साँवरी सूरत

देखकर मैं तो निहाल हो गयी। अरी, वे इस वंशी को - जो मात्र बाँस की एक पोली लकड़ी भर है और अनेक छिद्रों से युक्त है, उसे कितना चाहते हैं ? वे उसमें अतिशय सरसता से अपने प्राणों का रस भरते हैं और उसे आप्यायित करते रहते हैं। अरी, वे उसके छोटे-छोटे छिद्र के समान मुख का, जिसमें उनका फेनिल अधरामृत भर जाता है, अपने रसमय प्राणों की फूँक लगाकर प्रक्षालन करते हैं। कभी-कभी यह वंशी यदि उनके मनोनुकूल नहीं बज पाती है तो अपने पीताम्बर को आर्द्रकर, इस वंशी के छिद्रों को प्रक्षालित करते हैं और तब उस पर शतशत चुम्बनों को अंकित करने लग जाते हैं। कभी इस वंशी को ये अपने कपोलों से सटाते हैं और कभी अपने कुन्तलमण्डित सिर को इस वंशी से लगा देते है। और यह वंशी भी उनके अनिर्वचनीय प्रेमानन्द में विभोर हो जाती है और तब उनके हाथ का यंत्र बन जाती है।"

"अरी बहिन ! मैंने निर्णय कर लिया था कि आज उनकी इन अगणित प्रेमिल चेष्टाओं से युक्त छवि को जी भरकर निरखूँगी। आज निशापर्यन्त उनके अंग-अंग से झरती नील ज्योत्स्ना में ही मैं अवगाहन करती रहूँगी। फिर विचार करने लगी कि यदि उनके सहसा सम्मुख हो गयी तो उनका वंशीनिनाद रुक जायेगा, अतः इस कदम्ब की छाया की ओट करके पीछे से चुपचाप चलूँ और क्षुप, तृण एवं गुल्मों की ओट से उनको मन भर देखती रहूँ।"

"अहा ! कैसी शोभा नीलसुन्दर की थी। मानो वसन्त के दिन हों; नव-तमाल-तरु की शाखाओं में - शाखा की प्रत्येक ग्रन्थि में विविध नवांकुर श्रेणी फूट पड़ी हो; इन नवांकुरों से श्याम तमाल का सौन्दर्य प्रस्फुटित हो रहा हो, परन्तु यह शोभा भी सर्वथा तिरस्कृत जो हो रही है नीलसुन्दर के रोम-रोम से प्रस्फुटित सौन्दर्य स्रोत की तुलना में।"

घुँघराली अलकें कपोलों पर, ललाट के कुछ अंश पर झूल रही थीं। कदम्ब का किंजल्क उड़-उड़कर उनकी अलकों पर गिर रहा था । कुन्तल-मंडित मस्तक पर मयूरपिच्छ का मुकुट सुशोभित था। केशों में सुन्दर सुरभित वन्यप्रसून ग्रथित थे। नेत्रों की मनोहर चितवन एवं अधरों पर व्यक्त हुई मृदु स्मिति की शोभा देखते ही बनती थी। प्रस्फुटित नीलसरोरुह से सुधा विनिंदक मधुधारा क्षरित हो रही थीं। बस, इस अप्रतिम सौन्दर्य को मैं निहार रही थी कि मेरा स्वप्न टूट गया। सखि री! इस निगोड़ी जाग्रति ने मुझे

अथाह विरहाग्नि में झौंक दिया। तब से यह भीषण विरह ज्वाला अलक्षित रूप से मेरे अन्तस्तल के प्रत्येक अंश में धक्-धक् जल रही है।"

अब तीसरी कहने लगी – "मैं तो उन्हें प्रतिदिन ही अतिशय मीठे सपनों में देखती रहती हूँ। जब जागती हूँ तो वे दृष्टि से ओझल हो जाते हैं। बहिन ! सारा दिवस मैं एक विचित्र-सी दशा में अवस्थित हुई काटती हूँ। जब मेरा स्वप्न टूट जाता है, तब भी कितनी ही देर पश्चात् मुझे पूरा बाह्यज्ञान हो पाता है। जब शरीर का भान होता है तो प्राणों में वेदना भरी रहती है। ऐसा लगता है मानों प्राण कहीं उड़कर चले जायें। अन्तस्तल सर्वथा सूना हो जाता है। परन्तु क्या करुँ बहिन ! दिन तो कल्पों के समान दीर्घ हो जाता है फिर भी काटना तो पड़ता ही है। आज तो रात्रिपर्यन्त स्वप्न आया ही नहीं। मयंक अस्त हो चुके थे, री ! प्राची की लालिमा गवाक्षरंध्रों से झाँकने लगी थी। मुझे लगने लगा, सचमुच ही मेरा जीवन निस्सार है। नीलमयंक प्राणपति से मिलने की तो कोई संभावना ही मेरे इस वर्तमान जीवन में तो है नहीं और अमिलन की अथाह विरह-दावाग्नि मेरे तन के कण-कण को अगाध ज्वाला में निरन्तर झौंके रहती है। मैं अपने ऐसे जीवन से पिण्ड भी कैसे छुड़ाऊँ -- यही विचार कर रही थी। इतने में ही मुझे झपकी आ गयी। अरी बहिन ! कहते हैं प्रभात का देखा स्वप्न सत्य हो जाता है। सुन री ! स्वप्न में वे नील देवता चुपचाप मेरे निकट मेरे अन्तर्गृह में आ गये री ! दिन भर की वह विरहाग्नि, जो अतिशय दाहक हो रही थी, प्रशमित हो गयी। परन्तु न जाने लज्जा के गहन आवर्तों ने मुझे डुबो दिया। फिर भी उनके मुखकमल पर मेरी दृष्टि विजड़ित हो गयी। तत्क्षण ही मेरे नेत्र भ्रमरों के रूप में परिणत हो गये। प्रियतम के मुखारविन्द से राशि-राशि मधु की धारा प्रवाहित हो रही थी।"

"अरी मेरे दो नेत्र-भ्रमर उसी मकरन्दरस का पान करने उन पर टूट पड़े। मेरे प्राण और हृदय सभी तो मेरे नेत्रों से सन्नद्ध थे ही। अतएव, प्रियतम प्राणसुन्दर की वह रूप-मधुधारा उसी तन्तु के सहारे झरने लगी थी हृदय में भी, प्राणों में भी। उसी समय रसपूरित हृदय में लज्जा की एक विशाल लहर आ गयी। उसने सम्पूर्ण द्वार रुद्ध कर दिये। एक साथ यह लज्जा सबका कठोर नियंत्रण करने लगी, इसीलिये लाजभरी पवित्र मुसकान एवं अतिशय भाव-मुद्रा के रूप में व्यक्त होकर वह उन्मादी प्रवाह पुनः पीछे की ओर लौट गया। बहिन री ! कदाचित् लज्जाद्वार अनावृत कर देती तो

हृदय की ओर से उठे हुए उस प्रवाह में बहकर मेरा सब कुछ उनके सम्मुख प्रकट तो हो ही जाता। प्रियतम चरणसरोरुह में मेरा सर्वस्व तो समर्पित हो ही जाता।"

"परन्तु बहनों ! इतने पर भी वे कहाँ मानने वाले थे। उन्होंने मेरे पृष्ठदेश से आकर मुझे चमत्कृत करने के लिये मेरे दोनों नेत्र मूँद लिये री! प्राणधन का मादक संस्पर्श पाकर ऐसी प्रतीति हुई मानो मेरे सम्पूर्ण अंगों में विद्युत् लहर दौड़ गयी हो। मेरा हृद्देश निर्मल अनुराग से परिपूरित हो उठा। अरी ! वह प्रियतम-प्राणनिकेत के कर-सरोज का संस्पर्श नहीं था री, अपितु सम्पूर्ण संजीवनीशक्ति का मेरे प्राणों में संक्रमण था। और तू ही बता मैं उससे भला कैसे बच पाती ? ओह ! प्राणों में फिर से अभिनव उल्लास जाग उठा।"

"अरी फिर वे मेरे नेत्रों के सम्मुख आ गये । ओह ! उनका मुख-सरोज मानो श्याम लता का एक अनिर्वचनीय सुन्दर परिपक्व फल हो। वे मेरे अंग-अंग की अति लोभनीय वस्तु थे। आत्यन्तिक सरलता की सुषमा से समलंकृत थे, वे। उन नील अंशुमाली के सान्निध्य में मेरा हृत्पद्म पूर्ण प्रस्फुटित हो उठा। मेरे नेत्र प्रियतम के दृगञ्चल से जा मिले। अनुराग-महासमुद्र को अपने अन्तराल में सँजोये दो उरस्थल सम्पूर्ण व्यवधानों को ध्वंसकर एकाकार हो उठे। जलते प्राणों का तापमान सर्वथा प्रशमित हो गया -- बाह्याभ्यंतर, सब ओर अभिनव शीतल प्रेमामृतरस से अविराम अभिषेक जो हो रहा था।"

"किन्तु, हाय रे ! सखि, मैं प्रियतम-प्राणवल्लभ के अंग-संस्पर्श की मादकता से, उस दिव्य सुवास से मात्र परिचित ही हो सकी थी कि बस, इतने में आकर क़िसी ने मुझे जगा दिया।"

"सखि री ! तब से मेरे प्राण जल रहे हैं, री ! अहा ! यह मेरी अप्रतिम नीलीनिधि अब पुनः मुझे कब मिलेगी ? हाय ! हाय ! उस मेरी नीलनिधि के बिना मेरे जीवन धारण का अब अर्थ ही क्या है ?"

देखो, अपनी सखी से वार्त्ता करती-करती यह गोपी अपने तन की भी सुधि भूल गयी है। भावों की प्रबल आँधी इस गोपी को न जाने कहाँ से कहाँ ले जायेगी ? भावों के आवेग में कभी तीव्र, कभी मन्द, पुनः तीव्र,तीव्रतम वेग लिये यह गोपी डूबी जा रही है -- अतल तल में। अब तो यह इतना भी स्मरण नहीं रखे है कि मैं कौन हूँ, क्यों एवं कहाँ आयी हूँ। इसे अपनी स्वर्ण कलशी का भी भान नहीं रहा है।

और जब यह भावसिन्धु किसी को भी अपने अतल तल में ले जाने में समर्थ हो जाता है, उस समय इन भावों का उद्भावक भला उससे कैसे दूर रह सकता है।

प्रियतम से मिलन

पूर्वकृत संकल्पों की प्रेरणा से नियंत्रित गोपी यंत्रचालित-सी अपनी स्वर्णकलशी को यमुना घाट में जल में डालती है, जल को हिलोर कर गागर भर कर ऊपर उठाती है; सभी कार्य पूर्वकृत संकल्प से ही यंत्रचालित की तरह उसका तन कर रहा है। और लो, जल की गागर को ईंडुरी-सहित सिर पर रखकर वह अपने गाँव की दिशा में मुख करती है। बस, नीलद्युति प्रियतम उसकी गगरी पीछे से पकड़कर गिरा देते हैं।

गोपी मुड़कर ज्यों ही देखती है -- सौन्दर्यनिधि अपने प्रियतम की मुग्धता-सम्पुटित-भंगिमाओं का रस वितरण कराती छवि सम्मुख पाकर-निहाल हो जाती है। विशुद्ध विनोद कला में अतिशय निपुण, वाक्चातुर्य से विभूषित, हाव-भाव एवं कटाक्षों से नेत्रों को नचाते, क्षण-क्षण में अपनी धृष्ट चंचलता को उन्मुक्त भाव से बढ़ाते, कोटि-अनंग-मदहारी नीलमयंक अपने बिम्ब विडम्बी अधरों पर कुटिल मुसकान बिखेरत--उसे दृष्टिगोचर हो जाते हैं। किसी कुल-ललना की इस प्रकार धृष्टतापूर्वक गगरी गिराने के उपरान्त भी अपनी ग्रीवा को बंक गति देकर भ्रूनर्त्तन करते हुए, कुटिल मादक मुसकाते वे उस गोपी की ओर निहार रहे थे, मानो लज्जा नामक किसी वस्तु से उनका कोई वास्ता ही नहीं हो। उनके नयन, सम्पूर्ण प्राणों का प्यार लिये गोपी के मुख को एकटक निरख रहे थे। सर्वथा संविन्मय रूपलावण्य की गोपी पर वर्षा हो रही थी। गोपी के हृदय की रस कल्लोलिनी कूल-विहीन हो उठी थी।

"अरे ! अरे !! तेरे तो सभी वस्त्र भीग गये री । ले, तू मेरा यह पीत उपरना पहन ले और तेरी ओढ़नी, लहँगा मुझे दे, दे री, मैं इन्हें स्वच्छ कर, सुखा देता हूँ।" लो, प्रियतम अति मधुस्यन्दी स्वर में बोल रहे हैं और साथ ही साथ अपने बंक नयनों को नचा-नचाकर कटाक्षों से इस गोपी के हृदय को बेध भी रहे हैं। उन्होंने गोपी को अपना पीत उपरना उढ़ा दिया है। और इसी मिस से गोपी के हृदय में प्रीति ज्वाला धक्-धक् जला दी है।

लो, गोपी सदा-सदा के लिये उन्मादिनी हो गयी। उसके साथ आई सखियाँ उसे पकड़ने की चेष्टा कर रही हैं। परन्तु, वह तो 'प्रीतम !

प्राणवल्लभ !! जीवन सर्वस्व !!! नीलमणि हे'!!!! की रट लगाती गली-गली दौड़ रही है; उसे तो जगत् का कहीं कोई ज्ञान ही नहीं है।

ओह ! यह गोपी अति उच्च स्वर से, जब प्रीतम ! प्राणवल्लभ !! जीवन सर्वस्व !!! पुकारती है तो पशु-पक्षियों के भी प्राण विकल हो उठते हैं। गोपी के वस्त्र अस्त-व्यस्त हैं, उसके आभूषण टूट गये हैं; मुक्ता एवं रत्न इधर-उधर बिखर रहे हैं। कभी यह पुकारने और रटने लगती है -"सांवर रे ! सांवर रे !" फिर इसके स्वरों में इतनी वेदना व्यक्त होती है कि सुनने वालों का हृदय फट पड़ता है।

और लो, यह सारिका भी उन्मादिनी हुई नाचने लगी। इसके भी रोम-रोम से यही ध्वनि प्रवाहित हो रही है - "साँवर हे ! प्रीतम हे ! नीलम हे ! जीवन सर्वस्व हे !"

सारिका प्रसंग : छठी लीला

सारिका की प्रेमदशा

विस्तृत नीलगगन में सारिका उड़ रही है। उसे नीलगगन दृष्टि-गोचर ही नहीं हो रहा है। उसे तो यही प्रतीत होता है कि प्रियतम-प्राणवल्लभ की श्यामलता भरी है -- इस नभ के अणु-अणु में। उसे लगता है - वृन्दावन में, गिरिपरिसर में, यमुना की तरल लहरियों में उसके प्रियतम की नीलिमा ही तरंगित हो रही है। सर्वत्र वनक्षेत्र में, व्रज के ग्राम-ग्राम में, सर्वत्र मात्र इस नीलसुन्दर की रस-सुधा का प्रस्रवण ही तो है। सम्पूर्ण वृन्दाकानन श्यामद्युति से उद्भासित हो रहा है।

सारिका के तन के अणु-अणु से, उसके कण्ठ से, अनवरत ध्वनि निकल रही है :- "सांवर हे ! प्रियतम हे !! नीलम हे !!! जीवन सर्वस्व हे !!!! अश्रुका अनर्गल प्रवाह सारिका के समग्र अंगों को आर्द्र कर दे रहा है। लो ! इस कदम्बखण्डी में बहुत पक्षी बैठे हैं। सारिका उड़ते उड़ते थक गयी है । वह एक कदम्ब वृक्ष पर चुपचाप शान्त बैठ जाती है। उसके सम्मुख उसके प्रियतम की भावछवि प्रत्यक्ष है - कटिदेश में पीताम्बर उत्तरीय फहरा रहा है। मृदुहास्य समन्वित मुखकमल है । कमलकोश से भी अधिक सुकोमल इनके अरुण चरण हैं।

व्रजकिशोर का सौन्दर्य किसी मान्यता की अपेक्षा थोड़े ही रखता है। वह तो ऐसा मादक सौन्दर्यसिन्धु है, जो बस किसी के भी दृष्टि-पथ में आ जाय, देखने वाली का सर्वस्व अनायास ही हरण कर लेता है वह। कोई भी युक्तिवाद वहाँ क्रियाशील रह ही नहीं सकता। जब तक किसी के नयन पथ में वह मूर्त्त न हो तभी तक उसकी बाह्य-दशा मर्यादित रह पाती है।

पक्षीगण नवागन्तुका सारी की प्रेम दशा देखकर चकित हो रहे हैं। उसके नेत्रों से टप-टप अश्रु गिर रहे हैं। रह-रहकर उसका शरीर सूखे-पत्ते की तरह प्रेमावेश में काँप जाता है। पक्षीगण धीरे-धीरे फुदक-फुदक कर उसके चारों ओर आवृत्त बनाकर बैठ जाते हैं। परन्तु सभी अनुभव कर रहे हैं कि ज्योंही उनमें से कोई एक भी परिधि से उसके तनिक भी निकट होता है, उसे एक ऐसी विद्युत् तरंग का अनुभव होता है जिससे उसकी मनोदशा अस्तव्यस्त होने लगती है। अत: कोई भी उस परिधि को भंगकर, उसके निकट होने अथवा उसे स्पर्श करने की चेष्टा नहीं कर रहा है। सर्वत्र विलक्षण शान्ति है। चतुर्दिक ऐसी एकान्तिकता दृष्टिगोचर हो रही है, मानो कीट, पतंग, वृक्ष-लता, सुमन, पशु-पक्षी ही नहीं, यमुना और पवन भी सारिका की ओर अपना सारा ध्यान केन्द्रित किये हैं, और उसकी विलक्षण प्रेम-भावराशि का एकटक पान करने को उत्सुक हैं। यमुना ने कल-कल निनाद स्थगित कर, अपना प्रवाह शान्त एवं सम कर लिया है और पवन भी मन्द, शीतल, सुगन्धित अति शनैः-शनैः प्रवहमान है। ऐसा प्रतीत हो रहा है, मानो सम्पूर्ण प्रकृति ही सारिका की ओर ही दृष्टि जमाये उसे ही अति उत्सुकता से निरख रही है। सर्वत्र पूर्ण आनन्दमय वातावरण है।

सारिका तन से तो यद्यपि उस कुसुमित कदम्ब पर बैठी है परन्तु उसका अस्तित्व तो वहाँ है ही नहीं। उसके सम्मुख एक ही दृश्य है, गोपी को प्राणवल्लभ पीत उपरना उढ़ा रहे हैं। और ज्यों ही वह पीत उपरना गोपी देह को संस्पर्श करता है गोपी-'गोपी' रहती ही नहीं। अन्य लोगों को देह तो वही गोपी का ही दिखता है, परन्तु गोपी की समग्र सत्ता, उसकी अस्मिता, उसका अन्त:करण, मन-बुद्धि, चित्त एवं सूक्ष्म ज्ञानेन्द्रियाँ सभी डूब जाती हैं, रानीरूप महाभाव-महोदधि में।

गोपी में राधा-भाव संचारण

गोपी का मुख वही है, आकृति वही है, परन्तु उस आकृति में आभा भर जाती है -- शरच्चन्द्र को भी हेय बनानेवाले प्रिया राधारानी के मुख-सरोज की। नित-नूतन सौन्दर्य की प्रतिपल अभिनव माधुरी छलक उठती है, उस मुख के अन्तराल से। वह मुख साधारण नारी-मुख नहीं रहता - कोटि-कोटि-कन्दर्प विनिन्दक लावण्य-सिन्धु आनन-सरोज हो उठता है। गोपी की केशराशि पूर्ववत् ही रहती है, परन्तु उसमें ही व्यक्त हो उठती है - अभिनव सुन्दर, कृष्ण-कुञ्चित कुन्तलराशि, जिसकी मनोरमता, सुकोमलता, सुचिक्कणता, अनुपमेय हो उठती है। वेणी सर्ववन्द्य, प्रियतम-चित्ताकर्षिणी नागिन का उपमान बन जाती है। गोपी का तन वही रहता है, परन्तु उसमें से कुन्दद्युति दमकने लगती है। तन पर पड़ा प्रियतम का उत्तरीय पीताम्बर नवनीरदवर्ण लहँगे में परिवर्तित हो जाता है और अनमोल प्रियतम-प्रेम-रत्नों से जड़ा झलमलाने लगता है। मस्तक पर मणिमय चूड़ामणि स्वत: ही प्रकाशित हो उठती है । अहो ! गोपी के मुखमण्डल पर अनुपम लावण्य, अप्राकृत मधुरिमा, विलक्षण सरसता, अतिशय सुकोमलता, और अद्वितीय कान्ति असमोर्ध्व रूप में दमकने लगती है । अब वह गोपी 'गोपी' रहती ही नहीं; कृष्णकान्ता, कृष्णाराध्या, कृष्ण-संजीवनी, कृष्ण-जीवन-जीवनेश्वरी, राधा-रासेश्वरी हो उठती है।

सारिका स्पष्ट परिलक्षित करती है - किशोरी रानी ही सखियों सहित यमुना-तट में जल भरने आयी थीं, विलक्षण संयोग हुआ, यह गोपी भी उसी समय यमुनाघाट पर अपनी सखियों सहित पहुँची और रानी में अपरिसीम स्नेह-सिन्धु उद्वेलित हो उठा। उस महाभाव-सिन्धु में यह गोपी किसी अपरिसीम सौभाग्य से अवगाहन कर गयी और फिर तो उस महाभावसिन्धु में पूरी की पूरी विलीन ही हो गयी।

गोपी का मन और अन्त:करण एक लघुत्तम खद्योत के समान था। उसमें प्रियतम-प्रेम की ज्योति अवश्य थी, परन्तु वह रसमयी प्रीति किसी तरुवल्लरी के पत्रांश को एक क्षण के लिये क्षीण चमक का दान भले ही कर सकती थी। ग्रीष्म में समुद्भासित सूर्य के समक्ष उसकी सत्ता सर्वथा नगण्य थी। सहसा अनन्तकोटि-जन्मार्जित पुण्यों का गोपी में उदय हो गया और गोपी प्रचण्ड प्रीति की स्रोतस्विनी भानुनन्दिनी की कृपा-वात्सल्य की ग्रहीता हो गयी। अब

तो गोपी अपनी सम्पूर्ण आवरण-शक्तियों को उन महा महाभावमयी में विलीन कर देने के लिये बाध्य हो गयी। फिर क्या था, गोपी, 'गोपी' रही ही नहीं, 'राधा' हो गयी। और राधा के सम्मुख तो राधाधन को प्रकट होना ही पड़ता है। गोपी के नेत्र एक दिव्यातिदिव्य नीलतेज के उन्मेष से भर जाते हैं। अहा ! चन्द्रज्योत्स्ना-सी मन्द मुसकान उसके नयनों के मार्ग से हृदयस्थल में पैठती चली जाती है। अरुणिम नेत्रप्रान्त की चितवन तो सीधी कलेजे को बेधती चली जाती है। अहा, कैसे नेत्र हैं ये ? इनकी अरुणाई मानो विशुद्ध रजकी प्रतीक है अतः उस के अन्तस्तल में अनन्त प्रीति-मनोरथों (सुखदान-वासना) का सृजन हो उठता है। और नेत्रों की उज्ज्वलता का अंश मानो सत्व का प्रतीक है, जो उसकी प्रीति का संवर्द्धन, पालन कर रहा है। और नेत्रों का कृष्णांश - वह तो उसे अपने में पूर्णतया विलय ही कर ले रहा है। उज्ज्वलहास्य अधरों पर तबतक नाचता ही जाता है, जबतक गोपी पूर्णतया प्रिया-महाभावसिन्धु में पर्यवसित नहीं हो जाती।

अब इससे अधिक देखने की सामर्थ्य सारिका में नहीं रहती। उसके नेत्र इस चिन्मय चमत्कार से सर्वथा पूर्ण हो उठते हैं। सारिका के हृदय में किशोरीरानी के अपार वात्सल्यमय स्वभाव के स्तवन का भाव भर उठता है। वह रानी को खोजने चल पड़ती है। परन्तु सारिका एक अप्रतिम आश्चर्य-दर्शन से चकित हो उठती है। सारिका के नेत्रों की, मन की दशा ही विचित्र हो गयी है। उसे लगता है, जैसे व्रज का तृण-तृण, पत्ता-पत्ता नवनीलनीरदवर्ण और कंचनद्युतिवर्ण-प्रियतम श्यामसुन्दर एवं उनकी प्रिया ही है। प्रथमतः उसे अनुभव होता है, जैसे सम्पूर्ण व्रज-विश्व में प्रियतम नील सुन्दर भरे हों, फिर उसे दिखता है कि नहीं, इस नीलधारा का परम सत्य इसके हृदयस्थ पीतधारा में निहित है। पुनः लगता है कि नहीं, पीतधारा के अन्तराल में पूर्णतया नील सौन्दर्य ही क्रियाशील है, फिर लगता है नहीं, समग्र क्रियाशीलता को साक्षी के रूप में पीतवर्ण ही संचालित कर रहा है। सारिका की कर्मेन्द्रियाँ आनन्दातिरेकवश स्थिर हो जाती हैं। समस्त ज्ञानेन्द्रियाँ एक अभिनव आनन्द के पूर में निमग्न हो जाती हैं। मन, उस दर्शनसुख में डूबकर अपनी सत्ता खो बैठता है। सारिका की पाँचों कर्मेन्द्रियाँ, पाँचो ज्ञानेन्द्रियाँ और एक मन ग्यारहों-की-ग्यारहों इन्द्रियाँ इतनी शान्त हो जाती हैं, जैसे इनका सम्पूर्ण अस्तित्व ही सदा-सदा के लिये विलीन हो गया हो। सर्वत्र, क्या प्रिया-प्रियतम ही प्रिया-प्रियतम हैं ? अन्य कुछ भी नहीं ? सुपक्व,

सुमधुर फलभार से अवनत हुई राशि-राशि वृक्षावलियाँ, रंगबिरंगे सुरभित कुसुमों के आभरण धारण कर तरुश्रेणियों को वेष्टित किये लतावल्लरियाँ सारिका के लिये इस समय प्रिया-प्रियतम से भिन्न कोई सत्ता ही नहीं हैं। तरुश्रेणियाँ प्रिया हैं तो लतावल्लरियाँ प्रियतम हैं, लतावल्लरियाँ प्रिया हैं तो तरुश्रेणी प्रियतम है, और इतना ही नहीं तरुश्रेणी के तने में भी प्रियाप्रियतम ही प्रियाप्रियतम भरे दृष्टिगोचर हो उठते हैं। सारिका के लिये चित्र-विचित्र विहंगमों का कलगान, इस समय मात्र प्रियाप्रियतम का रसालाप ही बन जाता है। सारिका-एक साधारण पक्षी में भला इतनी कहाँ सामर्थ्य कि वह प्रियाप्रियातम के असमोर्ध्व प्रेमवैभव को और अधिक देख सके। उसके नेत्रों के सम्मुख जितना जो अंश व्यक्त हो रहा है वह इतना विलक्षण है कि पूरी की पूरी ही वह डूब जाती है। तर्क समाधान कर नहीं सकता।

सारिका की प्रेम दशा

सारिका इतना ही जान रही है -- प्रियाप्रियतम प्रकृति से परे की वस्तु होते हुए भी इस वृन्दावन की पूर्ण प्रकृति हैं। वे स्वप्रकाश, परमानन्दस्वरूप होते हुए भी सारिका के विलक्षण दृश्य हैं। सारिका ठीक अनुभव कर रही है- प्रियाप्रियतम ही यहाँ सब मनुष्यों के रूप में हैं और प्रियाप्रियतम ही विडाल-मूषक, सर्प-नकुल, बने भिन्न-भिन्न शत्रुभाव परायण प्राणिवर्ग हो रहे हैं। परन्तु उनमें प्रेम का ऐसा विलक्षण प्रभाव है कि इन सभी परस्पर शत्रुभावपरायण प्राकृत देह-वस्त्रों को ओढ़े हुए भी वे अहा, कैसे परस्पर स्नेह के सूत्र में बँधे हैं ? अहा ! कैसी इनमें मैत्री है ? कहीं मलिन विकृति की संभावना ही नहीं। कानन में, कानन के आश्रित चराचर समुदाय में, कहीं क्षुधा-पिपासा प्राणों को चंचल नहीं करती, काम, मन का मन्थन नहीं करता, क्रोध, इन्द्रियों को जलाने नहीं आता, लोभ, सम्मोहन का सृजन नहीं करता, एक भी अशुभ विकृति प्रवेश ही नहीं कर सकती इनमें। इनकी यहाँ गन्धमात्र भी नहीं। इस प्रकार परम रमणीय वृन्दारण्य के आन्तरिक सत्य की द्रष्टा हुई सारिका निमीलित नयन है। उसकी समस्त इन्द्रियाँ उत्फुल्ल हैं ! वह जिस ओर दृष्टि मोड़ती है वहीं अनुभव करती है, कण-कण में निराविल प्रेमभरे प्रिया-प्रियतम विद्यमान हैं। निर्मलतम प्रेम के वे दोनों मानो उफनते निर्झर हों। इस अमित माधुर्य राशि को देखती सारिका चुपचाप बैठी है।

ग्रामवासियों की आँखें तो केवल गोपी को ही उन्मादिनी देख रही हैं परन्तु सारिका के उन्माद को तो कोई परिलक्षित ही नहीं कर पा रहा। गोपी को सम्हालने, उसके पीहर एवं श्वसुराल के लोग आ गये हैं। लो, पौर्णमासीदेवी भी आ गयीं। उन्होंने सभी व्रजवासियों के कानों में न जाने कैसा मंत्र फूँका है, सभी इस गोपी की चरणधूलि की वन्दना कर रहे हैं। परन्तु उन्मादिनी सारिका पक्षी को कौन सम्हालेगा ? अवश्य ही पक्षी-समूह उसके चतुर्दिक घेरा लगाये उसे अति स्नेह-सौहार्द भरी दृष्टि से निहार रहा है। परन्तु सारिका उन्हें कैसे इस सत्य को समझावे कि वे पक्षी नहीं है, उनके रूप में नीलसुन्दर प्रियतम ही अपनी प्रिया के स्कंध देश में भुजा रखे अवस्थित हैं। वे ही, वे ही इस रंगमंच में सभी नाट्यवेश धारण किये हैं। सारिका पुनः चीख उठती है - नीलम हे, साँवर हे, प्रियतम हे !

पक्षी समझ रहे हैं सारिका नीलमणि प्राणप्रियतम के विरह में विकल है, परन्तु सत्य यह है कि नीलसुन्दर अपनी प्रिया के स्कंध देश में भुजा रखे, अपनी प्रिया को अपने से सटाये सम्पूर्ण व्रजजगत में विचर रहे हैं। प्रिया 'नीलम'! 'नीलम'!! पुकारती है और प्रियतम-"प्राणेश्वरी, प्राणेश्वरी"-प्रेम संबोधन करते हैं। वह महाभावसिन्धु, नीलपीलद्युति-रमण-रमणी बना सर्वत्र विलसित हो रहा है। पारावारविहीन रसनिर्झरिणी ही यह सम्पूर्ण व्रजमंडल है।

इस प्रकार, कुछ काल तक तो सारिका में ज्ञानदीप की ज्योति जगी किन्तु फिर वह विलीन हो गयी - भक्ति की मन्दाकिनी में। उसका अन्तस्तल प्लावित हो उठा अतिशय दैन्य में। वास्तव में भक्ति की स्निग्धता ही ज्ञान की जननी है । भक्ति सान्द्र, सान्द्रतर होती हुई ज्ञान को जब आत्मसात् कर लेती है तभी ज्ञान कृतकृत्य होता है। क्योंकि अन्यथा तो ज्ञान प्रिया-प्रियतम के चरणसरोज की निर्बाध सेवा से ही वंचित हो जाय। ज्ञान की सार्थकता इसी में है कि उसके प्रकाश में प्रियाप्रियतम की महिमा का तत्व प्रकट हो जाय। बस, इसके पश्चात् तो भक्ति की स्निग्ध स्रोतस्विनी ही उसे पूर्ण विश्राम दे पाती है।

सारिका पुकार उठी -"हे मेरे शत सहस्र प्राणों की रानी ! आपने मुझे अपनी अहैतुकी कृपा का प्रकाश देकर, अपने जिस शुचितम अनुराग का परिचय दिया है, काल के अनादि, अनन्त प्रवाह में हाय रे, न तो मैं उसके योग्य ही बन सकी, न कभी बन ही सकूँगी ? सर्वथा सर्वांश में निरर्थक ही है, मेरा अस्तित्व।"

"हे प्राणवल्लभे ! मैं आपका ऋण परिशोध कर ही नहीं सकती। निरवधि नित्य ऋणी रहना ही मेरी नियति है। हे प्राणप्यारी किशोरी ! आपके विशुद्ध उच्छलित रससिन्धु की एक कणिका ही मेरा जीवनावलम्बन है।"

"हे प्रियतमे ! मेरे अनन्त दोषों पर तो आपकी दृष्टि ठहर ही नहीं सकती क्योंकिं आपकी दृष्टि ही विशुद्ध विमल है। मैं तो आपकी कृपाराशि में ही निरवधि नहाती रही हूँ और नहायी ही रहूँगी। आपकी कृपा ही मेरा पोषण है।"

"हे किशोरी ! मुझ में यह योग्यता ही नहीं कि मैं अपनी पलकों से आपकी चरणरज पौंछ सकूँ, परन्तु मेरी सभी अयोग्यताएँ आपको ही दूर करनी हैं । हे मेरी जीवनाधार ! मेरा नित्य निवासस्थल तो आपके ये अरुण चरण ही हैं।"

इधर तो भक्तिजन्य दैन्य में सारिका का मन बह रहा था, उधर सारिका के भावों की प्रतिच्छाया लिये अघटन-घटना-पटीयसी योगमाया लीला-संरचना करने में तत्पर हो जाती हैं।

वन में प्रिया प्रियतम का आगमन

सारिका उसी कदम्ब वृक्ष पर बैठी सभी पक्षियोंसहित देखने लगी -- रूप की किरणों से दिशायें उद्भासित हो रही है; नूपुरों और कटि किंकिणी के रव से कदम्ब के चतुर्दिक का सम्पूर्ण वनक्षेत्र मुखरित होने लगा है। सारिका के कान उस अमृतमयी झंकार में डूबने लगे। उस मोहक रव की सत्ता के सम्मुख अन्यत्व रहता भी कैसे ? लो ! रानी सखियों सहित वनदर्शन करने आई हैं। विश्वसत्ता का सम्पूर्ण सौन्दर्य, जैसे तरुश्रेणी के पत्तों-पत्तों में फूट पड़ा। सम्पूर्ण सुषमा को, जैसे किसी ने वन के अणु-अणु में उँडेल दी हो। रानी की दृष्टि जिधर भी उठती है, अतिशय सौन्दर्य से सजी वनश्री, नमित सम्मुख खड़ी हो जाती है।

अरे ! वहाँ प्राणप्रिया समुपस्थित हों, वहाँ से रसलुब्ध मधुकर प्रियतम को वर्जित कर सकने की सामर्थ्य ही किसमें है ? सम्पूर्ण रसिकता के मूल-स्रोत व्रजेशतनय एक सुरम्य लतावितान के तले अपनी प्राणप्रिया पर रसमयी दृष्टि निक्षेप करते सारिका को दृष्टिगोचर हो जाते हैं। सारिका भयभीत हो उठती है परन्तु दूसरे ही क्षण वह आश्वस्त हो जाती है। वनश्री उसके कानों में अतिमधुर स्वर में कह देती है - "मेरी बहिन ! रसिकशेखर और उनकी प्रिया

की सेवा का उपकरण बन पाने का अवसर बार-बार तो वन को मिलने से रहा। देखो ! सर्वथा व्यग्र मत होओ । निश्चिंत हो जाओ । सम्पूर्ण वनपथ वृन्तहीन सुमनास्तरण की मृदुलता को भी तुच्छीकृत करने वाली मृदिमा से युक्त है। बहिन ! प्रियाप्रियतम निर्बाध कहीं भी जावें, टहलें, घूमें, विहरें, वन को हर कोने से - पथ, अपथ, सर्वत्र, सर्वदिशाओं से देखें - उनके चरणों की सुकोमलतम चरणस्थलियों के लिये, उनके कर की अँगुलियों के लिये, हथेलियों के लिये सर्वत्र अतिशय असीम मृदुलता यहाँ व्यक्त मिलेगी। यदि विश्वास न हो तो किसी प्रतीत होने वाले कठोर से कठोर वृन्त को नेत्रों में अंजन की तरह लगाकर देख लो । कज्जल में भले ही कहीं कठोरता अवशेष रह जावे - इन वनतृणों में, वृन्तों में कहीं किंचित् भी कठोरता का लेश भी अनुभव में नहीं आ सकता । ये प्रस्तर खण्ड भी मात्र दिखने में कठोर दृष्टिगोचर हो रहे हैं, इनमें सुमनों की मृदुलता को तुच्छीकृत करने वाली पूर्ण सरसता निहित है।

सारिका देख रही है -- नन्दतनय तो वंशी को ही संस्थापित करने जा रहे हैं, अपने अधरों पर। अहा ! अब तो प्राणेन्मादी वेणुवादन से रवितनया का सम्पूर्ण कूल ही निनादित हो उठेगा। अरे ! उस मोहक स्वरलहरी में तो सभी डूब जायेंगे। कोई बच ही नहीं पावेगा।

लो, रानी और सखियों के पदविन्यास हो उठे उसी दिशा की ओर, जिधर से प्रियतम की वंशी की तान आ रही है। लो ! सभी सखियाँ प्राणवल्लभ को चतुर्दिक घेर कर यंत्रचालित-सी आसीन हो गयी हैं, वहीं धरा पर। रानी तो इस वंशी-विमोहन के बगल में ही खड़ी हो गयी हैं।

सारिका अति उच्च स्वर से पुकार उठी - "अरे ! अरे ! श्यामाम्बुद-राशि में असंख्य पिंगल विद्युल्लहरियाँ बारंबार कौंध रही हैं और रसनिर्झर का निर्माण करती, व्रज की धरा को प्लावित कर रही हैं।"

देखो ! आनन्द-अनुराग के आवर्तो में डूबते-उतराते प्रिया-प्रियतम दोनों वनवीथियों में अग्रसर हो रहे हैं। उनके पीछे सखियाँ, अति रसभरी उनका अनुसरण कर रही हैं । एक दूसरे को रसदान के प्रयास में उनकी रसमत्तता, उनके नयनों की गति, उनके अंग-संस्थान का स्पंदन, ओह ! कैसा प्राणोन्मादी है। इस रसदानी का यह रस-वितरण कैस अभिनव विमोहन का जाल विस्तारित कर रहा है ?

और देखो ! दम्पति के अन्तस्तल में प्रवाहित रस की धारा का प्रपात हो रहा है -- उनसे प्राणों का तादात्म्य स्थापित किये हुए विहंगम-श्रेणी में,

चतुष्पाद-समूहों में, तरुवल्लरियों में, ह्रदों में, कासारों में, और कल्लोलिनी में। एक अननुभूत आनन्द जड़िमा व्यक्त हो उठी है, इन सब में। देखो ! देखो !! तृणावली वसुधा के वक्षस्थल पर नाच रही है। सभी पक्षी उन्मुक्त स्वर में अपनी-अपनी वाणी में बोलते हैं और अपने रोम-रोम को थिरकाते नर्त्तन करने लगते हैं।

अहा ! सखियों के नेत्र अपलक विस्फारित हैं। उनके सामने विश्व-चमत्कारी सौन्दर्यपूर द्विधारूप में विभक्त खड़ा है। जिसके कणमात्र के सम्पर्क से आत्माराम योगीन्द्र-मुनीन्द्रगण विमोहित हो जाते हैं, उस अनन्त पारावारविहीन रूपसुधासमुद्र में अवगाहन करती सभी सखियाँ ही नहीं, वन के पशु-पक्षी, जलचर, जड़-चेतन, समस्त प्रपञ्च की सत्ता ही विमुग्ध हो उठी है। रसदानी के वेणु-रव-पीयूष-वर्षण से सारिका आकण्ठ भीग गई है। सौभाग्य इसे कहते हैं।

रानी की अलकावलि में विलय

अपलक निहारते-निहारते सारिका को अपने तन का भान ही नहीं रहा है। कौन है वह ? कहाँ से आयी थी ? कहाँ गन्तव्य है उसका ? कहाँ है वह, इस क्षण ? सभी ज्ञान तो खो चुकी है वह । मन विलीन हो चुका है, उसका नील-पीत-सौन्दर्य-वारिधि में।

अचानक विलक्षण चमत्कार हुआ। उस भावसमाधिगत अपरिसीम आनन्द की तरंगों में नाचती हुई सारिका विलीन हो गयी रानी की कुञ्चित अलकावलि में। और उसी समय पुन: उद्भव हो गया रानी की मसिबिन्दु से -- एक परम सुन्दरी गोपी का। विस्मय ! विस्मय !! अतिशय मौग्ध्य की लहरियाँ उस गोपी के मुख पर नाच रही हैं। इस गोपी के मन में अपरिसीम आनन्द की तरंगें उठ रही हैं और साथ ही एक अभिनव अभिलाषा उसमें उन्मिषित हो जाती है।

बस, निरवधि इन्हीं प्रिया-प्रियतम-युगलचरणों की सेवा ही मेरा व्रत होगा। इन युगल का सुख ही मेरा सुख होगा। इनसे भिन्न कभी, कहीं, कुछ भी मेरी रुचि नहीं होगी। इनकी रुचि के अतिरिक्त कुछ भी यदि लेशमात्र भी मुझ में चाह हो, तो वह सर्वथा, सर्वांश में सदा-सदा के लिये विलुप्त हो जाय।

शब्द नहीं है, जो इस गोपी के सौन्दर्य, माधुर्य एवं शील की वैभवराशि को व्यक्त कर दें। भला, साक्षात् सरस्वती भी चाहें तो उसके महिमामण्डित

स्वरूप को भाषा में बाँध नहीं सकतीं। प्रियतम-प्राणवल्लभ एवं प्रिया किशोरीरानी दोनों की अशेष प्रीति की आवासस्थली, जो यह ठहरी। दोनों ही की असमोर्ध्व प्रीति, अपनी सम्पूर्ण गरिमा के साथ, इस एक प्रतिमा और मूर्त्ति में मूर्त्त जो हो रही है। नवीन, नवीनतर सुषमा एवं सेवा का उत्साह व्यक्त हो रहा है, इसमें।

लो ! अघटन-घटना-पटीयसी योगमाया ने अपनी अभिनव रागिनी के मिस से यथावश्यक संकेत दान कर दिया इसको कि वन में आगत जीवनधन, नील-पीतद्युति सौन्दर्यसार-प्रियाप्रियतम वसन्तोत्सव लीला करेंगे।

लो, नवकैशोर से विभूषित व्रजराजदुलारे और भानुनन्दिनी दोनों ही प्रतिक्षण वर्द्धमान नव-नव उल्लास लिये होली खेलने की समुत्सुकता का संकेत भी कर चुके, सखियों पर।

होली-लीला

पू० गुरुदेव का महाभावमय व्रजजगत परमविलक्षण है। यहाँ के गोवत्स, गोपशिशु, गोप, गोपांगनाएँ, यहाँ तक कि आकाश, वायु, अग्नि, जल, एवं पृथ्वी, साथ ही तृण, वीरुध, गुल्म, लता, पशु-पक्षी, कीट-पतंग, सभी के रूप में न तो ऋषि-महात्मा हैं, न ही कोई भगवत्पार्षद हैं। देवी-देवताओं के होने का तो प्रश्न ही नहीं। एक मात्र पू. गुरुदेव के प्रियतम श्रीकृष्ण ही इन असंख्य रूपों में आत्म-प्रकाशित हैं। यहाँ दीख रही हैं -- गोपियाँ, राधारानी, वृन्दावन, नन्द, यशोदा, वृषभानुबाबा, माता कीर्तिदा, सुपक्व सुमधुर फलभार से अवनत हुई राशि-राशि वृक्षावलियाँ, रंगबिरंगे सुरभित कुसुमों के आभरण धारण कर तरुश्रेणियों को वेष्टित किये लता वल्लरियाँ, इन पर आसन डाले चित्र-विचित्र विहंगमों का समूह, हरित् तृणराजि - परन्तु सत्य का सत्य यह है कि वास्तव में पू. गुरुदेव के प्राणवल्लभ ही परिदृश्यमान अनन्त रूपों में आत्मप्रकाश कर उनका दृश्य बने लीला विहार कर रहे हैं।

कोई पूछेगा कि इस अनेक होने का प्रयोजन क्या है ? तो एक ही उत्तर है; आत्मलीलाविहार मात्र; महाभावसमुद्र का अनन्त रसप्रकाश, रसोच्छलन मात्र। पू० गुरुदेव ने यावज्जीवन 'सर्वं विष्णुमयं जगत्' के सिद्धान्त रटे थे। पू.गुरुदेव के गुरुदेव - श्रीपोद्दारमहाराज की कृपा से इन श्रुति-पुराण वाक्यों का वास्तविक अर्थ उनके सम्मुख यथार्थतः इन लीलाओं में ही प्रकाशित हुआ।

इनके अर्थ के सम्बन्ध में कहीं किसी को तनिक भी भ्रम एवं संशय नहीं रह जाय, इस उद्देश्य से इनके अर्थ, पू० गुरुदेव के सम्मुख उनके प्रियतम इन लीलाओं के प्रकाश द्वारा मूर्त्तिमान कर दे रहे हैं।

जैसे सन्निपात से रुग्ण व्यक्ति की तृष्णा शान्त नहीं होती, जल पीने से उत्तरोत्तर बढ़ती है, इसी प्रकार प्रियतम नीलसुन्दर में अपने ही द्वारा, अपने ही रसपान की लालसा, ज्यों- ज्यों वे लीलारसपान करते हैं, निरन्तर प्रबल, प्रबलतर होती रहती है। अपने ही लीलामाधुर्य का अपरिसीम आस्वादन कैसे हो - इसी भावना से वे ही लीलारसमत्त हुए अपने को ही अनेक रूपों में व्यक्त पाते हैं। और तब वे, लीलारसमत्त स्वयं भगवान्-गोवत्स, गौएँ बन जाते हैं, गोपाल बन जाते हैं, वन, नदी, पहाड, तृण, वीरुध, गुल्म, पत्र बन जाते हैं और मुग्धता-स्फुटित लीलारस की मन्दाकिनी प्रवाहित हो उठती है। यह होली भी इसी महालीला रससमुद्र की एक धारा मात्र है।

देखो ! देखो ! लीला के ठीक उपयुक्त रंगमञ्च घटित हो, एतदर्थ वनश्री के सम्मुख हाथ जोड़े कन्दर्प सेनापति अति विनीत मुद्रा में कुछ निवेदन कर रहा है। "स्वामिनी ! नहीं किसी भी अंश में कोई त्रुटि नहीं रहेगी। यह तो मेरे चिर-अभ्यास की वस्तु है। कन्दर्प-सेनापति देव जगत् का प्राणी होता, तो भूल भी हो जाती। ये तो साक्षात् अनन्त विश्व सृष्टाओं के नियन्ता स्वयं श्रीकृष्ण ही हैं। वे ही तो व्रजजगत् में कन्दर्प हैं और वे ही कन्दर्प सेनापति-वसन्त। फिर उनसे भूल भला कैसे संभव हो सकती है ? अत: निर्भूल परम सुन्दर रंगमञ्च बन गया। "वन के राजा वृन्दावनेश्वर होली खेलेंगे" - समीर ने यह संदेश कानन के कोने-कोन में फैला दिया। वल्लरियाँ अपनी अपरिसीम सम्पदा - प्रस्फुटित पुष्प अपने प्राणधन के चरणों में समर्पित करने को समुत्सुक हो उठीं। रत्नमयी भूमि ने अगणित छोटे-छोटे जल के कुंड स्थान-स्थान पर निर्माण कर दिये। चतुर्दिक-प्रसरित लताओं से समीर ने चुन-चुन कर किसी में लाल पुष्पों के ढेर गिरा दिये एवं किसी में हरित् पुष्पों के असंख्य गुच्छ। ये पुष्पगुच्छ निपतित होकर जल में स्वत: ही घुल गये। पुष्पों की पंखुड़ियों और केसर ने कुंड़ों के जल को अगणित रंगों में रंजित कर दिया। सभी कुंड अत्यंत मनोहारी रूप में अनेक रंगों के जल से छलकते, विलक्षण शोभा प्रकाश कर रहे थे। सभी कुण्डों का जल भिन्न-भिन्न रंगों से रंजित तो था ही, साथ ही पुष्पों की मनोहारी गन्ध

से पूर्णतया सुगन्धित भी था। अति सुगन्धित पुष्पसार जल पर तैरता स्पष्ट परिलक्षित हो रहा था।

अब इधर देखो ! उन्नत शाखा किये वृक्षों के नीचे पुष्प-किंजल्क के छोटे-छोटे स्तूप स्वत: ही निर्मित हो जा रहे हैं। तनिक स्पर्श तो करो, कैसी मुलायम किंजल्क है। कहीं एक कण भी कठोर रह जाय, और प्रिया-प्रियतम किंवा किसी सखी के नेत्रों में, उनके सुकोमलतम अंगों में तनिक भी गड़ जाय, ऐसी संभावना ही नहीं है। जैसे स्वयं वनश्री और वसन्त ने मिलकर सारी किंजल्क पीसी हो। कज्जल की तरह सुकोमल किंजल्कचूर्ण के अम्बार खड़े हो गये हैं। इधर गुलाबी केसरचूर्ण है, तो यहाँ स्वच्छ चम्पई। एक ओर शुद्ध रक्तवर्ण की पराग है, तो इस ओर केसरिया रंग की। अरे, इन सभी परागों के ढ़ेर की महक तो ऐसी मनोहारी है कि घ्राणेन्द्रिय मतवाली ही हो उठी है।

वसन्त ने जैसा आश्वासन वनश्री को दिया था, ठीक उसी प्रकार समस्त वन को श्रृंगारित कर दिया है। वृक्षों की एक-एक डाली, एक-एक पत्र, तना, छाल-सब परम स्वच्छ । सम्पूर्ण वन का कोनाकोना, जैसे पहले झाड़ दिया गया हो और तब उसे चन्दनवारि से धो दिया गया हो, और फिर सर्वत्र उस पर पुष्परससार छिड़क दिया गया हो, इस प्रकार स्वच्छ, निर्मल, सुगन्धित हो उठा है। सम्पूर्ण वन वृक्षों पर लताओं ने रंग-बिरंगे पत्रों और पुष्पों से वन्दनवार बाँध दिये हैं और स्थान-स्थान पर पुष्पमालाओं की लड़ियाँ रत्नहारों की तरह सुशोभित हो रही हैं। श्वेत मोगरा और बेला, जुही और चमेली - इन पुष्पों की बेलें भूमि पर ऐसी प्रसरित हैं, जैसे मोतियों से चौक पूरे गये हों।

वृक्षों की सजी हुई डालियों पर शुकों की पंक्तियां विराजित हैं, मानो आशीर्वादात्मक मंगलवचनों का पाठ करने ब्राह्मण बुलाये गये हों। उनसे कुछ दूर पर कोकिलाएँ बैठी हैं, मानो सूत एवं मागध प्रिया-प्रियतम की कन्दर्प-क्रीड़ा का कीर्तन करने सन्नद्ध हों। इधर अगणित सारिकाएँ संकेत की प्रतीक्षा ही कर रही हैं, तनिक-सा संकेत वनदेवी कर दे तो वीणा-विनिन्दक-स्वर में सुन्दर रागिनी आलाप कर उठें। उनसे कुछ दूरी पर कपोत मृदंगवादन के साथ अपनी घुत्-घुत् ध्वनि करने को पूर्णतया समुत्सुक हैं। लो ! मयूरों का दल नृत्य के लिये पुच्छ उठाने को आतुर हो रहा है। और इधर हरिण हरिणियाँ आदि सभी चतुष्पाद भी भीड़ लगाये वसन्तोत्सव के

दर्शन को आतुर हो रहे हैं। अरे यह क्या ? कन्दर्प स्वयं अपने सेनापति के साथ ही साथ समुपस्थित हुआ सब साजसज्जा का निरीक्षण करने आया है--नित्य-निकुंजेश्वर और नित्य-निकुंजेश्वरी के फागोत्सव की रंगमंच सज्जा में कहीं तनिक-सी त्रुटि नहीं रह जाय। अरे, अरे ! यह क्या, बिचारे कन्दर्प ने पदार्पण तो बहुत उत्साहपूर्वक किया था, परन्तु इन नित्य-निकुंजेश्वरी की चरणस्थली की एक तनिक-सी झाँकीभर ही उसे मिली, कि वह हतप्रभ कहीं मुख छिपाने का स्थान ढूंढ़ने लगा।

देखो ! देखो !! गैरिक आदि धातुओं से अपने अंग-प्रत्यंगों को चित्रित किये, पुष्पमालाओं को कण्ठाभरण बनाये और उन्हें ही भुजाओं में लपेटे, सिरों पर पहनी पगड़ियों में, मयूर, हंसादि अनेक सुन्दर पक्षियों के पिच्छ खौंसे, पीत, रक्त, हरित, नील और स्वच्छ रंगों के वस्त्र पहने, नन्दनन्दन के अगणित सखा हाथों में डफ, मृदंग, झाँझ लिये, अपने चरणों में पिंडलियों तक घुँघुरू बाँधे नृत्य करते आ रहे हैं। और इनके मध्य में, तारागणों के मध्य श्यामचन्द्रमा की तरह - नीलमणि प्राणवल्लभ की विलक्षण शोभा हो रही है।

अहा ! वनस्थली सखाओं के आनन्द-कोलाहल से मुखरित हो उठी - मानो पद्म का एक बीजकोश हो, इस बीजकोश के चारों ओर मंडलाकार श्रेणीबद्ध पद्म दल हों, इस प्रकार अपने सखा नीलमणि को घेर सभी सखागण डफ बजाते, झांझ-मृदंग पर थाप दे-देकर वन के वातावरण को तुमुल ध्वनि से निनादित करते, गाते, मंडलाकार नृत्य कर रहे हैं। नीलमणि प्रियतम श्रीदाम के कंधे पर हाथ रखे हैं। परन्तु प्रत्येक शिशु को अभ्रान्त अनुभूति यही है कि मेरा नीलम मेरे ही स्कन्धदेश का सहारा लिये, मेरी ही ओर दृष्टि किये, मुझ पर ही स्नेह-सौहार्द की अजस्र धारा बहाता चल रहा है। ऐसी अवस्था में उनके आनन्द की थाह कौन पावे ? बस, इतना ही कहना संभव है, उत्फुल्ल नेत्र, वे असंख्य गोपशिशु अपने कोटिप्राणप्रतिम सखा को निहार रहे हैं और उनके नीलमणि-सखा की दृष्टि भी एक मात्र उन्हीं की ओर केन्द्रित हो रही है।

जो हो, इस प्रकार श्रीदाम, सुबल, देवप्रस्थ, वरूथप, किंकिणी, तोक, अंश, भद्रसेन, अर्जुन, वसन्त, उज्वल, मुधमंगल, मंगल, पुष्पांक, भंगुर, भृंगार, पल्लव, सन्धिक आदि सखाओं से परिवेष्टित हुए प्रियतम-प्राणसुन्दर नीलमणि विलक्षण साज-सज्जा से सजे एक ओर अपनी कटिफेंट में वंशी खौंसे तथा दूसरी ओर रंग छिड़कने की रत्न-जटित स्वर्णिम पिचकारी खौंसे, परम

सुगन्धित पुष्प-किंजल्क की अबीर और गुलाल से नभ को आच्छादित करते चले आ रहे हैं। सभी सखाओं ने अपनी कमर फेंट को ही ढ़ीली कर, फेंट के वस्त्र को ही झोले के रूप में बनाकर कमर में बाँधा हुआ है। कुछ गोपाल वृक्षों के नीचे स्तूपाकार रूप में एकत्रित पुष्प-किंजल्क अपनी पगड़ियों के वस्त्रों में, अपने उपरनों में भर-भरकर लाते हैं और सखाओं के मध्य बाँट देते हैं। सखालोग मुठ्ठी भर-भरकर इसी पुष्पपराग को वन में सर्वत्र उड़ा रहें हैं। सरोज-कुसुमों के परिमल से सुवासित पवन का संस्पर्श पाकर राशि-राशि भ्रमरावलियाँ आकृष्ट हो गयी हैं एवं गुञ्जार कर रही हैं। इन सखाओं के क्रीड़ा-कौतुक निरखते स्थान-स्थान पर वर्षावारिसे परिपूर्ण जलाशय अपने वक्षस्थल को प्रस्फुटित पद्म समूहों से आच्छादित किये हँस रहे हैं। लो, सखाओं का कौतुक देखो, वे चतुष्पादों को भी फाग खिलाने उनके अंगों में पुष्पपराग की गुलाल मलने दौड़ पड़े हैं। भला, ये हरिणियाँ, ये नीलगायें इनके हाथ थोड़े ही आने वाली हैं। और कुछ सखा तो वृक्षों की डालियों पर मरकटों की तरह फुदक-फुदक कर इन मरकटों के मुख रंजित करने का प्रयास कर रहे हैं। जलाशयों में एकत्रित अगणित जल विहंगमों का दल अतिशय मधुर कण्ठ से कूजन कर रहा है। चतुर्दिक् नव-नव-पत्र-मंडित, फल एवं पुष्पभार से अवनत हुई सघन तरुश्रेणियाँ, भ्रमर-झंकार एवं पक्षियों के सुमधुर कलरव से प्रतिनादित ये श्रेणीबद्ध वृक्षावलियाँ - सभी अपने प्राणवल्लभ श्रीकृष्ण और उनके सखाओं का आह्वान करती कह रही हैं -"अभिनन्दन ! गृह पर आये धूम मचाते अतिथियों का स्वागत है।" सचमुच सभी दृष्टियों से वन-भूमि अत्यन्त रमणीय सज उठी है।

लो ! डफ, मृदंग, झाँझ आदि के नाद के साथ ही सखाओं के "हो-हो-होरी" आदि ध्वनियों से आकृष्ट हुई सखियों का दल भी चला आया।

अहा ! सम्पूर्ण सुषमाधामरूपिणी, परमानन्द की उत्सरूपा इन वृजयुवतियों की क्या ही शोभा है ? सभी के अंग तप्त स्वर्णसदृश पिगंल-गौर वर्ण हैं। कोई पीत, कोई गुलाबी, कोई हलका बैंगनी, कोई मयूरपंखी, कोई हरिताभवर्ण के परिधान पहने हैं और सभी के अंग-अंग अत्यन्त कमनीय, सर्वथा सर्वांश में चित्तहारी सुन्दर श्रृंगारों से सुसज्जित हो रहे हैं। सबके मुख पूर्ण विकसित अरविन्द के सदृश शोभा पा रहे हैं। इधर इन सखियों के अंग अंग से, रोम-रोम से, कण-कण से जो सौरभ का पुंज विकसित हो रहा है, उससे तो वातावरण अतिशय मधुमय हो उठा है। इनके आगे-आगे प्रिया किशोरीरानी

मत्त गयंद की चाल से चल रही हैं। उनका मुखसरोज मधुर मधुपरिपूरित है। अहा, इनके प्रफुल्लित मुख-सरसिज का दर्शन कर प्रियतम श्यामसुन्दर के लोचन-चंचरीक मतवाले हो उठे हैं। अहा ! इनके मधुपान की यह लालसा अनन्त काल तक प्रतिक्षण बढ़ती ही जायेगी, कभी क्षण भर के लिये भी यह तृप्त कदापि नहीं हो पावेगी।

लो, प्रिया को देखते ही प्रियतम-प्राणवल्लभ के आकर्णविलम्बी नेत्रों में एक अभिनव मनोरम कौटिल्य का समावेश हो उठा और उन्होंने अनुपम रसमयता का परिचय देते हुए अपनी कमर से पिचकारी निकाल ली। सखाओं ने तुरंत ही उनका संकेत समझ लिया और अब तक जो उन्हें गोलाकार रूप में घेरे हुए थे, तत्क्षण ही सबने विद्युत गति से अपने को अर्द्धचन्द्राकार वृत्त में कर लिया। प्रियतम पार्श्व के ही लघु जलकुंड के निकट आ गये और उन्होंने अपनी पिचकारी रंग में पूरी भर ली।

अहा, प्रियतम के नयन-सरोजों पर राजित बंकिम-भ्रूविलास मदन के शर संधान को भी हेय बना दे रहा है। कामशर से विद्ध तो कदाचित् त्राण भी पाले, किन्तु प्राणवल्लभ-प्रियतम के भ्रकुटि-विलास की गरिमा और उसकी सम्मोहिनी शक्ति से कोई बच जाय, सर्वथा सर्वांश में असंभव ही है यह। वह तो चरणों में निरवधि दासीभाव-भावित हुई ही रह जायगी। जैसे अतनु ने पाँचों शर एक साथ छोड़ दिये हों, प्रियतम ने प्रिया के वक्ष और मुख सरोज पर रंग की वर्षा कर दी। जल-देवता वरुण निहाल हो उठे। वनश्री के अंगों-अंगों में अनन्त आनन्द की तरंगें हिलोरें ले उठीं। भूमि रोमाञ्चित हो उठी। उसके अंग-अंग में पुलक उठने लगे। अहा ! सर्वत्र धन्य-धन्य का निनाद गूँज उठा। एकत्रित सम्पूर्ण मयूरदल एक साथ नाच उठा। कोकिलाएँ गान कर उठीं। सारिकाओं ने मंगल कीर्तन करना प्रारंभ कर दिया। यद्यपि पिचकारी से जल तीव्र वेग से प्रिया की ओर प्रवाहित अवश्य हुआ था, परन्तु प्रिया के अंगों को स्पर्श करने के पूर्व तो वह तुहिन कणों के रूप में पर्यवसित हो उठा।

अहा, प्रिया के अरुणिम गोल कपोल कितने कमनीय हैं। उनके बिम्ब-विडम्बी अधर कैसे मधुमय सुधारस से परिपूरित हैं ? अहा, उनके कज्जल अनुरंजित नेत्र कैसे प्रेमामृत रसार्णववर्षी हैं ? इस पिचकारी से प्रकीर्ण जल के रूप में तो प्रियतम का परम सुहावन प्रेम-सुकोमल मन ही रसमत्त

हुआ प्रिया की ओर वेगपूर्वक धावित हुआ था, और वह तुहिनकणों की तरह अति सुकोमल रूप में रंजित कर गया, प्रिया के आनन-सरोज की शोभा को।

और लो, प्रिया की सहचरियाँ सावधान होकर प्रतिक्रमण करें, इसके पूर्व ही परम पटु नायक, प्रियतम-प्राणवल्लभ ने पुष्प-किंजल्क की गुलाल को परम सुगन्धित केसर-चूर्ण से समन्वित कर, ढ़ेर की ढ़ेर प्रकीर्ण कर दी - प्रिया की परम मनोहारिणी सुचिक्कण-कृष्ण-मिलिन्द सदृश आभावाली कुञ्चित अलकावलि पर। प्रियतम के ही वर्ण की नीले रंग की गुलाल, प्राणवल्लभ के करसरोजों से तीव्र गति से प्रकीर्ण हुई चली - एक लघु मेघ की तरह और उसने प्रथमतः एक नील आतप का निर्माण किया और तब शनैः शनैः वह बरसने लगी प्रिया की अलकावलि के जाल से निर्मित वेणी पर - इस वेणी में अतीव रमणीय रूप में गुम्फित सौरभशाली सुमनों पर। अहा ! इस गुलाल ने - इस पुष्प-किंजल्क-केसरचूर्ण ने प्रिया पर शनैः शनैः बरसते हुए किस अप्रतिम सुषमा का विस्तार किया है, कैसे विलक्षण सौरभ के आवर्त्त पर आवर्त उत्थित किये हैं, इसका तो किसी प्रिया-चरणरेणु-कृपाभावित-मति को ही किंचित् दर्शन हो जाय, तो वही अनुभव कर सकता है।

अहा ! केसर-रेणु बरस रही है। सभी सखियों एवं प्रिया की परम द्युतिमान मणिमय मुकुट चन्द्रिकाएँ इस कृष्ण-किंजल्क-वर्षा से भीग रही हैं। कंचनद्युति मुखारविन्दों की निरन्तर परिवर्द्धमान रूप-गरिमा, इस किंजल्क राशि से कृष्णमयी हुई कैसी अनुपमेय दिख रही है ? इसे भला, वाणी की कहाँ सामर्थ्य है जो चित्रित कर सके। अपने जीवन की आधार-शिला, जीवन-सार-सर्वस्वा, प्रिया एवं इन प्राणाधिदेवियों सखियों की अभी तो प्रियतम द्वारा अपने प्रतिक्षण परिवर्द्धमान अनुराग की सर्वतोमुखी रसधारा से समर्चना प्रारंभ ही हुई है। अभी तो इस समर्चना का श्रीगणेश ही हुआ है।

प्रिया के आह्लाद का पारावार नहीं रहा। उनके प्रियतम द्वारा सीमन्त पर लगाये सिन्दूर-दान की तरह ये प्रेमसौभाग्य की यशःपताकाएँ अबीर, गुलाल की अंग-संस्थानों पर बरसती धाराएँ उन्हें परमानन्द में डुबो दे रही हैं।

लो ! प्रिया के भी अनुराग की सर्वतोमुखी कल्लोलिनी उफन उठी। प्रिया के सुरम्य कमलनाल-से सुकोमल बाहु भी रत्नजटित पिचकारी से सुभूषित हो गये। अहा, सुललित मेंहदी की अति कलात्मक रचना से आवृत प्रिया के करपल्लव पिचकारी धारण कर कैसी शोभा वर्षा कर रहे हैं, इसका कोई कैसे वर्णन करे ? आजतक जितनी कलाएँ सृष्ट हुई हैं, जितनी सुन्दरता, जितनी

मधुरता और गुणराशि उपलब्ध हुई है, और होगी, उन सम्पूर्ण ललित कलाओं की निधि, गुण-गानों की राशि, प्रिया अपने प्रियतम के प्राणों का मन्थन करती उन पर केशरवर्णी परम सुवासित रस-रंग की अजस्त्र वर्षा करने लगी ।

अहा ! प्रिया एवं सखियों की कैसी शोभा है, अगणित रत्नावलियों एवं मुक्ताओं से गुम्फित उनका शिरोदेश श्याम चूनड़ी से विरहित हो उठा है। रत्नावलियों से गुम्फित वेणी, विमोहनकारी श्याम चूनड़ी से मुक्त हुई पीठ पर नागिन की तरह लहरा रही है। कंचुकी-परिशोभित उत्तुंग वक्षोज भी चूनड़ी से मुक्त हुए अंग-संस्थानों के मुकुट की तरह शोभा पा रहे हैं। शंख-सदृश सुघड़ कण्ठदेश और उसमें झूलते सुरम्य सुमनों के, मुक्तावलि के, मणिश्रेणी के विविध हार, करकमलों द्वारा पिचकारी से रंगवर्षा करने के कारण हिल हिल कर अपने सर्वजयी सौन्दर्य की यश:पताका फहरा रहे हैं। प्रियतम के दृग इस शोभा को निहारते-निहारते विथकित हैं। इस अभिनव अतुलनीय रूपराशि की वर्षा के साथ ही साथ अपने प्रियतम पर प्रिया द्वारा ऐसी रंग-वर्षा हो उठी कि सब सखा भीग कर तरबतर हो गये।

उनके कटिफेंट के झोलों में भरे किंजल्क, केशर के रंग इस वर्षा से बहकर उनके ही अंगों को पूर्णतया लाल, पीले रंजित कर चुके हैं। प्रेमोन्मादिनी सखियों ने सारी सखामंडली को चारों ओर से घेर लिया। चारों ओर से रंग-वर्षा, चारों ओर से ही गुलाल की धूम -- रसप्लावन ही रसप्लावन। सखागण अपने नेता श्रीकृष्ण को छोड़कर भाग खड़े हुए। प्रियतम अपना अतुल रस-पराक्रम विस्मृत कर पराजित हो गये इस होली में।

अप्रतिम सौन्दर्य-माधुर्य-सुधासिन्धु प्रियतम के हृदय में प्रिया-अनुराग की लहरें इस प्रकार उच्छलित हो रही हैं कि उनकी छवि अवर्णनीय हो रही है। कैशोर-विभूषित प्रियतम के नीलसुन्दर तन पर प्रिया एवं सखियों ने रंग-बिरंगी इतनी गुलाल डाली है कि उसका वह सच्चिन्मय नीलकलेवर इस महाभावमयी गुलाल के रंग से ढँक गया है। यद्यपि उसकी नीलमता सर्वजयी है, अत: वह उस गुलाल में से भी अपनी स्वाभाविक महारसमयी मधुरिमा और मोहकता के साथ प्रकट हो ही जाती है, असमोर्ध्व होने से वह अन्याच्छादन से पूर्णतया आच्छादित हो ही नहीं पाती, उसका त्रिभुवनमोहक सर्वजयित्व गुण अपने को सर्वोपरि रूप में व्यक्त कर ही देता है, परन्तु प्रिया द्वारा प्रक्षेपित इस महाभाव की राशि-राशि गुलाल ने उन्हें अनुरंजित नहीं कर दिया हो, सो

बात नहीं है। प्रियतम रूप-माधुर्य की धरा पर प्रियारूप-मधुरिमा का निर्झर इतना तीव्र वेग से गिरा है कि चतुर्दिक रस ही रस दृष्टिगोचर हो रहा है।

देखो तो सही। जिन अनन्त श्रीनिकेतन के रूप-सुधा-सिन्धु की एक कणिका से निसर्ग के असंख्य कामदेव सुषमा-सम्पन्न होते हैं, वे सखियों के उमड़ते यौवन-वेग से पराभूत-से हुए नीचा मुख किये खड़े है। उनकी बाँसुरी पर ललिता रानी ने अधिकर कर लिया है । प्रिया के कण्ठ पर झूलती वनमाला से विशाखासखी ने उनके हाथ बाँध दिये है। अहा ! प्रिया के सम्मुख निम्नमुख खड़े प्रियतम कैसे सुन्दर लग रहे हैं ?

उनका मयूरपिच्छ दूर अवनी पर गिर गया था जिसे एक सखी ने प्रिया के हाथ में दे दिया है। सहचरियों ने एक गोलक का निर्माण कर चतुर्दिक घेर लिया है नीलचन्द्र को सर्व ओर से। इस घेरे से दूर गोपशिशु-नन्दनन्दन के सखा, कोई किसी लताजाल की ओट से झाँक रहा है और कोई किसी वृक्ष की शाखा से अपने सखा को निहार रहा है। सब सखाओं के वस्त्र रंग से पूरे भीगे हैं तथा उनके मुख रंगबिरंगी पुष्प-केशर से अनुरंजित वानरों की तरह लग रहे हैं। सखाओं की झाँझ, मृदंग, डफ भी सखियों के हाथों में हैं।

सहसा ललितारानी अतिशय मधुर स्वर में बोल उठी -"अहो ! सर्वजयी मधुसूदन, आप में तो अप्रतिम शौर्य है। सर्वकलाविद् और सर्वविद्याविद् आपकी मति है, आप महामहिम, सर्वचातुर्यनिकेतन हैं, साथ ही सर्वसह भी हैं; फिर भी आप हम कोमलांगी ललनाओं के हाथ की पिचकारी की धार को भी नहीं सह सके। हे अशरणशरण आप अपनी वंशी की रक्षा भी नहीं कर सके।"

प्रियतम ललितारानी की वार्ता सुनकर, कुछ क्षण तो हतप्रभ रह गये। तत्पश्चात् उनकी प्रत्युत्पन्नमति प्रतिभा जाग उठी। वे गंभीर मेघध्वनि में अपनी प्रिया के मुख की ओर निहारते हुए बोल उठे -"हे मेरे प्राणों की रानी! मैं तुम्हारी अपनी से अपनी वस्तु हूँ। जब मैं किसी भी अंश में कहीं भी तुमसे पृथक् ही नहीं तो कैसी मेरी हार और कैसी मेरी विजय ? प्रिये ! फिर मैं तो नित्य ही तुमसे पराजित भी हूँ। जब मेरा मन, चित्त, प्राण और मेरी आत्मा ही तुम्हारे द्वारा जीती जाचुकी है तो मेरे इस तुच्छ कलेवर की बिसात ही क्या है ?"

"प्राणेश्वरी ! मेरी हार कोई आज की नवीन हार थोड़े ही है ? मैं तो तुम्हारी चरण-रज-कणिका पर अपना सर्वस्व नित्य न्यौछावर किये बैठा हूँ। हे

मेरी प्राणसंजीवनी ! अपनी अलकों से तुम्हारे चरण-सरोरुहों को पौंछ कर ही तो मैं सर्वजयी, सर्वसह, और असमोर्घ्व सर्वसौभाग्यशाली बनता हूँ ।"

"हे प्राणसर्वस्वे ! मैं तो तुमसे यही अति दैन्यमयी विनय कर रहा हूँ बस एक ही आशीर्वाद दें - तुम्हारी रुचि से मेरी रुचि का पार्थक्य रहे ही नहीं। तुम्हारी इच्छा ही मेरे मानस में सदा उत्थित हो, मूर्त्त हो, और चरितार्थ हो। उसमें अनुकूलता-प्रतिकूलता की खोज मैं कर ही नहीं पाऊँ। कदाचित् मेरे प्रति सर्वथा प्रतिकूल व्यवस्था ही तुम्हारे द्वारा सम्पादित क्यों न हो, तब भी मुझे इसकी चिन्ता नहीं हो । हे मेरी मानसमोदिनि ! तुम्हारे परमानन्द की उत्सरूपा स्मृति ही तो मेरे जीवन की आधारशिला है वही तो एक मात्र मेरा अवलम्बन है। हे पिंगल, गौर-वर्णे ! तुम सदा ही मुझ पर विजयी होओ।

प्रियतम की ऐसी विनम्र प्रेममयी वाणी सुनकर प्रिया के भावसिन्धु में अभिनव प्रेमभाव के आवर्त उठने लगे। प्रियतम को श्रमित जान कर किशोरी के प्राणों में व्यथा का संचार हो उठा; आंखों से अजस्र अश्रुधारा बह चली। उन्होंने दौड़कर अपने प्राणरमण को अपने अंग में भर लिया।

अहा ! वहीं एक सुन्दर कुञ्ज में प्रिया ने प्रियतम को सुभग पुष्प-शय्या पर विराजित कर दिया। नीलसुन्दर की कुञ्चित उलझी कृष्णअलकावलि को अपने हाथों में लेकर वे किंचित् दोलित कर सुलझाने लगीं हैं। वनदेवी से नवीन पीताम्बर और श्रृंगार लाकर प्रिया, प्रियतम का श्रृंगार करती हैं। अञ्जलि में स्वच्छ सुभग जल ले-लेकर उनके वदन-सरोरुह और अंग-अंग का प्रक्षालन कर रही हैं। उनके घर्माक्त श्रीअंगों को पौंछती हैं। भानुराज-नन्दिनी का मन सर्वथा डूब गया है- महामरकत श्यामल अंगों की मधुरिमा में ही।

तृण-भाव

(पूज्य गुरुदेव अपने महाभावमयलीलाजगत में बहुत कालपर्यन्त तृण-भाव में रहे हैं। उनके तृण-भाव का जो भी वर्णन उन्होंने लीला-रूप में मुझे सुनाया था, वह यहाँ दिया जा रहा है। "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति" के स्वाराज्य पद पर आरूढ़ पू० गुरुदेव का मन व्रजविश्व का एक तुच्छ निरीह नगण्य तृण होकर किस उच्च कोटि के दैन्य का प्रकाश करता रहा है, यह यहाँ दर्शनीय है । महाभावगत-दैन्य ही तो इस व्रजभाव का प्राणतन्तु है। इस महादैन्य की भूमि में ही प्रेम की बेलि बीजारोपित होती है, अंकुरित होकर पल्लवित होती है, एवं तब पुष्पित होकर वृहत् विकास को प्राप्त होती है। तभी उसे प्रियतम श्रीकृष्ण-रूप वृक्ष को समाच्छादित कर पाने का सौभाग्य प्राप्त होता है। यह सब अतिशय दैन्य तो मात्र महाभावगत ही है। जिसके आलिंगन में अनन्त ब्रह्माण्डों का नायक बँधा हो, जिसके प्रेम के वशीकृत हुआ वह कोटि-कोटि ब्रह्म-रुद्रादि का ईश्वर जिसके चरणरज की कामना करता हो, उसमें दीनता कैसी ? जिसके सौभाग्य की वन्दना अनन्तानन्त लक्ष्मी करतीं हैं, वह दीनहीन हो, यह सर्वथा उपहासास्पद है, परन्तु वाह रे महाभाव ! सचमुच तेरी बलिहारी है, वही प्रेम यहाँ प्रेमी को तृण बना देता है। इस का भाव-सौरभ इस लीला में ही देखते बनता है।)

मैं एक तृण हूँ

मैं एक तृण हूँ । इस व्रजवृन्दावन की भूमि में मैं प्रसूत हूँ। बस, यही मेरा परम-परमसौभाग्य है। शेष तो मैं सर्वथा निर्बल अशक्त जीव हूँ। एक ओसकण का भार भी मेरे लिये असह्य है। एक तुहिनकण भी मेरे मस्तक को भूमि-नत कर देता है, उससे आक्रान्त हुआ भी मैं खड़ा नहीं रह सकता। मैं सरक भी नहीं सकता, चलपाना तो मेरे प्रारब्ध में संभव ही नहीं है।

पावस, शरद, हेमन्त, शिशिर, ग्रीष्म एवं वसन्त- इन सभी ऋतुओं का प्रकोप सहना और उफ भी नहीं करना मेरी नियति है। जब ग्रीष्म आता है, मेरे सम्पूर्ण जीवन का वह रस ही सोख जाता है। मैं सूखकर पीला, निष्प्राणवत् हो जाता हूँ। परन्तु, मैं उससे अपनी रक्षा कर सकूँ- किसी अवगुण्ठन आच्छादन में मैं अपने मस्तक को छुपा सकूँ , मेरा ऐसा भाग्य ही नहीं है। कीट, पतंग, भृंग एवं मच्छर भी शीतल स्थानों की खोज कर उनमें छुप जाते हैं, परन्तु मैं तो अंशुमाली के उग्र प्रकोप से बचने पलायन भी नहीं कर सकता। मुझे तो उनके असंख्य किरण-बाण अपने लघु एवं सुकोमलतम तन पर सहने ही होते हैं। मेरे तन पर प्रकृति ने न तो कोई बाल दिये, न ही कोई सींग एवं कण्टक आदि। अतः किसी भी जीव से मेरी रक्षा मात्र दैववश ही होती है। जब वर्षाऋतु आती है तो रवि के प्रखरताप को तो उमड़ते सुन्दर नीलघन आच्छादित कर लेते हैं, शीतल, मन्द, बयार चलकर मुझमें प्राणों का पुनः संचार कर देती है, परन्तु जब लगातार मेघ बरसने लगते हैं उस समय सभी जीवसमुदाय अपने सिर कहीं न कहीं छुपा लेते हैं, मुझे तो अनवरत खुले आकाश के नीचे भीगते रहना पड़ता है। चतुर्दिक वर्षा जल में पृथ्वी भीग जाती है । मेरे चतुर्दिक भी पृथ्वी अतिशय नम हो जाती है। मैं पुनः हरा अवश्य हो जाता हूँ परन्तु कौन चतुष्पाद कब मुझे अपना ग्रास बना लेगा, मेरे चतुर्दिक अस्तित्व-नाश की आशंका बनी ही रहती है। मुझे तो एक छोटा सा टिड्डीशावक भी उदरस्थ कर सकता है। मेरी सुकोमल बाल को तो एक लघुत्तम कीट भी खाकर छेद सकता है। मैं तो बना ही हूँ- सबकी बुभुक्षा शान्त करने के लिये ही। कीट-पतंग दूसरे शत्रुओं से अपनी रक्षा करने के लिये ठीक मेरे जैसा रंग अपनी त्वचा में रंजित कर चुपचाप मुझे कुतरते रहते हैं। वे मुझे अन्य आक्रमणकारी शत्रुओं से अपने को बचाने के लिये अपना कवच अवश्य बनाते हैं, परन्तु मेरे अस्तित्व का स्वयं

वे- मेरे शरणागत ही मुझे अपना भोजन बनाकर नाश करते हैं। निरुपाय, अवश हुआ सब दु:ख सहकर दूसरों को तृप्त करते रहना ही मेरा स्वभाव हो गया है और मेरे माता-पिता एवं पितामह की यही मेरे लिये शिक्षा है। यही मेरा जीवन है।

परन्तु उन्हें यह शिक्षा किससे मिली है, पता है ? यह शिक्षा उन्हें मिली है उनके अन्त:करण में नित्य विराजित रहनेवाले प्रियतम नीलसुन्दर के दृगों से। उन्होंने ही मेरे पिता, पितामह एवं माता के अहम् को सर्वथा, सर्वांश में विदीर्ण कर अपने करुणासिन्धु की करुण लहरों से संगमित कर दिया, तभी उनके जीवन के अणु-अणु में सबको सुख देने का यह निराविल, एकाकी भाव जाग्रत हुआ। तभी से मेरे पिता ने उनके श्रीअंगों की नीलिमा को अपना स्वरूप बनाकर अपनाया। मैंने भी अपने अंगों को, उनकी नीलिमा और उनकी प्रिया-निकुंजेश्वरी राधा के अंगों की पीतद्युति के सम्मिश्रण से सजाकर तभी से निराविल विशुद्ध हरित् बना लिया है।

जगत् के जीवों ! कदाचित् तुम भी यह पाठ पढ़ सकते; सबके प्राण प्रियतम नीलसुन्दर को अपने हृदयों में बसाकर, बाहर-भीतर अनके रंग में रँग जाते। फिर तो तुम्हारा अस्तित्व भी विश्व के लिये अशेष मंगलकारी होता। करुणा के झौंकों में उड़ते हुए तुम भी सदा निराविल रस ही रस बरसाते होते, जगत् का ताप मिट जाता और अन्त में तुम्हारा नित्य निवास होता- नीलसुन्दर और उनकी प्रिया के नेत्रसरोजों में।

मेरा परिचय

लो ! तुम्हें मैं अपना पूरा परिचय दे देता हूँ। मेरे पिता हैं- पावसऋतु के मेघ और मेरी माता हैं- सर्वसहा धरादेवी। मेरे पिता ने मुझे अतिविलक्षण शिक्षा दी है। मेरे पिता, जब आकाश में अपनी सम्पदा-निविड़नील अम्बुदराशि को लेकर उमड़ते हैं उस समय सूर्य, चन्द्र, तारक समूह गगन तल से अन्तर्हित हो जाते हैं। उस समय वे मुझे यही शिक्षा देते हैं कि -"देख ! तेरा स्वप्रकाश परमानन्दस्वरूप इसी प्रकार सत्व, रज एवं तम से आवृत हो गया है और तू मिथ्या भ्रमवश अपने को एक लघु तृण समझ रहा है।" सहसा उनके मध्य एक तडित्-लता लहर जाती है और वे मुझे शिक्षा दे उठते हैं - "इस तडित्-लहरी-सी ही तुझमें मैं तृण हूँ"- यह भ्रमात्मक सत्व की जाग्रति है,

शेष तो तुझ में रजमय नाद का ही बोलबाला है। साथ ही तम के घन आवरण से तो तू भरा ही है। वास्तव में ही विद्युत् का, मेघगर्जन का, मेघों का ज्योतिष्क-मंडल से कोई सम्बन्ध है भी नहीं, वे उसे आवृत कर ही नहीं सकते; आवरण तो दर्शक के दृष्टिपथ पर ही रहता है । अपने स्थान पर ज्योतिष्क-मंडल जैसे प्रकाशित है ही, वैसे ही इन गुणों से शुद्ध ब्रह्मस्वरूप तुझ जीव का वास्तविक कोई सम्बन्ध नहीं है। जीव का आवरण इन प्राकृत गुणों के द्वारा संभव ही नहीं । यह तो सर्वथा मिथ्या, अज्ञान-जन्य प्रतीति मात्र है। तू जीव तो स्वप्रकाश, परमानन्द-स्वरूप है ही। अवश्य ही, अपने ऐसे स्वरूप का भान तुझ जीव को तभी होता है जब तेरी आँखें उन सान्द्रनीलद्युति व्रजराजतनय की ओर केन्द्रित हो जाती हैं। तेरे सत्व के आलोक को नील-सुन्दर की चरण-नख-चन्द्रिका आत्मसात् कर लेती है। तेरी रज से भरी 'मैं'-'मेरे' की गर्जना उनके मधुमय कण्ठ से निस्सृत मुरली के स्वर में विलीन हो जाती है । तेरे तम की कालिमा उन निरञ्जन की नीली ज्योति में घुलकर उनके नेत्र-सरोजों का आभरण, सेवा का उपकरण बन जाती है।"

जगत् के जीवों, मेरे पिता की इस उपदेशराशि को मैंने पूर्णतया हृदयंगम कर लिया है। कदाचित् मेरे जीवन के अन्तराल से व्यक्त हुए इस संकेत को तुम सभी लोग हृदयंगम कर लेते तो सदा-सदा के लिये पूर्ण सुख-सिन्धु में निमग्न रहते।

अब मेरे पितामह अंशुमाली की विशाल हृदय की सीख को भी सुन लो। मेरी माता धरा अपनी असीमरसरूपी सम्पदा - सरिता, जलाशयों की जलरूपी संपत्ति लगातार आठ मास तक मेरे पितामह को समर्पित करती रहती है। उस समय मेरी माँ रससे लबालब परिपूरित होती है, उसके सरिता-सरोवरादि रसकोषों में रस की तरंगें उठ रही होती हैं। इसलिये वे किरणमाली उसका कुछ अंश स्वीकार कर लेते हैं। ले-लेकर वे मेरे पिता मेघ के पास, वह सम्पदा संचित करते रहते हैं। परन्तु जब ग्रीष्म के आवेग से मेरी माता धरणी, रसशून्य होने लगती है, ग्रीष्मताप से पीड़ित हो उठती है, तब वे तपनदेव तुरन्त ही वह संचित अगाध रस, वर्षा के रूप में लौटाने लगते हैं।

न्यायी, धर्मनिष्ठ राजा भी तो यही करता है। प्रजा की सम्पत्ति बढ़ जाने पर समुचित राज्यकर के रूप में ग्रहण कर, उसे अपने कोश में संचित रखता है। परन्तु जब प्रजा को उसकी आवश्यकता होती है, तब उन्मुक्त भाव से उसे लौटा देता है। प्रजा की सम्पत्ति, पुनः प्रजाजनों में ही वितरित हो जाती है।

मेरे पितामह मुझे यही शिक्षा देते हैं। "मेरे प्यारे वत्स ! लेना होता ही है, देने के लिये। तुमने जो कुछ भी रस, हरीतिमा भूमि से पायी है उसे उसी भूमि से उत्पन्न कीटराशि को खाने दो, उन्हें अपने आपको समर्पित कर दो। ये विशालकाय व्रजराज की गौएँ यदि तुम्हारे अस्तित्व को भी चर जावें, पूरा का पूरा चबा जायें, तो भी चिन्ताकुल मत होना, अपने को निरर्थक मत समझना। तुम अपने अस्तित्व् से उनमें दुग्धरूप अमृत के निर्माण में हेतु बन जाओगे, और वह दूध यदि नन्दनन्दन नीलसुन्दर के अधरों से लगकर उनकी क्षुधा-निवृत्ति की, कहीं क्षणिक से सुख की भी सम्पदा बन गया, अथवा उन्हें क्षणिक तृप्ति भी दे गया तो तुम्हारा होना ही विश्व में परम सार्थक हो जायगा।"

और हे जगत् के जीवों ! तुम्हें यह रहस्य भी बता दे रहा हूँ कि भुवनभास्कर ने भी यह शिक्षा जो मुझे दी है वह पायी है व्रजेन्द्रतनय प्रियतम नीलमणि से ही । मेरे प्रियतम नीलमणि अपने भक्तों से, सखियों से, सखाओं से, मातृवर्ग की सखियों से, गौओं से, पिता नन्दजी से, ब्राह्मण-ऋषियों-मुनियों से लेतेसे केवल दिखते ही हैं। किन्तु कहाँ अपने समीप रखते हैं वे किसी के द्वारा कुछ भी दी हुई वस्तु को ? कितना सुन्दर बनाकर और कैसी अपरिसीम मात्रा में परिवर्द्धित करके वे अर्पित-वस्तु को लौटा देते हैं, इसे देखना चाहो-तो देख लो, उनके चारु-चरणों में न्यौछावर हुए प्रत्येक भक्त के जीवन में। अतएव, चिन्तित मत होना; अपितु सदा अपना अहोभाग्य समझना, यदि नीलसुन्दर अथवा उनके इस व्रजराज्य का कोई भी जन्तु तुम्हारी कोई भी वस्तु ले ले। अप्रतिम सुन्दर एवं अनन्त बनकर तुम्हारी वस्तु तुम्हारे पास ही लौट आयेगी, भला। मेरे पितामह का यह सन्देश मैंने तो अपने जीवन में शत-प्रतिशत ग्रहण कर लिया है।

मेरे पितामह की इसी शिक्षा से अभिभूत हुए, मेरे पिता महान् मेघ निरन्तर बरसते रहते हैं। क्यों, जानते हो ? अच्छा सुनो- इन्होंने अपनी विद्युत् की आँखों से दूसरों की व्यथा-व्याकुलता देख ली। पवनरूपी दया ने इन्हें झकझोर दिया। उस दया के प्रचण्ड वेग से परिचालित होकर ये उड-उड़कर आ गये। देखो ! इन्होंने अपने हृदय का जलरूपी सम्पूर्ण रस उँडेल दिया, विश्व को आप्यायित कर दिया। सर्वथा दयाशील सत्पुरुषों का स्वभाव अपना लिया मेरे पिता ने और अपने आचरण से यही शिक्षा मुझे दी है। "जीवों का दुःख देखते ही कृपा परवश हो उठो। अपना सर्वस्व देकर प्राण

न्यौछावर करके भी पीड़ितों को सुख-सुविधा का दान कर दो। परन्तु मेरे पिता को भी यह करुणत्व की शिक्षा मिली है मेरे प्रियतम नीलसुन्दर के दृगों से झर कर ही। मेरे पिता- इन महा मेघों ने मेरे प्राणधन नीलमणि के अंगों के वर्ण को इसीलिये अपना लिया है। बाहर-भीतर वे रंग गये हैं- उन्हीं के रंग में। तभी तो वे बरसते हैं दूसरों के ताप-निवारण के लिये और बरसते-बरसते ये विलीन हो जायेंगे- शरत्कालीन जलाशयों में विकसित सुन्दरातिसुन्दर सरसिज-कर्णिका की सुषमा धारण करने वाले मेरे प्रियतम नीलमणि के नयनों में ही।

और मेरी माता धरा ने भी मुझे यही शिक्षा दी है :-"बेटे ! तेरे शतसहस्र जन्मों का अशेष पुण्य उदय हुआ है जो तुझे यह नीलमणि की लीला-स्थली में तृणरूप में ही सही, जन्म तो मिला। अब तो कभी न कभी, तुम्हें अपने प्राणनिकेत के प्रत्यक्ष दर्शन का भी अनिर्वचनीय सुदुर्लभ सौभाग्य प्राप्त होगा ही। यदि यह सौभाग्य तुझे प्राप्त नहीं होना होता तो तेरा इस व्रजजगत से कोई सम्बन्ध हो ही नहीं पाता। अब तू आनन्द से निरन्तर पुलकित हुआ नृत्य करते रहना, अपने सौभाग्य पर थिरकते रहना। देख, तू अनन्त काल से न जाने किन-किन देहों में अध्यस्त रहकर, इन देहों से सम्बद्ध अनन्त गृह-परिवार बनाता हुआ उनकी वस्तुओं में अपने-पराये की भावना से सतत भावित रहकर कहाँ, कहाँ बहता रहा है, तूने इस तमोमयी जीवन-धारा में बहते हुए न जाने कितनी कोटि-कोटि नृशंस कर्मराशियों का निर्माण किया है, फिर भी तुझे करुणावरुणालय व्रजराजनन्दन की चरणसरोजों की शीतल शंतम कृपा ने इस व्रजभूमि में प्रसव देकर अपनी छाया का दान दे दिया- यह तो अहोभाग्य ही है। अत: अब अपनी आयु का क्षण-क्षण प्रियतम श्रीकृष्ण के चारुचरणों की रज की प्राप्ति की आशा-उत्कण्ठा में ही व्यतीत कर देना। अपने नेत्रों में अति दैन्यभरी उत्कण्ठा और विप्रलंभ भरे रखना और अश्रुधारा प्रवाहित करते हुए उनके पादपद्मों की समर्चना करते रहना। भले ही तेरे पास कोई भी अर्चन सामग्री न हो, तू अपने भावों की ऊर्मियों से ही अनेकानेक उपचारों का सृजन कर लेना और अपनी भावना में मूर्त्त उनसे व्रजेन्द्रकुलचन्द्र की समर्चना सम्पन्न करते रहना। अति अनुराग भरे हृदय से अपने देवाधिदेव की परिक्रमा करते रहना। इस प्रकार अपने जीवन को प्राणवल्लभ श्यामसुन्दर की भक्तिरससुधा से अमृतवत् मधुर बनाये रखना।"

विरह एवं प्रतीक्षा

इस शिक्षा को शत-प्रतिशत ग्रहण कर, मैं तुच्छ तृण सदा प्रतीक्षा करता रहता था :- "कभी न कभी तो अघटन-घटना-पटीयसी मेरे प्राणवल्लभ की कृपाशक्ति मेरे प्रियतम नीलसुन्दर की गति मेरी दिशा की ओर कर देंगी और वे गोचारण करते हुए पधार आवेंगे मेरे निकट की पगडंडी से और मुझे उनके चरणसरोरुहों की रेणु का स्पर्श तो प्राप्त हो ही जायगा।

हे जगत् के जीवों ! अब यदि तुम मेरी जीवन गाथा सुनने को ही समुत्सुक हो उठे हो, तो सुन लो। बहुत काल तक उनकी गति इधर मेरी दिशा की ओर नहीं हुई, तो नहीं ही हुई। प्रियतम नीलमणि के अदर्शन की ज्वाला ने मेरे सम्पूर्ण हृदयरस को सोख लिया। मेरी हरीतिमा समाप्त हो गयी। हाय ! प्राणाराम व्रजेन्द्रनन्दन आज भी नहीं आये, दूसरे दिन भी नहीं पधारे, तीसरे दिन, चौथे दिन, इस प्रकार मास, वर्ष व्यतीत होते गये । एक वर्ष दो वर्ष, जब उनकी वंशीध्वनि भी कानन के इस अंश में, जहाँ मैं स्थित था, प्रतिध्विनित नहीं हुई तो फिर मेरी हरीतिमा तो विलुप्त होनी ही थी। मैं ही नहीं, कानन के इस भाग के सम्पूर्ण जलस्रोत ही शुष्कप्राय हो गये थे। स्रोत किस उद्देश्य से प्रसरित हों ? उनके हृदय की ऊर्मियाँ किसके चरणप्रान्त में न्यौछावर हों ? वे ही क्या- वल्लरियों ने भी पुष्पित होना स्थगित कर दिया, मानो वे वन्ध्या ही हो गयी थीं। आम्रों में मञ्जरियाँ नहीं आयीं। सारे भ्रमर तो नन्दनन्दन जिधर गति करें उधर ही धावित हो उठे थे। अतः निम्ब, शाल, तमाल, पिप्पल, जामुन, आम्र, बेल, सब के सब निम्न मुख लटकाये सूखने लगे थे।

पावस की घटायें, अम्बुराशि दान करने आतीं परन्तु वह अम्बुराशि प्रियतम-प्राणवल्लभ के दर्शन के बिना जलनिधि के खारे जल के समान, प्राणों में उल्लास और जीवन्तता नहीं दे पाती। दिन-रात अजस्र अश्रुप्रवाह करते-करते थके, नयन भी प्राणहीन निस्पन्द हो गये थे। हृदय क्या था, विषाद एवं वेदना की धक्-धक् जलने वाली भट्टी हो गया था। सत्य ही है, त्रिताप-संतप्त जीवन इन नवनीरद व्रजेन्द्रनन्दन के सम्पर्क में आये बिना कैसे शीतल होना संभव है ? क्या मूल से उच्छेद कर दिये गये किसी भी वृक्ष को अथाह वर्षा भी हरा कर सकती है ? कदापि नहीं। फिर मेरा मूल तो प्राणनिकेत से मेरी मिलनाशा थी, वही मिलनाशा ही जब समाप्तप्राय हो रही

थी, तो मुझमें जीवन एवं चेतना का प्रवाह कैसे तरंगित हो पाता ? परन्तु, इस अथाह दुखोदधि में पड़े रह कर भी मेरे चित्त में अविराम अंकित थी- वह मेरे प्राणनिकेत की इन्द्रनीलद्युति छवि। जो नष्ट हुआ वह तो सबका सभी बाहर का ही था। उस सच्चिन्मयी नीलिमा में फँसे मेरे प्राण वहीं उन्हीं चरणकमलों में विजड़ित रहे। वे एक पद भी अपने लक्ष्य से इधर-उधर नहीं हुए। फिर क्या था नीलसुन्दर ने एक दिवस कृपा कर ही दी। वे चले आये वन के इस भू-भाग की ओर ही। उनके आगमन की पूर्व सूचना, ज्यों ही समीर ने उनकी अंगगंध सबकी नासिका में भर कर दी, सम्पूर्ण वन में अपरिसीम उल्लास का संचार हों उठा। और वह महासौभाग्यवान क्षण भी उपस्थित हो ही गया जब उनके श्रीअंगों की श्यामल कान्ति मेरे नेत्रों में भी पूरित हो गयी। फिर तो सौभाग्य का अथाह, अनन्त कोष ही मेरे लिये खुल गया। वेणु की लहरी श्रवणपथ से हृदय को सिक्त कर उठी।

प्रिय दर्शन एवं ब्रज-रज-कृपा

उस दिवस तो मेरी माता धरा भी कैसी शोभामयी हो उठी थी। मेरी माता के अंग-अंग में आनन्द के इतने पुलक उठे कि हरित् तृणों का अम्बार लग गया। वह सुख में अतिशय हरी हो गयी। प्रियतम प्राणनिकेत के रागवश यूथ की यूथ वीरबहूटियाँ उसके रोम-रोम में प्रसूत हो गयीं। बरसाती छत्ते असंख्य वितान से बनकर उसके अंग-अंग में मुक्तामालाओं की तरह सुभूषित हो गये। इसप्रकार सुखसौभाग्य से हरी, प्रीतिराग से लाल और मुक्तामणियों के श्रृंगार से सजी श्वेत- मेरी माता धरणी की निराली छटा देखकर मैं निहाल हो गया। विश्वपति व्रजेन्द्रनन्दन के आगमन और मिलन पर तो साजसज्जा होनी ही चाहिये थी; उनके स्वागत में ही यदि अनन्तश्री प्रकाशित नहीं होंगी तो फिर भला कब होंगी ?

मैंने चाहा, मैं भी अपना श्रृंगार करूँ। परन्तु मुझे कौन वस्त्र देता। निर्वस्त्र रहना तो मेरी नियति ही थी। परन्तु धन्य हो कृपा की। वह जब किसी पर भी होती है जो अजस्र ही होती है, अमर्यादित ही होती है । कलिन्दनन्दिनी में रस की ऊँची से ऊँची तरंगे उठने लगीं। आनन्दातिरेक से उसके श्वास फूल रहे थे, बड़ी-बड़ी लहरें उठने लगीं, उसमें। यमुना मेरे नीलमणि के चरणसरोरुहों का पराग बटोरने लगी। पावस ने भी अपने

प्लावन से उन्मुक्त-हस्त राशि-राशि रजकण रविनन्दिनी को समर्पित कर दिये। मर्यादा तोड़ कर वह उमड़-उमड़ कर इस परागराशि का वितरण भी करने लगीं। तट की सीमायें तोड़कर जब यमुना उमड़ी तो एक बार तो ऐसा अनुभव होने लगा मानो उसका जलप्रवाह मेरे अस्तित्व को ही समूलत: उखाड़ फैंकेगा, परन्तु हुआ सर्वथा उसके विपरीत ही। उस तरणितनया के रसप्लावन ने मुझे उस निधि से श्रृंगारित कर दिया जिसके लिये पितामह ब्रह्मा और भगवान् रुद्र भी तरसते रहते हैं। कानन की उन पगडंडियों की धूलि जिन पर प्रिया किशोरीरानी और उनकी प्राणसारसर्वस्वा सखियाँ चरण रखती हैं, रासस्थली की वह पुलिन-सैकत जिस पर महारास होता है, सभी लीलास्थलियों की रज-- जहाँ अपने प्रियतम श्यामसुन्दर से उनकी प्रेमिका गोपियों का प्रेमविवश मिलन हुआ है ; वह आनन्द-विवश हृदय एवं हृदय का सम्पूर्ण उच्छ्वसित रस जहाँ-जहाँ जिन कुंजस्थलियों में निपतित हुआ है, उन-उन बिहारस्थलियों की रजसे उन विशाल रसतरंगिणी की लहरों ने मुझे आपातत: श्रृंगारित कर दिया। व्रजपुरवासियों की, वृषभानुबाबा की, महात्मा नन्दराय की, घनवात्सल्य मूर्त्ति यशोदारानी की, मैया कीर्तिदा की, गोप-शिशुओं की, व्रजांगनाओं के चरण-पद्मों का पराग जो भीष्म, नारद , शुक, सनकादि, ब्रह्मा एवं भगवान रुद्र के लिये भी अप्राप्य है, उस रजकीच से, रसतरंगिणी यमुना के उन्मत्त प्रवाह ने मुझे आपातत: सान दिया।

हे जगत् के जीवो ! यदि तुम समझ सकते- इस व्रजरज की महिमा को, तो तुम्हें भान होता कि वह मेरा सौभाग्य कैसा था ? कितनी अचिन्त्य कृपाराशि मुझ पर उस क्षण बरसी थी, उस कृपाराशि से मेरा रोम-रोम सन गया था। किन्तु तुम्हारा मन तो कामना, वासनाओं की कीच से सना है। तुम्हारे नेत्रों पर बना है- इनका ही घना आवरण । अत: तुम कैसे हृदयंगम कर सकोगे इस अप्राकृत दिव्यातिदिव्य आनन्द को ? एक अप्रतिम परमानन्द -सिन्धु उच्छलित हो उठा; मेरे हृद्देश में। उस क्षण कितना भावविह्वल हो उठा था मै--इसे अचिन्त्य सौभाग्यवश कोई देख भले ले; वाग्वादिनी तो इसका एक अल्प सा अंश भी चित्रण करने से रही। बस, स्थूल शब्दों में इतना ही बता दे रहा हूँ। रस-तरंगिणी द्वारा निक्षिप्त, उस रसकीच का मेरे अंगों से संस्पर्श होते ही उस मृदुल, सुकोमल रज के अन्तराल से तत्क्षण ही महाजलधरतुल्य एक प्रकाण्ड विग्रह का आविर्भाव हुआ।उस विग्रह के हृदय में तडिल्लता-सी परमसुन्दरी उसकी प्रिया भी उससे आलिंगित, आबद्ध थी। अहा!

उस नील-पीत छटा से मेरा सम्पूर्ण दृश्य सदा-सदा के लिये आप्लावित हो गया। इतना ही नहीं, वह नीलपीतद्युति सुभग विराट, मेरे लिये एक मधुर सरस पानीय भी बन गया। और वह पानीय मेरी रसना से, नेत्रों से, नासाछिद्रों से, श्रवणेन्द्रियों से, उन-उनका विषय बनकर मेरे हृदयस्थल में भर उठा। व्रजेन्द्रनन्दन एवं उनकी प्रिया के दर्शन से मेरा हृद्देश परिपूर्ण रसमय हो गया। एक अत्यन्त अधम और तुच्छातितुच्छ, सर्वथा उपेक्षणीय तृण पर भी अपनी कृपा का ऐसा अचिन्त्यदान व्रजेन्द्रनन्दन दे सकते हैं, यह प्रत्यक्ष मेरे सम्मुख हो रहा था। मेरे अपलक नेत्र एक क्षण केन्द्रित होते उनके रासबिहारी स्वरूप पर। अहा ! कैसे अप्रतिम, अरुणिम उनके चरणारविन्द हैं ? नृत्य के तालबन्ध का एक विचित्र-सा कम्पन उनमें भर आया है। समस्त कलाओं की आदिगुरु गोपियाँ उनको घेरे गोलाकार खड़ी थीं। एक प्राकृत नट भी अपनी कला का प्रदर्शन करने जाकर, अपने कौशल का परिचय देकर, विविध तालबन्धों से दर्शकों को मुग्ध कर देता है, फिर जहाँ सकलकलानिधि व्रजराजनन्दन हों और संग में उनकी अखिल कलाप्रवर्तिका प्रिया एवं सखियाँ, यमुना की स्वच्छ, शुभ्र रजतसैकत राशि को अपना रंगस्थल बनाकर महारास नृत्य करें, उस शोभा का कौन तो वर्णन करे ? देववृन्द के आनन्द का पार नहीं। आकाश में पूर्ण शरच्चन्द्र की चाँदनी पारावारविहीन अमृतवर्षा करने लगी। जिनकी चरणसेविका मायानटी के नियंत्रण में अनन्त ब्रह्माण्ड सृष्ट होकर निरन्तर नृत्य कर रहे हैं, जो ब्रह्माण्ड के प्रत्येक क्षुद्रतम धूलिकण से आरंभकर, अतिशय महान् सुमेरु-पर्यन्त जड़वर्ग एवं कीटाणु से लेकर ब्रह्मा-पर्यन्त चेतन समुदाय- सबको अनवरत नृत्य करा रहे हैं, वे एक अति नगण्य मुझ तुच्छ तृण के सम्मुख नृत्य कर रहे हैं, अपने सौभाग्य पर मुझे स्वयं को ही ईर्ष्या होने लगी। अहा, उनके रासोन्माद का क्या वर्णन करूँ, उन्हें न तो वीणा-झंकृति की और ना ही मृदंग आदि के ताल की सहायता की आवश्यकता थी। वे तो अपनी प्रिया के साथ मंच पर उतर आये और अभिनव प्रीतिमुद्राओं में उनके अंग थिरकने लगे।

महारास दर्शन

उनके अधरों पर लगी वंशी का निनाद दिगदिगन्त को गुँजाने लगा। उनकी तदीय जन-विद्याधरियाँ असंख्य वीणायें ले-लेकर झंकृत करने लगीं,

परन्तु उनके तालबन्ध एवं जगन्मोहक नृत्यगति को वे वीणाध्वनि में संगत नहीं कर सकीं। वादनकुशल तदीय भक्त गन्धर्वतुम्बुरु आदि मृदंग पर थाप देने की चेष्टा कर रहे थे परन्तु उनकी ताल पर वे सब कुछ भी बजाने में समर्थ नहीं हो पा रहे थे। एक-एक विद्याधरी, एक-एक गन्धर्वपत्नी मंच पर उतरीं परन्तु लज्जित होकर मुख छिपाकर पलायन कर गयीं। आकाश भक्त-देवअप्सराओं के विमानों से भर गया, परन्तु सब मोहित, लज्जित एवं चकित थीं। अहा, गोपियों का क्या सुरीला मधुमय कंठ था ? साक्षात् राग-रागिनी मूर्त्त होकर उनके कंठ में आसीन होने का सौभाग्य पाने को आतुर थीं, परन्तु उनके स्वर की मधुरिमा में वे डूबीं समाधिस्थ हो जाती थीं। बस, कैसे कहूँ- क्या कहूँ, चतुर्दिक आनन्दमयी मधुरिमा, और सौन्दर्य का उद्दाम उच्छलन हो रहा था। गन्धर्व, सिद्ध, सुर, चारण सब नारीभाव को प्राप्त हुए रसमूर्च्छित थे। उनके ताल-स्वर का साथ देने में जब ये सभी असफल हो गये तो वे नन्दनकानन से मन्दार, पारिजात आदि पुष्पों को एकत्रित कर अपने विमानों से सभी गोपांगनाओं और श्यामसुन्दर पर वर्षा करने लगे। मैं उन सबके प्रेम-भाव से परिपूर्ण मुखों की शोभा देख रहा था। कुसुमों से अपने दुकूल भर-भर कर वे विमानों से झुक-झुक कर उन्हे नन्दनन्दन पर उँडेल रहे थे। प्रिया-प्रियतम के चरणों में कुसुमों की अविरल धारा बरस रही थी। व्रजेन्द्रनन्दन का माहात्म्य-कीर्तन करते हुए सिद्धगण, हरिचन्दन, कुंकुमादि दिव्य, सौरभमय विविध चूर्णों के उपहार बिखेर रहे थे। समस्त दिशायें आमोदित थीं। सभी अपना सर्वस्व -- नृत्यरत प्रिया-प्रियतम पर न्यौछावर करना चाह रहे थे।

लो, अब तो इनका नृत्य और भी तीव्रगति पकड़ लेता है। विलक्षण चमत्कार घटित हो रहा है। एक-एक सखी अपने साथ नीलसुन्दर प्रियतम को नृत्य करता देख रही है। असंख्य सखियों के साथ असंख्य रूप धारण किये प्रियतम, प्रत्येक सखी का हाथ पकड़े, नृत्य करने जा रहे हैं; सब कलायें कुण्ठित हो रही हैं; सम्पूर्ण रागिनियाँ हतप्रभ हैं; सारे राग लज्जित हैं।

रासनृत्य का भी एक शास्त्र है; उसके निर्धारित नियम हैं। गति-विन्यास-कौशल तो कोई अपेक्षाकृत एक दूसरे से अधिक भले ही प्रदर्शित कर दे, दर्शकों के हृत्तारों को कोई असामान्य रूप से झंकृत कर पाने की योग्यता भले ही रख ले, किन्तु प्रत्येक नर्तक अपनी परम्परा की सीमा में ही रहता है। कभी उसका अतिक्रमण नहीं करता। नृत्य-विशेष में जो उसकी

स्वतंत्रता रहती है अथवा एक मौलिकता का भान, जो वह अपने दर्शकों को कराता है, वह भी नृत्यकला की एक नियमगत वस्तु ही होती है। परन्तु यहाँ तो नन्दनन्दन सब परम्पराओं को तोड़कर, सभी सीमाओं के मस्तक पर 'थेई', 'थेई' की झंकार करते हुए सर्वथा स्वकल्पित गति से ही नृत्य करने लगते हैं। परन्तु आश्चर्य है, प्रिया किशोरीरानी और उनकी सखियाँ उनकी सम्पूर्ण कुशलता और गतिविन्यास को जैसे पहले से ही जानती हों, उनके साथ तो पग मिलाती ही हैं, उनसे भी अत्यधिक मनोहर और अत्यंत मोहक गति एंव लय का प्रकाश कर जाती हैं। बिचारे देववृन्दों ने कब देखा है - ऐसा प्राणोन्मादी प्रीति-नृत्य ?

विचित्र भूषण-वसनविभूषित असंख्य गोपियाँ हैं, नहीं, नहीं सौन्दर्यसिन्धु की असंख्य ऊर्मियाँ ही मानो घनीभूत हो गयी हैं, और इन एक-एक गोपी के साथ, उनके नायक नन्दनन्दन की क्या ही शोभा है ? मानो कोटि चन्द्र एकत्र हुए एकसाथ सुधा की वर्षा कर रहे हों, और भीग रहा है - एक अप्रतिम सुन्दर, सहस्रदल नील कुमुद-अपार सौन्दर्यराशि को अपने परम सुन्दर दलों में संपुटित किये।

अहा ! इस रासस्थली का भी क्या वर्णन किया जाय ? कुछ भी कह नहीं सकता। इस एकान्त निर्जन रसतरंगिणी के सैकत तट पर कौन ऐसी त्रैलोक्य-चमत्कारी पुरी का निर्माण कर देगा ? किसकी सामर्थ्य है भला ऐसी रंगस्थली निर्माण कर देने की ? यह रसरंगस्थली चारों ओर से असंख्य कदली स्तंभों से घिरी है। परन्तु कदली स्तंभ भी परम चमत्कारी हैं। ये प्राकृतिक कदली हैं कि अप्राकृत विलक्षण यंत्रमय रत्नमयी कृतियाँ, कुछ भी नहीं कह सकता। मैं तो बस, विस्फारित-नेत्र इस शोभा को देख ही सकता था। मेरी बुद्धि सर्वथा हतप्रभ थी। प्राण स्पन्दनरहित और मन अतिशय शान्त-प्रशान्त।

मानो अनन्त राका-शशियों के प्रकाश में इस रासपुरी की शोभा जगमग-जगमग कर रही थी। शरदच्चन्द्र एक ही था, परन्तु उसका प्रकाश सहस्रों रविरश्मियों को हतप्रभ कर देने वाला था। सहस्त्रों रत्नमय कदली स्तंभ इस रासमण्डल को घेरे थे। प्रत्येक कदली स्तंभ पर रत्नमय रत्नघट था और ध्वजा फहरा रही थी। ये शोभा की खान कदलीवृक्ष अति उन्नत मस्तक किये थे। इनके विशाल आकार के पत्ते बन्दनवारों की तरह परस्पर एक दूसरे से जुड़े थे। इसके पश्चात् पुष्पित कदम्बवृक्षों की श्रेणी थी। सभी वृक्षों पर रत्नमय चमकते पुष्प खिले थे। वृक्षों पर विशाल पुष्पवितान तना

था। यह पुष्पवितान सहस्रों योजन विस्तृत था। तभी न, कोटि-कोटि गोपांगनाओं का अपने प्रियतम श्यामसुन्दर के संग नृत्यविलास हो रहा था। और इन गोपांगनाओं का वेष भी परम विलक्षण था। किसी ने पैरों के आभूषण तो कानों में लटका लिये थे और कानों के आभूषण पैरों में पहन लिये थे। लो, यह नथ जो नाक में पहनने का था इसको शिरोभूषण बना लिया था और शिरोभूषण को नाक में बाँध लिया था। अहा ! इन कदम्ब वृक्षों के तले प्रियतम इनको समझा-समझाकर कितने प्यार से इनका यथोचित श्रृंगार करते हैं। इन्हें तो अपने शरीर का कुछ भी भान नहीं है। अरे ! शरीर का भान ही रहे तो फिर प्रेम ही कहाँ ? सभी गोपियाँ अपने प्रिय की स्मृति में मतवाली हैं। अहा ! किस उत्साह से प्राणवल्लभ कोटि-कोटि रूप रखकर सभी सखियों का समुचित श्रृंगार कर रहे हैं ? अपने असीम स्नेह-परिपूरित करों से इन गोपियों के कंचनद्युति अंगों में प्रियतम यथायोग्य वस्त्राभूषण धारण कराने की चेष्टा कर रहे हैं, परन्तु उनके नेत्र प्रेमवश छल-छल करने लगते हैं। गोपियों का, उनके प्रेम में तन, मन एवं सर्व बाह्य चेतना खोकर अस्तव्यस्त भाग कर आना और श्रृंगार में इस प्रकार ऊटपटांग वस्त्र पहन लेना, कहीं का श्रृंगार कहीं धारण कर लेना--यह सब देखकर प्रियतम प्रेमतन्मय हो उठते हैं। वे एक क्षण तो अपनी प्रियाओं के मुखचन्द्र से झरती, प्रेम-सौन्दर्य-सुधा का पान कर तल्लीन हो उठते हैं, परन्तु सहसा उनके प्रणयसिन्धु में एक भावावर्त उठता है। मेरी प्राणप्रिया, राधा नित्य-नव-सुन्दरी है, क्षण-क्षण में उसका रूप-लावण्य परिवर्द्धित होता है, और इस शरच्चन्द्र ज्योत्स्ना में यदि इसे मैंने सर्वश्रृंगार-समन्वित कर दिया तो औरों की तो क्या, कदाचित् मेरी ही दृष्टि इसे नहीं लग जाय; अतः प्रियतम अपनी प्रिया को सजाकर भी पुनः वैसे ही रहने देते हैं। परन्तु फिर भी प्रियतम के हृदय का स्पन्दन शान्त नहीं होता । प्रिया का सौन्दर्य इतना असमोर्ध्व है कि वह ऊटपटांग आभूषणों में भी परमातिपरम सुन्दर प्रतीत होने लगती हैं।

धन्य हैं, ये गोपियां जो युग-युग से वृजेन्द्रनन्दन को अपना मन, प्राण समर्पित कर चुकी थीं। अहा ! अनन्त जन्मों-जन्मों से ये प्राणों की उत्कण्ठा लिये अपने प्रियतम की प्रतीक्षा कर रही थीं, वे उनके चिरजीवन के आराध्य, प्राणाधार आज इनके अपने सम्मुख ही विराजित हैं -- यह अनुभव करतीं वे

कितनी हर्षमयी हो उठीं हैं ? प्रियतम भी इनके प्रति कैसा निर्मल अनुराग प्रकट कर रहे हैं ?

देखो, देखो ! ललितारानी के पादसरोजों को, प्रियतम ने अपने अञ्जलि-पुट में ही धारण कर रखा है। इनके अरुण चरणों में लगी धूलि को, धूलिकणों को ये अपनी चूड़ा के खुले केशों से सम्मार्जित कर रहे हैं। अहा ! प्रेम में भरे प्रियतम क्या उच्चारण कर रहे हैं - "अरी, गोपियों ! कितनी महिमामयी है तुम्हारे श्रीचरणों की धूलि ? जो, इस परम दुर्लभ धूलि की एक कणिका भी प्राप्त कर लेता है, उसके मन को तो जरा आदि दोषों से रहित एक मन्वन्तर काल तक स्वर्ग-सुख की भोगने की कामना भी संस्पर्श कर नहीं पाती। इतना ही नहीं, ब्रह्मपद से भी श्रेष्ठ योगसिद्धियों और उनसे भी श्रेष्ठ जन्म-मृत्यु-विहीन मोक्ष तक को भी वह काकविष्ठावत् हेय एवं घृण्य समझने लगता है। अरी मेरी प्रियाओं ! क्या ही आश्चर्य है कि इस चरणरज को मैं बिना किसी प्रयास के ही प्राप्त कर रहा हूँ ? अहा, मेरा कैसा सौभाग्य है ?"

इस प्रकार, गोपियों के, ललिता के, विशाखा के, चित्रा, चम्पकलता और इन्दुलेखा के चरणसरोजों की रज को अपनी कुन्तलराशि से झाड़ने की क्रिया देख-देखकर अन्तरिक्ष के वे सिद्ध, गन्धर्व, देवगण सचकित विस्फारित नेत्र देखते रह जाते हैं।

परन्तु यह क्या, कुछ गोपांगनाओं में प्राण-प्रियतम की यह प्रेमपरवशता सौभगमद की जाग्रति कर देती है। बस, श्री कृष्ण वहीं अन्तर्द्धान हो जाते हैं। फिर तो, अबतक जो वनस्थली आनन्द-कोलाहल से मुखरित हो रही थी, वहाँ श्मशान की-सी गम्भीर नीरवता छा जाती है। अपने प्रियतम को न पाकर एक बार तो सभी गोपियाँ अतिशय संत्रस्त हो उठती हैं। वे जोर-जोर से रुदन करने लगती हैं।

अर्न्तधान हो जाना

हाय ! उनकी विलाप-क्रिया ऐसी करुण होती है कि मुझ हृदयहीन, भावहीन शुष्क तृण का भी हृदय विगलित हो, द्रवित होने लग जाता है। किसी के ध्यान में जब सब वस्तुस्थिति आती है तो वह कहती है - "बहिनों ! इस प्रकार इस निर्जन एकान्त स्थान पर बैठकर रोने से क्या होगा ? उठो ! यह विषाद छोड़ो। अभी तक तो निश्चय ही प्रियतम हम लोगों से अधिक दूर नहीं गये होंगे, अतः हम उनका यहीं इन वनकुंजों में अनुसंधान तो करें।"

यह बात पूरी भी नहीं हो पाती कि दूसरी सखी अपनी विशेषज्ञता की छाप-सी डालते हुए कहने लगती है - "देखो बहिनों ! उनको ढूँढ़ों भले ही, परन्तु ढूँढ़ने से कहीं वे कंटकाकीर्ण वनपथ में प्रवेश हो गये और उनके सुकोमलतम अंगों में कंटक लग गये तो, उस व्यथा की बात सर्वोपरि विचारणीय हो जायगी। इस तथ्य को प्रधानता देते हुए ही तुम लोग कोई निर्णय लेना ।"

तीसरी, जो अपने को सर्वाधिक बुद्धिमान मानती है, कह उठती है - "अरी ! यह सघन कान्तार तो पारावारविहीन है, उनके चरणचिन्ह तो ढूँढ़ो। इस सैकत में से तो एक लघु-से-लघु पिपीलिका भी अपने चरणांकन किये बिना नहीं जा सकती। बस, सखी के इतना कहते ही सभी सखियाँ समुज्ज्वल चन्द्र-ज्योत्स्ना में अपने प्रियतम के चरणचिन्ह ढूँढ़ने निकल पड़ती हैं।

वन की क्या ही शोभा हो रही है। गोपियाँ रजतसैकत में अपनी ओढ़नियों में झुक-झुककर चरणचिन्हों को ढूँढ़ती हुई, ऐसी प्रतीत हो रही हैं मानो श्वेत, हरित्, पाटल, पाण्डुर, पीत एवं श्यामवर्ण के विमान नभ से उतर आये हों। गोपियाँ हतप्रभ हो रही हैं,- उस सैकत पर तो उनके प्रियतम प्राणवल्लभ के असंख्य नृत्यरत चरण चिन्ह अंकित हैं। अब वे उनके पलायन की कौन दिशा निश्चित करें ? अहा, गोपियों के नूपुर एवं उनकी कटि-किंकिणी की झंकार इतनी मनोहारी है कि सारा तट ही विलक्षण सुरीले नाद से भर गया है। ऐसा अनुभव होता है मानो वाग्वादिनी असंख्य रूपों में वीणा झंकृत कर रही हों। असंख्य कल्पप्रसूनों से धरा आच्छादित है। चरण चिन्ह ढूँढ़ते-ढूँढ़ते गोपांगनाएँ अपने प्रियतम की स्मृति में इतनी तल्लीन हो उठती हैं कि किसी को किसी लता-ओट, किसी को किसी कदम्बवृक्ष के नीचे अपने प्रियतम का आभास होने लगता है।

देखो, ये सखियाँ परस्पर क्या कह रही हैं ? सुनो तो, इनके हृदय में सापत्य की कैसी व्यथा भरी है ? "अरी बहिनों, देखो न ? प्रेमलीलाविहारी प्रियतम श्यामसुन्दर इस सौभाग्यवती अपनी प्रियतमा सखी का प्रेममद पान किये कैसे मत्त हो रहे हैं ? अरी बहिन ! आलिंगन और विहार करते प्रियतम के मणिमय मञ्जु मंजीर, वलयादि विविध भूषण कैसे मृदु, मधुर झंकार कर रहे हैं। और इस निर्जन यमुनापुलिन के एकान्त में इस परमातिपरम मधुर झंकार को दिगंगनाएँ प्रतिध्वनित करके इसका चतुर्दिक् शत सहस्रगुणा विस्तार कर दे रही हैं। देखो री बहिनों ! यमुना ने भी अपने आनन्द का प्रकाश कमलों में

केशर प्रस्फुटित करके कर दिया है। अरी बहिनों, तुम इस आश्चर्य को भी क्या नहीं देख पा रही हो ? सूर्य के प्रकाश के बिना कमलदल तो कभी विकसित होते नहीं, परन्तु आज तक जो रवितनया अपने पिता-रवि के दर्शन से उत्फुल्ल हुई पद्मों का विकास करती थी अब अपने प्राणवल्लभ श्यामसुन्दर के दर्शन से निशा काल में ही ऐसा कर रही हैं।"

इतने ही में दूसरी बोल उठती है - "हाँ, हाँ, सखी, कालिन्दी के कर्पूर धूलिपटल-सदृश स्वच्छ सैकततट पर मालतीवन में प्रियतम श्यामसुन्दर का विद्युत्वर्ण पीताम्बर स्पष्ट ही तो परिलक्षित हो रहा है। अरी सखि ! प्रियतम तो मत्त गयन्द की तरह अपनी प्रियतमा के साथ नव-नवनिकुंज-स्थलियों की ओर, लता-पल्लव-जाल से आवृत सुरम्य वनस्थली की ओर बढ़ते ही जा रहे हैं। अहा, उनके नीलद्युति अंग-अंग में प्रेम मद छलक रहा है। उनके चरणों को स्पर्श करती, लटकती वनमाला क्या तुम्हें उनकी मदभरी त्वरित चाल से लहराती नहीं दिख रही है ?" इतने में ही तीसरी उसके पास आ जाती है और कहने लगती है -"निश्चय ही प्रियतम श्यामसुन्दर अपनी प्रियतमा के एकान्त संग के मोहवश ही हमें छोड़कर चले गये हैं। देख ! प्रियतम की अनुकृति करता यह मन्द समीर, लता-वल्लरियों को इसीलिये तो इस प्रकार अपने आलिंगन से झकझोर रहा है। और यह शशांक अपनी प्रिया धरासुन्दरी पर किस प्रकार मतवाला होकर अपनी किरणें बरसा रहा है, तभी न उसके समागम से धरासुन्दरी को रोमाञ्च होने लग गया है। हाय रे, हम हतभागिनियों को तो ये सुधाकर की किरणें अग्निबाण की तरह चुभ रही हैं।"

अब चौथी की बात सुनो । वह तो पूर्णतया ध्यानस्थ है। वह बाहर देख ही नहीं रही। वह तो अपनी ध्यानछबि का ही वर्णन कर रही है -"अरी, अरी बहिनों ! सौन्दर्य-सिन्धु उमड़ा आ रहा है। शोभासिन्धु के अधिदेवता मेरे प्रियतम के अंग-अंग में समाये मानो स्वयं पधार रहे हों। उन परम-सुन्दर प्रेमाधिदेव को मानो अनन्त, असंख्य लोल-लहरियाँ घेरे आ रही हों। उनके वदनारविन्द पर चर्चित चन्दनखौर की लहरें हैं। उनकी कुटिल अलकों में सुचिक्कण कज्जल-सम बाँकी भ्रमरगणों की कृष्णमयता की लहरें हैं। अधर-पुटों पर कभी तो मधुरातिमधुर वंशी निनाद की स्वरलहरी नाच उठती है और कभी परमातिपरम सरस रसमय वाणी की लोल लहर उठ जाती है। उनके कपोलों पर लावण्यमयी मधुरिमा की लहर है। उनके श्रवणेन्द्रियों में, कुण्डलों एवं् दमकती मणियों की कान्ति की लहर है। सुन्दर वक्षस्थल पर वनमाला की

उज्ज्वल लहरें नाच रही हैं, कमनीय चरणों के समीप अरुणिम लालिमा लहरा रही है। सुन्दर नखावली पर उज्ज्वल लहरों की आभा फैली है। उनके नयनों में कटाक्षों और भ्रूनर्तन की अतिशय चंचल लहरी नृत्य कर रही है। उनकी ग्रीवा के समीप सौन्दर्य लहरें किञ्चित् बंकिम हो गयी हैं, सुन्दर, विशाल भुजाओं को सुपुष्ट श्यामता आवृत किये है। अहा, श्रृगांरवेश में मेरे हृदय में नित्य विराजित प्रेमदेवता के समस्त अंगों में ही उन्मादी प्रीति की लहरें उठ रही हैं। ये सौन्दर्य के अधिष्ठातृदेव सुन्दर चाल में चलते हुए, इस यमुना पुलिन को रसप्लावित कर रहे हैं।" यह कहती-कहती वह पूर्णतया ध्यानस्थ ही हो ज़ाती है। अब सुनो, पांचवी, चारों को झकझोर कर सभी का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करती हुई कह रही है - "अरी ! इस चम्पकतनी सखी को देख रही हो न ? अहा ! देखो न, प्रियतम-प्राणवल्लभ के प्रेम में छकी यह कैसी रसमाती हो रही है। देखो ! प्रियतम नीलसुन्दर भी इसको अपने प्राणों का समस्त रस उँडेलकर मानो आप्यायित ही कर देना चाह रहे हैं। अहा, वे इसके चन्द्रमुख को कितने प्यार से निहार रहे हैं और उस पर शत-शत चुम्बन अंकित करने लग जाते हैं। देखो, इस गोपी ने अपनी सुन्दर मृणाल-सी भुजाओं में प्रियतम को बाँधकर पूर्णतया आलिंगित कर रखा है और उनके सिर से यह कितने रसमय ढंग से अपने सिर को मिला रही है ? प्रियतम, इसका यह अप्रतिम स्नेह पाकर, देख न, सारी चंचलता त्यागकर किसी अनिर्वचनीय प्रेमानन्द में विभोर हुए, उसके हाथ के यंत्र बन गये है। देख न ! इस सुपुष्पित कदम्ब के रत्नमय आलवाल में वे इस सखी की गोद में, इसके प्रेम में मत्त कैसे शान्त शयन कर रहे हें और यह सखी इन्हें सुमधुर पंचम राग आलाप कर, सुना रही है। अरी देखो ! हम सबको धिक्कार है, हतभाग्य ! हम प्रियतम को सुखदान ही नहीं कर सकीं अन्यथा वे हमें छोड़कर जा ही नहीं सकते थे। देखो न ! प्रेमानन्द में विभोर प्रियतम की मुखछवि देखो न ? वे सर्वथा ही इस सखी के ऊपर न्यौछावर हो गये हैं। धन्य है, प्रियतम की प्रेमपरवशता।" अब छठी सखि की बात सुनो :- "अरी बहिन देखो न ? प्रियतम का कैसा निर्मल प्रेमी स्वभाव है। वे अपनी प्यारी प्रियतमा-प्राणवल्लभा को शयन कराने के लिये परम सुकोमल पुष्प-तल्प निर्माण करने जा रहे हैं। देखो न ! इनके नीलद्युति उन्नत भाल पर, उभरे हुए सुन्दरतम कपोल-युग्म पर स्वेदबिन्दु झल-झल, झल-झल कर रहे हैं, परन्तु इस ओर इनका सर्वथा ध्यान ही नहीं है। वे तो अपनी प्रिया की शय्या

निर्माण करने के लिये, पूर्ण दत्तचित्त, एक-एक पुष्प का चयन कर रहे हैं। वे पुष्प-लताओं के पास कितने निर्भय जा रहे हैं। उनके सुकोमलतम चरणों की लाल पगथलियों में कहीं कोई क्षुप, तृण अथवा वीरुध चुभ जाय तो इसकी चिन्ता उन्हें है ही नहीं ? यह चिन्ता तो यहाँ, हम अभागिनें कर रही हैं। अरी ! वे तो एक-एक पुष्प को पहले अपनी हथेली पर रखते हैं, उसकी सुकोमलता की जाँच करते हैं, फिर उसका एक-एक पत्र सूँघते हैं। जब उसकी गंध उनकी नासिका द्वारा अनुमोदित कर दी जाती है तब वे गुच्छ-के-गुच्छ, उस पुष्प को एकत्रित कर, उनसे अपनी प्रिया की शय्या निर्माण करते हैं। यदि वह पुष्प-गंध उनकी नासिका को रुचिकर नहीं लगती तो वे उसी समय उसे छोड़ आगे बढ़ जाते हैं। अरी बहिन चलो न ! उनकी किंचित् सहायता करें, अन्यथा तो, वे प्रेम-परवश सब कार्य स्वयं अकेले अपने हाथों ही करते जावेंगे। देखो री ! प्रियतम ने अपनी प्रिया के श्रृंगार के लिये राशि-राशि सुगन्धित वन्य-पुष्पों को लेकर, उनकी अकेले मालायें बनायी हैं, अब इन्हीं से तो वे अपनी प्रिया को विभूषित करेंगे।"

अब सातवीं कह रही है - "अरी बहिनों ! यह विद्युल्लता-सी तडित्-वर्ण अंगोंवाली सखी ही इनकी प्राणप्रिया प्रतीत होती है। अरी, यह तो अत्यधिक निर्लज्ज प्रतीत हो रही है। देख ! यह प्रियतम से वार्त्ता कर रही है अथवा उनसे लिपटी ही जा रही है ? इसकी केशराशि वेणीबंधन से मुक्त बिखरी है और इसके उरोजों पर काँचली कंचुकी भी नहीं हैं। अरी, गुप्त वार्ता करने का भी कोई शील होता है यह तो मुख से मुख मिलाकर बात कर रही है। अरी, प्रियतम रसिकनागर इसी प्रकार वश में होते हैं। हाय ! हम लज्जा-मर्यादा का ध्यान रखती रहीं और प्रियतम को हमने खो दिया।"

इस प्रकार, अति सुकोमल-हृदया गोपसुन्दरियाँ विरहावेश में आकुल नेत्रों से इतस्तत: सर्वत्र अपने प्रियतम नीलमणि का प्रेमविहार देखने लगीं। प्राणों की तीव्रतम उत्कण्ठा उनके लिये कदली कुंजों में, कदम्ब वृक्षों के नीचे, शरद ज्योत्स्ना में चमचमाते यमुना तट पर इतस्तत: प्रियतम की अनेक प्रेमलीलाएँ, प्रत्यक्षवत् व्यक्त करने लगी। जैसे - प्राणों की तीव्र पिपासा रेगिस्तान में भटके हुए यात्री के सम्मुख मृग-मरीचिका के दृश्य सृजित कर देती है। कतिपय अतिशय कोमल-हृदया गोपांगना-प्रेमिकाएँ तो तुलसी आदि छोटे पौधों से वार्त्ता करने लगीं। कुछ कदम्ब और कदली वृक्षों से अपने प्रियतम का पता पूछने लगीं। कुछ भ्रमरों से ही बात करने लगीं।

गोपियों के सामने मानो समस्त दृश्य सर्वथा विलुप्त है। उनके सम्मुख तो अपने प्रियतम का मुसकान विकिरित करता आनन-सरोज है और उस आनन-कमल पर मधुपान करने के लिये बैठी हुई रसमत्त भ्रमरावली सदृश अलकें हैं। और ये गोपियाँ उन भ्रमरावलियों से कैसे प्रेममत्त हुई आकुल प्रार्थना कर रही हैं - "अहो रसमत्त भ्रमरों ! तुम परम धन्य हो। तुम निरन्तर गुन-गुन करते हमारे प्रियतम का परम अमृत गुणगान करते रहते हो। अतः इस गुणगान से तुममें सज्जन पुरुषों के दयालुता, वत्सलता आदि गुण तो अवश्य ही आ गये होंगे। अहो ! हमारा मन और ये दो नेत्र भी प्रियतम श्यामसुन्दर के नील-कुड्मल सदृश मुखसरोज का मादक मधुपान करने को तुम्हारी ही तरह परम आकुल हो रहे हैं। भाई ! इनको भी अपने साथ सम्मिलित कर लो, न। हाय ! हमारी तो प्रिय-वियोग में जो दशा होनी होगी, वह हो जायगी, ये हमारे नेत्र और मन मधुकर तो तुम्हारे संग प्रियतम-प्रीतिमकरन्द पान कर तृप्त हो जायेंगे। फिर वे अति दीन हुईं प्रियतम श्रीकृष्ण को अपनी विरह व्यथा सुनाने लगती हैं :-

"हे प्राणवल्लभ ! आपका कटाक्ष करता हुआ मधुरेक्षण हमें विमुग्ध करने के लिये मोहन मंत्र है, आपका भृकुटि विलास हमारे लिये मधुररस की फाँसी है और आपकी मृदु, मन्दमुसकान जादूका-सा प्रभाव डालती हमें पंगुवत् कर दे रही है। हे रसोद्गम ! हम सभी आपाकी बिना मोल की दासी हैं। इस अति विषम विरह-व्याल के विष से हम आक्रान्त हो चुकी हैं; अपने अधरामृत-रससिंचन से हमें बचा लीजिये। हे प्राणसुन्दर ! आपके वियोग में यह भीषण विरहदावाग्नि हमें निश्चय ही जलाकर भस्म कर देगी ।

देखो, देखो ! कुछ गोपियाँ मालती, जाति, यूथिका आदि पुष्प लताओं से आलिंगित हुईं, उन्हें मना रही हैं। वे प्रिय अदर्शन से ऐसी ठगी हैं, मानो एक निर्धन को पहले अपार धनराशि प्राप्त हो जाय और तब कोई उसे लूट ले। उन्हें जड़-चैतन्य का बोध ही नहीं है । वे देहानुसंधान रहित हैं। इन विरहिणियों को सर्वभाव की दशा प्राप्त हो गयी है, अतः योगमाया के आवरण से जड़वत् दृष्टिगोचर होतीं तरुगुल्म, लतावल्लरियां गोपियों के लिये चैतन्य मूर्त्तियाँ ही हो उठती हैं।

हे मालति ! हे जाति यूथिके सुनि हित दै चित।
मान-हरन मन-हरन लाल गिरिधरन लखे इत।

हे केतकि ! इत तैं चितये कितहूँ पिय रूसे।
हे नँदनंदन ! मंद मुसकि तुम्हरे मन मूसे।
हे मुक्ताफल बेलि ! धरें मुक्तामनि माला।
निरखे नैन विसाल मोहने नँद के लाला।
हे मंदार उदार ! वीर करवीर महामति।
देखे कहुँ बलबीर धीर मन हरन धीर गति ।
हे चंदन! दुखकंदन! सब कहुँ जरत सिरावहुँ।
नँदनंदन जगबन्दन चन्दन हमहिं मिलावहु ।।
बूझहु री इन लतनि, फूलि रहिं फूलनि सोही।
सुन्दर पिय कर-परस बिना अस फूल न होहीं।
हे सखि ! ये मृगवधू, इनहिं किन बुझहु अनुसरि।
डहडहे इनके नैन अबहुँ कतहूँ चितये हरि।
अहो कदंब ! अहो अंब ! निंब, क्यों रहे मौन गहि,
अहो बट तुंग सुरंग बीर ! कहुँ इत उलहे लहि।
जमुन निकट के विटप पूँछि भइ निपट उदासी
क्यौं कहिहैं सखि ! महा कठिन ये तीरथ-वासी।

“अरी मालती ! ओ जाति ! अहो यूथिके ! अरी बहिनों ! हमारी व्यथाभरी बात तनिक आत्मीयता भरे मन से एकाग्र होकर सुनना । बहनों ! क्या तुमने समस्त चराचर भूत-प्राणियों के चित्त चुराने वाले हमारे प्राणनिकेत को इधर से जाते देखा है ? हे केतकि ! प्रियतम हमारे किसी अप्रिय व्यवहार को लेकर रूठ गये हैं। अरी बहिन ! तू अनमनी उदास क्यों हो रही है ? क्या उनकी त्रिभुवनमोहिनी मुसकान ने तेरा मन भी हर लिया है ? तू बताती क्यों नहीं ? क्या तेरा मन भी तेरे पास नहीं रहा ? अरी मुक्ताफली ! तेरी तरह वे भी मोतियों की माला धारण करते हैं, उन त्रिभुवनमोहन को क्या तूने कहीं देखा है ? अहा ! आकर्णविलम्बी उनके नेत्र कैसे विशाल और प्रेममदछके हैं। हे चंदन ! तुम तो अपने शैत्य गुण से सबका ताप हरने वाले हो। क्या तुमको हमारे प्रियतम का कुछ भी अन्वेषण है ? अरे भाई, तुम बोलते क्यों नहीं ? प्रियतम-प्राणवल्लभ तो जगत् वंदनीय हैं और तुम भी तापसंतप्त हृदय की सकल आर्ति हरण करने वाले हो, फिर उनका पता बताकर हमारे हृदयों को परम शीतलता क्यों नहीं देते ? अरी लताओं ! तुम तो अतिशय प्रफुल्लित हो।

अवश्य ही तुमने हमारे प्रियतम के असमोर्ध्व माधुर्य का किञ्चिदंश तो अवश्य ही देखा होगा ? तभी न, विलक्षण आनन्द में सब कुछ विस्मृत कर, भ्रमित-सी हो रही हो । अरी बहनों ! क्या तुम्हें उनका किंचित्संस्पर्श भी मिला है ? अरी, उनका तो सब कुछ परम विलक्षण ही है। अरी, प्रपंच-निर्माता के हाथों से ही विश्व की एक-से-एक अधिक विस्मयजनक वस्तुएं सृष्ट हुई हैं, परन्तु कभी एक भी ऐसी वस्तु निर्मित नहीं हुई जिसका अवलम्बन कर, वे भी हमारे प्रियतम-प्राणवल्लभ के अचिन्त्य स्वरूप-सौन्दर्य, माधुर्य एवं संस्पर्श-सौगन्ध्य की मादकता का अनुमान लगा सकें। यद्यपि हम गँवार गोपियाँ तो किसी प्रकार भी उनकी प्रीति की अधिकारिणी नहीं । फिर भी हम इतना अवश्य जानती हैं कि किसी की भी ऐसी शोभा तभी निखरती है जब वे या तो उसके दृष्टिपथ में आ जाते हैं अथवा उसे अपने मादक संस्पर्श से अभिभूत कर देते हैं।"

"अरी सखि ! इन मृगपत्नियों से भी पूछ देखें ! ये ही कुछ उनका हमें अनुसंधान दे दें। इनके विशाल बडे-बडे डह-डहे नेत्र अवश्य ही हमारे प्रियतम प्राणवल्लभ की शोभा का संस्पर्श पाकर अति उत्फुल्ल हो रहे हैं। तभी न इन हरिणियों के कण-कण में निराविल परमानन्द बिखर रहा है। हमारे प्रियतम की अमित माधुर्यराशि का बिन्दुमात्र ही सही, इन्होंने पान अवश्य किया है । हे कदम्ब ! हे आम्र ! हे निम्ब ! अहो ! तुम सभीने न जाने हम हतभागिनियों से क्यो चुप्पी साध रखी है ? हे उत्तुंग वटवृक्ष ! तुम ही कुछ बोल दो। क्या तुम्हें भी हम पर दया नहीं आती। हम अपनी खोयी निधि का अनुसंधान पाने, देखो, कैसी विकल एवं आतुर हुईं चतुर्दिक दौड़ रही हैं । कहाँ गये हमारे प्राणरमण सखा ?

गोपियों को जब इनसे कुछ भी उत्तर नहीं मिलता है तो वे अतिशय निराश हो जाती हैं। वे मान लेती हैं कि ये यमुना तटवर्ती तीर्थवासी वृक्ष पण्डा हैं, अत: ये परम स्वार्थी, दयाहीन हैं। इनका स्वभाव ही ऐसा है। अब वे धरादेवी की ओर उन्मुख होती हैं :-

हे अवनी ! नवनीत-चोर चितचोर हमारे
राखे कितै दुराइ, बतावहु प्रान पियारे
अहो तुलसि कल्याणि ! सदा गोविंद-पद-प्यारी
क्यों न कहति तू नँदनंदन सौं व्यथा हमारी।

अपने मुख चाँदने चलैं सुन्दरि तिन माँहीं
जहँ आवैं तम-पुंज, कुंज गह्वर तरु छाँहीं।
इहि विधि बन-बन बूझि ढूँढ़ि उनमत की नाँई
करन लगीं मन हरन लाल-लीला मन भाई।

अरी अवनि ! तेरे तृणहीन परमसुकोमल संकुलित भाग पर हमारे प्रियतम के पादपद्म अवश्य ही कहीं न कहीं अवस्थित होंगे। वे जहाँ कहीं भी, अतिशय कमनीय प्रेमभंगिमा धारण किये अपनी किसी प्रेमपात्री को रिझा रहे हों, तू उन्हें हमारी व्यथा अवश्य निवेदन कर दे । अरी, तू तो ठीक-ठीक जानती है कि वे मात्र नवनीत चोर ही नहीं हैं, हमारे चितचोर भी हैं। अरी बहिन तुलसी ! तुम तो परम कल्याणमयी हो। प्रियतम के चारु चरणों में निरन्तर संलग्न रहना ही तुम्हारा सनातन नियम है; तुम प्रियतम-चरण-चिन्हित -कानन के रजकणों में जन्मती हो, तुम्हारी उनके चरणकमलों में अक्षुण्ण प्रीति है- तुम हम पर कृपा करो। हमें उनका किञ्चित् अनुसंधान तो दो।"

इस प्रकार करुण कन्दन करती गोपांगनाएँ यमुना के किनारे का बालुकामय प्रदेश त्याग, सघन वन में प्रविष्ट हो जाती हैं।

किन्तु सहसा ही उन्हें उस सखी की बात याद आ जाती है जिसने कहा था कि उन्हें गहन वन में ढूँढ़ो भले ही, परन्तु कहीं वे तुम्हारे अन्वेषण से पलायन करते गहन कान्तार में प्रवेश कर गये तो -- उस कंटकाकीर्ण वन-पथ में चलने से उनको जो व्यथा होगी, उसको सर्वोपरि ध्यान में रख लेना। यह विचार करके गोपियाँ वहीं उस सुरम्य वन में अपने प्रियतम की रसमयी लीलाओं का अनुसरण करने लग जातीं हैं।

तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः ।
तद्गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः।। श्रीमदभ्ागवत ।।

हे जगत् के जीवों ! देखा तुमने, महज्जन चरण-रेणु की कृपा का चमत्कार। जो श्रीकृष्ण प्रकृति से परे की वस्तु हैं, जो स्वप्रकाश, परमानन्द-स्वरूप हैं, जिन्हें इन्द्रियाँ प्रकाशित कर ही नहीं सकतीं, मात्र कृपा परवश ही अपनी स्वप्रकाशिका शक्ति से किसी की बुद्धि में वे भले ही उतर आवें। जो स्थूल नहीं, अणु नहीं, क्षुद्र नहीं, विशाल नहीं, घन नहीं, द्रव नहीं,

छाया नहीं, तम नहीं, तेज नहीं, वायु नहीं, आकाश नहीं, रस नहीं, गन्ध नहीं, नेत्र नहीं, कर्ण नहीं, वाणी नहीं, मन नहीं, मुख नहीं, प्राण नहीं, माप नहीं, संग नहीं - इस प्रकार समस्त अपरमात्म, मायिक पदार्थों का निषेध कर ब्रह्मका प्रतिपादन करने वाली श्रुतियों के द्वारा जिनके सच्चिदानन्दस्वरूप का संकेत प्राप्त होता है; उनकी अपार कृपा के बल पर मुझे कैसी विलक्षण लीलाओं के दर्शन हो रहे हैं। मेरा मन इन महाभाग्य गोपियों का दर्शन ही नहीं कर रहा है, इनके परम गोपनीय से गोपनीय प्रेमभाव भी मेरे सम्मुख इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रकट हो रहे हैं मानो मैं इनके मन का साक्षी हो गया हूँ। उनकी कृपा से मैं एक-एक गोपी के भावों से अपने तृण-हृदय को भावित पा रहा हूँ, मानो मैं तृण नहीं रहा होऊं, मेरा पर्यवसान गोपीदेह में ही हो गया हो। अघटन-घटना-पटीयसी योगमाया ने अपनी किसी अनन्त कृपा के हेतु से ही मुझे यह तृण-भाव दिया है।

देखो, गोपियों का मन अपना मन रहा ही नहीं, स्वयं श्रीकृष्ण ही हो गया। उनके शरीर की प्रत्येक चेष्टा ही कृष्णमयी बन गयी। वे उनकी बोली बोलने लगीं। वे उनकी ही तरह चेष्टा करने लगीं और उनका गुण-गान करती उनकी लीलाएँ करने लगीं तथा उनमें निमग्न हो गयीं। उन्हें अपने शरीर का भान ही नहीं रहा। फिर घरों की स्मृति का तो प्रश्न ही कहाँ था ?

मोहन लाल रसाल की लीला इन्हहीं सोंहैं।
केवल तन्मय भई न जानैं कछु हम को हैं।
हरि की सी सब चलनि विलोकनि बोलनि हेरनि।
हरि की सी गायन टेरन घेरन पट फेरनि।
हरि की सी वन आवन गावन अति रसरंगी
हरि सम कौतुकरचन नटन नव ललित त्रिभंगी।
श्रीदामा बन भाग चढ़त कोउ कान्हर काँधे
कोउ यशुमति बन कान्ह दाम गहि ऊखल बाँधैं।
कोउ यमलार्जुन भंजत गंजत कालियबल कौं
कोउ कह मूँदहु नयन सोच नहिं दावानल को।
कोउ गिरिवर अम्बर को कर-धर बोलत है तब।
निधरक इहि तर रहौ गोप-गोपी-गोधन सब।

भृंगी भयतैं भृंग होय जब कीट महा जड़।
कृष्ण प्रेम तैं कृष्ण होइ तब का अचरज बड़।

देखो ! देखो ! यह पूर्णयौवना गोपी तीन वर्ष के वय की हो गयी है और नन्दनन्दन बनीं अपने अंगों में पुरुषोचित धोती धारण किये है। और इस दूसरी गोपी को देखो, इसने जननी यशोदा का आवेश ग्रहण कर लिया है।

लो, यह गोपी ठीक श्रीकृष्ण की तरह कौमार्य की चेष्टाएँ कर रही है। देखो ! इसने दूसरी गोपी को, जो विशालकाय साँड बनी डकार रही है-उसकी पूँछ पकड़कर उमेठना आरंभ कर दिया है और लो, अब तो यह साँड बनी गोपी की ग्रीवा पर, पीठ पर उछल कर चढ़ गयी है। यह उसके श्रृंगों को पकड़कर उससे विविध क्रीड़ा कर रही है। और यह दूसरी गोपी जो नन्दरानी बनी है, किस प्रकार भयभीत हुई इसे निवारण करने की चेष्टा कर रही है। इस गोपी की चाल, विलोकनि, दृष्टि, वाणी, बोली बोलने का ढ़ंग सब ठीक श्रीकृष्ण की ही तरह हो रहा है। उसके नाट्य में इतनी स्वाभाविकता है कि देखनेवाला आश्चर्य ही करेगा। अब देखो ! यह कृष्ण बनी गोपी जननी यशोदा बनी गोपी के सम्मुख हठ करती गा रही है।

मैया री मैं गाय चरावन जैहों।
तू कह, महरि ! नन्द बाबा सौं, बड़ो भयो न डरैहौं !!
श्रीदामा लै आदि सखा सब अरु हलधर सँग लैहौं।
दह्यौ भात काँवरि भरि लैहौं, भूख लगै तब खैहौं।
वंसीवट की शीतल छैंयां खेलन में सुख पैहौं।
परमानंद दास सँग खेलौं, जाय जमुन तट न्हैहौं !!

और यशोदा बनी गोपी का इस हठगान को सुनकर रोम-रोम आनन्द पूर्ण हो उठा है। परन्तु वह इतने नन्हें से नीलमणि को वन में गोचारण करने भेजेगी, इसकी तो वह स्वप्न में भी कल्पना नहीं करती । यह यशोदारानी बनी गोपी देखो किस प्रकार प्रसंग बदलकर अपने नीलमणि को सुलाने की चेष्टा कर रही है।

परम भाग्यवान् तृण देख रहा है, सम्पूर्ण वन में नाट्यवेश धारण किये असंख्य गोपियाँ अपने प्रियतम श्रीकृष्ण की असंख्य लीलाओं का अनुकरण जीवन्तवत् कर रही हैं। वे अपने प्रियतम-प्राणवल्लभ मनमोहन के परम

रसमय हावभाव से एकात्म हो चुकी हैं। वे अतिशय तन्मय हुई सर्वथा आत्म-विस्मृत कर गयी हैं कि हम गोपी हैं।

कृष्णजन्म लीलानुकृति

देखो । यहाँ व्रजेन्द्रगेहिनी, यशोदा सूतिकागार में नेत्र निमीलित किये चुपचाप निस्पन्द बैठी हैं। रोहिणी के भी नेत्र निमीलित हैं। अन्य समस्त परिचारिकायें भी निद्राभिभूत बाह्यज्ञानशून्य हो रही हैं। यशोदा के क्रोड़ से संलग्न सच्चिदानन्दकन्द हरि शिशुरूप में अवस्थित हैं।

देखो ! पुरमहिलाओं का दल नन्दप्रांगण में एकत्र होने लगा और तुमुल आनन्दध्वनि से सतिकागार ही नहीं, नन्दप्रासाद मुखरित हो उठा। देखो, देखो ये गोपियाँ गा रही हैं :-

नैन भरि देखो नन्दकुमार।
यशुमति कूख चन्द्रमा प्रकट्यौ या व्रज कौ उजियार ।।
बन जिन जाउ आजु कोउ गोसुत अरु सब गाय गुवार।
अपनें अपनें भेष सबै मिलि लावौ विविध सिँगार।।
हरद-दूब-अच्छत-दधि कुंकुम मंडित करो दुवार।
पूरौ चौक बिबिध मुक्ताफल, गावहु मंगलचार ।।

देखो, यह गोपी शहनाई बजा रही है। इसने पत्तों को मोड़कर पोले बाँस से शहनाई बनाई है। लो, ब्राह्मण आ गये। यह गोपी, व्रजेश उपनंद बनकर ब्राह्मणों का पूजन कर रही है। अहा, यह नन्दराय बनी गोपी कैसी आनन्दमत्त नृत्य कर रही है ? यहाँ कृष्णजन्म की लीला चल रही है। और इधर देखो; यह गोपी गा रही है :-

आज कहूँ ते या गोकुल में अद्भुत वर्षा आयी हो।
मणिगण हेम हीरधारा की ब्रजपति अति झरि लायी हो।
बानी वेद पढ़त द्विज-दादुर हियें हरषि हरियारे हो।
दधि घृत छीर नीर नानारँग बहि चले खार पनारे हो।

देखो ! इस रोहिणी बनी गोपी को देखो। यशोदानन्दन का मुख कैसे चाव से हेर रही है ? इसका रोम-रोम आनन्द में निमग्न है।

देखो, गीत गाती गोपी के नेत्रों से अविरल अश्रुधारा बह रही है। ये आँसू आनन्द के हैं:-

पटह-निसान-भेरि-शहनाई महा गरज की घोरें हो।
मागध-सूत बदत चातक-पिक बोलत बंदी-मोरें हो।
भूषन-बसन अमोल नंदजू नर-नारिन पहराये हो।
साखा फल-दल-फूलन मानो उपवन झालर लाये हो।
आनँदभरि नाचत ब्रजनारी पहिरें रँग रँग सारी हो।
बरन-बरन बादरन लपेटी विद्युत न्यारी-न्यारी हो।
दरिद्र-दावानल बुझे सबन के जाचक-सरवरपूरे
बाढ़ी सुभग सुजस की सरिता, दुरित-तीर-तरु चूरे।
उन्हयौ ललित तमाल बाल एक भई सबन मन फूल।
छाया हित अकुलाय गदाधर तक्यौ चरन को मूल ।।

अरे ! यह गोपी अपनी सखियों से क्या कह रही है :-

सखीकुल ! गोकुलराजं पश्य ! (सखियों ! गोकुलेश्वर नन्दजी को तो देखो।)

पुत्रोत्सवमनु खेलाभाजम् (पुत्रोत्सव के आनन्द में निमग्न होकर वे कितने चंचल, कितने कौतुक-परायण हो रहे हैं।

उदधिप्रभदधिसम्प्लवदेशम्
परितोघूर्णितमन्दरवेशम्
मध्यघटीफणिराजे कृष्टम्
हृद्यसुहृद्भिरतीव च दृष्टम्
मध्ये मध्ये दुर्लभदानम्
ददतं दधतं विस्मयभानम्
एकं पुनरलमभवदपूर्वम्
अजनि विधुः बत यदितः पूर्वम्।

(दिखो तो सही, बहनों ! यह सामने का दृश्य देखकर मुझे तो सागर मन्थन की स्मृति हो रही है । यह दही से भरा हुआ व्रज सागर जैसा हो गया है। उसमें मन्दर पर्वत के समान नन्दराय सर्वत्र घूम रहे हैं। उनकी कमर में लपेटा हुआ वस्त्र घृत-दधि से चिकना होकर, फूलकर ठीक वासुकि-नाग-जैसा बन गया है। उसे पकड़कर उनके प्रिय सुहृज्जन इधर-उधर खींच ले जा रहे हैं। देखो ! वे अतीव प्रसन्न हो रहे हैं। इतना ही नहीं जैसे समुद्र-मंथन के समय अनेकों रत्न निकल रहे थे, मन्दर-पर्वत सागर के रत्नों को निकाल-निकाल कर फेंक रहा था, वैसे ही ये नन्दरायजी बीच-बीच में रत्न-राशि लुटाने लग जाते हैं। अहा ! आज इनकी कैसी आश्चर्यमयी शोभा है ? परन्तु इस सागर-मंथन में एक अपूर्व बात हुई है। सर्वत्र प्रसिद्ध है -- चन्द्रमा मन्थन प्रारंभ होने पर- सागर मथे जाने पर निकले थे। पर नन्द का यह शिशुचन्द्र तो मन्थन होने के पूर्व ही प्रकट हो गया।)

पूतना लीलानुकृति

अरे, इस नन्दभवन की ओर जाती हुई गोपांगना को तो देखो ! यह पूतना बनी है। श्री मद्भागवतकार ने इसका जैसा वर्णन किया है, सांगोपांग इसने वही रूप धारण किया है । इसकी लहराती हुई वेणी में मल्लिकापुष्प गुम्फित हैं। वृहत् नितम्बभार एवं वक्षस्थल के कारण रमणी कृशोदरी है, सुन्दर साड़ी से इसके समस्त अंग आच्छादित हैं। हिलते हुए कर्ण-कुण्डलों की आभा से इसकी केशराशि दमक रही है। ऐसी दमकती हुई कुन्तलराशि से इसका मुख अलंकृत है; होंठों पर मन्द-मन्द मुसकान है। स्मितसमन्वित वक्र कटाक्ष-निक्षेप से व्रज-वासियों का मन हरण-सा करती हुई एक हाथ से कमलपुष्प घुमाती हुई वह मन्थरगति से चली जा रही है। अरे गोपियाँ इसे साक्षात् सर्व-सम्पद् अधिष्ठातृ श्रीदेवी समझकर, इसका स्वागत कर रही हैं। इसे कोई भी रोकता नहीं। निर्बाध वह वहाँ पहुँचती है जहाँ व्रजरानी बनी गोपी, शिशु बने नन्दनन्दन को लाड़ लड़ा रही है।

अरे, यहाँ तो शिशु का पालना-उत्सव हो रहा है।

कनक रतन मनि पालनो गढ़्यो काम सुतहार ।
विविध खिलौना भाँति के गजमुक्ता चहुँ धार ।।

जननि उबटि अन्हवाय कैं अति क्रम सौं लये गोद ।
पौढाये पटपालने सिसु निरखि-निरखि मन मोद।
अति कोमल दिन सात के, अधर-चरन-कर लाल।
सूर स्याम छबि अरुनता निरखि हरष ब्रजबाल।

अहा ! कैसा अभिनव स्वर्णमंडित एवं रत्नजटित पालना कामदेव नामक सुतहार(सुथार) ने निर्माण किया है । इसके चारों ओर गजमुक्ताओं के गुच्छ लटक रहे हैं। और इसकी ऊपर की दंडी में विविध भाँति के खिलौने लटके हैं। माता यशोदा ने कन्हैया को पहले उबटन करके फिर तैल लगाकर शास्त्रीय क्रम से पंचामृत आदि पदार्थों से नहलाया है। फिर पालने के पट पर सुन्दर सुकोमल गद्दी में सुला दिया है। श्रीकृष्ण मात्र सात दिन के ही वय के हैं। उनके दोनों चरण एवं दोनों हाथ लाल-लाल अरुणाई लिये हैं। यह अरुणाई ऐसी सुखद है कि गोपियाँ देख-देखकर निहाल हो रही हैं।

देखो ! रोहिणी आदि अनेक सखियों से घिरी यशोदा, श्रीकृष्ण बनी गोपी को चूम-चूम कर अति प्रमुदित हुई गीत गा रही है । यह राक्षसी बनी गोपी कुछ दूरी पर खड़ी हो जाती है। देखो, नन्दरानी बनी गोपी की दृष्टि इस पर पड़ जाती है। इस अतिशय दिव्य रमणी को देखकर वे चौंक जाती हैं। उसकी अभ्यर्थना करती हैं।

देखो, इस पूतना बनी गोपी के मुख पर पैशाचिकता का उल्लास छा जाता है। वह मधुमिश्रित स्वर में अपना परिचय देती है :-

"गोप्य: ! अहं मथुरावासिनी विप्रकामिनी। साम्प्रतं वाचिकवक्त्रेण मंगलसूचकम् तत्वम् श्रुतं। स्थविरे काले महान् नन्दपुत्र: बभूव इति। श्रुत्वा अहं तं द्रष्टुं आशिषं कर्तुम् ईप्सिताम् आगता ।"

"अरी गोपियों । मैं मथुरावासिनी ब्राह्मण-पत्नी हूँ । अभी संदेशवाहकों के मुख से परम मंगल सूचक समाचार सुन पायी कि नन्दराय को इस वृद्ध वय में सर्व सुलक्षण सम्पन्न पुत्र हुआ है; बस, यह सुनते ही मैं उसे देखने और अभिलषित आशीर्वाद देने चली आयी हूँ।" वह कहती ही चली जाती है और व्रजरानी एकटक उसकी ओर देखती रहती हैं।

"मम च सर्वश्रेयस्तननौ स्तनौ नित्यममृतं क्षरतः येन पीतेन सोऽयं निस्सन्देह सिद्धदेहः स्यात्। तस्मादहमस्य सर्वसुखविधातृधात्री च भविष्यामि।"

"मेरे इन सर्व मंगलदायी स्तनों से निरन्तर अमृत झरता है। जिसके पीने से तुम्हारे शिशु का शरीर अमर हो जायगा। अतः मैं तुम्हारे बच्चे की सर्वसुखदात्री धाय बनकर यह अमृतमय दूध उसे पिलाने आयी हूँ।"

देखो, निशाचरी यशोदानन्दन बनी गोपी की ओर बढ़ने लगी। वह तो निमीलित-नेत्र होकर पालने पर ठीक यशोदानन्दन श्रीकृष्ण की ही मुद्रा धारण कर शिशु-सुलभ-भंगिमा का सांगोपांग अनुकरण करती हुई, आँखें मूँदे है मानो ऐसी महादुष्टा का मुख देखना उसे अभिप्रेत नहीं हो। अहा ! यह गोपी तो मात्र श्रीकृष्णकी अनुकृति ही कर रही है, परन्तु इसके ध्यान में तो नन्दनन्दन पूर्णतया प्रतिचित्रित हैं ही, अतः इसके अञ्जन-निमीलित नेत्रों की शोभा तो देखते ही बनती है। यह अपने प्रियतम प्राणवल्लभ के बाल्यस्वरूप में इतनी तदाकार तन्मय है कि इसके मुख पर, नेत्रों पर, व्रजेन्द्रनन्दन के बाल्यसुलभ-भाव की हूबहू छवि झलमला उठती है। इसके नेत्रों को देखकर यही अनुभव होता है मानो नीलकमल-कोरकों की सम्पुटित अग्रिम पंखुड़ी पर दो मधुमत्त भ्रमर विश्राम कर रहे हों।

देखो ! यशोदा एवं अन्य गोपियों के देखते-ही-देखते यह राक्षसी अतिशय वात्सल्यपूर्ण प्रेमपूरित हाव-भाव का प्रदर्शन करके कंचुकी को अपसारित करती हुई नन्दतनय बनी गोपी के होठों पर दुर्जर विषसंसिक्त स्तनाग्र रख देती है। देखो, यह गोपी ठीक नन्दनन्दन की ही तरह चुक्-चुक् शब्द करती हुई दूध पीना आरम्भ कर देती है। पर यह केवल दूध ही नहीं पीती, यातुधानी बनी गोपी के मानो मलिन प्राणों को भी पीने लग जाती है। दो ही चार क्षणों में यातुधानी बनी गोपी ऐसा नाट्य करती है, मानो वस्तुतः ही उसके समस्त मर्मस्थानों में अतिशय पीड़ा होने जा रही हो। "अरे छोड़ ! छोड़ दे रे" - कहती वह यशोदानन्दन बनी गोपी को वक्षस्थल से उठाकर अलग दूर फेंक देना चाहती है। परन्तु इस गोपी ने तो उसके स्तनों को अत्यन्त दृढ़तापूर्वक पकड़ लिया है । वह अपना सारा बल लगाकर छुड़ाने की चेष्टा करती है परन्तु तो भी हाथ तो छूटते ही नहीं। अब तो मर्मान्तक व्यथा से वह हाथ-पैर पटकती हुई भयंकर चीत्कार करने लगती है।

देखो, यह गोपी मायाविनी का नाट्य करती उड़ने का अभिनय करती है । अब तो उसकी शक्ति समाप्त हो चुकी है; वह निष्प्राण होकर गिर पड़ती है। गोपांगनाएँ यशोदानन्दन बनी गोपी को उठाकर तुरन्त छाती से लगा लेती हैं ।

शकटभंजन लीलानुकृति

अब देखो, यहाँ हो रही- शकटभंजन लीला की शोभा देखें।

इस गोपी में, जो श्रीकृष्ण बनी है, अपने अंगुष्ठ-क्षरित्-रस की महिमा का तत्व जानने की तीव्र इच्छा, उस रस के पान का अदम्य लोभ जाग्रत हो उठा है। अहा, इतनी वयस्क होकर भी वह अपने अंगुष्ठ को पी-पीकर कितनी प्रसन्न हो रही है। अरे भाई, तुम्हारी फूटी आँखें इसे गोपी देख रही हैं, यह है तो एक अभिनव बालभंगिमा का प्रकाश करने वाले, अपनी ही बाललीला-माधुरी का स्वयं ही रसलेने वाले नन्दनन्दन। अभी तक तो ये शय्या पर उत्तानशायी होकर किलक रहे थे। हठात् इन्होंने अपने आप अपनी दाहिनी ओर करवट ले ली। फिर क्या था, इनको करवट के बल सोये देखकर यशोदा, रोहिणी आदि धात्रियों के हृदय में आनन्द का सागर उमड़ पड़ा। एक ही साथ गोपियाँ हर्ष की तुमुल-ध्वनि से प्रांगण को निनादित करती नाच उठीं। नन्दरानी का तो रोम-रोम उत्फुल्ल हो उठा। वे दौड़ी आयीं। पुत्र का मुख-चुम्बन करती सुख-समुद्र में डूबने-उतराने लगीं। औत्थानिक उत्सव की धूमधाम में ही नन्दनन्दन इस शकट के नीचे आ गये हैं। नन्दराय के रत्न-प्रांगण में ही यह वृहदाकार शकट रखा हुआ है, उसके नीचे सुन्दर दोलिकामञ्च (पलना) टँगा है। इसके पाये प्रवालनिर्मित हैं। पट्टियाँ मरकतमणि-रचित हैं। अरुण क्षौम (रेशम) की डोरी एवं फीतें हैं, तूलपुष्ट (रुई भरा) आस्तरण बिछा है। चतुर्दिक इसके तूलनिर्मित उपधान (तकिये) लगे हैं । इसी पलने पर माता यशोदा इन्हें सुला गयी हैं।

लो, यह उत्कच बनी गोपी भी आ गयी। अहा, यह वायु की लहर का कैसा कृत्रिम प्रदर्शन अपने नाट्य में कर रही है। शकट के नीचे अकेले किलकते, अंगुष्ठ-रसपान-संलग्न नन्दपुत्र को यह उत्कच बनी गोपी निहारने लगती है। देखो ! यह मन्दस्वर में बुदबुदाती बोल रही है- "पूतना का प्राणहरण करने वाला बालक यही है। यह इस महान शकट के नीचे अवस्थित

है, इसके सम्मुख जाकर इसके प्राण ले-ले, ऐसा तो किसी भी प्राणी के लिये संभव नहीं दीखता। छद्म करके पूतना मर ही चुकी है, अत: छद्म भी मेरे लिये निरापद नहीं है। इसीलिये अलक्ष्य रहकर मैं अपने उद्देश्य की सिद्धि करूँ- यह विचार करता उत्कच उस शकट को दबाने लगता है । 'चरमर' 'चरमर' शब्द करता शकट कम्पित होने लगता है।

सहसा नन्दनन्दन के चरण उछालने से उनका एक चरण-भाग शकट से स्पर्श कर जाता है। शकट अकस्मात् आकाश में उछलता है, और गिर पड़ता है। उसकी चोट से उत्कच चूर्ण-विचूर्ण हो जाता है, वायु देह छोड़कर दिव्य देह से बालक्रीडासक्त गोलोकविहारी नन्दनन्दन को वह प्रणाम करता है, और विमान पर आरूढ़ होकर गोलोक को प्रस्थान कर जाता है।

देखो, उपनन्द जी एवं उत्सव करती गोपमण्डली - 'नारायण, नारायण, त्राहि, त्राहि, दयासिन्धो ! करुणामय ! जगत्पते ! रक्षा करो, रक्षा करो,- पुकार उठती है। व्रजेन्द्र गद्गद् कण्ठ से "नारायणाखिल गुरो भगवन्नमस्ते !" कहते बालक को उठाने लगते हैं। रोहिणी यशोदाजी को तुरन्त सूचना देती है कि श्रीकृष्ण सुरक्षित हैं। यशोदा रानी बालक को स्तनपान करा रही हैं।

मल्ललीलानुकृति

और देखो ! यहाँ मल्ललीला हो रही है। दो प्रबल मल्ल हैं, एक बलराम बनी गोपी और दूसरी श्रीकृष्ण बनी गोपी। दोनों में अभूतपूर्व बाल्यभाव है। देखो बाललीला-रस-पान से छकी इन व्रजांगनाओं के लिये समस्त अमृत-राशि निस्सार हो चुकी है। हे जगत् के जीवों ! जिन तुच्छाति तुच्छ वैषयिक सुख की वासना- जिसमें तुम आपातत: लिप्त हो, उसके आकर्षण का तो इनमें प्रश्न ही नहीं, योगीन्द्र-मुनीन्द्रवांछित मुक्तिसुख भी इन के इस लीलानन्द की तुलना में इन्हें नमक सा कटु प्रतीत हो रहा है।

देखो, इन गोपियों का आनन्दवर्धन करते हुए श्रीकृष्णचन्द्र बाहुक्षेप करते- ताल ठोंक रहे हैं। उस समय गोपियाँ कह बैठती हैं - "नीलमणि ! तेरी अपेक्षा तो राम में बल अधिक है।" यह सुनते ही देखो, श्रीकृष्ण बनी गोपी अपने चूर्ण-कुन्तल-मण्डित सिर को किस प्रकार हिला-हिलाकर असम्मति

प्रकट करने लगती है। देखो, यह रोहिणीनन्दन राम बनी गोपी भी अपने अनुज की ओर देखकर कैसी निर्मल स्वाभाविक बाल हँसी हँस रही है। गोपांगनाएँ दोनों को पुचकार कर पास खड़ा कर दे रही हैं और स्वयं दो मण्डलों में विभक्त हुई एक मण्डली श्रीकृष्ण बनी गोपी का पक्ष ले रही है और दूसरी बलराम बनी गोपी का। फिर तो अपनी-अपनी भुजायें फैलाकर दोनों लिपट पड़ते है। परस्पर एक दूसरे के प्रति अपना प्राबल्य दिखाते हुए से कभी श्रीकृष्ण ऊपर तो राम नीचे और राम ऊपर तो श्रीकृष्ण नीचे - इस प्रकार एक परममनोहारी अभिनव मल्लक्रीड़ा दोनों में सम्पादित हो रही है।

माखनचोरी लीलानुकृति

लो, इस सखी का आवेश तो देखो। यह मनोरथ कर रही है :- "हे मेरे प्राणवल्लभ ! कभी तो मेरे घर भी आओ। मेरे घर का नवनीत ग्रहण करो। यदि मेरे सम्मुख रहने पर तुम्हें संकोच हो तो नाथ ! मैं दधिमंथन करके सद्य-सुमिष्ट मक्खन निर्माण कर, तुम्हारे लिये छींके में रख कर इधर-उधर चली जाऊँगी। तब तुम आना, मेरे घर पर बैठकर अपने सखाओं के सहित यथारुचि मक्खन आरोगना। मैं यह तुम्हारी लीला छिपकर देखूँ और देख-देखकर निहाल हो जाऊँ। हे भगवान नारायण ! कृपा करो ! हाय ! मेरी यह साध पूरी कर दो ।"

ग्वालिन तो इधर अपनी जान में अपने मन के ये भाव भगवान् की घर में राजित प्रतिमा के सम्मुख गुप्त रूप में, प्रार्थना के रूप में प्रकट कर रही है; परन्तु देखो, ये एक दूसरी गोपी के रूप में बने अनन्तैश्वर्यनिकेतन भक्तवाञ्छाकल्पतरु, प्रेम के भूखे उसके प्रियतम श्रीकृष्ण स्वयं सुन रहे हैं और मन-ही-मन लो 'तथास्तु' उनके मुख से निकल ही तो जाता है।

देखो, यह गोपी यंत्र-परिचालित सी दही-बिलौना कर रही है। इसके हाथ ही दधिमंथन कर रहे हैं, परन्तु मन तो द्वारदेश में ही अटका है, रह-रह कर उसे भ्रम होता है मानो श्रीकृष्णचन्द्र उसके द्वार पर खड़े हैं। वह विस्फारित-नेत्र उधर ताकती है, परन्तु द्वार सूना पाकर पुन: अपने भावों में डूब जाती है।

परन्तु वाञ्छाकल्पतरु स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन वस्तुत: ही उसके मनोरथतन्तु में बँधे उसके घर की ओर चल पड़ते हैं। जननी लपककर उन्हें थाम लेती है परन्तु अतिशय चेष्टा करके भी पक्वान्न-मिष्ठान्न वे उन्हें नहीं

खिला पाती हैं; केवल मात्र किंचित् माखन ही उसके मुख में डाल सकी हैं। आज क्षणभर का भी विलम्ब उसके कन्हैया को सर्वथा असह्य हो रहा है । वे जननी का हाथ छुड़ाकर अन्तत: भाग ही जाते है। यशोदा मैया भी आश्चर्यचकित है क्योंकि नीलमणि को बाहर जाने के लिये इतना व्यग्र उन्होंने प्रथम बार ही देखा है।

बलराम एवं अन्य गोपबालक घर से उनके साथ अवश्य चले थे किन्तु पथ में सभी पीछे रह गये। भ्रान्त होकर दूसरी और बढ़ गये। श्रीकृष्णाचन्द्र निर्बाध एकाकी ग्वालिन के घर पर पहुँच गये हैं। ग्वालिन ने इस बार ज्यों ही द्वार की ओर देखा - "हैं ! नन्दनन्दन तो मेरे द्वार पर खड़े हैं। ओह, यह रूप !" ग्वालिन के प्राणों में स्पन्दन होने लगता है। पर वह जानती है कि क्षणभर का वियोग उसके मनोरथ को छिन्न-भिन्न कर देगा। ग्वालिन विद्युद्गति से अपने को एक मणिस्तंभ के पीछे छुपा लेती है।

देखो, श्रीकृष्ण बनी गोपी कैसी चुपचाप घर के भीतर प्रवेश कर जाती है। मथानी के निकट शान्त, मौन होकर बैठ जाती है और इस गोपी की कैसी दशा है। इसे तो मानो सचमुच ही श्रीकृष्ण के दर्शन हो गये हों। यह मतवाली होकर गा रही है -

मुख पर चंद डारौं वारि
कुटिल कच पर भ्रमर वारौं, भौंह पर धनुवारि।
भाल केसर तिलक छबि पर मदन शत-शत वारि।
निरख कुंडल तरणि वारौं, कूप श्रवणन वारि।
झलक ललित कपोल छबि पर मुकुर डारौं वारि।
नासिका पर कीर वारौं अधर विद्रुम वारि।
दसन पर कनि वज्र वारौं बीज दाड़िम वारि
चिबुक पर चित वित्त वारौं प्रान वारौं डारि।
सूर प्रभु की निरख शोभा को सकै जु निहारि ।

लो, अब यह सौन्दर्यसागर मानो तरंगित हो उठता है। श्रीकृष्ण नवनीत चोरी की लीला करने चलते हैं। चंचल नेत्रों से एक बार वे द्वार की ओर देखते हैं फिर पात्रों में से माखन निकालकर खाने लग जाते हैं। सहसा मणिस्तंभ में उन्हें अपना प्रतिबिम्ब दीख पड़ता है । उन्हें प्रतीत होता है मानो मेरे आने से पूर्व ही एक अन्य शिशु यहाँ आया है और मणिस्तंभ से

सटा बैठा है । देखो, देखो श्रीकृष्ण कैसे भयग्रस्त हुए इसे मना रहे हैं। वे इसे अपने हाथ का मक्खन उत्कोच रूप में देना चाहते हैं। लेकिन खंभ से टकराकर नवनीत नीचे भूमि पर गिर जाता है। वे उसे पुनः समझाते हैं। "देख, इस प्रकार मक्खन फैंकते थोड़े ही हैं। खाले, भाई, हम दोनों मित्र हैं।

नन्दनन्दन की इस प्रकार की मुग्धलीला देखकर ग्वालिन के हृदय में प्रेमसमुद्र लहराने लगता है। उसके धैर्य का बाँध टूट जाता है। आनन्द पूरित हँसी के रूप में वे ऊर्मियाँ बाहर प्रकट हो जाती हैं। वह स्तंभ की ओट से बाहर निकल आती है। श्रीकृष्णचन्द्र भी ग्वालिन को देख लेते हैं। एक अप्रतिम सुमधुर संकोच की छाया नन्दनन्दन के मुख को आवृत कर लेती है, साथ ही वे तुरन्त उठकर कुञ्जवीथी की ओर भाग चलते हैं।

वह बड़भागिनी गोपी तो आत्मविस्मृत है। वह विक्षिप्त सी घर से बाहर निकल पड़ती है । उसकी विचित्र दशा है । उसके रोम-रोम से आनंद झर रहा है। वह दूसरे ही मनोराज्य में रह रही है। इस शरीर में आवे तो कोई बात बतावे। उन्मत्त सी मौन इधर-उधर वह घूम रही है।

दामोदर लीलानुकृति

अब यहाँ और ही छबि देखें। श्रीकृष्णचन्द्र जननी के अपराधी हैं। जननी उनका एक हाथ पकड़े उन्हें भवन की ओर ले चलती हैं। श्रीकृष्णचन्द्र बनी गोपी देखो, कैसी बाल्यवत् अश्रुमार्जन कर रही है । उसके नेत्रों में लगा काजल अश्रुप्रवाह से धुल-धुलकर कपोलों को सिक्त कर रहा है। रुक-रुककर दूसरे हाथ से वह अश्रुमार्जन करने लगती है। भय-विह्वल नेत्रों से वह गोपी बारबार सिर उठाकर जननी बनी गोपी के मुख की ओर देखती है। किन्तु जननी बनी गोपी आज दया का लेश भी प्रकट नहीं कर रही। बार-बार वह स्वर्ण छड़ी को ऊपर उठाती है तथा ऐसी मुद्रा बनाती है मानो आज वह इस छड़ी से निश्चय ही श्रीकृष्ण के सुकोमल अंगों पर प्रहार करेगी ही। देखो श्रीकृष्ण बनी गोपी आकुल-कण्ठ से पुकार उठती है- मेरी मैया ! अब मैं ऐसा कभी नहीं करूँगा। किन्तु जननी बनी गोपी का हृदय तनिक भी नही पसीजता। और भी रोषभरी वाणी में वह उसकी भर्त्सना करने लगती है। 'अरे चञ्चलमति ! रे क्रोधी ! रे लोभी ! अरे वानरबन्धु ! रे असद्वाक्

विद्यावाचस्पति ! रे गृहलुण्ठनकारी ! बहुत उत्पात मचाये है। आज उन सब अपराधों का दण्ड मैं तुझे अवश्य दूँगी। चल, बता, कहाँ हैं तेरे खिलौने ? सब लाकर मुझे दे दे। मैं सारे खिलौने ले लूंगी। और फिर देख, इस छड़ी की ओर।" इस प्रकार जननी शमन को भी भय देने वाले विश्वभयहारी श्रीकृष्णचन्द्र को भय दिखाने लगती है । व्रजेन्द्रनन्दन का यह करुणक्रन्दन पार्श्ववर्ती आभीर सुन्दरियों के कानों में जा पहुँचता है। सबसे पहले देखो, यह वृद्धा गोपी व्रजेश्वरी को सीख देने आयी है। देखो ! वह कैसी रोषभरी यशोदा को डाँट रही है और गोपियाँ भी उसके साथ ही नन्दनन्दन का पक्ष लेने जा रही हैं :-

"अरी यशोदे ! तू किंञ्चित् से दधि के लिये इस नन्हें से बालक पर इतना क्रोध कर रही है, तनिक इसके मुख और शरीर की ओर तो देख ? अरी देख, यह तेरी इस लकुटी के भय से ऐसा काँप रहा है मानो प्रातः ही पंकजकोश मृणाल सहित वायु से कंपित हो रहा हो। अरी ! देख ! यह मुख नमित किये है, किन्तु इसके संकुचित अधरों से इसके भीतर की रोष एवं ग्लानि स्पष्ट परिलक्षित हो रही है। अरी, तू जरा से गोरस के लिये ऐसे मुखारविन्द का अपमान कर रही है, जिस पर प्राण भी न्यौछावर कर दिये जायें तो थोड़े हैं।"

आभीरसुन्दरियों ने, व्रज की वृद्धाओं ने, सभी ने श्रीकृष्णचन्द्र को जननी के अनुशासन से मुक्त कराने का अधिकतम प्रयास किया, किन्तु उन्हें यही उचित प्रतीत हो रहा है कि घड़ी-दो-घड़ी के लिये इसे बाँध ही दिया जाय। अतः सब की अवहेलना कर वे श्रीकृष्णचन्द्र को बाँधने चलती हैं।

सुनलो ! जगत के जीवों, सुनलो !! मुझ तृण पर, सर्वथा दीन, साधनहीन, असमर्थ पर -- जो न देव है, न दानव है, जो नर भी नहीं है, जिसके तप की, निग्रह की, ध्यान की ,भजन की संभावना ही नहीं है, जिसमें योग्य बुद्धि ही नहीं है कि तत्व-विचार आदि कर सके, जिसमें मन नहीं है कि प्रेमप्रीति कर सके, स्थूल इन्द्रियाँ ही नहीं हैं कि दृश्यसुख को अनुभव सके, जिसकी एक ही गति है कि वह किसी चतुष्पाद का मात्र भोजन बन जाय-- उस के ऊपर कृपावारिधि नीलसुन्दर की कैसी विलक्षण अनुग्रह वर्षा हो रही है। उसके सम्मुख शान्तरति, दास्यरति, वात्सल्यरति, सख्यरति और माधुर्यरति जन्य पाँचों प्रकार की सर्वोच्च भगवल्लीलायें व्यक्त हो रही हैं। आनन्दसिन्धु उमड़ रहा है और उसका हेतु क्या है ? मात्र निरीह चाह ?

महज्जनचरण-रज का आश्रय ? किंवा कृपा की आकांक्षा ? नहीं, नहीं, ऐसा कोई भी हेतु सिद्ध नहीं होता। हेतुरहित मात्र अनुग्रह, मात्र अनुग्रह, केवल अनुग्रह की भी प्रतीक्षा और कुछ नहीं।

तो शास्त्र कहते हैं जिन, श्रीकृष्णचन्द्र में न बाहर है, न भीतर है जिनका न आदि है न अन्त; त्रिकाल-सत्य-तत्व होने के कारण जिनमें काल-कृत परिच्छिन्नता भी नहीं है; जो अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों के सृजन से पूर्व भी विराजित थे, और इन सबके विलय हो जाने पर भी विराजित रहेंगे; जो अनन्त ब्रह्माण्डों के अन्तराल में अवस्थित हैं, साथ ही उनके बाहर भी ज्यों-के-त्यों विराजित हैं; जो स्वयं ब्रह्माण्ड बने हुए हैं- उन अचिन्त्यस्वरूप, साथ ही अधोक्षज (इन्द्रियों के गोचर) नराकृति परमब्रह्म श्रीकृष्णचन्द्र को अपना उदर-जात पुत्र मानकर, जैसे कोई काष्ठ पुत्तलिका को बाँधने चले- इस प्रकार यह व्रजमहिषी बनी गोपी बाँधने जा रही है और यह श्रीकृष्ण लीला करती श्रीकृष्ण बनी गोपी बँध रही है। सांगोपांग लीला हो रही है।

बन्धन का अर्थ ही है कि किसी ओर-छोर वाली सीमित वस्तु को उसकी अपेक्षा अधिक विस्तार वाली वस्तु से वेष्टित कर दिया जाय, लपेट दिया जाय। फिर अनन्तानन्त श्रीकृष्ण को लपेटने के लिये उनसे बड़ी वस्तु माता कहाँ से पायेगी ? यह तत्वज्ञान वात्सल्य-रसघन-मूर्ति यशोदारानी को कभी समझ में नहीं आ सकता । ये भाव उनके अन्तस्तल को कभी स्पर्श ही नहीं कर पावेंगें। वे तो प्रत्यक्ष ही, प्रतिदिवस ही उन असीम को अपनी भुजाओं में बाँध लेती हैं और इस समय भी उस असीम का एक परम सुकोमल हाथ वे अपनी मुट्ठी में पकड़े हैं। फिर उसका उदर-बंधन कर पावें ऐसी वस्तु की खोज भी उन्होंने तत्क्षण ही कर ली। उन्होंने अपनी वेणी से वेणीबन्धन की सुकोमल कृष्ण-पट्ट-डोरी निकाल ली और उससे वे श्रीकृष्णचन्द्र का कटिदेश सचमुच ही लपेट देती हैं।

और देखो, इन श्रीकृष्ण बने गोपी की भयग्रस्त आँखें तो देखो। और देखो इसका आवेश ? यह उच्चस्वर से बार-बार पुकारने लगती है - "अरी रोहिणी मैया ! दौड़, देख मैया मुझे बाँध रही है; तू मुझे छुड़ाले !" परन्तु आज तो उसकी पुकार पर रोहिणी भी नहीं आ रही, वे जो उपनन्दजी के घर किसी कार्य से गयीं हैं।

यस्य ह वाव क्षुतपतनप्रस्खलनादिषु विवशः सकृन्नामाभिगृणन् पुरुषःकर्मबंधनमञ्जसा विधुनोति यस्य हैव प्रतिबाधनं मुमुक्षवोऽन्यथैवोपलभन्ते ।।

जिनके नाम को केवल एक बार ग्रहण कर लेने मात्र से -- छींकने, गिरने, फिसलने के समय, विवश होकर एक नाम एक बार उच्चारण कर लेने मात्र से मनुष्य का अनादि कर्मबन्धन उसी क्षण छिन्न-भिन्न हो जाता है-ऐसा कर्मबन्धन जिसे मुमुक्षु पुरुष योगसाधनादि बड़े-बड़े उपायों के द्वारा बड़ी कठिनाई से काट पाते हैं, वह तत्क्षण नष्ट होजाता है; जिसके नाम की इतनी महिमा है -- वे श्री कृष्ण आज जननी के भावी बन्धन से मुक्त होने के लिये रो-रोकर पुकार रहे हैं, फिर भी उनकी रक्षा नहीं हो पा रही है। श्रीकृष्ण ! बलिहारी है तुम्हारी विश्वविमोहिनी लीला की !

यहाँ उपस्थित गोपसुन्दरियों को तो अवश्य ही श्रीकृष्णचन्द्र का यह क्रन्दन असह्य हो गया है, वे व्रजेश्वरी को समझा रही हैं -

अहो जसोदा ! कत त्रासति हौ, यहै कोख को जायौ
बालक अजौं अजान, न जानै केतिक दह्यौ लुटायौ
तेरौ कहा गयौ ? गोरस कौं गोकुल अंत न पायौ
कहा भयौ जो घर कैं लरिका चोरी माखन खायौ

परन्तु नन्दरानी तो मानती ही नहीं। श्रीकृष्णचन्द्र बनी गोपी भी कैसी बाल्यलीला कर रही है, कभी बन्धन के भय से जोर लगाकर मैया के हाथ से छूटना चाहती है - कभी भूमि पर पसर जाती है, कभी जननी के पृष्ठ देश की ओर छिप रही है; परन्तु न तो जननी हाथ ही छोड़ती है और न बाँधने का आग्रह । एक हाथ से श्रीकृष्ण को दबाये रखकर दूसरे हाथ से पट्ट-डोरी को उनकी कटि में लपेटने की चेष्टा में लगी है। डोरी कमर के चतुर्दिक लिपट भी जाती है परन्तु गाँठ नहीं लग पाती, दो अंगुल छोटी हो जाती है। क्षणभर के लिये मैया रुकी, परन्तु अपराधी पुत्र को बाँधकर शासन तो उन्हें करना ही है ! ऐसा निश्चय कर दूसरी डोरी पुनः वेणी से निकाल लेती हैं और उसे पहली में जोड़ देती हैं; परन्तु ज्यों ही पुनः उदर पर यथास्थान

बाँधती हैं वह भी पुनः दो अंगुल छोटी हो जाती है। इसे किंचित् और बडी बना लूँ - ऐसा विचार कर अपनी कबरी में से तीसरी डोरी भी निकालकर जोड़ लेती है, परन्तु इस बार भी पृष्ठ बँधता नहीं, गाँठ नहीं लगती। इस बार भी पुनः दो ही अंगुल का व्यवधान हो जाता है। अब तो मैया को अत्यधिक आश्चर्य हो रहा है। क्योंकि पहली डोरी ही पर्याप्त थी, फिर दूसरी जोड़ ली, तीसरी भी जुड़ गयी, मैया के पूरे केश ही निर्बन्ध हो गये, परन्तु डोरी तो छोटी की छोटी ही थी। कुछ भी कारण हो, मैया के पास इस सब में बुद्धि लगाने का अवकाश ही कहाँ है ? परन्तु कबरी में तो अब डोरी हैं नहीं; श्रीकृष्ण को छोड़कर दूसरे स्थान से सुकोमल डोरी ले आना संभव भी नहीं; अब क्या हो ? ब्रजेश्वरी और कोई उपाय न देखकर गोपियों से कहती हैं - "मेरी उस मणि-पेटिका में ऐसी अनेक डोरियाँ पड़ी हैं, उन्हें ला तो दो, आज तो मैं इसे बाँधकर ही छोड़ूँगी।

गोपसुन्दरियाँ एक बार पुनः श्री कृष्ण के अनिन्द्य-रूप-सौन्दर्य की ओर मैया का ध्यान आकर्षित करती हैं जिससे उनका रोष शान्त हो जाय-

चितै धौं कमंल-नैन की ओर
कोटि चन्द वारौं मुखछवि पर, ऐ हैं साहु के चोर
उज्ज्वल अरुन असित दीसति हैं दुहुँ नयननि की कोर
मानौ सुधा पान कैं कारन, बैठे निकट चकोर
कतहीं रिसति जसोदा इन सौं, कौन ग्यान है तोर
सूर स्याम बालक मनमोहन, नाहिंन तरुन किसोर

किन्तु ब्रजरानी आज तो उन पर भी क्रुद्ध हो जाती है - "देखो ! तुम सबकी शिक्षा की मुझे आवश्यकता है नहीं। मैं चाहती हूँ पट्ट-डोरियाँ ला दो; नहीं ला सको तो चुपचाप शान्त बैठी रहो। तुम्हें यह सहन नहीं हो रहा हो तो नेत्र बन्द कर लो, अपने घरों को लौट जाओ, मैं तो इसे आज बाँधकर ही रहूँगी।

सभी गोपसुन्दरियाँ हतप्रभ हैं। आज प्रथम बार ही ब्रजरानी को इन्होंने इस प्रकार कुपित देखा है। कुछ गोपियाँ तो डोरी लाने दौड़ गयीं, परन्तु एक गोपी जिसे मैया की बात पर अत्यधिक रोष आता है उसे प्रकट न कर झुँझला

कर यशोदारानी का मन्थनरज्जु, जिससे वे अपने प्राणप्रिय नीलमणि के लिये प्रतिदिन दधिमंथन करती थीं - लाकर उनके हाथ पर रख देती है और व्यंग में भरकर कहती है -"नन्दगेहिनी ! यह पर्याप्त लम्बी है, उन पट्टडोरियों में इसे जोड़ लो।" ब्रजरानी उस गोपी के व्यंग को जान तो जाती हैं, परन्तु बाँधने की त्वरावश कुछ भी उत्तर नहीं देतीं। मन ही मन उस अति मोटी रस्सी को देखकर कहती हैं - "ठीक बहिन ! तुमने वास्तव में ही उचित वस्तु ला दी।" वह मन्थन रज्जु सुचिक्कण था। यद्यपि स्थूल तो अधिक था परन्तु लम्बा पर्याप्त था। पट्ट डोरियों में उसे भी सन्नद्ध कर लिया गया, तब भी महान आश्चर्य, अतिशय आश्चर्य !! इतने सुदीर्घ लम्बे मन्थनरज्जु के जुड़ने पर भी पूर्ववत् वही दो अंगुल की न्यूनता देखकर अब तो मैया के विस्मय का पार ही नहीं रहता। इधर उपस्थित गोप सुन्दरियाँ सभी खिल-खिलाकर हँस रही हैं। कुछ नव तरुणियाँ जो वाचाल थीं, कहती हैं -"ब्रजेश्वरी ! जब हम उलाहना देने आया करती थीं - तभी हमने तो तुमसे कहा था कि यह कोई उत्कृष्ट मोहिनीविद्या जानता है और इसी विद्या के सहारे जब यह नवनीत आदि चोरी करने जाता है तो चोरों के सिद्धदेव कफल्लक को भी मात कर देता है। क्योंकि इस मोहिनीविद्या के बल से इसे न तो कोई बाँध सकता है, न ही पकड़ सकता है; यह मनमानी करता है। यह चोराग्रणी आज इसी विद्या के बल पर देखो, तुम्हारे बन्धन में भी नहीं आ रहा है।"

इन तरुणियों के उत्तर में यशोदा कहती हैं - "नहीं, नहीं, मुझे बतलाने की आवश्यकता नहीं ; मैं अच्छी प्रकार जानती हूँ कि इस नीलमणि का बन्धन क्यों नहीं हो पा रहा है। यह उसकी मोहिनीविद्या का नहीं, तुम्हारी किसी निन्दनीय विद्या का चमत्कार है।"

ब्रजेश्वरी का यह आक्षेप सुनकर क्या तरुणी, क्या वयस्का सभी अट्टहास करके हँस पड़ती हैं। गोपियाँ ब्रजरानी के चरणों की शपथ खाकर निषेध करती हैं।

इतने में वे गोपियाँ जो यशोदारानी की मणिमंजूषा से पट्ट डोरियाँ निकालने गयी थीं, वे बहुत सी डोरियाँ ले आती हैं। डोरियों की अगणित संख्या देखकर मैया का उत्साह बढ़ जाता है। वे उसी पूर्व रज्जु में पुन: माप कर कि मात्र दो अंगुल की ही कसर है, अनेक डोरियाँ एक साथ जोड़ती हैं परन्तु परिणाम एक ही सामने आता है कि बन्धन दो अंगुल छोटा हो जाता है। गोप सुन्दरियाँ तो हँसती ही हैं, अब तो मैया भी चकित हुई हँसने लगती

है। सभी अतिशय आश्चर्य कर रही हैं। मैया के घर में जितनी डोरियाँ थीं सब मिला लेने पर भी दो अंगुल का अन्तर समाप्त नहीं हो रहा। अब तो सम्पूर्ण नन्दग्राम से, वृहद्वन से डोरियाँ आने लगीं। अतिशय आनंद कौतूहल से घर घर से गोपियाँ जितनी घर में डोरियां मिलती हैं, ले आती हैं। श्रीकृष्णचन्द्र के इस अद्‌भुत चरित्र को देखने की अभिलाषा में समस्त ग्राम की ब्रजवधुएँ दौड़-दौड़कर नन्दभवन इकट्ठी हो गयी हैं। सम्पूर्ण ग्राम से लायी डोरियाँ जुड़ जाने पर भी नन्दनन्दन की पीठ से लगते ही वह दो अंगुल का अन्तर नहीं मिटता।

सचमुच ही वह न्यूनता परब्रह्म का संस्पर्श पाकर स्वयं परब्रह्म बन गयी थी और ब्रह्म के ही समान ह्रास-वृद्धि से रहित हो गयी थी। न घटती थी, न बढती थी बस दो अंगुल की ही बनी रहती थी।

अब तो सारे ग्राम की डोरियाँ भी समाप्त हो गयीं। बाँधने का प्रयास करती ब्रजरानी भी श्रान्त हो गयी। उसके समस्त अंगों से स्वेदधारा बह रही थी। जिस मालती की माला से मैया ने अपने केश बाँध रखे थे, वह भी टूट गयी। जननी की इस हताशा ने कि 'मैं नीलमणि को नहीं बाँध सकूँगी' देखो श्रीकृष्णचन्द्र के नेत्रों मे दया भर दी। बस, कृपाशक्ति प्रकट हो गयी और श्रीकृष्णचन्द्र ने मैया की प्रथम पट्टडोरी में ही बँधना स्वीकार कर लिया। मैया ने अपने प्राणसार सर्वस्व कन्हैया को एक ऊखल से बाँध दिया और गृह कार्य में लग गयी। इधर देखो ! इन गोपशिशु बनी गोपियों की दशा कैसी विचित्र हो रही है। अपने प्रियसखा को जननी के बन्धन से मुक्त करने के लिये अपने को गोपशिशु समझती हुईं, ये देखो, कैसा परस्पर परामर्श करने में संलग्न हैं। उन्हें भय है कि कहीं जननी न आ जाय। एक गोपी गोप-शिशु बनी अतिशय सावधानी पूर्वक उस प्रांगण की ओर देख आती है कि मैया क्या कर रही है। इधर वह जैसे ही संकेत करती है एक शिशु धीरे से श्रीकृष्णचन्द्र के समीप जाता है। उनके ऊखल में बँधे अंगों को हाथ से स्पर्श करता है। फिर तुरन्त ही जननी के भय से सशंकित हो उठता है। उसको एक युक्ति सूझ पड़ती है और वह नन्दनन्दन के कान के समीप मुख ले जाकर कहता है -- "अरे भैया, तू इसे खोल ले। फिर अन्यान्य शिशुओं को भी अपने ध्यान में आये उपाय की सूचना देता है। सभी सहमत हो जाते हैं। सब धीरे-धीरे फुसफुसा कर कन्हैया के कान में राय देते हैं "बस तू खोल ले और हमारे साथ भाग चल।" परन्तु समस्त प्राणिमात्र का भवबंधन संकल्प मात्र से खोल

देने की वे भले ही सामर्थ्य रखें, मैया द्वारा ऊखल से बाँधी बंधन-ग्रंथि तक उनके छोटे-छोटे हाथ पहुँच नहीं पाते।

असफल, निराश, निरुपाय से हुए वे सखाओं की ओर देखने लगते हैं। अच्छा, तेरे हाथ नहीं पहुँचते, ठहर, मैं यह बंधन-ग्रन्थि खोल देता हूँ।" कहता एक सखा मधुमंगल आगे बढ़ता है। परन्तु ग्रन्थि इतनी सुदृढ़ बाँधी गयी है, उससे खुल नहीं पाती। उसकी सहायता करने श्रीदाम आता है परन्तु वह भी असफल। अब सुदामा सशंकित नयनों से मैया की आहट लेता आगे बढ़ता है, परन्तु गाँठ हिलती तक नहीं। सख्यरस की धारा चाहे कितनी प्रबल हो, वह वात्सल्यरस की स्निग्धता की गाँठ खोल थोड़े ही सकती है। मैया का दिया बंधन इतना क्षीण थोड़े ही है, इसीलिये जननी की लगायी गाँठ अविचल रहती है। उदास शिशु मण्डली अपने सखा के मुख की ओर देखने लगती है।

अचानक श्रीकृष्ण को एक उपाय सूझ पड़ता है। उन्हें आँगन में खड़े पुरातन दो यमल अर्जुन वृक्ष दिख जाते हैं। वे सखाओं से कहते हैं - "भैयाओ ! देखो, यह ऊखल बहुत ही भारी है। अकेला तो मैं इसे खींच सकूँगा नहीं। परन्तु तुम सब सहायता करो। सब मिलकर धक्का देते इसे लुढ़काते चलो। मैं भी जोर लगाकर खींचता हूँ। फिर देखो ! चलें वहाँ इन अर्जुन के दो वृक्षों की ओर। इन वृक्षों के मध्य मैं तो समा जाऊँगा परन्तु यह ऊखल भीतर जा नहीं सकेगा। साथ ही अपने इसे टेढ़ा भी कर देंगे। फिरतो यह इस पार ही अटक जायगा। तब फिर उस पार से मैं डोरी को झटके दूँगा । पूरे बल से डोरी खिंची कि टूटी। बस काम हो गया। युक्ति सुनते ही गोपशिशुओं के हर्ष का पार नहीं रहता।"

देखो ! श्रीकृष्णचन्द्र बनी गोपी दोनों हाथ एवं दोनों घुटने टेके पृथ्वी पर ऊखल को ठेलने लगती है। गोपशिशु भी जोर लगा-लगाकर ऊखल को लुढ़काने की चेष्टा कर रहे हैं। देखो श्रीकृष्ण बनी गोपी के अरुण कपोलों पर, ललाट पर श्रमकण झलकने लगे। यहाँ इस वन में ऊखल कहाँ से आता, एक सूखे काष्ठ के लट्ठ को ही ऊखल के रूप में कल्पित कर लिया गया है। अहा! श्रीकृष्ण की क्या शोभा है :-

बंधुक सुमन अरुण पद पंकज, अंकुस प्रमुख चिन्ह बनि आये।
नूपुर कलरव मनु हंसिनि सुत रचे नीड़ दै बाँह बसाये।
कटि किंकिनि-वर हार ग्रीव, दर, रुचिर बाहु भूषन पहिराये।

उर श्रीवत्स, मनोहर हरि-नख, हेम-मध्य मनि-गन बहु लाये।
सुभग चिबुक, द्विज-अधर-नासिका, स्रवन-कपोल मोहि सुठि भाये।
भ्रुव सुन्दर, करुना-रस-पूरन, लोचन मनहुं जुगल जलजाये।
भाल विसाल ललित लटकन मनि, बाल-दसा के चिकुर सुहाये।
मानौ गुरु सनि-कुज आगें करि ससिहि मिलन तम के गन आये।
उपमा एक अभूत भई तब, जब जननी पट पीत उढ़ाये।
नील जलद पर उडुगन निरखत तजि सुभाव मनु तड़ित छिपाये।
अंग-अंग-प्रति मार-निकर मिलि, छबि-समूह लै-लै मनु छाये।
सूरदास सो क्यौं करि बरनै, जो छबि निगम नेति करि गाये।

देखो, रिंगण करते श्रीकृष्ण अर्जुनवृक्ष बनी गोपियों के निकट आ पहुँचते हैं। देखो इन्हें निकट पाकर इन युग्मगोपियों की कैसी प्रेमदशा हो रही है। यह तो सत्य ही है कि वृक्षों में संवेदन शक्ति होती है। फिर ये तो शापभ्रष्ट धनद पुत्र हैं। अपने इस परिणत रूप में इनमें अपनी पूर्वजन्म की स्मृति अक्षुण्ण है।

देखो, श्रीकृष्ण गोपी रूप युग्मवृक्षों के अन्तराल से होकर उस पार जा पहुँचते हैं। छिद्र में उनके प्रवेश होते ही ऊखल तो अपने आप ही टेढ़ा हो जाता है । सखा बोल उठते हैं -"हाँ भैया ! बस कन्हैया ! भैया, ऊखल अड़ गया है, अब तू खींच ले, केवल एक झटका दे दे।" बालगोपाल बनी गोपी के बिम्बविडम्बी अधरों पर एक मन्द मुसकान छा जाती है। वे दामोदर अपनी कटि से बँधे ऊखल को तनिक अपनी ओर खींच लेते हैं। बस, फिर तो क्षण भर भी न लगा, अर्जुन तरुओं की पृथ्वी में धँसी जडें उखड़ आती हैं। प्रकाण्ड धड़ अगणित उपशाखायें, सघन पल्लव-जाल -- सभी ऐसे स्पन्दित होने लगते हैं, मानो प्रबल झंझावात उन्हें लेकर उड़ चला हो। दामोदर का बाल्योचित बल-प्रकाश ही उनके लिये सर्वथा असह्य हो जाता है और उनका अणु-अणु प्रकम्पित हो उठता है। देखते-ही-देखते अत्यन्त घोर शब्द करते हुए अचिन्त्य वेग से वे दोनों वृक्ष पृथ्वी पर गिर पड़ते हैं। अवश्य ही वे इस प्रकार ऐसे स्थान पर गिरते हैं, जहाँ एक भी गोप शिशु नहीं, एक भी गौ, गोवत्स नहीं, गृहरचना का कोई अंश नहीं, केवल मात्र मणिजटित समतल भूमि है। इसीलिये किसी को भी किंचिन्मात्र भी क्षति नहीं लगती, नन्दप्रासाद के किसी भी भाग में कहीं कोई टूट-फूट नहीं होती। ये जड़ वृक्ष तो थे नहीं, धनद

पुत्र थे, और अब तो वे कन्हैया के निज जन हो गये थे, उनमें समस्त भक्तिगुणों का विकास हो गया था। अमित शक्ति आ गयी थी। महान् आश्चर्य तो यह है कि इतने विशालकाय अर्जुनवृक्ष ऊखल-आकर्षण से मूलोत्पाटित होकर गिरते हैं परन्तु जननी यशोदा के वात्सल्य से प्रेरित, उनके द्वारा निर्मित, आग्रहमय वह बंधन नहीं खुलता। ऊखल में लगायी उनकी डोरी, वह ग्रन्थि नहीं टूटती। श्रीकृष्णचन्द्र का वह बन्धन अक्षुण्ण ही रहता है। हाँ ! दो सिद्ध पुरुष भी उनके अन्तराल से प्रकट होते हैं और श्रीकृष्ण चरणों में न्यौछावर होने चल पड़ते हैं।

नतजानु हुए, अञ्जलि बाँधे ये धनदपुत्र नलकूबर, मणिग्रीव श्रीकृष्णचन्द्र के चरणप्रान्त में अवस्थित उन्हें प्रणाम कर रहे हैं। व्रजचन्द्र की चरण-नख-चन्द्रिका ने उनमें दिव्य-ज्ञान का उन्मेष कर दिया है। नवनीरद-श्यामल श्रीअंगों ने रस की सरिता बहा दी है। हर्षातिरेकवश उनका कण्ठ रुद्ध है। नेत्रों से अनवरत अश्रु की वर्षा हो रही है। कपोल, वक्षस्थल आर्द्र हो चुके हैं। वे अपने मुकुटमंडित सिर को झुकाकर दूर से तो वन्दना कर चुके पर उसे श्रीकृष्णचन्द्र के चरण-पल्लव से स्पर्श करा देने के लिये वे अत्यन्त व्याकुल हैं। परन्तु शरीर विवश हो रहा है। जड़ सा बनकर चेष्टाशून्य हो रहा है। बाल्यलीलाविहारी का बाल्यावेश, बाल्यभंगिमा कुबेरपुत्रों को यह सौभाग्य सहज में देना जो नहीं चाहती। ऊखल से बँधे होने के कारण, और ऊखल के अटक जाने से वे भाग तो नहीं सकते। परन्तु अपने करकमल नचा-नचा कर उन्हें स्पर्श न करने का संकेत करने लगते हैं।वे कुबेर पुत्रों की ओर देखकर पुकार उठते हैं -"अरे, अरे! तुम तो कोई देवता हो, मुझ गोकुल के गोपराज के पुत्र के क्यों पाँव पकड़ते हो ? श्रीकृष्ण की इस रसीली उक्ति से ऐसी गंभीर प्रीतिधारा बह चलती है कि कुबेरपुत्रों का ऐश्वर्य ज्ञान एक बार तो उसमें डूब ही जाता है।

कालिय-निग्रह लीलानुकृति

देखो ! देखो !! यहाँ श्रीकृष्णचन्द्र बनी गोपी के अधरों पर नित्य विराजित स्मिति की आभा किंचित् गंभीर भंगिमा धारण कर रही है। उनकी दक्षिण भुजा कालिय-हृद की ओर केन्द्रित हो गयी है। वह तर्जनी से कालिय

नाग के उस आवास की ओर संकेत करती हुई एक श्वास में ही बोलती जा रही है। उसकी वाणी में पर्याप्त ओज भरा है। "अरे भैयाओं ! देखो तो सही, इस चमचम करती यमुना के वक्षस्थल में एक हृद में एक बहुत बड़ा सर्प रहता है। वह महा दुष्ट है। उसका नाम कालिय है। वह जल-स्तंभन-विद्या जानता है । उस विद्या के प्रभाव से इस हृद में गृह का निर्माण कर वह निवास करने लगा है। देखो ! अपनी आँखों से देखलो, ऊँचे आकाश में उड़ते पक्षी भी इसकी फुफकार में भरे भयंकर विष से सबके सब इस हृद में गिर पड़ते हैं। इसकी जिह्वा ऐसी भयंकर विषज्वाला निकालती है कि चारों ओर की भूमि ही झुलस एवं जल जाती है। मेरी तो इच्छा है कि साहसपूर्वक मैं इस कदम्ब पर चढ़ जाऊँ और इस बिषमय हृद में कूदकर कालिय को बाहर करूँ । देखो, तुम सब लोग इस स्थान पर ही गायों को सँभालना। यह कहती हुई उस कृष्ण बनी गोपी ने दाहिने करतल से अपनी बामभुजा को ठोक कर उस कदम्बतरु पर चढना आरंभ किया और तरु के ऊपर की सर्वोच्च शाखा पर जा विराजी। श्री कृष्णचन्द्र बनी गोपी देखो इस प्रकार यमुना की ओर देख रही है - मानो वह भली प्रकार से निरीक्षण कर रही हो कि केवल तीर-भूमि ही नहीं, यमुना का प्रवाह भी कितने वृहद् अंश में इस कालिय ने विषदूषित कर दिया है। अरे ! अरे! कदम्ब की यह शाखा अतिशय वेग से कंपित हुई और नील सुन्दर बनी गोपी तो उस यमुमा में कूद ही पड़ी।

अरे कालिय तो कभी का यमुना छोड़कर चला गया। परन्तु यह क्या ? अरे, कुछ गोपियाँ तो नागवधुएँ बनीं बाहर आ गयी हैं। वे आधे अंगों से यमुना में डूबीं हैं और आधी बाहर खडी हैं। उनके मध्य श्रीकृष्ण बनी गोपी खड़ी है। वे कह रही हैं - "हाय रे ! इस बालक का भविष्य ! हमारे क्रूर पति के सम्पर्क में इस अप्रतिम सुन्दर बालक की क्या दशा होगी ? वे आतुर होकर श्रीकृष्ण बनी गोपी को उस स्थान से शीघ्रतिशीघ्र भाग जाने के लिये संकेत कर रही हैं।

अरे ! कौन को बालक है तू बार-बार कहि भाग न जाई।
छनकहिं में जरि भस्म होयगो जब देखै उठि जाग जम्हाई।।
उरग-नारि की बानी सुनि कै आपु हँसे मन में मुसुकाई।
मोकौं कंस पठायौ देखन, तू याकौं अब देहिं जगाई।।

किन्तु श्रीकृष्णचन्द्र तो भागना दूर हँस रहे हैं। नागवधुएँ कातर होकर बारबार आग्रह कर रही हैं- "रे बालक तू भाग जा।" किन्तु कृष्णचन्द्र तो वैसे ही हँस रहे हैं। इतना ही नहीं निर्भय नेत्रों से नागपत्नियों को समझा रहे हैं।

"कहा डर करौं इहि फनिग को बावरी"

देखो, नागपत्नियों के मना करने पर भी अपने चंचल कर-कमलों से श्रीकृष्ण यमुना-जल आलोड़ित करने लगे। लो, कालिय के प्राण चंचल हो उठे। वह अधीर सा हुआ अपने सर्पावास से बाहर निकल आया। हृद के ऊपर आकर देखो, इस कालिय सर्प बनी गोपी ने अपनी ओढ़नी का कैसा फणों के समान विस्तार किया है।

देखो ! यह गोपी जो सर्प बनी है बोल रही है :-"अरे ! यह तो एक शिशु है। सौन्दर्य का निर्झर झर रहा है इसके अंगों से । कैसा नयन-सुखद सुकुमार है यह ! नवजलधर की श्यामलता भरी है इसकी अंग-कान्ति में। अरे, अरे, यह कैसी विलक्षण नीलिमा है जो हृद की उर्मियों में प्रतिबिम्बित हो रही है। श्यामद्युति से मेरा सम्पूर्ण आवास ही उद्भासित हो रहा है। अरे ! इस बालक को मेरी विषज्वाला कुछ भी प्रभावित नहीं कर रही अपितु इससे तो सर्वत्र सुधा का प्रस्रवण हो रहा है। अहा, ये शिशु के अंग तो आनन्द के निर्झर हैं। कमल-कोश से भी अधिक सुकोमल इसके अरुण चरण हैं। मृदुहास्य समन्वित कितना सुन्दर इसका मुखकमल है।

देखो, कालिय सौन्दर्य-दर्शन से विथकित हो उठा है।

परन्तु यह क्या कालिय को देखकर श्रीकृष्ण बनी गोपी तो भाग चली। यमुना में कैसी लीला हो रही है। उसके पीछे कालिय बनी गोपी भी उसे ग्रस लेने को भाग रही है। अरे बलिहारी है बाल्य-लीलाबिहारी के कृपा-दान की। कालिय को श्रीकृष्ण के अरुण चरणों का स्पर्श तो मिल गया, परन्तु उसने तो लपक कर इन्के पाद-पल्लव में दंशन कर लिया, विष उगल दिया।

परन्तु अरे ! यह शिशु तो कालिय के दंशन से भस्म ही नहीं हुआ। यह तो और भी उल्लास में भरकर पुनः वेग से वैसे ही हृद के जल को क्षुब्ध करने लग गया। कालिय के विस्मय की सीमा नहीं रही। पर उसे प्रतीक्षा का अवकाश भी कहाँ। जलती हुई आंखों से श्रीकृष्ण बनी गोपी की ओर देखता

हुआ यह कालिय उसके सर्वांग में बार-बार दंत प्रहार कर रहा है। परन्तु नीलसुन्दर का कुछ भी बिगाड़ नहीं होता, वे तो क्षतशून्य ही हैं। "इस शिशु में कोई अद्‌भुत सामर्थ्य अवश्य ही है।" कालिय बुदबुदा रहा है। अब तो उसकी आखों में मानो क्रोध की भट्टी फूट पड़ी हो। बडे वेग से वह झपटता है, व्रजेन्द्रनन्दन के अंगों को लपेट कर चूर्ण-विचूर्ण कर देने के उद्देश्य से। लो, कालिय ने नन्दनन्दन को अपनी कुंडली में वेष्टित कर लिया और नन्दनन्दन मृतवत् निश्चेष्ट होकर कालिय-पाश में बँध गये। हाय ! हाय ! यमुना तट में कैसा हाहाकर मच गया है। असंख्य गोप शिशु बनी गोपियाँ "हाय रे ! मेरा कन्नू" कहकर अचेत हो गये हैं।

गायों के रूप में भी गोपियों ने हम्मारव करना प्रारंभ कर दिया। गोप-शिशु बनी गोपियाँ मूर्च्छित ही हो गयी हैं। देखो ! ब्रजपुर से दौड़े वयस्क गोप आ रहे हैं और श्रीकृष्ण को निष्चेष्ट देखकर मूर्च्छित होकर गिर पड़ते हैं। ब्रज की धरा अभूतपूर्व रूप से कम्पित होने लगी। यशोदारानी की आँखों से झर-झर अश्रुप्रवाह हो रहा है। ब्रजपुरन्धियाँ दौड़ती आ रही है। दिशायें धूँएँ से धूमिल हैं। दिनमणि सूर्य निस्तेज है। सभी व्रजवासी नितान्त विक्षिप्त से हुए गोकुल से दौड़े आ रहे हैं। ब्रजपुरसुन्दरियों के केशबन्धन उन्मुक्त हैं। तन-आवरक वस्त्र अस्तव्यस्त हैं। गोपों की शिखायें खुल गयी हैं। पद-पद पर स्खलित होते, भूमि पर गिरते-पड़ते वे सब चले आ रहे हैं। हाय रे ? कृपा रे ? सबके मुखों से एक ही करुण नाद वनप्रदेश को नादित कर दे रहा है। ओह, तट पर सबसे पहले मूर्च्छित होकर गिरे ब्रजेश। ब्रजरानी की अपरिसीम वेदना का तो चित्रण ही असंभव है। वेदना की ज्वाला में उनकी तो मूर्च्छा ही जल रही है। क्षणभर के लिये एक तुमुल आर्त्तनाद सर्वत्र गूँज उठता है और फिर एक भयावह नीरवता सर्वत्र छा जाती है। "नहीं रे, निश्चेष्ट होने पर भी मेरा नीलमणि जीवित है, अन्यथा अधरों पर यह स्मिति मुसकाहट कैसी ?" मैया प्रबल वेग से अपने वक्षस्थल को पीट कर आर्तनाद करती हृद की ओर दौड़ती हुई कूदने लगी। परन्तु बलरामजी ने पीछे से दौड़कर उन्हें अपने भुजपाश में बाँध लिया। देखो, ब्रजेश भी हृद की ओर छलाँग लगा रहे हैं। परन्तु बलरामजी उन्हें भी अपनी भुजाओं में रुद्ध कर लेते हैं। इधर श्रीबलराम सभी को आश्वस्त कर रहे हैं :-

"अरे, मेरे इस मकरकुण्डलधारी भाई श्रीकृष्ण के लिये क्षुद्र सर्प से भय की बात ही क्या सोचनी है ? अरे, सभी अपना दुख दूर कर दो। इस अधम

सर्प कालिय को प्राणहीन सा बनाकर मेरा यह अखण्ड प्रतापवान् भाई कृष्णचन्द्र बस उठ ही चला है ।

गोप सुन्दरियाँ, गोपगण - कोई भी ह्रद में प्रविष्ट नहीं हो पाता है। सबके आगे बलराम खड़े हैं। किसी को संकेत से, किसी के कंधे छूकर, किसी को भुजाओं में भरकर वे दूर कर देते हैं। और यह लो, एक अद्भुत अलौकिक तेजो-मण्डल उनके मुख को आवृत कर लेता है और मेघ-गम्भीर स्वर से वे पुकार उठते हैं :-

हंहो तात ! तातप्यमानमानसतया समेधमानेन मानेन शोकेन खेदयितव्यो दयितव्य: अयं कृष्णस्य।

भो मात: मा अत: परं विलप लपनं मे निर्द्धारय धारय धृतिं भो:।

भो: पौरजानपदा:! विपदाविस्करणेन मापरं परं संतापमाप्तुमर्हत।

अरे बाबा ! प्रतिक्षण वेग से बढते हुए इस अतिशय चिरसंतापी शोक से अपने इस शरीर को व्यथित मत करो। यह देह श्रीकृष्णचन्द्र के प्यार की वस्तु जो है, बाबा !

अरी मैया, अब तू विलाप मत कर ! मेरी बात मानले, धैर्य रखले।

अरे ओ, पुरवासियों ! अपनी अविचारपूर्वक चेष्टा से नई विपत्ति का सृजन कर किसी अन्य महान् दुख के भागी मत बनो।

'अस्य हि मदवरजस्य मदवरजस्य शौर्यस्य महिमानं हि माऽऽनंदवर्द्धनं भवन्तो जानन्ति जानाम्यहमेव केवलं केऽवलम्बन्ताममरपरिवृढा अपि यल्लवावबोधम्।

हे ब्रजपुरवासियों ! मेरे इस कनिष्ठ भ्राता के शौर्य की महिमा को आप लोग निश्चय ही नहीं जानते। किसी के भी अहंकार को चूर्ण-विचूर्ण कर देने के लिये इसमें भी एक महान अहंकार की जाग्रति होती है, उसकी उस आनन्द-वर्द्धिनी महिमा से आप सब सर्वथा परिचित नहीं हैं। केवल मात्र मैं जानता हूँ। औरों की तो बात ही क्या है, ऐसे देवश्रेष्ठ भी कौन हैं, जो मेरे इस भाई की महिमा के लव मात्र का भी ज्ञान प्राप्त कर सके हों ?

"खल्वयमनेन पुंनागेन नागेनस्य पराभव:।

'अहो ! निश्चय समझो अभी-अभी मेरे पुरुष-कुंजर भाई के द्वारा नाग प्रमुख कालिय का पराभव होने ही जा रहा है।

रोहिणीनन्दन बलरामजी के आश्वासन का प्रभाव होता है और सभी व्रजवासी कालियहृद में प्रविष्ट होने से निवृत्त हो जाते हैं।

और वे अनन्तैश्वर्यनिकेतन श्रीकृष्णचन्द्र क्या अपने निज-जनों की यह परम दयनीय दशा नहीं देख पा रहे हैं ? इन सबका करुण क्रन्दन क्या वे नहीं सुन पा रहे हैं ? यह तो ब्रजजन के हृत्सिन्धु की, उनके भावसागर की मात्र मन्थनलीला है। उनका इतना ही उद्देश्य है कि त्रिताप से नित्य जलते हुए असंख्य प्राणियों के लिये महौषधिरूप बनकर इस सागर की कुछ बूँदें, मन्थनजात अमृत की कुछ कणिकायें प्रपंच के तट पर बिखर जायें और अनन्तकाल तक जो भी सौभाग्यशाली प्राणी इनके सम्पर्क आ सकें - उनकी त्रिताप-ज्वाला सदा के लिये प्रशमित हो जाय।

कालिय के लिये तो यह संभव ही नहीं है कि वह श्रीकृष्णचन्द्र को अपने कुंडली बंधन में रख सके। क्षण-दो-क्षण में ही कालिय का शरीर टूटने लगता है। कुंडली का एक-एक आवरण टूट जाता है। निरुपाय कालिय को उन्हें छोड़ना ही पड़ता है।

इस सभी व्रजपुरवासियों के जीवन-शून्य से हुए शरीर में प्राण-संचरित हो उठे। रोहिणीनन्दन की बात सत्य होने में किसी को भी अब सन्देह नहीं रह गया। बिचारे कालिय के बल की तो एक सीमा है। अनन्त अपरिसीम बलशाली से होड़ करके वह कब तक टिक सकता था। देखते-देखते उसकी सम्पूर्ण शक्ति समाप्त हो गयी। वह अत्यंत श्रान्त हो गया। उसे दीर्घ निश्वास आने लगे। आसन्न मृत्यु जैसी उसकी दशा हो गयी। हाँ फन उसके ऊपर ही उठे थे, जिनकी ओट से अभिमान स्पष्ट रूप से झाँक रहा था। मदोन्मत्त कालिय स्वयं नतमस्तक नहीं हो सका, न सही, श्रीकृष्ण अपना चरण-स्पर्श-दान कराने को स्वयं आतुर हो उठे। ऊपर उठे कुछ फनों पर उन्होंने एक अत्यंत हलकी सी थपकी लगायी। कालिय के उन्नत फन उस भार से नमित हो गये। पलक गिरते-न-गिरते नील सुन्दर उन झुके हुए सुविस्तृत फनों के छत्ते पर अनायास ही उछलकर चढ़ गये।

देव-वृन्द के आनन्द का पार नहीं रहा है। ऐसे अत्यन्त अधम सर्प को भी श्रीकृष्ण अपनी कृपा का अयाचित दान दे सकते हैं - यह प्रत्यक्ष देखकर 'जय-जय' के नाद से अन्तरिक्ष नादित हो उठा।

अहा ! इन मृदुल चरणों की शोभा कैसी है ! अरे, गोपी बने श्रीकृष्ण कालिय बनी गोपी की ओढनी-रूपी छत्र पर कैसे चढ़ पावेगी ? अतः नृत्य नहीं हो सका न सही।

देखो ! नागपत्नियाँ बनीं गोपियाँ प्रार्थना कर रही हैं- हे परम दयालो ! इस सर्प का प्राणान्त बस हो ही चला है, कृपा करो, कृपा ! नाथ !! अब विलम्ब मत करो। प्राणतुल्य हमारे पति को हमें भिक्षा में दे दो। दयामय !

लो, कालिय भी वृजराज के समक्ष हाथ जोड़कर स्तवन करने प्रस्तुत हो गया है। "नाथ । महामहेश्वर हम जन्म से ही अत्यन्त दुष्ट हैं। परपीड़ा हमारा जन्मसिद्ध स्वभाव है। जीवमात्र के लिये अपने स्वभाव का परित्याग करना कठिन जो है, नाथ ! बस, आप ही बचा सकते हो, नाथ ! सर्वेश्वर रक्षा करो !!

लो ! नन्दनन्दन कालिय को निर्देश देते हैं - कालिय देख ! अब तुझे इस ह्रद में मेरे इस लीला-क्षेत्र में निवास नहीं करना है। अब यमुना जल का उपयोग व्रज की गायें और व्रजपुरवासी ही करेंगे। जा, अब तुझे मेरे गरुड़ से कोई भय नहीं होगा।

नतमस्तक हुए कालिय ने व्रजेन्द्रनन्दन का आदेश स्वीकार कर लिया। नागवधुओं की आँखें झर-झर झर रही हैं। प्रेम-विह्वल कालिय कृष्णचन्द्र के चरणों में गिर पड़ा है। "देखो ! कालिय नन्दनन्दन का श्रृंगार एवं पूजा कर रहा है। देखो ! नन्दनन्दन कैसे दिव्य नागमणियों से भूषित सिंहासन पर विराजित हैं। दिव्यातिदिव्य मृगमद, कुंकुम, चन्दन आदि से उनके समस्त अंगों को कालिय विलेपित कर रहा है। उसे कितना परिताप है । वह अपने दंशित स्थलों की वेदना हरण करने के लिये श्रीकृष्ण के अंग-अंग को चाट रहा है। वह अपना समग्र विष पुनः हरण कर रहा है। अंग-अंग को निर्विष कर रहा है।"

अब व्रजेन्द्रनन्दन को नागपत्नियाँ पद्मरागादि मणियों के रत्नहार पहना रही हैं। देखो ! नागलोक के पुष्पों की सौरभमय पुष्पमालायें अब वे धारण करा रहीं हैं। अमूल्य अलंकारों से श्रीअंगों को अलंकृत कर रही हैं। देखो ! अहा ! यह शोभामय कमलमाला कितनी सुन्दर है, इसके पश्चात अर्चना के असंख्य उपचार कालिय ने व्रजेन्द्रनन्दन को समर्पित किये।

अब विविध शृंगार से सुशोभित श्रीकृष्णचन्द्र तट की ओर आ रहे हैं।

श्रीकृष्णचन्द्र बनी गोपी इस गंभीर यमुना जलराशि पर इस प्रकार चरण रख कर आ रही है मानो वह स्थल हो। सबसे पहले सुबल और श्रीदाम दोनों ही विद्युत वेग से दौड़कर नीलसुन्दर के समीप आये और उन्हें अपने भुजापाश में भर लिया। स्नेह के उस स्रोत में असंख्य गोप बालक यही अनुभव कर रहे हैं कि सबसे पहले मुझे ही कन्हैया भैया ने अपनी भुजाओं में भरा है। इतने में जननी यशोदा आयी। ओह ! वाग्वादिनी में कहाँ सामर्थ्य है कि चित्रित कर दे - मैया एवं उसके लाल के मिलन की भावराशि का। वह बस, इतना ही कह सकी -

मन सँग हिय अगवानि करि जननी लये तट लाइकैं।
पय स्रवत, आँसू ढरत, अंक गुविंद भेंटे धाइकैं !!

अब रोहिणीजी ने नीलसुन्दर को वक्षस्थल में लगाया। व्रजेश्वर अब तक मानो प्रतीक्षा सी कर रहे थे। परमशीलवान् व्रजेन्द्र के धैर्य का बाँध टूट गया। वे तो अधीरतावश स्त्रीसमूह में ही प्रविष्ट हो गये और श्रीकृष्ण को अपने अंक में भर लिया।

गोपसुन्दरियाँ यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से व्रजेन्द्रनन्दन को अपने वक्षस्थल पर धारण नहीं करसकीं, फिर भी अपने दृगञ्चल के पथ से उनका मानस-मिलन संघटित हुआ ही। उनके भी मनोरथ पूर्ण हुए।

रोहिणीनन्दन बलराम तो दूर अवस्थित रहकर मन्द-मन्द मुसकाते हुए सबके मिलन-सुख का आनन्द ले रहे थे। किन्तु अग्रज अनुज का मिलन भी अनिवार्य है। देखो ! दाऊ भैया ने लपक कर अनुज को वक्षस्थल में धारण कर लिया। उनके मुख-कमल पर दिव्य हास्य भरा है, वे हँस रहे हैं।

अग्रज से मिलने के बाद श्रीकृष्णचन्द्र की दृष्टि मूक पशुओं की ओर जाती है। सभी गायें, वृषभ, वत्स, चित्रलिखे हुए से, निष्पन्द-मुग्ध से अवस्थित हैं। सभी नीलसुन्दर का कुशल जान लेना चाहते हैं - "हमारे जीवनाधार ! कालिय के द्वारा तुम्हें चोट तो नहीं लगी ?"

देखो ! देखो ! जगत के जीवों ! देखो ! जिस समय श्रीकृष्ण असंख्य धेनुराशि से मिल रहे हैं, उस समय उनके चरण-सरोरुह ह्रद की उस विष-दग्ध तट-भूमि को पावन चरण-स्पर्श दान करते जा रहे हैं -- और इसका तत्क्षण परिणाम देखो - अद्भुत हरीतिमा वहाँ व्यक्त होने लगती है। यह जला हुआ स्थल-देश मनोहर तृण-संकुल श्यामल बन जाता है। इतना ही

नहीं, ह्रद की सीमा से पार के वृक्ष भी जो विष की ज्वाला से झुलस गये थे, वे भी नीलसुन्दर की दृष्टि से ही पुष्पित हरित हो जाते हैं। इसी प्रकार तुम्हारी अनन्त काल से कामविष से दग्ध हृदय-भूमि भी बस एक बार उनके चरण धूलि से यदि संपर्कित हो गयी, तो सदा-सदा के लिये सुख में निमग्न हो जायगी।

सबका मिलन सम्पन्न हो गया, अब श्रीकृष्ण पुनः अपनी माता के पास आ गये हैं। अपने लाल को हृदय से लगाकर माता ने क्रोड़ में धारण कर लिया है। बाल्य-लीला-विहारी अपनी माँ की ठोड़ी छूकर अति मधुर स्वर में उसे प्रबोध दे रहे हैं :-

कंस कमल मँगाइ पठये, तातैं गयउँ डराई।
मैं कह्यौ निसि सुपन तोसौं प्रकट भयौ सु आइ।
ग्वाल सँग मिलि गेंद खेलत आयो यमुनातीर।
काहु लै मोहि डारि दीन्हौ कालिया-दह-नीर।
यह कही तब उरग मौसौं किन पठायौ तोहि।
मैं कही नृप कंस पठयौ कमल कारन मोहि।
यह सुनत डरि कमल दीन्हौं, लियो पीठ चढाइ।
सूर यह कहि जननि बोधी देख्यौ तुमहीं आइ।

प्रभु की शिशु-सुलभ परम-रसमय सरल वचनावली की जय हो !

इधर भुवनभास्कर का रथ अस्ताचल को स्पर्श करने लगा है। व्रजेन्द्र नन्दराय चिन्तित हैं- "इतने बड़े समुदाय के साथ ब्रज में पहुँचते-पहुँचते अर्धनिशा हो जायगी"- यही उनकी चिन्ता का विषय है। अन्ततः निश्चय हुआ कि आज यहीं यमुना तट पर ही विश्राम किया जाय। सबके घर-घर से षटरस के भोजन पक्वान्न वहीं आ गये हैं। वहीं भोजन हुआ और थके थकाये सब गोप एवं समस्त नन्दग्राम की प्रजा, व्रजेश्वर-व्रजरानी रोहिणी मैया सहित अपने राम-श्याम को लेकर तन्द्रित हो गये।

फूँक से दावानल-मुक्ति

अर्ध निशा हो गयी। महामायावी दानव दावानल आ पहुंचा। क्षण भी नहीं लगा, गीष्म्रऋतु की वह शुष्क वनस्थली दावाग्नि के रूप में धधक उठी। सम्पूर्ण ब्रजपुरवासी, गायें अपनी भाव-समाधि में लीन हैं, उन सम्पूर्ण ब्रजपुरवासियों को सब ओर से घेर कर सर्वथा भस्म कर देने के लिये महावीर दावानल जल उठा। एक तुमुल कोलाहल आरंभ हुआ। प्राण रक्षा की आशा नहीं। कदाचित् रविनन्दिनी की शीतल धारा के पास तक पहुँचा जा सके। परन्तु वह भी संभव नहीं, चारों ओर ही आग की भीषण लपटें उठ रही हैं। कितना भयंकर दृश्य है। इसी समय अचानक सबकी मनोवृत्ति में एक अद्भुत् सी प्रेरणा भावित हो उठी :-

"अहा, हमारे प्राण-संकट के समय इसी बालक नन्दनन्दन में ही तो महाप्रभु नारायण आविष्ट हो जाते हैं ! क्यों न हों, अब इस समय इस बालक में ही हम लोग नारायण की भावना करके इसी की शरण ले लें। फिर तो सभी ब्रजवासी पुकार उठे :- "हे कृष्ण ! हे महाभाग श्रीकृष्ण ! हे सर्वसामर्थ्यशालिन् ! हम सब अपने आत्मीयजनों की, सुहृद् समुदाय की रक्षा करो।"

ब्रजराज भी अपने पुत्र में आविष्ट हुए नारायण देव की कृपा-याचना करने चले अवश्य, परन्तु उनकी भाषा सर्वथा बदल गयी। भाव कुछ के कुछ हो गये। गद्गद कण्ठ से वे इतना ही कह सके :- "अहा, मृत्यु से डर नहीं, विपत्तियों का प्रवाह चलता रहे, इससे भी भय नहीं। परन्तु तुम्हारे मुखचन्द्र की किरणों के दर्शन का अभाव हो जाय - इस यंत्रंणा का ही भय है।" ब्रजरानी तो नारायण की भावना करने से रहीं। वे तो इसी चिन्ता में हैं -

कैसेहुँ ये बालक दोउ उबरैं, पुनि-पुनि सोचति परी खभारे।

अब नींद खुली व्रजेन्द्रनन्दन की। वे तत्क्षण उठ बैठे। अहा ! आलस्य भरे श्री अंगों की शोभा कैसी देखते ही बन रही है। नयन विजड़ित हैं। पलकें गिरती जो नहीं। जननी की अन्तर्व्यथा का असह्य भार पुत्र के अन्तस्तल पर ज्यों-का-त्यों सरक आया। श्रीकृष्णचन्द्र के नयन-सरोजों में एक कम्पन हुआ, होठ भी किंचित् से हिल गये। जैसे फूँक लगने से एक तुच्छ दीप बुझ जाय। इस प्रकार उनके अधरों से निसृत मन्द सुरभित फूत्कार के द्वारा महा प्रचण्ड दावाग्नि तत्क्षण शान्त हो गयी।

सर्वत्र लीलाओं की अनुकृति

देखो ! यहाँ श्रीकृष्ण की आँखमिचौनी लीला हो रही है। सखी ही श्रीकृष्ण बनी है, और सखियाँ ही उनके सखा। देखो यहाँ व्रजेश्वर बनी गोपी श्रीकृष्ण को भोजन के लिये ला रही है। स्मित-समन्वित मुखारविन्द के दर्शन मात्र से प्रमुदित चित्त हुए व्रजराज के साथ वे एवं बलरामजी भोजन कर रहे हैं।

और यहाँ देखो ! व्रजेश्वरी कण्व ब्राह्मण के सम्मुख रो रही हैं - "देव ! इस बालक को क्षमा करें। और कन्हैया को तो न माँ का भय है, ना ब्रह्मण का। वे तो अपने बंकिम नेत्रों को इधर-उधर संचालित करते हुए हाथ से खीर उठा-उठाकर खा रहे हैं। और इष्टदेव के लिये जिस आसन की कण्व ने परिकल्पना की थी, उस पर वे विराजित हैं। और यहाँ यशोदा चकित हुई श्रीकृष्ण के मुख को खोलकर देख रही है और उन्हें सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड अपने कन्हैया के मुख में दिख रहा है।

व्रजरानी की श्वास-गति अत्यंत तीव्र हो गयी। सारा शरीर थर-थर काँपने लगा है। और वे अपनी सखी धात्रियों के सम्मुख बोलती ही जा रही हैं - "ओह ! मैंने सुस्पष्ट देखा है, नीलमणि के छोटे से मुख-विवर में झाँककर देखा है - वहाँ नीला अनन्त आकाश - महाकाश है। स्वर्ग है, पृथ्वी है, दिशायें हैं, सूर्य है, चन्द्र है, अग्नि है, वायु है, समुद्र है, द्वीप पुञ्ज हैं, पर्वत-मालिकाएँ हैं, नद-नदी समूह हैं, अरण्य श्रेणियाँ है, चराचर अनन्त प्राणी हैं; अरे ! नीलमणि के छोटे से मुखविवर में मैंने सम्पूर्ण विश्व को देखा है।

और यहाँ देखो, यमुना के रजत सैकत तट पर खेल हो रहा है। श्रीदाम सखा बनी गोपी खड़ी है, पीछे से दौड़कर भागते श्रीकृष्ण आते हैं और श्रीदाम भैया के कंधे पर चढ़ जाते हैं। श्रीदाम को सहारा देने उसके बायें एवं दाहिने दो सखा और खड़े हो जाते हैं और लो, तोककृष्ण श्रीकृष्ण के कंधे पर खड़ा होने की चेष्टा कर रहा है। श्रीकृष्ण ने उसे कंधे पर चढ़ा लिया है और लो, श्रीकृष्ण ने उसे अपने कंधे से उछाल दिया। उछलते हुए उसने एक कदम्ब की टहनी पकड़ ली और उस पर झूल गया है, सखा मण्डली नीचे से सरक गयी है, और तोक कदम्ब पर लटका रह गया है। तोक कदम्ब पर झूल रहा

है, श्री कृष्ण के उल्लास की सीमा नहीं है। सभी ताली पीट-पीट कर हँस रहे हैं। सहसा तोक हाथों के बल झूलता कदम्ब की डाली पर चढ़ गया है और बंदर की तरह सब सखाओं पर खों-खों करता, झपटने की मुद्रा दिखा रहा है।

देखो, यहाँ विलक्षण लीला हो रही है। गोपियाँ यशोदारानी को उलाहना देने आयी हैं - कल भी एक गोपी उलाहना देने आयी थी। श्रीकृष्ण ने उसकी गोशाला में जाकर दुहने के समय के पूर्व ही बछड़ों के बन्धन खोल दिये थे, परन्तु वह ज्यों ही मुख खोलने लगी कि श्रीकृष्ण आकर सीधे उसकी गोद में बैठ गये। अब तो वह गोपी ऐसी फँसी कि सब भूल गयी। नन्दरानी को कुछ भी बताये बिना वह गुन-गुन करती लौट गयी। यशोदा आश्चर्य में डूबी उसकी ओर देखती ही रह गयी।

आज तो दल की दल गोपियाँ आयी हैं। देखते-ही-देखते नन्दप्रांगण भर गया है। नन्दरानी को अति विस्मय है कि बिना निमंत्रण के इतनी गोपियाँ कैसे चली आयी हैं। एक आश्चर्य की बात यह है कि प्रत्येक को यह अनुभव है कि मैं नन्दरानी के अत्यंत समीप बैठी हूँ।

देखो, एक कह रही है - "नन्दरानी ! ब्रज तो तुम्हारा राज्य है, नीलमणि तुम्हारा पुत्र है। अतः मैं इसका दोष बताऊँ तो तुम रुष्ट मत होना। तुम्हें आश्चर्य होगा कि अब ब्रजपुर के कितने ही घरों में गोदोहन नहीं होता। गायों के थनों में दूध बचे, तब न गोदोहन हो। यह अकेला नहीं शताधिक बालकों को साथ लिये आता है। हम सब जान भी नहीं पातीं कि कब कैसे पहुँच जाता है। वहाँ जाकर जितने बछड़े होते हैं, सबकी रस्सी खोल देता है। हमें समाचार मिले इसके पहले सब बछड़े दूध पी चुके होते हैं। यदि हम क्रोध करें तो यह हँस देता है। इसकी हँसी में ऐसी मोहिनी होती है कि सारा हमारा क्रोध शान्त हो जाता है और हम भी हँसने लगती हैं।"

दूसरी कहती है - स्वाभाविक ही यही किसी अपने सखा को भेजकर सूचित करवाता है कि बछड़े खुल गये हैं, और जैसे ही हमने गोशाला की ओर चरण बढ़ाये यह हमारे घर में प्रवेश कर जाता है। हमारे गृह को जनशून्य बनाने के लिये वत्समुंचन इसका उद्देश्य होता है। अब तो हमारे घरों में जितना भी दधि, दुग्ध, नवनीत आदि वस्तुएँ होती हैं उनको लेकर यह सखाओं के साथ पहले तो भोजन करता है और फिर सब वस्तुएँ बन्दरों को, पक्षियों को, वितरित कर देता है। चौर्यकला का तो यह कफल्लक मुनि से भी अधिक

आचार्य है। अरी नन्दरानी ! वैसे यह हमारे घर के आगे से निकले और हम इसे माखन खाने का आग्रह करें, तो यह यही उत्तर देता है - "बडी नवनीत खिलाने वाली आयी, क्या मेरे घर नवनीत नहीं है, जो तेरे घर खाने आऊँ ?"

इतने में तीसरी कहती है - "अरी ! यह स्वयं चाहे जितना खावे, अपने सखाओं को खिलावे, वह भी सह्य हो जाय, परन्तु यह तो असंख्य वानरों को मक्खन लुटाता है। ये वानर खाते-खाते जब उपरत हो जाते हैं तो यह अपने सखाओं को कहता है - 'इस गोपसुन्दरी के गृह के नवनीत-दधि आदि स्वादिष्ट नहीं हैं, तभी तो इन्हें वानर भी नहीं खा रहे। यह फूहरी गोपी है। यह माखन बिलोना नहीं जानती।' और यह कहकर हमारे सब नवनीत-दधि-दुग्ध-भाण्ड यह फोड़ डालता है।"

अरे, अरे देखो ये नन्दनन्दन तो आ गये। अपनी मैया से ये कैसी मधुरातिमधुर बातें बना रहे हैं - जरा ध्यान देकर सुनो तो ...."अरी मैया ! तू जानती नहीं और जब तू ही नहीं जानती तो ये सब फूहड़ व्रजगोपियाँ क्या जानेंगी ? उस दिन की बात ! अरी मैया, मेरा तपस्वी वेश था। ये बलराम भैया भर मेरे साथ थे। मेरे पास परिग्रह का सर्वथा अभाव था, प्रिया-वियोग से मेरे प्राण अति व्यथित हाहाकार कर रहे थे। यदि ये वानर, भालू और इनका राजा सुग्रीव नहीं होता, मेरे पास साधन ही क्या था ? मैया री, उस दिन प्रत्येक वानर मेरा सैनिक था। उस दिन तो इन वानरों ने मेरे से अपना पारिश्रमिक भी नहीं माँगा था। और तो क्या, उनकी उदर-पूर्ति भी मैं नहीं कर सकता था। वे स्वयं ही वन्य फलों का संचय करते, अपने तो खाते ही, स्वयं मुझे भी ये ही खिलाते थे। अत: इनको माखन न खिलाऊँ तो मैया, ऋण कैसे उतरेगा री। इसीलिये अपनी प्रिय भोज्य वस्तु नवनीत इनको बाँटता हूँ री। इसमें उलाहने की कौन बात है ? अरी मैया ये गोपियाँ चोर हैं। मेरे घर को अपना मान बैठी हैं। ब्रज का प्रत्येक घर मेरा है और ब्रज की प्रत्येक गैया भी मेरी है। अपने घर की समस्त वस्तुएँ, चाहे लुटाऊँ या रखूँ इसमें उलाहने की कौन बात है ?"

निरे छोटे से बालक के मुख से ऐसी बातें सुनकर यशोदा के मुख पर अत्यन्त विस्मय एवं मन्द-मुसकान छा जाती है। मैया यशोदा दुग्ध, नवनीत एवं दधि की शत-शत मटकियाँ दासियों से उठवाकर आँगन में रखवाती हैं

और सभी गोपियों से जिसके घर जितनी हानि हुई है तौल-तौल कर ले जाने की प्रार्थना करती हैं।

लीलासिन्धु व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र की अनादि अनन्त लीलाओं में किसी एक लीला का भी - उसके किसी स्वल्पतम अंश का भी 'अथ' 'इति' निर्देश कर देना कि यहाँ इसका आदि है और यहाँ अन्त है, यहाँ इसका आरंभ है और यहाँ इसकी परिसमाप्ति हुई, इस प्रकार इत्यंभूत रूप निर्धारित कर देना आजतक किसी के लिये भी संभव नहीं हुआ, अनन्त काल तक किसी के लिये होगा भी नहीं। इस अपरिसीम महासिन्धु में कहाँ किस समय कौन सी ऊर्मि उठी और कहाँ कितने काल के अनन्तर वह विलीन हुई - यह आज तक किसी ने नहीं जाना। यहाँ, उनके स्वरूपभूत वृन्दाकानन में प्राकृत अवच्छेद नहीं, प्राकृत कालमान नहीं। लीलानिर्वाह के लिये यहाँ वस्तुएँ भी है और प्रतीयमान काल-नियंत्रण भी है अवश्य, परन्तु वे सबके सब सर्वथा सच्चिदानन्दमय है। इन्हीं शब्दों में यत्किञ्चित् हम उस अप्राकृत सत्ता को शाखाचन्द्रन्याय से हृदयंगम कर सकें तो भले कर लें।

गोपियाँ इस प्रकार लीलाओं के अनन्त अगाध सिन्धु में अवगाहन करतीं हुई तन्मय हो रही थीं, अचानक उनमें से किसी समूह को प्रियतम चरणों के चिह्न वन में एक दिशा की ओर जाते दृष्टिगोचर हो जाते हैं। अहा ! सभी चिह्न अंकुश, कमल, कलश, ध्वजा, सभी स्पष्ट जगमगा रहे हैं। जिस चरण रज को शिव, ब्रह्मा, सनकादि, नारद एवं अनन्त योगीजन खोजते थक जाते हैं, उस रज को गोपियाँ अपने हृदय के ताप के नाश के लिये अपने वक्षस्थलादि सभी अंगों में मल रही हैं।

अहा ! अचानक उन चरण चिह्नों के साथ ही गोपियों को एक महा सौभाग्यवती रमणी के चरण-चिह्न भी परिलक्षित हो जाते हैं। गोपियों ने तुरन्त अनुमान भी कर लिया कि वह विश्व-विमोहन-मोहिनी सुन्दरी कौन है जिसे उनके प्रियतम अपने संग ले गये हैं।

पुनि निरखे ढिंग जगमगात पिय प्यारी के पग
चितै परस्पर चकित भईं जुरि चलीं तिहीं मग !!

अहा ! यह परम सौभाग्यवती युवती प्रिया किशोरीराधा ही हैं जिसके त्रैलोक्य-विमोहन रूप के प्यासे हुए प्रियतम उसे एकान्त में ले गये हैं। अब

तो पद-चिन्हों की ऐसी भंगिमायें मिल गयीं, जिससे प्रिया के संग संग प्रियतम ने जो जो विहार किया उसकी स्पष्ट झाँकी परिलक्षित हो रही थी।

वे परस्पर बातें करने लगीं - "अरी देख न ! इन पद-चिन्हों में प्रिया की मात्र अंगुलियाँ ही हैं, पीछे की ऐडी आदि है ही नहीं, इससे यह स्पष्ट परिलक्षित हो रहा है कि यहाँ नीलसुन्दर के कंठ से लिपटी प्रिया ने उनके अधरों का पान किया है।"

अनेक गोपियाँ जो आगे बढ़ गयीं थीं उन्होंने एक पल्लवों की कुंज देखी जहाँ सर्वत्र पुष्प मालायें और पुष्प-गुच्छ बिखरे थे, इससे यही प्रतीत हो रहा था यहाँ प्रियतम ने प्रिया की वेणी गूँथी हैं। अरे ! किसी गोपी को एक लता जाल मे अवस्थित आरसी भी मिल गयी। उसने सखियों को आरसी दिखाते हुए चकित दृष्टि से जिज्ञासा की। सखि ने उत्तर दिया -

बैनी गूँथन समै छैल पाछे बैठे जब
सुन्दर बदन विलोकन सुख को अन्त भयौ तब
तातैं मंजुल मुकुर सुकर लै बाल दिखायो।
श्रीमुख को प्रतिबिंब सखी तब सम्मुख पायो।

अब एक परम बुद्धिमान गोपी चरणचिन्हों से अनुमान कर-कर के सम्पूर्ण विहार-लीला जो प्रिया प्रियतम में घटित हुई है, उसका चित्र खींच रही है। उसके मन में तनिक भी मात्सर्य अथवा सापत्न्यजन्य कोप नहीं है। गोपी कह रही है - "अरी बहिनो ! यह सखी कितनी सौभाग्यशालिनी एवं सुन्दरी है कि यह जहाँ-जहाँ गयी है सौन्दर्य अधिष्ठातृ के कोश में जितनी शोभाराशि है उसने सभी वहाँ बिखेर दी है। अरी ! इस महासौभाग्यवती ने निश्चय ही अनन्त पुण्य किये हैं तभी न, यह यहाँ एक तनिक सी लता ओट देकर निर्बाध प्रियतम का अधर-रस-पान करती रही है। देख री, ये चरण-चिन्ह स्पष्ट संकेत कर रहे हैं कि यह सलोनी जिधर चरण निक्षेप करती है, प्रियतम इसके पीछे-पीछे उधर ही चल पड़ते हैं। अरी, इस माहाभागा की सौन्दर्य स्रोतस्विनी ने प्रियतम को पूर्ण रसावगाहन कराया है री।

उन गोपियों ने थोड़ा ही पथ पार किया होगा कि उन्हें वह गोपी भूलुण्ठित कंचन लतिका सी दिखाई पड़ जाती है। कवि ने कैसा सुन्दर वर्णन किया है -

घन तें बिछुरी बीजुरी जानु मानिनि तन काछें।
किधौं चन्द्र सौं रूसि चन्द्रिका रह गयी पाछें

नैनन तें जलधार हार धोवत धरि धावत।
भँवर उडाइ न सकत वास बस मुख ढिंग आवत।
क्वासि क्वासि पिय महाबाहु यों बदत अकेली।
महा विरह की धुनि सुनि रोवत खग-मृग-बेली।
ता सुन्दरि की दसा देखि कछु कहत न आवै।
विरह भरी पूतरी होइ तौं कछु छबि पावै।

गोप सुन्दरियाँ आश्चर्यचकित थीं। शास्त्र कहते हैं - "ना मयूखमालि-मालिन्यं तमसा कर्त्तुं प्रभूयते" "अहो ! किरणमाली सूर्य में मलिनता का संचार कर देना तम के लिये संभव ही नहीं है, फिर इस महासुन्दरी महा-महा-प्रेममयी को कोई नायक विरहावृत कर सके, एवं त्याग दे, यह कैसे संभव है ? यह सुन्दर कोमलांगी तो नयनों में रखने लायक साक्षात् शोभादेवी है, इसको यहाँ ऐसे भीषण वन में अकेली छोड़कर वह निष्ठुर कपटी चला गया, विधाता ! ऐसे क्रूर पुरुष की रचना भी क्या तेरे द्वारा संभव है ?

गोपियाँ मन ही मन प्रियतम श्यामसुन्दर की भर्त्सना करने लगती हैं।

सचमुच ही ये गोपियाँ प्रेम की अधीश्वरियाँ हैं। इस सखी की विरह दशा को देखकर वे अपना अमिलन दुख सर्वथा सर्वांश में भूल गयीं। यद्यपि इस गोपी से उनकी हृदय की विरह-व्यथा किसी भी प्रकार न्यून नहीं है, उनका हृदय भी प्रियतम-विरह में फटा जा रहा है, सर्वांगों में प्रियतम-प्रेम की अग्नि धू-धू जल रही है, उनके नेत्र भी निरन्तर बरस रहे हैं, फिर भी इस नव विरहिनी को यत्किंचित् सान्त्वना देने का वे सभी उपाय करने लगीं। पर-दुख में वे अपने दुख को सर्वांश में विस्मृत कर गयीं। कवि नन्ददास कहते हैं -

धाइ भुजन भरि लई सबनि लै-लै उर लाई।
मनो महानिधि खोइ मध्य आधी निधि पायी।
कोउ चुंबत मुखकमल कोउ भ्रू, भाल, सुअलकैं।
जामें पिय संगम के सुन्दर श्रमकन झलकैं
पौंछत अपने अंचल रुचिर दृगंचल तिय के।
पीक-भरे सुकपोल लोल-रद छद जहँ पियके।
तिहिं लै तहँ ते अउरि बहुरि यमुना तट आयीं।
नंदनँदन जगबंदन पिय जहँ लाड़ लड़ाईं।

गोपियों की अन्तस्तल की विरह-ज्वाला प्राण-हारी ज्वाला से कहीं अधिक विषम है, परन्तु प्रियतम-स्मृति-रूप-अमृत की बूँदे उनके हृदय में जो अनवरत पड़ रही हैं, उसी से वे जीवित हैं। अन्यथा तो उनके प्राण कबके उनके तन को छोड़कर अपने प्रियतम के चरणों में लीन हो गये होते।

और वे अनंत प्रेमनिकेतन उनके प्रियतम से गोपियों का यह विरह-ताप क्या अज्ञात है ? क्या वे अपनी प्रेमिकाओं की इस विरह-जन्य दयनीय दशा का अनुभव नहीं कर रहे हैं। क्या वे इन गोपियों को त्याग कर कहीं दूर जा सकते हैं ? नहीं, नहीं, इन गोपांगनाओं की तो चरण-धूलि ही प्रियतम-मिलाप की अमोघ दवा है। इनके रोम-रोम में अणु-अणु में कृष्ण ही कृष्ण भरे हैं। ये कृष्णमयी हैं, ये कृष्णात्मिका हैं, ये प्रियतम-प्राण-सार-सर्वस्वा हैं।

जिनके कपड़े गहने श्री कृष्ण हों, जिनके श्वास-प्रश्वास श्रीकृष्ण हों, जिनके ममता-मान, भोग्य, भोक्ता एवं सब भोग श्रीकृष्ण हों, वे श्रीकृष्ण से विलग कहाँ कैसे संभव हैं ? जिनके कर्ता श्रीकृष्ण हैं, कर्म ही श्रीकृष्ण हैं, और कर्तव्य श्रीकृष्ण हैं, जिनके तन, मन एवं धन सब कुछ उनके प्रियतम हों, वे प्रियतम वियोगिनी हों, यह भला कैसे संभव है ? जिनके धर्म मात्र श्रीकृष्ण हों, जिनकी प्रकट विभूति श्रीकृष्ण हों, जिनके भूत, भविष्य एवं वर्तमान के सब ऐश्वर्य श्रीकृष्ण हों, जिनके लोक-परलोक, बन्धन-मोक्ष, गति-दुर्गति सभी श्रीकृष्ण हों, उनसे उनके वियोग की तो कल्पना ही नहीं की जा सकती।

उनके नेत्र तो समाये हुए हैं अपने प्रियतम के मुख सरोज में ही, किसी कवि ने उनकी कैसी दयनीय दशा का चित्रण किया है :-

कृष्ण मुखारविन्द दृग दीने, रोवहिं विह्वल बदन मलीने।
वारिज लोचन मोचहिं बारी, संतत हिय जहँ वसत मुरारी।
कहि-कहि ललित गुपाल-गुन, ब्रज कीने जे ख्याल।
भूली तन सुधि मनहुँ सब मुई सकल ब्रजबाल ।।

अरे भाई ! यह प्रेम-सागर के ज्वार-भाटे हैं। ये तरंगें तो जो प्रेम करेगा या जहाँ प्रेम होगा वहाँ नित्य ही उठेंगी। अरे ये तो अमृत की कणिका हैं। प्रियतम श्रीकृष्ण ठीक जान रहे हैं कि गोपियों की अमिलन-जन्य-विरह-ज्वाला इतनी नहीं बढ जाय कि उनके कलेवर को ही भस्म कर दे, फिर निरावरण

वे अपने प्राणाधार को प्राप्त कर लें - अतः वे उनके मध्य स्थूल रूप में प्रकट होने के पूर्व उनके हृदय में प्रकट होते हैं। गोपियाँ अपने प्रियतम की स्पष्ट छबि अपने हृदय में देखती हुईं बोल उठती हैं। उनकी वाणी, अमृत की कणिकाएँ श्रीमहाभाग शुकमुनि आदि के द्वारा प्रपंच के तट पर बिखरा दी गयी हैं, जिससे अनन्त काल तक जो भी सौभाग्यशाली प्राणी इनके सम्पर्क में आ जावें, उनकी त्रिताप ज्वाला सदा के लिये प्रशमित हो जाय।

गोपियाँ विरहावेश में कहती हैं -

जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजः श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि ।
दयित दृष्यतां दिक्षु तावकास्त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वते ।।

प्राणवल्लभ ! सुना था कि लक्ष्मी चंचला होती है। वह दीर्घकाल तक एक स्थान पर रहती नहीं। परन्तु जबसे तुम्हारा (जन्म) आगमन इस व्रज में हुआ है, तबसे तो हमनें वसन्त की श्री शोभादेवी को, ऐश्वर्य की श्री अनंत सुख-सम्पदा को, विजय श्री अपने निजजनों के सर्वविधि उत्कर्ष को - सभी श्रियों को यहीं स्थायी निवास करते पाया है। इसीलिये इस व्रज की शोभा वैकुण्ठ से भी बढ़कर हो गयी है। हमने तो अपने प्राण तुम्हारे युगल-चरणों में ही समर्पित कर रखे हैं। हम तुम्हें वन-वन में भटकती खोज रही हैं।

शरदुदाशये साधुजातसत्सरसिजोदरश्रीमुषादृशा।
सुरतनाथ तेऽशुल्क दासिका वरद निघ्नतो नेह किं वधः ।।२।।

हे हमारे प्रेमपूर्ण हृदय में निवास करने वाले स्वामी ! हम तो तुम्हारी अशुल्क दासी हैं, बिना मोल बिकी हुई हैं। तुमने अपने उन नेत्रों से हमें घायल कर दिया है, जो शरत्कालीन जलाशयों में खिले सुन्दर से सुन्दर सरसिजों की शोभा को चुराने वाले हैं। हे वरद ! मनोरथ पूर्ण करने वाले प्राणेश्वर ! क्या स्नेह कटाक्षों से मारना वध नहीं है ?

विषजलाप्ययात् व्यालराक्षसाद् वर्षमारुताद् वैद्युतानलात्।
वृषमयात्मजाद् विश्वतोभयादृषभ ते वयं रक्षिता मुहुः ।।३।।

हे पुरुष शिरोमणि ! (यदि हमें मारना ही तुम्हें अभिप्रेत था तो) फिर यमुनाजी के विषैले जल से (कालियनाग नाथ कर) अजगर के रूप में खाने वाले अघासुर से, इन्द्र की कोपजन्य वर्षा से, आँधी (तृणावर्त से), बिजली (इन्द्र के द्वारा वज्रपात से) अनल (दावानल से), वृष (वृषभासुर से) और व्योमासुर(मयात्मज) आदि से बार-बार भिन्न-भिन्न अवसरों पर आपने हमारी रक्षा ही क्यों की ?

न खलु गोपिकानन्दनो भवानखिल देहिनामन्तरात्मदृक् ।
विखनसार्थितो विश्वगुप्तये सख उदेयिवान् सात्वतां कुले ।।४।।

सखे ! हम भली प्रकार जानती हैं कि तुम केवल यशोदानन्दन ही नहीं हो। क्योंकि यदि तुम साधारण गोपी-प्रसूत बालक ही होते तो तुम्हारे प्रथम दर्शन के समय ही तुम्हारी अनन्त, असीम, अनिर्वचनीय सुन्दर शिशुमूर्ति का दर्शन करने भर से हमारा बाह्यज्ञान सर्वथा लुप्त सा नहीं हो जाता। हमने प्रथम दर्शन में ही ठीक जान लिया था कि तुम विश्व की रक्षा के लिये ब्रह्माजी की प्रार्थना पर ब्रज में एवं यदुवंश में प्रकटे हो। क्योंकि किसी भी बालक के अंग इतने स्वच्छ नहीं होते मानो उत्कृष्ट नवनीलकान्तमणि के अंकुर हों, इतने मृदुल भी नहीं होते मानो नवतमाल के तरुपल्लव हों, इतने स्निग्ध नहीं होते मानो वर्षणोन्मुख नवजलधर हों एवं इतने सुरभित कदापि नहीं होते मानो त्रैलोक्य लक्ष्मी के भाल पर कस्तूरी तिलक हो। तुम तो जन्मते ही इतने आकर्षक और सुचिक्कण थे मानो हमारी सौभाग्य श्री के नेत्रों में लगा सिद्धाञ्जन ही साक्षात् अंग-धारण कर प्रकट हो गया हो।

विरचिताभयं वृष्णिधुर्य ते चरणमीयुषां संसृतेर्भयात् ।
करसरोरुहं कान्त कामदं शिरसि धेहि नः श्रीकरग्रहम् ।।५।।

हे कान्त ! आपके सरसिज के समान कर-सरोज जो आपको शरण ग्रहण करने वाले सभी संसार चक्र से भयभीत जनों को अभय करते हैं, जिनसे तुमने लक्ष्मीजी का पाणिग्रहण किया है, और सभी की लालसा अभिलाषाओं को पूर्ण करने वाले हैं -- उन्हें हमारे सिर पर रख दो न ?

व्रजजनार्तिहन् वीर योषितां निजजनस्मयध्वंसनस्मित।
भज सखे भवत्किंकरीः स्म नो जलरुहाननं चारु दर्शय !!६!!

अहा ! कितनी मधुर मनोहर तुम्हारी मुसकान है। जिन तुम्हारे अत्यन्त निकट के जिनजनों को यह अप्रतिम मुसकान देखने को मिलती है, उनका कण्ठ भर जाता है, वाणी रूद्ध हो जातीहै उनकी आंखे भर आती है छलकती हुई आंखे ही संकेत कर देती हैं कि उनका सम्पूर्ण मान मद चूर चूर हो गया है। उनके नेत्र स्पष्ट कहते हैं उस अप्रतिम मुसकान माधुरी को मैने देखा है परन्तु विधाता ने मुझे बोलने की शक्ति ही नहीं दी और वाणी में देखने की शक्ति नहीं है, अतः उसका यथार्थ वर्णन हो ही नहीं सकता। हे व्रज वासियों की सम्पूर्ण आर्ति के नाश करने वाले वीर ! हमसे रूठो मत ! हमसे प्रेम करो। हम आपकी तुच्छ दासी हैं। हमें अपना सुन्दर कमल मुख दिखाओ।

प्रणतदेहिनां पापकर्शनं तृणचरानुगं श्रीनिकेतनं।
फणिफणार्पितं तेपदाम्बुजं कृणु कुचेषु नः कृन्धि हृच्छयम् ।।७।।
मधुरया गिरा वल्गु वाक्यया बुधमनोज्ञया पुष्करेक्षण।
विधिकरीरिमा वीर मुह्यतीरधरसीधुनाऽऽप्याययस्व नः ।।८।।
तव कथामृतं तप्तजीवनं कविभीरीडितं कल्मषापहम्।
श्रवणमंगलं श्रीमदाततं भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः ।।९।।
प्रहसितं प्रिय प्रेमवीक्षणं विहरणं च ते ध्यान मंगलम्।
रहसि संविदो याहृदि स्पृशः कुहक नो मनः क्षोभयन्ति हि ।।१०।।
चलसि यद व्रजच्चारयन् पशून् नलिन सुन्दरं नाथ ते पदम्
शिलतृणांकुरैः सीदतीति नः कलिलतां मनः कान्त गच्छति ।।११।।
दिनपरिक्षये नीलकुन्तलैर्वनरुहाननं विभ्रदावृतं।
घनरजस्वलं दर्शयन् मुहुर्मनसि नः स्मरं वीर यच्छसि ।।१२।।

नाथ ! कोई अपने इस अचिन्त्य सौभाग्य का अनुभव भले ही न कर पावे, परन्तु योगीन्द्र-मुनीन्द्र-दुर्लभ श्रीकृष्ण चरण सरोरुह में बिना इच्छा के जबर्दस्ती भी कोई झुक जावे उसके समस्त पाप उन चरणों में खिंचकर नष्ट हो जाते हैं। अहा, कालिय के मस्तक में स्थित मणिसमूहों से उद्भासित उन चरणों की कैसी शोभा थी, जब आपने ऐसे अत्यंत अधम सर्प को भी अपनी

कृपा का अयाचित दान दिया था। प्राणवल्लभ ! वे अनन्त श्री के आश्रय चरण कमलों से आप वन-वन भटक कर हमारे बछड़े चराते उनके पीछे-पीछे फिरते हो, उन चरणों को हमारे कुचों पर आप रख दीजिये, हमारा हृदय आपके विरह की आग में दग्ध हो रहा है, आपसे मिलन की आकांक्षा हमें सता रही है। हमारे हृदय की ज्वाला शान्त करने का यही अमोघ उपाय है।

कमलनयन ! आपकी वाणी कितनी मधुर है ! उसका एक-एक पद, एक-एक शब्द, एक-एक अक्षर मधुरातिमधुर है। बड़े-बड़े विद्वान् भी आपके वाक्य-विन्यास के अर्थो में रम जाते हैं, आपकी गीतोपनिषद् आदि वाणी पर वे कविजन अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देते हैं। आपकी उस मनोज्ञ वाणी को श्रवणगोचर करने के लिये हम आपकी दासी गोपियाँ मोहित हो रही हैं। दानवीर ! अब तुम अपना अमृत से भी मधुर अधर-रस पिलाकर हमें जीवन दान दो, हमें तृप्त ही नही, छका दो।

प्रभो ! यह सत्य है कि ज्ञान होते ही अज्ञान जन्य संसार तत्क्षण नष्ट हो जाता है, परन्तु आपकी लीला-कथा कितनी अमृतमयी है। अहा ! क्या ही आश्चर्यमयी है आपकी लीला-सुधा। अनादि काल से अब तक बड़े-बड़े विधि-विधान से सम्पादित हुए यज्ञ आपकों तृप्त करने में समर्थ नहीं हो सके, वही तुम नित्य पूर्णस्वरूप होने पर भी गोपबालक रूप में इन गायों और गोपिकाओं का स्तन्य पान कर सदा तृप्त रहते हो। यद्यपि गायों का, गोपरमणियों का, स्तन्य दुग्ध स्थूल दृष्टि से देखने पर अन्नपान आदि से उद्भूत देह-विकार मात्र वस्तु ही तो है, परन्तु धन्य है, तुम्हारी लीला कि तुमको इनके स्तनक्षरित दुग्धामृत का श्रीमुख से चूस-चूस कर स्वाद लेते, स्वाद ले-लेकर तृप्त हो जाते हम सब प्रत्यक्ष देखते हैं। उन गौओं एवं व्रजरमणियों पर आपकी कृपा की पराकाष्ठा ही तो है यह। आपके ऐसे अमृत-गुणों का, विरह से सताये तुम्हारे भक्त लोग कीर्तन करते-करते सदा तन्मय रहते हैं। प्रेम की विचित्र लहरें उनके अन्तस्तल में निरन्तर छायी रहती हैं भूलोक में वे ही सबसे बड़े दाता हैं। तुम्हारी लीला-कथा-श्रवण मात्र से सारे पाप, ताप तो मिटते ही है परम मंगल एवं कल्याण का दान भी वह करती है, वह परम मधुर, परम सुन्दर एवं बहुत विस्तृत भी है। इसीलिये बड़े-बड़े ज्ञानी महात्मा और कविलोग भी उसका गान करते रहते हैं।

हे प्राणवल्लभ ! एक समय था जब अपने कोटि-कोटि प्राण-प्रतिम तुम हमारे प्रियतम की प्रेमभरी मादक मुसकान और रसभरी चितवन का मात्र

ध्यान करके हम आनन्द में मग्न रहती थीं। जब तुम गोचारण के लिये वन में पधारते उस समय एक विचित्र सी दशा में अवस्थित हुई हम निर्निमेष दृष्टि से तुम्हारी ओर देखती रहतीं। क्रमशः तुम हमारी दृष्टि से ओझल हो जाते। उस समय तुम्हारी तरह-तरह की क्रीडाओं का ध्यान करती हुई हम कितनी देर पश्चात बाह्यज्ञान में आतीं, यह कहना कठिन है। जब हमें अपने शरीरों का भान भी होता तब ऐसी प्रतीति होती कि प्राणों में आपाततः एक वेदना भर गयी है। यह उस समय कहना कठिन था कि हमारे प्राण क्या चाहते हैं ? जब हम तुम्हारे मुख सरोज को नहीं देख पातीं - इस स्वल्प अदर्शन के समय भी हमारा अन्तस्तल सूना हो जाता था। प्राण तुम्हारे दर्शन के लिये सर्वथा मचले होते। वह तुम्हारा स्मृति-रूप-ध्यान जो दिन भर बना रहता वह भी परम मंगलदायक था। उसके पश्चात् तुम मिले। तुमने हमसे हृदयस्पर्शी ठिठोलियाँ कीं। प्रेम की बातें कहीं। हमारी विरहाग्नि जो अन्तस्तल के प्रत्येक अंश में अलक्षित रूप से धक् धक् जल रही थी, प्रशमित हो गयी। परन्तु हमारे कपटी मित्र ! आज जब तुम पुनः हमें निराश्रित इस वन में छोड़ गये हो, हम तुम्हारी उन्हीं बातों को स्मरण कर रहीं हैं।

हे नाथ ! तुम्हारे चरण इतने सुकोमल हैं, मानो सुन्दरतम श्याम तमाल के नीचे किसी ने रक्तकमल बिछाये हों। ये रक्तकमल पराग का उपहार एकत्रित कर हमारे मन-मधुकर के प्रीति-भाजन बन गये हों। जब तुम गोचारण के लिये निकलते हो, उस समय यह सोचकर कि तुम्हारे इतने सुकोमल चरण, कंकड़, कुश-काँटे गड़ जाने से पीड़ित होते होंगे, हमारा मन बेचैन हो जाता है, हमें अतिशय दुख होता है।

जब संध्या होती है, तुम वन से घर लौटते हो। उस समय हम तुम्हारी निराली शोभा देखती हैं -"घुँघराली अलकें कपोलों पर, ललाट के कुछ अंश पर झूलती रहती हैं। गोखुरों से बिखरे हुए धूलिकण उड़-उड़कर उन अलकों पर पड़ते रहते हैं। नेत्रों की मनोहर चितवन एवं अधरों पर व्यक्त हुए स्मित की शोभा देखते ही बनती है। तुम अपना वह अलौकिक सौन्दर्य हमें दिखा-दिखाकर हमारे हृदय में मिलन की आकांक्षा एवं प्रेम उत्पन्न करते हो।

प्रणतकामदं पद्मजार्चितं धरणिमण्डनं ध्येयमापदि।
चरणपंकजं शंतमं च ते रमण नः स्तनेष्वर्पयाधिहन् ।।१३।।
सुरतवर्धनं शोकनाशनं स्वरितवेणुना सुष्ठु चुम्बितं।

इतरराग विस्मारणं नृणां वितर वीर नः तेऽधरामृतम् ।।१४।।
अटति यद्भवानह्नि काननं त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यतां।
कुटिलकुन्तलं श्रीमुखं च ते अङ्ग उदीक्षतां पक्ष्मकृद्दृशाम् ।।१५।।
पतिसुतान्वयभ्रातृबान्धवानतिविलंघ्य तेऽन्त्यच्युतागताः।
गतिविदस्तवोग्दीतमोहिताः कितव योषितः कस्त्यजेन्निशि ।।१६।।
रहसि संविदं हृच्छयोदयं प्रहसिताननं प्रेमवीक्षणं।
बृहदुरः श्रियो वीक्ष्य धामते मुहुरति स्पृहा मुह्यते मनः ।।१७।।
व्रजवनौकसां व्यक्तिरंग ते वृजिनहन्त्र्यलं विश्वमंगलं।
त्यज मनाक् च नस्त्वत्स्पृहात्मनां स्वजनहृद्रुजां यन्निषूदनम् ।।१८।।
यत्ते सुजातचरणाम्बुरुहं स्तनेषु भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु।
तेनाटवीमटसि तद् व्यथते न किंस्वित्
कूर्पादिभिर्भ्रमतिधीर्भवदायुषां नः।।१९।।

हे प्रियतम ! सत्य तो यह है कि भक्तजनों को, जो निरन्तर आपके चरणों में प्रणाम करते रहते हैं, आप कृपापूर्वक समस्त मनोरथों का दान करने वाले हो ; इसीलिये नखचन्द्रिका से उद्भासित आपके कमल सदृश चरणों की अर्चना स्वयं लक्ष्मीजी निरन्तर करती रहती हैं। और हम तो प्रति दिवस ही यह अनुभव करती हैं कि रक्तपद्म की शोभा वाली आपकी पगथलियाँ जैसे ही धरादेवी पर पड़ती हैं, वे सुख में हरी हो जाती हैं और आपके चरण-चिह्नों को आभूषणों की तरह अपने अंगों में विजड़ित कर लेती हैं । और हे लीलामय ! विपत्ति में पड़े हुए प्राणी के तो एक मात्र ये चरण ही ध्येय हैं, इन चरणों के सिवा उसकी तो कोई गति ही नहीं है। सर्वभयहारी जो वे हैं। हे रमण ! हमारे हृदय की प्रेमव्यथा का हरण करने के लिये उन्हें आप हमारे उरोजों पर रख दीजिये । !!१३!! हे वीर ! तुम्हारा अधरामृत मिलनके सुख की आकांक्षा को अतिशय बढाने वाला है; वह विरह-जन्य सब शोकों का नाश करने वाला है, अहा उसे यह बाँस की वेणु भली भाँति चूम-चूम कर पान करती छकी रहती है। जिन्होंने एक बार भी उसे पान कर लिया उनकी उससे इतर सभी आसक्तियाँ सर्वथा सर्वांश में विस्मृत हो जाती हैं। हे प्रेमवीर ! हमें वही अधरामृत पान कराओ(वितरण कर दो) !!१४!! प्राणप्यारे! दिन के समय जब तुम वन में विहार करने चले जाते हो, तब तुम्हारे अदर्शन में हमारा एक-एक क्षण युगों के समान व्यतीत होता है, और संध्या के समय जब

हम तुम्हारी घुँघराली कुंचित केशराशि से मण्डित मुखारविन्द को देखती हैं तो हमरी पलकें ही गिरना बंद हो जाती हैं, उस समय यही लगता है कि इन पलकों को बनाने वाला विधाता सर्वथा मूर्ख है।।१५।। प्राणवल्लभ ! हम अपने सर्वस्व (पति-पुत्र,भाई-बन्धु, कुल-परिवार) सबका त्याग कर उनकी इच्छा और आज्ञा का उल्लंघन करके तुम्हारे पास आयी हैं। हम तुम्हारे संकेत को समझकर तुम्हारे मधुर वंशीध्वनि से मुग्ध हुई यहाँ आयी हैं। हे कपटी ! इस प्रकार रात्रि के समय आयी हुई युवतियों को तुम्हारे सिवा और कौन छोड़ सकता है ? प्यारे ! एकान्त में तुमने मिलन की आकांक्षा जगाने वाली वार्ताएँ हमसे की हैं। हमसे ठिठोलियाँ की हैं, तुम प्रेमभरी चितवन से देख-देख कर मुसकाते थे और हम मुग्ध हुई, तुम्हारे विशाल वक्षस्थल की शोभा में रम जाती थीं, जो लक्ष्मीजी का नित्य निवास है।

तबसे तुम्हें पाने की हमारी लालसा बढती ही जा रही है। प्यारे ! अब तो हमारा मन अतिशय मुग्ध होगया है। प्यारे ! तम्हारा व्रज में प्राकट्य हम व्रजवासियों के सम्पूर्ण दुख-ताप को नष्ट करने वाला है, यह विश्व का पूर्ण मंगल करने के लिये है। हमारा हृदय तुम्हारे प्रति असीम लालसा से भर गया है। कुछ ऐसी औषधि दो, जो तुम्हारे निजजनों के हृदय रोग का सर्वथा निर्मूल नाश कर दे। ।।१७।। प्रियतम ! तुम्हारे चरण कमल से भी सुकुमार हैं। उन्हें हम अपने कठोर स्तनों पर रखती भी डरती हैं। कहीं उन्हें हमारी कुच कर्णिका चोट न पहुँचावे । उन्हीं चरणों से आप रात्रि में घोर जंगल में छिपे-छिपे भटक रहे हो। कहीं कंकड़ पत्थर आदि की चोट लगनेसे वे आपके चरण पीड़ाकुल नहीं हो रहे हों - इसकी आशंका से हमें चक्कर आ रहा है, हम मूर्च्छित हो रही हैं। श्रीकृष्ण ! श्यामसुन्दर !! प्राणनाथ !!! हमारा जीवन तुम्हारे लिये है, हम तुम्हारी, तुम्हारी सर्वतोभावेन तुम्हारी ही हैं।

जगत के जीवों ! देखो मुझ एक साधन-भजन-हीन तृण पर कैसी महती भगवत्कृपा महज्जन चरण-रेणु द्वारा हुई है। मैं गोपियों के विरहावेश एवं उनके इस भावभरे गायन से स्वयं अभिभूत और स्पन्दित होने लगा और इन गोपियों के साथ ही विरहाविष्ट हुआ परम करुण स्वर में उनके साथ ही विलाप करने लगा। ठीक इसी समय मुझे विलक्षण अनुभव हुआ। मेरी समग्र अस्मिता ही श्रीकृष्णमयी हो गयी । मुझ तृण का कलेवर तो मात्र एक झीना सा परदा ही रह गया और उसके अन्तराल में भर गये मात्र प्रियतम श्याम

सुन्दर । उनका मुख-कमल मन्द-मन्द मुसकान से विकसित था। गले में वनमाला झूल रही थी। पीताम्बर धारण किये थे। शरीर की श्यामल आभा मरकत मणि की शोभा को तुच्छ बना दे रही थी । पीताम्बर परिधान संध्याकालीन पीताभ मेघ की कान्ति को लज्जित कर रहा था। मयूर पिच्छ शोभित किरीट अपनी प्रभा से सुमेरु शृंगों को मलिन कर दे रहा था। मुक्तामाला शैल के वक्षस्थल पर प्रवाहित जलधारा की एवं वनमाला सुमन समूहों की शोभा को प्रतिहत कर दे रही थी। कोटि-कोटि कामदेवों के भी मन को मथने वाले उस रूप को अपने रोम-रोम में भरा पाकर मैं निहाल हो गया। मेरे शरीर में दिव्य प्राणों का संचार हो गया। तृण शरीर के रोम-रोम में नवीन चेतना, नूतन स्फूर्ति हो गयी। बस, इसी समय एक विलक्षण घटित हुआ। मेरा तृणभाव सदा-सदा के लिये समाप्त हो गया और मैं एक परम सुन्दरी गोपी बना उन महाभागा गोपांगनाओं में सम्मिलित हो गया। मैने अतिशय प्रेम से अपने प्रियतम श्रीकृष्ण के कर कमल को अपने दोनों हाथों में ले लिया और मैं उसे धीरे-धीरे सहलाने लगा। प्रियतम ने उसी समय मुझ पर अपनी तिरछी चितवन से प्रेम की बौछार कर दी और अपने चन्दन चर्चित भुजदंड को मेरे कंधे पर रख दिया। और तब मुझे आकृष्ट कर मेरे मुख में अपना चर्चित ताम्बूल उगल दिया। बन्धुओं ! तबसे एक अभूतपूर्व रस से आविष्ट मेरा जीवन हो गया। जिसका वर्णन मैं क्या साक्षात् सरस्वती भी नहीं कर सकतीं। अब तो अनवरत मैं गोपी बनी निर्निमिष नयनों से अखण्ड उनका मुखकमल मकरन्द रस-पान करती रहती हूँ। कभी तृप्ति ही नहीं होती। अब तो यह स्मरण ही नहीं रहा कि कभी मैं एक तुच्छ तृण था। प्रियतम प्राणवल्लभ का अखण्ड आलिंगन करते रहने से मेरा रोम-रोम सदा खिला रहता है और महासिद्ध योगियों से भी उत्कृष्ट परमानन्द में मैं डूबी रहती हूँ। मेरी हृदयगत शान्ति कैसी है, मैं कुछ कह नहीं सकती ?

हे जगत के जीवो, यदि तुम्हें मेरे सत्य पर तनिक भी विश्वास हो, यदि तुम्हें कहीं महज्जन भगवत्कृपा से प्राप्त हो जावें तो उनकी चरणधूलि से अपने रोम-रोम को भर लेना । उनका कायिक, वाचिक, मानसिक संग किये रहना और उनके चरणों में अपने को सर्वतोभावेन समर्पित कर सको तो कहना ही क्या है। यही मेरी एक तुच्छ प्रीति भरी तुम सबसे प्रार्थना है।